मूकमाटी - मीमांसा

प्रथम खण्ड

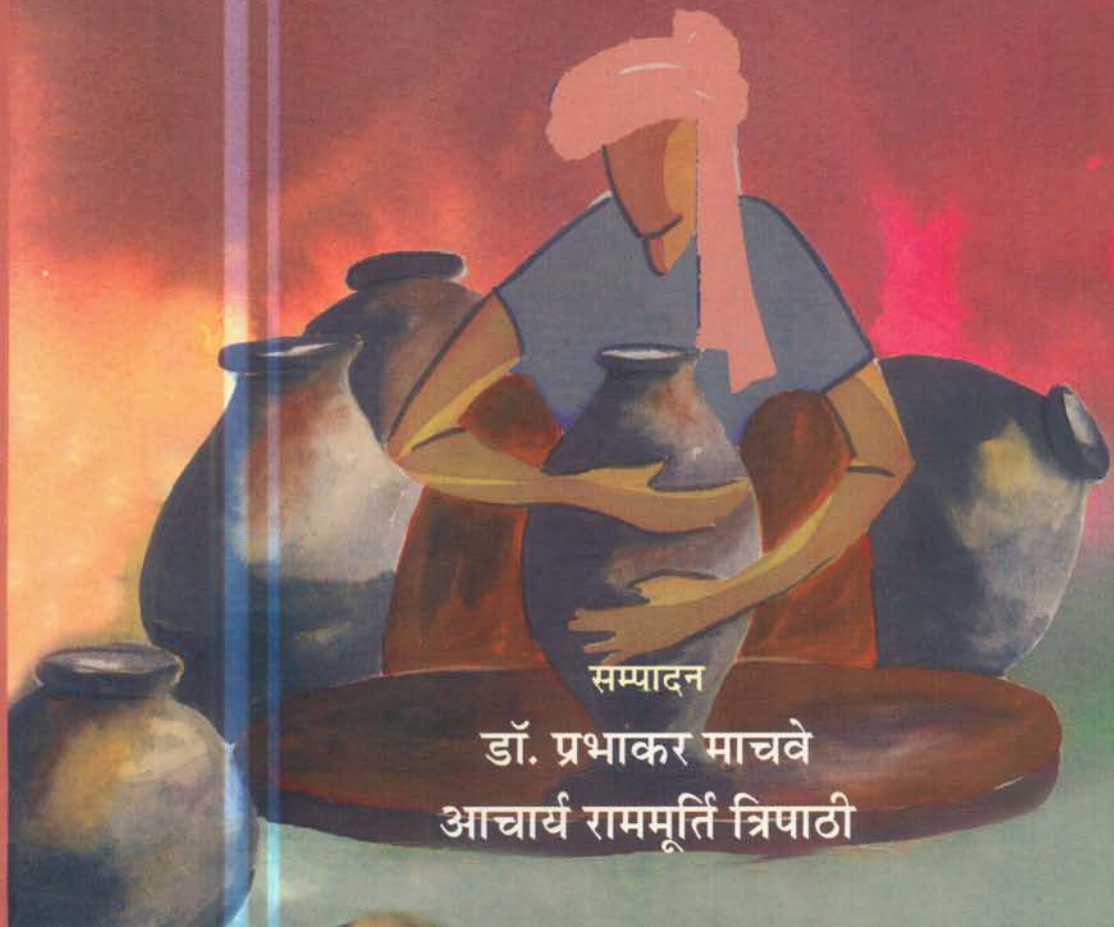

सम्पादन
डॉ. प्रभाकर माचवे
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

मूकमाटी - मीमांसा

'मूकमाटी' पर केन्द्रित विविध आयामी समीक्षाओं के प्रस्तुत संकलन 'मूकमाटी-मीमांसा' में समीक्षकों ने प्रयास किया है कि आलोच्य ग्रन्थ का कथ्य उभरकर पाठकों के समक्ष स्पष्ट रूप से आ जाय। एतदर्थ धर्म, दर्शन, अध्यात्म, काव्य आदि विभिन्न कोणों से उसे देखा-परखा गया है। स्वयं रचनाकार मानता है कि जैन प्रस्थान के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है। यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर सामान्य भी विशिष्ट हो गया है, राग भी वैराग्यपर्यवसायी हो गया है। इसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक क्षेत्रों में प्रविष्ट अवांछित स्थितियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना है। समीक्षकों ने आचार्यश्री की इन मान्यताओं का अपने वैचारिक आलोक में पल्लवन, सम्पोषण एवं संवर्धन किया है।

ये समीक्षाएँ पाठ या पाठकवादी दृष्टि से नहीं, अपितु कृतिकार की कृति को केन्द्र में रखकर इस प्रकार प्रस्तुत हुई हैं कि जिज्ञासु एवं रसिक पाठक रचनाकार के कहे-अनकहे की गहराइयों से संवाद लाभ कर सके। समीक्षकों ने इस कालजयी कृति में निहित जहाँ जीवन की चिरन्तन, ऊर्ध्वमुखी, सात्त्विक वृत्तियों एवं गहन दार्शनिक पक्षों का अनावरण किया है वहीं समकालीन समस्याओं के संकेतों को भी विस्तृत पीठिका पर विवेचित और समीक्षित किया है। युग की अर्थलिप्सा, यशोलिप्सा, अहंकारिक और आतंकवादी समकालीन उदग्रवृत्तियों पर स्वयं रचनाकार एवं समीक्षकों की समीक्षण वृत्ति रेखांकनीय है।

उक्त चिरन्तन एवं अद्यतन समस्याओं और उनकी समाहितियों की विभिन्न स्थितियों के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र के गम्भीर अध्येताओं ने पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक इसके प्रबन्धत्व या महाकाव्यत्व पर तलावगाही आलोडन-विलोडन कर बताया है कि प्रस्तुत कृति एक शास्त्रकाव्य है। महाकाव्य का सन्दर्भ आते ही नायक-नायिका, उसकी प्रकृति, भाव-रस की विविध स्तरीय स्थितियाँ, कथानक की संश्लिष्टता, आधिकारिक-प्रासंगिक कथाओं का संयोजन जैसे वस्तुगत पक्षों के साथ उसके कलात्मक पक्ष का भी विवेचन प्रस्तुत किया है। कृति में रचनाकार का वाक्पाटव, आलंकारिक भंगिमा, भाषा पर उसके अप्रतिम अधिकार को भी सुस्पष्ट किया है।

विश्वास है, यह संकलन रचनाकार से पाठक का संवाद कराता हुआ अपने दायित्व का समग्रता में प्रत्याशित निर्वाह कर सकेगा।

ISBN 978-81-263-1409-6 (Set)
978-81-263-1410-2 (Vol. I)

मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

प्रथम खंड

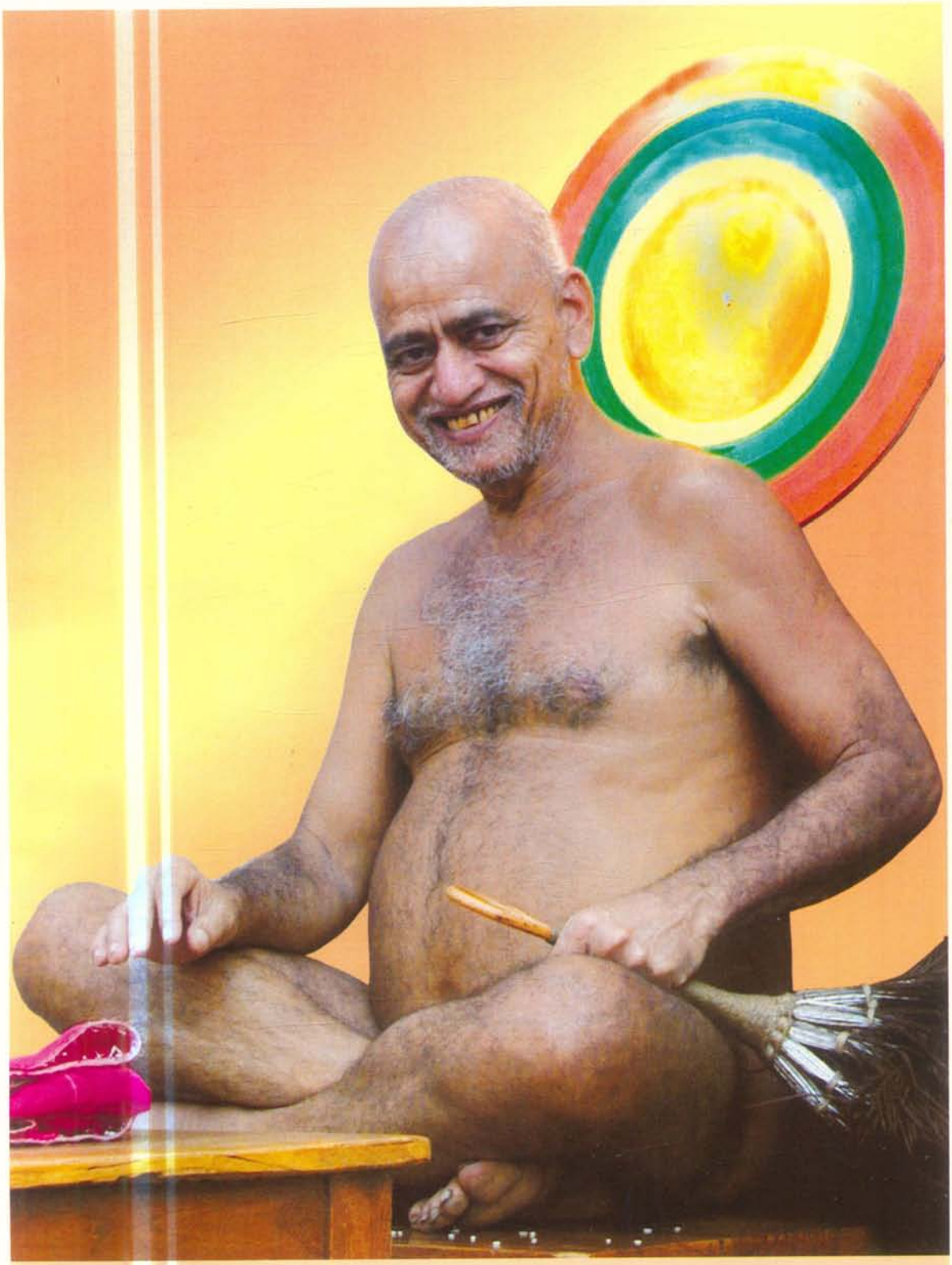

'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज

मूकमाटी-मीमांसा

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

प्रथम खण्ड

सम्पादक
डॉ. प्रभाकर माचवे
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1409-6 (Set)
978-81-263-1410-2 (Vol. I)

मूकमाटी-मीमांसा (तीन खण्डों में)

('मूकमाटी' महाकाव्य पर समालोचनात्मक आलेखों का संग्रह)

Mookmati Meemansa (in 3 Vols.)

प्रथम खण्ड

सम्पादक

डॉ. प्रभाकर माचवे

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

सम्पादन सहायक

डॉ. आर.डी. मिश्र, डॉ. शकुन्तला चौरसिया, डॉ. सरला मिश्रा

प्रबन्ध सम्पादक मंडल

सुरेश सरल (जबलपुर), सन्तोष सिंघई (दमोह)

नरेश दिवाकर (सिवनी), सुभाष 'खमरिया' (सागर)

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 40

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003

लेज़र टाइपसेटिंग : दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर (म. प्र.)

चित्रांकन : प्रकाश माणिकसा राऊळ, अंजनगाँव सुर्जी (महाराष्ट्र)

आवरण-चित्र : संजीव शाश्वती, आवरण-सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर ऐंड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

© भारतीय ज्ञानपीठ

प्रथम संस्करण : 2007

प्रथम खण्ड, मूल्य : 450 रुपये

तीनों खण्ड, मूल्य : 1100 रुपये

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003

First Edition : 2007
Volume I, Price : Rs. 450
Full set, Price : Rs. 1100

उद्‌भावना

अपने स्थापनाकाल से ही ज्ञानपीठ भारतीय चिन्तनधारा के विविध आयामी पक्षों को केन्द्रित कर लिखे जा रहे समग्र समकालीन साहित्य की कालजयी रचनाओं को प्रबुद्ध पाठकों तक ले जाने की अग्रणी भूमिका निभाता आ रहा है। यह सब इसलिए कि इससे हिन्दी भाषाभाषी पाठक तो लाभान्वित होंगे ही, इसके माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं के रचनाकारों एवं सजग पाठकों के बीच तादात्म्य भी स्थापित हो सके, परस्पर वैचारिक प्रतिक्रिया और आदान-प्रदान हो सके।

इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि श्रमण संस्कृति के उन्नायक आचार्यश्री विद्यासागर जी ने धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सार को आधार बनाकर सामाजिक परिप्रेक्ष्य में सम-सामयिक समस्याओं के निवारण की मंगल भावना से हिन्दी में 'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन किया था। भारतीय ज्ञानपीठ ने बड़ी तत्परता से इस गौरवग्रन्थ का प्रथम संस्करण 1988 में प्रकाशित कर इसे बृहत् पाठक समुदाय तक पहुँचाने का कार्य किया था। यह कृति इतनी लोकप्रिय हुई कि सन् 2006 तक इसकी आठ आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। इसी ग्रन्थ का मराठी अनुवाद 'मूकमाती' भी ज्ञानपीठ से प्रकाशित हो चुका है। इसके अँग्रेजी, बांग्ला और कन्नड़ अनुवाद भी मुद्रण की प्रक्रिया में हैं।

आतंकवाद, आरक्षण वं दलित समस्याओं के समाधान तथा दहेजप्रथा, अर्थलिप्सा जैसी सामाजिक कुरीतियों का निर्मूलन एवं व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया का निर्धारण इस रचना का मूलभूत प्रयोजन माना जा सकता है। विशेषता यह है कि इसके लेखन में तपोनिधि का सन्त-स्वभाव क्रियाशील रहा है।

यह जानकर हम सभी को सुखद आश्चर्य होगा कि इसके व्यापक प्रचार-प्रसार एवं विषयगत भावों के सहज सम्प्रेषण होने के फलस्वरूप देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के अन्तर्गत आचार्यश्री विद्यासागर जी के विपुल वाङ्मय सम्बन्धी 41 शोधकार्यों में से 'मूकमाटी' पर अब तक 4 डी.लिट्., 22 पी-एच.डी., 7 एम. फिल. के शोध-प्रबन्ध तथा 2 एम.एड. और 6 एम.ए. के लघु शोध-प्रबन्ध लिखे जा चुके/रहे हैं।

इस कालजयी कृति पर अब तक जिन विख्यात समीक्षकों ने कृतिकार की मान्यताओं एवं काव्य के वैशिष्ट्य का अपने वैचारिक आलोक में जिस तरह आलोडन-विलोडन किया है और इसे आधुनिक भारतीय साहित्य की, विशेषरूप से हिन्दी काव्य-साहित्य की, अपूर्व उपलब्धि माना है, उस प्रभूत सम्पदा को भी पाठक तक प्रेषित करने का हमारा कर्तव्य बन जाता है।

हिन्दी के लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार तथा साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली के पूर्व सचिव डॉ. प्रभाकर माचवे के प्रधान सम्पादकत्व में सम्पूर्ण भारत के लगभग 300 समालोचकों ने 'मूकमाटी' के विभिन्न पक्षों पर अपनी कलम चलायी थी। उनके आकस्मिक देहावसान के कारण, बाद में प्रस्तुत ग्रन्थ 'मूकमाटी-मीमांसा' के पृथक्-पृथक् तीन खंडों वाले इस समीक्षा ग्रन्थ का कुशल सम्पादन विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

के पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं मूर्धन्य विद्वान आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने किया है। भारतीय ज्ञानपीठ उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता है।

इस बृहद् ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक मंडल का धन्यवाद कि पांडुलिपि तैयार कराने से लेकर उसके प्रकाशन के लिए अपनी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सेवाएँ प्रदान कीं।

अन्त में परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के श्रीचरणों में हमारा नमन, कि उनके आशीर्वाद से ही यह कार्य सहजरूप से सम्पन्न हुआ।

हमने अपनी ओर से प्रयासभर ग्रन्थ की साज-सँभाल और उसके सुन्दर प्रकाशन में तत्परता बरती है। फिर भी इस दिशा में कोई त्रुटि या कमी रह जाती है तो सुविज्ञ पाठक उस ओर हमारा ध्यान आकर्षित करेंगे, ताकि अगली आवृत्ति में उसका यथासम्भव शोधन किया जा सके।

शुभं भूयात्।

—साहू अखिलेश जैन

प्रबन्ध न्यासी, भारतीय ज्ञानपीठ

नयी दिल्ली

11 जनवरी 2007

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से वार्तालाप करते हुए 'मूकमाटी-मीमांसा' के सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे

'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा

आचार्य श्री विद्यासागरजी से भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की 'मूकमाटी' पर केन्द्रित बातचीत

स्थान- 'त्यागी भवन', श्री दिगम्बर जैन मोठे मन्दिर के निकट, इतवारी बाजार, नागपुर, महाराष्ट्र

चैत्र शुक्ल नवमी — रामनवमी दिवस, वीर निर्वाण संवत् 2517, विक्रम संवत् 2048, रविवार, 24 मार्च 1991 ईस्वी

[संकेत — प्र. मा. — प्रभाकर माचवे, आ. वि. — आचार्य विद्यासागर]

प्र.मा.- 'मूकमाटी' शीर्षक ग्रन्थ या महाकाव्य लिखने की प्रेरणा आपको कहाँ से और कैसे हुई ? क्यों हुई ? मैंने यह इसलिए पूछा कि जैन पुराख्यानों में, कथानकों में वसुन्धरा या पृथिवी के प्रति, मिट्टी के प्रति ऐसी क्या बात थी जिसने आपको इस तरह से इतना बड़ा महाकाव्य लिखने की प्रेरणा दी ?

आ. वि.- हाँ, हमने सोचा कि काव्य और उसमें भी अध्यात्मपरक काव्य का मूल विषय सत्ता - महासत्ता हो, उसे बनाना उचित होगा। अध्यात्म की नींव इसी महासत्ता पर रखी जा सकती है, जो व्यापक होती है। इसे अन्तःप्रेरणा ही कहा जा सकता है। 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ (गाथा ८) में कहा गया है :

''सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया। भंगुप्पादधुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥''

यानी सभी पदार्थों में सत्ता विद्यमान रहती है। वह विश्व यानी अनेक रूप है, अनन्त पर्यायात्मक है, उत्पाद-व्यय- ध्रौव्यशाली है और वह एक है तथा प्रतिपक्षधर्मयुक्त है।

प्र. मा.- यह महासत्ता क्या अणु से आरम्भ होती है ?

आ. वि.- हाँ, वह अणु में भी है और महत् में भी है। वह सब में व्याप्त है। वह गुण में भी है और पर्याय में भी है। वह गुणवत् भी है और पर्यायवत् भी है। वह अपने आप में द्रव्यवत् भी हो सकती है यानी सर्वांगीण भी हो सकती है। समष्टि या व्यष्टि से कोई मतलब नहीं - वह सर्वव्यापी है। जहाँ कहीं भी है, उस सबको सत् से जोड़ते चलना चाहिए।

प्र. मा.- जब आप 'सत्ता' को 'द्रव्य' कहते हैं तो वह क्या और कैसा होता है ?

आ. वि.-'द्रव्य' यहाँ उसको कहते हैं जो 'गुण' व 'पर्याय' का आधार होता है। [('गुणपर्ययवद् द्रव्यम्', तत्त्वार्थ-सूत्र, ५/३८)। यह द्रव्य भी सत् है ('उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (तत्त्वार्थसूत्र, ५/३०) यानी यहाँ प्रत्येक वस्तु में सत्ता विद्यमान है और वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है। वस्तु उत्पाद-व्ययशाली भी है और स्थिर भी। वह नित्य भी है और अनित्य भी। देश-कालजन्य परिणमनशील धर्म 'पर्याय' है और वस्तुसत्ता में एक रस विद्यमान रहने वाला धर्म 'गुण' है।] तो 'द्रव्य' जो है, वह जीव के रूप में रह सकता है एवं अजीव के रूप में भी हो सकता है। लेकिन 'सत्' जो है वह जीव और अजीव—उभयत्र विद्यमान है। ऐसे ही एक तत्त्व को प्रतीक बनाकर हमने सोचा कि इस माध्यम से सारभूत जो है, वह सब कहा जा सकता है।

प्र. मा.- अणु से मनु तक की जो यात्रा है, मृण्मय से चिन्मय तक की जो यात्रा है—जिसको हम मेटामॉर्फोसिस / ट्रॉन्स्फॉर्मेशन (Metamorphosis / Transformation) यानी रूपान्तरण कहते हैं, वह यात्रा किस प्रकार सम्पन्न होती है ? क्यों होती है ? ये आपके मत से क्या है ? यह कैसे हो गया ? यह जो घट है—मिट्टी का

घड़ा, इसमें आकाश कैसे आ गया ?

आ. वि. - इसमें आकाश रूप परिणमन करने की—मतलब आकाश को अवगाहित करने की और आकाश में अवगाहित होने की, दोनों तरह की क्षमता विद्यमान है। इसी को 'सत्ता' कहा जाता है। अर्थात् वह एक भी है एवं अनेक भी है; सत् भी है और असत् भी। वह सबके साथ जुड़ी हुई है—'सा प्रतिपक्षाऽपि विद्यते, सा विश्वरूपाऽपि विद्यते। सा एकाऽपि अनेकाऽपि वर्तते।'

प्र. मा.- और इसके ये नाम रूपात्मक हैं ? आकार - आयतन कैसा है ?

आ. वि.- अपने भीतर जो अनगिनत सम्भावनाएँ हैं, वे सभी सत् में विद्यमान हैं और उनके आकार को 'पर्याय' कहते हैं। वे सब प्रतीक बनाकर व्यक्त की गई हैं 'मूकमाटी' में। दूसरी बात यह भी है कि ये सब व्यापक होकर भी, पतित से पावन होने की जो यात्रा है -- नीचे से उठकर उत्थान की ओर अग्रसर होने की जो हमारी आध्यात्मिक यात्रा है, इसमें सब की सब समाहित हो जाती हैं। कारण, ऐसे किसी नगण्य या तुच्छ व्यक्तित्व को हम ले लें और तुम पावन नहीं बन सकते, ऐसा सुनकर भी जो पावनता की सीढ़ी पर चढ़ने का प्रयास करता है तो स्पष्ट हो जायगा कि सब में पावनता की सीढ़ियों पर चढ़ने की सम्भावनाएँ हैं। मिट्टी ऐसे ही एक व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है।

प्र. मा.- तो आप जो मिट्टी और कांचन के – ये दो घड़े लाए हैं। उसमें उसके मृण्मय एवं धातुमय कांचन के बनाने से आपका कोई विशेष उद्देश्य नहीं है वरन् यह कि घटत्व दोनों में व्याप्त है, अतः घट दोनों एक हैं, यह आशय है ?

आ. वि.- नहीं, नहीं, उन दोनों में घटत्व की व्याप्ति दिखाकर उन्हें एक बताने का उद्देश्य नहीं है, वरन् उद्देश्य है—ऊँच-नीच दिखाने का।

प्र. मा.- ऊँच और नीच क्या चीज है ? यह ऊँच-नीच बनाने वाला कौन है ?

आ. वि.- यह ऊँच-नीच की भावना मनुष्यों के मस्तिष्क की उपज है। फिर तदर्थ कुछ न कुछ सम्बोधन तो देना आवश्यक है। मेरे पास और कुछ वस्तु या पदार्थ नहीं है जो इसको अवहेलित करने वाला व्यक्ति कुछ पा सके। इसीलिए इसको हमने कांचन का रूप दे दिया। कंचन और मृण्मय हमारे लिए समान हैं, यह ठीक है, परन्तु सब के लिए तो ये समान नहीं हैं। जिसके पास समानता नहीं, विषमता है, उसको भी कम से कम महानता का बोध हो जाय।

प्र. मा.- इसमें आपने 'आतंकवाद' शब्द का प्रयोग किया है। इसमें कांचन का घड़ा आतंक कराने वाला बन जाता है। इस आतंक से आपके मन में कहीं उस आतंक का भी संकेत विद्यमान है, जो आज इस देश में चल रहा है ? क्या इस आतंकवाद का भी कोई भाव आपके मन में है ?

आ. वि.- हाँ, उसका भी भाव, सम्बन्ध है।

प्र. मा. - तो आप क्या सोचते-समझते हैं ? कैसे आतंकवाद का मुकाबला कर सकते हैं ? उसका समाधान कैसे किया जा सकता है ? कैसे हो सकता है ? क्या हो सकता है ?

आ. वि.- आतंकवाद को मिटाने के लिए पहले हमें यह भी देखना होगा कि आतंकवाद का प्रादुर्भाव कैसे हुआ ?

प्र. मा.- कारण की तह में जाना होगा।

आ. वि.- वह कारण यही है कि कहीं न कहीं शोषण हुआ है, कहीं न कहीं अनादर या अवहेलना हुई है। उसके अस्तित्व को नकारा गया है। तभी इस प्रकार की घटनाएँ घटती हैं, यह भी तो हमें सोचना चाहिए।

प्र. मा.- अब देखिए, यहाँ पर जो नव बौद्ध लोग हैं, दलित लोग हैं, हरिजन लोग हैं, वे मानते हैं कि हजारों वर्षों से उन्हें दमित या दलित किया गया है, उनका अनादर हुआ है। इससे उनके मन में एक हीन ग्रन्थि पैदा हो गई है। सो अब वे वैसा ही नहीं रहना चाहते हैं। वे आरक्षण करवाते हैं कि हमारे अधिकार ज्यों के त्यों रहें और हम नव बौद्ध भी रहेंगे, साथ ही अधिकार भी लेंगे। यह कहाँ तक उचित है ?

आ. वि.- विकास का द्वार सबके लिए उद्घाटित होना चाहिए। लेकिन विकास इधर-उधर से नहीं आएगा अपितु उसी में होगा। हम उसमें निमित्त बन सकते हैं, सहयोगी हो सकते हैं। हाँ, यदि वह हमारे सहयोग का दुरुपयोग करता है तो वह ठीक नहीं माना जा सकता। वह बच्चा जिसके पास बुद्धि है, उसके लिए हम उपकरण जुटा सकते हैं। इस तरह सहयोग कर सकते हैं। यदि वह कमजोर बुद्धि का है तो विशेष प्रबन्ध कर सकते हैं। लेकिन जो विकास ही नहीं करना चाहता है और उसी अवस्था में रहकर विकसित व्यक्ति की तुलना में अपने आपको (आरक्षण की) बैसाखी पर बिठाना चाहता है, इससे तो अवरोध ही पैदा होगा। अवरोध तो होगा ही, उलटे जो मूल्यवान् पदार्थ या व्यक्ति होगा, उसका अवमूल्यन हो जाएगा। साथ ही जो मूल्यवान् नहीं है उसको भी मूल्य देना पड़ेगा। दारिद्र्य का ही स्वागत करना पड़ेगा।

प्र. मा.- आज तो देश भर में यही सब देखने में आ रहा है, दिखाई दे रहा है। प्रजातन्त्र के नाम पर अथवा सत्ता, सम्पत्ति और संस्था के नाम पर हम वो कार्य कर रहे हैं जिससे कि अवमूल्यन ही हो रहा है।

आ. वि.- आपने (दो दिन पूर्व) जो तीन बातें कहीं थीं – सत्ता, सम्पत्ति और संस्था...

प्र. मा.- तो इन पर भी विचार होना चाहिए। 'सत्ता' से राजसत्ता नहीं। इस सन्दर्भ में सत्ता, सम्पत्ति और संस्था-तीनों को मैं एक बहुत बड़ा कंचुक मानता हूँ। इनसे मनुष्य की आत्मा का बहुत बड़ा हनन होता है। यह बात मैंने पहले भी कही है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि प्रजातन्त्र से क्या आवश्यक रूप से वह होगा, जो आप कहते हैं ? बर्नार्ड शॉ ने कहा है : "डेमोक्रेसी इज मीडियाक्रेसी" – अच्छे जो लोग हैं, गुणवान् जो लोग हैं - आप जैसे जो लोग हैं, उन सबको नीचे उतरकर उनके साथ होना होगा, होना चाहिए या सब एक-से हो जाएँगे। सारा पानी मैला होगा या कि जो मैला पानी - नीचे के जो लोग हैं, वे सचमुच के बड़े हो जाएँगे ? इस प्रजातान्त्रिक प्रक्रिया में आप क्या सोचते हैं ?

आ. वि.- बुद्धि की अपेक्षा से, आर्थिक दृष्टि से और साथ ही शारीरिक आदि दृष्टि से भी उनकी जो योग्यताएँ हैं, वहाँ तक उनका मूल्यांकन होना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि उनका जो मूल्य हो उसे भी नज़रअंदाज़ किया जाय। किसी का सर्वथा अवमूल्यन ठीक नहीं।

प्र. मा.- पर हो तो यही रहा है।

आ. वि.- अवमूल्यन से तो वह सब एक प्रकार से समाप्त ही हो जायगा।

प्र. मा. - आज तो वोट की राजनीति है। प्रजातन्त्र में संख्या का ही महत्त्व है, गिनती की ही महत्ता है। गिनती या संख्या में तो निरक्षर लोग ही ज्यादा हैं। मैं तो समझता हूँ कि आज का जो राज्य है वह निरक्षरों का, निरक्षरों के लिए, निरक्षरों द्वारा चलाया जाने वाला राज्य है। ये संख्या वाले और निरक्षर होते जाएँगे, बजाय इसके कि ये साक्षर हों–समस्या यह है।

आ. वि.- लेकिन साक्षर होने मात्र से क्या होता है ? साक्षर होने के उपरान्त भी यदि वे विलोम हो गए तो ? कहा गया है : "साक्षरा: विपरीताश्चेत् राक्षसा: सन्ति केवलम्" - साक्षर विलोम भी हो सकते हैं और ऐसा होने पर वे केवल 'राक्षस' ही होंगे। मतलब इस ओर भी अपने को देखना आवश्यक है। सत्ता बहुत जल्दी करवट

लेती है। सत्ता तभी सत्ता है जब वह सही-सही चल सके।

प्र. मा.- सारी शक्तियों की यही स्थिति है। पहले जो तानाशाही होती थी - चाहे वह हिटलर की हो, स्टालिन की हो या सद्दाम की हो....

आ. वि.- संयम तो बरतना चाहिए।

प्र. मा.- प्राचीन ऋषियों ने जो 'द-द-द' कहा था – वह ठीक ही था - दान, दया और दमन। दमन करना संयम ही है और संयम धारण करना आज बहुत आवश्यक है।

अच्छा, यह बताइए कि आज की पीढ़ी में, आज की शिक्षा में जो कुछ हो रहा है - जैसे आपका ग्रन्थ पढ़ा और भी महाकाव्य पढ़े, बहुत सारी पुस्तकें पढ़ीं - तो क्या इस पढ़ाई से संयम की शिक्षा प्राप्त होगी, संयम की भावना पैदा होगी और बढ़ेगी ? क्योंकि आज की पढ़ाई को देखकर और पढ़ने वालों में आचरण की गिरती स्थिति को देखकर हितचिन्तक मनीषी बेचैन हैं। उन्हें संयम की दीवाल ढहती-सी दिखाई दे रही है। मैं आप सबके मुनि समाज और अन्य संघों में गया, सभाएँ भी सुनीं। पर सर्वत्र इसकी कमी लक्षित हो रही है। लोगों में संयम का अभाव बढ़ रहा है। रामकृष्ण आश्रम भी गया। पर नए लोग इसकी ओर नहीं आ रहे हैं। कारण, यह मार्ग कठिन है। इस मार्ग को सहसा कोई नहीं अपनाता। तो क्या कोई सरल उपाय किया जा सकता है जिससे सर्वसाधारण में संयम की शिक्षा अधिक से अधिक दी जा सके ? जैसे स्वामी विवेकानन्द ने भी कहा और अन्य लोगों ने भी कहा कि यह कठिन मार्ग है, इसका सरलीकरण कैसे हो ?

आ. वि.- ऐसा है कि दो मार्ग निर्दिष्ट हैं अपने यहाँ। एक रुपया है (जो पूर्ण है-उसमें सौ पाई यानी पैसे हैं) और दूसरी एक पाई है। पाई की यात्रा या मात्रा(संख्या) एक पाई से आरम्भ होकर निन्यानवे पाई तक चलती है। इन सबको हम पाई ही गिनते हैं। इसमें आप कहीं भी फिट हो सकते हैं। इसकी तुलना में जो रुपया है- उसमें सौ पाई चाहिए ही चाहिए। तो यदि सौ नहीं हो सकते तो कम से कम पाई को तो हम सुरक्षित रखें - जो हो सके वह तो करें (पूर्ण न हो सकें तो क्या अंश बनना ही छोड़ दें ?)। एक पाई में दूसरी पाई जोड़ी जा सकती है। इस तरह एक से दो, दो से तीन तो हो सकते हैं। इस क्रम से धीरे-धीरे बढ़ें तो आपकी यात्रा उस एक पूर्ण की ओर होनी ही चाहिए, बढ़नी ही चाहिए।

प्र. मा.- इसका अभिप्राय यह कि संख्या या मात्रात्मक परिवर्तन से हम गुणात्मक परिवर्तन की ओर बढ़ें ?

आ. वि.- जी हाँ ! गुणात्मक परिवर्तन की ओर धीरे-धीरे बढ़ें।

प्र. मा. - कार्ल मार्क्स का यह कहना है : "क्वान्टिटी चेन्जेज़ क्वालिटी"- संख्या से गुणात्मक परिवर्तन होता है। हो जाता है। कहना यह है कि गुणात्मक परिवर्तन होना चाहिए।

आ. वि.- गुणात्मक परिवर्तन – जैसे, दो और दो मिलकर चार हो जाते हैं और दो में एक मिला दो, फिर एक मिला दो - इस तरह दो बार धन करने से भी चार हो जाते हैं। कहने का आशय यह है जो गुणित न कर सकें, वह धन कर के यानी जोड़कर करें पर ऋण तो न कर दें (मतलब घटाएँ न, बढाते ही जाँय। वह गुणन की पद्धति सें न हो सके तो धन के क्रम से ही हो जाय)।

प्र. मा.- जी हाँ, यह बहुत अच्छी बात कही आपने। आज तो ऋण की ही सम्भावनाएँ ज्यादा हैं। अन्तरराष्ट्रीय विश्व बैंक का ऋण भी तो उसी का प्रतीक है, जहाँ से ऋण लेते हैं हम।

आ. वि.- आज ऋण से ही हमारे सारे कार्य हो रहे हैं।

प्र. मा.- जी हाँ ! अब मैं आपका ध्यान इस 'मूकमाटी' काव्य की ओर फिर आकृष्ट करना चाहता हूँ। आपने मुक्त

छन्द ही क्यों चुना, इस काव्य के लिए ? आपके [जैन प्रस्थान के] वे जितने पारम्परिक काव्य हैं - चाहे प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत या हिन्दी के बहुत से काव्य हों-- मुक्त छन्द में इतना बड़ा काव्य बहुत कम लोगों ने लिखा है। 'कामायनी', 'उर्वशी', 'साकेत' भी छन्दोबद्ध ही हैं। हरिऔधजी के काव्य भी ऐसे ही हैं। 'रामायण' या 'रामचरितमानस' भी ऐसे ही हैं। ये सभी छन्दोबद्ध ही हैं। आपको क्या मुक्त छन्द में कोई सुविधा लगी? कारण बताएँगे ? क्या कारण है ?

आ.वि.- इसमें एक तो सूत्रबद्धता यानी सूत्र रचना जिसको बोलते हैं, उसकी सुविधा मिल जाती है जो हमें इसमें देखने को मिली। छन्द जब बनाते हैं तब उसमें सूत्रात्मकता नहीं आ पाती, भले ही गेयता आ जाती है पर सूत्रात्मकता नहीं आ पाती। सूत्र में ऐसी क्षमता रहती है कि उसके माध्यम से हम संक्षेप में बहुत कुछ अर्थ कह लेते हैं। एक सुविधा तो यह है। दूसरी, छन्द में तुकबन्दी आदि-आदि पुनरावृत्ति जैसी लगती है। इससे उसमें कुछ कृत्रिमता भी आ जाती है। हम लाख प्रयत्न करें किन्तु उसका निवारण नहीं कर पाते पर वह अवांछित व्याघात या स्थिति आ ही जाती है।

प्र. मा.- आपके छन्द में ज्यादातर द्वयक्षर-प्रास आ जाता है। तेलगु और कन्नड़ में भी ये देखने को मिलता है। आपने कौन-कौन से महाकाव्य पढ़े हैं या देखे हैं या किनसे प्रभावित हुए हैं, जो आपके लेखन में प्रेरणास्रोत बन सके हैं ?

आ.वि.- महाकाव्य के रूप में हिन्दी का तो मैंने कोई महाकाव्य नहीं देखा।

प्र. मा. - नहीं, अपनी भाषा में ? संस्कृत, प्राकृत में या किसी अन्य भाषा में ?

आ.वि.- नहीं, हमने श्री गुरु महाराज (आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज) के द्वारा लिखित जो महाकाव्य हैं, उनका उन्होंने ही अपने श्रीमुख से अध्यापन कराया था। उनका 'जयोदय' महाकाव्य है, 'वीरोदय', 'सुदर्शनोदय' आदि महाकाव्य हैं, इनके अतिरिक्त उनके अन्य भी जो संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ हैं, उनसे पढ़ा करते थे। इस प्रकार संस्कृत भाषा के साथ-साथ हिन्दी भी अपने आप आ गई है।

प्र. मा.- आपने 'कामायनी' भी नहीं पढ़ी ?

आ. वि.- गुरु जी ने यह कहा था कि पहले संस्कृत सीखो, उसके साथ-साथ यह सब आ जायगा।

प्र. मा. - अँग्रेज़ी भी आप पढ़ते हैं या नहीं ?

आ. वि. - हाँ, थोडी-बहुत पढ़ लेता हूँ।

प्र. मा. - श्री अरविन्द का 'सावित्री' महाकाव्य भी नहीं देखा ?

आ. वि.- उसे साहित्यिक ढंग से (मूल में) नहीं पढ़ा। 'मूकमाटी' सृजन के पूर्व तो नहीं, किन्तु तत्पश्चात् अनूदित रूप में देखा है।

प्र. मा. - काफी अच्छा ग्रन्थ है। उसका अनुवाद भी हिन्दी में हुआ है। उसकी गणना बीसवीं शती के अच्छे ग्रन्थों में होती है। तो यह 'मूकमाटी' महाकाव्य स्वत: स्फूर्त पद्धति से लिखा गया है।

अच्छा, यह बताइए कि इसमें जो चार खण्ड आपने रखे हैं, इसकी भावना आपके मन में कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं। मैंने पहले चार खण्ड नहीं बनाए। पहले तो धाराप्रवाह आद्योपान्त यों ही लिख गया। बाद में महसूस हुआ कि यह पाठकों के लिए असुविधाजनक हो सकता है, फलत: कोई काट-छाँट तो नहीं की, किन्तु प्रसंगों को लेकर भिन्न-भिन्न शीर्षक अवश्य रचे। अब इन को (शीर्षकों को) निकाल भी देते हैं तो भी इसकी निरन्तरता भंग नहीं होती, धारा नहीं टूटती। वह अविरुद्ध बनी रहती है। साथ ही यदि भिन्न-भिन्न

शीर्षक रख भी देते हैं तो पाठक थोड़ा विश्राम जैसा अनुभव कर लेता है।

प्र. मा.- अच्छा, अब मेरी जिज्ञासा पंच तत्त्वों के सम्बन्ध में है। आपने जल, मिट्टी, सूर्य-प्रकाश-अग्नि, वायु और आकाश—इनका प्रयोग इसमें रूपकात्मक पद्धति पर किया है या कि कोई और पद्धति पर और किसी अन्य अर्थ में किया है ? इन्हें केवल भौतिक पंच तत्त्व के रूप में न लेकर किसी पात्र का प्रतीक बनाकर ही नहीं वरन् उनका मानवीकरण किया है, कहीं- कहीं दिव्यीकरण भी किया है। अत: अब यह बताइए कि इन तत्त्वों के सम्बन्ध में जैसे मिट्टी आदि कहा तो इसके बारे में आपका मत क्या है ? अर्थात् उनके साथ जो एसोसियेशन्स (साहचर्य) बनते हैं या कहलाते हैं मनोविज्ञान में, वे क्या हैं ? आपका 'मिट्टी' से क्या मतलब है ? सचमुच ही मिट्टी अथवा कोई शरीर या मिट्टी का घड़ा ? क्या आशय है आपका ?

आ. वि.- 'मिट्टी' का अर्थ इतना ही लिया गया है कि वह एक अनगढ़ पदार्थ है।

प्र. मा.- जिसमें बहुत सारे कंकड़ भी मिले हैं।

आ. वि.- जी हाँ ! बहुत कुछ मिक्चर (मिश्रण) है, तो उनका संशोधन करके जिस प्रकार घड़े का रूप दिया जाता है उसी प्रकार अनगढ़ आत्माएँ, जो कि अनन्तकालीन हैं, उनको भी कोई विशिष्ट शिल्पी का योग मिल जाता है और वह स्वयं मिट्टी के समान उसके प्रति समर्पित होता चला जाता है तो वह भी निश्चित रूप से कुम्भ के समान मंगलमय हो जाता है या बन सकता है।

प्र. मा.- यह उसका उपादान कारण है या निमित्त ?

आ. वि.- जी हाँ ! उसका उपादान कारण तो वह स्वयं है। स्वयं मिट्टी ही लोंदे के रूप में परिवर्तित होगी। शिल्पी का (निमित्त—प्रेरक निमित्त) योग पाकर यह परिवर्तन होगा। इसको अपने यहाँ उपादान एवं निमित्त कारण बोलते हैं।

प्र. मा.- यानी कुम्भकार जब कुम्भ बनाता है तो उसका आशय यह कि कुम्भ जो है वही कुम्भकार को बना रहा है।

आ. वि.- जी हाँ ! जी हाँ !!

प्र. मा.- इसमें द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया है। तो इस मिट्टी के लोंदे से जो आकार उभरा है घड़े का, उसका क्या करना है ? क्या यह पहले से कुम्भकार के मन में रहता है या बनता जाता है ? उसके बाद उसका उपयोग होता है।

आ.वि.- हाँ ! कुम्भकार का इसमें उद्देश्य रहता है, क्योंकि उसके माध्यम से वह अपनी जीविका चलाता है। रहा कुम्भ, उसका मतलब यह है कि जो मिट्टी के रूप में था, वह कुम्भ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य का सम्बन्ध है। गुरु के माध्यम से शिष्य का उत्थान होता है। शिष्य यदि चाहेगा तो पाएगा। उसमें पात्रता आ गई है।

प्र.मा.- अब मैं सृष्टिकर्ता और सृष्टि की बात करना चाहता हूँ, जिसका बार-बार आप उल्लेख करते हैं। क्या जो सृष्टिकर्ता है वह कुम्भकार है और जो सृष्टि है कुम्भ—वह क्या है ? मैं यह जानना चाहता हूँ कि वह किस चीज से सृष्टि बनाता है ? वह अपने अन्दर से उपजाता है, सृष्टि बनाता है या कोई बाहर की चीज़ है जिससे बनाता है ? इस विषय में दार्शनिकों में बहुत ऊहापोह और वाद-विवाद रहा है। जब शंकराचार्य से पूछा गया कि आपके यहाँ सृष्टि क्यों और कैसे बनी या बनाई गई ? तो वह युक्तिसंगत उत्तर ना दे सके। कारण, वह तो निरीह है, अत: उस परम सत्ता में कोई इच्छा ही नहीं और बिना इच्छा के क्रिया कैसे होगी ? फिर वह पूर्णकाम है, अत: उसे कोई अभावात्मक प्रयोजन भी नहीं, फिर सृष्टि क्यों बनाई ? जब उनको बहुत छेड़ा गया तो उत्तर दिया—"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" (ब्रह्मसूत्र,२/१/३३)—जिस प्रकार लोक में निष्प्रयोजन लीला की जाती है, क्योंकि लीला का प्रयोजन स्वयं लीला ही है, वैसे ही परमेश्वर ने की है यह

सब लीला। और छेड़ा गया तो उन्होंने कहा—'सृष्टि एक भ्रम है।' वह वास्तव में भ्रम या अज्ञान या माया की उपज है। कहने के लिए उन्होंने यह सब कह दिया। आपकी धारणा क्या है ? आपकी दृष्टि क्या है? किस चीज से सृष्टि बनाई गई है ?

आ. वि.- सृष्टि यदि रचना है, इसलिए सृष्टि अपने आप में एक कर्म है। मान लो कार्य है। तो किसी का होगा । अब किसी का है तो किसका है ? यह प्रश्न तो निश्चित उठेगा। कोई कहेगा वह कर्ता ईश्वर है, कोई कहेगा भगवान् है और कोई कहेगा महावीर है, आदि-आदि। ऐसी स्थिति में प्रत्येक सत् के भीतर जो अनगिन सम्भावनाएँ हैं, वे सब नकार दी जाएँगी। ये सारी की सारी सम्भावनाएँ उस ईश्वर पर आधारित हो जाएँगी और यदि ऐसा मान भी लें तो भी हमें सन्तुष्टि नहीं मिलेगी। असन्तुष्टि का कारण यह है कि यदि ईश्वर कर्ता है तो उसने ऐसी विषम सृष्टि क्यों बनाई ? उसमें समानता क्यों नहीं ? कोई रंक है तो कोई राजा क्यों ? इसलिए ईश्वर को कर्ता कैसे माना जाय? सृष्टि में यह व्यत्यास की प्रक्रिया बनी ही क्यों ? इससे लगता है कि यह प्रक्रिया बनी ही नहीं, किसी ने बनाई भी नहीं। जड़ और चेतन में अन्तर व्याप्त है, व्यत्यास है। चूँकि जीव कर्म करता है तो राग-द्वेष आदि भी करता है। इस प्रकार कर्मबन्ध होने के पश्चात् उसी कर्म का पुनः उदय होता है। और उसका फल वह स्वयं भोगता है। जड़ यह स्वयं नहीं करता।

प्र. मा.- मलतब उस कुम्भकार के मन में कोई मॉडल नहीं था। उसने पहले कोई घड़ा नहीं देखा था और उसने अपने मन से नया बनाया। यह नई मौलिक उद्भावना है ? कहाँ से आई ?

आ. वि.- नहीं, यह उद्भावना खरीददार की चाह के अनुरूप है, वह जो चाहता है उसके अनुरूप है।

प्र. मा.- ओह !

आ. वि.- ग्राहक को देखकर ही दुकानदार को ज्ञात होता है कि दुकान में कहाँ-कहाँ क्या रखा है ? जब ग्राहक कहता है कि उसे कुछ दे दो तो दुकानदार जिज्ञासा करता है कि उसे क्या दे दे ? उसकी दुकान में तो हजारों सामान भरे पड़े हैं, तुम्हें क्या चाहिए। यही दृष्टान्त इस सन्दर्भ में भी लागू होता है। यहाँ केवल कुम्भकार नहीं चाहता, लोंदा स्वयं बता देता है कि मुझे इस प्रकार का आकार दें।

प्र. मा.- 'कामायनी' में और कश्मीरी शैवदर्शन में बार-बार इच्छा, ज्ञान और क्रिया की बात आती है। सृष्टि के मूल में इन तीनों का सामरस्य रहता है। इच्छा तो सब में होती है पर तदनुरूप ज्ञान सब में नहीं होता। तो इच्छा और ज्ञान के बाद क्रिया का अर्थात् हेड, हार्ट और हैण्ड -- दिमाग, दिल और हस्त इन तीनों का जब (समरस) सम्बन्ध होता है, तभी उनसे सृष्टि की बात सम्भव होती है। परन्तु आपने यहाँ जो बात कही है, उस सन्दर्भ में निराकार या साकार - जैसा भी कुम्भकार माना जाय, क्या उसमें इच्छा पहले से रहती है ? ज्ञान रहता है ? क्रिया करने की इच्छा रहती है? या उसमें तीनों एक साथ उद्भूत रहते हैं ? आपके मन में क्या विचार है ?

आ. वि.- माँ जो होती है, उसकी अपनी कोई इच्छा नहीं होती।

प्र. मा.- वाह ! वाह !!—बहुत अच्छा उत्तर आपने दिया।

आ. वि.- सामने जब उसका बच्चा आता है, खाना माँगता है तो खाना खिला देती है। पेट भर जाने पर यदि वह खेलना चाहता है तो स्वयं साथ में खेलने भी लगती है।

प्र. मा.- वाह ! हमारे गुरु पण्डित माखनलाल चतुर्वेदी अपने को 'माँ' लिखा करते थे। 'मुझको कहते हैं माता' उन्होंने कविता लिखी थी। सारी कविता को वे इसी तरह मानते रहे। यह मिलती-जुलती प्रक्रिया है।

आ. वि.- कवि को भी इसी तरह होना पड़ता है। यदि नहीं होता, युग के अनुरूप अपनी तस्वीर नहीं बनाता तो वह कवि ही नहीं है।

प्र. मा.- वाह ! क्या बात है।

आ. वि.- तो इसका (कवि का) कोई अर्थ नहीं है, क्योंकि फिर युग कैसा लेगा उसको। मैं अपनी तरफ से दे दूँ तो युग स्वीकार नहीं करेगा। आपकी चाह के अनुरूप हम देंगे तो निश्चित रूप से वह स्वीकार्य हो जायगा।

प्र. मा.- आपकी युग की जो कल्पना है क्या वह दिक् और काल से बँधी है? कौन-सा युग ? क्या आज का युग या प्राचीन युग ? महाभारत का युग या राम का युग—क्या ?

आ. वि.- युग हम हमेशा 'वर्तमान' को ही मानते हैं।

प्र. मा.- 'वर्तमान' शब्द की क्या परिभाषा है ? इस क्षण से अगला क्षण क्या वर्तमान नहीं है ?

आ. वि.- जिसमें भूत नहीं, भविष्य नहीं।

प्र. मा. - हाँ।

आ. वि.- जहाँ इच्छा नहीं, स्मरण नहीं, उसका नाम 'वर्तमान' है—'वर्तते इति वर्तमानः'। वह ही वर्तमान है हमारा। जो वर्तमान है, वही वर्धमान है हमारा।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! क्या बात है जो वर्तमान है, वही वर्धमान है। बुद्धि से उसका सम्बन्ध है। बहुत अच्छा। परन्तु जो भूत है उसको हम भूल भी नहीं सकते। वह (भूत) उस (वर्तमान) में मिला हुआ है। टी. एस. इलियट ने लिखा है : "The past is involved in future and future and past in the present." – ये त्रिकाल जो है, एक प्रवहमान नदी है। हमारे चेतन, अचेतन, अर्धचेतन में ये सारे क्षण-क्षण जो हैं– तो क्षणवादी दर्शन के जो बौद्ध लोग हैं, वे मानते हैं कि क्षण ही प्रधान है। जबकि हमारे शंकराचार्य या उनसे भिन्न जो अन्य हैं उसको (सत् को) कूटस्थ, अचल और ध्रुव अर्थात् उसको एक निश्चित क्षण मानते हैं। अतः काल के सम्बन्ध में आपकी क्या अवधारणा है ?

आ. वि.- काल के माध्यम से हम करते हैं, काल में करते हैं किन्तु काल के द्वारा हम नहीं करते।

प्र. मा.- मनुष्यत्व से काल कोई अलग चीज है ?

आ. वि.- काल अलग चीज़ होते हुए भी एक 'स्व-काल' होता है और एक 'पर-काल' होता है। एक स्व-चतुष्टय (स्व-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) और एक पर-चतुष्टय (पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) होता है। अपनी योग्यता ही 'स्व-काल' है और पर का सहयोग जो अपेक्षित है, वह 'पर-काल' है।

प्र. मा.- इन दोनों का सम्बन्ध कैसे होता है ?

आ. वि.- इन दोनों का सम्बन्ध उसी प्रकार होता है—जैसे करंट और तार। करंट स्व-काल है। करंट स्वयं प्रकाशमान् है और जो वायर है उसके लिए पर-काल है। वायर के बिना वह (करंट) एक स्थान से दूसरे स्थान तक नहीं जा सकता। पर वह साधन (उपकरण) मात्र है। स्वयं वह प्रेषित नहीं करता मात्र मीडियम/माध्यम है। यदि हम चाहते हैं तो जितनी गति के साथ करंट दौड़ेगा वह उसकी अपनी क्षमता होगी।

प्र. मा.- तो काल करंट है और मनुष्य मीडियम ?

आ. वि.- नहीं, काल केवल वायर है और करंट जो है वह स्वयं गतिमान् पदार्थ है। जीव चेतन है। वह स्वयं यात्रा करेगा तो उसके लिए काल सहयोग करेगा। काल के द्वारा करंट (जीव) नहीं दौड़ रहा है।

प्र. मा.- तो इसकी प्रत्यभिज्ञा कैसे होती है, ज्ञान कैसे होता है ?

आ. वि.- हमें क्या करना है, कहाँ तक चलना है—वैसे करते चले जाएँ। यह आवश्यक है। जैसे, वर्तमान को लेकर हम चलें। एक व्यक्ति तार के ऊपर चल रहा है। वह अतीत की ओर, पीठ की ओर नहीं देखता। इस प्रकार होने से भूत भी उसका गायब हो गया एवं वर्तमान की ओर भी वह देखता नहीं, लेकिन वर्तमान में ही वह चल रहा है। पैर उसके वर्तमान हैं।

प्र. मा.- भविष्य ?

आ. वि.- भविष्य आशात्मक नहीं है। पहुँचने रूप है। प्रति (हर) समय वह चल रहा है। इसलिए भविष्य उसका निश्चित रूप से उज्ज्वल है। लोग उसे देखते रहते हैं और वह पार कर जाता है।

प्र. मा.- मार्क्सवादियों का कहना है कि प्रतिक्षण जब आप एक-एक कदम चलते हैं तो आपका जो दाहिना पैर है वह बाएँ पैर का निषेध है और जब अगला पैर चलेगा तब दाएँ पैर का निषेध होगा अर्थात् निषेध का निषेध, नकार का नकार।

आ. वि.- लेकिन हम दोनों पैर से नहीं चलते हैं, एक ही पैर से चलते हैं। दूसरा पैर हमारे लिए सहयोगी रहता है, वह टिका हुआ रहता है। ये धन और ऋण हैं।

प्र. मा.- यानी धन और ऋण दो अलग-अलग करंट नहीं हैं ?

आ. वि.- अलग-अलग करंट नहीं हैं। वह दोनों की संयोजना है। करंट दोनों की संयोजना है। न केवल धन में करंट है और न केवल ऋण में।

प्र. मा.- उनका द्वन्द्व नहीं है।

आ. वि.- नहीं, सहयोग है। दोनों पैर से हम चलेंगे तो हम 'लाँग जम्प' वाले कहलाएँगे या 'हाई जम्प' वाले कहलाएँगे किन्तु 'वाकिंग' (walking) वाले नहीं कहलाएँगे।

प्र. मा.- बहुत अच्छा।

आ. वि.- एक पैर से ही चला जाता है और तब दूसरा पैर बैलेंस में रहता है।

प्र. मा.- मैक्समूलर ने रामकृष्ण परमहंस पर जर्मन में एक पुस्तक लिखी है। उसमें बहुत अच्छा लिखा है। उसमें लिखा है कि डायलेक्टिक (Dialectic) जो है या परस्पर द्वन्द्वात्मकता जो है, उसमें एक दूसरे को काटने की बात है यानी नकार का नकार। भारतीय दर्शन में यह काट-पीट नहीं है, यहाँ मात्र Dialogue है।

आ. वि.- हाँ संयोजन है, डायलेक्टिक नहीं है। जैसे खेत में बहुत-सा सस्य है। उसमें हवा बहती है, तब वह एक दूसरे में संचार करती है, एक दूसरे को काटती नहीं।

प्र. मा.- जैसे इकबाल ने कहा है : "जियो, मगर मौज़ों की तरह जियो।" एक लहर आती है वह दूसरी लहर को काटती नहीं वरन् एक दूसरे को आगे बढ़ाती हुई आगे चली जाती है। आपका दर्शन भी इसी तरह सोचता है।

आ. वि.- जी हाँ !

प्र. मा. - फिर भी मुझे यह स्पष्ट नहीं हुआ कि यह काल का जो आपका अवबोध है, काल की जो आपकी परिकल्पना है, उसका 'दिक्' से यानी दिशा से क्या सम्बन्ध है और उन दोनों का काव्य से क्या सम्बन्ध है ?

आ. वि.- दिशा एक प्रकार से "सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (द्रष्टव्य, पृ. ३५२)

प्र. मा.- वाह ! वाह !! 'मूकमाटी' में है यह ?

आ. वि.- जी हाँ ! 'मूकमाटी' में है। यही दिशा है। दिक् का अर्थ दिशा नहीं, बोध है।

प्र. मा.- तो फिर आप के चिन्तन में राष्ट्र शब्द नहीं आएगा ? क्योंकि राष्ट्र शब्द दिशा से बँधा है किसी सीमा में। 'किसी दिशा में'—इसका अर्थ क्या होगा ?

आ. वि.- राष्ट्र अपने यहाँ एक प्रकार से संयोजना जो कुछ बनती है, उसका नाम है। वही है देश। 'समाज' को केन्द्र में रखकर जो विचारधारा बनती है वह है समाजवाद। समाज समूह अर्थ का वाचक है और समूह का अर्थ है—सम् यानी समीचीन रूप से ऊह अर्थात् विचार। मतलब जहाँ आचार-विचार समीचीन हों, वह है समाज। जो इस वाद में आस्था रखता है वह है समाजवादी। अन्यथा समाज तो बाद में है—हम समाजवादी (पहले) हैं।

प्र. मा.- बहुत अच्छा ! किन्तु देश-देश में आपस का जो वितण्डा या विखण्डन है, वह भी विचारणीय है इस सन्दर्भ में। यह तो एक तथ्य या सत्य है कि भारत एक देश है। उसके आज तीन खण्ड हो गए हैं – भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश। यह विभाजन—जो दिक् से जुड़ा है वहाँ है या हमारे चिन्तन या अवधारणा में है?

आ. वि.- हमारे विचारों में विघटन का नाम ही देश का विभाजन है। देश में कोई विभाजन हुआ ही नहीं। यह विचारों का विघटन है। इस विभाजन को विचारों का ही विघटन बोला जाता है।

प्र. मा.- विचारों का विघटन ! तो आपका क्या ख्याल है कि विचारों का यह विघटन समाप्त हो जायगा ? क्या सारी दुनियाँ एक हो जायगी?

आ. वि. - एक हो या न हो, एक होने की भावना या विचार हम रखेंगे तो निश्चित रूप से दूसरे में भी सम्भावना देख सकते हैं।

प्र. मा.- पहले भारत एक था। हम देख रहे हैं कि विखण्डन की क्रिया भयानक रूप से चल रही है। बढ़ रही है। देख लीजिए— असम, पंजाब, तमिलनाडु, जम्मू-कश्मीर आदि इसके उदाहरण हैं।

आ. वि.- इसमें कारण एक मात्र है कि ऊपर से हम एकता भले चाहते हों लेकिन भीतर से नहीं चाहते।

प्र. मा. - हाँ ! यह एकता का जो हम प्रचार आदि कर रहे हैं, यह सिर्फ प्रचार है।
अब, हम कविता की ओर आते हैं। काव्य दिक्-कालातीत होता है या दिशा और काल से बँधा होता है ?

आ. वि.- कविता स्वाश्रित होती है। स्वायत्त होती है। इसका दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्र. मा.- स्वाश्रित (होती है कविता) ! उसका क्या दिशा-काल से कोई सम्बन्ध नहीं ?

आ. वि.- कोई नहीं।

प्र. मा. - पर उद्भूत तो होती ही दिशा में ही, दिशा-काल से ही।

आ. वि. - 'स्व' में (या 'स्व' से) उद्भूत होती है।

प्र. मा. - पर भाषा से तो बँधी है ?

आ. वि.- हाँ ! भाषा से बाँधना पड़ता है। जैसे जन्म होने के बाद आवरण या आभरण आ जाता है।

प्र. मा.- भाषा तो दिगम्बर नहीं हो सकती। भाषा के साथ तो दिशा-काल बँधा है।

आ. वि.- भाषा की परिभाषा भी एक प्रकार से दिगम्बर जैसी ही है। हम बना देते हैं तो बन जाती है, नहीं तो नहीं है। भीतर से भाव यही है कि भाव हमेशा उत्पन्न होते रहते हैं और भावों को हमेशा व्यवस्थित रखने के लिए भावों को, भाषा को अपनाना पड़ता है। वह अपनाना कहाँ तक है, यह आप ही जानें। पर हमारा राजकुमार तो राजकुमार ही है, रूपवान् है। बाद में भले ही वस्त्र रख दो तो रख दो, नहीं भी रखो तो हमारा

राजकुमार तो राजकुमार ही है।

प्र. मा.- क्या बात है ! 'स्वाश्रित' जब आपने कहा तो इसमें कविता का कोई भावक, कोई सामाजिक, कोई रसज्ञ, कोई उसका ग्रहण करने वाला भी अभिहित है या नहीं ? क्या आप यह मानकर चलते हैं कि मैंने काव्य 'स्वान्तः -सुखाय' लिख दिया। वह हवा में या शून्य में रहे, कोई न भी पढ़े तो परवाह नहीं ?

आ. वि.- रसोइया जो है न, वह पाकशास्त्र को जानता है। पाकशास्त्र जानने वाला व्यक्ति अपने 'पाक' को दूसरों तक पहुँचाने की कोशिश अवश्य करता है।

प्र. मा.- करता ही है। मतलब दूसरा है उसके मन में ?

आ. वि.- हाँ ! लेकिन दूसरा है, इसलिए मन में है, ऐसा नहीं। वह अपने में उत्पन्न करता है कि जो खाने के लिए आया, उसको पूछने नहीं जाता कि आपको क्या चाहिए या कैसे बनाऊँ। हाँ, जितना खाना है, उतना खा लो। लेकिन मैं बनाऊँगा तो अपने रस पाकज्ञान से ही बनाऊँगा।

प्र. मा.- 'स्वाश्रित' में 'पर' यह जो है उसका स्वाद लेने वाला है, स्वादक निहित है।

आ.वि.- 'स्व' के साथ वह भोजन तो कर ही रहा है, स्व के साथ दूसरों को भी लाभ हो जाय तो ठीक है, किन्तु वह गौण ही है।

प्र. मा.- क्या आप कविता को संवाद नहीं मानते ?

आ. वि.- नहीं।

प्र. मा.- केवल आत्माभिव्यक्ति मानते हैं ?

आ. वि.- नहीं। वो तो संवाद में आ ही नहीं सकता।

प्र. मा.- संवाद से मेरा मतलब है—सम्प्रेषण। यानी कोई और है जिससे मैं बात करना चाहता हूँ।

आ. वि.- 'वद्' धातु से 'वाद' बना है तो फिर कविता के लिए वद् से जुड़ा ही नहीं।

प्र. मा.- हाँ ! हाँ !! वाद, विवाद, संवाद, प्रवाद आदि। तो वाद या भाषा जैसा आप कह रहे हैं, वह केवल आत्माभिव्यक्ति है यानी स्वाभाविक ही है।

आ. वि.- इसीलिए 'मूकमाटी' में लिखा है -- परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। ये चारों हैं लेकिन ये सारे के सारे योगीगम्य हैं, मात्र वैखरी ही श्रोत्रेन्द्रिय का विषय बन पाती है।

प्र. मा. - काव्य का अन्त मुझे ऐसा लगा कि आपने कुछ जल्दी कर दिया। मुझे समझ में नहीं आया कि अन्त में क्या होता है इस घड़े को लेकर के मूकमाटी का।

आ. वि.- उसकी पूर्णता हो गई। उसकी यात्रा पूर्ण हो गई मौन में। वह मौन में लीन है और जब पूर्णता हो जाती है, तो अनुभूति आ जाती है। जब अनुभूति हो जाती है तब वचन को, वाक्य को विराम मिलता है।'''फिर बोलना, क्या बोलना ?

प्र. मा.- यह जो आपकी धारणा है वह बहुत कुछ झेन बौद्ध धर्म के निकट है। मैं बहुत से झेन बौद्ध मठों में गया। मैंने वहाँ देखा है कि वे लोग पत्थरों को जमा कर लेते हैं और बैठे रहते हैं और सोचते हैं कि झरना है। चन्द्रमा की तरफ देखते हैं और घण्टों बैठे रहते हैं, बात नहीं करते हैं। खाली कप में पानी रहता है उसे थोड़ा-थोड़ा पीते हैं। समझते हैं कि चाय पी रहे हैं। ये जो झेन है, वह 'ध्यान' से निष्पन्न है। उनका कहना है कि जैसे हाथ पर हाथ मारें तो आवाज होती है, वैसे ही एक हाथ से भी आवाज़ आनी चाहिए। वे वर्षों केवल इसी आवाज़ को सुनते हैं हवा में। मेरे लिए यह विचित्र स्थिति है कि 'जो है, उसको हम नहीं है' तक ले जाते हैं। वाणी

को मौन तक ले जाना''' शून्य की ओर ले जाना है।

आ. वि.- नहीं। शून्य की ओर नहीं। वही वास्तव में एक सही, सत्य तक पहुँचाने की यात्रा है। शब्द बोलने में आता है और सुनने में भी आता है। बोध बोलने में नहीं आता, सुनने में नहीं आता लेकिन बोध को वाणी मिली, ऐसा कह देते हैं। तो शब्द-प्रत्यय से अर्थ-प्रत्यय यानी बोध-प्रत्यय होता है।

प्र. मा.- इसमें 'शोध' और 'बोध' आपने कहा है।

आ. वि.- इसके उपरान्त 'शोध' आता है। शोध में शब्द भी गायब हो जाता है और बोध कहता है कि बहुत पंगु हूँ मैं, क्योंकि उस फूल का नाम है बोध और पेड़ का नाम है शब्द। तो शब्द के पौधों के ऊपर बोध के फूल लगें, यह कोई नियम नहीं।

प्र. मा. - उसकी सुरभि तो है ?

आ. वि.- इसके उपरान्त बोध के पास भले ही सुरभि हो लेकिन तृप्ति का साधन फूल नहीं। शोध में सुरभि भी है और फल भी। हमारे काम में तो दोनों आते हैं। इसलिए जब तक बोध है, तब तक शोध नहीं। बोध को ही शोध में ढलना होगा यानी फूल को फल में ढलना होगा। किन्तु ध्यान रहे—फूल का रक्षण हो और फल का भक्षण हो।

प्र. मा.- वाह ! वाह !! तो यह शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा है। इस 'मूकमाटी' सम्बन्धी एक जिज्ञासा मेरे मन में और थी कि मनु और अणु—ये शब्द प्रयोग किए हैं आपने। तो अणु के स्फोट को लेकर के आज विश्व में जिस तरह की बातें हो रही हैं, उस सन्दर्भ में आपका मत क्या है ? अणु की जो शोध की जा रही है, उससे मनु को कुछ लाभ होगा ? मनु कुछ आगे बढ़ेगा ?

आ. वि.- नहीं। वह रोकी जाए, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ। लेकिन अणु का प्रयोग क्यों किया जा रहा है ? अणु का प्रयोग करने वाला मनु की परम्परा को लाँघेगा तो आनन्द नहीं ले सकेगा। स्वयं आइंस्टीन ने यह कहा कि मैंने अणु का शोध किया है, यह निश्चित बात है, लेकिन प्रयोग करने के लिए नहीं कहा। प्रकृति पर हम प्रयोग करेंगे तो निश्चित रूप से हमारी हार होगी और जब तक मनुष्य का दिल और दिमाग़ ठिकाने है तब तक ये एटम बम, हाइड्रोजन बम आदि हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं करेंगे। लेकिन जिस दिन यह मस्तिष्क/मन विकृत हो जायगा वह हमारे लिए आत्मनाशी होगा ! इसलिए प्रयोग के लिए नहीं कहा है। योग रखिए, प्रयोग नहीं।

प्र. मा.- परन्तु कवि तो यह मानता है कि वह सदा वियोग में रहता है : "वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान। उमड़ कर आँखों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।" इस दुनिया की सारी कविता अतृप्ति से ही फूटी है।

आ. वि.- बहुत अच्छा। सुनिए ! वह जो योग—संयोग व वियोग के उलझन में फँसा है, वह निश्चित रूप से, नियोग रूप से योग का आधार नहीं ले सकता और यदि योग का आधार नहीं ले सकेगा तो उसके उपयोग में विश्व क्या है, यह आ ही नहीं सकेगा।

प्र. मा. - यहाँ पर लोगों का यह कहना है कि यह तो सन्तों का मार्ग है। मुनियों का मार्ग है। यहाँ मुक्त होकर आप मौन की ओर, परम मोक्ष की ओर जाएँगे।

आ. वि.- नहीं, नहीं, नहीं।

प्र. मा. - परन्तु बेचारा कवि जो है वह दर्द में छटपटाता रहता है : "दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।"

आ. वि.- जो यह कहा है कि दर्द, दवा और हवा – इन्हें हमें देखना आवश्यक है। जब हवा से काम नहीं चलता तब दवा काम में आती है और जब दवा से काम नहीं चलता तब दुआ काम आती है। लेकिन ये बिलकुल बाहरी जगत् की बात हो गई। जब दुआ काम नहीं आती उस समय हमें क्या करना ? कौन-सा आधार है ? किस की शरण में जाएँ और कौन-सा हमारा एक सहारा या स्तम्भ हो ? निश्चित बात तो यह है कि जब दुआ काम नहीं करती तब परम चेतना– शुद्ध आत्मतत्त्व – स्वयम्भुवा काम करती है।

प्र. मा. - तो आपने, महाकाव्य जो है, यह एकदम प्रेरणा हुई और लिख दिया''' ऐसा है ? कितना समय लगा लिखने में ?

आ. वि.- लगातार लिखते गए, लगभग पौने तीन वर्ष* लगे।

प्र. मा. - पहले से कोई ढाँचा बनाया था या फिर बनता चला गया ?

आ. वि.- ढाँचा तो कुछ नहीं बनाया। बस प्रारम्भ हो गया और बनता गया।

प्र. मा. - जैसे कुम्भ बनता चला गया।

आ. वि.- जी हाँ ! एक कथा पूर्ण करनी है अपने को। अत: वहाँ तक घट को ले जाना है। इसलिए बनाते चले जाओ। तदुपरान्त कुम्भ जो है वह जल-धारण भी करता है और जल से पार भी करा देता है। तो जल से पार भी करा दिया यानी पूर्ण यात्रा हो गई।

प्र. मा.- तो आपके इस कुम्भ में जो जीवन है, जल है – क्योंकि मैं अभी पंच तत्त्व की बात कर रहा था, मिट्टी की बात हमने बहुत कर ली- अब यह जीवन जो तत्त्व है, क्या ये भी एक अमूर्त तत्त्व है या एब्सेट्रक्ट तत्त्व है ? या पानी जिसको आप कह रहे हैं, कुम्भ के अन्दर जो नीर आता है, पानी है, सलिल है, वारि है, जो भी शब्द कहें – ये दृश्य हैं ? स्पृश्य हैं ? कैसी चीज हैं ? या केवल यह धारणा है ?

आ. वि.- जल भी एक तत्त्व है। जल को अपने यहाँ जल के ही रूप में अंगीकार किया और 'भू' को सब की भूमिका के रूप में अंगीकार किया है।

प्र. मा. - उस दिन (दो दिन पूर्व हुई बातचीत के समय) आपने धरती को 'सर्वंसहा' यानी गन्धवती, पृथिवी, भूमा कहा था तो जल को आपने एक चलायमान, गतिशील तत्त्व के रूप में अंगीकार किया और भूमि को स्थितिशील ?

---

* *'मूकमाटी' ग्रन्थ आलेखन प्रारम्भ - श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित हो रहे ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस–बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रतनाथजी के दीक्षाकल्याणक दिवस–वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल १९८४ को।*

समापन - *श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्रीमज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी १९८७ को।*

प्रकाशन- *'मूकमाटी' (महाकाव्य) - आचार्य विद्यासागर, भारतीय ज्ञानपीठ, १८, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-११० ००३, पहला संस्करण-१९८८, पृष्ठ-२४+४८८, मूल्य-५० रुपए, सातवाँ संस्करण-२००४, मूल्य-१४० रुपए।*

आ. वि.- हाँ ! स्थितिशील, धारणशील, पालनशील, क्षमाशील और तारणशील है। धरणी-- "जो धारण करती है यानी ध···र···णी- णी···र···ध।" अथवा "तीर पर जो धरने वाली है वह ध···र···ती-ती···र ···ध।"(द्रष्टव्य, पृ.४५२-४५३)

प्र. मा. - वाह ! वाह !! तो इन दो तत्त्वों में, जल और मिट्टी में, आपने 'अग्नि तत्त्व' को किस तरह इस्तेमाल किया ?

आ. वि - अग्नि को जलाने के रूप में भी लोग अंगीकार कर लेते हैं। लेकिन जलाने वाली सारी चीज़ें हमारे लिए बाधक हैं, ऐसा नहीं है। स्वयं ही घड़ा कहता है कि मुझे जला दो, क्योंकि तुम्हारे द्वारा मैं जब तक नहीं जलूँगा, तब तक मेरी यात्रा पूर्ण नहीं होगी। और ऐसा मत सोचो कि तुम मुझे 'जला' रही हो। नहीं, वास्तव में तुम मुझे 'जिला' रही हो। मेरे भीतर जो दोष हैं, उन दोषों को जला रही हो। उन दोषों को जलाए बिना मेरी जीवन यात्रा सम्भव नहीं। मेरी जीवन यात्रा का विकास तुम्हारे जलाने के ऊपर ही है। अत: तुम नि:संकोच होकर जला दो, मैं जलने के लिए तैयार हूँ। तो अग्नि को इस रूप में अंगीकर कर लिया ।

प्र. मा. - न्याय या वैशेषिक आदि दर्शनों में घड़े के निर्माण के समय यह माना जाता है कि अग्नि में एक-एक कण जलता चला जाता है। कुछ लोग कहते हैं कि इकट्ठा बन जाता है। आपका क्या कहना है ?

आ. वि.- कोई भी कार्य जो होता है तब यदि हम 'निष्पन्न दशा' को लेकर चलते हैं तो 'पीछे का' गौण हो जाता है। लेकिन 'पीछे को' गौण के साथ हम यदि निराकृत कर दें तो हमारे हाथ कुछ नहीं लगता।

प्र. मा.- थोड़ा स्पष्ट कीजिए इसे।

आ. वि.- जैसे किसी ने एम. ए. किया। तो सोलह (११+३+२) कक्षाएँ उत्तीर्ण करने के उपरान्त उसके पास गुरुत्व आया। किसी एक विषय के ऊपर अधिकार आ गया। यह निश्चित बात है। लेकिन यदि प्रथम कक्षा, द्वितीय कक्षा आदि-आदि पास नहीं करता तो सोलहवीं कक्षा कोई वस्तु तो हमारे सामने नहीं रहती। प्रथम कक्षा, दूसरी कक्षा आदि का सारा ज्ञान संयोजित होकर ही तो एम. ए. कहलाता है।

प्र. मा.- तो ये स्टेप-बाई-स्टेप होता है ? घड़े का निर्माण भी स्टेप-बाई-स्टेप हुआ ? एकदम नहीं ?

आ. वि.- एकदम नहीं होता।

प्र. मा. - एक दम अग्नि के प्रवेश से नहीं बन जाता, ऐसा नहीं होता। मेरी एक जिज्ञासा यह थी कि यह घड़ा जो निर्मित हुआ, उसमें पानी के अंश और आकाश की क्या स्थिति है ?

आ. वि.- आकाश की स्थिति यह है कि उसने पानी को अवगाहित करने का अवकाश दे दिया। दूसरा यह कि घटाकाश, पटाकाश का जब व्यवहार किया जाता है तो उसका आशय यह नहीं होता कि वह सब आकाश का नाम है, अपितु वह घटगत आकाश है, पटगत आकाश है। जिस स्थान पर घड़े ने अपने को स्थापित किया है, उस स्थान पर स्थित घट में जो आकाश है, वह घटाकाश है। उसे घटाकाश मान लिया गया-- अन्यथा, वहाँ आकाश की कोई बात नहीं।

प्र. मा.- यहाँ आपने स्पेश (Space) या दिक् जो है या खम् - इस तत्त्व को मान लिया । अभी आपने कहा था कि...

आ. वि - हाँ, माना है। दिक्-कालातीत नहीं है। घट की स्थिति जो है।

प्र. मा. - यहाँ आपने कहा था कि घट की यात्रा दिक्-कालातीत नहीं है, अमूर्त नहीं है ?

आ. वि.- जी हाँ ! काल को बताने के लिए घट कारण तो है। और इसकी प्रक्रिया में काल सहयोग भी दे रहा है। इसकी व्यवस्था भी हमने बताई । लेकिन काल को ही सब कुछ मान लें या स्थान को ही सब कुछ मान लें तो घट

का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा।

प्र. मा. - 'कामायनी' गत शैव दर्शन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया– ये तीन शब्द मैंने पहले कहे थे। इन तीनों को आप क्या एक समझते हैं ? एक साथ मानकर चल रहे हैं ?

आ. वि.- प्रत्येक क्रिया में कोई सहयोग आवश्यक होता है। वह तो अपने आप चलता ही रहता है। हम बोल रहे हैं तो इस समय वचन-वर्गणाएँ आ ही रही हैं, मन के माध्यम से विचार भी चल रहा है।

प्र. मा.- परन्तु, अकेले मनुष्य या सामूहिक मनुष्यों के विकास में पहले इच्छा रहती है, फिर ज्ञान आता है और फिर क्रिया बहुत बाद में होती है, ऐसा प्राणीशास्त्र विज्ञान कहता है। इसमें अवस्था भेद से—छोटेपन से बड़ेपन में या कि एक आदिवासी समाज में और एक अत्यन्त सम्पन्न आज का जो यान्त्रिक समाज है, इसके बीच में जो कुछ परिवर्तन होता है, उसके सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

आ. वि.- इस सम्बन्ध में तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रारम्भ में आदिवासी होकर ही आदिनाथ भगवान् का उपासक बनता है और फिर आदिनाथ बन जाता है। लेकिन अन्य दशाओं का वह एकदम गौणीकरण कर देता है। प्रत्येक आदमी जब पहला क़दम रखता है, उस समय वह बालक ही माना जायगा।

प्र. मा.- यानी प्रत्येक व्यक्ति पुनः बालक बन सकता है ?

आ. वि.- बालक ही है वह। जिस दिशा में वह चलना चाहता है, एक चरण रखता है तब वह बालक ही रहता है। बालक से ही पालक बनता है।

प्र. मा.- तो क्या यह सम्भव है कि किसी वृक्ष के लिए वह फिर से वहीं पहुँच जाय जहाँ से प्रारम्भ किया ? प्रत्येक वृक्ष फिर बीज बनेगा ? क्या खिला हुआ फूल फिर कली बन जायगा ?

आ. वि.- नहीं ! इसे यूँ कहना चाहिए कि यदि अभी बनने की प्रक्रिया ही नहीं हुई है तो उसको हम चलना नहीं मानेंगे।

प्र. मा.- केवल इच्छा है ?

आ. वि.- हाँ ! केवल इच्छा है। अभी ज्ञान और क्रिया नहीं आ पाई। क्रिया हो रही है लेकिन समीचीन क्रिया होनी चाहिए। तभी इच्छा पूर्ण हो पाएगी। मात्र इच्छा हीं ज्यों-कि-त्यों बनी रहती है तो क्रिया फलीभूत नहीं होती—"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिर-स्तोत्र/३८) यानी भाव से शून्य-क्रिया फलीभूत नहीं हो पाती।

प्र. मा.- ये सारा आपने आत्मनिष्ठ विवेचन किया। मैं थोड़ी वस्तुनिष्ठता की बात चाहता हूँ। आपके दृष्टिकोण में कोई जड़ या बाहर की पृथ्वी या भौतिक जगत् नहीं है ? या है ? या केवल आभास है मन में या केवल विवर्त है ?

आ. वि.- ऐसा है – वैसे यदि देखा जाय तो आभास भी है और वैसे...

प्र. मा.- क्या केवल कल्पना है महाराज ? दुनिया जो है – 'माई वर्ल्ड इज माई विल' – ऐसा हावर ने कहा है। 'क्या केवल एक मिथ्या है', जैसा शंकराचार्य कहते हैं ?

आ. वि.- एकान्त रूप से मिथ्या ही कहें, ऐसा भी नहीं है। क्योंकि मिथ्या को कहने के लिए जो शब्द प्रयोग किए जाएँगे तो फिर वो भी मिथ्या ही हो जाएँगे। जैसे शंकराचार्य ने कहा कि यह संसार जो है, वह मिथ्या है। तो यह संसार मिथ्या कहने वाले जो वचन हैं, वे भी मिथ्या हैं। ऐसा तो नहीं है कि इन वचनों के माध्यम से हमें कुछ भी नहीं मिला है। वह केवल बुद्धि है, उच्चरित शब्दार्थ की समझ तो है ही। यदि यह एकान्ततः मान लिया जाय कि यह सारा का सारा संसार झूठ है, तब जो शब्द सुना जा रहा है, वह भी झूठ है। इसलिए

जब यह शब्द निकला और उसने बोध कराया तब एकान्ततः झूठ कैसे मान लिया जायगा ? कुछ तो वह है।

प्र. मा. - ठीक है। शंकराचार्य के विषय में एक कहानी है। वे कहीं जा रहे थे कि उनके पीछे एक दौड़ता हुआ हाथी लग गया। यह देखकर शंकराचार्य जान बचाने के लिए भागने लगे। इसी समय उनके द्वारा शिक्षित और दीक्षित व्यक्ति आया और देखा कि शंकराचार्य भाग रहे हैं। उसने कहा कि स्वामिन् ! आपके अनुसार जब सारा संसार झूठा है, तब क्या यह हाथी सच्चा है, जो आप इस से डर के भाग रहे हैं ? शंकराचार्य ने कहा कि उनका भागना भी कहाँ सच्चा है,वह भी मिथ्या है। मतलब यह कि मिथ्या की अवधारणा नितान्त सूक्ष्म है। विदेशी अर्थात् पश्चिमी दार्शनिकों ने मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं माना है।

आ. वि.- मिथ्या का अर्थ अभाव नहीं है।

प्र. मा. - हाँ ! मैं यहीं आ रहा हूँ ।

आ.वि.- हाँ ! मिथ्या का अर्थ एक प्रकार से विलोम होना है।

प्र. मा.- तो क्या आप इसको आंशिक मिथ्या या आंशिक सत्य मानते हैं?

आ. वि.- नहीं। इसको हम यह कहेंगे कि जैसे एक तो अभाव है और दूसरा विभाव। तो जल का अभाव अत्यन्ताभाव नहीं है। हिम, जल का विभावीकरण है। और विभाव के द्वारा हमेशा कष्ट होता है। इसको मिथ्यात्व बोलते हैं।

प्र. मा. - तो जल का हिम जो है, वह निषेध नहीं है ?

आ. वि.- नहीं। अभाव नहीं है, विभाव है। विभाव रूप हिम को पुनः तरल बना दो। जल को तरल माना है स्वभावतः। जब जल रहेगा तब तरल रहेगा, बहाव रहेगा। लेकिन, जब तरल के स्थान पर सघन हो जाएगा तब वह विभाव हो जाएगा और विभाव होने के कारण न नाव उसमें डूबेगी और न तैरेगी, किन्तु अटक जाएगी।

प्र. मा.- समय काफी हो रहा है। मैं अन्तिम प्रश्न पूछना चाह रहा हूँ—क्या आप और कोई महाकाव्य लिख रहे हैं या लिखेंगे ? हमारी उम्मीद है, हम चाहते हैं कि इससे भी बड़ी चीज़ आप लिखें।

आ. वि.- माँग तो आ रही है, लेकिन उस माँग की...

प्र. मा.- इच्छा आपके मन में जागे, फिर ज्ञान हो और फिर क्रिया हो। जो आपका काव्य('मूकमाटी') है वह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है, हम ये मानते हैं। ऐसी कोई चीज़ पहले नहीं लिखी गई और ये कई दृष्टियों से अभूतपूर्व रचना है। मैंने तो कई महाकाव्य पढ़े हैं। कई भाषाओं में पढ़े हैं। मैंने इसकी तुलना अन्य कई महाकाव्यों से कराना चाही है—'गिलगिमेश' पहला महाकाव्य है जो पश्चिम में माना जाता है कि ईंटों के अन्दर लिखा प्रलय के बारे में कुछ मिलता है। और मिल्टन के 'पैराडाईज़ लॉस्ट'और डान्टे की 'डिवाइन कामेडी'—इन सब से तुलना करते हुए हम चलते हैं, विश्व के महाकाव्यों के इतिहास में हम देख रहे हैं कि यह अलग चीज़ है। अरविन्द की 'सावित्री' कुछ-कुछ इसके करीब की रचना है, फिर 'कामायनी' है, परन्तु ये उससे भी भिन्न है। ये आपने बहुत बड़ा महत्त्व का ग्रन्थ लिखा है, इतना ही मैं कहना चाहता हूँ। मैं तो लिखूँगा ही जो कुछ लिखना है।

हम ये चाहते हैं कि इसका अधिकाधिक लोगों में प्रचार-प्रसार हो। इसके द्वारा लोगों को काव्य का एक नया आयाम खुल जाता है। अभी तक काव्य के सम्बन्ध में जो हमारी धारणा थी उसमें एक नया कल्पना-लोक, आलोक उद्घाटित हुआ है। कल्पना का क्या योग मानते हैं आप काव्य में ?

आ. वि.- अनुभूति को जीवित रखने के लिए कोई साँचा तो बनाना चाहिए। मैं कल्पना के पक्ष में बहुत कम हूँ।

प्र. मा. - अच्छा, ये आपकी दी हुई कल्पना है, जो महाकाव्य है, वह अकल्पनीय कल्पना है ?

आ. वि.- ये कल्पनातीत है, क्योंकि घटित नहीं हो रही है और कल्पना कर लें तो इस अपेक्षा से जो घटित है, जिस रूप में है, उसको हम शब्द रूप दे दें तो बहुत अच्छा रहेगा ।

प्र. मा.- हमारे अचेतन मन की खान के अन्दर जो छुपी हुई स्वर्ण राशि है, उसे मिट्टी के अन्धकार में से निकाल कर के कल्पना तक उसको परिशोधित कर जब उसका बोधन-शोधन होता है तब जाकर उसकी एक मुद्रिका बनती है। शब्दों के जड़ाव के अन्दर तब जाकर लोगों के काम की होती है। रस प्रक्रिया जैसी है यह। जैसे कि भोजन के लिए पाकशास्त्र में भी जो मूल चीज़ है, उसका वैसा ही सेवन नहीं करते, ये सारा परिष्करण है।

आ. वि.- जहाँ तक बन सके वहाँ तक मैं सोचता हूँ इन रसों में ही विशेष संयोजना या खोज ना करके जो रसास्वादी व्यक्ति हैं, उनकी रसास्वादन में थोड़ी रुचि ज्यादा बढ़ जाए तो अपने आप ही इसका नाम ज़्यादा हो जाएगा। इसमें हम बहुत कुछ भरना चाहते हैं, लेकिन सामने वाला व्यक्ति ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए जहाँ तक बन सके वह बन्धन टूट जाए। अन्यथा, शृंगार लाओ, विरह लाओ - यानी वो लाओ, ये लाओ। इससे पूरा का पूरा वो ही इतिहास, पुनः जमघट हो जाता है।

प्र. मा.- आप केवल शान्त रस में विश्वास करते हैं ?

आ. वि.- जी हाँ ! इसमें कहा भी है : "सब रसों का अन्त होना ही-/शान्त-रस है" (पृ.१६०)। कहा है: "शान्ताद् भावाः प्रवर्तन्ते।"

(अन्य के द्वारा एक प्रश्न)

प्र. मा. - आप पूछ रही हैं– कुम्भकार ईश्वर है या गुरु है ? वो गुरु मान कर चल रही हैं। आप क्या मानते हैं ?

आ. वि.- ईश्वर अपने यहाँ (जैन दर्शन में) दो प्रकार के होते हैं – एक सकल परमात्मा और एक निकल परमात्मा। सकल परमात्मा – शरीर सहित, जो अरहन्त परमेष्ठी हैं। दूसरे शरीर रहित होने से निकल परमात्मा हैं। वो हमारे परम गुरु हैं। और ये जो ज्ञानसागर महाराज हैं वो हमारे गुरु हैं।

प्र. मा.- हमारे यहाँ तो गुरु को ही "गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः, गुरुर्देवो महेश्वरः" कहा है। ये तीनों जो हैं, वे गुरु में आ गए हैं तो सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति एवं लय– इन सबका गुरु के अन्दर समावेश है। हमारे यहाँ गुरु की धारणा बहुत व्यापक है। तो गुरु और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं हमारे यहाँ विचारों में ?

आ. वि.- इतना ही अन्तर है कि गुरु जो हैं : "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काकै लागूँ पाँय। बलिहारी गुरू आपनै...आगे..., -गोविन्द दियो 'बताय' नहीं, बल्कि गोविन्द दियो 'बनाय' कहते हैं।"

प्र. मा. - वाह ! वाह !! 'बताय' के बदले में 'बनाय' कर दिया।

(एक अन्य के द्वारा प्रश्न)

प्र. मा.- आप पूछ रहे हैं कि जब आप कर्नाटक से आए थे, तब इतनी हिन्दी नहीं आती थी। फिर हिन्दी पर इतना अधिकार कैसे प्राप्त किया ?

आ. वि.- अधिकार तो नहीं था, इसे स्वीकार किया है। हमने केवल सुना है। गुरुजी ने केवल सुनाया था। वो कुछ-कुछ मारवाड़ी बोलते थे।

प्र. मा.- मैं सोचता हूँ सारा श्रेय संस्कृत-प्राकृत को देना चाहिए, जिन भाषाओं ने इस सब को आधार दिया।

आ. वि.- गुरुजी के मुख से हमने संस्कृत पढ़ी, लेकिन बोल-चाल का माध्यम हिन्दी भाषा रही ।

प्र. मा.- इसमें कहीं-कहीं ग्रामीण शब्दों के प्रयोग भी आ जाते हैं, जैसे 'जघन' शब्द (पृ.२२७) आपने लिखा है। इसका हिन्दी में अर्थ अच्छा नहीं होता। आपने कन्नड़ अर्थ में शायद लिखा है ? दर्शन को इस तरह काव्य रूप में प्रस्तुत करना अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि मैं मानता हूँ, क्योंकि जितने भी दर्शन के बारे में महाकाव्य हैं, वे बहुत कुछ क्लिष्ट हो जाते हैं जबकी ये ('मूकमाटी') क्लिष्ट नहीं है। इसका प्रभाव जो है-प्रसाद गुण बहुत बड़ा है। यह बराबर प्रवहमान् चलता जाता है, क्योंकि इसके पीछे आपकी जो चेतना है वह निरन्तर आपको आगे ठेलती हुई चली जाती है। आप बहुत स्पष्ट हैं। आपका जो उद्देश्य है, आपके कुम्भ का जो भाव है वह बहुत स्पष्ट है। बहुत-बहुत धन्यवाद। हम बहुत उपकृत हुए। आपके काव्य को पढ़कर के बहुत लाभान्वित हुए। ये जिज्ञासाएँ तो यूँ ही थीं, हमारी मूर्खता या हमारी सीमा का-- जानने के लिए। लेकिन लोगों तक पहुँचने में इसे समय लगेगा। जब अन्तरिक्ष में लोग गए तो उनका भार कम हो गया—लोगों को जैसे आसमान में तैरना पड़ा। इसको ('मूकमाटी') पढ़ते समय ऐसा ही आभास होता है। जैसे हम कहीं स्पेश में जा रहे हों। ज़मीन पर एकदम पैर नहीं टिकते। उन जैसी ही हमारी उपलब्धि है। और कुछ पूछना है किसी को ? इसमें 'प्रास' बहुत आते हैं। शब्दों की क्रीड़ा, अनुरमण, उसका जो है अवलोड़न'''तो क्या ये सब सहज रूप से हुआ या आप कहीं-कहीं जान-बूझ कर ले आए हैं ?

आ. वि.- अर्थाभिव्यक्ति अच्छी हो तो उसके लिए कोई विशेष मेहनत नहीं करनी पड़ती।

प्र. मा.- शब्दाधिकार बहुत हैं इसमें। शब्द और अर्थ को आप कैसे मानते हैं ? शब्द पहले आता है आपके मन में या अर्थ पहले आता है ?

आ. वि.- हम तो भाव से ज्ञान की ओर, मतलब बोध से शब्द की ओर बढ़ते हैं। हमारी कविता की यात्रा हमेशा भीतर से बाहर की ओर होती है।

प्र. मा. - तो शब्द कहाँ हैं– बाहर हैं, भीतर हैं या बीच में हैं ?

आ. वि.- भाव भीतर हैं और उन्हें शब्द के आलम्बन के लिए बाहर आना पड़ता है।

प्र. मा. - कभी आपको ऐसा नहीं लगा कि किसी शब्द के लिए आपको रुकना पड़ा हो ?

आ. वि.- नहीं, नहीं। अपने भाव के साथ जब शब्द जुड़ता है तब बहुत भारी हो जाता है। तब अपने चिन्तन के लिए कोई क्षति नहीं पहुँचती और शब्द अपने आप मिलते चले जाते हैं। इस की ('मूकमाटी') एक विशेषता कि हमने रात में कभी भी नहीं लिखा, चिन्तन के उपरान्त दिन में ही लिखा।

प्र. मा.- इतना बड़ा जो 'अभिधान राजेन्द्र कोश' उन्होंने बनाया, वो भी रात को स्याही को सुखाकर रख देते थे। दिन-दिन में स्मृति से लिखते थे। यह 'मूकमाटी' भी बहुत अद्भुत काव्य है, क्योंकि और किसी जैन मुनि ने ऐसा महाकाव्य लिखा हो, ध्यान में नहीं आता। इस तरह के अमूर्त विषय पर किसी ने कार्य किया हो, ऐसा भी ध्यान में नहीं आता। यह बहुत आधुनिक है मेरे मत से, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। आज विज्ञान की जो खिड़कियाँ खुल रहीं हैं, विभिन्न विद्वान् लिख रहे हैं–'डॉन्स ऑफ शिवा' आदि विदेशों में जो लोग हैं वो इसी तरफ आ रहे हैं, इसी भारतीय मनीषा का जो चरम बिन्दु है। सारे भौतिकवादी चिन्तन, सारे द्वन्द्वात्मक चिन्तन सीमित हो गए हैं, वे भी धीरे-धीरे वहीं पर आ रहे हैं उसी बिन्दु पर। उसकी ओर ही संकेत करता है ये ग्रन्थ। इसीलिये मैं इसको 'फ्यूचर पोयॅट्री' यानी भविष्यवादी काव्य, जैसा कि अरविन्द ने कहा है, इसे बहुत अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी ये बहुत प्रेरणादायक ग्रन्थ है।

□

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के चरण-सान्निध्य में' मूकमाटी-मीमांसा' के सम्पादक आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

पातनिकी

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

(क) प्रस्तुत कृति पर आमन्त्रित समीक्षाएँ और उनकी समीक्षा

आलोच्य संकलन में अनेकविध समीक्षाएँ हैं। लेखक या समीक्षक कश्मीर से केरल और गुजरात से गुवाहाटी तक के हैं, इसीलिए ये समीक्षाएँ अपने में विविधता लिए हुई हैं। विविधता आकारगत भी है और आन्तरिक कथ्य या विवेच्यगत भी। कतिपय समीक्षाएँ बृहदाकार हैं और कतिपय सम्मत्यात्मक पत्र क़िस्म की। एकाध समीक्षक तो ऐसे भी हैं जिन्होंने कई (चार) अध्याय की पुस्तक ही लिख दी है और एक विद्वान् से भूमिका भी लिखवा ली है। सोचा इसी में छप जायगी। सम्पादन के क्रम में ऐसे प्रयासों को अन्यथा आकार देकर उसे पृथक् कृति होने के भ्रम से बचा लिया गया है। ऐसे विद्वानों के भी निबन्ध हैं जिन्होंने स्वतन्त्र पुस्तक छपवा ली है पर उसी पुस्तक से कुछ लेकर ग्रन्थोपयोगी स्वतन्त्र आकार दे दिया है।

अधिकांश लेखों में आलोच्य कृति की कथावस्तु का सारांश प्रस्तुत कर अपनी प्रतिक्रिया कतिपय मुद्दों पर दे दी गई है। कुछ समीक्षाएँ श्रद्धातिरेक से आपाद-मस्तक-सिक्त हैं तो कतिपय ऐसी भी हैं जिनमें अधिक श्रम दोषोद्घाटन-परक ही हुआ है, यह अवश्य है कि ऐसी समीक्षाएँ कम हैं। परिचयोल्लेखपूर्वक गम्भीर प्रतिक्रिया प्रस्तुत करने वाले निबन्धों की संख्या उपस्थापकों की प्रातिभक्षमता के अनुरूप अनुपात में अधिक है। एकाध स्तवपरक पद्यबद्ध प्रशस्ति भी है। संकलन के आरम्भ में दिवंगत भूतपूर्व सम्पादक डॉ. प्रभाकर माचवे की वार्ता है आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से, जिसमें प्रेरणास्रोत से लेकर प्रक्रिया और कथ्य के अनेक मुद्दों पर विमर्श है। अपने अन्तरंग में एकाध निबन्ध महाराजश्री का भावप्रवण जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है तो वैसे ही एकाध उनका कर्तृत्व भी निरूपित करता है। संकलन की समग्रता के ख़्याल से ये समस्त प्रयास महत्त्व के हैं। मैं चाहता था कि उपस्थापक आलोच्य ग्रन्थ की कथावस्तु का अनपेक्षित विवरण और आवर्तन न करके उसको बुद्धिगत ही रखें और जमकर उसके विभिन्न पक्षों, मुद्दों और बिन्दुओं पर अपनी वैचारिक प्रतिक्रिया अधिक दें, ताकि पाठक की ग्रन्थ विषयक समझ विकसित हो। बृहदाकार निबन्धों में कई एक अपना ज़्यादा झुकाव उसके सैद्धान्तिक और दार्शनिक पक्षों पर और कई एक काव्योचित पक्ष पर दिखाते हैं। कुछ महिला लेखिकाओं के निबन्ध अवश्य ऐसे मिले हैं जो केवल नारी महिमा पर ग्रन्थकार की दृष्टि का पल्लवन प्रस्तुत करते हैं। कितने निबन्ध ऐसे भी हैं जो भाषा-शैली और छन्दोविधान के विवेचन पर ही अपने को केन्द्रित करते हैं। ऐसे प्रयास अधिकांश निबन्धों में कथावस्तु की आवृत्ति को देखते हुए अधिक संगत लगते हैं। भारत की विभिन्न भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों की तुलना में आलोच्यग्रन्थ का वैशिष्ट्य निर्दिष्ट करने वाले लेखों की संख्या कम है—यद्यपि भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे का यह संकल्प था। समीक्षा संकलन के लोभ में कुछ लेख बहुत ही सामान्य और भरती के आ गए हैं। आश्चर्य तो तब होता है जब बड़ी लेखनी अपने स्वरूप की रक्षा नहीं करती और प्रत्याशित से अनुरूप प्रतिक्रिया नहीं मिलती। प्रसन्नता की बात है कि इधर कुछ ऐसे प्रयास अवश्य हुए हैं जिससे और भी गम्भीर लेखनी सक्रिय हों और समीक्षक कुछ अनछुए पहलुओं पर गम्भीरतापूर्वक प्रकाश डाल सकें। प्रयास ही है, सफलता तो सम्मानास्पद समीक्षकों की अनुरूप निष्ठा पर निर्भर करती है। आचार्यश्री की प्रातिभक्षमता की जिस दमखम के साथ एकाध सज्जन ने त्रुटियाँ दिखाई हैं, उसी दमख़म के साथ औरों ने उनकी उपलब्धियाँ भी बताई हैं। मुझे इसमें कोई अनौचित्य नहीं लगता कि समीक्षक जो भी कहे वह वस्तुनिष्ठ पद्धति पर साधार कहे। अतः ऐसे निष्ठावान् समीक्षक की मैं प्रशंसा करता हूँ परन्तु केवल

त्रुटियाँ-त्रुटियाँ और ख़ामियाँ-ख़ामियाँ ही दिखाना तथा उपलब्धियों की ओर से आँख बन्द कर लेना सर्वथा अनुचित है। दोषज्ञ होना पण्डित का लक्षण है पर मात्र उतने को ही अपनी सीमा बना लेना उसकी संकुचित और ओछी मनोवृत्ति का प्रकाशन है। फिर गुणज्ञ और गुणग्राही होना मूर्ख का लक्षण नहीं है, वह साक्षर का नहीं, सरस का लक्षण है। 'काव्यप्रकाश'कार ने काव्यलक्षण में जब "अदोषौ···" का समावेश किया, आचार्य हेमचन्द्र ने जब उसका प्रवेश किया तब टीकाकारों ने ऊर्ध्वबाहु घोषणा की कि ऐसा लक्षण या तो 'निर्विषय' होगा या 'प्रविरलविषय'। अभिप्राय यह कि दोषों का होना तो निसर्गप्राप्त है, सर्जक की उपलब्धि उसके पौरुष और प्रतिभा का प्रमाण है। विद्वान् को चाहिए कि वह दोषों के साथ उसकी उपलब्धियों की ओर भी अपनी दृष्टि को फेरे और उसका भी उल्लेख करे। ऐसा करने का लाभ यह होगा कि इस सन्तुलित प्ररोचना से जिज्ञासु पाठक समीक्षित ग्रन्थ के पठन-पाठन, मनन, परिशीलन में प्रवृत्त होता है, अन्यथा उसे अरुचि हो जाती है और वह प्रवृत्त की जगह निवृत्त हो जाता है। परिणामतः सर्जना निष्फल चली जाती है। कविता-कामिनी के पास रसिक सहृदय भी जाता है और प्रेत (समीक्षक) भी। एक दुलारता, पुचकारता, अपने अनुकूल बनाता हुआ उसका आस्वाद लेता है और दूसरा प्रेतकल्प तार्किक समीक्षक कृति के भीतर घुसकर उसका प्राण ही ले लेता है। कहा गया है :

"काव्यं कवीनामुपलालयन् हि भुङ्क्ते रसज्ञो युवतीं युवेव।
तामेव भुङ्क्ते ननु तार्किकोऽपि प्राणान् हरन् भूत इव प्रविष्टः॥"

कुछ एक मित्रों ने ऐसे कार्य में प्रवृत्त होने को चापलूसी या भौतिक स्वार्थ की पूर्ति का माध्यम समझा है। समझ तो समझदार के संस्कारों से रंजित होती है, अतः उसकी टिप्पणी जितना स्वयम् उस पर लागू होती है, सामने वाले पर नहीं। अस्तु, ऐसे अप्रिय प्रसंगों को ज़्यादा जगह देनी भी नहीं चाहिए। तुलसीदास के शब्दों में ऐसे लोग प्रथम वन्द्य हैं ताकि उनके कारण सत्कार्य से निवृत्ति न हो।

अनेक प्रबुद्ध सज्जनों और मनीषियों ने अपनी समीक्षाएँ इस बृहत् सारस्वत यज्ञ में आहुति के रूप में प्रदान नहीं कीं कि इससे उनका व्यक्तिवैशिष्ट्य समष्टि में तिरोहित हो जायगा और उनके अहम् को उसका प्राप्य प्राप्त नहीं होगा। वे यह क्यों नहीं समझते कि वे जहाँ भी रहेंगे अपना भास्वर व्यक्तित्व अलग से ही प्रकाशित करते रहेंगे, उनकी पंक्ति अलग ही दूर से लक्षित होगी। इससे उनका अहंकार भी विघटित होता और समाज की दृष्टि में उनका स्वरूप और महान् हो जाता। किसी के सम्मान से सम्मानकर्ता का अहम् छोटा होता है, हैवान नष्ट होता है, पर उसका इन्सान समाज की दृष्टि में ऊँचा उठ जाता है। सन्तों की यह प्रणाली कि अपनी ओर से विनत रहो, समाज की ओर से सहज ही समुन्नत हो जाओगे, कितनी सात्त्विक है। गजानन माधव मुक्तिबोध का 'ब्रह्म राक्षस' इस सत्य को समझ कर भी अनदेखा कर देता है।

हाँ, तो कहा यह जा रहा था कि आलोच्य कृति की समीक्षा प्रक्रान्त है, अतः सर्वप्रथम यह देखना है कि आलोच्य कृति की प्रकृति क्या है, वह वाङ्मय की किस विधा के अन्तर्गत आ सकती है ? यह शास्त्र है या काव्य या शास्त्रकाव्य। अनेक समीक्षकों की आपाततः धारणा यह मालूम हुई है कि यह काव्य ही नहीं है, प्रबन्ध काव्य या महाकाव्य होना तो दूर की बात है।

(ख) आलोच्य कृति की प्रकृति

आलोच्य कृति पर आपाततः दृष्टिपात करने पर जैन प्रस्थान की मान्यताओं और सिद्धान्तों की विभिन्न प्रतीकों के सहारे उन्हें रूक्ष उपस्थापन ही दृष्टिगोचर होता है। उन्हें लगता है कि काव्य रसात्मक वाक्य है, संवेदना या

सर्जनात्मक अनुभूति का कलात्मक उद्रेखण है, जीवनानुभूति का कवित्वमय प्रकाशन है, भावनाओं का गुणालंकारमण्डित भाषा में प्रभावी उपस्थापन है, पृथिवी और स्वर्ग का मधुमय मिलन है तथा और भी कुछ लोकोत्तर है। उन्हें इस रचना में ऐसा कुछ दिखाई नहीं पड़ता। उनका पक्ष यह है कि काव्य के मूलभूत काव्योपादन संवेदना का घटक दृष्टि या विचार गन्ध की तरह काव्य में व्याप्त अवश्य हो, पर तह में निहित हो। यह पक्ष निस्सन्देह युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

(ग) बहिरंग साक्ष्य

'मूकमाटी' के 'मानस तरंग' (पृ. XXIV) में उपस्थापक स्वयं कह रहा है : "ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार-रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं; अलंकार अब अलं का अनुभव कर रहा है; जिसमें शब्द को अर्थ मिला है और अर्थ को परमार्थ; जिसमें नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष, लोचन दिये हैं;...जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है'''और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।" इस उद्धरण की प्रशस्तिपरक उक्तियों को हटा दिया जाय, केवल तथ्यपरक उक्तियों को दृष्टिगत किया जाय तो मानना पड़ेगा कि इस कृति की रचना जिनशासन के कतिपय मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु हुई है। इसका लक्ष्य है – युग को संस्कार देना और वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना। अश्वघोष (सौन्दरनन्द, १८/६३) के शब्दों में, "इत्येषा व्युपशान्तये न रतये।"

(घ) अन्तरंग साक्ष्य

यह तो रहा बहिरंग साक्ष्य, यद्यपि इस प्रकार के निर्णय पर अन्तरंग अनुशीलन से ही पहुँचा गया है। इस निर्णय से हट कर कृति के विषय पर सीधे दृष्टिपात किया जाय तो उससे भी उक्त निष्कर्ष की ही पुष्टि होती है। किसी भी ग्रन्थ का तात्पर्य स्पष्ट करना हो तो निम्नलिखित दृष्टियों से मन्थन करना पड़ता है– (क) उपक्रम (ख) उपसंहार (ग) अभ्यास (घ) अपूर्वतापरक फल (ङ) अर्थवाद तथा (च) उपपत्ति। आलोच्य ग्रन्थ का 'उपक्रम' होता है प्रातःकालीन परिवेश में सरिता तट की माटी का माँ धरती के संवाद के साथ, जिसमें नित्य 'सुखमुक्त' और 'दुःखयुक्त' पर-संसर्गजन्य वैभाविक स्वरूप पर ग्लानि के आँसू बहाए जा रहे हैं और 'स्व-भाव' की उपलब्धि का मार्ग अभूतपूर्व तड़प और वेदना के साथ जिज्ञास्य है। 'उपसंहार' में वृहत् सत्ता माँ धरती का 'प्रतिसत्ता' अर्थात् उपादानभूत सरिता तट की माटी की मूर्त सम्भावना 'घट' और घट की सम्भावना 'सृजनशील जीवन का वर्गातीत अपवर्ग' की उपलब्धि पर सन्तोष है। आलोच्य ग्रन्थ में घट की – जीवात्मा के प्रतीक घट की अपवर्ग निमित्तक महायात्रा का प्रचुरता से सावष्टम्भ वर्णन ही तो 'अभ्यास' है और इस महायात्रा का गन्तव्य 'अपवर्ग' 'अपूर्व फल की उपलब्धि' है। स्थान-स्थान पर इस उपलब्धि की प्रशस्ति 'अर्थवाद' है और यही सर्वश्रेष्ठ है, की सिद्धि में दिए गए तर्क ही 'उपपत्ति' हैं। इन सब तात्पर्य निर्णायक कारणों से अन्तरंग परीक्षण भी सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार का लक्ष्य श्रेयःप्राप्ति में उपयोगी जैन प्रस्थान-सम्मत-मान्यताओं का रोचक उपस्थापन ही है।

(ङ) पारम्परिक साक्ष्य

जैन काव्य की परम्परा पर अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए 'जैन साहित्य का वृहद् इतिहास'- भाग ६ में श्री गुलाबचन्द चौधरी भी कहते हैं : "जैन काव्यों का दृष्टिकोण धार्मिक था। जैन धर्म के आचार और विचारों को रमणीय

पद्धति से एवं रोचक शैली से प्रस्तुत कर धार्मिक चेतना और भक्तिभावना को जाग्रत करना उनका मुख्य उद्देश्य था। उसके लिए उन्होंने धर्मकथानुयोग और प्रथमानुयोग का सहारा लिया। जन सामान्य को सुगम रीति से धार्मिक नियम समझाने के लिए कथात्मक साहित्य से बढ़ कर अधिक प्रभावशाली साधन दूसरा नहीं है।'' अभिप्राय यह कि परम्परा अर्थात् जैन काव्य परम्परा का साक्ष्य भी यही कहता है कि इस प्रस्थान के प्रति समर्पित जैन मुनियों का लक्ष्य 'व्युत्पत्ति' के आधान पर अधिक है, 'प्रीति' माध्यम है। ब्राह्मणधारा के शैव आचार्य अभिनव गुप्त ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए 'आनन्दवादियों' (प्रीतिवादियों) और 'व्युत्पत्तिवादियों' के पक्षधरों से उभरते हुए अन्तर्विरोध का समन्वय करते हुए 'अभिनव भारती' और 'लोचन' में बताया है कि वस्तुत: परिणतप्रज्ञ या परिणतकवि का मूल प्रयोजन तो 'प्रीति' या 'रस' निष्पादन ही है। यह बात भिन्न है कि तदर्थ नियोजित विभावादि सामग्री में 'औचित्य' का सम्यक् निर्वाह होना चाहिए। यह औचित्य इसकी परा उपनिषद् है और औचित्य हमारी सम्प्रदायानुमोदित मान्यताएँ ही हैं, जिनसे ग्राहक लोक में अपेक्षित 'व्युत्पत्ति' अनायास आहित हो जाती हैं। ब्राह्मणधारा और उसमें भी शैवागमसम्मत-धारा वासनाशोधन की पक्षधर है। वह उसमें भी अमृत का अनुसन्धान करती है, उसके माध्यम से भी श्रेयस्कर गन्तव्य पर पहुँचती है, जबकि श्रमण धारा, विशेष कर जैन प्रस्थान वासना का दमन या क्षयोपशम करती है। अत: वह उसे उस साध्य स्थान पर रख ही नहीं सकती, उसे पार्श्ववर्ती ही बनाकर उपयोग कर सकती है। फलत: यहाँ 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' में व्युत्पत्ति पर ज़यादा और प्रत्यक्ष बल रहता है, प्रीतिकर सामग्री साधन होती है। यहाँ 'कान्तासम्मित-उपदेश' का स्वर मुखर होता है।

आलोच्य ग्रन्थ का स्वर प्रभावोत्पादन से अधिक प्रबोधोत्पादन है। घट की आत्मकथा के साथ चलने वाला व्युत्पित्सु अन्तत: यह प्रबोध प्राप्त करता है कि निमित्त की शरण जाकर सम्भावनामय उपादान समर्पण के माध्यम से अपनी सम्भावनाओं को उपलब्धि का आकार दे। इसके साथ-साथ उसका बाधक काषाय शान्त होगा, 'पर' के प्रति निर्वेद होगा, शान्त की निष्पत्ति होगी। इस प्रकार प्रीतिकर शान्त रस सहायता करेगा। शास्त्र की अपेक्षा इस और इस तरह के प्रबन्ध काव्य लक्ष्य तक पहुँचाने में सौन्दर्य प्रदान करेंगे।

इस अन्तरंग एवं बहिरंग साक्ष्य और परम्परा के आधार पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति 'शुद्ध कविता' की अपेक्षा 'शास्त्र काव्य' है। शुद्ध कविता में सामग्री की योजना में प्रीतिकर प्रभाव उत्पन्न करना मुख्य लक्ष्य होता है, मान्यताओं की सुगन्ध व्यंजना से मिलती है। शास्त्रकाव्य में मान्यताएँ संवाद-विधान में उपदेश का स्वर अधिक पकड़ती हैं और अभिधा में होती हैं। आलोच्य रचना में संवादों की प्रचुरता है, भाव व्यंजना और वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षाकृत कमी है। इसकी पुष्टि आगे विशद विवेचन से की जायगी। इस विवेचन का तात्पर्य किसी धारा की आपेक्षिक श्रेष्ठता या अ-श्रेष्ठता से नहीं है, यह तो अपनी-अपनी धारा है। इसका मतलब यह भी नहीं है कि जैन काव्य परम्परा में प्रेमाख्यानक नहीं हैं या कि उसमें भाव व्यंजना और वर्णनमय रचनाएँ नहीं हैं, नहीं; हैं और खूब हैं। यहाँ जैन मुनियों की काव्य परम्परा की बात प्रकान्त है। फलत: इस निष्कर्ष को उसी क्रम में होना चाहिए। क्षमता अलग बात है और क्षमता का उपयोग अलग बात है। आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रस्तुत प्रबन्ध काव्य का आरम्भ ही देखें -- वर्णन है, काव्योचित कोमल और शृंगारिक भंगिमा है, भाव का आवेग है, पर मानसिक संरचना इस क्षमता को पूरे उभार पर नहीं लाती। 'स्व-भाव' की प्राप्ति में अपेक्षित मान्यताओं को संवादात्मक पद्धति पर रोचक कथा के सहारे उभारने की ओर उनकी प्रतिभा का संरम्भ लक्षित होता है। ऐसा करके जहाँ एक ओर इन्होंने अपनी परम्परा का साथ दिया है, वहीं चरित काव्य, पुराण काव्य या कथा काव्य की पद्धतियाँ अस्वीकार कर अपना अक्षुण्ण मार्ग भी निर्मित किया है। इन्होंने 'कामायनी'कार की भाँति रूपक या प्रतीक काव्य की पद्धति अपनाई है। उसकी अपेक्षा इसका वैशिष्ट्य संवादों के प्रचुर विधान में है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत काव्य 'संवाद प्रचुर प्रतीक पद्धति का शास्त्रकाव्य' है। इस निष्कर्ष के आलोक

में उन लोगों का आक्षेप भी निरस्त हो जाता है जो रचना को मात्र संवेदना का ही मूर्त रूप मानते हैं और चेतन पात्रों में उसकी परिणति देखते हैं।

'मूकमाटी' में प्रस्फुटित कवित्व का पूर्ववृत्त : कवित्व की विकास यात्रा

(क) प्रस्तुत कृति की प्रेरणा का प्रश्न

भूतपूर्व सम्पादक डॉ. माचवे ने महाराजश्री से अपने वार्तालाप में यह जिज्ञासा की है कि महाराजश्री को इस तरह का, इस पद्धति का, काव्य लिखने की प्रेरणा कहाँ से मिली ? मेरा ख्याल है कि इसका उत्तर महाराजश्री के तपोरत स्वभाव में है, पर-भाव में नहीं। इसके लिए उनका तपोरत स्वभाव और उसके अनुरूप पूर्व निर्मित रचनाओं का गहन मन्थन करना चाहिए। इससे उनके काव्य विकास के सोपान भी लक्षित होंगे और साथ ही प्रस्तुत जिज्ञासा का समाधान भी निकल आएगा।

(ख) काव्य कारण का उपार्जन

साक्षात् वाग्देवता ही अपनी परिस्फूर्ति का माध्यम किसी को बनाएँ, यह बात भिन्न है, पर सामान्यत: निसर्गजात प्रतिभासम्पन्न साधक रचनाकार को भी अपनी प्रतिभा को अभ्यास और व्युत्पत्ति के शाण पर चढ़ाना ही पड़ता है। उसका भी साधना काल होता है। महाराजश्री ने '६८ में मुनिदीक्षा ग्रहण की और सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी महाराज के चरणों में साधनालीन हो गए। अध्यात्म साधना के साथ-साथ सारस्वत साधना भी चलती रही। साधक रातों-रात कवि नहीं बन जाता, उसके लिए भी 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' की आवश्यकता पड़ती है। 'व्युत्पत्ति' राजशेखर के शब्दों में 'उचितानुचित विवेक', मम्मट के शब्दों में 'लोक शास्त्र, काव्य आदि के अवेक्षण से होने वाली निपुणता' अथवा सामान्य साधना के लिए अपेक्षित सद्गुरु में अ-बोधपूर्वक श्रद्धा और विश्वास, आन्तरिक आकर्षण 'अर्जित बोध' का ही नामान्तर है। महाराजश्री ने व्युत्पत्ति भी प्राप्त की और गुरु-चरणों में बैठकर 'अभ्यास' भी किया, काव्यज्ञ से मम्मट के शब्दों में शिक्षा भी ली, सीख भी ली।

महाराजश्री ने मुनिदीक्षा के बाद से ही रचना का श्रीगणेश या शुभारम्भ कर दिया। गुरु शास्त्रोदधि का घन है, अत: अध्यात्म के क्षेत्र में प्रस्थान सद्गुरु के प्रति श्रद्धा से ही सम्भव है। श्रद्धा में भी सम्यक्त्व का आधान हो जाय, तो सोने में सुहागा की कहावत भी चरितार्थ हो जाय। सन्त सद्गुरु की पहचान से ही विश्वास और विश्वास से ही श्रद्धा होती है। अध्यात्म जगत् के पथिक के ये ही श्रद्धा और विश्वास पाथेय हैं। अध्यात्म राज्य का यह चमत्कार ही है कि अ-बोध साधक को विश्वास हो जाता है। सामान्यत: किसी बात पर विश्वास उसका रहस्य जान लेने पर ही होता है, पर संस्कारवान् को अ-बोधपूर्वक ही विश्वास चेतना के व्यापक और अज्ञात स्तर पर ही हो जाता है। कालिदास ने कहा है :

"तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्।"

चेतना का कोई ऐसा स्तर भी है जो अ-बोधपूर्वक [Unconcious state of mind] देशकाल से व्यवहित सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। सच्चा मुमुक्षु वही है जिसमें सच्ची मुमुक्षा हो और सच्ची मुमुक्षा वहीं होती है जहाँ चेतना में नैर्मल्य हो। निर्मल चेतना के स्तर ऐसे साधक में काम करते हैं। फलत: वह उस अन्तरात्मा की आवाज़ से परिचालित होकर अ-बोधपूर्वक सन्त सद्गुरु को पहचान लेता है, विश्वास कर लेता है एवं श्रद्धागोचर कर लेता है। उसे यह अकारण कौंध जाता है कि ज्ञान के लिए कहाँ जाना चाहिए। साधना जगत् के मर्मज्ञ अभिनवगुप्तपादाचार्य ने कहा है कि साधक को 'गुरो: गुर्वन्तरं व्रजेत्' यानी एक गुरु से दूसरे गुरु के पास, जो पहले की अपेक्षा श्रेष्ठ है, जाना ही चाहिए। प्रसंगान्तर होता जा रहा है, मुझे कहना यह कि सद्गुरु श्री ज्ञानसागरजी के सत् निर्देशन में परा और अपरा—उभयविध विधाओं में कवि-रचनाकार मुनि श्री विद्यासागर स्नात होते चले गए और अन्तत: निष्णात हो गए।

(ग) कवित्व का प्रथम पुष्प : 'गुरु-स्तव'

महाराजश्री मुनि दीक्षा के बाद अन्तस् में स्फुरित भावराशि को भाषा में बाँधने लगे, लिपिबद्ध करने लगे। साधक का अपना प्रस्थान मार्ग होता है, उसके प्रति उसे निष्ठावान् होना होता है। निष्ठा के सुदृढ़ीकरण के लिए अन्य प्रस्थानोचित चिन्तन का खण्डन भी करना पड़ता है। यह खण्डन, खण्डन के लिए नहीं, प्रत्युत् अपने प्रस्थान के प्रति अपनी श्रद्धा के सुदृढ़ीकरण के लिए होता है। महाराजश्री की 'मूकमाटी' का 'मानस-तरंग' इस सन्दर्भ में उल्लेख्य है, जहाँ उन्होंने अपने प्रस्थान के अनुरूप न पड़ने वाले 'ईश्वर' का खण्डन किया है और स्रष्टा के रूप में अनावश्यक बताया है। प्रस्थान मार्ग में चलने पर अनुभूतियाँ उभरती हैं, जिससे साधक गहराई से जुड़ा होता है। इसमें सारा श्रेय सद्गुरु का होता है। साधक का उपाय उसी के निर्देश से चरितार्थ होता है, अत: एक तरफ श्रद्धा में सम्यक्त्व का आधान होता है और दूसरी ओर ज्ञान और चारित्र में सम्यक्त्व का उदय होता है। इस दौरान जो अनुभूतियाँ होती हैं, एक सन्त उसे काव्यबद्ध करता ही है, यह उसकी विवशता है। अपने आनन्द को वह काव्य के माध्यम से लोक को बाँटता है। इसमें उसे आनन्द मिलता है। इसीलिए सन्त लिखता है– 'स्वान्त:सुखाय', पर उसका स्वान्त: स्व-पर की संकीर्ण भावना का अतिक्रमण कर चुका होता है। अत: उसका स्वान्त:सुख सबका सुख बन जाता है। तो मैं कह यह रहा था कि साधना के दौरान सबसे पहले जिसके प्रति श्रद्धा का उदय होता है, अपने वाक्पुष्प वह उसी को चढ़ाता है। महाराजश्री ने भी यही किया। इनकी पहली मुद्रित/उपलब्ध रचना गुरु वन्दना ही है। १९७१ में लिखित इस गुरुवन्दनामय काव्य की संज्ञा दी गई – 'आचार्यश्री १०८ शान्तिसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि।' साधक अपनी साधना को लोक में उजागर करते हुए लोकमान्यता की हवा से डरते हैं। एक सन्तप्रवर ने कहा है : "लोकमान्यता अनल-सम कर तप कानन दाहु" – लोक प्रशंसा वह आग है जो तप के उद्यान को भस्म कर डालती है। महाराजश्री भी कहते हैं:

"लोकैषण की चाह ना, सुर-सुख की ना प्यास।
विद्यासागर बस बनूँ, करूँ स्व-पद में वास॥" (सुनीति-शतक)

इसलिए महाराजश्री उसे प्रकाश में नहीं लाते थे, पर उनके भक्त श्रावकों ने वैसा नहीं होने दिया, प्रकाश में ला ही दिया। फिर तो श्रावकगण के साथ महाराजश्री ने भी उस गुरु वन्दना के मधुरगान में सहयोग प्रदान किया। स्तोत्र-काव्य का यह शुभारम्भ बढ़ता ही गया। महाराजश्री की श्रद्धासिक्त प्रतिभा आचार्य श्री वीरसागरजी (१९७१), आचार्य श्री शिवसागरजी (१९७१) एवं आचार्य श्री ज्ञानसागरजी (१९७३) पर भी उमड़ कर कविता के रूप में बरस पड़ी। यह क्रम बढ़ता ही गया और नित्यप्रति नूतन भावभूमियों पर उनकी प्रतिभादेवी चढ़ती गई। इस प्रवाह में भावना भी थी और उसमें सुगन्ध की तरह व्याप्त जीवन दर्शन तथा चिन्तन प्रसूत मान्यताएँ भी।

(घ) संस्कृत भाषाबद्ध शतकों की सृष्टि

आलोच्य रचना 'मूकमाटी' से पूर्व उनकी दर्जनों रचनाएँ आ चुकी हैं – गद्यबद्ध प्रवचन भी और पद्यबद्ध प्रकीर्ण तथा प्रबन्धात्मक भी। महाराजश्री अनेक भाषाविद् हैं – संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़ तथा मराठी जैसी देशभाषाएँ तो वे जानते ही हैं, विदेशी आंग्लभाषा के भी अच्छे जानकार हैं। आपकी रचनाएँ प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, बंगला, कन्नड़ और अँग्रेजी में ही प्राय: हैं। 'मूकमाटी' (१९८८)* हिन्दी भाषा में निबद्ध है। उस तक की प्रातिभ यात्रा

** आलेखन प्रारम्भ – श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित ग्रन्थराज 'षट्खण्डागम वाचना शिविर' (चतुर्थ) के प्रारम्भिक दिवस, बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ के दीक्षा कल्याणक दिवस– वैशाख कृष्ण दशमी, वीर निर्वाण संवत् २५१०, विक्रम संवत् २०४१, बुधवार, २५ अप्रैल, १९८४।*

समापन- श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में आयोजित श्री मज्जिनेन्द्र पंचकल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के दौरान केवलज्ञान कल्याणक दिवस– माघ शुक्ल त्रयोदशी, वीर निर्वाण संवत् २५१३, विक्रम संवत् २०४३, बुधवार, ११ फरवरी, १९८७ को हुआ।

पूर्ववर्ती अनेक रचनाओं से गुज़रने के बाद हुई है। संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रायः उत्कृष्ट रचनाएँ 'श्रमण-शतकम्' (१९७४), 'भावना-शतकम्' (१९७५), 'निरञ्जन-शतकम्' (१९७७), 'परीषहजय शतकम्' (१९८२), 'सुनीति शतकम्' (१९८३) एवं इन्हीं पाँचों शतकों का उसी कालावधि में हिन्दी पद्यानुवाद तथा 'शारदास्तुतिरियम्' (१९७१)—'पंचशती' संज्ञक कृति में संकलित हैं। इन सबका विषय धार्मिक और आध्यात्मिक है, परन्तु अभिव्यक्ति शैली काव्योचित है। अर्थालंकारों से काव्योचित रमणीयता आती है, पर शब्दालंकारों से वह रमणीयता नहीं आती। इतना अवश्य है कि शब्दालंकार—विशेषकर यमक, अनुप्रास तथा मुरज बन्धादि चित्र—का सन्निवेश प्रयोक्ता और ग्रहीता दोनों के लिए दुरूह है। महाराजश्री ने इस चुनौती का निर्वाह किया है। अर्थगत रमणीयता की दृष्टि से इसे अधम काव्य की संज्ञा अवश्य दी गई है, परन्तु इसमें रचना करने वाला जानता है कि उसका निर्वाह कितना श्रमसाध्य है। इन शतकों में 'सुनीति-शतकम्' की भाषा प्रांजल है पर शेष शतकों की दुरूह। शब्दक्रीड़ा की यह प्रवृत्ति इतिहास में प्रत्येक महाकवि में विद्यमान है—चाहे वह वाल्मीकि हों या कालिदास। माघ और भारवि की तो बात ही भिन्न है। परवर्ती रचनाओं में तो पाण्डित्य प्रदर्शन एक प्रवृत्ति ही बन गई। महाराजश्री की इन रचनाओं का समाकलन स्तोत्रकाव्यों की शतक परम्परा में किया जा सकता है। वैसे इन रचनाओं में स्तोत्र का ही स्वर नहीं है, विभिन्न और भी संज्ञानुरूप धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नीतिपरक विषय भी हैं।

(ङ) हिन्दी में कवित्व का उन्मेष और विकास

हिन्दी में रचनाओं का निर्माण अस्सी ईस्वी के दशक में आरम्भ होता है। आरम्भ होने के बाद फिर कभी विच्छिन्न नहीं हुआ, विपरीत इसके कि समृद्ध ही होता गया। इस क्रम में 'नर्मदा का नरम कंकर' सम्भवतः पहला काव्य संकलन है। यों तो हिन्दी में रचनाएँ पहले से ही प्रकीर्णक रूप में होती आ रही थीं, पर संकलन के रूप में यह पहला प्रयास है। इसके बाद के अधिकांश संकलन '८४ में या उसके बाद प्रकाश में आए हैं। इन संकलनों से गुज़र जाने के बाद 'मूक-माटी' के आविर्भाव के अनेक सूत्र-संकेत मिल जाते हैं। ऐसे संकलनों में उक्त संकलन के अतिरिक्त 'तोता क्यों रोता?', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' तथा 'चेतना के गहराव में'- का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व इसलिए है कि एक तो ये सभी मुक्तछन्द में निबद्ध हैं अर्थात् इन रचनाओं में महाराजश्री का हाथ मुक्तछन्द में मँज चुका है। दूसरे, इन रचनाओं से इस सवाल का जवाब भी मिल जाता है कि आलोच्य महाकाव्य का विषय 'माटी' जैसी उपेक्षित वस्तु को क्यों बनाया गया? यों तो हिन्दी काव्य परम्परा में 'माटी' का यशोगान और उसके साथ 'कुम्भकार' का सम्बन्ध पहले से ही मिलता है। उदाहरण के लिए कविवर हरिवंशराय बच्चन की ही निम्नलिखित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

"हे कुम्भकार, मेरी मिट्टी को/और न अब हैरान करो।"

(च) 'मूकमाटी' की भूमिका में उपयोगी कण

महाराजश्री की रचनाओं में भी इसके संकेत विद्यमान हैं। नर्मदा के नरम कंकर पर ही उनकी दृष्टि क्यों गई? कारण क्या है? असल में लगता है कि वह चूँकि स्वयम् बनने की प्रक्रिया में हैं, चलते जा रहे हैं : ब्रह्मचारी से क्षुल्लक, ऐलक, मुनि और आचार्य बनने के क्रम में हैं, भले ही ये ब्रह्मचारी से सीधे ही मुनि पद और बाद में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। अतः उनका ध्यान सम्भावनाओं से मण्डित सामान्य पदार्थ की ओर ही ज़्यादा जाता है। नर्मदा के कंकर बनने के क्रम में कितना संघर्ष झेलते हैं, इस संघर्ष को झेलकर उसमें शालिग्राम का सुघर रूप उभरता है, जो पूज्य बन जाता है। मिट्टी में क्या कुछ बनने की सम्भावना नहीं है? शर्त इतनी ही है कि सधा हुआ शिल्पी मिल जाय। क्रमागत महाकाव्य शलाकापुरुषों का यशोगान करते हैं, धीरोदात्त नायक-नायिकाओं का यशोगान करते हैं।

'नर्मदा का नरम कंकर' से साक्ष्य

महाराजश्री के काव्य संकलन 'नर्मदा का नरम कंकर' के 'नरम कंकर' की स्थिति देखें। वह क्यों कुछ कहने की प्रेरणा देता है ? 'प्रकाशकीय' में बाबूलाल पाटोदी की सम्भावना से मैं सहमत हूँ। वह भी यही उत्तर देते हैं : "ऐसा मुनि-कवि जिसकी राहें काँटों की हैं, कंकरीली हैं, पाषाणी हैं, जिसे अहर्निश भीतर-बाहर चलना-ही-चलना है, रचना कर रहा हो" – वह और किसे प्रतीक बनाएगा ? वह कहता है :

"युगों-युगों से/जीवन विनाशक सामग्री से/संघर्ष करता हुआ
अपने में निहित/विकास की पूर्ण क्षमता सँजोये/अनन्त गुणों का
संरक्षण करता हुआ/आया हूँ/किन्तु आज तक/अशुद्धता का विकास/ह्रास
शुद्धता का विकास/प्रकाश/केवल अनुमान का/विषय रहा विश्वास
विचार साकार कहाँ हुए ?/बस ! अब निवेदन है/कि/या तो इस कंकर को
फोड़-फोड़ कर/पल भर में/कण-कण कर/शून्य में/उछाल···
समाप्त कर दो/अन्यथा/इसे/सुन्दर सुडौल/शंकर का रूप प्रदान कर
अविलम्ब/इसमें/अनन्त गुणों की/प्राण प्रतिष्ठा/कर दो
हृदय में अपूर्व निष्ठा लिए/यह किन्नर/अकिंचन किंकर
नर्मदा का नरम कंकर/चरणों में/उपस्थित हुआ है
हे विश्व व्याधि के प्रलयंकर/तीर्थंकर !/शंकर !"

रचनाकार साधक है। साधना काल में उस पर बीत रही है, वह बाधाओं से गुज़र रहा है, परीषहों और उपसर्गों से संघर्ष कर रहा है, पर वह हताश नहीं है। कारण, उसे सम्भावनाओं पर विश्वास है, अपने प्रस्थान के प्रति गहरी निष्ठा है, विश्वव्याधि के प्रलयंकर, शंकर तीर्थंकर के चरणों में उपस्थित है। तड़प दिखाई पड़ रही है, जो कहता है :

"पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें,
धरती में धसौं कि अकासहिं चीरौं।"

वह बीच में लटकना नहीं चाहता। कंकर जैसा प्रतीक साधक या तो घनघोर तपस्या के आँधी-तूफान में इसे नि:शेष ही कर देगा या इसे सुन्दर, सुडौल बनाकर दम लेगा। अध्यात्म के पथिकों में प्रज्वलित यही तड़प, अभीप्सा और बेचैनी उसका सात्त्विक पाथेय है। स्पष्ट ही उक्त रचना में साधक तपस्वी अपने को अनन्त सम्भावनाओं से संवलित 'कंकर-पत्थर' ही मानता है। साधना बेला में अटूट विश्वास के साथ प्रस्थित मुनि की प्रातिभ चेतना में - स्वभाव में - ऐसे ही प्रतीक उभरेंगे। जिसका उत्तर स्वभाव में निहित हो, उसका उत्तर 'विभाव' में क्यों ढूँढ़ा जाय ? इसलिए वार्तालाप के प्रसंग में डॉ. माचवे द्वारा उठाया गया सवाल कि आचार्यश्री ने 'माटी' का प्रतीक क्यों लिया, यहाँ समाहित हो जाता है। इस रचना के आलोक में इस सवाल का भी समाधान निहित है कि प्रस्तुत आलोच्य कृति मुक्त छन्द में क्यों लिखी गई ? इस उपर्युक्त उद्धृत रचना में जिस आवेग का विस्फोट है वह 'मुक्त छन्द' में ही व्यक्त हो सकता है, इसमें जिस स्नायविक तनाव से उन्मुक्ति का एहसास होता है, वह मुक्त छन्द में ही व्यक्त हो सकता है। जब आवेग नया है तो वह अपनी अभिव्यक्ति का रास्ता भी नया ही बनाएगा। लयबद्धता होनी चाहिए, छन्द के क्रमागत ढाँचे अपर्याप्त पड़ जायँ तो पड़ना ही चाहिए।

'डूबो मत, लगाओ डुबकी' का साक्ष्य

इस सन्दर्भ में 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' (१९८४ में प्रकाशित संग्रह की 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' कविता) का भी अनायास स्मरण हो आता है। यह अत्यन्त भावावेगमयी दार्शनिक रचना है। जिसमें रचयिता का स्वभाव बोलता है, उसकी ऐसी ही परिणति होती है। रचनाकार कहता है :

> *"यह बात सत्य है/कि/डुबकी वही लगा सकता/जो तैरना जानता है*
> *जो नहीं जानता/वह डूब सकता है/डूबता ही है।*
> *डूबना और डुबकी लगाने में/उतना ही अन्तर है*
> *जितना/मृत्यु और जीवन में।"*

डुबकी लगाता है गोताखोर, गहरे में गहरी वस्तु की उपलब्धि के लिए, पर यदि वह तैरना नहीं जानता तो लक्ष्य प्राप्ति के साथ ऊपर आ नहीं सकता। तैरने के लिए जैसे आरम्भ में तुम्बी जैसी किसी वस्तु का अवलम्ब आवश्यक है। ध्यान भी डुबकी है, पर निरवलम्ब। निरवलम्ब समाधि सावलम्ब समाधि के अभ्यास से ही पाई जा सकती है। अत: सावलम्ब ध्यान आवश्यक है। तैरना जानना आवश्यक है डुबकी लगाने के लिए, अन्यथा साधक डूब जायगा। डुबकी लक्ष्य प्राप्ति के बाद ऊपर उठ जाने के लिए लगाई जाती है। डूबता वह है जिस पर आवरण का लबादा चढ़ा हुआ है। तिरता वह है, ऊपर उठता वह है जो आवरण का नाश कर हलका हो जाता है। ध्यान इसी हलके होने का साधन है। यह रचना भी अभ्यासी के अभ्यासरत स्वभाव और अनुभव से फूटी है, इसीलिए उसमें प्रसाद, प्रवाह, आवेग और प्रांजलता है। डुबकी लगाने वाले के लिए तैरना जानना पड़ता है पर डुबकी लगाते समय तैरना और तैरने का अभ्यास हो जाने के बाद सहारे के लिए गृहीत तुम्बी का त्याग भी आवश्यक है, अन्यथा डुबकी के लिए अपेक्षित एकतानता प्रतिहत हो जायगी। साधक के लिए लक्ष्य प्राप्ति के निमित्त निर्विकल्पक का और निर्विकल्पक के लिए सविकल्पक का सहारा लेना पड़ता है, पर इन सहारों को उत्तरोत्तर छोड़ना भी पड़ता है। कारण, अन्तत: ये भी बाधक ही रहते हैं। अभिप्राय यह कि साधना बेला की अनुभूति की ये रचनाएँ स्व-भाव का स्वाभाविक समुच्छलन हैं। ये रचनाएँ अभ्यास साध्य या सायास नहीं हैं।

'तोता क्यों रोता?' का साक्ष्य

आचार्यश्री प्रतीक की ही भाषा में बोलते हैं। कहा जाता है कि 'नई कविता' बिम्बों में बोलती है, पर रहस्यवादी रहस्यदर्शी प्रतीकों में बोलता है। प्रतीक भाषा की सर्वोच्च शक्ति है, उसमें संकेत और व्यंजना की असीम क्षमता है। आलंकारिक भाषा से बड़ी है वर्ण्य की स्वभावमयी बिम्बात्मक भाषा और उससे भी बड़ी है वर्ण्य-दृश्य की तह में निहित अदृश्य को सम्प्रेषित करने वाली प्रतीक भाषा। आचार्यश्री इसी भाषा में बोलते हैं। देखिए 'तोता क्यों रोता?' ('हिन्दी दिवस' – १४ सितम्बर '८४ को प्रकाशित संग्रह) में सब कुछ प्रतीक ही तो है। दाता का प्रतीक वृक्ष, ग्रहीता का प्रतीक अतिथि की पात्रता, इनका-उनका हड़प कर दान देने का दम्भ भरने वाले अकर्मण्य का प्रतीक तोता और फल को बन्धन से मुक्ति दिलाने में सहायक सपूत का प्रतीक पवन। पात्र के प्रति निरभिमान समर्पण भी बन्धनमुक्ति का एक उपक्रम ही है। तोता अकर्मण्य का प्रतीक है, अत: दान का मर्म समझ कर वह ग्लानि से भर उठता है, रोता है। उसे भी वृक्ष की तरह तपोरत होकर सफल होना है ताकि सत्पात्र के प्रति नि:स्वार्थ आत्मविसर्जन कर बन्धन से मुक्त हो सके।

'चेतना के गहराव में' का साक्ष्य

प्रतीकमयी भाषा का प्रयोग वही कर सकता है जो 'चेतना के गहराव' में उतरकर अनुभव के रत्न कमा चुका

है। महाराजश्री ठीक कहते हैं कि 'जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि'। इसके आगे का सत्य यह है कि 'जहाँ न पहुँचे कवि, वहाँ पहुँचे स्वानुभवी'। यह स्व-अनुभव 'चेतना के गहराव' से आता है। बाहर का अनुभव आलंकारिक और बिम्बात्मक भाषा में उभर सकता है, पर 'चेतना के गहराव' का अनुभव प्रतीक भाषा में ही उभरता है, उभर सकता है। प्रतीक भाषा के साथ-साथ शब्दों से क्रीड़ा करने की प्रवृत्ति भी इन्हीं रचनाओं से फूटती लक्षित होती है। वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति भी शब्दक्रीड़ा करते हैं, इसके लिए उनकी रचनाएँ देखी जा सकती हैं। देखिए, 'चेतना के गहराव में' (१९८८ में प्रकाशित संग्रह की 'तुम कैसे पागल हो' नामक कविता) से यह शब्द क्रीड़ा किस प्रकार अपना मार्ग ढूँढ़ती है :

"रेत रेतिल से नहीं/रे ! तिल से/तेल निकल सकता है
निकलता ही है विधिवत् निकालने से/...ये सब नीतियाँ
सबको ज्ञात हैं/किन्तु हित क्या है ?/अहित क्या है ?
हित किस में निहित है कहाँ ज्ञात है ?/किसे ज्ञात है ?
मानो ज्ञात भी हो तुम्हें/शाब्दिक मात्र !/अन्यथा
अहित पन्थ के पथिक/कैसे बने हो तुम/निज को तज
जड़ का मन्थन करते हो/तुम कैसे पागल हो/तुम कैसे 'पाग' लहो ?"

अभ्यासरत जीवन ही रचना का उत्स

उपर्युक्त उद्धृत रचना को देखें। शब्द क्रीड़ामयी रेखांकित पंक्तियों को देखें। कह सकता है कोई कि यह शब्द क्रीड़ा सायास है ! यहाँ अक्रीड़ पंक्ति से सक्रीड़ पंक्ति स्वतः स्फूर्त है। 'मूकमाटी' की कथावस्तु, उसकी प्रतीक भाषा और उसमें लक्षित शब्द क्रीड़ा का इतिहास एक क्रम से स्वयं आता गया है। 'मूकमाटी' की प्रकृति के परमाणु इन पूर्ववर्ती रचनाओं में विद्यमान हैं। इसकी आलोचना के लिए पूर्ववर्ती रचनाओं का मनन-मन्थन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसलिए यह पूछने की आवश्यकता नहीं है कि प्रकान्त विषयवस्तु की प्रेरणा का बीज कहाँ निहित है? साधक के अभ्यासी जीवन में ही उसका उत्स है।

रचना आत्माभिव्यक्ति ही नहीं, सम्प्रेषण भी है

वार्तालाप में डॉ. माचवे ने एक दूसरा सवाल भी खड़ा किया गया है कि आचार्यश्री कविता को आत्माभिव्यक्ति मानते हैं या सम्प्रेषण ? पर इसका उत्तर लेने या देने से पूर्व पहली जिज्ञासा पर थोड़ा और विचार कर लेना चाहिए। 'मूक-माटी' का विकास उनके तपोरत उस स्वभाव से हुआ है जहाँ वे संघर्षशील हैं, मूल्यों और मान्यताओं को जीते हुए अपमूल्यों के गुरुत्वाकर्षण से जूझ रहे हैं, तभी 'नर्मदा का नरम कंकर' निकला। उसी संघर्ष का स्वर है 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'। पौद्गलिक कर्मों का लबादा ओढ़े रहोगे तो वज़नदारी डुबो देगी, इसे फेंक कर हलके बनो और तदर्थ डूबकर तिर जाओ, डूबकर मान्यताओं और मूल्यों को जिओ। 'चेतना के गहराव में' उतरो। इस संग्रह में भी 'तोता क्यों रोता ?' कविता का रहना 'मूकमाटी' के विकास की पूर्ववर्ती भाव शृंखला की करामात है। महाराजश्री जिसका प्रवचन करते हैं, उसे जीते हैं और जिसे जीते हैं, अनुभव करते हैं, उसे लिखते हैं। इसीलिए वह असरकारी होता है। उसमें आवेग के ज्वार-भाटे होते हैं, इसीलिए वे रूढ़ छन्दों के ढाँचे को अपर्याप्त पाकर तोड़ देते हैं और मुक्त छन्द पकड़ते हैं।

'तोता क्यों रोता ?' का 'मूकमाटी' के सन्दर्भ में महत्त्व

'तोता क्यों रोता ?' एक दीर्घ प्रगीत या लम्बी रचना है। इसमें 'मूकमाटी' का पूर्वरूप लक्षित होता है। इसमें

भी प्रतीक या रूपक पद्धति पर कथा है और कथा के भीतर कथा है, जिनके सहारे जिन-सिद्धान्तों का आख्यान है। विशेष स्मरणीय यह है कि ये सिद्धान्त अपनी प्रकृति में साम्प्रदायिक होकर भी सार्वभौम प्रकृति के हैं, इसीलिए वह साम्प्रदायिक रचना नहीं, काव्य है। इसमें भी प्रकृति के परिवेश में तपी धरती पर नग्न-पाद आम्रपादप खड़ा है, दाता के रूप में, पात्र की प्रतीक्षा है। उद्यमी पथिक आता है, पर दाता में दाता होने का अहम् उभरता है जो अयाचक पथिक को खटकता है। वह भी मान-सम्मान के साथ दान चाहता है। मोक्षमार्ग में दोनों की वृत्ति बाधक है। इस संवाद – मौन संवाद – को वहाँ बैठा हुआ निस्संग तोता सुनता है, जो न उपार्जित फल का दाता है और न याचक। दान का फल पाना चाहता है, पर श्रमपूर्वक उपार्जन किए बिना। निस्संग भाव से जब वह अपनी इस वृत्ति का मानस साक्षात्कार करता है तो अपने अकर्मण्य जीवन पर ग्लानि से भर उठता है और चाहता है कि वह भी श्रमी बने, तपस्वी बने एवं फलोपार्जन करे। इस बीच फल में निरहंकार आत्मदान का भाव जगता है। वृक्षपुत्र सुपुत्र पवन की सहायता चाहता है। उसे भी पिता की वृत्ति पर खेद होता है। फल वृन्त-बन्धन से मुक्त होने की कामना में पवन की सहायता प्राप्त करता है और ससम्मान तपस्वी पथिक के पात्र का आह्वान करता है, फिर जो मुक्ति फल को चाहिए, वह मिल जाती है। एक प्रगीत में यह अन्योक्ति सूक्ति मुक्तिका की भाँति ढली हुई है। कितना काव्योचित काव्यरूप है! अनुभूति के जल में स्नात होने से इसमें प्रभावी प्रबोध-उत्पादन की क्षमता है। 'मूकमाटी' ऐसे ही प्रगीत मुक्तकों की पीठिका पर आकार पाती है। रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है' शीर्षक निबन्ध में प्रकृति के ऐसे रमणीय व्यापारों से मार्मिक तथ्य निकालने वालों की प्रतिभा की प्रशंसा की है। उन्होंने जैसे 'कामायनी' को प्रगीतों का समुच्चय कहा है, उसी प्रकार 'मूकमाटी' को भी संवाद-मुक्तकों का समुच्चय कहा जा सकता है - इस व्यतिरेक के साथ कि उन संवाद-मुक्तकों में घट की आत्मकथा आद्यन्त सूत्र की भाँति अनुस्यूत है। इस प्रकार डॉ. माचवे की प्रथम जिज्ञासा सहज ही समाहित हो जाती है।

सम्प्रेषणवादी का पक्ष–आत्माभिव्यक्तिवादी का पक्ष

सम्प्रति, दूसरी जिज्ञासा देखी जाय। रचना आत्माभिव्यक्ति है या सम्प्रेषण? रचना का सम्बन्ध चेतना की अज्ञात गहराइयों से जोड़ने वाला मनोवेत्ता तो यही मानता है कि रचना 'हो' जाती है, 'की' नहीं जाती। वह आत्माभिव्यक्ति है, एक विस्फोट है, जो चेतना के अज्ञात स्तर से होता है। ज्ञानचेतना के स्तर का अहंकारमूलक कर्तृत्व या तो प्रसुप्त रहता है अथवा समर्पित होकर माध्यम बन जाता है और जो कुछ होना है, होता रहता है। दूसरा पक्ष मानता है कि चेतना का उत्स समाज है। वह समाज में सत्ता का आसादन करती है और जिस 'भाषा' का सहारा पकड़ती है, वह समाज की ही देन है। अतः सम्प्रेषण भी रचयिता के स्वभाव में है। उसका 'स्व' इतना विकसित और व्यापक है कि उसमें समस्त 'पर' समाहित हैं। रचयिता का व्यक्तिहृदय लोकहृदय होता है, उसकी निजी अनुभूति में सर्वसामान्य की हिस्सेदारी होती है। इसीलिए कहता है वह 'स्वान्तः सुखाय', पर निमग्न होता है सारा लोक। संस्कार पाता है सारा पाठक समाज।

अनेकान्तवादी समन्वयी दृष्टि

रचयिता के हृदय का भार तभी उतरता है जब वह औरों में संवाद पाता है। मतलब प्रयोजन की दृष्टि से 'प्रीति' और 'व्युत्पत्ति' की भाँति 'आत्माभिव्यक्ति' और सम्प्रेषण में भी आत्यन्तिक विरोध नहीं है। आत्माभिव्यक्ति सामाजिक क्रिया है और सामाजिक में ही चरितार्थ होती है। अतः आत्माभिव्यक्ति कहीं मूल में ही सम्प्रेषण है, सम्बोध्य के लिए है। लोक उसके लक्ष्य में अज्ञातभाव से ही सही, अवश्य विद्यमान है। महाराजश्री लोक-मंगल की भावना से तो परिचालित हैं ही, उन सिद्धान्तों को जिया है उन्होंने, अतः अनुभूति परिचालित भी हैं।

"प्रखर चिन्तकों दार्शनिकों/तत्त्व-विदों से भी ऐसी/अनुभूति-परक पंक्तियाँ
प्रायः नहीं मिलतीं···जो/आज अग्नि से सुनने मिलीं।" (पृ. २८७)

स्वानुभूति का प्रकाशन यों ही अच्छा लगता है -- लोक मंगल हो, इस कारण और अच्छा लगता है। वह सम्प्रेषण के विषय में 'मूकमाटी' में कहते हैं :

> *"विचारों के ऐक्य से/आचारों के साम्य से/सम्प्रेषण में/निखार आता है,*
> *वरना/विकार आता है !/बिना बिखराव/उपयोग की धारा का*
> *दृढ़-तटों से संयत,/सरकन-शीला सरिता-सी/लक्ष्य की ओर बढ़ना ही*
> *सम्प्रेषण का सही स्वरूप है/हाँ ! हाँ !! इस विषय में/विशेष बात यह है कि*
> *सम्प्रेष्य के प्रति/कभी भूलकर भी/अधिकार का भाव आना*
> *सम्प्रेषण का दुरुपयोग है,/वह फलीभूत भी नहीं होता !/और,*
> *सहकार का भाव आना/सदुपयोग है, सार्थक है।*
> *सम्प्रेषण वह खाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध*
> *पुष्ट-सम्पुष्ट होती है।" (पृ. २२-२३)*

इन पंक्तियों के आलोक में लगता है कि महाराजश्री का सम्प्रेषण की ओर झुकाव है। लोकमंगलकामी में यह होना ही चाहिए। शास्त्रकाव्य में सम्प्रेषण की भावना बलवती होती ही है। परन्तु सम्प्रेषण का जो स्वरूप उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त है, वह स्तरीय है। उसमें निखार के लिए विचारों का समन्वय और आचारगत साम्य चाहिए। लक्ष्य की ओर एकतानता ही उसका सही स्वरूप है। यह वह खाद है जिससे सद्भावों की पौध पुष्ट-सम्पुष्ट होती है। साथ ही यह कि सम्प्रेष्य पर हावी होने से सम्प्रेषण का स्वरूप बिगड़ता है, फलत:उसे भोग रूप में सहकारी ही होना चाहिए।

'मूकमाटी'- काव्यत्व और काव्यरूप

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में स्पष्ट है कि प्रस्तुत रचना लोक-मंगल की भावना से लिखी गई है। इसमें उन मूल्यों का संवादों द्वारा उपस्थापन है जो मानव को 'विभाव' से 'स्व-भाव'-साक्षात्कार की दिशा में ले जाते हैं। महाराजश्री ने इन मूल्यों को जिया है। अत: उन्हें सम्प्रेषण ही नहीं, स्वानुभूति का रस भी 'स्वान्त: सुखाय' परिचालित करता है। इस पद्धति से सम्प्रेषण के बीज उनकी पूर्ववर्ती रचनाओं में लक्षित होते हैं। उसी का यह प्रबन्ध की धरा पर सहज विकास है। इसमें आत्माभिव्यक्ति भी है और सम्प्रेषण भी, स्वानुभूति का उल्लास भी परिचालक है और लोक-मंगल की कामना भी।

महाकाव्यों में मूल्यगान की परम्परा

ऊपर यह मान्यता रखी गई है कि प्रस्तुत रचना शुद्ध कविता नहीं, शास्त्रकाव्य है। सहृदय आचार्यों की धारणा है कि वस्तुत: काव्य संवेदना का समुच्छलन है। आदिकाव्य रामायण की रचना प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्तपादाचार्य ने काव्य को सर्जनात्मक अनुभूति का ही रूपान्तरण माना है, शास्त्रीय मान्यताओं का रोचक उपस्थापन मात्र नहीं; गो कि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य की रचना के उपयुक्त नायक की तलाश में नारद के सामने जो मानदण्ड रखे थे, वे मानव मूल्यों के ही थे। उन मूल्यों से मण्डित नायक के जीवन के कलात्मक उद्रेखण के व्याज से महर्षि उन मूल्यों का ही गान करना चाहता है। महाभारत के भी आदि, अन्त और मध्य में भगवान् वासुदेव ही विद्यमान हैं।

महाकाव्य की दो धाराएँ

जैसा कि ऊपर कहा गया है, समस्या काव्यसामग्री के संयोजन में दिए गए बलाबल का है। कोई रसात्मक प्रभाव को केन्द्र में रख कर उसके अनुरूप समुचित सामग्री का संयोजन करेगा जबकि दूसरा मूल्यों के रोचक ढंग से

उपस्थापन में रुचि प्रदर्शित करेगा। अनुभूति और मूल्य योजना दोनों ही धाराओं में है। प्रथम धारा में स्थायी का चेतन आश्रय में विधान होगा और हृदय जगत् के भावों की ऊँचाइयाँ, गहराइयाँ, विविधता और व्यापकता प्रभावी होंगी, मूल्य चर्चा आनुषंगिक और दूसरी धारा में यह सब अभिव्यक्ति पद्धति में आ जायगा, कथ्य का स्वर उपदेशपरक होगा। यहाँ साधनारत मुनि अपने जीवन क्रम से प्रेरित होकर 'सम्भावनाओं' को 'उपलब्धि' की मंज़िल की यात्रा करा रहा है जबकि पहली धारा में उपलब्धि बनी महान् आत्माओं की रसमय जीवनगाथा प्रस्तुत की जाती है। सम्भावनाएँ उपलब्धि बनती हैं। मूल्यों के प्रति आस्थावान् होकर उन्हें जीने से लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सम्भावना प्रतिसत्ता में विद्यमान है। इसके लिए प्रतीक का माध्यम ग्रहण करना काव्योचित सरणि है। प्रस्तुत या प्रधान चेतन मानव ही है, पर व्यंजना से उसकी कथा और भी प्रभावी तथा काव्योचित है।

'मूकमाटी' का कवि—युग का कवि

सरिता-तट की मूकमाटी असीम सम्भावनाओं से संवलित है, भले ही वह पद दलित, उपेक्षित और नगण्य लगती हो। इसमें प्रस्तुत नगण्य मानव ही है, जो अपनी ऊर्ध्वगामी अपरिमेय सम्भावनाओं में गणनीय है। अत: इसके काव्यत्व पर अँगुली उठाना असहृदयता होगी। दूसरे आज का तकादा भी अवाम को उठाने का है। पहले मंच पर ग्लैमर (उदात्त) अभिनीत होता था, आज मंच पर सामान्य ज़िंदगी अभिनीत होती है। पहले उपलब्धि का यशोगान होता था, आज सम्भावनाओं का संघर्ष गाया जाता है। साधना और संघर्ष जितना सम्भावना को उपलब्धि बनने में सहज और प्रेरणाप्रद है, उतना उलटे रास्ते चलकर नहीं। चरित काव्यों और पुराण काव्यों में भी संघर्ष है, पर दोनों का युग-भेद है। एक संघर्षशील तपोरत मुनि अपने युग के साथ चल रहा है और सम्भावनामयी विराट् सत्ता के बेटे या बेटी की कथा कह रहा है। उसके काव्य का विषय विराट् सत्ता ही है। प्रस्तुत वही है, यह तो अप्रस्तुत है।

काव्य स्वरूप विषयक दो धाराएँ

जो लोग विविधविध परिस्थितियों के बीच चेतन मानव को आश्रय बनाकर भावनाओं का आवर्जक रूप, उसके ज्वार-भाटों के काव्यगत कलागत उद्रेखण के पक्षधर हैं, उनका भी एक पक्ष है, पर उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि आलोच्य कृति का रचयिता एक जैन सन्त है, आध्यात्मिक यात्रा का कृतार्थ पथिक है। उसकी काव्य सम्बन्धी अवधारणा कुछ और है, यह नहीं कि वह इससे असहमत है। परम्परा में पीछे की ओर चलें, स्पष्ट ही काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ मिलेंगी— एक साहित्यरसिक आचार्य कुन्तक की और दूसरी अध्यात्मरसिक गोस्वामी तुलसीदास की। कुन्तक कहते हैं- वक्रोक्ति ही काव्य का जीवित है और वक्रोक्ति 'प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणी विचित्र अभिधा' है, वक्रभणिति है, परन्तु इस वक्रता का परम रहस्य प्रतिभा नाम की तीसरी आँख से दृष्ट वर्ण्यवस्तु का 'स्वभाव' निरूपण ही है। सर्जनात्मक अनुभूति की चारुता को सम्प्रेषित करने वाला सटीक शब्द ही काव्य है। गोस्वामीजी का पक्ष है :

"भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ, राम नाम बिनु सोह न सोऊ।"

अर्थात् सुकवि कृत 'विचित्र या वक्रभणिति' ही क्यों न हो, पर काव्य के लिए जिस तरह की 'चारुता' का होना आवश्यक है वह आध्यात्मिक चेतना के संस्पर्श के बिना सम्भव नहीं है। काव्योचित चारुता का स्रोत आध्यात्मिक चेतना है। हाँ, वह अनुभूति के स्तर की हो, मात्र बौद्धिक स्तर की नहीं। रचयिता ने उसे जिया हो, तभी उसके शब्दबद्ध समुच्छलन में पाठक को रस आएगा, उसका आनन्दवर्धन होगा, ज्ञानवर्द्धन तो होगा ही। रचयिता बड़े आत्मविश्वास के साथ कहता है :

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में/और

अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो/तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ/कि,/क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से
मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी
सही-सही पहचान/क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ. ४८७-४८८)

रचयिता की साहित्य विषयक अवधारणा

गोस्वामी तुलसीदास, जो नाभादास के शब्दों में 'कलिकुलजीवनिस्तारहित वाल्मीकि के ही, आदि कवि के ही, अवतार हैं'—की परम्परा में मुनि विद्यासागर की भी साहित्य स्वरूप विषयक अवधारणा को दृष्टिगत करें। उनका पक्ष है – साहित्य सहित का भाव है और 'सहित' में 'हित' निहित है :

"अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

रचयिता 'स्वभाव-सुख' को सुख कहता है। वही जीवन्त और शाश्वत साहित्य में व्याप्त सुगन्ध है जिससे रहित होने पर सुकवि कृत भणिति 'विचित्र' होकर भी सारहीन शब्द-झुण्ड है।

रचयिता जिस शान्त रस को रसराज मानता है, उसे शब्दबद्ध कर रहा है, पर 'शान्त' की पार्यन्तिक अनुभूति वाग्बद्ध नहीं हो सकती। उसकी संघर्षमय साधनावस्था ही शब्दबद्ध हो सकती है। 'दशरूपक' और उसके टीकाकार धनिक धनंजय कहते हैं :

"न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसस्तु शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥" ४/४६ ॥

शान्त रस आत्मस्वरूपायत्ति है, अतः स्वरूपतः वह अनिर्वचनीय है, अतः उसके उपाय का ही वर्णन और आस्वाद हो सकता है।

प्रस्तुत कृति शान्त रस की संवेदना का रूपान्तरण है

आलोच्य ग्रन्थ में शान्त रस स्वरूप 'स्वभाव-सुख' की मंज़िल तक पहुँचने के लिए संघर्षशील, तपोरत सम्भावना-मयी माटी, जो घट का उपादान है, की ही तो आत्मकथा कही गई है। घट का उपादान माटी महासत्ता माँ धरती का ही अंश है। इसीलिए रचयिता स्थान-स्थान पर धरती के व्याज से उस महासत्ता का स्तवन करता है और गगन से भी अधिक उस माता धरती की महत्ता का ख्यापन करता है। यही विराट् मातृ सत्ता ही इस काव्य का वर्ण्य है। जिस प्रकार रामायण में 'राम,' महाभारत में 'वासुदेव' और रामचरितमानस के आदि, मध्य तथा अवसान में 'राम' का ही यशोगान है, उसी प्रकार यहाँ भी मातृ सत्ता विराट् चेतना - विराट् सत्ता - व्यापक सत्ता ('धरती' से व्यंजित प्रस्तुत) का यशोगान है। इस प्रकार यह प्रतीक काव्य है, घटोपादान माटी उसी का अंश है। यह घट ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सम्भावना वाले

साधक जीव का प्रतीक है। इसीलिए व्यास ने 'नरत्वं दुर्लभं लोके' कहा है।

कवित्व के उच्छलन का स्रोत– प्रतीक पद्धति

शान्त का स्थायी भाव शम या निर्वेद है जो 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। वाच्य रूप में घट से व्यंजित प्रतीयमान तपोरत साधक ही उस शम नामक स्थायी भाव का आश्रय है। कंकर अजीव, कर्ममय पौद्गलिक परमाणुसंघात के प्रतीक हैं, जिनसे सम्पृक्त होकर जीव 'स्वभाव' को विस्मृत किए हुए है और विभावाभिमानी बनकर दुःख भोग रहा है। माँ धरती का होनहार पुत्र घट अपनी माँ से जो 'श्रुत' सुनता है, आस्था की नासा से उसकी पूरी सुगन्धि लेता है, और तब खुला हुआ गन्तव्य का रास्ता ही उसका शास्ता बन जाता है, घट की पात्रता अपनी अदम्य अभीप्सा से आचार्य कुम्भकार को खींच लाती है, जो निमित्त बन जाता है उपादान की सम्भावनाओं को उपलब्धि बनाने में। तीसरे और चौथे खण्डों में वर्णित संघर्ष पर दृढ़ आस्था और विश्वास विजय पाती है। घट तो जीवन मुक्त होता ही है, आचार्य के प्रति आत्मदान करता हुआ, उससे जुड़ा हुआ सेठ परिवार भी दुःख सरिता का सन्तरण कर जाता है। सभी अरिहन्त का साक्षात्कार कर लेते हैं। यह सब समस्त तृष्णा या काषायक्षय के बिना– घाति कर्मक्षय के बिना सम्भव नहीं है। यही समस्त तृष्णाक्षयसुखात्मा शम की शान्त में निष्पत्ति है। 'काव्यप्रकाश'कार कहता है :

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यंजकस्त्रिधा।" (२/५)

अर्थात् व्यवहार और शास्त्र में शब्द वाचक और लाक्षणिक होते हैं, परन्तु 'अत्र' अर्थात् काव्य में 'व्यंजक' होते हैं। इस प्रकार व्यंजक या प्रतीक को माध्यम बनाकर वर्ण्य का उपगूहन कवित्व का प्रबल स्रोत है। भारतीय परम्परा में रहस्य के उपस्थापन की यही पद्धति है। कवित्व के इतने बड़े स्रोत के जागरूक होते हुए भी जिन्हें यहाँ कवित्व लक्षित नहीं होता, उनके विषय में क्या कहा जाय ?

"नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति।"

'लोचन'कार काव्य को 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहता है और पण्डितराज जगन्नाथ 'समुचितललितसन्निवेशचारु' कहते हैं। वही शब्दार्थसन्निवेश ललित और उचित है, फलतः 'चारु' है, काव्य है, जो रसानुरोधी है। लालित्य का आधान रसानुरोध से ही होता है और उसी के अनुरोध से औचित्य का निर्धारण भी होता है। यह लालित्य काव्य की जिस भावक भाषा में होती है उसमें रस भावकता का आधान गुण और अलंकार मण्डन से होता है। शान्त रस होने से माधुर्य गुण तो है ही, अलंकार की बात हम आगे करेंगे। अलंकारों में एक अलंकार है-'निरुक्ति' जो व्युत्पत्ति मूलक चमत्कार का मुखापेक्षी है। यह अलंकार तो रचयिता की पहचान बन गया है। इस प्रकार आलोच्य कृति की भाषा शास्त्रभाषा नहीं है, वह अभिधात्मक नहीं है। कहीं क्वचित्, विशेषकर जब कोई पात्र मान्यताओं का वर्णन कर रहा हो, तो वहाँ की भाषा अभिधात्मक हो सकती है, पर कृति को उसकी अखण्डता में देखना चाहिए न कि काटकर एकदेश में। साहित्यदर्पण-कार ने कहा है कि महाकाव्य की आस्वादधारा में नीरस प्रसंग भी सरस हो उठते हैं।

शम की पुष्टि

कहा जा सकता है कि जिस शान्त को संवेदना मानकर प्रस्तुत कृति को उसका रूपान्तर कहा जा रहा है, उसका स्थायी भाव 'शम' चेतन में ही सम्भव है। घट चेतन कहाँ है ? अतः शम की स्थिति न होने से शान्त की संवेदना अचेतन पात्र में कैसे रखी जा सकती है ? उत्तर में कहा जा सकता है कि घट अप्रस्तुत है। प्रस्तुत तो साधक जीवात्मा ही है, जो शान्त की स्थिति में पहुँचने के लिए शम या निर्वेद का अन्तस् में अवस्थान करता है। आरम्भ में ही वह माँ धरती

से अपनी व्यथा-कथा प्रस्तुत करता है। उसमें विषय के प्रति विराग भाव ही तो है। स्वरूपायत्ति लक्षण शान्त की स्थिति में जाने की अदम्य अभीप्सा का इज़हार करता है सम्भावना के रूप में 'माटी' में निहित घट। माटी कहती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

कृति के अन्त में वही माँ सत्ता 'शान्त' रस में प्रतिष्ठित घट साधक को सम्बोधित करती हुई कहती है :

"···सो/सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।"(पृ. ४८३)

निष्कर्ष यह कि आलोच्य कृति में कवित्व के विभिन्न स्रोत विद्यमान हैं। यह अवश्य है कि यह सन्तों का काव्य है जहाँ मूल्यगान की चेतना उदग्र रहती है, आध्यात्मिक चेतना की सुगन्ध आद्यन्त व्याप्त रहती है, वही 'हित' है, उससे युक्त अर्थात् 'सहित' का ही भाव यहाँ साहित्य की अपेक्षित शर्त है। रसराज से भिन्न शान्तेतर रस की पार्यान्तिक अनुभूति सम्भव है। अत: जिस प्रकार विभावादि समग्र अंगों की योजना प्रीत्युत्पादक ढंग से वहाँ सम्भव है, वैसा शान्त रस को अंगी बनाकर नहीं। यहाँ उपाय का ही वर्णन सम्भव है, जैसा कि धनञ्जय ने 'दशरूपक' में कहा है। दूसरे शैली-विज्ञान कहता है कि अ-काव्यभाषा से काव्यभाषा के व्यावर्तक चार लक्षण हैं :

१. विचलन (Deviation) (विपथन भी) २. सादृश्य (Analogy)

३. चयन (Selected Word) (उपयुक्त शब्द) ४. समान्तरता (Foregrounding)

शैली विज्ञान का साक्ष्य

'मूकमाटी' की भाषा में 'घट' को जीवात्मा का प्रतीक बनाकर आद्यन्त एक कथा प्रस्तुति 'विचलन' का ही उदाहरण है। परम्परा में ऐसा कहीं नहीं मिलता, विशेषकर जैन मुनियों की प्रबन्ध काव्य परम्परा में। नई उपलब्धि के लिए पुराने को तोड़ना भी रचना की एक विशिष्ट उपलब्धि है। प्रकीर्णक रूप में भाषा पर विचार करते हुए आगे इस या इन बिन्दुओं पर अधिक कहा जायगा।

सादृश्यमूलक अलंकारों का स्वत:स्फूर्त विनियोग

प्राचीन शब्दावली में यह 'समुचितललितसन्निवेशचारु' काव्यभाषा से मण्डित होने के कारण इसे 'काव्य' कहने में मुझे कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती। जिस रोचक और रमणीय भाषा में अनुभव की अभिव्यक्ति यहाँ है, है वैसी भाषा में किसी शास्त्र की संरचना ? कहीं-कहीं तो ऐसे 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अलंकारों का प्रवाह उफन पड़ा है कि 'कादम्बरी' की महाश्वेता के विलाप की भाषा याद आ जाती है। इस सन्दर्भ में अन्तिम खण्ड का वह प्रसंग देखा जा सकता है, जिसमें "घर की ओर जा रहा सेठ···"(पृ.३५० से ३५२ तक) की दशा का विवरण देने के लिए अप्रस्तुतों की माला उफन पड़ी है। तीसरे खण्ड के संवाद को पढ़ें तो उसके पीछे निहित भाव-प्रवाह का आवेग भावमग्न कर देता है। दृश्यकाव्य की अपेक्षा महाकाव्य की संरचना शिथिल होती है। उसमें प्रसंगवश समागत सन्दर्भ अनपेक्षित विस्तार पा जाते हैं। अनुपात में स्वल्प शब्द क्रीड़ा या संख्या क्रीड़ा से समग्र प्रबन्ध अधम कोटि का या प्रहेलिकाप्राय हो जायगा ? मुझे ऐसा नहीं लगता। 'लगना' है भी आत्मनिष्ठ प्रतिक्रिया। सबका 'लगना' अलग-अलग होता है। हाँ, 'लगना' से 'होना' अवश्य भिन्न है।

काव्यरूप का विचार—महाकाव्य

कवित्व या काव्य की प्रकृति की दृष्टि से देख लेने के बाद सम्प्रति 'महाकाव्य' के निकष पर इसकी परीक्षा की

जानी चाहिए। अनेक समीक्षकों ने इसे जैसे-तैसे 'काव्य' तो मान लिया है, परन्तु 'महाकाव्य' नहीं माना है। निश्चय ही उन समीक्षकों के मानस पर जो मानदण्ड अंकित हैं, वे पारम्परिक महाकाव्यों से निर्गत साँचे या लक्षण हैं। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' को लेकर भी ऐसी ही कशमकश चली थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो उसके प्रबन्धत्व पर ही कड़ा प्रहार किया है और उसे प्रगीतों का समुच्चय घोषित कर दिया है। पण्डित विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उसे 'एकार्थ काव्य' कहा है, परन्तु डॉ. नगेन्द्र ने उसमें निहित 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' को देखकर, विभिन्न घटकों में निहित औदात्त्य को देखकर उसे छायावादी पद्धति का महाकाव्य कहा है। प्रचलित मंचों पर अपने नाटकों को अनभिनेय घोषित करने वालों से प्रसादजी ने कहा था कि नाटक के लिए मंच बनाया जाना चाहिए, न कि मंचों के बने-बनाए ढाँचों के अनुरूप नाटक बनाए जाने चाहिए। यदि पूर्व प्रचलित साँचों में ही सर्जना सिमट कर रह जाय तो उसकी प्रगति किस प्रकार सम्भव है ? अतः समुचित यही है कि पारम्परिक साँचे को तोड़ कर युगीन संवेदना से परिचालित रचना में यदि 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' है, तो तदनुरूप नया साँचा भी बनाया जाना चाहिए। 'मूकमाटी' के महाकाव्यत्व की परीक्षा स्वयं उससे निर्गत मानदण्ड पर किया जाना समुचित होगा। यह कहना कि इस प्रकार अराजकता फैलेगी, लोग नए-नए साँचों के अनुरूप महाकाव्य लिखने लगेंगे, तो पहली बात यह है कि ऐसा हो भी तो सही। 'मूकमाटी' की भाँति नए मानदण्डों वाली रचनाएँ महाप्राण रचयिता ही कर सकते हैं, आम आदमी से सम्भव नहीं है, फलतः अराजकता का सवाल ही नहीं उठता। ऐसे प्रयास सम्भावनामयी रचना के विविध आयाम अनावृत करते हैं।

पारम्परिक साँचा—महाकाव्य के अनिवार्य घटक 'महत्त्व' और 'काव्यत्व'

कह सकता है कोई कि इसमें 'महत्त्व' और 'काव्यत्व' नहीं है? क्या इस काव्य का लक्ष्य जो 'अपवर्ग' है, उससे भी महत्तर लक्ष्य हो सकता है ? काव्यत्व की बात ऊपर की ही गई है। 'तुस्यतु दुर्जनन्याय' से पहले पारम्परिक साँचे को ही लें। पारम्परिक साँचे के लिए निम्नलिखित उपकरण अपेक्षित हैं :

१. इसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण होना चाहिए।
२. इसमें एक या अनेक नायक हों। वे प्रख्यात राजवंशी हों और धीरोदात्त हों।
३. इसमें मंगलाचरण हो।
४. आठ या उससे अधिक सर्ग हों।
५. दिवा, रात्रि, पर्वत आदि का वर्णन हो।
६. सर्ग में एक ही छन्द हो, पर अन्त में छन्द परिवर्तन हो।
७. सभी सन्धियाँ हों, फलतः प्रख्यात या लोक प्रसिद्ध कथा हो।
८. वीर, शृंगार अथवा शान्त में से एक रस हो, जो अंगी हो।
९. सज्जन-असज्जन की स्तुति और निन्दा हो।

इन लक्षणों में स्पष्ट ही दो वर्ग हैं— बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग में— (क) मंगलाचरण (ख) सर्ग की संख्या का नियम (ग) छन्द सम्बन्धी नियम का समावेश किया जा सकता है। 'कामायनी' या 'प्रिय प्रवास' में मंगलाचरण नहीं है। जिन-जिन महाकाव्यों में वस्तु निर्देशात्मक मंगलाचरण कहा जाता है, उसमें कोई ठोस प्रमाण नहीं है। सर्ग की संख्या 'रामचरितमानस' पर ही लागू नहीं होती। छन्दों का अन्त में बदलना भी ऐसा ही बहिरंग लक्षण है। अन्तरंग लक्षणों में नवम को छोड़कर शेष आ सकते हैं।

महाकाव्य का लक्षण

'साहित्यदर्पण'कार कहता है :

"सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ।
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ॥
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ।
शृंगारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः ।
...क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्त्तनम् ।
...सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ॥
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ।
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ॥
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ।
वर्णनीया यथायोग्यं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ॥"

इस उद्धरण से निर्गत आवश्यक-अनावश्यक घटकों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। लक्षण लक्ष्य से निकाले जाते हैं, इसीलिए काव्यशास्त्र 'काव्यानुशासन' भी कहा जाता है । यह शासन या शास्त्र काव्यानुधावी होता है। शास्त्र 'शंसन', 'शासन' और 'अनुशासन' - तीनों के कारण भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में परिभाषित होता है।

सम्प्रति आलोच्य कृति पर पारम्परिक साँचे के घटकों का संचार करना चाहिए।

आलोच्य कृति की संक्षिप्त कथावस्तु

पारम्परिक साँचे के अनुसार कथावस्तु में आधिकारिक कथा और प्रासंगिक कथाएँ होती हैं। प्रासंगिक कथा भी दो प्रकार की होती है -- पताका और प्रकरी। पहली दूर तक चलती है और दूसरी अल्पदेशव्यापी होती है। इसमें आधिकारिक कथा उस मूकमाटी की है जिसमें घट रूप में परिणत होने की सम्भावना है।

अधिकार का अर्थ है--फलस्वाम्य - मुख्य फल। यह मुख्य फल जिसे प्राप्त हो, वह अधिकारी कहा जाता है और इससे सम्बद्ध कथा आधिकारिक है। यहाँ मुख्य फल है 'अपवर्ग,' जिसे घट प्राप्त करता है। इस प्रयोजन की प्राप्ति में नेतृत्व या प्रयास उसी का है, अतः उसे ही अधिकारी माना जाना चाहिए। इसकी कथा आद्यन्त चलती है। प्रत्येक खण्ड में उसकी कथा प्रमुख है। यह बात अलग है कि अवान्तर प्रसंग प्रचुरता से आते हैं जिससे मूल कथा का प्रवाह बाधित होता है। कथा के प्रवाह में सहज ही प्रसंगान्तर का फूट पड़ना एक बात है और सिद्धान्तों तथा मान्यताओं के उपस्थापन के लोभ से प्रसंगान्तर बढ़ाते चलना दूसरी बात है। यहाँ दूसरी प्रवृत्ति अधिक लक्षित होती है।

ग्रन्थ के चार खण्डों में कथावस्तु विभाजित है :

[क] संकर नहीं : वर्ण-लाभ।

[ख] शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।

[ग] पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।

[घ] अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।

काव्य जब अपनी समग्रता में रूपक, अन्योक्ति अथवा अन्यापदेश का बाना धारण करके आता है, तब अनेक प्रकार की समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। 'कामायनी' को भी इन समस्याओं से जूझना पड़ा है और उसका काव्यत्व व्याहत हुआ है। सबसे पहली समस्या यह आती है कि अप्रस्तुत आख्यान की प्रस्तुत वृत्त पर आद्यन्त संगति कैसे बिठाई जाय ? कथावस्तु की परिकल्पना में रचयिता ने अपना प्रस्थान पृथक् कर लिया है, परन्तु मान्यताएँ कैसे पृथक् कर सकता है ?

प्राचीन युग में 'उपलब्धियों' पर महाकाव्य लिखे जाते थे। कारण यह था कि तब व्यक्ति 'उपलब्धि' बनकर हमारे सामने विद्यमान थे। आधुनिक युग के बुद्धिवाद ने हमें संशयग्रस्त करके 'अज्ञ' और 'अश्रद्धालु' बना दिया है। औसतन हमारा अधिकांश अ-निष्ठा प्रस्थान का अनुवर्ती बन गया है। आम आदमी की चेतना पूरी तरह किसी से नहीं जुड़ पा रही है। इसलिए यह युग बौनों का युग कहा जा रहा है। ऐसे समय में चिन्तक का ध्यान 'उपलब्धि' से हट कर 'सम्भावना' पर केन्द्रित होता जा रहा है जो प्रतिपदार्थ और व्यक्ति में विद्यमान है। 'सम्भावना' जब 'उपलब्धि' बनने की दिशा में अग्रसर होती है तब उसे मूल्यों और मान्यताओं को जीना पड़ता है और ऐसे में अपमूल्यों से संघर्ष करना पड़ता है। इस संघर्ष में वही विजयी बन सकता है जो दृढ़निष्ठा वाला होता है। रचयिता ने इसीलिए परम्परा से हटकर अपने काव्य का नायक उस मूकमाटी को बनाया है, जो पद दलिता है, जिसमें ऊर्ध्वगामी सम्भावनाओं से भरे हुए घट को अनुरूप निमित्त पाकर उभरने की सम्भावना है अथवा जिसमें घटात्मक परिणाम की सम्भावना है।

प्रस्थान पार्थक्य के कारण उत्पन्न समस्याएँ

प्रस्थान पार्थक्य के साथ अपनी बात कहने के लिए रचयिता को अन्यापदेश की पद्धति पकड़नी पड़ी। जैनेतर महाकाव्यों में उन मूल्यों और मान्यताओं से मण्डित नायकों की कथा कही गई है जिनसे व्यवहार या लोक और समाज का सन्धारण होता है किन्तु प्रथमानुयोग के अन्तर्गत पारम्परिक जैन रचनाकारों ने इससे आगे बढ़कर पारमार्थिक लक्ष्य की उपलब्धि में अभिरत शलाका पुरुषों का चरित्र चित्रित किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी परम्परा से सम्पृक्त रहकर भी युगीन संवेदना के प्रभाव में महाकाव्य लेखन की पद्धति बदल दी है और इससे कई कठिनाइयाँ भी उभरी हैं। एक ओर प्राचीन और पारम्परिक साँचे के संस्कारी समीक्षक झल्ला उठे हैं और दूसरी ओर सहानुभूतिशील समीक्षकों को भी अप्रस्तुत और प्रस्तुत के आद्यन्त संगति में कठिनाई उठ खड़ी हुई है। उदाहरणार्थ, पहले खण्ड में ही देखें—उपादान कारण स्वरूप 'माटी' में विजातीय कंकर का सांकर्य जलधारण करने योग्य घटात्मक सत्पात्र के निर्माण में बाधक है। अतः 'वर्णलाभ' करने के निमित्त 'सांकर्य' का हटाया जाना आवश्यक है। इसलिए निमित्त बनकर कुम्भकार शिल्पी को यह कार्य करना ही है। इस अन्यापदेशिक आख्यान में 'अजीवगत' दोष का अप्रस्तुत 'कंकर' है और 'जीव' का 'घट', जो अभी 'माटी' में सम्भावना बना हुआ है, आकारतः अव्यक्त है। कुम्भकार सद्गुरु का प्रतीक या अप्रस्तुत है, जो सत्पात्र के रूप में 'घट' का निर्माण करता है। परन्तु समापन के सन्दर्भ में वह कुम्भकार अपने को ऋषि-सन्तों का जघन्य सेवक मानता है तथा कुछ ही दूरी पर पादप के नीचे पाषाण-फलक पर आसीन नीराग साधु को इंगित करता है। आपाततः सन्देह होता है कि यदि घट बद्धजीव का आरम्भ में प्रतीक है तो 'धरती' और 'माटी' किसके प्रतीक हैं? वे किस प्रस्तुत की व्यंजना कर रहे हैं? वास्तव में यह शंका निर्मूल है। माटी तो धरती जैसी महासत्ता का अंश ही है और 'घट' उसका पर्याय है, भिन्न नहीं। वह तो माटी में ही सम्भावित की निमित्त-सापेक्ष दशा विशेष है, भिन्न नहीं। ग्रन्थ का 'माटी' और 'कुम्भकार' से शुभारम्भ जैन दर्शन की 'उपादान' और 'निमित्त' जैसे उस सिद्धान्त को आत्मगत करके चलना है, जिसमें संसार के कर्ता जैसे पृथक् ईश्वर की परिकल्पना का निषेध है। कथाधारा वर्णन और संवाद के सहारे आगे बढ़ती है। माटी की अभीप्सा में इतना वज़न है कि शिल्पी, जो सद्गुरु का प्रतीक है, स्वयं चला आता है। वह करुणासागर है। साधक की तड़प उसे खींच लाती है। निर्माता शिल्पी कुदाली चलाकर, माटी को गधे पर लादकर उपाश्रम में लाता है, जहाँ माटी छानी जाती है एवं कंकर अलग किए जाते हैं। तदनन्तर कूप से बालटी में पानी बाहर लाया जाता है। बालटी जिस रस्सी में बँधी है, उसमें ग्रन्थि है, जो प्रयत्नपूर्वक खोल ली जाती है। इससे पानी भरी बालटी सुकरता से ऊपर आ जाती है। प्रथम खण्ड की कथा इतनी ही है।

समाधान

यहाँ आशंका पुनः शिर उठाती है कि जीव विजातीय अजीव पौद्गलिक कर्म से आवृत होने के कारण अनादिकाल

से संकीर्ण स्वरूप है। शिल्पी इस सांकर्य से घट को अलग कर देता है। फलत: वह असंकीर्ण होकर शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है। इस तरह जब वह शुद्ध वर्णलाभ कर लेता है, तब लक्ष्य प्राप्ति हो जाती है और जब लक्ष्य प्राप्ति हो गई तब कथा सूत्र को समाप्त हो जाना चाहिए। आगे की कथा क्यों बढ़ाई जाय? इसका समाधान यह है कि अभी आंशिक मल ही समाप्त हुआ है। कंकर संयोगज विकार का ही प्रतीक है। आंशिक मल या कषाय अभी भी शेष है जिसे तप की अग्नि में और जलाना है और जलने-जलाने का यह क्रम लम्बा चलता है तब कहीं 'घट' शुद्ध स्व-भाव में प्रतिष्ठित होता है। अत: कथासूत्र को आन्तरालिक संघर्ष के प्रतीक रूप में और बढ़ाना ही है।

इस प्रसंग में 'संकर' और 'वर्ण' शब्दों की तह में एक और अर्थ की झलक मिल सकती है। 'संकर' दोष क्रमागत 'वर्ण-व्यवस्था' में 'वर्ण' से परस्पर भिन्न माता और पिता से उत्पन्न सन्तति में भी होता है, जो उसी जन्म में नहीं हट सकता। इसके लिए जन्मान्तर आवश्यक है। अत: इस आशय से ग्रस्त संकीर्ण वर्णवादी को आपत्ति हो सकती है कि उसी जन्म में शिल्पी ने माटी का सांकर्य कैसे हटा दिया ? परन्तु रचयिता की निम्नलिखित पंक्तियों के साक्ष्य पर स्पष्ट है कि उसने 'वर्ण' शब्द का प्रयोग 'शील' के अर्थ में किया है :

"इस प्रसंग से/वर्ण का आशय/न रंग से है
न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

साथ ही 'संकर' शब्द पर (अजीव) संसर्ग-जन्य विकार के अर्थ में प्रयुक्त है। अत: सन्त – सद्गुरु के संसर्ग से उसका निरसन सम्भव है। इन्हीं अर्थों में प्रस्तुत काव्यगत प्रयुक्त 'वर्ण' और 'संकर' को लेना चाहिए, न कि संकीर्ण और निहित स्वार्थी दृष्टि से अन्य आरोपित अर्थ।

शेष कथावस्तु

द्वितीय खण्ड में शोधित मृत्तिका का जल से, छाने हुए जल से, सेचन होता है। रौंदी जाकर माटी लोंदे का आकार ग्रहण करती है। लोंदा चक्र पर चढ़ाया जाता है और घट का आकार ग्रहण करता है। इसके बाद वह तपन में सुखाया जाता है। इस ताप या तप से कुछ विकार और भस्म होते हैं। तपस्या का क्रम तृतीय खण्ड में और उग्र होता है। यहाँ पुण्य का पालन और पाप का प्रक्षालन होता है। कुम्भकार हट जाता है। प्राकृतिक उपसर्गों की बदली, बादल के प्रतीकों से घट की आस्था की गहन परीक्षा की जाती है। आस्था के दृढ़ होने से घट डिगता नहीं। फलत: प्रकृति की कुछ शक्तियाँ बाधक बनती हैं तो कुछ सहायक भी बन जाती हैं। इस तरह उसकी परीक्षा होती है। शिल्पी इस परीक्षा सागर के सन्तरण से प्रसन्न होकर पुन: समीप आ जाता है और उसे छाया देता है। ये सभी विघ्न परीषह और उपसर्ग के अप्रस्तुत विधान हैं। तपस्या की पराकाष्ठा , जिससे माँ धरती का भी दिल दहल उठता है, चतुर्थ खण्ड में आती है। नियम-संयम के सम्मुख यम भी घुटने टेक देता है। नभश्चर और सुरासुर भी हार जाते हैं। तपन से प्रतप्त घट और परिपक्व हो गया है, पर अभी विकार और शेष हैं। अवा की आग उसके काष्ठापन्न तप का प्रतीक है जो सारे विकारों को सुखा डालता है। कषाय नि:शेष हो जाता है। यह तप ही विकार दाह में कारण है। कारण को अव्यवहित पूर्व, प्रतिबन्धकरहित और सामग्रय सम्पन्न होना चाहिए, तभी कार्य होता है। तपस्या इन सभी अप्रस्तुतों से समग्र होती है। अब वह पूर्ण पक्व है। उसमें अब (जलधारण की) पात्रता सही अर्थों में आती है। सद्गुरु के चरणों में समर्पण का पूर्ण भाव आ जाता है। 'स्व-भाव' में प्रतिष्ठित हो जाता है और तब उसमें वह अनन्त बल आ जाता है जब अपने उपासक को भी अपने से जोड़ कर भवसरिता पार करा देता है। कहा जा सकता है :

- *"तैरते-तैरते पा लिया हो/अपार भव-सागर का पार !" (पृ. २९८)*

□ *"यूँ ! कुम्भ ने भावना भायी/सो, 'भावना भव-नाशिनी' !" (पृ. ३०२)*

यहीं प्रतिपाद्य के समाप्त होने से ग्रन्थ को समाप्त हो जाना चाहिए, आगे क्यों ? मैं समझता हूँ कि परिपूर्णता के चार चरण हैं- अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। आगे की कथा प्रचारण– लोक कल्याण है। सम्भव है इसलिए कथा आगे बढ़ाई गई है। अध्यात्म की यह यात्रा वृत्ताकार है। जहाँ से प्रस्थान हुआ था, वहीं वह पहुँचता है, पर परिवेश या भाव वह नहीं है। पहले वह बद्धावस्था में था, अब मुक्तावस्था में है। अब कषाय के न होने से भोग बन्ध का निमित्त नहीं बन रहा है। अब वह मिथ्यादृष्टि नहीं, सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। विपरीत इसके वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मतलब यह कि सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है। यह साधक की कर्मभोग से कर्मयोग तक की वृत्तात्मक यात्रा है, पर पहला कर्मभोग मिथ्यादृष्टि का था और दूसरा कर्मभोग सम्यग्दृष्टि का है। बालटी की मछली की यात्रा भी तो ऐसी ही वृत्ताकार यात्रा है। कूप से बालटी द्वारा बाहर आकर पुनः उसी बालटी से उसी कूप जल तक। अन्तर यही है न कि पूर्व भावना और परवर्ती भावना में अन्तर है।

कथावस्तु के दो भेद–आधिकारिक और प्रासंगिक

सम्प्रति, कथावस्तु की अन्य महाकाव्योचित विशेषताओं की ओर भी दृष्टिपात करना है। आधिकारिक कथा का संक्षेप ऊपर दिया जा चुका है। सम्प्रति, प्रासंगिक कथाओं की समीक्षा प्रसंग प्राप्त है। प्रासंगिक कथाओं में 'पताका' का लक्षण चौथे खण्ड में सेठ-प्रसंग पर घटित होता है और पुंखानुपुंख रूप से घटित होने वाली घटनाओं को 'प्रकरी' के अन्तर्गत ही लिया जा सकता है, जैसे कि प्रथम खण्ड की मछली की कथा है। 'प्रासंगिक कथा' का लक्षण 'दशरूपक'कार धनंजय द्वारा इस प्रकार दिया गया है :

"प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।" (१/१३, पृ.४)

प्रासंगिक कथा वह होती है जो प्रवाह में आई हो मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए, परन्तु प्रसंगतः उसका प्रयोजन सम्पन्न हो गया हो। आलोच्य ग्रन्थ में आधिकारिक कथा घट की है। उसी प्रसंग से मछली का भी प्रसंग आ गया है और मुक्ति रूप अपना प्रयोजन भी सिद्ध हो गया है। सेठ की कथा लम्बी चलती है, अतः उसे पताका कथा कहा जा सकता है। 'दशरूपक'कार ने कहा है :

"सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् ॥" (१/१३, पृ.४)

चौथे खण्ड में अवा से बाहर कुम्भ के आते ही सेठ को स्वप्न आता है कि उसने अपने ही प्रांगण में हाथों में माटी का कुम्भ लिए महासन्त का स्वागत किया है। स्वप्न को धन्यवाद देता हुआ सेठ सेवक को कुम्भकार के पास कुम्भ लाने के लिए भेज देता है। इस प्रकार आधिकारिक कथा से प्रसंगतः सेठ जुड़ जाता है और इस खण्ड के अन्त तक दोनों कथाएँ साथ-साथ चलती हैं। सेठ से कुम्भ को और कुम्भ से सेठ को सार्थकता प्राप्त होती है। कुम्भ का मूल प्रयोजन सेठ से सधता है। अतः उसकी स्थिति स्पष्टतः ही 'परार्थ' है, पर साथ ही प्रसंगतः उसका स्वार्थ भी सिद्ध हो जाता है। कुम्भ उसे भी अपने साथ भव सरिता का सन्तरण करा देता है। एक मुक्त दूसरे को भी मुक्त करा देता है। 'मानस' की आधिकारिक राम कथा में जो स्थान पताका नायक सुग्रीव का है, वही यहाँ सेठ का है।

आलोच्य कृति में प्रासंगिक कथाएँ

प्रथम खण्ड में 'मछली प्रसंग' और तृतीय खण्ड में 'मुक्तावृष्टि प्रसंग' स्वल्पदेशव्यापिनी घटनाएँ हैं। फलतः

इन्हें प्रकरी के अन्तर्गत लिया जा सकता है। यह अवश्य विचारणीय है कि ये दोनों प्रसंग प्रसंगतः प्राप्त तो हैं, पर इनसे आधिकारिक कथा का क्या उपकार हुआ है ? प्रासंगिक कथाओं में तीन शर्तों का निर्वाह होना चाहिए-- प्रसंगतः सहज विकास, दूसरे 'परार्थ' और तीसरे 'स्वार्थसिद्धि'। यहाँ प्रसंगतः दोनों घटनाएँ घटती हैं। पहली शर्त स्पष्ट है। जहाँ तक 'परार्थता' अर्थात् नायक घट के प्रयोजन सिद्धि में सहकार का सम्बन्ध है, 'मछली प्रसंग' की घटना पर उतना लागू नहीं होता। एक तो कूप में मछलियों का झुण्ड कदाचित् ही कहीं होता हो, दूसरे अपवाद स्वरूप कहीं हो भी तो इस मछली प्रसंग का घट नायक की आधिकारिक कथा से कोई सीधा उपकारक सम्बन्ध नहीं जुड़ता। एक तो तब तक उपादान माटी का वह पर्याय ही स्व-सत्ता-आसादन नहीं कर सकता है, प्रक्रिया अवश्य चल रही है। मछली का अपना परमार्थ अवश्य सिद्ध हो जाता है। कल्पना की जाय कि यदि यह प्रसंग न भी होता तो घट नायक का मूल या अवान्तर प्रयोजन कहाँ विघटित होता अथवा उससे क्या सहकार मिलता ? ऐसी कथा जिसका आधिकारिक कथा पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं होता, असम्बद्ध ही मानी जायगी। अन्वय-व्यतिरेक से भी उसकी हेतुता सिद्ध नहीं होती। प्रबन्ध में य असम्बद्धता खटकती है। लगता है कि एक सैद्धान्तिक मान्यता का उपस्थापन करने के लोभ में यह प्रसंग थिगली की तरह आधिकारिक कथा में ऊपर से थोप दिया गया है। माटी से जो घट पर्याय रूप में उभरता है उसमें जल तो निमित्त है, पर मछली का योगदान क्या है ? इस प्रकार मछली न तो घट के उभरने में और न ही उसके द्वारा सम्पाद्य मुख्य-गौण प्रयोजनों में अपना कोई योगदान करती है। दूसरा प्रसंग है – मुक्तावृष्टि का। तृतीय खण्ड की यह प्रासंगिक कथा तपोनिष्ठ कुम्भ का परीक्षा प्रसंग है। जड़धी जलधि कुम्भकार की अनुपस्थिति में कुम्भ का अस्तित्व मिटाने के लिए बदलियों को भेजता है, पर प्रभाकर अपने प्रवचन से उनका हृदय परिवर्तन कर देता है। वे पति के प्रतिकूल वचन का तिरस्कार कर जगत्पति प्रभाकर की बात मान लेती हैं और उसे नष्ट करने की जगह उस पर-पक्ष की मुक्ता वर्षा से पूजा करती हुई लौट जाती हैं। बात फैलते-फैलते राजपरिवार तक जाती है। मण्डली अनुपस्थित कुम्भकार के प्रांगण में वृष्ट मुक्ताराशि को बलात् लूटती है। मणियाँ जहरीला प्रभाव पैदा करती हैं और अवसर देखकर कुम्भ व्यंग्य करता है। उपस्थित कुम्भकार--करुणालय कुम्भकार परिस्थिति को सूँघ कर समझ लेता है और तत्काल एक तरफ कुम्भ को उसके बड़बोलेपन पर फटकारता है तथा दूसरी ओर प्रजापति को सम्मान देता है, साथ ही बोरियों में मुक्ता भर कर उसके खजाने को समृद्ध कर देता है। यहाँ जल उपादान है, पर उसके मुक्ता रूप में पर्याय बनने का निमित्त क्या है ? निमित्त है पृथिवी कक्ष में उसका आना। यह चमत्कारी घटना है, कुम्भकार की दिव्य महिमा है। इस घटना से आधिकारिक कथा का यद्यपि उतना घनिष्ठ सम्बन्ध तो नहीं, पर मछली-प्रसंग की तुलना में तो है ही। कुम्भकार कुम्भ को उसके बड़बोलेपन का एहसास कराकर उसे मर्यादा में लाता है और साथ ही अपनी उदारता से उसमें अपने प्रति सद्भाव भी पैदा करता है। ये सभी बातें साक्षात्-असाक्षात् आधिकारिक कथा और मुख्य प्रयोजन से जुड़ जाती हैं। लेकिन इसमें मुक्ता अपना कौन सा स्वार्थ या परमार्थ सिद्ध करता है ? प्रासंगिक कथा की यह भी तो एक शर्त है। प्रासंगिक जब आधिकारिक से जुड़ता है तो इस जोड़ में दोनों का स्वार्थ साधन होता है। मुक्ता प्रसंग जैसे-तैसे परार्थसिद्धि से तो जुड़ता है पर आत्मसिद्धि क्या है ? हाँ, मुक्ता में कहीं मुक्ति की आलंकारिक गन्ध मान ली जाय, तो बात दूसरी है अथवा प्रजापति का भाण्डार समृद्ध करने में ही उसकी सार्थकता है।

कथावस्तु में पंचसन्धियाँ

कथावस्तु में अगली बात जो देखने की होती है वह है उसका पंचसन्धि समन्वित होना। सन्धियाँ पाँच हैं– मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श और निर्वहण। प्रत्येक सन्धि या खण्ड में एक 'अवस्था' और एक 'अर्थ प्रकृति' होती है। अवस्थाएँ भी पाँच हैं और अर्थ प्रकृतियाँ भी पाँच। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम – ये

पाँच अवस्थाएँ हैं। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य – ये पाँच अर्थ प्रकृतियाँ हैं। अवस्था और अर्थ प्रकृतियों का संचार करने से पूर्व पहले यह देखना आवश्यक है कि कथावस्तु के ये जोड़ सन्तुलित हैं या नहीं ? वैसे इस सन्दर्भ में यह बात पहले कही जा चुकी है कि कथावस्तु का जितना चुस्त-दुरुस्त विधान दृश्यकाव्य में होता है उतना श्रव्य के भेद महाकाव्य में नहीं होता। उसकी कथावस्तु की योजना अपेक्षाकृत शिथिल होती है। अत: आलोच्य कृति में भी सन्धि योजना शिथिल है। कथावस्तु में उसके विकास की सन्तुलित अवस्थाएँ होनी चाहिए। होता यह है कि कथावस्तु तो घटनाओं और व्यापारों की शृंखला है, जो नायक द्वारा सम्पाद्य होती है। इन व्यापारों का एक लक्ष्य होता है, वह चतुर्वर्ग में से अन्यतम या एकाधिक होता है। प्रस्तुत कृति में स्पष्ट ही 'स्व-भाव' में स्थिति या मोक्षलाभ जैसा चौथा पुरुषार्थ ही परम प्रयोजन है। 'माटी' ग्रन्थारम्भ में ही संकल्प लेती है और माँ धरती से प्रार्थना करती है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

और अन्त में :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

संकल्प उसकी पार्यन्तिक परिणति के मध्य सारा व्यापार चलता है। इस व्यापार में 'आरम्भ' अवस्था आती है। यहाँ मात्र औत्सुक्य होता है। औत्सुक्य है - कालाक्षमत्व। प्रयोजन की प्राप्ति के प्रति त्वरा का भाव। 'काया की च्युति कब होगी', के द्वारा वही कालिक व्यवधान की असहिष्णुता व्यक्त होती है। 'दशरूपक'कार कहता है :

"औत्सुक्यमात्रमारम्भ: फललाभाय भूयसे ॥" (१/२०)

तदनन्तर फलाभाव नायक को अतित्वरापूर्वक व्यापारशील, प्रयत्नशील बना देता है। 'माटी' का पर्याय घट शिल्पी की कृपा से सत्तासादन में जुट जाता है और तीसरे क्या चौथे खण्ड के आरम्भ तक उसे पूर्ण रूप से जलधारण रूप अर्हता की प्राप्ति के लायक बनने में चला जाता है। ऊपर से लगता है कि नायक अपने परिपक्व और परिणत रूप में चौथे खण्ड में आता है, जो समापन खण्ड है। मतलब प्रयत्नावस्था ही यहाँ तक आती है, पर अन्यापदेशी पद्धति पर दृष्टिपात करें तो स्पष्ट होता है कि जीव द्वारा तप:साधना पूर्वक बनने की प्रक्रिया का शुभारम्भ पहले ही खण्ड से आरम्भ हो जाता है, प्रयत्न का विन्यास वहीं हो जाता है। दूसरे खण्ड से 'प्रयत्न' के साथ, उपाय के साथ अपायों का भी आना आरम्भ हो जाता है। अपाय का वेग उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है। जल और अनल के हृदयवेधी आँधी-तूफान, जो उपसर्ग और परीषहों के प्रतीक हैं, अपनी काष्ठापन्न स्थिति में आते हैं और साधक का प्रतीक कुम्भ उसमें दृढ़तापूर्वक अटल है और परिणत तथा परिपक्व हो जाता है। लगता है कि अब गला-तब गला, किन्तु पुरुषार्थी को किसी न किसी का अवलम्ब मिल जाता है। अपायों की आँधी में बीज 'गर्भस्थ' हो-होकर 'विमर्श' करता हुआ संकल्पित के 'निर्वहण' के तट पर आ लगता है। उपाय और अपाय का यह लम्बा संघर्ष प्राय: अन्त तक चलता रहता है और 'विमर्श' तथा 'निर्वहण' के लिए आनुपातिक दृष्टि से जो आयाम मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता। इसे असन्तुलन कहें अथवा शान्त पर्यवसायी आध्यात्मिक यात्रा की गुरुता कहें, जहाँ उपेयदशा की अपेक्षा उपायों का ही वर्णन होता है।

संवाद योजना

यद्यपि ऊपर दिए गए महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में स्पष्ट रूप से 'संवाद' जैसे घटक का उल्लेख नहीं है, तथापि यहाँ इस शीर्षक से विचार करने के पीछे दो कारण हैं–एक तो यह कि प्रस्तुत कृति संवाद-प्रचुर है और दूसरे यह

कि महाकाव्य में संवाद होते ही हैं। कारण, इन संवादों से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं – पहला यह कि उससे कथा का विकास होता है और दूसरा यह कि उससे वक्ता या पात्र का चरित्रगत वैशिष्ट्य उद्घाटित होता है। कुम्भकार और वीतराग साधु को छोड़कर अन्य पात्र या तो मानवीकृत हैं अथवा मानव के प्रतीक हैं। सामान्यत: 'संवाद' दृश्यकाव्य की विशेषता माने जाते हैं, पर श्रव्यकाव्य में भी इनका अस्तित्व होता है। अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य में पात्र-नाम-निर्देश अलग रहता है और संवाद अलग। श्रव्यकाव्य में छन्दोबद्ध काव्य प्रवाह के भीतर ही पात्र नाम का अनुप्रवेश रहता है। दूसरा अन्तर यह होता है कि दृश्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है 'रंग-चेतना' उसका अविभाज्य अंग होती है। श्रव्यकाव्य जिस सर्जनात्मक अनुभूति का रूपान्तर होता है उसमें रंग-चेतना नहीं होती। यहाँ हम श्रव्यकाव्य के अन्तर्गत 'संवाद योजना' पर विचार कर रहे हैं।

आलोच्य काव्य की विशेषता यह है कि इसमें घटना व्यापार जितना है उससे कहीं अधिक संवाद योजना है और उसका कारण 'मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन' की चेतना है। सिद्धान्त घटनाओं और व्यापारों की तह में रहकर व्यंजित होते तो वह पद्धति अधिक काव्योचित होती, अपेक्षाकृत दो पात्रों के बीच अभिधा स्तरीय कथोपकथन के। पर शास्त्रकाव्य में तो यह वैशिष्ट्य होगा। रचयिता का प्रातिभ संरम्भ बार-बार इस उद्घाटन की ओर आता जायगा।

संवादों की विशिष्टता

संवादों की विशिष्टता और उपयोगिता के निकष स्वरूप निम्नलिखित बिन्दुओं को दृष्टिगत किया जाना उचित है :

१. वह कथा धारा के विकास में कहाँ तक सहायक है ?

२. वह अपने सम्प्रेष्य भाव और विचार में कितना सटीक और सक्षम है ?

३. उससे वक्ता के चरित्र का वैशिष्ट्य कैसा उभरता है ?

४. सैद्धान्तिक मान्यताओं के उद्घाटन में कितनी दूर तक खींचा गया है ? इस प्रवृत्ति से काव्यत्व बाधित और कथाधारा व्यवहित तो नहीं होती ?

आलोच्य कृति में सेठ विषयक पताका कथा से पूर्व कथावस्तु बहुत स्वल्प है और उसकी गति काफ़ी धीमी है। इन साढ़े तीन खण्डों में माटी से कंकर को अलग करना, जल का छाना जाना, जल और मिट्टी का मिलाव, रौंद कर लोंदा बनाना और चक्र पर चढ़ा कर कुम्भाकार परिणाम पैदा करना, तपन के ताप से जलीय अंश का सुखाना, फिर भी अवशिष्ट मल और दोषों का अग्नि द्वारा दाहन और तब उसकी परिपक्व परिणति–इतनी ही कथावस्तु या आधिकारिक कथावस्तु है। अवशिष्ट भाग में कथा की गति तेजी पकड़ती है। एकालाप, संवाद और लेखनी के स्वर ज़्यादा मुखर हैं। यह सही है कि सपाट घटना-व्यापार के प्रचुर उपस्थापन में जितनी शक्ति लगती है उससे कहीं अधिक उद्भावन क्षमता और उर्वर कल्पना की अपेक्षा इनमें है। जहाँ कुछ नहीं है वहाँ भी अपेक्षा से ज़्यादा निकाल लिया गया है। संवादों की संख्या सौ तक पहुँच गई है और अब तक के काव्य में जिस तरह के वक्ता-श्रोता कभी नहीं आ पाए, वैसे वक्ता-श्रोताओं की बाढ़ है। वक्ता श्रोता का ताँता कम पड़ता देख लेखनी स्वयं बोलने लगती है। इससे काव्यत्व बाधित हो या न हो, कथाधारा अवश्य व्यवहित हो जाती है। उदाहरणार्थ, द्वितीय खण्ड में पृ. ११३ में आरब्ध रौंदन क्रिया तीस पृष्ठों तक प्रसंगान्तर से व्यवहित होकर पुन: पृ.१६० में याद आती है। वैसे ऐसा नहीं है कि संवाद कथाधारा के विकास में योग न देते हों,देते हैं; अवश्य देते हैं। आलोच्य कृति की कथा का शुभारम्भ ही, आरम्भिक वर्णन छोड़ दें तो, संवाद से ही होता है–सरिता-तट की माटी और माता धरती के संवाद से। दोनों के बीच संवाद का क्रम चलता रहता है और यह चलता है काफ़ी दूर तक। कहाँ तक कहा जाय, ये सारे खण्ड संवादों से भरे पड़े हैं।

भाव और विचार के सक्षम संवाहक संवाद

संवादों में कहीं भावोद्गार हैं, कहीं वैचारिक अभिव्यक्ति है और कहीं घटना-सूत्र का संकेत। सरिता तट की माटी का आरम्भिक उद्गार कितनी करुणा लिए हुए है? कितनी दयनीयता है उसमें कि माता का हृदय पसीज जाता है और वह उसी स्तर से उद्बोधन देती है। माटी मुँह नहीं खोलती, हृदय खोलती है, इसीलिए उसका मर्मभेदी प्रभाव पड़ता है। यह बहिरात्मा का नहीं, अन्तरात्मा का उद्गार है। किसी भी स्थिति का जितनी ही गहराई से एहसास होता है कविता उतनी ही प्रभावकारी और बलवती होती है। माटी को वैभाविक बन्धजन्य वेदना का जिस गहराई से एहसास है, उसके वर्ण-वर्ण और उनसे घटित पद तथा वाक्य बोलते हैं। प्रायः कहा जाता है कि भाव की व्यंजक सामग्री का नियोजन होना चाहिए, न कि उसके वाचक शब्द का। इससे तो 'स्वशब्द-वाच्यत्व' दोष आ जाता है - देखें :

"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी और···आगे
कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !" (पृ. ४)

परन्तु जब वेदना अन्त - इयत्ताहीन हो तब अनुभविता बहुत लम्बा व्यंजक वक्तव्य नहीं दे सकता, अन्यथा कालिदास का कण्व शकुन्तला की भावी विदाई का गहराई से एहसास करता हुए अभिव्यक्ति के शिखर पर 'वैक्लव्यं मम तावदीदृशमिदं स्नेहादरण्यौकसः' कहकर मौन का पथ न पकड़ता। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शोक' का लक्षण देते हुए कहा है-"पुत्रादिवियोगमरणादिजन्मा वैक्लव्याख्याश्चित्तवृत्तिविशेषः शोकः" – अर्थात् वैक्लव्य नामक चित्तवृत्ति ही शोक है। इष्ट के नाश, इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति से करुण का आविर्भाव होता है, व्यंजना होती है। पण्डितराज कहते हैं कि पुत्र प्रभृति इष्टजनों के वियोग अथवा मरण आदि से उत्पन्न होने वाली व्याकुलता ही शोक है। माटी भी इष्ट की अप्राप्ति तथा अनिष्ट की प्राप्ति से विकलता का गहराई से अनुभव करती है, अतः उसे शोकसंविग्न कहा जा रहा है। उसमें शोक ही नहीं है, निर्वेद भी है। निर्वेद 'नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा' विषय-वैराग्य का ही दूसरा नाम है। उसकी वेदना की तह में वैराग्य भी मुखर है। निष्कर्ष यह कि जब वक्ता का अन्तस् भावों की निरवधि परम्परा से भर उठता है तब कालिदास की तरह उसी भाव को स्वशब्द वाच्य करके ही राहत पाता है, कहाँ तक उसका व्यंजन करें? माटी व्यवहार के प्रति सुप्त है और आत्मा के विषय में जागरूक है। श्रीमद् देवनन्दी-पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितन्त्र' में ठीक ही कहा है :

"व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे" ॥७८॥

इस प्रकार विभिन्न मानस भावों की संवादों द्वारा सशक्त व्यंजना की गई है। सन्त के संसर्ग में आकर आतंकवादी हृदय तक बदल जाता है और कहता है :

"समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है,/यहाँ सुख है, पर वैषयिक
और वह भी क्षणिक !" (पृ. ४८५)

इसमें भी नित्यानित्यविवेकजन्मा वैराग्य का भाव मुखर है। संवादों में भावजगत् भी लहराता है और विवेक तथा तत्प्रसूत मान्यताएँ तों मुखर हुई ही हैं। सन्त सद्गुरु अपनी प्रकृति और सम्बोध्य मुमुक्षु को दृष्टिगत कर निर्णीत मान्यता व्यक्त करते हैं :

"दूसरी बात यह है कि/बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

शान्त रस में निमग्न सन्त के इस तरह के संवाद मान्यताओं से आमूल-चूल बिखरे पड़े हैं। कहीं से भी उठाकर देखा जा सकता है।

संवादों द्वारा चरित्रगत वैशिष्ट्य का उद्घाटन

अगली बात जो संवादों के विषय में द्रष्टव्य है वह यह कि इन संवादों से वक्ता पात्र की चरित्रगत विशिष्टताएँ किस सीमा तक मुखर हैं ? इसमें सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के खलनायक भी बोलते हैं और धरती, सद्गुरु शिल्पी तथा वीतराग साधु भी बोलते हैं, कवि की लेखनी भी बोलती है। एक शब्द में कहूँ तो क्या नहीं बोलता है—सुनने और ग्रहण करने की शक्तियाँ जागरूक हों तो सभी कुछ न कुछ कहते हैं। बहिरात्मा को अपने अनुकूल और अन्तरात्मा को अपने अनुकूल विश्ववीणा से निर्गत ध्वनि श्रुतिगोचर होती है। अपनी-अपनी प्रकृतिगत विशेषता के कारण जैसा सुनते और ग्रहण करते हैं वैसा ही बोलते भी हैं। सागर, स्वर्ण कलश और आतंकवाद के संवादों में उनकी रौद्रवृत्ति, निर्ममता, अत्याचार परायणता, नि:सीम क्रूरता—सभी विशिष्टताएँ उभर आती हैं। कहीं से भी इनके उद्धरण लिए जा सकते हैं। विपरीत इसके मुमुक्षु घट और परिग्रहमुक्त सद्गुरु के भी अहिंसापरक शान्तिदायक वचन सुनने को मिलते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में बादल से गिरे मुक्ता को लोभवश बटोरने वाले राजा और राजमण्डली को मुमुक्षु घट का व्यंग्यपूर्ण वचन और अनुद्वेजक तथा मर्यादोचित शिल्पी के वचन—दोनों की प्रकृतिगत विशेषताओं को व्यंजित करते हैं। एक बनने की प्रक्रिया में है, अत: अन्याय का प्रतिकार व्यंग्य वचन से करता है जबकि दूसरा अपनी परम शान्त वृत्ति के छींटे डाल कर दोनों को पथ दिखाता है। उदाहरणों से निबन्ध का कलेवर तुन्दिल हो जायगा, अत: विरत रहना ही उचित है। जिज्ञासु पाठक मूल में ही उन पंक्तियों को देखें। संवाद भीगे भावों की अभिव्यंजना है, शास्त्रसम्मत मान्यताओं के प्रकाशक तो हैं ही। संवाद ही नहीं प्रभाकर के लम्बे-लम्बे 'प्रवचन' भी हैं।

वर्णनतत्त्व

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व 'वर्णन' है। 'वर्णन' और 'संवाद' महाकाव्य में व्याप्त भावधारा या संवेदना को उभारने में सहायक होते हैं। इसमें केवल संवाद, एकालाप, स्वगत और प्रवचन ही नहीं हैं, जिनसे मात्र सैद्धान्तिक मान्यताएँ रखी गई हों। ऐसा तब होता जब वह केवल 'शास्त्र' लिखते। रचयिता को इस बात या संकल्प का ध्यान है कि वह काव्य या प्रबन्ध काव्य दे रहा है, फलत: विचार की आँच में परिपक्व भावना, सन्तुलित कल्पना और विवेक परिचालित वर्णनतत्त्व का भी उसने ध्यान रखा है और अच्छा रखा है।

वर्णनाएँ

कृति के चारों खण्डों में रमणीय वर्णनाएँ हैं। प्रकृति वर्णन में प्रात:, सायं, रात्रि का, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म का, सागर, प्रभाकर, सुधाकर का, धरती, नारी, साधक और सन्त का, तप:प्रक्रिया और स्वप्न का, पात्र (सेठ) मुद्रा और माटी का तो मनोहर, चित्तावर्जक तथा ललित वर्णन है ही, सत् और असत् के पक्षधर और विपक्षियों का लोमहर्षक तथा भयावह संघर्ष भी वर्णित है। निष्कर्ष यह कि ये वर्णन काव्य को भावोद्दीपन की पीठिका प्रदान करते हैं जिससे काव्य की मूलभूत उपादान संवेदना रूपान्तरित होती है। एक रचयिता को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य संवेदना का रूपान्तरण होता है। वर्णन भी सपाट वर्णन नहीं है, भावना और कल्पना की रंगीनी लिए हुए इन्द्रधनुषी है। रचयिता जिसका जैसा भावदीप्त रूप प्रस्तुत करना चाहता है, वैसा वर्णन करता है—मृदु और कोमल भी, भयावह और कर्कश भी, चित्ताकर्षक और रमणीय भी और क्षोभकर और उद्वेजक भी, साथ ही आलम्बन चेतन का भी और

उद्दीपन अचेतन का भी। जीवन और संसार के कलात्मक उद्रेखण में दोनों का ही प्रसंग आता है।

प्रात:काल और सरिता वर्णन

ग्रन्थारम्भ में प्रात:काल और सरिता के ही वर्णन को लें। भावना और कल्पना की रंगीनी काव्योचित आकर्षण पैदा करती है। रचयिता कलाकार भी है और सन्त भी है। उसे इस बात का ध्यान है कि सांसारिक उद्वेग, व्यथा, वेदना और वैराग्य की माटीगत भावना के उद्दीपक रूप में प्रकृति सहायिका होकर पीठिका प्रस्तुत करे। ऊपर-नीचे चतुर्दिक् नीरवता छाई हुई है, ऐसे में साधक का मन शान्त रहता है। माया का ब्राह्म प्रहर है। उषा अपनी तरुणिमा में है। भानु और प्राची का दृश्य बिम्बविधान अनुभवैकगम्य है। यह कथन समासोक्ति के आलंकारिक आवरण में है। प्रस्तुत तन्द्रिल भानु की अरुणिम परिवेश में उदयोन्मुखता है और अप्रस्तुत माँ की मार्दव-निर्भर-गोद में लाल चादर ओढ़े जागरणोन्मुख तन्द्रिल शिशु की अँगड़ाई। इसी प्रकार प्रस्तुत है अरुणिम प्राची पर अप्रस्तुत है सिन्दूर-निर्भर-सीमन्त वाली गदराई सिंदूरी आभा की खुले माथ वाली तरुणी। इन अप्रस्तुत योजनाओं से लिपटी प्रकृति कितनी मनोरम है! उधर निमीलनोन्मुख कुमुदिनी और सामने आता प्रभाकर और अप्रस्तुत रूप में उस बिम्ब की कल्पना करें जहाँ निर्लज्ज परपुरुष के कर-स्पर्श के भय से अपने में सिमटती कुलीना स्त्री परिदृश्य से ओझल होते हुए पति के प्रति उभरी हुई सराग-मुद्रा और अंग पर छिटके राजस पराग को ढँक रही हो। कमलिनी भी अर्धोन्मीलित है, जहाँ अप्रस्तुत यह कि वह कुमुदिनी परपुरुष की दर्शनीया प्रभा को भी नहीं देखना चाहती। इस पर अर्थान्तरन्यास यह कि ईर्ष्या पर कौन विजयी बन सका है, वह भी जीव के स्त्री पर्याय में? यह तो अनहोनी है। यहाँ तिल-तुण्डलवत् दोनों अलंकरों की 'संसृष्टि' है, न कि सन्देह संकर, अंगांगिभाव संकर अथवा एकव्यंजकानुप्रवेश संकर। रात्रि का यह आलंकारिक लिबास कितना मनोहर है। यह सन्धि बेला है! तारापति चन्द्र का अनुगमन तारिकाएँ कर रही हैं, उन्हें शंका है कि परपुरुष दिवाकर कहीं देख न ले। प्रात:कालीन मलयानिल मचल उठा है, गन्धवह गन्ध बिखेर रहा है। आत्मचेता माटी कुछ रहस्य, कुछ एकान्त व्यथा अपनी माँ से कहना चाहती है और परिवेश उसे अनुकूल लग रहा है :

"पर की नासा तक/इस गोपनीय वार्ता की गन्ध/···जा नहीं सकती!"(पृ.३)

बगल में सरिता प्रवाहित है, पर वह अपनी धुन में गुनगुनाती अपने पति सागर की ओर गतिशील है। इस समय न निशाकर है न निशा, न दिवाकर है न दिवा और दिशाएँ भी अन्धी हैं। रहस्यवार्ता और एकान्त व्यथा के निवेदन के निमित्त इससे अधिक उपयुक्त परिवेश क्या हो सकता है? अप्रस्तुत में प्राची की शृंगारिक मुद्रा का ऐसे में भाना थोड़ा अवश्य खटकता है, पर रचनाकार रचनाकार भी होता है, सन्त तो है ही।

प्रकृति और सरिता का पुन: वर्णन

माटी की उद्दिष्ट महायात्रा के आरम्भिक क्षण में किया गया प्रकृति और सरिता का वर्णन कुछ ऐसा है जैसे वे सभी माटी का स्वागत कर रहे हों। प्रभात अपनी बहिन रात्रि को माटी के अभ्युदय से प्रसन्न होकर हर्षातिरेक से उपहार के रूप में कोमल कोपलों की हलकी आभा घुली हरिताभ की साड़ी देता है और इसे पहन कर जाती हुई वह अपने भाई प्रभात को सम्मानित करती है। इधर सरिता तट की ओर आती उन रजताभ लहरियों से, जो फूलों की अनगिन मालाओं का उपहास कर रही हों, माटी का चरण चूमती है। हँसमुख कलशी में फेन के व्याज से मानो दधि लेकर सरिता तट खड़ा है। तृण बिन्दुओं के व्याज से धरती के हृदय में माटी के लिए मानो करुणा उमड़ रही है और उसके अंग-अंग अपूर्व हर्ष-निर्भर-पुलक से नाच उठे हों। चारों तरफ उल्लास और प्रकाश है, रोष प्रशान्त है, दोष का ह्रास और गुणों के कोष का उदय है। यात्रा का सूत्रपात है न! इसलिए प्रकृति भी चारों ओर प्रसन्न और पुलकित-सी नज़र आ रही है।

शिल्पी स्वरूप वर्णन

माटी में जिस घट का परिणाम होता है, शिल्पन होना है, तदर्थ सन्त सद्गुरु मूर्तिमान् शान्तरस आता दृष्टिगोचर हो रहा है। रचयिता उसका नितान्त सन्तोचित रूप प्रस्तुत करता है। 'शिशुपालवध' में माघ कवि ने जिस प्रकार नारद का वर्णन किया है ठीक उसी रौ में प्रस्तुत रचयिता भी शिल्पी कुम्भकार का शनैः-शनैः अपनी आकृति में स्फुट-स्फुटतर उभरता हुआ समीप-समीपतर आता नज़र आ रहा है। उसमें अनन्य भाव और चाव भरे हुए हैं। उसके विशाल भाल पर, जो भाग्य का भण्डार है, कभी तनाव नज़र नहीं आता। उसमें कोई विकल्प नहीं है, विपरीत इसके दृढ़ संकल्प है। अर्थहीन जल्पना ज़रा भी नहीं रुचती उसे। वह एक कुशल शिल्पी है जो माटी में, माटी के कण-कण में निहित तमाम सम्भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करता है। वह अर्थ का अपव्यय तो क्या व्यय भी नहीं करता। यह शिल्प शिल्पी को अर्थ के बिना अर्थवान् बना देता है। इसने अपनी संस्कृति में कभी विकृति नहीं आने दी। इसके शिल्प में अब तक कोई दाग नहीं लगा। इसका नाम है – कुम्भकार, जो नितान्त सार्थक है, कारण, यह 'कुं'- धरती का 'भ'- भाग्य-विधाता है। कर्तव्यबुद्धि से सत्कार्य के प्रति जुड़े हुए इस शिल्पी में अज्ञान प्रसूत कर्तृत्वबोध का अहंकार नहीं है। वह शिल्प आरम्भ करता है। आगे रचयिता इस शिल्पन का इतिवृत्तात्मक वर्णन करता है।

शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म वर्णन

आलोच्य कृति के द्वितीय खण्ड में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म के भी वर्णन आए हैं। प्रसंग शिल्पन का चल रहा है जहाँ शिशिर से आरम्भ कर ग्रीष्म तक का वर्णन है। शिशिर के प्रतिकूल ठण्डक का परिवेश शिल्पी की निर्माणोपयोगी एकतानता को भंग नहीं करता, न ही शिल्पी शिशिर की ठण्डक का प्रतिरोध करता है। वस्तुतः दोनों की प्रकृति ठण्डी है, अतः संवाद है। शिशिर और तपन के बीच हेमन्त और वसन्त दब गए हैं - हेमन्त तो बिल्कुल ही, वसन्त का नाम भर है। ग्रीष्म या तपन की भयावहता और भीषणता का 'समुचितललितसन्निवेशनचारु' काव्यभाषा में प्रभावी वर्णन रेखांकनीय है। एक उदाहरण लें :

> *"कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी/पूरा निगलता हुआ दिखा,*
> *कभी-कभार भानु भी वह/अनल उगलता हुआ दिखा।/जिस उगलन में*
> *पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण/पूरा निखिल पाताल तल तक*
> *पिघलता गलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)*

इस तरह लम्बा वर्णन प्रसंगोचित ढंग से चलता है। इस दृश्य में ग्रीष्म का प्रचण्ड रूप मूर्त हो गया है। यदि यहाँ की संघटना सामासिक तथा वर्ण संयुक्त और महाप्राण होते तो प्रभाव और बढ़ जाता, ओजस्वी वर्ण्य की प्रकृति के अनुरूप होता।

अन्तिम दो खण्डों के वर्णन प्रसंग

तृतीय और चतुर्थ खण्डों में वर्णनों की प्रचुरता है। वहाँ प्रसंगगत सूर्य, सागर और सुधाकर, बदली, घन, पवन के साथ धरती और नारी की महिमा प्रसंगोचित रूप में वर्णित है। इसी प्रकार चतुर्थ खण्ड में भी घट की तपस्या, अतिथि का सात्त्विक स्वरूप तथा सेठ की गमन मुद्रा का अत्यन्त जीवन्त और प्रभावी वर्णन है। आलोच्य कृति के इन अन्तिम दो खण्डों में रचयिता की प्रतिभा का संरम्भ घट की तपस्या और तपोयात्रा का संघर्ष वर्णित है, जहाँ सत् और असत् पक्षधर प्रतीकों का प्रभावी और तुमुल युद्ध है। अन्ततः असत् पक्ष पर सत् की विजय दिखाई गई है, असत् के पक्षधरों का भी हृदय परिवर्तित हुआ है और आतंकवादी का हृदय भी विभाव से स्वभाव की ओर मुड़ना चाहता है। निष्कर्ष यह कि रचयिता वर्णनों से कृति में प्रतिपाद्य अंगी शान्त रस का प्रभाव मूर्त करने में भरपूर सहयोग प्रदान करता है। इस वर्णन से पाठक को यह शिक्षा मिलती है कि 'रामादिवत् वर्तितव्यम् न रावणादिवत्' – सन्त और सिद्ध घट की तरह व्यवहार

करना चाहिए न कि असाधु और असन्त स्वर्ण कलश और आतंकवादियों की तरह। इस संघर्ष वर्णन से दूसरी शिक्षा यह भी मिलती है कि नियति के बावजूद पुरुषार्थी साधक के दृढ़ संकल्प और पौरुष को देखकर दिव्य शक्तियाँ भी सहायक हो जाती हैं। कहा ही गया है : "न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः" – देवता भी सहायता का हाथ पुरुषार्थी की ओर तभी बढ़ाते हैं जब वे देखते हैं कि पुरुषार्थी साधक पुरुषार्थ करते-करते श्रान्त हो उठा है, पर अपने संकल्प और कर्तव्य लभ्य-प्राप्य पर अडिग है।

पात्र-नायक और चरित्र : पारम्परिक साँचे में धीरोदात्त नायक

महाकाव्य के लिए पारम्परिक साँचे में अगला तत्त्व जो अपेक्षित है वह है एक या अनेक लोक प्रसिद्ध, इतिहास प्रसिद्ध या पुराण प्रसिद्ध धीरोदात्त नायक। यह बात आरम्भ में कही जा चुकी है कि शायर - सिंह और सपूत लीक छोड़कर चलते हैं, पर पारम्परिक विरासत और सांस्कृतिक रिक्थ का निर्वाह करते हैं। नायक पौराणिक या ऐतिहासिक हो या न हो, महासत्ता अंशी धरती के अंश माटी का वह पर्याय अवश्य है, अन्तरात्मा जीव का प्रतिनिधि (घट) है। यह घट अनन्त सम्भावनाओं और अपरिमेय गुणों का आगार है। यह 'धीर शान्त' नायक है।

धीरोदात्त की सम्भावना

जब अंगी शान्त है तब उसका आश्रय शमप्रधान ही होगा, धीर शान्त ही होगा, न कि क्षत्रिय कुलोद्भूत प्रख्यात वंश का धीरोदात्त। यह तब होता जब अंगी वीर या शृंगार जैसा रस होता। वीर में लौकिक विजिगीषा होती है, शृंगारी में लौकिक राग। अथवा धीर शान्त की जगह 'धीरोदात्त' भी कहें तो क्या आपत्ति है ? 'नागानन्द' नाटक का नायक जीमूतवाहन धीरोदात्त ही तो है। यह सही है कि 'औदात्त्य' सर्वोत्कृष्ट वृत्ति का ही दूसरा नाम है जो विजिगीषुता के चलते ही सम्भव है। परमार्थ का साधक सन्त तो शमप्रधान होने से उससे उदासीन और 'निर्जिगीषु' ही प्रतीत होता है। यह तथ्य आलोच्य कृति से स्पष्ट है। वह आतंकवादियों से संघर्ष नहीं कर रहा है अपितु सेठ परिवार को यही परामर्श दे रहा है कि ये असत् पक्ष के प्रतिनिधि आतंकवादी षड्यन्त्र से उपद्रव करना चाहते हैं, अतः इनके घेरे से निकल भागना चाहिए। देखिए :

"कुम्भ ने कहा सेठ से कि/"तुरन्त परिवार सहित
यहाँ से निकलना है,/विलम्ब घातक हो सकता है"।" (पृ. ४२२)

असत् पक्ष के मूर्तिमान् विघ्न का प्रतीक स्वर्ण कलश ललकारता है :

"एक को भी नहीं छोड़ूँ,/तुम्हारे ऊपर दया की वर्षा
सम्भव नहीं अब,/प्रलय-काल का दर्शन/तुम्हें करना है अभी।" (पृ. ४२१)

उत्तरपक्ष : सपूर्वपक्ष– धीरोदात्त का

इसका संकेत झारी ने माटी के कुम्भ को दिया और कुम्भ ने परिवार को मौन संकेत दिया। सब भाग निकले। क्या यह 'औदात्त्य' है, विजिगीषुता है ? और नहीं है तो 'घट' नायक 'धीरोदात्त' कैसे ? यह तो शमप्रधान होने से परम -कारुणिक और वीतराग है, इसलिए धीरशान्त ही प्रतीत होता है। इन सबका समाधान यह है कि यद्यपि औदात्त्य सर्वोत्कृष्ट होकर रहने की वृत्ति का ही दूसरा नाम है, और वह विजिगीषुता है, तो वह भी नायक घट में विद्यमान है। विजिगीषु वह भी है जो शौर्य, त्याग, दया, दान, उपकार आदि सात्त्विक गुणों से दूसरों से आगे बढ़ जाता है। विजिगीषु केवल वही नहीं है जो परापकार पूर्वक परकीय अर्थग्रहण आदि में प्रवृत्त होता है। औदात्त्य की इस अवधारणा से तो मार्गदूषक भी धीरोदात्त हो जायगा। राम आदि को भी भूमिलाभ या राज्यलाभ हुआ है परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य है – लोक

- मंगल। इस निमित्त वह रावण जैसे दुष्ट का निग्रह करते हैं। उन्हें भूमिलाभ या राज्यलाभ या पत्नीलाभ तो आनुषंगिक प्राप्ति है।

धीरशान्त का सैद्धान्तिक पक्ष

घट जिस सन्त अन्तरात्मा या परमात्मा का अब प्रतीक बन चुका है, वह तो अपना सब कुछ दाँव पर लगा कर समर्पणशील सेठ परिवार की रक्षा अर्थात् लोक मंगल में परायण है। इस प्रकार तो वह सम्पूर्ण विश्व का ही अतिक्रमण कर रहा है। वह अन्तरात्मा या परमात्मा बन जाने पर विषय सुख में पराङ्मुख है। समस्त दु:खों के हेतुभूत वैषयिक सुख सम्बन्धी समस्त प्रकार की तृष्णा में निरभिलाष है, अत: उसने तो सभी को जीत लिया है। इससे बड़ा औदात्त्य क्या होगा ? इस पर से भी कहा जा सकता है कि आलोच्य कृति में शान्त अंगी है, जिसका स्थायी भाव 'शम' है और 'शम' 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' है। परसंसर्गज विकारों के क्षय से आत्मभाव में प्रतिष्ठित घट स्वभाव सुख-लाभ कर रहा है, अत: हर तरह से इसे 'शान्त' ही माना जाना चाहिए, तो इससे भी क्षति क्या है ? वास्तव में महाकाव्य का धीरोदात्त कम से कम शान्तरस प्रधान कृति में धीरशान्त का भी उपलक्षण है। यह नाट्य कृति नहीं है, यह श्रव्यकाव्य है। यहाँ जब 'शान्त' रस का होना पारम्परिक साँचे में विहित है तब उसके स्थायी भाव 'शम' का आश्रय 'धीरशान्त' का नायक होना भी मौन विधान ही है। निष्कर्ष यह कि यहाँ प्रतीक घट ही नायक है और वह धीर शान्त ही है। सम्पूर्ण कृति ही इसमें साक्षी है, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करने की अलग से कोई आवश्यकता नहीं है। वह इतना दृढ़ निश्चय है कि विघ्न और बाधाओं से आक्रान्त सेठ परिवार के उस प्रस्ताव को अस्वीकार कर देता है जिसमें नदी सन्तरण न कर वापस हो जाने की बात कही जा रही है। उसकी श्रद्धा, विश्वास, ज्ञान और चारित्र सभी मिलकर मुक्ति का मार्ग खोलते हैं। वह संघर्ष परायण, दृढ़ाध्यवसायी, अतिगम्भीर, महासत्त्व, अविकत्थन तथा दृढ़व्रत है। कृतिकार ने चतुर्थ खण्ड में वर्णित संघर्ष के दौरान उसकी चरित्रगत तमाम विशेषताओं का मुक्तकण्ठ अनावरण किया है। उसके दृढ़व्रत और अनुरूप व्यवसाय को देखकर विश्व की सभी अनुकूल तो अनुकूल, प्रतिकूल शक्तियाँ भी समर्पित हो जाती हैं। इस पर भी विनयी इतना कि वह कुम्भकार की ओर, कुम्भकार वीतराग साधु की ओर इंगित करते हैं कि इस सारी सफलता का श्रेय उन्हें है। उनका अभय और वरद हस्त उठा हुआ है।

नायक-नायिका की अन्यथा कल्पना

कुछ लोग कहते हैं कि यहाँ कुम्भकार में 'पुंस्त्व' और 'माटी' 'स्त्रीत्व' है और गर्भस्थ घट को बाहर निकालने का श्रेय कुम्भकार को है, अत: कुम्भकार को नायक तथा माटी को नायिका माना जाना चाहिए। यह पक्ष सुचिन्तित नहीं है। एक तो घट माटी से पृथक् नहीं, उसी का पर्याय है। कृतिकार को अभीष्ट भी यही है। दूसरे नायक वह होता है जो फलभोक्ता हो। मोक्षरूपी चतुर्थ पुरुषार्थ लक्ष्य है, फल है। इसे तपोनिष्ठ घट प्राप्त करता है, उपसर्गों और परीषहों का सामना उसे करना पड़ता है, इसलिए वही नायक है। कहा गया है :"फलभोक्ता तु नायक:।" दूसरे वह स्वयं फल भोक्ता बनकर नहीं रह जाता, सेठ परिवार को भी भव सरिता से पार उतार देता है। स्वयं तो अधीति, बोध और शोध करता ही है उसका लोक में, जिसका प्रतीक सेठ परिवार है, प्रचारण भी करता है। इस प्रकार स्वभाव स्थित घट चतुष्पाद प्रतिष्ठित है। मानव की सम्भावना जिन चार पादों पर स्थित होकर उपलब्धि बनती है, वे हैं—वे पूर्वोक्त— अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण। जैन प्रस्थान का आदर्श यही है। केवली से तीर्थंकर इसी माने में उच्चतर हैं कि एक आत्मकल्याण कर चुके हैं और दूसरे आत्मकल्याण करते हुए लोककल्याण भी करते हैं। सेवाभाव शुद्ध भावना है। निष्कर्ष यह कि कृति का नायक आचरण सम्पन्न प्रचारणरत सन्त का प्रतीक घट ही है। मार्ग से होकर मंज़िल तक पहुँचा हुआ घट ही है जो महामौन में डूबते हुए सन्त और माहौल को निहारता हुआ स्वयं पूर्णकाम और आत्मविश्रान्त है।

अंगीरस निरूपण अर्थात् भाव-योजना

उपर्युक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि आलोच्य कृति में अंगीरस शान्त है। पारम्परिक साँचे के लक्षण में भी अंगीरस के रूप में 'शान्त' का विधान है। इसका स्थायी भाव 'समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा' शम है। यह लक्षण अभिनव गुप्त का है। पण्डितराज का कहना है : "नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः" --तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद ही शान्त रस का स्थायी भाव है-- (नाट्यशास्त्र-अभिनव भारती) अर्थात् आत्मस्वरूप सुख नित्य, निरतिशय और स्वात्मस्वरूप है जबकि विषय-आत्मेतर-सुख अनित्य, सातिशय और पर-सापेक्ष है। इस प्रकार के दृढ़ विचार से उत्पन्न विषयविराग ही निर्वेद है और यह शान्त का स्थायीभाव है। वितृष्णीभावरूप चितवृत्ति विशेष ही निर्वेद है। निर्वेद संचारी भी है और स्थायी भी। पहला क्षणिक है और दूसरा स्थिर -- "वासनारूपाणाममीषां मुहर्मुहरभिव्यक्तिरेव स्थिरपदार्थत्वात्" (रसगंगाधर, प्र.आ.) क्षणिक निर्वेद गृहकलह आदि से उत्पन्न होता है पर दूसरा विचार करते-करते स्थिर प्रकृति का पैदा होता है। पहला लक्षण विध्यात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहले में 'तृष्णाक्षयसुखात्मा' माना गया है, दूसरे में 'वितृष्णीभाव' ही कहा गया है। एक विवाद यह भी है कि यदि स्थायी भाव चित्तवृत्ति विशेषरूप ही है और शान्त उसी का पुष्टरूप है तो वह निखालिस आत्मस्वरूपापत्ति स्वरूप नहीं होगा, जैसा कि धनिक ने 'दशरूपक' की टीका में कहा है। श्रुति भी उसे नेति-नेति के अन्यापोह रूप से ही कहती है। इस तरह के शान्त का आस्वाद तो मुक्त पुरुष ही मोक्षावस्था में कर सकते हैं, न कि सहृदयमात्र। इसलिए दूसरे लोगों का पक्ष है कि वहाँ तक पहुँचाने वाले उपाय का आस्वाद ही शान्त रस कहा जाय। यह उपाय अभावात्मक नहीं है, रस सुख स्वरूप है, अतः उसका स्वरूप 'सुखात्मा' ही होना चाहिए, विध्यात्मक होना चाहिए। काव्यास्वाद के रूप का शान्त और मोक्षावस्था के शान्त में उपाय और उपेय का अन्तर मानकर चलना चाहिए। इस पर यह भी समस्या उठ खड़ी होती है कि जैसे और रसों का स्थायी भाव इदानीन्तन और तदानीन्तन वासना के रूप में सहृदयों के हृदय में पहले से ही विद्यमान (जीवनानुभव क्रम में) रहते हैं, क्या उसी प्रकार वितृष्णीभाव भी रहता है ? समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा शम भी रहता है ? हाँ, सांसारिक विषयों की विरसता वर्णित हो तो सहृदय पाठक की चित्तवृत्ति बनती है। अस्तु।

प्रस्तुत काव्य में नित्यानित्यविचारजन्मा विषयवैराग्य घट में है। उसी से वह स्वरूप-सुख प्राप्ति के लिए प्रयत्न आरम्भ करता है और समस्त काव्य में उसका उपाय-तप-वर्णित है, जो मोक्षदशा में उपेय पर्यवसायी है। पार्यन्तिक दशा की अनुभूति मुक्त को होगी, आन्तरालिक दशा की सहृदय को। यहाँ आलम्बन है अनित्य विषयसुख।

जैन प्रस्थान में जगत् अनित्य नहीं है, अतः वेदान्तियों की भाँति वह आलम्बन नहीं हो सकता। शास्त्रश्रवण, तपोवन, तापस दर्शन आदि उद्दीपन हैं। विषय सुख में अरुचि, शत्रु-मित्र में उदासीनता, निश्चेष्टता, नासाग्रदृष्टि आदि अनुभाव हैं। ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिन्ता, उत्सुकता, दीनता और जडता आदि व्यभिचारी भाव हैं। 'अभिनव-भारती'कार का पक्ष है कि जब तीनों पुरुषार्थों के अनुरूप चित्तवृत्ति होती है तब महाभारतादि में अंगीरूप से प्रतिष्ठित शान्त के अनुरूप मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थोपयोगी चित्तवृत्ति भी होती है, होनी चाहिए। उनकी दृष्टि में 'शम' और 'वैराग्य' में भेद है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद या प्रत्येक स्थायी, या समुदित स्थायी शान्त का स्थायी नहीं है विपरीत इसके तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार को ही शान्तरस का स्थायीभाव माना जाना चाहिए। वैराग्य और संसार से पलायन आदि उस शान्त रस के विभाव हैं। मोक्षशास्त्र का विचार आदि उसके अनुभाव हैं। निर्वेद, धृति आदि व्यभिचारी भाव हैं। भक्ति और श्रद्धा भी इसी के अंग हैं। अभिनव गुप्त ने शान्त रस का विरोध करने वालों के पक्ष में अनेक युक्तियाँ दी हैं और फिर उनका खण्डन कर उसका सांगोपांग विवेचन किया है।

अभिनव गुप्त ने 'लोचन' और 'अभिनव भारती' में शान्त रस पर जमकर विचार किया है। विवाद न केवल

'शान्त' रस के (काव्य) नाट्यगत अस्तित्व पर है अपितु उसके स्थायी भाव पर भी है। उनका कहना है कि धर्म, अर्थ और काम की तरह मोक्ष भी एक पुरुषार्थ है जिसकी उपलब्धि के उपायों पर शास्त्रों में पर्याप्त चर्चा है। जिस प्रकार काम आदि तीन पुरुषार्थों के अनुरूप रति आदि चित्तवृत्तियाँ होती हैं और अनुरूप पोषक सामग्री से परिपुष्ट होकर संवादी सहृदय में आस्वाद्य होती हैं, उसी प्रकार मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप भी चित्तवृत्ति बनती है। यही चित्तवृत्ति रस्यमान होकर शान्त रस के रूप में निष्पन्न होती है। सवाल यह है कि इस चित्तवृत्ति का स्वरूप क्या है ? चित्तवृत्ति का स्वरूप होना इसलिए आवश्यक है कि 'भाव' (चित्तवृत्ति) वही होता है। भाव ही सामग्री पुष्ट होकर रस बनता है। अनेक प्रकार के पक्ष-विपक्ष रखते हुए अन्ततः उन्होंने माना है कि तत्त्वज्ञान ही, जो आत्मस्वरूप है, शमता है। सहृदयरसिक की दो स्थितियाँ हैं - 'समाधि' की और 'व्युत्थान' की। समाधि में ही 'शान्त' का अनुभव रहता है, आत्मा का अनुभव होता है, व्युत्थान में नहीं, परन्तु समाधि में चित्तवृत्ति का निरोध रहता है। पातंजल योगसूत्र के साक्ष्य पर उनका पक्ष है कि समाधि से उठकर व्युत्थान दशा में भी (समाधि दशा के अनुभव से जनित) संस्कार वश कुछ देर तक प्रशान्तवाहिता बनी रहती है। व्युत्थान में चित्त की प्रशान्तवाही वृत्ति सम्भव है। यही शान्त रस का अनुभव सम्भव है। इस तत्त्वज्ञानात्मक स्थायी के लौकिक-अलौकिक समस्त चित्तवृत्तियाँ व्यभिचारी हैं। तत्त्वज्ञान का अनुभव ही उसका अनुभाव है। ईश्वरानुग्रह प्रभृति विभाव हैं। जैन प्रस्थान में ईश्वर (ईश्वरकर्तृत्व की) की सत्ता नहीं है, अतः, जैसा कि ऊपर कहा गया है, आत्मेतर सुख की अनित्य भावना ही विभाव है।

इसी अभिनव गुप्त ने 'लोचन' में तृष्णाक्षयसुखरूप 'शम' को 'शान्त' कहा है, तब जब वह अनुरूप सामग्री से पुष्ट होता है। विषय मात्र की अभिलाषा की सार्वत्रिक निवृत्ति ही शम या निर्वेद है। विषय मात्र से छुटकारा पाने की इच्छा (चित्तवृत्ति) सात्त्विक स्वभाव के सहृदयों में तो होती ही है। यह भी एक प्रकार की निर्वेदात्मक चित्तवृत्ति या मनोदशा ही है। जो लोग सब प्रकार की चित्तवृत्तियों के प्रशम को शान्त का स्थायी भाव बताते हैं उनका पक्ष सुविचारित नहीं है। कारण, स्थायी भाव को भावरूप होने के लिए चित्तवृत्ति रूप होना आवश्यक है। चित्तवृत्तियाँ ही भाव कही जाती हैं। कुछ लोग भरत के "स्वं स्वं निमित्तमासाद्य..." इत्यादि को प्रमाण मानते हुए उस 'सामान्य चित्तवृत्ति' को शान्त का स्थायी भाव मानते हैं जिसमें किसी प्रकार का अवान्तर विशेष उत्पन्न न हुआ हो। इस पक्ष में सामान्य ही सही, कही तो गई है – चित्तवृत्ति ही। यह सही है कि 'शान्त' रस की पार्यन्तिक परिणति निश्चेष्टता में है, और अभिनय चेष्टा है। फलतः अनभिनेय कह कर उसका नाट्य में निषेध किया जाय तो यह बात सभी रसों पर लागू होगी। पार्यन्तिक परिणति में सभी अवर्णनीय हैं। पार्यन्तिक परिणति से पूर्व भूमि में (शान्त रस का अनुभव करने वाले जनक आदि पात्रों में) चेष्टा का होना दृष्टिगत है। इन लोगों में विक्षेप के न होने से चित्त का सदृश परिणाम देखा गया है। यह सदृश परिणाम ही प्रशान्तवाही स्थिति है, शान्त का अनुभव है। इस व्युत्थानकाल में शान्त रस (के आस्वादयिता) की चेष्टाएँ देखी जाती हैं। हाँ, यह अवश्य है कि इस रस का अनुभव वीतराग को ही होगा, सर्वसामान्य सहृदय को नहीं होगा। इसका खण्डन केवल इसलिए कर दिया जाय कि यह रस सर्वसामान्य के अनुभव में नहीं आता। जब किसी के अनुभव में आता है, तब उसका अस्तित्व कैसे नकार दिया जाय। वीर आदि रसों में इसका अन्तर्भाव भी सम्भव नहीं है। कारण है, उनमें अहंकार का सद्भाव जबकि शम में उसका प्रशम होता है। भट्टतौत प्रणीत 'काव्यकौतुक' के विवरण में अभिनव ने इस पर और भी प्रकाश डाला है।

'मूकमाटी' के चौथे खण्ड के अन्त में समर्पित आतंकवादी को भी आत्मसुख रूप शान्त के प्रति सन्देह है। सेठ परिवार के साथ आत्मोद्धार प्राप्त घट को देखकर धरती प्रसन्न होकर कहती है :

"सृजनशील जीवन का/वर्गातीत अपवर्ग हुआ।" (पृ. ४८३)

धरती की भावना सुनकर कुम्भ सहित सबने कृतज्ञता की दृष्टि से कुम्भकार की ओर देखा और निरभिमान प्रशान्त कुम्भकार ने कुछ ही दूर पर पादप के नीचे पाषाण फलक पर आसीन वीतराग साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। गुरुदेव ने प्रसन्न मन से अभय का हाथ उठाते हुए कहा :

"शाश्वत सुख का लाभ हो।" (पृ. ४८४)

यही शाश्वत स्वभाव सुख का लाभ शान्त रस का लाभ है। परन्तु आतंकवादी कहता है कि संसार के क्षणिक सुख का तो उसे अनुभव है परन्तु 'अक्षय सुख' पर उसे विश्वास नहीं हो रहा है। यदि वीतराग गुरुदेव अविनश्वर सुख पाने के बाद उसे उन्हें भी दिखा सकें, अपना अनुभव बता सकें, तो वह भी उसके प्रति आश्वस्त हो सके और अनुरूप साधना में उतरे। दल की धारणा सुनकर सन्त कहते हैं कि बन्धनरूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष नामक चरम पुरुषार्थ है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है। इस पर भी यदि उसे विश्वास न हो तो आचरण करके विश्वास पूर्वक वह उस जगह पहुँचे जहाँ वीतराग स्थित है, तभी उसे सन्त के वचन पर विश्वास होगा और वह अविनश्वर सुख भोगेगा। तभी विश्वास को अनुभूति मिलेगी, पर मार्ग में नहीं, मंज़िल पर। शान्त रस की अनुभूति वस्तुतः मुक्त को ही होती है, वीतराग को ही होती है, समाधि में भी और व्युत्थान में भी।

मुक्तिकामी जीव के प्रतीक घट में विषय-संसर्ग से उत्पन्न वैभाविक सुख के प्रति निर्वेद है, वैराग्य है। यही अनित्य भावना 'विभाव' है। घट कहता है, माटी का पर्याय घट :

- *"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ!" (पृ. ४)*
- *"इस पर्याय की/इति कब होगी?/इस काया की/च्युति कब होगी?*
  बता दो, माँ···इसे!" (पृ. ५)

कुम्भ–मुक्तजीव का प्रतीक–में शान्त का 'अनुभाव' जगह-जगह वर्णित हुआ है। गहन साधना और तप से उसका कषाय शान्त हो गया है, समस्त तृष्णा का क्षय हो चुका है, शम या तत्त्वज्ञान हो गया है एवं सभी प्रकार के उपसर्ग और परीषहों को वह पार कर चुका है। सेठ के यहाँ से भेजा हुआ सेवक जब उसके मुक्तभाव या परिपक्वावस्था की परीक्षा करता है, तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' की ध्वनि सुनाई पड़ती है, अर्थात् उसके रोम-रोम से यह ध्वनि निकल रही है कि समस्त प्रकार के दुःख आत्मा के स्वभाव में नहीं हैं। यह शान्त रस और मुक्त वीतराग का अनुभव ही तो है। सेठ के समुद्धार का सारा प्रयास 'शान्त' का प्रचारण ही तो है, उसका कार्य ही है। इन सब चेष्टाओं से उसमें शान्त या मोक्ष की प्रतिष्ठा प्रमाणित होती है।

रहे व्यभिचारी भाव, सो उनके विषय में भी देखना चाहिए। 'इस पर्याय की इति कब होगी'- इस पंक्ति में प्रयुक्त 'कब' पद से 'कालाक्षमत्व' रूप 'औत्सुक्य' नामक व्यभिचारी भाव की व्यंजना है। आलोच्य ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर अनेक संचारियों की व्यंजना हुई है। अभीष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का नाम 'हर्ष' है। इसकी व्यंजना उन पंक्तियों से है जिनमें इष्ट शिल्पी का अपनी तरफ आना वर्णित हुआ है :

"अपनी ओर ही/बढ़ते बढ़ते/आ रहे वह
श्रमिक-चरण···/और/फूली नहीं समाती।" (पृ. २५)

'हर्ष' की व्यंजना अनेकत्र है, वहाँ भी जहाँ घट अनेक परीक्षाओं से गुज़रता हुआ मंज़िल पा लेता है अथवा वहाँ भी जहाँ वह उपासक सपरिवार सेठ को पार लगा देता है। संस्कारजन्य ज्ञान 'स्मृति' है :

"छने जल से कुम्भ को भर कर/आगे बढ़ा कि/वही पुराना स्थान
जहाँ माटी लेने आया है/शिल्पी कुम्भकार वह !
परिवार-सहित कुम्भ ने/कुम्भकार का अभिवादन किया।" (पृ. ४८१)

पुरुष को पराभव महसूस हो और चेहरा विवर्ण या अधोमुख हो जाय तो जो मनोदशा होती है, उसे 'व्रीडा' कहते हैं। कुम्भकार के प्रांगण में मेघ-मुक्ता की ओर लपकती मण्डली और राजा को देख कुम्भ व्यंग्य कसता है, पर कुम्भकार उसके बड़बोलेपन पर प्रताड़ित करता है। तब कुम्भ को अपने किए पर 'व्रीडा' होती है :

"कुम्भकार ने कुम्भ की ओर/बंकिम दृष्टिपात किया !
आत्म-वेदी, पर मर्म-भेदी/काल-मधुर, पर आज कटुक
कुम्भ के कथन को विराम मिले/···किसी भाँति,/और
राजा के प्रति सदाशय व्यक्त हो अपना/इसी आशय से।" (पृ. २१८)

'धृति' वह मनोदशा है जिससे लोभ, शोक, भय आदि से प्रसूत क्षोभ का निवारण हो जाता है। इसमें विवेक, शास्त्र ज्ञान आदि विभाव होते हैं व चापल्य आदि का उपशम अनुभाव। घट की महायात्रा में ऐसे अनेक क्षण आते हैं जब वह उपसर्ग और परीषहों को धृतिपूर्वक सहन करता है। तपन, सागर की ओर से प्रेषित बदली, बादल तथा अन्तिम खण्ड में आतंकवादियों का आक्रमण—ऐसी अनेक भयावह घटनाएँ हैं जिनमें धृतिपूर्वक घट यात्रा तय करता है। स्वयं भी विवेक-प्रसूत धृति धारण करता है और सपरिवार सेठ को भी साहस तथा धृति प्रदान करता है।

"ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन/खुली आँखों से कुम्भ-समूह भी कर रहा।
पर,/कुम्भ के मुख पर/भीति की लहर-वैषम्य नहीं है।" (पृ. २५१)

'मति' का तो आगर है यह घट। मति वह मनोदशा है जो अर्थ का निर्धारण करती है और इस निर्धारण के पीछे शास्त्रीय विचार काम करते हैं। शंकाहीनता तथा संशय का उच्छेद आदि अनुभाव होता है। कठिन समय में शीघ्र निर्णय मति से होता है। इस प्रकार शान्त रस के पोषक – उपायावस्था के पोषक - साधनों का सम्यक् उपयोग हुआ है। व्यभिचारी भावों की पुष्कल अभिव्यंजना हुई है।

महाकाव्य के पारम्परिक साँचे में यह भी कहा गया है कि यहाँ एक अंगी रस तो होना ही चाहिए, अंग रूप में अन्य रसों का भी प्रयोग हो सकता है। अंग रूप में व्यंजित रस अपरिपुष्ट होते हैं। फलतः उन्हें औपचारिक रूप में ही रस कहा जाता है। अतिरिक्त अंग रूप रसों के स्थायीभाव व्यभिचारी भाव ही होते हैं।

आलोच्य कृति के दूसरे खण्ड में, जहाँ माटी का रौंदा जाना आरम्भ हुआ है—वहाँ, प्रसंगवश प्रायः नवों रसों की बात आई है। इन रसों की सत्ता तदनुरूप विभाव और अनुभावों की योजना से मूर्त हुई है। पर जैसा कि उपदेशपरक और विचारपरक इस कृति की प्रकृति रही है, ऐसे प्रसंग भी प्रकृति से प्रभावित हुए हैं। आश्रय और आलम्बन प्रायः यहाँ भी अचेतन हैं। फलतः अंगीभूत संवेदना का जिस तरह अंग बनकर इन्हें आना चाहिए, वैसे नहीं आ पाए हैं।

वीर रस

शिल्पी के आजानु पद से माटी लिपटी हुई है और लिपटन की इस क्रिया में महासत्ता माटी की बाहुओं से 'वीर रस' फूट रहा है और कह रहा है शिल्पी से कि वह अपनी विजय कामना की पूर्ति के लिए प्याला भर-भर कर पी ले। परन्तु शिल्पी का वीर्य उसको फटकारता है और सीख देता है कि विजय आग से नहीं पानी से शान्त रस की महायात्रा में

पाया जाता है। अहंकार आग है और विनम्रता पानी। आग पानी पर अपना असर दिखा सकती है पर पानी तो तब भी उसकी सत्ता समाप्त कर सकता है। वीर में अहम्भाव होता है, भले ही धीरोदात्त में वह विनयच्छन्न हो, शान्त में उसका अस्तित्व निःशेष हो जाता है। कुम्भकार शान्त रस का पक्षधर है। वह मानता है कि उसका कहीं भी अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इस प्रसंग में वीर रस की व्यंजना तो व्याज है। वस्तुतः शान्त के प्रतिपक्षी रूप में उसका नकार ही उपदिष्ट है।

हास्य रस

वीर रस की अनुपयोगिता पर शिल्पी का वक्तव्य सुन कर माटी की महासत्ता के अधरों से हास्य फूट पड़ा और उपहासास्पद बने वीर रस की महत्ता पर कुछ कह चला। शिल्पी ने हास्य का भी उपहास किया और उसकी भी अनुपयोगिता यह कह कर जताई कि खेद-भाव के विनाश हेतु भले ही हास्य उपयोगी हो, पर शान्त में उपयोगी वेद-भाव के विकास हेतु हास्य का त्याग ही अनिवार्य है। कारण, अन्ततः वह भी कषाय ही है। फिर हँसोड़ में कार्याकार्य का विवेक कहाँ होता है और शम के लिए नित्यानित्य के विवेक की परम आवश्यकता होती है।

रौद्र रस

शान्त के पक्षधर शिल्पी पर हास्य ने अपना प्रभाव जमते न देख कर रौद्र का स्मरण किया। अनुभाव वर्णना द्वारा रौद्र का प्राकट्य हुआ, महासत्ता माटी के भीतर से। शिल्पी ने उसे भी फटकारा और सौम्य मुद्रा में निर्भीक होकर बोला। एक है रुद्रता, जो विकृति है और दूसरी ओर भद्रता है, जो प्रकृति है। पहली समिट है और दूसरी अमिट। इस वक्तव्य से रौद्र रस अपनी भयावहता में और भयावह आकार ग्रहण करता है, जिससे शिल्पी में 'भीति' उदित हो, पर शिल्पी मतिमान् है। उसकी मति भीति का सामना करने को उद्यत है—एक सभय है, दूसरा अभय है। बीच में है उभयवती मति। मति अभया हो जाती है। यह शिल्पी पुरुष का प्रभूत प्रभाव है। शान्त के आगे उसका भी वश नहीं चला।

अद्भुत रस

यह एक असाधारण, फलतः अद्भुत घटना थी। ऐसी अद्भुत कि विस्मय को भी विस्मय हो आया। उसकी पलकें अपलक रह गईं और वाणी मूक हो गई।

शृंगार रस

विस्मय का भी शान्त पर कुछ प्रभाव चलते न देख शृंगार के मुख का आब उतरने लगा। शिल्पी को उन विषयान्ध शृंगारिकों पर तरस आया। कारण, वे विषय के अन्धकार में निमग्न हैं। शिल्पी की दृष्टि से रस तो शान्त ही है, शेष में परसंसर्गज विकार हैं। उनमें वैभाविक रस है जो वस्तुतः अरस है। शान्त रस के उपासक को रूप की नहीं, अरूप की प्यास रहती है, इसीलिए जड़ शृंगारों से उसे क्या प्रयोजन ? उसका संगीत संगातीत है और प्रीति अंगातीत। इस प्रकार शृंगार का भी निषेध्य रूप से वर्णन हुआ।

बीभत्स रस

स्वर की नश्वरता और सारहीनता सुनकर प्रकृति की नासा प्रवाहित होने लगी, बीभत्स के विभावों का जमघट लग गया। जिन अंगों को देखकर राग होता है, उन पर बीभत्स वैराग्य पैदा कर मानों वह भी शृंगार को नकार देता है। इस प्रकार बीभत्स शृंगार से हटाकर चेतना को शान्त रस की ओर उन्मुख कर देता है।

करुण रस

प्रकृति और लेखनी ही नहीं, स्वयं करुणा भी अपने बाल-स्वरूप कण-कण में उफनती संघर्ष परायण और ध्वंसावसायी भावों की स्थिति देखकर फफक उठती है। शिल्पी इस अति को देखकर स्तब्ध रह जाता है और कहता है औरों की तुलना में करुणा हेय नहीं, उपादेय है पर उसकी भी सीमा है। उसकी सही स्थिति समझनी है। दिशाबोधिनी

करुणा करने वाला और उसका पात्र बनने वाला, दोनों का मन घुलता है, दोनों कुछ अपूर्व अनुभव करते हैं:

"पर इसे/सही सुख नहीं कह सकते हम।" (पृ. १५४)

यह करुणा दु:ख का आत्यन्तिक क्षय नहीं कर सकती। इसलिए 'करुणा' में दु:ख का आत्यन्तिक क्षय करने वाले शान्त का अन्तर्भाव नहीं हो सकता। करुणा प्रभावित और प्रवाहित होती है। शान्त न प्रभावित होता है और न प्रवाहित। वह स्थिर है। रचयिता का ध्यान वर्णन करते समय प्रबोध पर अधिक रहता है। तभी रस का प्रसंग आने पर भी कहता है :

"विषय को और विशद करना चाहूँगा।" (पृ. १५६)

वात्सल्य रस

करुणा अलग भाव है और वात्सल्य अलग। इसमें गुरुजन आश्रय होते हैं और शिशु आलम्बन। महासत्ता माँ आश्रय है यहाँ। करुणा की भाँति यहाँ भी द्वैत होता है - आश्रय-आलम्बन का। अद्वैत मौन रहता है। यह भी क्षणभंगुर भाव है। अत: स्थायी और अविनश्वर शान्त का उसमें भी अन्तर्भाव सम्भव नहीं। वात्सल्य और करुणा ये दोनों ही लौकिक भाव हैं। सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है।

ऊपर रसों का अभिव्यंजन कम और वर्णन ही अधिक है, जिसमें रचयिता उनके संवेदनात्मक पक्ष को गौण रखकर शान्त को रसराज बताता हुआ वैचारिक पक्ष पर बल देता है। जिस प्रकार शास्त्रग्रन्थों में रस-सामग्री का वर्णन होता है, यहाँ बहुत कुछ वैसा ही है। कहीं-कहीं संवेदनात्मकता की भी छौंक है पर मूलत: झुकाव इस प्रतिपाद्य पर है कि शान्त अन्य रसों में अनन्तर्भुक्त तथा उनका उपमर्दी है। वह आत्मास्वाद रूप होने से और परसंसर्गज भावों से अलग है। घट, जिस साधक जीवात्मा का प्रतीक है उसमें शान्त रस और मोक्ष पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा ही रचयिता का लक्ष्य है। आश्रय में आरम्भ से ही नित्यानित्यविवेकजन्मा शम की प्रतिष्ठा है, वैभाविक सुख में वैराग्य है। एतदर्थ अपेक्षित सभी शास्त्रोक्त उपायों का सहारा लेता है, गुरु का मार्गनिर्देश पाता है। सभी प्रकार के कषाय अथवा विकारों का नाश करता है। यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी है कि शान्त की पार्यन्तिक स्थिति को वर्णन या व्यंजना में भी उतारना सम्भव नहीं, वह अनुभवैकगम्य है। उसकी उपायावस्था का ही वर्णन सम्भव है और वह हुआ है। और रसों की वासना सहृदय सामाजिक मात्र में है पर शान्त की या उसके स्थायी भाव (शम) की मुक्त में ही सम्भव है। इसके रसयिता परिगणित ही हैं। ऐसे प्रसंगों में समाधिस्थ हो जाते होंगे और फिर व्युत्थान में कुछ समय तक चित्त की प्रशान्तवाहिता रहती ही है।

वैचारिक पक्ष

'मानस तरंग' में रचयिता कहता है : "ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है और यह वह सृजन है जिसका सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आता है।" यही वैराग्य या निर्वेद नामक स्थायी भाव प्रकृत ग्रन्थ का अंगी रस है, यह बात पहले कही जा चुकी है। प्रयोजन की दृष्टि से मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ ही इसका प्रतिपाद्य है। शास्त्र की दृष्टि से मोक्ष और काव्य की दृष्टि से शान्त रस इसका प्रतिपाद्य है, इसीलिए यह कृति शास्त्रकाव्य है।

जैन प्रस्थान के इस शास्त्रकाव्य में काव्य के मूल उपादान संवेदना के घटक 'विचार' पक्ष का जहाँ तक सम्बन्ध है, रचयिता की मूल विचारधारा अपने प्रस्थान की होनी स्वाभाविक है। गन्तव्य (मोक्ष) के प्रति इस प्रस्थान में 'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र' समुदित रूप से 'मोक्ष' का 'मार्ग' है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष निष्पन्न नहीं होगा। पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर का उन्मेष होता है। 'दर्शन' 'ज्ञान' में कारण है और 'दर्शन' सहित 'ज्ञान'

'चारित्र' में। फिर तीनों सम्मिलित रूप से मोक्ष में साधन हैं, उपाय हैं। इसी के साथ यह भी जानना चाहिए कि यदि 'मुक्त' पुरुष में 'चारित्र' है तो 'ज्ञान' आवश्यक है और 'ज्ञान' है तो 'दर्शन' की सत्ता अनिवार्य है। मतलब 'आस्था' के साथ 'ज्ञान'-पूर्वक किया गया 'आचरण' ही अभीष्ट फल पैदा करता है। ज्ञानहीन की क्रिया और क्रियाहीन का ज्ञान व्यर्थ है और ये दोनों व्यर्थ हैं—आस्थाहीन के।

मोक्षमार्गी 'घट' जब 'मोक्ष' के लिए कथा के आरम्भ में ही अपनी गहरी अभीप्सा या संकल्प सच्चे दिल अथवा मुक्त हृदय से व्यक्त करता है तब अनुरूप प्रतिध्वनि महासत्ता धरती से निकलती है। वह सबसे पहले 'आस्था' अर्थात् 'सम्यग् दर्शन' की ही बात करती है। वह कहती है—'प्रति सत्ता में अपरिमेय सम्भावनाएँ होती हैं जो अनुरूप निमित्त पाकर चरितार्थ होती हैं।' 'सबसे पहले रहस्य में पड़ी इस गन्ध का अनुपान 'आस्था की नासा' से करना होगा' (पृ.७-८); 'आस्था से वास्ता होने पर रास्ता स्वयं शास्ता होकर सम्बोधित करता हुआ साधक को साथी बन साथ देता है' (पृ. ९); 'साधना की अँगुलियाँ जब आस्था के तारों पर चलती हैं तभी सार्थक जीवन में स्वरातीत सरगम झरती है' (पृ. ९)। गम्भीर साधना की ज्वाला से जब घट की आत्मा का समग्र विकार क्षीण हो जाता है और सेठ का सेवक उस परिपक्व घट की परीक्षा करता है तब उसमें से 'सा-रे-ग-म-प-ध-नि' यानी 'सारे गम पद नहीं' का स्वर सुनाई पड़ता है, अर्थात् आत्मा का स्वभाव समस्त दुःखों से मुक्त है। वह नित्य निरतिशय आनन्द स्वरूप है, यह स्पष्ट हो जाता है। उसके समस्त बन्ध हेतु— मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग- क्षीण हो चुके हैं। उसमें 'सम्यक् ज्ञान' का उदय हो चुका है। वह साधना के सभी गुणस्थानों पर आरूढ़ हो चुका है। जब तक साधक स्व-भाव में प्रतिष्ठित नहीं हो जाता तब तक आत्यन्तिक मुक्ति सम्भव नहीं है। जब साधनात्मक मन्थन से नवनीत दधि से बाहर आ गया, तब फिर उससे मिलकर सांकर्य की स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता। चतुर्थ खण्ड में घट के सभी आवरक कर्मों का क्षय हो चुका है, अतः वह सम्यक् ज्ञानी है। वह प्रमाण तथा नयों द्वारा सभी तत्त्वों— जीव, अजीव (धर्म, अधर्म, काल, आकाश) आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष- का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके ज्ञान में संशय, विपर्यास तथा अनध्यवसाय नहीं होता। तत्त्वतः चारित्र आत्मा का स्वरूप ही है। अतः उसकी अभिव्यक्ति दर्शन और ज्ञानगत सम्यक्त्व से होती है। पंच महाव्रत इसी स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए हैं। सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए साधक को जिस नैतिक उन्नति के अनुसार आगे बढ़ना पड़ता है, वे ही मोक्षमार्ग के सोपान चतुर्दश गुणस्थान हैं। आलोच्य कृति के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डों की समस्त साधना की व्याख्या इनके आलोक में की जा सकती है। सम्यग् ज्ञानी से आचरण या चारित्र वैसे ही फूटता है जैसे पुष्प से गन्ध। मुक्त घट शरणागत सेठ परिवार की मुक्ति में स्वयं प्रवृत्त होता है। 'मोक्षशास्त्र' में कहा गया है कि कषाय, पाप और व्यसन आदि संसार के कारणों से विरक्त होना तथा देव पूजा, दान आदि शुभ क्रियाओं में प्रवृत्त होना सम्यक् चारित्र है।

कुम्भ कहता है :

> *" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में*
> *जानना ही सही ज्ञान है,/और/'स्व' में रमण करना*
> *सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)*

आगे वह अपनी प्रकृति का परिचय देता हुआ झारी से कहता है :

> *"किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं,/सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी*
> *इसी का नाम तो समता है।" (पृ. ३७८)*

जैन प्रस्थान में तीर्थंकरत्व ही सेवा का आदर्श है। केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में और सिद्धिलाभ चौदहवें गुणस्थान को पार करने पर होता है। सामान्यत: केवलज्ञान पाकर भी उसे सभी प्राणियों में देने का कार्य नहीं होता, पर यह तीर्थंकर में अवश्य ही होता है, जो एक प्रकार से सेवा भाव है। ब्राह्मण धर्म का सद्गुरु, बुद्ध धर्म का सम्बुद्ध और जैन प्रस्थान का तीर्थंकर भी सेवा या निष्काम कर्म का परम आदर्श है। जब तक जीव का ग्रन्थिविच्छेद नहीं होता तब तक शुद्धिलाभ नहीं होता। शुद्धिलाभ की पूर्णता तीर्थंकरत्व में ही है। जिस जीव में ग्रन्थिविच्छेद होते ही विश्ववेदना का अनुभव होने लगे, फलत: उसकी निवृत्ति में संलग्न हो जाय, वही जीव तीर्थंकर हो पाता है और वही सेवा का उच्च आदर्श प्राप्त कर सकता है। केवलज्ञान प्राप्त करने के बाद सिद्ध घट अपने प्रति समर्पित (सेठ परिवार) के उद्धार में संलग्न हो जाता है। इसी सेवाभाव और चारित्र में कृति परिसमाप्त होती है। कृति की परिसमाप्ति में सन्त की धारणा है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ. ४८६)

साधक के संकल्प की यह निष्पन्नता है।

साधक घट की सम्यक् श्रद्धा कैसी है–निसर्गज अथवा अधिगमज ? अनन्त सम्भावनाओं का उपादान तो वह है, पर निमित्त कौन है ? मोक्ष, इस बन्धन से कैसे प्राप्त हो–यह बेचैनी तो घट में सहज है, परन्तु तदर्थ अपेक्षित मोक्षमार्ग का निर्देश कौन करे ? सम्यग्दर्शन कैसे और कहाँ से आए ? इस कृति में अपनी ही अंशी धरती के उपदेश से आस्था या श्रद्धा की नासा घट को मिलती है, अत: अधिगमज ही कहा जा सकता है।

ब्राह्मण प्रस्थान में उपादानगत सम्भावनओं को मूर्त होने के लिए पारमेश्वर अनुग्रह की आवश्यकता नहीं है। कारण, वहाँ अतिरिक्त ईश्वर की कल्पना ही नहीं है। संसार अनादि है। उसके निर्माण के लिए ईश्वर की अपेक्षा नहीं है। 'मानस तरंग' में इसकी सम्यक् उपस्थापना की गई है। यहाँ केवल उपादान है और उसमें निहित सम्भवानाओं को मूर्त होने में निमित्त कारण भी हैं, जिनमें से कुछ उदासीन होते हैं और कुछ प्रेरक। उनका प्रतिबन्ध राहित्य तो अपेक्षित है ही, सामग्रय भी अपेक्षित है। आलोच्य कृति में अपने प्रस्थान की अनेक दार्शनिक और पारिभाषिक पदावलियाँ प्रयुक्त हुई हैं, उन सब पर विचार इस संक्षिप्त भूमिका में सम्भव नहीं है। ग्रन्थकार की तो प्रतिज्ञा ही है कि यहाँ काव्योचित और रोचक पद्धति पर सैद्धान्तिक मान्यताएँ निरूपित की जायँ, फलत: वे संवादों से भरी पड़ी हैं।

आचार्यश्री ने भारतीय ही नहीं, प्राय: विश्व के सभी दर्शनों में बहुचर्चित 'नियति' और 'पुरुषार्थ' का द्वन्द्व भी उठाया है और अपनी चिर परिचित निरुक्ति पद्धति का भी सहारा लिया है। 'नियति' और 'पुरुषार्थ' की विभिन्न व्युत्पत्तियाँ सम्भव हैं। चतुर्थ खण्ड में सेठ अतिथि सद्गुरु से प्रार्थना करता है :

"कैसे बढ़ूँ मैं···अब···आगे !/क्या पूरा का पूरा आशावादी बनूँ ?
या सब कुछ नियति पर छोड़ दूँ ?/छोड़ दूँ पुरुषार्थ को ?
हे परम-पुरुष ! बताओ क्या करूँ ?/...कर्ता स्वतन्त्र होता है–
यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?" (पृ.३४७-३४८)

सद्गुरु उत्तर देते हैं :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन – स्थिरता है

अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,
और/'पुरुष' यानी आत्मा – परमात्मा है
'अर्थ' यानी प्राप्तव्य – प्रयोजन है/आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।'' (पृ. ३४९)

यह आचार्यश्री की प्रौढ़ोक्ति है। रेखांकित पंक्तियाँ उनकी दृष्टि से नियति और पुरुषार्थ का स्वरूप स्पष्ट करती हैं। इसे प्रकृत प्रस्थान के वैचारिक आलोक में सविस्तार देखना चाहिए।

जैन दर्शन में नियति और पुरुषार्थ

अमृतचन्द्र सूरि ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में अनादि बन्ध का वर्णन करते हुए कहा :

''जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि''॥१३॥

जीव द्वारा किए गए राग-द्वेष-मोह आदि परिणामों के निमित्त पाकर पुद्गल परमाणु स्वतः ही कर्म रूप से परिणत हो जाते हैं। आत्मा अपने चिदात्मक भावों से स्वयं परिणत होता है, पुद्गल कर्म तो उसमें निमित्त मात्र है। जीव और पुद्गल एक दूसरे के परिणमन में परस्पर निमित्त होते हैं। पूर्व कर्म से रागद्वेष और रागद्वेष से पुद्गल कर्मबन्ध की धारा बीज वृक्ष की सन्तति की तरह अनादिकाल से चल रही है।

पूर्वकर्म के उदय से राग-द्वेष की वासना और राग-द्वेष की वासना से नूतन कर्मबन्ध का चक्र कैसे उच्छिन्न हो, यही मूल रोग है। वस्तुतः पूर्वकर्म के उदय से होनेवाला कर्मफलभूत राग-द्वेष-वासना आदि का भोगना कर्मबन्धक नहीं होता, किन्तु भोगकाल में जो नूतन राग-द्वेष रूप अध्यवसान भाव होते रहे हैं, वे बन्धक होते हैं। ऐसा होता है मिथ्यादृष्टि को न कि सम्यग्दृष्टि को। सम्यग्दृष्टि का भोग नई वासना पैदा नहीं करता। वह पूर्व कर्म को शान्त करता है और नूतन पैदा नहीं होने देता। मलतब सम्यग्दृष्टि का कर्मभोग निर्जरा ही नहीं, संवर का भी कारण बनता है।

आत्मा का स्वरूप उपयोग है। आत्मा की चैतन्य शक्ति को 'उपयोग' कहते हैं। यह चितिशक्ति बाह्य-आभ्यन्तर कारणों से यथासम्भव ज्ञानाकार पर्याय को और दर्शनाकार पर्याय को धारण करती है। जिस समय चैतन्य शक्ति ज्ञेय को जानती है उस समय साकार होकर 'ज्ञान' कहलाती है तथा जिस समय मात्र चैतन्याकार रहकर निराकार रहती है तब 'दर्शन' कहलाती है। दर्शन और ज्ञान, क्रम से होने वाली पर्यायें हैं। निरावरण दशा में चैतन्य अपने शुद्ध चैतन्य रूप में लीन रहता है। इस अनिर्वचनीय स्वरूपमात्र प्रतिष्ठित आत्ममात्र दशा को ही 'निर्वाण' कहते हैं। निर्वाण अर्थात् वासनाओं का निर्वाण। आत्मदृष्टि ही बन्ध का उच्छेद करती है। बुद्ध को आत्मा से चिढ़ है। वह उस आत्मसम्बन्धी नित्य दृष्टि को ही सर्व अनर्थमूल मानते हैं। वास्तव में सर्व अनर्थमूल आत्मस्वरूप का अन्यथावबोध है।

धर्म, अधर्म, आकाश और असंख्य कालाणु का सदृश परिणमन ही होता है पर रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुण वाले पुद्गल परमाणुओं का शुद्ध परिणमन तो होता ही है, स्कन्धात्मक अशुद्ध परिणमन भी होता है। स्थूल शरीर और कर्ममय सूक्ष्म शरीर से बद्ध जीव का विभावात्मक या विकारी परिणमन होता है, पर स्वरूप बोध हो जाने पर शरीरों के उच्छिन्न होने से शुद्ध चिन्मात्र रह जाता है। फिर उसे अन्यत्र अहंकार या ममकार नहीं होता। धर्मकीर्ति का यह वक्तव्य

ठीक नहीं है :

''आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ ।
अनयोः संप्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥'' प्र.वा.- १।१२१ ॥

आत्मा तीन प्रकार के हैं – बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीरादि परपदार्थ में आत्मबुद्धि है तो बहिरात्मा, सम्यग्दृष्टि की पर-पदार्थ से आत्मबुद्धि हट गई है सो अन्तरात्मा और वही क्रमशः परमात्मा हो जाता है।

जीव और अजीव का योग ही बन्ध है और मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पाँच उसके कारण हैं। असम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टि है। अविरति- व्रताचरण का अभाव, विशिष्ट रति का अभाव है। प्रमाद असावधानी है। क्रोध, मान, माया और लोभ कषाय हैं। काय-वचन एवं मन का कर्म यानी कार्य ही योग है। बन्धन-मुक्ति ही मोक्ष है, जो इन कारणों के हटाने से सम्भव है। मोक्ष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र—तीनों के होने से होता है, चारित्र शून्य मात्र सम्यग्ज्ञान या मात्र सम्यग्दर्शन से नहीं। वैदिकधारा मात्र ज्ञान से ही मुक्ति मानती है।

स्वरूपप्रच्यव मिथ्या दृष्टि से होता है, अतः सर्वविध पतन का मूल कारण वही है। इसलिए सम्यक् दृष्टि होना आवश्यक है। यह हो कैसे ? द्रव्यगत शक्तियाँ नियत हैं पर उनके परिणाम अनिवार्य होकर भी अनियत हैं। परिणमन निमित्त के सद्भाव पर निर्भर करता है। जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य का ही खेल यह जगत् है। दोनों परस्पर के परिणमन में निमित्त हैं और दोनों की अपनी शक्तियाँ नियत हैं। इन्हें कोई कम-ज़्यादा नहीं कर सकता। वहाँ हमारा पुरुषार्थ काम नहीं दे सकता। हमारा पुरुषार्थ सम्भावना को उपलब्धि का आकार देने में है, कोयले के हीरापर्याय के विकास में है। कोयले में यह सम्भावना है। जब कर्मबन्ध और तदनुरूप निमित्तवश प्रत्येक जीव का प्रतिसमय कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नहीं, स्वकर्तृत्व भी नहीं है, तब पुरुषार्थ क्या अर्थ रखता है ? स्वातन्त्र्य कहाँ है पुरुषार्थ का ? नियतिवाद में पुरुषार्थ कहाँ है ? उपादान में जैसी योग्यता होगी और निमित्त जैसा मिलेगा, वैसा होगा। इस नीरन्ध्र-लौहचक्र में स्वातन्त्र्य कहाँ ? पुरुषार्थ कहाँ ? पाप-पुण्य कहाँ ?

परिणमन नियत है, पर जिस हेतु से नियत है, उसे हेतु बनने में तीन कारण हैं—एक तो वह कार्य से अव्यवहित 'पूर्वक्षण में विद्यमान' हो, दूसरे 'अप्रतिबद्ध' हो, तीसरे 'अविकल' हो। रागादि कषाय का, जिन का उपादान आत्मा है, निमित्त पुद्गल हैं, अतएव रागादि कषाय या वासना पौद्गलिक कहे जाते हैं। अध्यात्म उभयविध कारण से कार्य होता है, यह मानता है, पर यह उपादान का सुधार चाहता है, उसकी दृष्टि इसी पर रहती है। अतः वह प्रतिसमय अपने मूलस्वरूप की याद दिलाता रहता है कि तेरा स्वरूप तो शुद्ध है, ये रागादि कुभाव परनिमित्त से उत्पन्न होते हैं, अतः पर निमित्तों को छोड़। इसी में अनन्त पुरुषार्थ है, न कि नियतिवाद की निष्क्रियता में। कार्य मात्र के लिए उपादान और निमित्त—दोनों कारण हैं। दोनों की समग्रता ही द्रव्यगत निजस्वभाव है। यह सही है कि अध्यात्मनिष्ठ पुरुष के लिए बाह्य निमित्त गौण हैं। मोक्ष के लिए दोनों आवश्यक हैं। स्वामी समन्तभद्र ने 'स्वयम्भू-स्तोत्रम्' में कहा है :

''बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।
नैवाऽन्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाऽभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्'' ॥६०॥

जीव के भावों के निमित्त से पुद्गलों का कर्मरूप पर्याय होता है और पुद्गलों के कर्मरूप पर्याय से जीव रागादि रूप से परिणमन करता है। उपादानदृष्टि से आत्मा अपने भावों का कर्ता है। पुद्गल के ज्ञानावरणादि रूप द्रव्यकर्मात्मक परिणमन का कर्ता नहीं है। अहंकार या ममकार घातक है। उपादान आत्मा के गुण-विकास में हमारा स्वातन्त्र्य है, पर वे गुण यदि आत्मा में न होते तो क्या मैं पैदा कर लेता ? या अनुरूप निमित्त न मिलता तो उपादान में भी सम्भावित गुणों

का विकास हो पाता ? पुरुषार्थ में इस प्रकार निश्चय नय से स्वातन्त्र्य है, पर इसका अहंकार नहीं होना चाहिए। साथ ही उपादान योग्यता के ही सब कुछ होने से अध्यात्म का अकर्तृत्व भी है। निश्चय नय वस्तु की परनिरपेक्ष स्वभूत दशा का वर्णन करता है जबकि व्यवहार नय परसापेक्ष अवस्थाओं का। निश्चय नय से आत्मा अकर्ता है, व्यवहार नय से कर्ता।

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः" (कल्याणमन्दिरस्तोत्रम्, ३८)- भावशून्य क्रियाएँ सफल नहीं होतीं। यह भाव है--निश्चय दृष्टि। निश्चय नय परनिरपेक्ष आत्मस्वरूप को कहता है। उसकी दृष्टि परम वीतरागता पर रहती है। वे ही क्रियाएँ मोक्ष में सार्थक हैं जो परम वीतरागता की साधिका और पोषिका हैं।

इस प्रकार नियति और पुरुष के स्वातन्त्र्य से पुरुषार्थ--दोनों का सहभाव निरूपित किया जाता है और उसकी ग्रन्थि सुलझाई जाती है।

आलोच्य कृति में दर्शनोचित चिरन्तन चिन्तन के तो विभिन्न पक्ष चर्चित हैं ही, जिन पर स्वतन्त्र ग्रन्थाकार लेखन सम्भव है, उनके साथ समकालीन समस्याओं पर भी प्रकाश डाला गया है। उनकी भी संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक होगी। ऐसे प्रसंग अधिकांशतः चतुर्थ खण्ड में हैं। उदाहरणार्थ :

(क) माटी और धरती की महिमा
(ख) अवाम का महत्त्व
(ग) नारी महिमा और उनकी वर्तमान स्थिति
(घ) परिग्रहवृत्ति और तज्जन्य शोषण का ताण्डव
(ङ) आतंकवाद और मानवता
(च) स्टार वार का संकेत
(छ) बरनाला प्रभृति अन्य प्रासंगिक और सामयिक संकेत

रचयिता अपने समय की समस्याओं से कैसे तटस्थ रह सकता है ? उसका ध्यान उपलब्धियों पर तो है, पर उससे ज़्यादा वह सम्भावनाओं को काव्य का विषय बनाता है, गगन की अपेक्षा धरती का यशोगान करता है, कर की अपेक्षा पाँव का महत्त्व निरूपण ज़्यादा करता है। सम्भावना किस तरह संघर्ष करती हुई उपलब्धि बनती है, इसको गाथाबद्ध करता है। उसका नायक स्वर्ण का घट नहीं, माटी का घट बनता है। आज का युग माना कि बौनों का है, आज हमारा विश्वमंच महान् विभूतियों के प्रकाश से कम, हैवानों के अन्धकार से ज़्यादा घिरा है। परिग्रही और स्वार्थान्धवृत्ति समाज में शोषण और विश्वमंच पर आतंकवाद और स्टार वार की विभीषिकाएँ पैदा कर रही है। नारी और गरीब त्रस्त हैं। स्वर्ण का वर्चस्व है। उसके पास भौतिक हैवानियत भरी ताकत है। वह इन्सान पर अपना रक्तिम पंजा जमाए हुए है। पाणिग्रहण के बाद प्राणग्रहण हो रहा है। रचयिता इन सभी समस्याओं का समाधान आत्मवादी प्रस्थान में देखता है। पदार्थवादी वैज्ञानिक चिन्तन 'भौतिकता' को ही काम्य बनाता है जो अपनी विनश्वरता और सीमाओं में अपर्याप्त पड़कर दुर्निवार और हैवानियत भरे संघर्ष को आमन्त्रित करता है। यदि हमें इन सब समस्याओं पर विजय पानी है तो चेतनावाद की शरण में जाना ही होगा। वहाँ ऐसी सम्पत्ति है जो अविनश्वर है, पर-निरपेक्ष है, नित्य और निरतिशय है तथा अविनश्वर और सारवान् है। इसीलिए ग्रन्थ समाप्त करता हुआ रचयिता सन्त के स्वर में कहता है :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८८)

इस प्रकार कृति का वैचारिक पक्ष न केवल आमुष्मिक अपितु ऐहिक पक्ष से भी समृद्ध है।

प्रस्तुत कृति का भाषापक्षीय विवेचन

भाषा यदि सम्प्रेषण का माध्यम है तो कवि की कल्पना के लिए ऐसा विश्व में कुछ भी नहीं है जो कुछ न कुछ उसे सम्प्रेषित न करता हो। अत: व्यापक अर्थ में भाषा का स्वरूप अपरिमेय और अपरिभाष्य है। 'मूकमाटी' की भाषा ऐसी न होती हुई भी ऐसी ही है। उसमें क्या नहीं बोलता। न बोलना भी बोलता है, मौन भी मुखर है। प्रस्तुत प्रसंग में भाषा का यह स्वरूप अनुपयोगी है। इस सन्दर्भ में भाषा--कवि की भाषा, कवि कर्म की भाषा, काव्य की भाषा वागर्थमयी है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है :

"आखर अरथ कविहिं वलु साँचा। अनुहरि ताल गतिहिं नट नाचा॥"

ध्वनिप्रस्थान परमाचार्य आनन्दवर्धन ने भी महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

अर्थात् महाकवि की अपनी पहचान 'कुछ और' ही अर्थ और उसकी अभिव्यक्ति के अनुरूप सामर्थ्य सम्पन्न और ही शब्द के प्रयोग में है। ये शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुन: पुन: अनुसन्धान या भावन की अपेक्षा करते हैं। भारतीय आचार्यों ने व्यवहारोपयोगी और शास्त्रीय या व्यवस्थित चिन्तन में उपयोगी 'सामान्य भाषा' से 'काव्यभाषा' का व्यतिरेक निरूपित करते हुए कहा है कि सामान्यभाषा का प्रयोजन या तो व्यवहार चलाना होता है या ज्ञान की परिधि का विस्तार। काव्यभाषा में ये बातें गौण होती हैं। उसका सम्प्रेष्य 'कुछ और' ही होता है, जिसे प्रयोजनातीत प्रयोजन कहा गया है-- कांट के शब्दों में Purposeless Purpose. इसे शब्दान्तर से अ-व्यक्तिगत आस्वाद कह सकते हैं, अ-लौकिक सौन्दर्य संवेदन कह सकते हैं सहृदयग्राहक की दृष्टि से। सर्जक उसी मनोदशा का सम्प्रेषण अनुरूप वाग्भंगिमा से करता है। भारतीय परम्परा विधेयात्मक पद्धति पर उसे अपनी प्रकृति में सामाजिक और शिव मानती है। समाजानुमोदित सामग्री को सुन्दर ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए (समाजानुमोदित मनोदशा में) सर्जक जिस भाषा को अपनी अनुरूपता में पकड़ता है, वही काव्यभाषा है। आनन्दवर्धन इसे 'ललितोचितसन्निवेशचारु' कहते हैं और पण्डितराज 'समुचितल-लितसन्निवेशचारु'। अभिनव गुप्त 'ललित' की व्याख्या करते हुए उसे 'गुण और अलंकार'परक मानते हैं। गुण-अलंकारमण्डित काव्यभाषा आस्वाद के भावन में समर्थ होती है, इसीलिए वह उचित है। पण्डितराज का आशय स्पष्ट करते हुए नागेश भट्ट कहते हैं कि यदि सन्निवेश-- शब्दसन्निवेश सम्प्रेष्य आस्वाद के अनुरूप है तो वह समुचित है और समुचित है तो ही 'ललित' है। मतलब भारतीय साहित्यिक परम्परा में दोष रहित भाषा ही काव्यभाषा बनती है जब गुण और अलंकार से मण्डित हो। कुन्तक सामान्य भाषा को काव्यभाषा बनने के लिए आवश्यक मानते हैं कि वह कवि की प्रतिभा से प्रसूत वक्रता या बाँकपन से मण्डित हो। यह बाँकपन व्यवहार और शास्त्र की पिटी-पिटाई लीक से हटकर प्रयुक्त की गई काव्यभाषा में होता है। कुन्तक सम्प्रेष्य 'चारुता' या 'सौन्दर्य' को प्रतिभा-प्रसूत मानता है। वह कहता है :

"यत् किंचनापि वैचित्र्यं तत्सर्वं प्रतिभोद्भवम्।"

काव्य में सम्प्रेष्य 'चारुता' प्रतिभा या कविव्यापार से ही उत्पन्न है। इसी चारुता से मण्डित होकर शब्दार्थ 'कुछ

और ही' जान पड़ते हैं। वे काव्योचित शब्दार्थ या काव्य की भाषा माने जाते हैं। इसीलिए 'प्रतिभा' का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि वह 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमप्रज्ञा' ही है। प्रश्न यह है कि वस्तु में प्रतीत यह अपूर्वता वस्तु की निजी विशेषता है या उत्पादित ? आनन्दवर्धन और कुन्तक– दोनों ही अपने-अपने ढंग से इसका उत्तर देते हैं। आनन्दवर्द्धन का पक्ष है कि काव्य भी एक प्रस्थान है, जीवन के चरम प्रयोजन के लाभ का और यह लाभ है 'निजचित्स्वरूपविश्रान्ति' या 'स्वरूपबोध'। कवि इनकी दृष्टि से दो प्रकार के हैं–परिणत प्रज्ञ और प्राथमिक या आभ्यासिक। प्राथमिक या आभ्यासिक कवि की तो नहीं परन्तु परिणत प्रज्ञ कवि का व्यापार, कवि कर्म तदनुरूप 'विभावादि संयोजनात्मा' होता है। उनकी दृष्टि में यही कवि का मुख्य कर्म है। सर्जक काव्य निर्माणवेला में इसी आस्वादमय स्वरूपबोध की लोकोत्तर भूमि पर प्रतिष्ठित होता है। इस काव्यानुभूति के आवेश में निष्णात शब्दार्थ जब जैविकी प्रक्रिया से व्यक्त होते हैं तो कुछ और या अपूर्व जान पड़ते हैं। इस प्रातिभ आवेश में निसर्गजात फूट पड़ने वाले काव्यप्रवाह के अन्तर्गत अलंकार के निमित्त अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता। वह 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होता है। रहा गुण, वह तो उस आस्वाद की निसर्ग सिद्ध विशेषता है। इस प्रकार प्रातिभ आवेश में स्वत: समुच्छ्वसित काव्यभाषा 'गुणालंकारमण्डित' होकर ही निकलती है। उसका बाद में सायास मण्डन नहीं होता। उसके 'वाचक' और 'वाच्य' भी कुछ और होते हैं। अरस्तू इसे Strange Word कहते हैं। अजनबी या अपूर्व का अर्थ यह नहीं है कि वे अपरिचित या सर्वथा अपरिचित होते हैं आनन्दवर्धन कहते हैं : "सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमा:"–वसन्त में जैसे रहते वे ही द्रुम हैं, पर नई आभा से मण्डित होकर नए से लगते हैं, इसी प्रकार इस काव्यभाषा की भी स्थिति है। वह परिचित होकर भी अपरिचित है, अत: 'कुछ और' या 'अपूर्व' है। शब्द और अर्थ का अभेद होने से यह अपूर्वता उभयनिष्ठ है। वह कहते हैं : "वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद् रूपं तत्तु ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते।" शास्त्र और व्यवहार की बात छोड़िए, काव्य में जो (वाचक और) वाच्यार्थ प्रतीत होता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य जैसा यानी प्रत्यक्षायमाण लगता है, अपनी समस्त व्यक्तिगत विशेषताओं के साथ। व्यवहार और शास्त्र में मात्र अर्थ ग्रहण होता है पर काव्य में बिम्बार्थ ग्रहण होता है, बिम्ब रूप में, संश्लिष्ट रूप में अर्थ का ग्रहण होता है। इसे अर्थ संश्लेष कह सकते हैं। इसी में कवि की सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रकाश होता है। कहा जा सकता है कि आनन्दवर्धन चारुता या अपूर्वता केवल भाषा के व्यंजक और व्यंग्यमय शब्दार्थ में ही मानते हैं, पर यहाँ तो उस अपूर्वता की सत्ता वाच्यार्थ में भी बताई जा रही है, सो कैसे ? व्यंजना स्वरूपबोधमय आस्वाद की प्रक्रिया है। पण्डितराज के शब्दों में वह स्वरूप पर पड़े हुए आवरण का भंग है। उन्होंने कहा है : "व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्"- व्यक्ति या व्यंजना निरावरण चित् का ही नामान्तर है जो विज्ञानवादी बौद्धों की भाँति स्वरूपभूत आनन्द या आस्वाद का प्रकाशक होता है। 'प्रकाश'कार ने कहा है : "स्वाकार इव"–विज्ञान अपने ही आकार का प्रकाशक होता है। वस्तुत: कवि की प्रतिभा कोई नियम नहीं जानती, वह किसी नियम या सिद्धान्त से नहीं बँधती, तब इस नियम से कैसे बँध जायगी कि काव्योचित चारुता का सम्बन्ध व्यंजक शब्द या व्यंग्य अर्थ से ही है। यही तो प्रतिभा का स्वातन्त्र्य है कि वह चारुता का उद्रेक कहीं भी कर सकती है, वाच्यार्थ हो या व्यंग्यार्थ।

महिमभट्ट ने भी प्रतिभा या कवि व्यापार का स्वरूप निरूपित करते हुए माना है कि वह कविरूपी शिव की तीसरी आँख है जिससे वह व्यवहित-अव्यवहित, विप्रकृष्ट-अविप्रकृष्ट यानी देशकालगत और देशकालातीत समस्त विश्व के पदार्थजात का साक्षात्कार करती है। उनका कहना है कि पदार्थ का स्वरूप दो प्रकार का होता है– सामान्य और विशिष्ट। सामान्य स्वरूप परोक्ष प्रमाण से प्राप्त होता है और विशिष्ट रूप एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण से। यही प्रत्यक्षग्राह्य विशिष्ट रूप ही सत्कवियों की प्रतिभाप्रसूत वाणी का विषय बनता है। कारण, प्रतिभा नाम की जो उसकी तीसरी आँख है, उससे वह पदार्थजात की असाधारणता, विशिष्टता, कुछ और का ग्रहण करती है। क्रोचे ने भी कहा

है ज्ञान का इण्ट्यूटिव रूप 'व्यक्ति' या 'विशिष्ट' को और लाजिकल रूप 'सामान्य' को अपना विषय बनाता है। प्रतिभा द्वारा दृष्ट पदार्थ का यह असाधारण रूप, अपूर्व रूप, सुन्दर रूप पदार्थ का स्वाभाविक धर्म है, उत्पादित या आरोपित नहीं है।

कुन्तक भी इसी तथ्य को अपने ढंग से रेखांकित करते हैं। उनका भी मानना है कि प्रतिभा ही कवि व्यापार है और वही वक्रता है। काव्यभाषा की, सामान्य भाषा की अपेक्षा जो वैशिष्ट्य है, वह इसी प्रतिभा की प्रसूति है।

इन पारम्परिक भारतीय आचार्यों के उपर्युक्त विवेचन से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह कि चारुता या पदार्थगत सुभग तत्त्व पदार्थ के स्पन्दमय स्वभाव में है। उसे सक्षम सर्जक प्रतिभा से कुरेदकर उभार देता है, वैयक्तिक विशेषताओं से मण्डित (अर्थ मात्र नहीं) संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ का उपस्थापन करता है। हाँ, यदि प्रतिभा की नैसर्गिक आँख सर्जक में नहीं है तो वह उपस्थाप्य अर्थ में रमणीयता का आधान करता है, ऊपर से डालता है। ये सर्जक प्राथमिक या आभ्यासिक हैं। वक्रोक्तिजीवितकार ने इन दोनों प्रकार के कविकर्मों को दृष्टिगत कर कहा है :

"लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते-
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः।
वन्दे द्वावपि तावुभौ···।"

अर्थात् प्रतिभा सम्पन्न कवि वस्तुमात्र में अव्यक्त रूप से निहित सूक्ष्म सुभगतत्त्व को अपनी वाणी से उभारकर सहृदय ग्राहक को दृष्टिगोचर करा देता है, पर जिसमें यह आँख नहीं है, वह भी प्रयत्नपूर्वक वर्ण्यवस्तु को मनोहर बना देता है। दोनों ही प्रकार के कवि वन्दनीय हैं।

जो आधुनिक आलोचक भारतीय आचार्यों के काव्यार्थ– संश्लिष्ट अर्थ या बिम्बार्थ के विवेचन को नहीं जानते और जो नहीं जानते कि उनके मत से अलंकार और गुण 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' और 'स्वभावधर्म' हैं, वे कुछ भी कहते हैं और कह सकते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी और डॉ. जगदीश गुप्त आदि तक यह कहते सुने जाते हैं कि पारम्परिक आचार्यों ने बिम्बार्थ की चर्चा नहीं की है। इन नवचिन्तकों को पारम्परिक काव्यशास्त्र की गम्भीरता और व्यापकता का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन करना चाहिए। इस बिन्दु पर आगे और विचार किया जायगा।

सम्प्रति, लगे हाथ शैली वैज्ञानिकों का भी काव्य-भाषा के सम्बन्ध में क्या अभिमत है, यह देख लेना चाहिए। साथ ही यह भी देखना चाहिए कि वह काव्यभाषा के स्वरूप-विश्लेषण के सन्दर्भ में कितना आगे बढ़ता है ? बढ़ता है या नहीं बढ़ता है ?

इधर नए भाषाविदों ने 'आलोचना की नई भूमिका' अदा करने वाले 'शैलीविज्ञान' की चर्चा की है। 'शैली-विज्ञान' Stylistics का रूपान्तर है। 'विज्ञान' के साथ 'रीति' का जोड़ना जितना संगत है, 'शैली' का नहीं। कारण, भारतीय काव्यशास्त्र की 'रीति' की आन्तरिक प्रकृति वस्तुनिष्ठ है और 'विज्ञान' की भी। विपरीत इसके 'शैली' में आत्मनिष्ठता की प्रतिष्ठा है। भारतीय आचार्यों ने 'मार्ग' या 'रीति' को स्वभाव (दण्डी और कुन्तक) से जोड़कर 'स्वभाव' को भी 'वस्तुनिष्ठ' कर दिया है, कम से कम इस सन्दर्भ में। स्टाइलिस्टिक्स भी मानता है कि काव्यभाषा सामान्य भाषा पर ही समाधृत है, इसीलिए परिचित है फिर भी अपनी सर्जनात्मक प्रकृति के कारण 'अपरिचित' सी लगती है। सामान्य भाषा रूढ़ अर्थ के बोध द्वारा व्यवहार चलाती है या व्यवस्थित या शास्त्रीय होकर हमारे बोध की परिधि का विस्तार करती है। काव्यभाषा सर्जक या रचनाकार के अ-व्यक्तिगत स्तर पर स्वानुभूत सत्य का आकर्षक ढंग से सम्प्रेषण करती है। उसका सम्प्रेष्य संवेद्य सौन्दर्य या सुन्दर अनुभूति है। इसका ग्रहण 'प्रतिभा' सहकृत शब्द से होता

है। ग्राहक या सर्जक की 'प्रतिभा' का सहकार यदि शब्द को न मिले तो सर्जक सम्प्रेषित नहीं हो सकता। भारतीय चिन्तन में 'प्रतिभा' का स्वरूप तरह-तरह से परिभाषित किया गया है। कुछ लोग उसे चित्त का ही निर्मल रूप मानते हैं और कुछ चित् रूप ही बताते हैं। सामान्य भाषा एककेन्द्रिक होती है और काव्यभाषा बहुकेन्द्रिक। प्रतिभा के सम्पर्क से शब्द रणन ही नहीं अनुरणन करने लगता है और अनुरणन करती हुई अर्थ की परतें या छायाएँ एक बृहत्तर संश्लिष्ट अर्थचित्र निर्मित करती हैं। प्रतिभा अपने स्वरूप में अपरिमेय है, अत: शब्द द्वारा सम्प्रेषित होने वाले अर्थ अपनी सम्भावनाओं में पूर्णत: गृहीत ही हो जायँ, यह सम्भव नहीं।

'गहि न जाइ अस अद्‌भुत बानी'

स्टाइलिस्टों का विचार है कि सामान्य भाषा से काव्यभाषा 'चयन', 'विचलन', 'सादृश्य' और 'विरलता' जैसे प्रयोगों से अपना लक्ष्य प्राप्त करती है। मुकारोस्की कहता है : "Poetic language is characterized by a constant tension between automatization and forgrounding." अर्थात् काव्यभाषा का लक्षण ही है यन्त्रबद्धता और पेशबंदी के बीच निरन्तर तनाव बना रहना। इस पेशबंदी के उपर्युक्त चार स्रोत चर्चित हुए हैं। उसने कहा है कि पेशबन्दी भाषा के उपादान तत्त्वों का सर्जनात्मक उद्देश्य से परिचालित आवर्तन है। उक्त स्रोत परस्पर विकल्प नहीं अपितु पूरक हैं। प्रतिभा प्रयोक्ता या सर्जक का सामर्थ्य है। यही सामर्थ्य भाषा को वह सामर्थ्य प्रदान करता है जिससे वह अपना लक्ष्य वेध कर पाता है। भाषा का सामर्थ्य उसकी शक्ति है। इसीलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शब्द-शक्तियों को आलोचना का कभी न चुकने और चूकने वाला अस्त्र कहा है। इस शब्दशक्ति पर जितना गहन विवेचन भारतीय आचार्यों ने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मैं यह मानता हूँ कि पौरस्त्य चिन्तक अपरिमेय सम्भावनाओं के सामान्य प्रतिमान दे गए हैं। नया प्रस्थान उसका विशेषीकरण और बोधगम्य विवरण है। 'चयन' पर्यायवाची शब्दों में से किसी एक का चयन है। कारण, उसमें रूढ़ अर्थ से अतिरिक्त अर्थ देने की क्षमता है। यह अतिरिक्त अर्थ सन्दर्भगम्य सम्प्रेष्य को संवाद की भूमि पर पहुँचा देता है। विचलन या विपथन मानक भाषा के नियमों का सोद्देश्य अतिक्रमण है, अतिरिक्त अर्थ प्राप्त करने के लिए। यही बात 'समान्तरता' या 'सादृश्य' और 'विरलता' के लिए कही जा सकती है। काव्य की सर्जनात्मक भाषा 'अतिरिक्त अर्थ' चाहती और देती है। ध्वनि सिद्धान्त इस अतिरिक्त अर्थ पर ही बल देता है। ध्वनिकार कहता है :

"प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥"(१/४)

सर्जकों की भाषा में यह अतिरिक्त अर्थ प्रतीयमान अर्थ है और वह रूढ़ अर्थ से भिन्न है। ठीक उसी प्रकार जैसे सर्व-सामान्य की दृष्टि में आनेवाले अंगों से तदाश्रित अतिरिक्त लावण्य। काव्यभाषा का यह सैद्धान्तिक पक्ष है। इस निकष पर प्रस्तुत कृति की भाषा का व्याकरणसम्मत तथा काव्यसम्मत परीक्षण भी करना चाहिए। इस पक्ष से बात करते समय कुछ सीमाओं और विवशताओं को दृष्टिगत न रखा जाय तो कृतिकार के साथ समुचित न्याय नहीं होगा। उन सीमाओं में से एक यह है कि रचयिता मूलत: कन्नड़भाषी है और संस्कृत के माध्यम से हिन्दी की ओर आया है। तीसरी बात यह कि जिस प्रकार की अनुभूति की इन्द्रधनुषी आभा से भाषा में काव्योचित बाँकपन फूटता है, वीतरागता के कारण उस पर आँच आई है। ऐसा नहीं है कि उसमें उस इन्द्रधनुषी आभा से भाषा को मण्डित करने की क्षमता नहीं है, पर वह उधर से विरक्त है। क्षमता का आकलन करना ही हो तो उनके प्रकृति वर्णन के प्रसंगों को लिया जा सकता है। लौकिक जीवन की अनुभूतियों के ज्वार-भाटे यहाँ हैं नहीं और अलौकिक शान्त की पार्यन्तिक दशा अवर्णनीय है। फलत: विवशतापूर्वक उपाय पक्षपरक संघर्ष का चित्रण या वर्णन मात्रा में अधिक है। शास्त्रकाव्य होने के कारण संवादों

की भाषा में सैद्धान्तिक मान्यताओं को उकेरने पर प्रातिभ संरम्भ ज़्यादा है। अत: ये सीमाएँ भाषागत काव्योचित आभा के पूर्ण प्रस्फुटन में आड़े आती हैं। कतिपय प्रयोग व्याकरण की दृष्टि में संस्कार च्युत हो सकते हैं, जैसा कि आलोचकों ने लक्षित किया है। रचयिता की एक और प्रवृत्ति है और वह है निर्वचन की। चमत्कार पर्यवसायी होने पर यह कुवलयानन्दकारसम्मत निरुक्ति अलंकार भी बन जाता है, पर वैसा न होने पर वह मात्र प्रौढ़ि प्रदर्शन है। विशेषकर संख्यापरक संयोजन का चमत्कार अकाव्योचित कुतूहल में पर्यवसित होता है। ये कुछ सीमाएँ आलोच्य कृति की भाषा की हो सकती हैं, पर उसकी कुछ उपलब्धियाँ भी हैं जिन्हें नज़रअन्दाज़ नहीं किया जा सकता।

रचयिता की भाषा सम्बन्धी सीमाओं का उल्लेख सामान्यत: ऊपर किया जा चुका है, अत: उसके विस्तार में मैं नहीं जाना चाहता। यहाँ भाषा सम्बन्धी उनकी उपलब्धियों की चर्चा की जायगी।

कृति की भाषा तत्सम बहुल परिष्कृत हिन्दी है। इसमें शास्त्रविशेष की पारिभाषिक शब्दावली भी है और इसका कारण सैद्धान्तिक मान्यताओं का उपस्थापन है। निश्चय ही इस कारण सामान्य पाठक - जो इस दर्शन और उसकी पारिभाषिक शब्दावली से अपरिचित है - कठिनाई का अनुभव करेगा और केवल काव्यभाषा का रसिक थोड़ा बिचकेगा।

इतना तो स्पष्ट है कि प्रस्तुत कृति में कई प्रकार के स्थल हैं – (१) भावसिक्त तथा सौन्दर्यबोध मण्डित प्रकृति के वर्णनात्मक स्थल (२) भावसिक्त स्थल (३) वैचारिक मान्यताओं से गर्भित स्थल (४) सामान्य वर्णनपरक इतिवृत्तवाही स्थल तथा अन्यविध। सर्वाधिक काव्योचित भाषा प्रथम प्रकार के वर्णनात्मक स्थलों की है जिसका उल्लेख पहले भी किया गया है।

प्रकृति वर्णन के प्रसंग पूर्वार्ध में ही हैं– प्रात:वर्णन, शिशिर, वसन्त एवं ग्रीष्म ऋतु वर्णन, सरिता वर्णन आदि। उत्तरार्ध में भी स्थिति विशेष के वर्णन उपलब्ध हैं। इन स्थलों की भाषा रंगीन है। इनमें रचयिता कभी-कभी सन्तजनोचित लक्ष्मण रेखा को लाँघ भी जाता है। यहाँ कल्पना भी है और शब्द-सामर्थ्य भी; ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और उपचार-वक्रता भी; विचलन, सादृश्य, चयन और समान्तरता भी; आलंकारिक रुझान, बिम्ब और प्रतीक भी। अभिप्राय यह कि भाषा को काव्योचित बनाने के सभी सौन्दर्य स्रोत। इससे रचयिता की क्षमता का भी पता चलता है। अभिप्राय यह कि उसमें काव्यभाषा की गुणात्मक क्षमता है, मात्रात्मक प्राचुर्य न हो, यह बात भिन्न है।

आरम्भ से ही चलें। कृति का प्रारम्भ प्रात:काल के रमणीय वर्णन और सरिता-वर्णन तथा दार्शनिक संवाद से है--माँ धरती और बेटी सरिता तट की मूकमाटी। इसमें कई खण्ड चित्र हैं, सबको जोड़कर प्रात:काल का मनोरम चित्र उभरता है। निशा का अवसान है, उषा अपनी अरुणिमा में प्रतिष्ठित है। निरभ्र अनन्त में नीलिमा व्याप्त है और नीचे नीरवता छाई हुई है। इस विराट् चित्र के बाद कल्पना उमड़ पड़ी है और अप्रस्तुत बिम्ब-विधान की शृंखला बँध गई है। प्रथम अप्रस्तुत बिम्ब-विधान में प्रस्तुत इतना ही है कि अरुणाभ प्रभाकर मण्डल प्राची में उदित है। इस पर कल्पना में जो अप्रस्तुत का बिम्ब बना है, वह है एक ऐसे शिशु का, जो तन्द्रित अवस्था में अपने मुखमण्डल पर माँ का अरुणवर्णी आँचल डाले हुए अँगड़ाइयाँ ले रहा है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से यहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना हो रही है, अत: समासोक्ति अलंकार है। भानु का मानवीकरण तो है ही। इसी वर्णन में एक दूसरा बिम्ब है। वर्णन वही प्रात:-कालीन अरुणाभ प्राची दिशा का है। बिम्ब अप्रस्तुत जो कवि की कल्पना में उभरता है वह है एक ऐसी नायिका का जिसने अपने सिर से पल्ला हटा लिया है और खुला हुआ सीमन्त सिंदूरी धूल से रंजित है। उसकी यह रंगीन राग की आभा बरबस सहृदय की आँखों को अपनी ओर खींच लेती है। रचयिता को यह मुद्रा भा गई है। यहाँ वीतराग सन्त के भीतर का अनासक्त सौन्दर्यदर्शी रचयिता मुखर हो उठा है। इसी प्रकार जहाँ एक ओर प्रभाकर की किरणों से संस्पृष्ट निमील-नोन्मुख कुमुदिनी पर यह कल्पना है मानो कुलीन पत्नी पर-पुरुष के हाथों के स्पर्श से बचने के निमित्त आत्मगोपन कर

रही है और पंखुरियों की ओट में अपनी सराग मुद्रा को छिपा रही है, वहीं दूसरी ओर अधखुली कमलिनी भी परपुरुष चाँद की चाँदनी तक का स्पर्श करना अनुचित समझती है, इसीलिए अपनी आँखें बन्द कर रही है। कवि इस निमीलन में कारण बता रहा है कि ईर्ष्या जो न करा दे, और वह भी स्त्री-पर्याय में तो उसकी सक्रियता और बढ़ जाती है। इस समग्र उक्ति से जो सौन्दर्य उभरता है उसमें समासोक्ति और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि कार्य कर रही है। यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन भी है। एक अगला बिम्ब लें। चन्द्रमा अस्त हो रहा है, तारिकाएँ आसमान से एक-एक करके हट रही हैं। इस पर कवि की कल्पना यह है कि जब तारापति हट रहा है तो छाया की भाँति अनुगमन करने वाली उसकी पत्नियाँ भी पीछे-पीछे इस भय से भागी चली जा रही हैं कि कहीं परपुरुष प्रभाकर अपने फैलते हुए हाथों से उन्हें छू न ले। इस उक्ति को एक कोण से देखें तो तारिकाओं के सहज लुप्त होने में अकारण की कारण रूप से परिकल्पना है, फलतः हेतूत्प्रेक्षा है तो दूसरी ओर से उसमें एक बिम्ब की परिकल्पना भी है। मानवीकरण तो है ही। इस प्रकार यहाँ भी एकाधिक अलंकारों की संसृष्टि कही जा सकती है।

वर्णनात्मक स्थलों के काव्य सौन्दर्य की चर्चा पिछले पृष्ठों में भी की जा चुकी है। अतः उन स्थलों के काव्योचित सौन्दर्य स्रोतों की बानगी लेने के बाद सम्प्रति 'भावासिक्त प्रसंगों' को लिया जाय ओर देखा जाय कि उनमें आन्तरिक भावधारा की अभिव्यंजना कितनी शक्त और क्षम हो चुकी है। अनुभूति के गहरे एहसास में स्नातभाषा की दीप्ति देखनी हो तो घट की अन्तर्व्यथा की माँ के समक्ष की जाने वाली अभिव्यक्ति को देखें। उसके वर्ण-वर्ण वेदनासिक्त हैं। इसमें 'वैराग्य' या निर्वेद की तो व्यापक अभिव्यक्ति है ही, जिसमें नित्यानित्यत्व का 'विवेक' भी गर्भस्थ है। इस कर्मबन्ध से उत्पन्न दुःखराशि से मुक्त होने का 'औत्सुक्य' भी व्यंजित है। अभिप्राय यह कि अनेक संचारी भाव स्थायी निर्वेद की क्रोड में उन्मज्जन-निमज्जन करते हुए भाषा को दीप्ति प्रदान करते हैं। द्वितीय खण्ड में जहाँ प्रसंगात् विभिन्न रसों की व्यंजना का प्रसंग आया है, वहाँ भी रसोचित पदशय्या और अनुरूप विभाव-अनुभाव का संयोजन भाषा के समुचित संयोजन में पर्याप्त प्रभावी बन पड़ा है। भयानक और बीभत्स के बोलते चित्र देखे जा सकते हैं :

"इतना बड़ा गुफा-सम/महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ में/सिंदूरी आँखों वाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अध-निकली लोहित रसना/लटक रही है
और/जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें-सी।" (पृ. १३६)

इसी प्रकार मूर्तिमान् बीभत्स का चित्र देखें :

"नासा बहने लगी प्रकृति की।/कुछ गाढ़ा, कुछ पतला
कुछ हरा, पीला मिला—/मल निकला, देखते ही हो घृणा!" (पृ. १४७)

ऐसी काव्योचित चित्रभाषा इन प्रसंगों में विद्यमान है।

कहीं-कहीं स्थिति-विशेष का चित्र भावविह्वल होकर ऐसा सहज और आलंकारिक उद्भावनाओं से उफन पड़ा है कि रचयिता की कल्पना-शक्ति की दाद देनी पड़ती है। प्रसंग है चौथे खण्ड का। सेठ समागत समादृत सत्पात्र गुरु के समक्ष अपनी व्याकुलता भरी जिज्ञासाएँ रखता है और उनकी ओर से समाधान मिलता जाता है, इस तरह :

"सेठ की शंकायें उत्तर पातीं/फिर भी···" (पृ. ३४९)

जिस मुद्रा में सेठ घर की ओर जा रहा है, उसका वर्णन उपमाओं के 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' अविरल प्रवाह में पढ़ते बनता है।

कृति के पृ. ३४९ से पृ. ३५२ तक के अंश पठनीय हैं। एक अंश देखें:

"जल के अभाव में लाघव/गर्जन-गौरव-शून्य
वर्षा के बाद मौन/कान्तिहीन-बादलों की भाँति
छोटा-सा उदासीन मुख ले/घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३४९)

प्रसंगों की उद्भावना शक्ति काफी उर्वर है, यह कहना अनावश्यक है।

चौथा सन्दर्भ संवादों से भरी 'विचार प्रवण भाषा' का है। यह सही है कि सैद्धान्तिक मान्यताएँ संवादों से भरी पड़ी हैं। उनकी योजना ही इसीलिए है तथापि वे पारिभाषिक शब्दावली से इतनी बोझिल नहीं हैं कि एक सामान्य प्रबुद्ध सहृदयक पाठक की पकड़ से बाहर रह जायँ। संकल्पानुसार जहाँ-तहाँ अपने प्रस्थान के विचार-गर्भ पारिभाषिक पद और वाक्य तक यहाँ-वहाँ आ गए हैं, जिन्हें काव्यशास्त्री 'अप्रतीतत्व' दोष से ग्रस्त मानते हैं। एक बात है कि रचयिता स्वयं जानता है कि वह जिनको केन्द्र में रखकर व्युत्पत्ति का आधान करने के निमित्त लिख रहा है वे सामान्य पाठक भी हो सकते हैं। अत: जब वह ऐसी कोई बात रखता है तब एक बार कह लेने के बाद भी शब्दान्तर से उसे और स्पष्ट करता चलता है। यह सही है कि काव्य शास्त्र नहीं है, पर काव्य विचारशून्य होता है, ऐसा भी नहीं है। विचारों की रेशमी डोर जितनी मजबूत होगी, भाव के पैग उतने ही लम्बे जा सकते हैं। एक उदाहरण लें :

"इस पर अतिथि सोचता है कि/उपदेश के योग्य यह
न ही स्थान है, न समय/तथापि/भीतरी करुणा उमड़ पड़ी
सीप से मोती की भाँति/पात्र के मुख से कुछ शब्द निकलते हैं :
'बाहर यह/जो कुछ भी दिख रहा है/सो···मैं···नहीं···हूँ
और वह/मेरा भी नहीं है'···।" (पृ.३४४-३४५)

यह एक दार्शनिक वक्तव्य है, सो सुबोध भी है और दुर्बोध भी। मतलब यह कि विचारगर्भ स्थलों की भाषा शास्त्र की दुर्बोध और व्याख्यागम्य भाषा नहीं है। भाषा जब अनुभूति से फूटती है और अनुवाद की नहीं होती, तब सुबोध होती है।

भाषा का पाँचवाँ सन्दर्भ 'घटनाओं के धारावाहिक वर्णनात्मक प्रसंगों' का है। चौथे खण्ड का उत्तरार्ध इसकी प्रयोगस्थली है। यद्यपि विचार-गर्भ संवादों की योजना से शून्य वह भी नहीं है। ये वर्णन इतिवृत्तात्मक पद्धति पर अभिधा की भाषा में हैं पर काव्यात्मक बनाने का प्रयास वहाँ भी रहता है, देखें :

"उद्दण्डता दूर करने हेतु/दण्ड-संहिता होती है/माना,
दण्डों में अन्तिम दण्ड/प्राणदण्ड होता है।" (पृ. ४३०-४३१)

ऐसी आनुप्रासिक योजना पाठक को खींचती है। घटना वर्णन की भाषा का प्रसंग है, अत: एक उदाहरण :

"तत्काल विदित हुआ विषधरों को/विप्लव का मूल कारण।
परिवार निर्दोष पाया गया/जो/इष्ट के स्मरण में लगा हुआ है,
गजदल सरोष पाया गया/जो/शिष्ट के रक्षण में लगा हुआ है।" (पृ. ४३०)

अन्त्यानुप्रास युक्त अभिधामयी सपाट भाषा है। अलंकार प्रयोग, ध्वनि और वक्रता-गर्भ भाषा के तमाम उदाहरण रखे जा सकते हैं, पर भूमिका की एक लक्ष्मण रेखा है, उसके बाहर भी नहीं जाना है। साथ ही सम्पादित संकलन में इस विषय पर विस्तृत निबन्ध मिलेंगे। अत: लेखनी विरत हो रही है।

भाषा पर विचार करने के सन्दर्भ में रचयिता की एक विशिष्ट प्रवृत्ति का उल्लेख करना आवश्यक है। समीक्षकों की दृष्टि इस तरफ गई है और इस पर महाकाव्योचित गम्भीरता के साथ खिलवाड़ की बात कही गई है, विशेषकर जहाँ ९ संख्या को लेकर गुणाभाग का प्रदर्शन हुआ है। द्वितीय खण्ड में कुम्भकार स्वनिर्मित घट पर कुछ संकेतक रेखाएँ, अंक और चित्र बनाता है। उन्हीं में यह कि घट के कर्णस्थान पर आभरण की भाँति प्रतीत होने वाले ९९ तथा ९ के अंक अंकित हैं। संख्याओं का यह अंकन तत्त्वोद्घाटक है जिसका विवरण रचयिता ने मूल में दिया है। बेहतर होता यदि यह गुणाभाग काव्य के भीतर से हटाकर पाद-टिप्पणी में अलग से रख दिया गया होता।

रचनाकार संस्कृत से हिन्दी की ओर आया है। 'पंचशती'-गत शतकों में उसने एकाक्षरी कोश का चमत्कार प्रदर्शित किया है। वही वृत्ति सन्दर्भवश यहाँ भी जहाँ-तहाँ उद्ग्रीव हो गई है। यह प्रवृत्ति ग्रन्थ की भाषा में आद्यन्त प्रयुक्त देखी जा सकती है। अवसरोचित अर्थ प्राय: व्युत्पत्तिपूर्वक निकाले गए हैं। पर कहीं-कहीं उसकी प्रौढ़ोक्ति भी है। 'सा-रे-ग-म-प-द-नि' में 'ध' की जगह बलात् 'द' रख दिया गया है ताकि अवसरोचित अर्थ संगति लगाई जा सके। 'कुम्भकार', 'नियति', 'पुरुषार्थ', 'दुहिता', 'अबला', 'नारी', 'महिला', 'कला' एवं 'गदहा' आदि यदि एक तरह के उदाहरण हैं तो 'दया-याद', 'चरण'''चर न' तथा 'न रच', 'धरणी-नीरध', 'ही'''रा'''रा'''ही', 'रा'' ख'' ख'' रा', 'आदमी'''आ-दमी' इत्यादि दूसरी तरह के हैं। 'श' - 'स' - 'ष' की व्याख्या एक तीसरी वृत्ति के उदाहरण हैं। कुवलयानन्दकार ने एक 'निरुक्ति' नामक अलंकार की चर्चा की है जो चमत्कारी निर्वचन पर समाधृत है। योगशक्ति से नामों की, जो भिन्न अर्थ में प्रचलित हैं, अर्थान्तर निकाला जाता है। यह सही है कि महाकाव्य की गम्भीरवृत्ति से यह चमत्कारी और कुतूहलतर्पक वृत्ति मेल नहीं खाती, तथापि महाकवियों की परम्परा में भी इसके दर्शन होते हैं। यह या ऐसे प्रयासों के पीछे निहित उपर्युक्त वृत्ति के ही कारण इन प्रयोगों को अधमकाव्य के अन्तर्गत कहा गया है। आनन्दवर्धन ने तो इन्हें आकार साम्य से औपचारिक रूप में ही काव्य माना है।

इन संकलित लेखों में दो-तीन पुस्तकाकार निबन्ध भी समाविष्ट हैं। 'मूकमाटी' सहित आचार्यश्री के विपुल वाङ्मय पर तीन दर्जन से अधिक शोधस्तरीय कार्य भी हो चुके हैं। इन बृहत्काय तथा लघुकाय निबन्ध और प्रबन्धों में 'मूकमाटी' से सम्बद्ध अनेक बिन्दुओं और पक्षों पर एक सीमा में प्रकाश डाला गया है जिन्हें परिशिष्ट में दिया गया है। यद्यपि दार्शनिक और काव्यपक्षीय बहुविध पक्षों पर उक्त प्रयासों से प्रकाश मिलता है तथापि महाकवि की रचनाओं में सम्भावनाओं की परतें नि:शेष नहीं होतीं। आनन्दवर्धन ने महाकवि की पहचान बताते हुए कहा है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥" ध्व.प्र.उ./८

महाकवि के शब्दार्थ यत्नपूर्वक पुन:-पुन: अनुसन्धेय होते हैं, उनके अर्थ के अनन्त आकाश में प्रातिभ पक्ष की शक्ति के अनुसार पाठक का पक्षी निरावधि उड़ सकता है। इसलिए कहना यह है कि जिन बिन्दुओं पर प्रकाश डाला जा चुका है और जितना जो कुछ शोधकों ने अपने शोधग्रन्थ में संकलित किया है, उनके अतिरिक्त और भी अनेक पक्ष सम्भावनाओं से संवलित हैं, उन पर भी आगे कार्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ :

१. 'मूकमाटी' का शब्द सामर्थ्य – अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि
२. 'मूकमाटी' की प्रातिभ विच्छित्ति और भंगिमाएँ
३. काव्यशास्त्रीय विभिन्न सम्प्रदाय और 'मूकमाटी' का वस्तु और रूप पक्ष
४. 'मूकमाटी' और वर्तमान के जीवन्त सन्दर्भ–रचनाकार का युगबोध
५. 'मूकमाटी' में व्याप्त रचनाकार का व्यावहारिक और व्यवहारातीत चेतना-वितान
६. 'मूकमाटी' में पूँजीवाद, आतंकवाद तथा अन्य विघटक प्रवृत्तियों का संकेत और उनकी निषेध्यता

७. 'मूकमाटी' में लोकमंगल और आत्ममंगल के विविध संकेत, साधन और समाधान
८. विविध भारतीय दर्शनों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में निर्दिष्ट दर्शन की आपेक्षिक और तुलनात्मक विशेषता का निरूपण
९. 'मूकमाटी' में क्रमागत भंगिमाएँ और नवाविष्कृत चमत्कारिक भंगिमाएँ
१०. 'मूकमाटी' में पात्रों की मनोदशाओं का मनोविज्ञान के आलोक में विवेचन
११. शान्त रस की पक्ष-प्रतिपक्ष पूर्वक स्थापना और 'मूकमाटी' में उसकी निष्पत्ति की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन
१२. हिन्दीतर विभिन्न भारतीय भाषाओं में निबद्ध महाकाव्यों के साथ 'मूकमाटी' के तुलनात्मक वैशिष्ट्य का आकलन
१३. पाश्चात्य प्रतिष्ठित महाकाव्यों के सन्दर्भ में 'मूकमाटी' का वैशिष्ट्य निर्धारण

इस प्रकार अभी भी और सम्भावित बिन्दु विचारार्थ लिए जा सकते हैं और खोज के नए-नए द्वार उद्घाटित किए जा सकते हैं।

यह प्रबन्ध काव्य अपनी संयोजना में सर्वांग अभिनव प्रयोग का साहस लेकर सहृदयों की सभा में उपस्थित हुआ है, अत: उस पर तरह-तरह की प्रतिक्रियाएँ आई हैं और आती रहेंगी। प्रसाद की 'कामायनी' पर इसी प्रकार निरन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष बनते रहे पर आज वह एक छायावादी महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हो ही गई है। काल के निर्मम निकष पर यह भी कसा जायगा, यदि अपनी प्राणवत्ता इसमें होगी तो निस्सन्देह महाकाव्यों की परम्परा में इसे भी जगह मिलेगी या यह स्वयं अपनी जगह बना लेगा। नए प्रयास को जमे हुए लोगों के बीच अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में समय लगता ही है। इस सन्दर्भ में कविकुलगुरु कालिदास की उक्ति याद आती है :

"पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥"

सन्त वे ही हैं, सहृदय समीक्षक वे ही हैं जो बँधी-बँधाई लीक नहीं पीटते और स्वयं विवेकपूर्वक परीक्षा करके निर्णय लेते हैं कि कृति कहाँ तक ग्राह्य या अग्राह्य है। अन्तत: निर्णय ऐसे ही लोग देंगे, इस विश्वास के साथ यह लेखनी यहीं विराम लेती है।

पुनश्च, प्रस्तुत कृति इस रूप में सुसम्पादित होकर कभी भी न आ पाती, यदि मुनिवर्य श्री अभयसागरजी की अनन्य निष्ठा, अटूट श्रम और दुर्लभ धैर्य का कांचन किंवा पारस संस्पर्श न मिलता। जिस त्रुटि परिहार, परिष्कार और समुचित सुधार की बाट जोहते वर्षों बीत गए और उस चुनौती को उठाने वाला कोई नहीं दिखा, उस समय मुनिश्री ने स्वयं इस गुरुतर भार को उठाने का अदम्य संकल्प लिया। प्रसिद्ध श्लोक है :

"प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः, प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः, प्रारभ्य उत्तमजना न परित्यजन्ति॥"

'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'—श्रेय: सम्पादन में विघ्न आते ही हैं। ऊर्ध्वगमन में अध:कर्षक शक्तियाँ सक्रिय होती ही हैं। यह जानकर निम्नकोटि के लोग विघ्नभीत होकर शुभकार्य का आरम्भ ही नहीं करते। मध्यम कोटि के साधक आरम्भ तो कर देते हैं परन्तु विघ्नों से प्रतिहत होकर मध्य में ही विरत हो जाते हैं। वे साधक उच्चकोटि के हैं जो बार-बार विघ्नविहत होने पर भी आरब्ध को छोड़ते नहीं हैं, प्रत्युत उसे अभीष्ट गन्तव्य बिन्दु तक ले जाकर ही रुकते हैं। मुनिवर्य श्री अभयसागरजी ऐसे ही उत्तमकोटि के साधकों में परिगणित किए जाएँगे। इतने अनुयायियों और अनुधावियों

के बीच यही एक सिद्धसाधक दीप्तप्रभ नक्षत्र की भाँति सक्रिय हो उठे जिन्होंने चिरप्रतीक्षित चुनौती को ग्रहण कर वर्तनीशोधन तथा समस्त पाण्डुलिपि का पुनरीक्षण कर आरब्ध को सम्पन्नता प्रदान की। उनके भक्ति-निर्भर अथक प्रयास और समर्पण भावना से अवशिष्ट कार्य सम्पन्न हुआ। इसलिए सम्पादक के नाते मैं उन्हें नमन करता हूँ।

तीन खण्डों वाले इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्यभार पहले विद्वद्वर डॉ. प्रभाकर माचवे, नई दिल्ली को दिया गया था और उन्होंने बड़ी आस्था और निष्ठा के साथ अपना उत्तरदायित्व निबाहा, पर अकाल में कालकवलित हो जाने के कारण कार्य बीच में ही रुक गया। तदनन्तर आरब्ध के निर्वाह का दायित्व इन पंक्तियों के लेखक को मिला। और श्री सुरेश सरल, जबलपुर के द्वारा स्थापित व्यवस्था में स्थगित कार्य पुनः प्रारम्भ हुआ। दुबारा सन्तोषप्रद व्यवस्था में यह कार्य किया गया।

प्रासाद के निर्माण में घटकों की विभिन्न स्तरीय तथा विभिन्न स्थानीय घटना होती है। कुछ घटक शिखर पर होते हैं, कुछ अन्तराल में और कुछ नींव में पड़े रहते हैं जिसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जा पाता। इस कार्य में कुछ सारस्वत उपासकों का भी योगदान सहायक के रूप में है उनमें डॉ. रमेशदत्त मिश्र, पूर्व प्राचार्य, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, सागर का उल्लेख आवश्यक है। उन्होंने अपने साथ डॉ. शकुन्तला चौरसिया, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय-सागर, डॉ. सरला मिश्रा, सहायक प्राध्यापिका, शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, सागर एवं डॉ. राजमति दिवाकर, सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर को रखा था और उन्होंने एक सीमा में कुछ किया भी। जो कुछ और जितना किया, एतदर्थ उन लोगों को साधुवाद। अन्त-अन्त में प्रेमशंकर रघुवंशी, हरदा ने भी अपनी सेवाएँ दीं, तदर्थ उनको भी धन्यवाद देना उचित प्रतीत होता है।

प्रासाद के प्रबन्धन में प्रबन्ध सम्पादक मण्डलगत सर्वश्री सुरेश सरल, पूर्व मानद जनसम्पर्क अधिकारी, आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान, जबलपुर; सन्तोष सिंघई, अध्यक्ष, श्री दिगम्बर जैन अतिशय सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि, कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश; नरेश दिवाकर (डी. एन.) विधायक, सिवनी; सुभाष जैन (खमरिया वाले) सुमत मेडीकल स्टोर्स, सागर ने अकूत योगदान किया है। श्री सरलजी ने लेखों का पत्राचार द्वारा संग्रहण कराया। श्री सुभाषजी का सहयोग अप्रतिम और श्लाघ्य है। वो संघोचित आतिथ्य में अपना उत्तरदायित्व निरन्तर जागरूकता से करते रहे हैं। अतः इनके कारण चाहे सागर हो या नेमावर या बिलासपुर, सर्वत्र मेरी सुव्यवस्था सम्पादित की गई, फलतः मैं अपना उत्तरदायित्व ठीक-ठीक अपनी सीमाओं में निभा सका। श्री सन्तोष सिंघई की भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सेवाएँ मिलती रहीं। साथ ही भाग्योदय तीर्थ, सागर; दयोदय तीर्थ, जबलपुर के कार्यकर्ताओं आदि का भी यथोचित सहयोग मिला है। अतः इन सभी को भी मैं अपना साधुवाद देना उचित समझता हूँ।

आचार्यश्री द्वारा स्थापित संघ के प्रति निष्ठावान, समर्पणशील और त्यागमूर्ति जिन श्रावकों का इस पुनीत संकल्प के कार्यान्वयन में स्मरणीय सहयोग रहा है, वे हैं : श्री पंकज जी प्रभात शाह, सुपुत्र श्रीमती चिन्तामणी जी धर्मपत्नी स्व. सवाई लाल जी मुम्बई एवं श्री सुन्दरलाल जी मूलचन्दजी, श्री कमल कुमार पवन कुमार अग्रवाल जी एवं श्री संजय कुमार संजीव कुमार जी मेक्स, श्री खेमचन्द जी इन्दौर। सम्पादक और प्रबन्ध सम्पादकों की ओर से इन्हें हार्दिक साधुवाद।

इस पाण्डुलिपि के प्रकाशन में भारतीय ज्ञानपीठ के पूर्व प्रबन्ध-न्यासी स्व. साहू रमेशचन्द्र जी के सात्त्विक संकल्प और उसके कार्यान्वयन में योगदान देनेवाले उनके आत्मज वर्तमान प्रबन्ध-न्यासी श्री अखिलेश जैन को सम्पादक की ओर से कृतज्ञता ज्ञापन उचित है। इस सन्दर्भ में एक वाक्य स्मरण आता है – 'कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः'।

सम्पादक तथा मुनिवर्य श्री अभयसागर जी के इस पुनीत कार्य निर्वहण में जो योगदान है – वह तो है ही, पर इसकी सांगोपांगता में ज्ञानपीठ के मुख्य प्रकाशन अधिकारी डॉ. गुलाबचन्द्र जैन ने जागरूकता दिखाई है, तदर्थ हार्दिक

साधुवाद के वे भी सत्पात्र हैं।

इस प्रकार प्रकृत कार्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, साक्षात्-परम्परया जिसने भी, जो कुछ साहाय्य प्रदान किया है वे सभी साधुवाद के पात्र हैं। विशेषकर कम्प्यूटर में टंकण का पूरा कार्य सम्पन्न करने वाले *श्री दिलीप जैन 'गुड्डा', बेस्ट कम्प्यूटर्स, सागर* का बहुत-बहुत धन्यवाद, जिसके बिना सब किया, न किया ही रह जाता।

अन्ततः आचार्य श्री विद्यासागरजी के चरणों में प्रणति निवेदित करता हूँ जिनकी कृपा और जिनके वरदहस्त की छाया यदि न मिलती तो यह सब कभी भी सम्भव न हो पाता। सारे प्रासाद निर्माण में इन्हीं की कृपा सुगन्ध की तरह अदृष्टिगोचर होती हुई भी व्याप्त है। उनकी कृपा का आख्यान शब्दातीत है। वह केवल गुड़ की मिठास की भाँति अनिर्वचनीय है। शुभ कार्य में विघ्न आते ही हैं, पर आचार्यश्री का अमोघ आशीर्वचन तथा मुनि श्री अभयसागरजी की संकल्प दृढ़ता से सारे विघ्न निश्शेष हो गए। और वर्तमान स्थिति इसी सबकी वासन्तिक परिणति है। अतः उन्हें पुनः-पुनः नमन करता हुआ अपनी लेखनी को विराम प्रदान करता हूँ।

राममूर्ति त्रिपाठी

पृष्ठ पूर्ण
इसी कार्य हेतु--
--- सुलसाते-सुलसाते

मूकमाटी-मीमांसा

प्रथम खण्ड

विषयानुक्रम

	उद्भावना	साहू अखिलेश जैन	v
	'मूकमाटी' : शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा (वार्तालाप)	डॉ. प्रभाकर माचवे	vii
	पातनिकी (सम्पादकीय)	आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी	xxv
अनुक्रम			
1.	'मूकमाटी' : गूढ़ चिन्तन की सहज अभिव्यक्ति	विष्णुकान्त शास्त्री	1
2.	आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' : एक समीक्षण	डॉ. भगीरथ मिश्र	2
3.	'मूकमाटी' का काव्यरूप एवं उसका संस्कृत महाकाव्यों से तुलनात्मक अनुशीलन	आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी	9
4.	हिन्दी का कालजयी महाकाव्य : 'मूकमाटी'	पद्मश्री यशपाल जैन	27
5.	'मूकमाटी' : प्रवचन महाकाव्य	डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय	30
6.	दर्शन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'	शिवकुमार श्रीवास्तव	32
7.	'मूकमाटी' : एक रूपक महाकाव्य	डॉ. नगेन्द्र	34
8.	आध्यात्मिक आधार वाला पहला महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) विजयेन्द्र स्नातक	34
9.	श्री अरविन्द की 'सावित्री' और आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' : एक तुलनात्मक दृष्टि	डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव	35
10.	'मूकमाटी' : पतित से पावन बनने का सन्देश (वार्तालाप)	मुकेश नायक	43
11.	'मूकमाटी' : एक अनूठी काव्यानुभूति	जवाहर लाल दर्डा	46
12.	'मूकमाटी' : यथार्थ की सच्ची कहानी	प्रो. (डॉ.) माजदा असद	47
13.	काव्यशास्त्रीय निकष पर 'मूकमाटी'	डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया	50
14.	'मूकमाटी' की अन्तर्ध्वनि	प्रो. (डॉ.) सूर्य प्रसाद दीक्षित	53
15.	'मूकमाटी' : काव्य और अध्यात्म का संगम घाट	प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन	60
16.	काव्य की माटी और माटी का काव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) चक्रवर्ती	62
17.	आत्मचेतना का सम्यक् साहित्यिक प्रवाह : 'मूकमाटी'	आचार्य (डॉ.) हरिशंकर दुबे	67
18.	'मूकमाटी' : मानवीय मूल्यों की पहचान	प्रो. (डॉ.) उमा मिश्र	77

19.	'मूकमाटी' महाकाव्य में वर्णित नारी विषयक अवधारणा : नारी एक–रूप अनेक	डॉ. सरोज गुप्ता	83
20.	मृत्तिकोपनिषद् है 'मूकमाटी'	आनन्द बल्लभ शर्मा 'सरोज'	87
21.	नयी कविता से अलग : 'मूकमाटी'	डॉ. (श्रीमती) कृष्णा रैणा	90
22.	'मूकमाटी' की महिमा	डॉ. रवीन्द्र भ्रमर	95
23.	नीति, दर्शन और अध्यात्म का ग्रन्थ : 'मूकमाटी'	डॉ. प्रेमसागर जैन	96
24.	आधुनिक युग की मनुस्मृति और गीता : 'मूकमाटी'	डॉ. परमेश्वर दत्त शर्मा	99
25.	'मूकमाटी' : एक सोद्देश्य महाकाव्य	डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर	107
26.	'मूकमाटी' : दिव्य मानव का अप्रतिम काव्यावदान	डॉ. सूर्य नारायण द्विवेदी	110
27.	मूकमाटी के ममतीले स्वरदाता : आचार्य विद्यासागर	प्रो. (डॉ.) पद्मश्री लक्ष्मी नारायण दुबे	114
28.	'मूकमाटी' : धरा की अनुगूँज	डॉ. शेखर चन्द्र जैन	116
29.	'मूकमाटी' : सत्य पथ से विमुख जनों को विचार देने वाला काव्य	डॉ. दया प्रकाश सिन्हा	142
30.	श्रेष्ठ सांस्कृतिक महाकाव्य : 'मूकमाटी'	प्रो. (डॉ.) सीताराम झा 'श्याम'	143
31.	'मूकमाटी' : काव्य रूप के बहाने स्फुट विचार	प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी	146
32.	शब्दों की परिभाषाओं के शिल्पी : आचार्य विद्यासागर	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	154
33.	काव्य और अध्यात्म का अनूठा संगम : 'मूकमाटी'	डॉ. उमा पाण्डेय	161
34.	जैन दर्शन पर आधारित प्रतीकात्मक महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. भानुदेव शुक्ल	167
35.	'मूकमाटी' में प्रशासनिक एवं न्यायिक दृष्टि	सुरेश जैन	170
36.	'मूकमाटी' : श्रेष्ठ आध्यात्मिक महाकाव्य	डॉ. फ़ैयाज़ अली ख़ाँ	174
37.	आचार्य विद्यासागर की बहुज्ञता - 'मूकमाटी' काव्य के सन्दर्भ में	डॉ. श्रीचन्द्र जैन	184
38.	'मूकमाटी' : आत्मिक आरोहण की हिरण्यमयता	डॉ. जनार्दन उपाध्याय	197
39.	आधुनिक हिन्दी काव्य की अप्रतिम उपलब्धि : 'मूकमाटी'	डॉ. ब्रज भूषण शर्मा	201
40.	'मूकमाटी' में युग-बोध का चित्रण	डॉ. भानु कुमार जैन	207
41.	उदात्त भाव-मुक्ताओं का सागर है 'मूकमाटी' काव्य	डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'	218
42.	'मूकमाटी' : अध्यात्म का एक जीवन्त दस्तावेज़	डॉ. आदित्य प्रसाद तिवारी	225
43.	हिन्दी साहित्य का गौरव ग्रन्थ : 'मूकमाटी'	प्रो. शील चन्द्र जैन	238
44.	'मूकमाटी': स्वानुभूतिमयी रचनाधर्मिता का पर्याय	डॉ. राजमणि शर्मा	253
45.	भारतीय संस्कृति का पर्याय : 'मूकमाटी'	डॉ. दामोदर पाण्डेय	261
46.	'मूकमाटी' : एक स्मरणीय महाकाव्य	डॉ. राम प्रसाद मिश्र	266
47.	'मूकमाटी' : काव्य, दर्शन और अध्यात्म की अन्यतम उपलब्धि	डॉ. के. एल. जैन	269
48.	'मूकमाटी' : भारतीय साहित्य की अनुपम कृति	डॉ. श्रीराम परिहार	274
49.	'मूकमाटी' : आधुनिक भारतीय साहित्य परम्परा का अनूठा एवं उल्लेखनीय महाकाव्य	प्रो. (डॉ.) लालचन्द अहिरवाल 'ज्योति'	276
50.	'मूकमाटी' : एक उदात्त कृति	पं. अक्षय चन्द्र शर्मा	286
51.	'मूकमाटी' : आगम युग की अनुयोगविहीन परम्परा का नवलेखन	डॉ. डी. के. जैन	287
52.	जीवन और दर्शन की सार्थक अभिव्यक्ति का महाकाव्य – 'मूकमाटी'	डॉ. हुकुमचन्द राजपाल	299
53.	उदात्त साधना का महाकाव्य 'मूकमाटी' : एक दृष्टि	डॉ. उमाशंकर शुक्ल	304

54.	आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि : 'मूकमाटी'	डॉ. मालती जैन	307
55.	'मूकमाटी' : संग्रहणीय एवं चिन्तन-मनन के योग्य उत्तम काव्य कृति	प्रो. (डॉ.) छबिनाथ तिवारी	312
56.	'मूकमाटी' : एक जीवनदर्शी काव्य	डॉ. र. वा. बिवलकर	314
57.	हिन्दी का गौरव ग्रन्थ : 'मूकमाटी'	प्राध्या. डॉ. (श्रीमती) मुक्ता सिंघेल	319
58.	'मूकमाटी' में अभिव्यक्त समाजवादी विचार एवं दलितोत्थान के स्वर	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'	322
59.	'मूकमाटी' : हिन्दी का नवीनतम महाकाव्य	डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल	339
60.	'मूकमाटी' : युग चेतना के स्वर	अज्ञात	348
61.	'मूकमाटी' में व्यंग्य-विनोद	डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी	353
62.	हिन्दी साहित्य में एक नई कड़ी जोड़ने वाला महाकाव्य : 'मूकमाटी'	डॉ. राम किशोर शर्मा	356
63.	'मूकमाटी' का मुखर सन्देश	डॉ. सुरेश चन्द्र त्यागी	361
64.	'मूकमाटी' : राष्ट्रीय चेतना का अन्तःस्वर	डॉ. आर. एल. एस. यादव	365
65.	नारी और जैनाचार्य श्री विद्यासागर	डॉ. निज़ामुद्दीन	367
66.	'मूकमाटी' की शब्द-साधना	डॉ. सुरेश चन्द्र जैन	372
67.	'मूकमाटी' : मानव जीवन का कल्पवृक्ष	डॉ. एस. पी. मिश्र	375
68.	जैन धर्म-दर्शन और साहित्य का अमर कोश : 'मूकमाटी'	डॉ. राजकुमार पाण्डेय एवं डॉ. गणेश शुक्ल	381
69.	'मूकमाटी' : आध्यात्मिक चिन्तन का रस परिपाक	डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी	386
70.	'मूकमाटी' जीवन दर्शन की अनुभूति	डॉ. नरेश भट्ट	387
71.	'मूकमाटी' की मुखर चेतना	केशव रावत	389
72.	'मूकमाटी' के शब्द साधक प्रत्ययों का मूल्यांकन	श्रीमती मिथिलेश कुमारी	401
73.	'मूकमाटी' : मानव जीवन के अन्तर्बाह्य द्वन्द्वों का सटीक चित्रण	डॉ. परमेश्वर सोलंकी	404
74.	'मूकमाटी' : लीक से हटकर प्रतिभा का परिचय देने वाली रचना	डॉ. ओमप्रकाश गुप्त	407
75.	'मूकमाटी' महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अवलोकन	प्रोफे. (डॉ.) आशा गुप्ता	409
76.	'मूकमाटी' और भारतीय अध्यात्म के चरण : सिंहावलोकन	डॉ. (श्रीमती) मंजु अवस्थी	414
77.	'मूकमाटी' में मानवीय बोध	डॉ. ब्रजेश कुमार द्विवेदी	423
78.	'मूकमाटी' महाकाव्य : आधुनिक भारतीय साहित्य की अपूर्व उपलब्धि	डॉ. पवन कुमार जैन	433
79.	भारतीय साहित्य की अनूठी उपलब्धि : 'मूकमाटी'	डॉ. (श्रीमती) किरण बाला अरोड़ा	436
80.	'मूकमाटी' : प्रयोगवादी काव्य परम्परा की नयी कड़ी	डॉ. महेन्द्र कुमार साहू	439
81.	'मूकमाटी' : आत्मिक ऊर्ध्वारोहण की महागाथा	डॉ. गणेश खरे	440
82.	'मूकमाटी' : मनुष्य की यथा-कथा	बशीर अहमद मयूख	444
83.	'मूकमाटी' : अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला महान् ग्रन्थ	मानव मुनि	447
84.	'मूकमाटी' : जीवन का विज्ञान	डॉ. रामचन्द्र मालवीय	448
85.	'मूकमाटी' : अन्तश्चेतना का महाकाव्य	नव भारत (दैनिक), नागपुर (महाराष्ट्र)	450
86.	चिन्तन-प्रधान विशिष्ट काव्यकृति : 'मूकमाटी'	डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ	452
87.	'मूकमाटी' : प्रज्ञा का महाकाव्य	डॉ. रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल'	454
88.	तत्त्व दर्शन से भरी-पूरी कविता को समेटे 'मूकमाटी'	कैलाश चन्द्र पन्त	458
89.	'मूकमाटी' : सम्पूर्ण जीवन दर्शन का सार	सम्पा. दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका	460
90.	'मूकमाटी' : आधुनिक भारतीय साहित्य की बड़ी उपलब्धि	डॉ. वीरेन्द्र कुमार दुबे	461

91.	'मूकमाटी' : एक अमूल्य धरोहर	श्रीमती आराधना जैन	463
92.	Acharya Vidyasagar's : MOOKMATI (Mute-mud)	Jaikishandas Sadani	465
93.	'मूकमाटी' - सप्तक	डॉ. छोटे लाल शर्मा 'नागेन्द्र'	474
94.	'मूकमाटी' महाकाव्य : विश्व साहित्य की अनुपम कड़ी	एन. शान्तादेवी	476
95.	'मूकमाटी' : ग्रंथ परिचय	प्रदीप शहा	479

परिशिष्ट : प्रथम

96.	आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन और रचना संसार	आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी	483

परिशिष्ट : द्वितीय

97.	आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज : व्यक्तित्व, सृजन एवं शोध-सन्दर्भ	523

परिशिष्ट : तृतीय

98.	लेखकों के पते	550

❑❑

'मूकमाटी' : गूढ़ चिन्तन की सहज अभिव्यक्ति

विष्णुकान्त शास्त्री

मुनिप्रवर आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' की अविरल भावधारा में अवगाहन एक साथ यथार्थ, अध्यात्म तथा काव्य रस की अलौकिक अनुभूति कराता है। यह आचार्यजी की अद्‌भुत काव्य चेतना एवं करुण संवेदना ही है जिसने 'माटी' जैसी साधारण-सी दिखाई पड़ने वाली वस्तु को विषय बनाकर एक ऐसे रूपक महाकाव्य की रचना की है, जो मानव जीवन के आरम्भ से लेकर उसके संघर्षमय परिष्कार तथा उत्कर्ष तक का अत्यन्त सूक्ष्म, विशद एवं हृदयग्राही चिन्तन प्रस्तुत करता है।

निरीह माटी की मूक वेदना और मुक्ति की आकांक्षा को आचार्यजी ने केवल जैन दर्शन के धरातल पर ही नहीं बल्कि सनातन भारतीय मनीषा के अनुरूप अभिनव काव्यात्मक शैली में वाणी दी है। मिट्‌टी का कुम्हार, चाक एवं आँवाँ से संसर्ग तथा अन्ततः कलश अथवा कुम्भ में परिणत होना, स्वयं में ही मानव के विकास की कथा को रूपायित करता है। कथा जैसी रोचकता को निरन्तर बनाए हुए, मानव मन के संघर्ष तथा आध्यात्मिक विकास को तर्कपूर्ण ढंग से काव्यात्मक सौन्दर्य के साथ प्रस्तुत करने वाली यह निस्सन्देह एक अनूठी कृति है। प्रकृति के विभिन्न उपमानों का सुन्दर छायावादी चित्रण एवं उनसे संवाद तथा शब्द लालित्य एवं वर्ण विनोद के द्वारा गूढ़ चिन्तन की सहज अभिव्यक्ति इस महाकाव्य की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इसे अद्वितीय बनाती हैं।

आचार्य विद्यासागरजी मूलतः महान् जैन मुनि एवं सन्त हैं। यही कारण है कि सुख-दुःख, पाप-पुण्य और न्याय-अन्याय की अनेकानेक विसंगतियों के द्वन्द्व के बीच भी कवि का मूल स्वर मानव मात्र के कल्याण का ही रहा है:

- *"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !*
  हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)
- *"यहाँ···सब का सदा,/जीवन बने मंगलमय !/छा जावे सुख-छाँव,*
  सबके सब टलें--/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
  हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों।" (पृ. ४७८)

अध्यात्म और कविता दोनों को पग-पग पर गुम्फित करती हुई 'मूकमाटी' जैसी सशक्त कृति देकर आचार्य विद्यासागर ने न केवल भक्तों एवं साधकों पर महान् उपकार किया है बल्कि हिन्दी साहित्य को भी अभूतपूर्व समृद्धि प्रदान की है। ऐसी अनमोल कृति के रचयिता परमपूज्य आचार्यजी का अभिनन्दन एवं वन्दन करते हुए मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि वे परम यशस्वी हों और अपनी कल्याणमयी वाणी से हम सबको निरन्तर लाभान्वित करते रहें।

पृष्ठ २८
हाँ! अब शिल्पी ने
---- अहंकार का
वमन किया है!

आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' : एक समीक्षण

डॉ. भगीरथ मिश्र

'मूकमाटी' एक वैचारिक, आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों से युक्त संवाद महाकाव्य है। परम्परागत महाकाव्य की कसौटी पर तो यह खरा नहीं उतरता, यद्यपि इसके 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने इसे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर वह केवल बाह्याकार-प्रकार की पैमाइश है – अन्तरंग भावान्दोलन और जीवन का साकार संवेद्य दृष्टिगामी रूप इसमें नहीं मिलता और वह इसके रचनाकार का लक्ष्य भी नहीं है, क्योंकि वह श्रमण संस्कृति के अनुरूप भी नहीं बैठता। आचार्य मुनिवर विद्यासागरजी की यह रचना जड़ पात्रों में चेतना का जादू भरकर खड़ी की गई है और इन पात्रों के प्रतीकों के बहाने इसमें परम्परागत त्याग, परिश्रम, निष्ठा, समर्पण, सहिष्णुता, धैर्य, साहस जैसे नैतिक गुणों का विश्लेषण और विवेचन किया गया है।

'मूकमाटी' का कथानक बड़ा क्षीण और प्रतीकात्मक है। इसके पात्र प्रायः सभी प्रकृति के जड़ पदार्थ हैं, पर वे चेतन के रूप में वार्तालाप करते हैं और एक प्रकार से जीवन के चेतन पात्रों के प्रतीक हैं। यह क्षीण कथानक ही बीच-बीच में दार्शनिक और नैतिक विचारों, आध्यात्मिक भावनाओं तथा साधना प्रक्रियाओं के विवरण के भराव से चार सौ पृष्ठों से अधिक का विस्तृत काव्य बन गया है। इसमें सन्देह नहीं कि आद्योपान्त विशद वर्णनों और संवादों में कवि दृष्टि का प्राधान्य है। कथानक का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है– प्रभात वेला में मन्द-मन्द गति से सरिता बह रही है। उसी समय उसके तट की मृदु माटी माँ धरती से कह रही है: 'मैं पतिता, पद-दलिता हूँ। हमारी उन्नति कब होगी? हमारा मार्गदर्शन करो।' इस पर माँ धरती कहती है कि 'सत्ता शाश्वत होती है। वह उत्थान-पतन की अगणित सम्भावनाओं को जन्म देती है। संगति के साथ व्यक्ति और वस्तु का रूप बदलता है। बादलों से गिरने वाला उजला जल मिट्टी का संसर्ग पाकर कीचड़ बन जाता है, वही जल वृक्षों की जड़ों में जाकर हरी-हरी पत्ती, फूल और फल बनता है। ये सम्भावनाएँ तुझमें हैं। तूने अपने को पतित कहा है और लघुतम माना है, अतः निश्चय ही तू प्रभु, गुरुतम का सान्निध्य प्राप्त करेगी। तेरा भला साधना से ही होगा। धरती की यह बात सुनकर माटी कहती है कि माँ! मुझे अब रास्ता मिल गया।'

धरती बोली : 'बेटा! अच्छा हुआ कि मेरा आशय तुम्हारे भीतर उतर गया। कल के प्रभात से तुम्हारी यात्रा आरम्भ होगी। शिल्पी आएगा, तुम्हें पतित से पावन करने। उसी के द्वारा तुम्हारा जीवन गौरवमय बनेगा। उसकी सेवा के साथ, शिल्पकला पर अपनी यात्रा का सूत्रपात करना है तुम्हें।'

माटी प्रतीक्षा करने लगी, उस प्रभात की, जिसमें शिल्पी आएगा। प्रतीक्षा कर ही रही थी कि मंगल घटनाएँ घटित होने लगीं। उछलता हुआ मृग बाएँ से दाहिने जा रहा था। उसे आशा बँधी, तभी उसे अपनी ओर बढ़ते हुए श्रमिक चरण दिखाई पड़े। माटी फूली न समाई। आने वाले श्रमिक चरण एक दृढ़ संकल्पी - कुशल शिल्पी मानव के थे, जिसका शिल्प कण-कण के रूप में बिखरी माटी को नाना रूप प्रदान करता है। अपनी संस्कृति को वह विकृत नहीं होने देता। वह कुशल शिल्पी कुम्भकार के नाम से जाना जाता है। वह आया और ओंकार को नमन कर माटी का संस्कार करने लगा। उसने कुदाली से माटी खोदी, उसको बोरी में भरा और गदहे पर लादा। फिर माटी को छाना गया। उसमें मिले कंकर-पत्थर बीने गए। अलग होने पर कंकर शिल्पी से कहते हैं : 'हमें माँ से अलग क्यों कर रहे हो?' शिल्पी ने उत्तर दिया : 'मृदु माटी से, लघु जाति से मेरा शिल्प निखरता है, जबकि कठोर कंकरों से वह बिखरता है। तुम इतने दिनों माटी के साथ रह कर उससे आत्मसात् न हुए, उससे घुल-मिल न पाए। तुममें तो जल-धारण की भी क्षमता नहीं। माटी में तो बीज बोने से फसल आती है, जिससे सृष्टि पलती है, अतः माटी गरिमावान् है। तुममें वे गुण नहीं हैं, अतः तुम उसके साथ नहीं रह सकते।'

तत्पश्चात् माटी भिगोई गई। उसमें जल मिलाने की प्रक्रिया में माटी-मछली संवाद है। माटी को रौंदकर उसका लोंदा बनाया गया। उसमें हथेलियों के थपेड़ों से स्निग्धता लाई गई। इसी बीच उपदेश के साथ-साथ सभी रसों

का विवेचन है। फिर चाक पर चढ़ाकर कुम्भ बनाया गया। थापी की चोट देकर उसे सुडौल किया गया। जब वह सुन्दर कुम्भ के आकार में ढल गया, तब उस पर अनेक प्रकार की चित्रकारी की गई। इसी प्रसंग में भारतीय और पाश्चात्य सभ्यताओं का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। कुम्भ बन जाने पर आँवाँ तैयार किया गया। उसमें आग लगाई गई। पहले धुआँ उठा, कुम्भ को धूम का भक्षण करना पड़ा। फिर अग्नि में तपना पड़ा। यह उसकी अग्नि परीक्षा हुई। वह पक कर तैयार हो गया।

शिल्पी के शिल्प से कुम्भ में अद्‌भुत शक्ति आई। उस कुम्भ को सेठ का सेवक कुम्भकार से प्राप्त करके पूजा के लिए ले गया। वहाँ उसे धोकर पूजा के लिए सुसज्जित किया गया। केसर मिश्रित चन्दन से उसे चित्रित किया गया। हल्दी की रेखाओं से कण्ठ रँगा गया। कुंकुम का लेप किया गया। हल्दी, कुंकुम, केसर, चन्दन से कुम्भ का नया सौन्दर्य निखर आया। उसके मुख पर पान और श्रीफल रखे गए। इस प्रकार तैयार कर मांगलिक कुम्भ अठपहलू चन्दन की चौकी पर रखा गया। फिर चैत्यालय में स्थापित प्रभु की पूजा के लिए सेठ गया। उसके उपरान्त प्रांगण में आकर अतिथि के स्वागत (पड़गाहन) के लिए मंगल कुम्भ लेकर खड़ा हुआ। वहीं पर पास में अपने-अपने घरों के सम्मुख बहुत से अन्य लोग भी स्वागत (पडगाहन) के लिए खड़े थे। कोई स्वर्ण कलश, कोई रजत कलश, कोई ताम्र कलश और कोई पीतल के कलश लिए हुए था। सेठ ने अतिथि का स्वागत (पड़गाहन) किया। अतिथि के आते ही आँगन तथा पास-पड़ौस में खड़े जनसमूह ने जयघोष किया। आहार के पश्चात् सेठ ने अतिथि से आशीर्वाद की प्रार्थना की ताकि हम आपके मार्ग पर चलें और अपने अस्तित्व को पहचान सकें, ऐसा हमारा मार्गदर्शन कीजिए। अतिथि के मुँह से शब्द निकले : 'जो कुछ दिखता है, वह मैं नहीं हूँ। मुझ में जानने-देखने की शक्ति है। उसी का स्रष्टा हूँ। सभी का द्रष्टा हूँ।'

इतना कहकर वे चल पड़े और उनके पीछे सेठ भी। सेठ पूछता है– 'काल की कसौटी पर कैसे खरा उतरूँ?' गुरु का उत्तर है, 'आत्मा को छोड़कर सब पदार्थों को विस्मृत करना ही पुरुषार्थ है।' सेठ परिवार समेत हर्षित होकर रह रहा था। उसे पात्रदान से सन्त समागम प्राप्त हुआ। कुम्भ नीतिवाक्य कहता है। सबको अनुभव होता है कि कुम्भ के कारण ही सन्त का मिलन हुआ। इसी बीच में मानव सभ्यता का विश्लेषण करते हुए जीवन की कुछ उपयोगी बातें कही गई हैं। तब समीपस्थ सोने का कलश कुछ अपनी बातें कहता है और माटी का कुम्भ अपनी बातें। लम्बा कलश - कुम्भ संवाद कुलीन और निम्न वर्ग का संवाद है। अन्य कलशों के साथ भी कुम्भ का संवाद विस्तार से होता है जिसमें सभी कलश माटी के कुम्भ की हँसी उड़ाते हैं। इस पर सेठ दुःखी हुआ। ताप और संतापग्रस्त होकर वह अस्वस्थ हो गया। चिकित्सा-विशारद वैद्य आए, पर लाभ नहीं हुआ। अन्ततः कुम्भ के कहने पर प्राकृतिक चिकित्सा हुई। छनी माटी का लोंदा बनाकर सिर पर रखा गया। पेट पर और नाभि के निचले भाग पर भी। माटी के उपचार से सेठ नीरोग हुआ और यह सब था कुम्भ का चमत्कार। इस बात पर कुम्भ के द्वारा धातु कलशों का उपहास भी हुआ।

धातु कलशों ने उपहास से उत्तेजित होकर आतंकवाद का सहारा लिया। अवांछित तत्त्वों ने सेठ का घर घेर लिया। पर कुम्भ की सलाह से सेठ सपरिवार बाहर निकल भागे। मार्ग में सिंहों, व्याघ्रों, गजों, अजगरों आदि से बचते हुए सेठ की रक्षा हुई। सेठ निर्दोष सिद्ध हुए। पर कुम्भ ने कहा, 'अभी लौटना नहीं है। आतंकवाद गया नहीं है। उससे संघर्ष करना है।' आगे बढ़ने पर मार्ग में नदी आई। कुम्भ के सुझाव पर उसके गले में रस्सी बाँधकर दूसरा छोर अपनी-अपनी कटि में बाँध कर सभी नदी पार करने लगे। नदी से सेठ ने कहा कि यदि धरा का आधार नहीं मिलता तो तुम्हारा अस्तित्व और गति ही न होती। इसी पर तुम्हारा जीवन निर्भर है। बीच नदी में तूफान आया, आतंकवादी दल की नाव उलटी। सेठ सपरिवार एक-दूसरे को सहारा देते हुए किनारे गया। वह वही किनारा था जहाँ से कुम्भकार ने माटी लेकर घट का निर्माण किया था। कुम्भकार प्रसन्न हुआ, अपनी रचना की गौरवमय गाथा को सुनकर।

उस समय माँ धरती ने माटी से कहा– 'कुम्भकार या शिल्पी का संसर्ग सृजनशील जीवन का आदिम सर्ग है। जिसका संसर्ग मिला, उसके प्रति समर्पण द्वितीय सर्ग है। समर्पण के बाद परीक्षाओं और अग्नि परीक्षाओं को उत्साह और साहस के साथ सहन करना तृतीय सर्ग है। परीक्षा के बाद ऊर्ध्वमुखी होकर स्वाश्रित का विसर्ग अन्तिम सर्ग है तथा स्वयं

को निसर्ग करना, यह सृजनशील जीवन का वर्गातीत अपवर्ग है।'

कथानक के इन क्षीण तन्तुओं पर दार्शनिक, सामाजिक एवं नैतिक विचारों, उदात्त मूल्यों और सांस्कृतिक भावनाओं का रूप-रंग चढ़ाकर एक भावात्मक, विचार प्रधान, आध्यात्मिक प्रतीक काव्य का ताना-बाना बुना गया है। जीवन की नैतिक शिक्षा, आध्यात्मिक विचार, पवित्र तप:पूत जीवन की प्रेरणा से यह काव्य पूर्णतया सम्पन्न है, पर एक प्रबन्ध काव्य की भाँति जीवन्त कथानक और आन्दोलित कर देने वाली भावनाओं तथा जटिल-विषम परिस्थितियों के झकझोरने वाले झंझावात का इसमें अभाव है। रस और भाव व्यंग्य होते हैं, वाच्य नहीं। हमें अमुक से प्रेम है या अमुक को देखकर हँसी आती है या भय लगता है-- ऐसे कथनों से शृंगार, हास्य या भयानक रसों की सृष्टि नहीं होती, वे तो परिस्थितियाँ होती हैं, जिनमें डूबकर पात्र सजीव बनता है और भावों की गहरी अनुभूति में डूब जाता है। इस दृष्टि से 'मूकमाटी' को महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य नहीं कहा जा सकता। यह एक आध्यात्मिक, प्रतीकात्मक संवाद काव्य है।

परम्परागत रूप में प्रबन्ध काव्य न होता हुआ भी 'मूकमाटी' एक विशिष्ट प्रतीक काव्य है। इसमें धरती और उसकी सबसे लघुतम इकाई माटी की महिमा का वर्णन है। माटी के सम्बन्ध में यह कवि का मौन चिन्तन है। इसमें धरती की धारणशीलता, सहनशीलता, क्षमाशीलता और उदारता को उजागर किया गया है। उसी धरती का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश माटी है। इसमें मृदुता है, जिसमें उचित संसर्ग पाकर विविध रूप धारण करने की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। उससे कलश, कुम्भ आदि अनेक प्रकार के पात्र बनते हैं तथा उससे खिलौने, विभिन्न आकृतियाँ, विविध मानव और देवमूर्तियाँ बनती हैं और उसी से दीवालें और घर भी बनते हैं तथा पके पात्र और पकी ईंटें निर्माण और सर्जना की असंख्य कल्पनाओं को साकार करते हैं। परन्तु इस सृजनशीलता के अतिरिक्त उसमें अद्‌भुत उर्वरता है। सभी बीज धरती की माटी में सुरक्षित रहते हैं और जल का संसर्ग पाकर अंकुरित हो जाते हैं। आकाश में जैसे नक्षत्रों का निवास है, वैसे ही धरती की माटी में बीजों का निवास है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है :

''यथा भूमि सब बीज मय, नखत निवास अकास।
रामनाम सब धर्ममय, बरनत तुलसीदास॥''

यह 'राम नाम', ओंकार का ही एक रूप है। 'ओम्' निर्गुण है और राम सगुण हैं। उर्वरता के साथ-साथ माटी में उपचार की भी अद्‌भुत शक्ति है जिससे मनुष्य नीरोग होता है। इसके अतिरिक्त माटी अविनश्वर है, क्योंकि जड़ वस्तुएँ और चेतन प्राणी सभी अन्ततोगत्वा माटी में मिल जाते हैं, सूखी लकड़ी को दीमक माटी बना देती है, गोबर तथा मृत जीव-जन्तु सभी माटी हो जाते हैं, पर माटी, माटी ही बनी रहती है। सभी का अन्त माटी में ही है। तभी कबीर कहते हैं :

''माटी कहै कुम्हार सों, तू क्या रौंदे मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रौंदूँगी तोहि॥''

कबीर सत्य ही कहते हैं। उसी माटी के गौरव को इस ग्रन्थ में उजागर किया गया है।

इस काव्य ग्रन्थ में केवल दो पात्र प्रमुख रूप से हैं, जो चेतन हैं पर वे बहुत कम बोलते हैं-- वे हैं सेठ और शिल्पी। शेष सभी पात्र जड़ हैं और वे सभी खूब बात करते हैं। उन्हीं के माध्यम से जीवन की अनेक उपयोगी बातें और माटी के महत्त्व की विशद व्याख्या इस काव्य में प्रस्तुत की गई है। इस ग्रन्थ को पढ़ने से सोचने-विचारने की निरन्तर प्रेरणा मिलती है। यह एक गम्भीर चिन्तनपरक काव्य है। यद्यपि इसके पढ़ने से सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, फिर भी हम आगे इस काव्य के कुछ महत्त्वपूर्ण विन्दुओं का उल्लेख कर रहे हैं।

सबसे पहले हम प्रतीक प्रयोग को लेते हैं। यों तो पूरा काव्य ही प्रतीक है, क्योंकि मूकमाटी श्रमशील, कार्यनिष्ठ, अपने को निम्न समझने वाले जन-समुदाय का प्रतीक है, जो वह सब कुछ सहता जाता है, जो प्राकृतिक रूप से होता रहता है, या फिर जो शासन, प्रशासन और उच्चस्थ श्रीमन्त व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है एवं उसके

विरुद्ध न कुछ कहता है और न कुछ करता है। फिर भी सारी खेती-बारी का काम, कल-कारखानों में श्रमकार्य, ऊँचे-ऊँचे भवनों, सड़कों, रेलमार्गों का निर्माण कार्य वही जन-सामान्य मूकभाव से करता है, जिनके श्रम से प्राप्त और निर्मित वस्तुओं का सभी उपभोग करते हैं। परन्तु इस मूलभूत प्रतीक के अतिरिक्त भी अनेक प्रतीक हैं। जैसे मणिमुक्ता का प्रतीक जो स्थितप्रज्ञ का प्रतीक है। कोई उसे बोरों में भरकर ले जाए या तिजोरियों में रखे अथवा आभूषणों में उसका प्रयोग करे, वह सदैव एक भाव रहती है - चाहे कोई उसकी प्रशंसा करे या निन्दा। कवि कथन है :

''बोरियों में भरी गई।/सम्मान के साथ अब जा रही है
राज-प्रासाद की ओर···/मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा हो रही है,/पर
मन्त्र मुग्धा हो सुनती कब उसे ?/मुदित-मुखी महिलाओं के
संकट-हारिणी कण्ठ-हार बनती !/द्वार पर आगत अभ्यागतों के
सर पर हाथ रखती,/तारणहार तोरणद्वार बनती,
इस पर भी वह/उन्मुक्ता मुक्ता ही रहती
अहंभाव से असंपृक्ता···मुक्ता···!'' (पृ. २२१)

इसी प्रकार एक अन्य प्रतीक श्वान और सिंह का है। श्वान नीच और दुष्टों का प्रतीक है, जबकि सिंह उदात्त भावना वालों और वीर पुरुषों का। इन दोनों की विशेषताएँ बताई गई हैं। इस सम्बन्ध की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं। इस प्रसंग में यह भी कह देना आवश्यक है कि यह श्वान और सिंह का चित्रण कुम्भ के ऊपर हुआ है, जिसने इन पंक्तियों को प्रेरित किया। उस तुलना की कतिपय पंक्तियाँ ये हैं :

''दोनों की जीवन-चर्या-चाल/परस्पर विपरीत है।
पीछे से, कभी किसी पर/धावा नहीं बोलता सिंह,
...परन्तु, श्वान सदा/पीठ-पीछे से जा काटता है,
...स्वामी के पीछे-पीछे पूँछ हिलाता/श्वान फिरता है एक टुकड़े के लिए।
सिंह/...अपनी स्वतन्त्रता-स्वाभिमान पर/कभी किसी भाँति
आँच आने नहीं देता वह !/और श्वान/स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता,
...श्वान के गले में जंजीर भी/आभरण का रूप धारण करती है।
...श्वान-सभ्यता—संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है/कि
वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है।'' (पृ. १६९-१७१)

इसी प्रकार कुम्भ पर अंकित कछुवा और खरगोश के प्रतीकों की भी तुलना की गई है। कुम्भ पर अंकित 'ही' और 'भी' अक्षरों को 'एकान्तवाद' और 'अनेकान्तवाद' का प्रतीक माना गया है। इसी प्रकार 'ही' को पश्चिमी सभ्यता का एवं 'भी' को भारतीय संस्कृति का प्रतीक मानकर कहा गया है :

'' 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण है कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।
...'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।'' (पृ. १७३)

इसी प्रकार अन्य अनेक प्रतीकों के माध्यम से जीवन की नीतियों और आचरणों का विवेचन किया गया है।

जीवन के बहुत से तत्त्वों का विवेचन इस ग्रन्थ में संवादों के माध्यम से किया गया है। यों तो छोटे-मोटे अनेक संवाद हैं, परन्तु प्रमुख संवाद तीन हैं– प्रथम, धरती-माटी संवाद; द्वितीय, बादल-सूर्य का संवाद और तृतीय कुम्भ-कलश संवाद। ग्रन्थ का प्रारम्भ ही धरती और माटी संवाद से होता है माटी के यह कहने पर कि मैं स्वयं पतिता हूँ, अधम पापियों से पददलिता हूँ, तिरस्कृत हूँ, दु:ख से मुक्त हूँ, अत: मेरा यह जीवन उन्नत होगा या नहीं ? आगे बढ़ने का उपाय बता दो माँ ! धृति-धारिणी धरती कहती है– 'बेटा ! सत्ता या अस्तित्व शाश्वत है। रहस्य में पड़ी गन्ध संसर्ग और अनुपान से सजग हो उठती है। तब जैसी संगति मिलती है वैसी ही मति और प्रगति होती है। तूने अपने आपको पतित और लघुतम माना है, इससे सिद्ध होता है कि तूने अपने अहं को त्याग दिया है। इससे तुझे गुरुतम को पहचान कर अनुकूल दिशा में बढ़ना होगा। अब तुम्हारा मार्ग प्रशस्त है। शिल्पी आएगा और तुम्हारी अनन्त सर्जन सम्भावनाओं को उजागर करेगा।'

बादल और सूर्य का संवाद आपसी बहस जैसा है। दोनों अपनी-अपनी विशेषताओं का बखान करते हैं और एक-दूसरे की बुराई प्रकट करते हैं। परन्तु धरती और माटी के लिए दोनों की उपयोगिता है, क्योंकि दोनों की कृपा से ही धरती हरी-भरी और लहलही रहती है। कुम्भ और कलश का संवाद प्रतीकात्मक रूप धारण किए है। कुम्भ, सामान्य निम्नकोटि के साधनहीनजनों का प्रतीक है, क्योंकि वह साधारण मूल्यहीन माटी का बना हुआ है, जबकि कलश सोने, चाँदी, ताँबे और पीतल के बने हैं, अत: वे उच्च समृद्ध वर्ग के प्रतीक हैं। ये कलश उसकी हँसी उड़ाते हैं। माटी का कुम्भ अवा में तपस्या और अग्नि परीक्षा की दुहाई देता है पर उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अन्त में जब सेठ बीमार होता है, तब माटी का कुम्भ ही उपचार बताता है– गीली मिट्टी का और सेठ ठीक होता है। इस प्रकार सामान्य जन की विजय प्रदर्शित की गई है। परन्तु संवादों के तर्क पूर्णतया शास्त्रीय (एकेडमिक) या वकीलाना ढंग के हैं। अन्त के निष्कर्ष भी बहुत जीवनोपयोगी नहीं जान पड़ते। हाँ, अन्य अनेक स्थलों पर सामयिक सन्देश प्राप्त होते हैं।

अनेक प्रसंगों में कही बातें आज के जीवन के लिए उपयोगी मार्गदर्शन या अनुभव के रूप में नीति वाक्य या सुभाषित से लगते हैं। जैसे कुछ उदाहरण स्पष्ट करते हैं, जो आगे उद्धृत हैं :

- *"आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ !*
  कारण विदित ही है—/जिसे पथ दिखाया जा रहा है
  वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
  औरों को चलाना चाहता है।" (पृ. १५२)
- *"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही*
  बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)
- *"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से*
  अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
  चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
  ...अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन।" (पृ. २८८)
- *"आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही*
  सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)
- *"प्राय: बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,*
  पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है।" (पृ. ३८२)

उपर्युक्त कथनों की विवेचना या व्याख्या की आवश्यकता नहीं। ये स्वत: स्पष्ट हैं। जीवन की अनुभूतियों का सार होने के साथ-साथ इनमें जीवन मूल्य भी निहित हैं।

'मूकमाटी' में प्रकृति के वर्णन बड़े लुभावने हैं। प्रकृति को विभिन्न वस्तुओं का मानवीकरण कर उनमें एक रमणीय आकर्षण उत्पन्न कर दिया गया है। बदली को नारी रूप में प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है :

''गजगामिनी भ्रम-भामिनी/दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी/तीन बदली निकल पड़ी हैं।
दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह
ऊपर से.../साधनारत साध्वी-सी लगती है।
रति-पति-प्रतिकूला-मतिवाली/पति-मति-अनुकूला गतिवाली
इससे पिछली, बिचली बदली ने/पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे,/लाल पगतली वाली लाली-रची
पद्मिनी की शोभा सकुचाती है जिससे।'' (पृ. १९९-२००)

यहाँ बदली में सुन्दरी नारी की शोभा देखी गई है। इसी प्रकार प्रभाव का प्रेरणाप्रद वर्णन इस प्रकार किया गया है :

''अणु-अणु कण-कण ये/वन-उपवन और पवन
भानु की आभा से धुल गये हैं।
कलियाँ खुल खिल पड़ीं/पवन की हँसियों में,
छवियाँ घुल-मिल गईं/गगन की गलियों में,
नयी उमंग, नये रंग/अंग-अंग में नयी तरंग
नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा/नये उत्सव तो नयी भूषा।'' (पृ. २६२-२६३)

वास्तव में इस काव्य ग्रन्थ में प्रकृति के वर्णन बड़े मनोरम हैं, क्योंकि कवि के लिए प्रकृति का कण-कण चेतन है। उसे प्रकृति के रूप और व्यापारों में मानवीय रूप और व्यापार प्रतिभासित होते हैं। 'धूप' उसे भानु की अंगना लगती है। कुएँ से ऊपर जल के साथ आई हुई मछली के प्रसंग में उस धूप का वर्णन इस प्रकार है :

''बालटी वह अबाधित/ऊपर आई– भूपर/कूप का बन्धन
दूर हुआ मछली का;/सुनहरी है, सुख-झरी है/धूप का वन्दन···!
पूर हुआ वह सुख का/धूप की आभा से भावित हो
रूप का नन्दन वन।/धूल का समूह वह/सिन्दूर हुआ मुख का
मछली की आँखें/अब दौड़ती हैं सीधी/उपाश्रम की ओर···!
दिनकर ने अपनी अंगना को/दिन-भर के लिए
भेजा है उपाश्रम की सेवा में,/और वह/आश्रम के अंग-अंग को
आँगन को चूमती-सी···/सेवानिरत-धूप···!'' (पृ. ७८-७९)

इस प्रकार इस काव्य में जहाँ भी कोई अवसर मिला, कवि ने प्रकृति का मानवीकृत सुन्दर रूप-वर्णन प्रस्तुत किया है।

'मूकमाटी' काव्य पढ़ने पर, स्थान-स्थान पर कवि की वाणी का चमत्कार देखने को मिलता है। कहीं शब्द प्रयोग में कोमला और उपनागरिका वृत्तियों की छटा है, तो कहीं अनुप्रास, यमक और श्लेष के प्रयोग का चमत्कार है। भाषा पर, शब्दों पर कवि का विलक्षण अधिकार है। एक ताल और लय के समान ध्वनि वाले शब्द जैसे उसके इशारे पर नाचते हैं। श्लेष और यमक के भिन्न-पद प्रयोग बड़े मार्मिक हैं और शब्दों की नई व्युत्पत्तियाँ प्रस्तुत करते हैं। उपर्युक्त कथन उदाहरणों के द्वारा ही स्पष्ट होंगे, अतः कुछ के नमूने नीचे दिए जाते हैं :

''अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी

'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,
कृपाण कृपालु नहीं है/वे स्वयं कहते हैं
- *हम हैं कृपाण/हम में कृपा न!" (पृ. ७३)*
- *"जहाँ कहीं भी देखा/महि में महिमा हिम की महकी।" (पृ. ९१)*

"मन के गुलाम मानव की/जो कामवृत्ति है/तामसता काय-रता है
वही सही मायने में/भीतरी कायरता है!" (पृ. ९४)

इस प्रकार शब्द प्रयोग के चमत्कार, लय की उदात्तता, ओजस्विता और माधुर्य तथा बिम्बों की सटीक सार्थकता के साथ यह काव्य आद्योपान्त मन को चुम्बक की तरह तल्लीन रखने वाला है तथा जीवन को अनुभवों और मानवीय मूल्यों से पूर्णत: सम्पृक्त करता रहता है।

इस काव्य में आद्योपान्त धरती की गरिमा और माटी की महिमा का वर्णन है। कवि के शब्दों में :

"धरती की धवलिम कीर्ति वह/चन्द्रमा की चन्द्रिका को लजाती-सी
दशों दिशाओं को चीरती हुई/और बढ़ती जा रही है
सीमातीत शून्याकाश में।" (पृ. २२२)

इसी धरती पर शूर वीर, श्रीमान्, धीर, सन्त, ऋषि, गृहस्थ, प्रबुद्ध जन उत्पन्न होते हैं। यहीं तरु-लता - किसलय-फूल और फलों की समृद्धि होती है। पर्वत, नदी, सरोवर आदि इसी पर हैं। अन्न, धान और मणि-माणिक्य इसी धरती की उपज हैं। अत: वह धरती धन्य है। माटी भी इसी का अंग है जिसकी अपार महिमा है। माटी की गोद में ही अन्न, धान्य, फूल, फल तथा अनेक प्रकार के जीव-जन्तु पलते हैं। माटी में सर्जना की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। इसका मोल द्रव्य से नहीं, गुण और धर्म से आँका जा सकता है जिसमें माटी हर तरह से महान् और गरिमामयी है। इस प्रकार माटी की महिमा और कुम्भ के मंगलवाक्यों के साथ ग्रन्थ का उपसंहार होता है। यह सब बड़ा प्रेरक एवं मांगलिक है। ❑

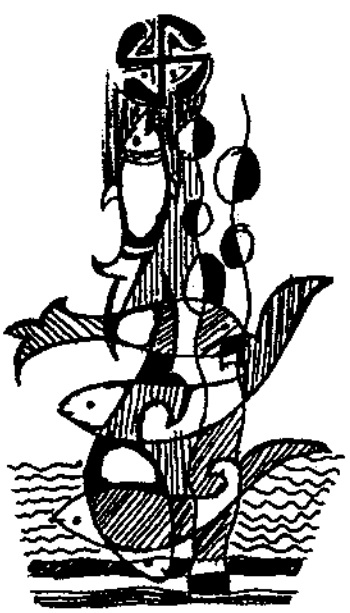

पृष्ठ ७१
उसे
नूतन जाल-बन्धन---
---काल के गाल में
कवलित होंगे हम!

'मूकमाटी' का काव्यरूप एवं उसका संस्कृत महाकाव्यों से तुलनात्मक अनुशीलन

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

'मूकमाटी' : आचार्य श्री विद्यासागर

आलोच्य कृति से आद्यन्त गुज़र गया हूँ। कवित्व और चिन्तन का मणि-कांचन योग हुआ है इसमें। काव्य रूप की दृष्टि से इसे प्रबन्ध काव्य कहा जायगा। कारण, कथा का क्षीणकाय सूत्र पूर्ववर्ती खण्डों में भी विद्यमान है। अन्तिम खण्ड में वह अवश्य अधिक मुखर हुआ है। सम्पूर्ण मृत्तिका-घट की आत्मकथा प्रतीकात्मक है। दोषावृत माटी माता धरा से निवेदन करती है कि वह मुक्ति-पथ का निर्देश करे, यात्रा के लिए अपेक्षित पाथेय के साथ। बगल में सरिता सागर की ओर उन्मुख अपनी रौ में चली जा रही है। वह अपनी एकतान-वृत्ति क्यों भंग करे ? माता तो माता ठहरी। वह आश्वासन देती हुई कहती है कि संसार का हर प्राणी अपरिमेय सम्भावनाओं का आगार है, निसर्गत: सर्वविध ऐश्वर्य से सम्पन्न है। पर अनादि दुर्वासनावश विभाव से उसका स्वभाव ढँक गया है। इसी कुसंग का फल उसे भोगना पड़ रहा है। प्रसन्नता इस बात की है कि बेटी माटी इस आवरण की ओर से सचेत है। धरती कहती है :

"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

पर इतना ही सब कुछ नहीं है। सबसे पहले इस सत्य का आघ्राण लेने के लिए आस्था की नासा अनावृत करनी होगी, फिर :

"साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !
...हाँ! हाँ !!...इसे/खेल नहीं समझना
यह सुदीर्घ-कालीन/परिश्रम का फल है, बेटा !" (पृ. १०-११)

यह रास्ता बड़ा ही पिच्छिल है। निरन्तर अभ्यास के बाद भी फिसलता ही है, स्खलन होता ही है, बड़ी प्रतिकूलताएँ आती हैं पर आस्थावान् पुरुष के लिए यह सब वरदान है - अभिशाप नहीं। अभूतपूर्व उद्‌बोधन से बेटी माटी आश्वस्त होती है। माँ का उत्साह बढ़ता है और वह ढालने वाले कुम्भकार के प्रति सर्वात्मना समर्पित होने की आज्ञा देती है। प्रभात आता है अन्धकार के बाद। कुम्भकार-- धरती का भाग्य-विधाता पधारता है। माटी अपने को सर्वात्मना शिल्पी को समर्पित कर देती है। कुम्भकार सर्जक है और सर्जक वही हो सकता है जिसने अहम् का विसर्जन कर दिया है। जुड़ेगा वही जो मुड़ेगा। माटी बोरी में भरी जाती है, गधे पर लादी जाती है, उपाश्रम में लाई जाती है। शिल्पी बालटी कूप में डालता है, जल निकालता है। मिट्टी और जल दोनों छाने जाते हैं। मिट्टी का सांकर्य विगलित होता है,उसमें शुद्धता आती है और माटी का अन्तस् निर्मल और सरल हो जाता है। कथा के प्रत्येक उपकरण प्रतीक बन जाते हैं सच्चिन्तन के प्रभावी सम्प्रेषण के। इस प्रकार पहला खण्ड पूर्वारम्भ है।

दूसरे खण्ड में शिल्पी का कार्य आरम्भ होता है। वह कुंकुम-सम मृदु माटी में छना निर्मल जल मिलाता है और अलगाव से लगाव की ओर एकीकरण का आविर्भाव आरम्भ होता है। इस स्थिति में पुन: माटी और काँटे की बात चलती रहती है। माटी खोदी जाते समय एक काँटा (शूल) क्षत-विक्षत होता है। माटी, फूल की तुलना में उस आहत शूल का पक्ष लेती है और बड़ी उपदेशप्रद बातें कह जाती है जिससे शूल से बदले की भावना निकल जाए। शूल भी अपने पक्ष में बहुत कुछ कह जाता है। शूल और माटी का संवाद सुनते ही शिल्पी बोल उठता है : "खम्मामि, खमंतु मे--।" इस प्रकार

अनेकविध चिन्तन-गर्भ-काव्योचित रमणीय संवादों की शृंखला चलती है। साहित्य की हित-गर्भ व्युत्पत्ति और नव रसों का प्रासंगिक उल्लेख सर्जक की क्षमता के प्रकाशक हैं। अन्ततः शिल्पी से रौंदी जाकर, मृदुल-मौन मिट्टी चक्र पर चढ़कर कुम्भकार के द्वारा कुम्भ का आकार पाती है। तपन में तपकर वह पक्की हो जाती है।

तीसरे खण्ड में यही कथा आगे बढ़ती है। कर्मभूमि धरती की महिमा अगाध है। माटी और कुम्भ उसी की ऊर्ध्वगामी सात्त्विक सम्भावना के संवाहक हैं। इस धरती की परीक्षा इसलिए होती है कि वह मूल्यों को जीती है। मूल्यों के जीने की गहरी क़ीमत चुकानी पड़ती है। जल ही नहीं, ऊपर स्थित तपन और सागरस्थ बड़वानल—बड़वाग्नि जल को मथते और रूपान्तरित करते रहते हैं। जल कितना भी अग्नि के सम्पर्क में खौल जाय, किन्तु अग्निशामकता कभी नहीं छोड़ता। सभी एक दूसरे को रौंदते हैं—पृथिवी को जल, बादल; जल को तपन—बड़वाग्नि; तपन को राहु; राहु को पवन। धरती इन सबके बीच तपती है। वही सीप में जल को और बादल से झरी बूँद को नीचे बैठ को, जल को मुक्ता में बदलकर ग्रहण करने की क्षमता देती है। बादल से गिरी मुक्ता - वर्षा को अनधिकारी शक्ति के रूप में लूटते हैं, अन्यायपूर्वक असन्तुलित अर्थव्यवस्था फैलाते हैं। 'स्टार-वार' में उसकी परिणति होती है। रचनाकार इसी अन्यायी परिग्रहवृत्ति का शमन समर्पण से करता है। उसकी आँखें खुलती हैं। कुम्भकार को स्वस्थ होते देख कुम्भ कहता है :

"परीषह उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !" (पृ. २६६)

कुम्भकार कुम्भ के इस साधननिर्गत स्वर पर आश्वस्त हुआ और बोला :

"अब विश्वस्त हो चुका हूँ/पूर्णतः मैं, कि
पूरी सफलता आगे भी मिलेगी।" (पृ. २६६)

इस पर कुम्भ कहता है :

"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

कुम्भ की ये पंक्तियाँ बहुत ही जानदार, असरदार सिद्ध हुईं।

पूर्ववर्ती तीन खण्डों में जो कथासूत्र इधर-उधर मुड़ता हुआ शिथिल गति से बढ़ रहा था, वह चौथे खण्ड में आकर प्रगाढ़ और निर्वहणोन्मुख हो गया है। बात यह है कि क्लासिकल नाटकों की कथावस्तु जैसी संश्लिष्ट और फलोन्मुख कसावट लिए रहती है, महाकाव्यों में वर्णन तत्त्व के समावेश से वैसा सम्भव नहीं होता। यह बात महाकाव्य मात्र पर लागू होती है, केवल इसी में ऐसा हुआ है, सो नहीं। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने तो इस कृति की भूमिका में कह ही दिया कि चतुर्थ खण्ड अपने आप में एक खण्ड काव्य लगता है। इस खण्ड में कथासूत्र को आगे बढ़ाते हुए कहा गया है कि कुम्भकार अवा में परिपक्व कुम्भों को हर्षोल्लास से बाहर निकालता है। नगर सेठ स्वप्नानुभव से प्रेरित होकर सेवक द्वारा घट मँगवाता है और स्वस्तिक बनाकर उसे सजाता है। श्रद्धालु नगर सेठ जलपूर्ण घट साधु के आहारदान के सन्दर्भ में समर्पित करता है। फलतः सात्त्विकता पूर्ण हृदय में चिरबन्धन से मुक्त होने की कामना जन्म लेती है। पूर्ववर्ती खण्डों की तरह बात-बात में से बात निकालने की वृत्ति यहाँ भी निःशेष नहीं है। अनेक सत् चर्या के प्रसंग उठाए गए हैं। मुख्य बात यह है कि मत्तिका घट को मिले इस महत्त्व पर स्वर्ण घट का अहम् फुत्कार करता है कि उसे नायक ने सम्मानार्थ उपयोग में

क्यों नहीं लिया ? बदले की भावना से वह आतंकवादी दल को निमन्त्रित करता है, जो सर्वत्र त्राहि-त्राहि मचा देता है। सेठ की रक्षा इस विपत्ति से प्राकृतिक शक्तियों और मानवेतर शक्तियों के सहयोग से होती है। आतंकवाद आज की विकट समस्या है। वह अलोकमांगलिक निजी और संकीर्ण स्वार्थ की तुष्टि के लिए भौतिक बल का सहारा लेता है। कभी-कभी कुछ सिद्धान्तों की आड़ में भी इस साँप का खेल देखा जा सकता है। खैर, सेठ का सात्त्विकताप्रद युद्ध आतंकवाद का हृदय परिवर्तित करता है और सेठ को भी सामाजिक दायित्व का बोध एक मच्छर से प्राप्त होता है। क्षुधा शान्ति के लिए एक मच्छर एवं खटमल उसका रक्त पी लेते हैं पर पूँजीवाद तो बिना भूख के चुपचाप समाज का रक्तपान ही नहीं, रक्त संग्रह बैंकों में करता है। ज़रूरत समझता है तो अपनी दानवता के तानाशाह का नग्न ताण्डव हो, इसलिए समुद्र में फिंकवा देता है। परिवर्तित हृदयवाला आतंकवाद अन्ततः पाषाण शिला पर आसीन वीतरागी मुनि की वन्दना करता है और कहता है कि संसार चक्र में पड़ा जीव सुख पाता है, पर क्षणिक और विनश्वर। कदाचित्, मरु मरीचिका की भाँति उसकी अप्राप्ति तक। प्राप्त होते ही उसकी दुःखरूपता उजागर हो जाती है। वह जिज्ञासा करता है कि अविनश्वर सुख का, दुःखोच्छेद का कोई मार्ग हो तो उसे भी बताया जाय। मुनि कहते हैं कि यह मार्ग श्रद्धा और विश्वास का मार्ग है। बिना सम्यक् श्रद्धा के इस मार्ग में पाँव रखना निरर्थक है। शास्त्र वचन पर विश्वास, आचार्य निर्दिष्ट मार्ग में आस्था और तदनुरूप कायिक और मानसिक अहिंसा आवरणीय कर्मों का नाश कर देगी। निरावरण आत्मचैतन्य सुख स्व-रूप में विभावों को हटाते हुए स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जायगा।

इस प्रकार माटी का मूक भाव लक्षणा और व्यंजना से मुखर है। हमारे साहित्य के आचार्य कहते हैं कि काव्य भी शास्त्र की भाँति उपदेश देकर पाठक को व्युत्पन्न बनाता है, उसकी मति की जड़ता का विनाश करता है और बुद्धि को स्वच्छ करता है ताकि उसमें उचित और अनुचित का विवेक हो सके और वह व्यवहार तथा परमार्थ में अपनी ऊर्ध्वमुखी, अपरिमेय सम्भावनाओं को चरितार्थ कर सके। अभिनव गुप्त, महिमभट्ट और मम्मट तथा हेमचन्द्राचार्य जैसे काव्यशास्त्रियों ने काव्य प्रयोजन का निरूपण करते हुए इस सत्य को दोहराया है। इसीलिए काव्य को कान्तासम्मित-उपदेश कहा गया है। हर व्यक्ति शास्त्र नहीं पढ़ सकता, पर व्युत्पन्न सबको होना है। मृदु स्वभाववालों को व्युत्पन्न करने का मार्ग काव्यमार्ग ही है। फिर ऐसे जटिल और क्लेश ग्राह्य विचार को काव्यात्मक रूप वही दे सकता है जिसने उसे जीकर अपने व्यक्तित्व का अंग बना लिया हो। काव्य व्यक्तित्व की अभिव्यंजना ही तो है, पर ऐसे व्यक्तित्व की जो स्व-पर-भावनाक्रान्त भूमिका में हो। आचार्य विद्यासागरजी विषय राग से रहित, पर आत्म राग से आपूरित हैं, अतः तदनुरूप सरस अभिव्यक्ति संवादों और वर्णनों के सहारे कर सकते हैं। विकल्प है कि यह शास्त्र है या एक काव्य है? क्या सत्य को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करने में प्रतिस्पर्द्धी शब्द और अर्थ का सहभाव यहाँ कल्पना है और काव्योचित शब्दार्थ सामर्थ्य। पाठक पढ़ता है - सरस कथा, विचार गर्भ संवाद, आकर्षक वर्णन और पाता वही है जो शास्त्र प्रतिपाद्य है। भारतीय संस्कृति चाहे जो भी मार्ग पकड़े पर 'गन्तव्य' एक ही है– विभाव परित्याग पूर्वक स्वभाव में पूर्ण अवस्थान। एक ही गन्तव्य तक ले जाने वाला काव्य भी एक प्रस्थान भेद ही है। शास्त्र से काव्य का यही अन्तर है कि शास्त्र अनासक्त भाव से उपदेश देता है, काव्य जीवन के भीतर से उसे ध्वनित करता है, इसीलिए उसमें 'कुछ और' की आभा फूट पड़ती है।

सम्पूर्ण रचना अभिव्यक्ति की भंगिमा से आपूरित है। वैभव के चाकचक्य के खिलाफ सीधी-सादी माटी की मूक कथा का चुनाव ही कितना आकर्षक है। जगह-जगह शब्दों की विस्मयावह व्युत्पत्तियाँ नितान्त चमत्कारकारिणी और हृदयावर्जक हैं। रचनाकार अपने समय का कण्ठ होता है। युग सम्पृक्ति से समय की समस्याओं– स्टार-वार, आतंकवाद, पूँजीवाद, परिग्रहीवृत्ति,विनाशकारी अहम् की गड़गड़ाहट, शक्ति द्वारा स्वर्ण-मुक्ता संग्रह प्रवृत्ति का

साक्षात्कार और उसका अपने ढंग से पाया गया निदान आदि उसकी रचना में मुखर हुआ है। अन्यथा, रचनाकार की क्या विवशता है, ऐसी पीड़ा से होकर गुज़रने की ? आज हम आतंकवाद के नाश का एकमात्र मार्ग दमन मानते हैं। वीतरागी मुनि से साधना की अगाध क्षमता की ही बात सुन सकते हैं। दबाब से नहीं, सुधार स्व-भाव से लाया जा सकता है, यदि उसे स्थायी बनाना है। सेठ पूँजीवादी और परिग्रही है, स्वर्णकलश आतंकवाद की जड़ में है, भीतर से इन्हें बदलने की ज़रूरत है। बदलाव ही अस्वास्थ्य से स्वास्थ्य की ओर ले जाता है एवं विभाव से स्व-भाव में प्रतिष्ठापित करता है। एक मुनि से हम और क्या आशा कर सकते हैं ? वह निषेधात्मक की अपेक्षा साफ़-साफ़ विधेयात्मक ढंग अपनाता है।

जहाँ तक भारतीय प्रबन्ध काव्य परम्परा में इसके स्थान की बात है – यह उनके मध्य आता है जो शास्त्रकाव्य हैं या बहुत कहें तो उभयकाव्य हैं। राजशेखर ने काव्य के भेद बताते हुए अपनी 'काव्य मीमांसा' में तीन भेदों की बात कही है। काव्य-काव्य, शास्त्र-काव्य और उभयकाव्य। रीतिकालीन काव्य सेक्युलर पोएट्री है– ऐहिक काव्य है और भक्तिधारा के काव्य– आयुष्मिक काव्य हैं। 'रामचरितमानस', 'पदमावत', 'विज्ञान-गीता' प्रभृति प्रबन्ध काव्य आयुष्मिक प्रबन्ध काव्य हैं जिनके रचयिताओं ने काव्य व्यपदेशोचित सौन्दर्य के निमित्त पारम्परिक चेतना का संस्पर्श आवश्यक माना है। आधुनिक काल में भी दार्शनिक काव्य लिखे गए हैं– 'जयभारत', 'कामायनी', 'लोकायतन', 'अनंग', 'महाभारती', 'ऋतम्भरा', 'कनुप्रिया' आदि। इन प्रबन्धों की कथावस्तु में कहीं न कहीं दार्शनिक पुट विद्यमान है। इतना अवश्य है कि इनमें कहीं वैष्णव, कहीं तसव्वुफ़, कहीं वेदान्त, कहीं प्रवृत्ति धर्म, कहीं शैवागम, कहीं अरविन्द दर्शन, कहीं सहजिया वैष्णव दर्शन की छाप है। 'मूकमाटी' पर जैन दर्शन की विचारधारा की छाप है, पर इतने पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नहीं है कि वह सामान्य पाठक को रसास्वाद में कोई गतिरोध पैदा करे। दार्शनिक चेतना से आक्रान्त होने पर भी अन्योक्ति पद्धति इतनी काव्योचित है कि किसी भी मानवीय हितवाली धारा के पाठक को यह कृति प्रभावित करती है।

जहाँ तक उपादेयता का सम्बन्ध है, मैंने पहले ही कहा है कि काव्य कान्तासम्मित उपदेश में अपना वैशिष्ट्य रखता है। रचनाकार अपने समय और देश की नब्ज़ पहचानता है और दु:ख का निदान कर उसका उचित समाधान भी देता है। कुम्भ अपने जीवन वृत्त के माध्यम से विभावाच्छादित मानव को स्व-भाव से प्रतिष्ठित होकर स्वयं और लोक के कल्याण का मार्ग प्रशस्त कैसे किया जाय, यह बताता है और आज के स्वार्थ तथा अहंकेन्द्रित युग में एक प्रशस्त मार्ग दिखाता है।

'मूकमाटी' का काव्यरूप

'मूकमाटी' का आकलन करते समय यह तथ्य नज़रअंदाज नहीं किया जा सकता कि यह एक विशेष जीवन-दर्शन को निष्ठा और आस्था के साथ जीने वाले सन्त की काव्यात्मक कृति है। साहित्यकार आदि से अन्त तक साहित्यकार है जो कि वह भी रचनाकार है और रचनाकार की भी हमारी कल्पनास्थित छवि सन्त की ही है। फिर भी वे पहले एक सन्त हैं और फिर साहित्यकार और दूसरी आद्यन्त साहित्यकार है और उसकी चेतना - सर्जक चेतना में सन्त जनोचित इन्सानियत के संस्कार हैं। 'कर्मभूमि' और 'रंगभूमि' की सृष्टि करने वाले साहित्यकार में इन्सानियत को चरितार्थ करने वाले सारे नैतिक आदर्श मुखर हैं पर वह गोस्वामी तुलसीदास से थोड़ा हटकर है। यद्यपि प्रसिद्ध मार्क्सवादी रामविलास शर्मा गोस्वामीजी की भक्ति चेतना को उच्चकोटि का मानवतावाद ही कहते हैं। निश्चय ही ऐसा कहते समय उनकी दृष्टि में गोस्वामीजी का आध्यात्मिक वर्णाश्रम व्यवस्थावादी परलोकवादी वाला रूप नहीं है। शुद्ध साहित्य की परिभाषा देने वाला कुन्तक काव्य के लिए केवल 'भणिति विचित्र' की शर्त मानता है, भले ही उसे खोदते-खोदते नैतिकता की सुगन्ध भी उभरने लगे। पर गोस्वामीजी जैसा सन्त जब काव्य की परिभाषा देता है तो उसका सन्तत्व, उसकी अध्यात्मपरकता सर्वोपरि होती है। वह कहता है :

''भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ ॥''

तुलसी की दृष्टि में वह 'सोह' - शोभा या चारुता, जो उनके लिए काव्योचित है - 'सुकवि कृत भनिति-विचित्र' मात्र से नहीं आती, उसके लिए 'राम नाम' अर्थात् आध्यात्मिक चेतना से मण्डित होना अनिवार्य है। शुद्ध साहित्यिक आचार्य कुन्तक और सन्त आचार्य गोस्वामीजी की काव्य सम्बन्धी मूल चेतना में यह अन्तर रेखांकनीय है। 'मूकमाटी' का कर्त्ता या स्रष्टा भी अपनी साहित्य सम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट करता हुआ सन्त साहित्यकारों की परम्परा में बोलता है :

''शिल्पी के शिल्पक साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
'हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!'' (पृ. ११०-१११)

गोस्वामीजी की भाँति मुनिवर्य ने भी साहित्य की अपनी अवधारणा स्पष्ट की है। उन्होंने माना है कि 'सहित का भाव' ही 'सहभाव' या 'साहित्य' है। सहित अर्थात् हित-सहित। 'हित', 'सुख का समुद्भव है,' विभाव-रहित 'स्वभाव' का साक्षात्कार है, सुखास्वाद है। यही हमारा गन्तव्य है, मंज़िल है। काव्य या साहित्य भी एक प्रस्थान है जो हमें वहीं ले जाता है। हमारे जीवन, चिन्तन और आचरणमय जीवन का यही नियन्त्रण कक्ष है। हमारे सारे व्यापार इसी नियन्त्रण कक्ष से परिचालित होते हैं। इस गन्तव्य तक ले जाने वाले हमारे कुछ सिद्धान्त सूत्र हैं, मूल्य हैं। प्रस्तुत कृति उनका उद्घाटन काव्यात्मक भाषा में करती है, रोचक कथा के माध्यम से करती है, आकर्षक, घटना और संवादों से उजागर करती है। आनन्दवर्धनाचार्य ने रामायण और महाभारत को 'शास्त्र' भी कहा है और 'काव्य' भी। उनका कहना है :

''तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुखपरिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम्।'' (ध्वन्यालोक, चतुर्थ उद्योत, पृ. ३४८) अर्थात् महाभारत शास्त्र भी है और महाकाव्य भी। शास्त्र की दृष्टि से उसमें बताया गया है कि आत्मभिन्न सब कुछ निस्सार है। परम पुरुषार्थ सुख स्वभाव मोक्षलक्षण पुरुषार्थ ही है। जहाँ तक उसके काव्य होने का सम्बन्ध है, इस महाभारत नामक महाकाव्य का अंगीरस शान्त है। यह समस्ततृष्णाक्षयसुखात्मा है। ठीक यही नय 'मूकमाटी' पर भी लागू होता है। शास्त्र की दृष्टि से इसका प्रयोजन 'मोक्ष' है और काव्य की दृष्टि से 'शान्त रस'। परमात्मा स्वरूप सद्गुरु के प्रति समर्पण से ही मुक्ति का द्वार अनावृत होता है। कुम्भकार और सेठ द्वारा मूकमाटी में से आकार ग्रहण कर वर्णलाभ करने वाला साधक घट गुरुचरणों में समर्पित होकर आत्ममुक्ति लाभ करता है। आकार लाभ और आत्ममुक्ति की महायात्रा में आने वाली समस्त भौतिक बाधाएँ त्याज्य और अनुपादेय हैं। उनके प्रति कषाय का क्षयोपशम ही अपेक्षित है। कारण, वे वस्तुएँ और उनका परिचालक भाव लोकध्वंस और आत्मध्वंस की ओर ले जाता है। आलोच्य कृति में ये सारी बातें स्पष्ट हैं। इस प्रकार इस कृति में हित का सहभाव या साहित्य आमूलचूल विद्यमान है। यह एक वीतराग मुनि की कृति है, अतः लौकिक राग का वह सद्भाव नहीं है जो अन्यत्र रागी सर्जक में सम्भव है। पर इसका मलतब यह नहीं कि सात्त्विक सौन्दर्य जो प्रकृति में परिव्याप्त है, मानवीय कर्म और भाव में व्याप्त है, वह भी यहाँ अविद्यमान है, नहीं ; वह तो है ही। साहित्य की चारुता अ-व्यक्तिगत और अ-पार्थिव होती है। चारुता की अनुभूति ही सर्जनात्मक अनुभूति है और वैसी सात्त्विक चारुता की अनुभूति से स्नात होकर निर्गत

शब्दार्थ भी चारु होंगे ही। शब्दार्थ रूपी शरीर पर इसी आन्तर चारुता की आभा या दीप्ति उभरती है। ऐसे ही चारु शब्दार्थ को काव्य कहते हैं। इस समग्र दृष्टि से इसे काव्य कहने में क्यों लोगों को संकोच प्रतीत होता है ?

काव्य होने के बाद इसकी विधा निर्धारण का प्रसंग आता है। विधा में दुविधा और सुविधा दोनों सम्भाव्य हैं, अत: दोनों तरह की बात सामने आती है। काव्य की विधा पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। उनमें से प्रमुख हैं– भाषा, बन्ध, शैली, इन्द्रिय माध्यम और अर्थ। सामान्यत: बन्ध या सम्बन्ध की सापेक्षता या निरपेक्षता को लेकर काव्य के दो भेद माने गए हैं– मुक्तक और प्रबन्ध। आलोच्य कृति के पद एक कथासूत्र में परस्पर बँधे हुए हैं, अत: सम्बन्ध या बन्ध सापेक्ष हैं। फलत: उनसे जो आकार विधा ग्रहण करती है, वह प्रबन्धकाव्य की है। प्रबन्ध काव्य भी तीन प्रकार के हैं– खण्ड, एकार्थ और महाकाव्य। इसमें 'घट' के माध्यम से आकार ग्रहण से लेकर मोक्ष प्राप्ति तक की समग्र महायात्रा वर्णित है, अत: 'खण्ड' का तो सवाल ही नहीं उठता। 'एकार्थ' की विशेषता यह होती है कि उसकी घटनाएँ बड़ी त्वरामय पद्धति पर एकोन्मुख होती हैं मुख्य 'अर्थ' (प्रयोजन) की ओर। प्रस्तुत कृति में अनेक अवान्तर घटनाएँ कथाधारा को शिथिल करती हैं। अत: इसे एकार्थ काव्य भी नहीं कह सकते। पारिशेष्यात् महाकाव्य ही कहना पड़ता है। कारण, इसमें 'महत्त्व' भी है और 'काव्यत्व' भी। अत: महाकाव्य की मूल चेतना विद्यमान है। काव्य-शास्त्रियों ने महाकाव्य की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें कुछ अन्तरंग तत्त्व हैं और कुछ बहिरंग या औपचारिक। उदाहरण के लिए –(१) कथा वस्तु (२) वर्णन (३) भावविधान तथा (४) संवाद योजना। ये सब महाकाव्य के अन्तरंग बिन्दु हैं और शेष सब बहिरंग। समग्रत: निम्नलिखित बिन्दुओं का उल्लेख किया जा सकता है :

(१) सर्गबद्धता- कम से कम आठ (२) एक या अनेक नायक - प्रख्यातकुल सम्भूत (३) शृंगार, वीर तथा शान्त में से कोई एक (४) पंच सन्धियों का विधान (५) कथा वस्तु - प्रख्यात या कल्पित (६) चार पुरुषार्थों में से कोई भी एक (७) त्रिविध मंगलाचरण में से कोई एक (८) यत्र-तत्र खल-सज्जन की निन्दा-स्तुति (९) छन्दो-विधान एक - सा, सर्गान्त में परिवर्तन (१०) सर्गान्त में भावी कथा की सूचना (११) वर्णन– सन्ध्या, सूर्य, ऋतु, वन, सागर, नगर आदि (१२) लोक स्वभाव का निर्वाह, ताकि विश्वसनीयता बनी रहे तथा (१३) संवाद विधान।

इनमें से क्रम संख्या ३, ५, ११ तथा १३ का उल्लेख अन्तरंग तत्त्व के रूप में ऊपर किया जा चुका है। शेष या तो इनसे सम्बद्ध हैं अथवा बहिरंग, फलत: औपचारिक। मंगलाचरण कोई अनिवार्य तत्त्व नहीं हैं। वह कृतिकार मन में भी कर सकता है। शेष बिन्दुओं में से ऐसा कुछ भी नहीं है, जो यहाँ न हो। कथावस्तु कल्पित भी हो सकती है, सो है। नायक का सवाल अवश्य उठता है। कृति का शीर्षक है- 'मूकमाटी'। प्राय: महाकाव्यों की संज्ञा प्रमुख पात्र या नायक के आधार पर दी जाती है अथवा प्रमुख घटना पर। 'मूकमाटी' न चेतन पात्र है और न ही प्रमुख घटना, तथापि शीर्षक देने से यह ध्वनित होता है कि कृतिकार को उसमें सम्भाव्य गरिमा दिखाई देती है। चेतन जीव की सम्भाव्य गरिमा अचेतन अ-जीव की सहायता के बिना उपलब्धि नहीं बन सकती। यह सही है कि चेतन जीव में अनादि सिद्ध सांकर्य अजीव से सम्बन्ध के कारण ही है। परन्तु बन्ध - हेतु आस्रव का संवरण और संचित की निर्जरा भी इसी अ-जीव के बीच सम्पाद्य साधना से सम्भव है, भले ही अन्तत: वह भी त्याज्य और अनुपादेय हो जाता हो। कहा ही गया है :

''असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा तत: सत्यं समीहते।''

त्याज्य और अनुपादेय के सहारे ही ग्राह्य की ओर बढ़ा जाता है। अन्तर उनके उपयोग की चेतना में आ जाता है। कर्मद्रव्य की अपेक्षा भावद्रव्य महत्त्व का है। वर्ण-लाभ में उपयोगी चेतना से बन्ध-हेतु अपना स्वभाव छोड़ देता है। 'मूकमाटी' अपनी तुच्छता के बावजूद अपनी सम्भाव्य गरिमा में महान् है। उसमें उस घटाकार परिणाम की सम्भावना है, जो गुरु चरणों में समर्पण के प्रतीक से मुक्ति का द्वार खोलता है। विसर्जन या समर्पण के बिना मुक्ति का वह द्वार नहीं खुलता। घट अ-जीव तो है ही अपनी अभिधा में, जीव भी है अपनी प्रतीकात्मकता में। समग्र होकर ही परम पुरुषार्थ रूप प्रयोजन की ओर उसका प्रयाण है। घट की माँ है- मूक माटी और ''आत्मा वै जायते पुत्र:'' के न्याय से दोनों में

अभेद है, साथ ही मृण्मय से चिन्मय तक की महायात्रा की व्यंजना भी उसमें निहित है। अत: नायक रूप में घट की परिकल्पना होने पर भी 'मूकमाटी' से उसकी आरम्भिक दयनीयता तथा तुच्छता व्यक्त होती है, साथ ही अपरिमेय सम्भावना भी, ऊर्ध्वगामिनी मोक्षात्मक सम्भावना भी। अत: एक साथ बद्ध जीव की सारी विशेषताओं की समाहिति 'मूकमाटी' शीर्षक में हो जाती है। नायक वो घटाकार उसका परिणमन है। अ-जीव को प्रतीक बनाने से उसकी एक व्यंजना यह भी है कि उसमें प्रदूषण नहीं होता, प्रदूषण की सम्भावना भी नहीं होती। कुछ लोग 'माटी' में नायिका की और 'कुम्भकार' में नायक की परिकल्पना करते हैं और माटी गर्भस्थ घट के परिणमन में कुम्भकार की नायक-सी प्रतीक्षा करती है। इनका परस्पर आकर्षण वासनापंकिल लौकिक शृंगार का नहीं, लोकोत्तर उपकार की आभा देता है। इस प्रकार थोड़ी देर के लिए नायक-नायिका का रूपक तो बन जाता है, पर ''फलभोक्ता तु नायक:'' की परिभाषा का क्या होगा? फल 'स्वभाव-लाभ' ही है, जो घट रूप साधक को ही मिलता है। माटी का सांकर्यशोधित रूप घट ही है, तप वही तपता है। वर्णलाभ वही करता है। राख का आवरण हटाकर वही ऊपर आता है, समर्पित वही होता है। बन्धन में वही प्रसुप्तप्राय आकारहीन पड़ा रहता है, सद्गुरु कुम्भकार न केवल उसे आकार देता है बल्कि पात्रता भी प्रदान करता है। यह पात्रता ही सम्भावना को उपलब्धि का आकार देती है।

''बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।'' (पृ. ४८६)

जीव-अजीव के बन्ध से मुक्त नवनीतकल्प स्वभाव पुन: उस दुग्धकल्प बन्ध में नहीं जा सकता। इस फल का प्रापक घट रूप जीव ही है। अत: माटी से अभिन्न किन्तु पर्याय से भिन्न घट ही इस कृति का नायक जान पड़ता है। मूकमाटी में वही समाया हुआ है। घट मूकमाटी की ही सम्भावना है। भाव व्यंजना, संवाद योजना और वर्णनों का प्राचुर्य विद्यमान है। कथावस्तु में साधक-बाधक तत्त्वों के विधान द्वारा सन्धियों की योजना भी सम्भावित है। इसी प्रकार कतिपय औपचारिक और बहिरंग तत्त्वों को छोड़ भी दिया जाय तो इसकी महाकाव्यात्मकता असन्दिग्ध है।

'मूकमाटी' का संस्कृत महाकाव्यों से तुलनात्मक अनुशीलन

भारतीय काव्यों को दृष्टिगतकर काव्यशास्त्रियों ने इस तथ्य में अपनी सहमति व्यक्त की है कि यहाँ काव्य का प्रयोजन कुतूहलतृप्ति और मनोरंजन नहीं है अपितु 'व्युत्पत्ति' और 'प्रीति' (मनोरमण=स्व-पर-भाव-विनिर्मुक्त-ग्रहणशील चेतना का परकीय सुख-दु:ख-अनुभूति में आत्मविस्तार प्राप्त करना=मानुष भाव का विस्तार करना) है। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने इनका समन्वय करते हुए कहा है कि मूल प्रयोजन तो 'प्रीति' ही है, 'व्युत्पत्ति' का लाभ तो अनुषंगत: हो ही जाता है। काव्य इस प्रकार पाठक की चेतना का समुन्नयन करता है। उसकी नीयत यही है। यह बात दूसरी है कि इस नीयत का कार्यान्वयन भले ही वह विधेय और निषेध्य के वर्णन द्वारा करता हो। काव्य इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन को सर्जना की परिधि में गहराई से आत्मसात् कर लेता है।

इस सन्दर्भ में हम आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण को ही लें। रचयिता वाल्मीकि किसी ऐसे नायक की खोज में है जो मानवीय मूल्यों की साकार प्रतिमा हो। वह नारद से पूछता है :

''कोऽन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रत:॥
चारित्रेण च को युक्त: सर्वभूतेषु को हित:।
विद्वान् क: क: समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शन:॥'' (१/२-३)

अर्थात् इस संसार में इस समय गुणवान्, बलवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवाक्य, दृढ़व्रत, सच्चारित्र, लोकमंगलकामी, विद्वान्, समर्थ तथा प्रियदर्शन कौन है ? लोकलोकान्तर की खबर रखने वाले नारद ने कहा कि जिन अनेक गुणों का उन्होंने वर्णन किया है, वे एक व्यक्ति में दुर्लभ हैं, फिर भी एक व्यक्ति इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न है उसमें ये सारी विशेषताएँ एकत्र हैं और उसका नाम लोगों के बीच राम प्रख्यात है। ''रामो विग्रहवान् धर्मः''– राम क्या है, धर्म ही शरीरी बन गया है, शरीर धारण करके मूर्त हो गया है। वाल्मीकि ने मानवताविधायक गुणों या मूल्यों की समष्टि को ही राम के माध्यम से अत्यन्त प्रीतिकर आख्यान किया है। 'महाभारत' में दुःखी धृतराष्ट्र को सान्त्वना देने के निमित्त मुनि कणिक ने कहा : ''यस्य बुद्धिः परिभवेत्तमतीतेन सान्त्वयेत्'' (आदिपर्व १४०/७४)–जिसकी बुद्धि वर्तमान में परिभूत हो, उसे अतीत के वर्णन द्वारा सान्त्वना देनी चाहिए और उन्होंने राम की ही सारी कथा सुनाई। अतीत पुनः खड़ा नहीं किया जा सकता परन्तु मानव समाज के गतिरोध को दूर करने के लिए उसे प्रेरणास्पद बनाया जा सकता है। 'महाभारत' के अन्त में कहा गया है :

''वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते॥''

वेद हो, रामायण हो या महाभारत - सर्वत्र काव्यों में विग्रहवान् धर्म, जिसे हरि कहा जाता है - उसी का आदि, मध्य तथा अन्त में वर्णन है। इस धर्म के विषय में 'महाभारत'कार ने 'स्वर्गारोहण पर्व' में कहा है :

''न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये, जीवो नित्यो हेतुरस्यो त्वनित्यः॥'' (५/६३)

जिस धर्म से लोक का सन्धारण होता है, वही सर्वोच्च मूल है, मानवता का स्रोत है। अतः कामना, भय और लोभ, यहाँ तक कि जीवन के लिए भी उसका परित्याग नहीं होना चाहिए। धर्म ही नित्य है, सुख-दुःख तो अनित्य हैं। अतः धर्म के साकार रूप हरि का ही सर्वत्र यशोगान होता है। समाज या लोक के विधारक धर्मात्मक मूल्यों का ही गान हमारा काव्य करता आ रहा है। राम और रावण, पाण्डव और कौरव क्रमशः धर्म और अधर्म के ही प्रतीक हैं। उनकी कथा अधर्म पर धर्म की विजय है।

चाहे अश्वघोष आदि बौद्ध कवियों के 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' आदि काव्य हों अथवा त्रिशष्ठिशलाका-पुरुषों को आधार बनाकर लिखे गए जैन कवियों के काव्य हों या कि कालिदास, भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष के 'रघुवंश', 'कुमारसम्भव', 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध' एवं 'नैषधीयचरित' हों– सभी की प्रेरक धर्मभावना ही है। कारण, इनके नायक मानवमूल्यमय धर्म के साकार विग्रह ही हैं। काव्य ही नहीं, नाटचशास्त्र में भी नाटचवेद और नाटच साहित्य के निर्माण के पीछे लोक मंगल की ही भावना निहित है। देवताओं ने पितामह से लोक की गिरती हुई दशा को देखकर उनके समुन्नयन के निमित्त नाट्यवेद का प्रणयन किया। इसीलिए इसे पंचम वेद की संज्ञा दी गई। उसी नाट्यवेद के अनुशासन में भारतीय रचनाकारों ने नाट्य साहित्य की सृष्टि की। निष्कर्ष यह है कि हमारी भारतीय काव्य परम्परा में काव्य निर्माण का स्रोत मानव के समुन्नयन के निमित्त धार्मिक प्रेरणा ही है। हाँ, वह विशुद्ध सिद्धान्त निरूपक शास्त्र से हटकर तन्मय जीवन का कलात्मक उद्रेखण प्रस्तुत करता है, वह रोचक और प्रीत्याधायक ढंग से अपनी बात कहता है।

धर्मस्रोतस्क भारतीय काव्य परम्परा में जब हम आचार्य विद्यासागर के 'मूकमाटी' महाकाव्य को देखते हैं तो वही मूल प्रेरणा यहाँ भी लक्षित होती है। इस प्रकाशित कृति के आरम्भिक पृष्ठ (फ्लैप) के इस लेख से मैं सर्वथा सहमत हूँ : ''धर्म, दर्शन, अध्यात्म के सार को आज की भाषा एवं मुक्त छन्द की मनोरम काव्य शैली में निबद्ध कर

कविता रचना को नया आयाम देने वाली एक अनुपम कृति है। आचार्य श्री विद्यासागरजी की काव्य प्रतिभा का यह चमत्कार है कि माटी जैसी निरीह, पददलित, व्यथित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर उसकी मुक्ति वेदना और मुक्ति की आकांक्षा को वाणी दी है...कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती मंज़िलों की मुक्तियात्रा का रूपक है यह महाकाव्य।''

ऊपर संस्कृत में निबद्ध महाकाव्यों की परम्परा में 'मूकमाटी' को रखकर देखता हूँ तो जहाँ धर्मभावना की प्रेरणा में समानता है वहाँ एक उल्लेखनीय विषमता भी है। विषमता यह है कि परम्पराप्रतिष्ठ क्रमागत संस्कृत महाकाव्यों में जिन नायकों को माध्यम बनाया गया है, उनमें मूल्य उपलब्धि बन चुके हैं जबकि आलोच्यकृति में जिस 'माटी' को माध्यम बनाकर कथा प्रस्तुत की गई है, उसमें मूल्य सम्भावना हैं। सद्गुरु कुम्भकार माटी की सम्भावनाओं का आकलन करता है और उन्हें अपने ढंग से उपलब्धि का आकार देता है। संस्कृत में 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि कतिपय रूपकात्मक पद्धति में लिखे गए काव्य हैं। पर वह श्रव्य नहीं, दृश्य काव्य है और उसमें भी आद्यन्त 'माटी' की भाँति एक केन्द्रीय माध्यम नहीं है। आचार्यजी ने कथा का माध्यम आसमान से नहीं, धरती से लिया है। 'माटी' धरती का अंश है। परम्पराप्रतिष्ठ काव्यों से इसकी दूसरी अलगाने वाली उल्लेखनीय विशेषता यह है कि यह कृति साधनापरक होने से धर्म और अध्यात्मपरक संकेत रूपकात्मक आवरण में कहीं अधिक व्यंजित करती है। यह अवश्य है कि इस बहाव में वह सामाजिक गतिविधियों और क्रियाकलापों से भी स्थान-स्थान पर अपनी सम्पृक्ति जमकर दिखाती है। परंम्पराप्रतिष्ठ काव्यों में कथावस्तु प्रायः पौराणिक अथवा ऐतिहासिक है। रामायण और महाभारत तो अपना दोहरा रूप रखते हैं। वे काव्य भी हैं और इतिहास भी हैं। शेष में इतिहास और पुराणों की कथा वस्तु है - चाहे 'रघुवंश' या 'कुमारसम्भव' हो या 'किरातार्जुनीय', 'शिशुपालवध' और 'नैषधीयचरित' आदि। 'मूकमाटी' की कथावस्तु कल्पनानीत है, कल्पित है। लक्षण ग्रन्थों में प्रबन्धकाव्य की वस्तु का प्रख्यात होना आवश्यक माना गया है। 'साहित्यदर्पण'कार ने कहा है :

''इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।'' (छठा परि.)

कथावस्तु इतिहास से ली जा सकती है अथवा सज्जनाश्रित होकर अन्यथा प्रकल्पित भी हो सकती है। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' में भी 'वृत्तं देवादिचरितशंसि' अथवा 'उत्पाद्य' कहा है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' के अन्तिम आठवें अध्याय के छठे सूत्र में जहाँ महाकाव्य का लक्षण दिया है, वहाँ कथावस्तु के प्रख्यात अथवा कल्पित रूप का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। हाँ, कथावस्तु के सन्धि समन्वित होने की बात अवश्य की है। इस प्रकार कथावस्तु के कल्पित होने का मौन-मुखर विधान है। इसमें कोई शास्त्रीय प्रतिबन्ध आड़े नहीं आता। कथावस्तु सप्रयोजन हो, धर्मार्थकाममोक्ष में से कोई भी प्रयोजन हो, पर हो धर्म या मूल्य समर्पित। भामह कहता है :

''चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत्।''

चतुर्वर्ग का अभिधान हो, पर प्राचुर्य उपदेश का हो। 'मूकमाटी' मोक्ष रूप परम प्रयोजन से कथावस्तु का निबन्धन करती है और उपदेश की प्रचुरता का तो कहना ही क्या ? पगे-पगे यह विशेषता मिलेगी। कथाकार हर घटना का दार्शनिकीकरण करता है और गम्भीर उपदेश का अवसर निकालता चलता है। परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों में भी उपदेशमय प्रसंग हैं, पर 'वर्णन' तत्त्व की जो प्रचुरता—ऋतु, काल, देश, पर्वत, सन्ध्या, व्यक्ति आदि के वर्णन की जो अतिशयता स्थूल रूप में वहाँ विद्यमान है, यहाँ वह नहीं है। वर्णनात्मकता महाकाव्य का एक तत्त्व ही है, पर आलोच्यकाव्य में वह अभिधात्मक न होकर अप्रस्तुत और व्यंजक बना दी गई है। कहीं से भी ऐसे उदाहरण लिए जा सकते हैं। सारा प्रबन्ध इस तथ्य से आपूरित है। वर्णनात्मकता महाकाव्य के स्वरूप घटकों में से एक है, अतः उसका

अस्तित्व यहाँ भी क्यों नहीं होगा ? है ही। वर्णना घटनामयी वस्तुयोजना को सघन और प्रभावशालिनी बनाती है। वह प्रभावोत्पाद काव्य का सक्षम माध्यम है। उपदेश का औषध भवरोग-रोगी ग्राहक में कवि अनायास इसी प्रक्रिया से संक्रान्त करता है। फिर आचार्य और विरक्त मुनि का काव्य यह प्रक्रिया क्यों नहीं ग्रहण करेगा?

'मूकमाटी' की कथावस्तु क्षीणकाय है, पर उपदेशपरक वर्णनाओं से वह घन और प्रभावशालिनी हो उठी है। सरिता तटवर्ती धरती का अंश माटी मूक माटी कुम्भकार शिल्पी के हाथ लगती है, वह विजातीय कंकड़-पत्थर से उसे पृथक् कर वर्णगत सांकर्य हटा देता है। पुनः स्वच्छ जल से मिश्रित कर रौंदता है और लोंदा बनाकर चाक पर चढ़ाता है। इस प्रकार सम्भावना के रूप में निहित कुम्भ को साकार करता है। तदनन्तर कुछ समय तटस्थ रहकर उसे आस्था और विश्वास में परिपक्व करना चाहता है - शिल्पी। गीला घट यह सब सहकर परिपक्व हो जाता है और साधना यात्रा में आए हुए विघ्नों को पार कर जाता है। रचना के तीन खण्डों—(१) 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' (२) 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' (३) 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' की इतनी-सी संक्षिप्त कथा है। चौथे खण्ड- 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कथासूत्र सघन हो उठा है। उसमें स्वतन्त्र खण्डकाव्य होने की क्षमता है। तपन के ताप में परितप्त माटी के कुम्भ की अभी अग्नि परीक्षा शेष है, वह भी सम्पन्न होती है। सेठ मुक्त कुम्भ को सन्त के चरणों में प्रक्षालनार्थ समर्पित करता है। अन्य धातुओं के पात्र सेठ के प्रति अपने अहम् का विष वमन करते हैं। अन्ततः उन्हें अपने दुरभिमान का बोध होता है। कुम्भ अपने नेतृत्व में सेठ के परिवार को भवपार लगाने के लिए प्रयाण करता है। पथ विघ्नों से भर जाता है, पर आस्था, विश्वास और निरवरुद्ध प्रमाणपथ पर दृढ़संकल्पी परिवार को देख देवता भी अन्ततः अनुकूल हो जाते हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य भवसरिता के कूल पर आ लगता है। अपने उद्गम स्थान पर कुम्भ की माटी को कुम्भकार के पुनः दर्शन होते हैं और वह सन्त सद्गुरु का दर्शन कराता है। सद्गुरु के इस वचन से कि सन्तजन प्रवचन दें, वचन न दें - कथा का अन्त होता है। इस प्रशान्त परिवेश को निहारती है- मूकमाटी।

महाकाव्य के कुछ बहिरंग घटक हैं और कुछ अन्तरंग। बहिरंग तत्त्वों का नियोजन यहाँ हो या नहीं, अन्तरंग तत्त्व विद्यमान हैं— कथावस्तु, वर्णन, संवाद और भाव व्यंजना। इन सबका परम प्रयोजन है— आत्ममुक्ति, आत्मा का वैभाविक बन्धनों से मुक्त होकर स्वभाव में प्रतिष्ठित होना। प्रयोजन के अनुरूप ही, तदर्थ अपेक्षित प्रभाव उत्पादन के अनुकूल ही वस्तुविधान, वर्णन, संवाद और भाव व्यंजना होनी चाहिए।

(क) वस्तुविधान के सम्बन्ध में कविवर्य माघ का कथन

"अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धः दुरुदाहरः"— वस्तु-विधान ऐसा होना चाहिए कि सम्बन्ध सूत्र कहीं से विच्छिन्न न हो। प्रायः महाकाव्यों में कभी दोहरी और कभी इकहरी कथा चलती है। मुख्य कथा को आधिकारिक कहते हैं और अवान्तर कथा को प्रासंगिक। प्रासंगिक भी 'पताका' और 'प्रकरी' रूप में दो प्रकार की होती है। उपरिलिखित संस्कृत महाकाव्यों में से रामायण और महाभारत जैसे कलात्मक और विकसनशील महाकाव्यों में दोनों प्रकार की कथाएँ हैं परन्तु परवर्ती कलात्मक महाकाव्यों में प्रायः आधिकारिक कथा ही गृहीत हुई है। यह अवश्य है कि इन महाकाव्यों की कथा 'वर्णनों' से इतनी व्यवहित और शिथिल हो जाती है कि प्रबन्ध की अविच्छिन्नता प्रतिबन्धित होने लगती है। शास्त्रीय नाटचवस्तु में ऐसी शिथिलता नहीं होती। वहाँ सुसंश्लिष्ट सन्धिविधान होता है। ऊपर कहा जा चुका है आलोच्य ग्रन्थ की कथावस्तु सिद्ध औदात्त्य की नहीं, साध्य औदात्त्य की है। परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों में जिनकी कथा कही गई है वे इतिहास और पुराण में उदात्त रूप में प्रख्यात हैं, पर यहाँ जिसकी कथा आधिकारिक रूप में ली जा रही है, वह स्वयं आत्मपरिचय में कहती है :

''स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
'''अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !'' (पृ. ४)

यद्यपि उदात्त सम्भावनाओं से मण्डित माटी की यह विनय भावना है। इसके विपरीत संस्कृत महाकाव्यों के कवि अपने उदात्त नायक – आधिकारिक कथा के फल-स्वाम्य के अधिकारी नायक की महिमा से अपने काव्य का आरम्भ करते हैं। यह बात या इतनी समता अवश्य है कि 'मूकमाटी' की भाँति उन्हें भी आत्मौदात्त्य की सिद्धि के लिए संघर्ष करना पड़ता है और लम्बे संघर्ष के माध्यम से ही उन्हें भी पुरुषार्थ की सिद्धि मिली है। कथासूत्र का क्रमशः विभिन्न खण्डों में विकास होता गया है। माटी कुम्भाकार परिणाम ग्रहण करती हुई सद्गुरु कुम्भकार के निर्देशन में स्वयं तो आत्मलाभ करती ही है, उपासक सेठ और उसके पारिवारिक सदस्यों को विभिन्न संघर्षों के बीच से निकालती हुई भव-सरिता के पार लगा देती है। माटी अपनी निरीहता और लघुता में भी अपरिमेय सम्भावनाओं से मण्डित है। कथा का मुख्य प्रयोजन 'मुक्ति' लाभ है। प्रसंगतः उसमें रोचक ढंग से साधक और बाधक तत्त्वों का विधान हुआ है। जितने परीषह और उपसर्गों को कुम्भ को पार करना पड़ता है उससे भी अधिक सेठ के सत् संकल्पी परिवार को। कुम्भाकार परिणत माटी की महिमा और उदात्तता आत्ममुक्ति में ही नहीं, तीर्थंकरों की भाँति पर-मुक्ति में भी स्पष्ट है। मतलब कथा का लक्ष्य आत्ममुक्ति से आगे बढ़कर पर-मुक्ति तक जाता है। माटी की सम्भावना यहाँ जाकर उपलब्धि का आकार ग्रहण करती है। इस प्रकार इसकी कथावस्तु और उसका सम्बन्ध निर्वाह अत्यन्त सुसंश्लिष्ट है–मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण–जैसी सन्धियों का भी अनुसन्धान किया गया है। सरिता के तट से आरब्ध कथा सरिता के तट पर ही अपनी वृत्ताकार समग्रता में सम्पन्न होती है। सन्धियों में 'अवस्थाएँ' और 'अर्थप्रकृतियाँ' भी समाहित होती ही हैं, उनका भी यथायोग्य आभास पाया जा सकता है।

(ख) वर्णन तत्त्व

महाकाव्यों के लक्षणों में वर्णनों का बड़ा उपयोग है। इससे कथाधारा में घनता और रोचकता द्वारा सरस प्रभाव पैदा किया जाता है। परम्पराप्रतिष्ठ ऐसा कोई भी महाकाव्य नहीं मिलेगा जिसमें वर्णनव्यापारों की प्रचुरता न हो। लक्षण ग्रन्थों में कहा गया है :

''सन्ध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः । प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥
सम्भोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः । रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह ।'' (साहित्यदर्पण, ष. प.)

प्रस्तुत कृति में भी प्रातः, सरिता, शिल्पी, ऋतु – शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, कुम्भ, सूर्य, चन्द्र, सेठ आदि पात्रों की मनोदशाओं का कल्पनाप्रवण धारावाहिक वर्णन प्रचुरता से उपलब्ध है। 'रामायण' और 'महाभारत' वर्णनों और उपाख्यानों से आद्यन्तपूरित हैं और परवर्ती कलात्मक महाकाव्यों में उक्त प्रकार के वर्णन भरे पड़े हैं, उपाख्यानों के लिए वह विराट् परिवेश शेष भी नहीं रहा। आलोच्य कृति में ये वर्णनात्मक प्रसंग थोपे हुए से नहीं लगते, जैसे माघ के 'रैवतक' वर्णन में सर्ग ही समाप्त हो गया है, 'किरातार्जुनीयम्' में ऋतु, शैल, विलास, सन्ध्या, प्रातः आदि का वर्णन कथासूत्र को व्यवहित करते हैं। 'नैषधीयचरित' का तो कहना ही क्या है, वर्णन में उनकी प्रातिभ सम्भावना लगता है निःशेष ही नहीं होती। कालिदास सावधान हैं। वर्णन वह भी करते हैं, पर कथाधारा के अंग रूप में। उनका वर्णन ऐसा नहीं लगता कि कथाधारा को रोककर वर्णन में ही डूब गई है। उन्हें अवयव संगति का ध्यान है। ठीक यही स्थिति इस महाकाव्य की भी है। अवान्तर प्रसंगों की उद्भावना कम नहीं है, पर्याप्त है, पर कथा के धाराप्रवाह को वे विच्छिन्न नहीं, सघन बनाते हैं। आरम्भ में प्रातः का ही रमणीय वर्णन माटी के आँख खोलने की पीठिका है। सरिता का वर्णन

प्रक्रान्त है। ऋतुओं– शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ने अधिक जगह नहीं घेरी है। इसी प्रकार सूर्य, चन्द्र आदि का भी वर्णन सन्तुलित रूप में ही हुआ है, जो कथाधारा पर थोपा हुआ नहीं लगता, प्रवाह की अनिवार्यता से ये वर्णन सहज सम्प्रसूत हैं। पात्रों और घटनाओं के कल्पनाप्रवण वर्णन काव्य को रोचकता प्रदान करते हैं और शुष्क उपदेशपरक ग्रन्थ होने से बचा लेते हैं।

(ग) संवाद योजना

आलोच्य कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश है - संवाद योजना। संवाद योजना नाटकों में भी होती है, पर उसका विधान रंग चेतना के अंग रूप में होता है। श्रव्य काव्य में वह महज़ कथाधारा को गम्भीर बनाता है और आगे बढ़ाता है। परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों की संवाद योजना से आलोच्य कृति की संवाद योजना इस मायने में विशिष्ट है कि इसमें चेतन प्राणियों के पारस्परिक संवाद तो हैं ही, उनसे कहीं अधिक यहाँ अचेतन पदार्थों को प्रतीकात्मक रूप देकर या मानवीकरण द्वारा संवाद कराए गए हैं। इन संवादों की गम्भीरता दोहरी तब हो जाती है जब एक तरफ वे प्रतीक बन जाते हैं और दूसरी तरफ वे संवाद बोलते हैं। प्रस्तुत कृति में कुछ प्रमुख संवाद इस प्रकार हैं–(१) माटी-धरती संवाद (२) शिल्पी-माटी संवाद (३) कंकर-शिल्पी संवाद (४) कंकर-माटी संवाद (५) दाँत-शिल्पी संवाद (६) रसना-रस्सी संवाद (७) मछली का मछली से संवाद (८) लेखनी-युग संवाद (९) मछली-माटी संवाद (१०) पुनः, माटी-शिल्पी संवाद (११) माटी-काँटा संवाद (१२) कण्टक-शिल्पी संवाद (१३) वीर रस-शिल्पी संवाद (१४) पुनः, माटी-शिल्पी संवाद (१५) सागर-राहु संवाद (१६) कुम्भ-अग्नि संवाद (१७) सेवक-शिल्पी संवाद तथा (१८) अन्य। इसमें संवाद के अतिरिक्त स्वगत कथन और आत्मचिन्तन भी है। कहा गया है कि संवाद योजना से न केवल कथा आगे बढ़ती है अपितु वह गम्भीरता भी प्रदान करती है। प्रथम संवाद है - माटी का माता धरती से। माटी पार्थिव है, पृथ्वी का अंश है, शरीर भी पार्थिव है प्राणियों का, पर मुक्ति की, बन्धन से मुक्ति की नैसर्गिक कामना मानवीय पार्थिव शरीर के भीतर जगती है, वहीं सम्भव है। आत्मग्लानि नितान्त पवित्र भावना है। माटी में यानी उस प्रतीक के माध्यम से पार्थिव शरीर से देहात्मबोध की भूमिका पर स्थितिबद्ध आत्मा में यह भावना पैदा होती है :

- *"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,*
  ···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)
- *"इस काया की/च्युति कब होगी ?*
  बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

एक प्रकार से यह काव्यारम्भ है, जहाँ मुख सन्धि के अन्तर्गत आने वाले "औत्सुक्यमात्रमारम्भः" - 'आरम्भावस्था' का सूत्रपात होता है। नायक या नायिका माटी का संकल्प मुख्य प्रयोजन के प्रति जगता है। 'इस काया की च्युति कब होगी'- से स्पष्ट है कि माटी कायाबद्ध जीवात्मा का प्रतीक है। माटी की क्या काया, माटी तो स्वयं काया है ? धरती गन्धवती है, उसमें रहस्य की गन्ध है, उसका आघ्राण पाने के लिए 'आस्था' की नासा खुली रखनी पड़ती है। 'माटी' में धरती की सत्ता रहस्यमय परा सत्ता का प्रतीक है, अनुरूप परिवेश में इस गुप्त सम्भावना का प्राकट्य होता है। धरती के उत्तर से यही संकेत व्यंजित होता है। धरती कहती है :

- *"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर*
  रास्ता स्वयं शास्ता होकर/सम्बोधित करता साधक को

साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

- *"किन्तु बेटा !/इतना ही पर्याप्त नहीं है।/आस्था के विषय को*
  आत्मसात् करना हो/उसे अनुभूत करना हो/तो
  साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)
- *"इतना ही नहीं,/निरन्तर अभ्यास के बाद भी*
  स्खलन सम्भव है।" (पृ. ११)

इस प्रकार धरती से माटी को लम्बा सारगर्भ उपदेश मिलता है। माटी भी कषायसिक्त आत्मपट पर द्रव्यकर्म और भावकर्म के द्रव्यात्मक आवरण की बात समझकर उसके निराकरण का संकल्प लेती है, विभाव से स्व-भाव की ओर जाने की प्रतिज्ञा करती है।

साधक में अभीप्सा तीव्र होनी चाहिए। साधना के साँचे में ढालकर अभीष्ट स्वरूप उभारने वाला निर्देशक- जो अकारण करुणावरुणायल है, स्वयं खींच लेता है या खिंचा चला आता है। कुम्भकार सद्गुरु का प्रतीक है। वह 'कुं' – धरती का 'भ' – भाग्य, 'कार' – विधाता है जो कर्तृत्वबुद्धि से मुड़कर कर्तव्यबुद्धि से जुड़ गया है। यह क्रिया प्रयोजन की निष्पत्ति तक अनिवार्य है। यही शिल्पी माटी में निहित कुम्भाकार सम्भावना को जन्म देता है, साधना के चक्र पर ढालता है। वह माटी से पुनः उसकी प्रतिक्रिया जानना चाहता है और माटी के उत्तर से इस निष्कर्ष पर पहुँचता है :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

वह सद्गुरु शिल्पी माटी को सान्त्वना देता है - अभय की मुद्रा में। चाक साधना पर माटी के चढ़ने से पूर्व, उसमें निहित सम्भावनात्मक कुम्भाकार के प्राकट्य के पूर्व पार्थिव काया की भूतशुद्धि अपेक्षित है, मलसांकर्य दूर कर वर्णलाभ देना पड़ता है :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न ही अंग से
वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

यानी 'मनमुख' से 'गुरुमुख' होना है, अधोमुखी वासना प्रेरित चालढाल को ऊर्ध्वासीन गुरु की ओर उन्मुख करना है, 'पराङ्मुख' से 'प्रत्यङ्मुख' होना है। इस बीच माटी-कंकर संवाद भी आता है जिसमें वह माटी कहती है कि उसमें भी सम्भावना है। उस 'खरा' होने की सम्भावना को 'हीरा' में मूर्त करना है पर एतदर्थ 'राख' बनने की दिशा का 'राही' होना होगा, तभी 'खरा' और 'हीरा' की ऊर्ध्वगामिनी सम्भावना मूर्त होगी। ग्रन्थिमोचक सद्गुरु आगे बढ़ता है निर्ग्रन्थ होने की दिशा में, निर्ग्रन्थ बनाने की दिशा में। 'मुख' सन्धि से निकलकर यह कथा संवाद के सहारे 'प्रतिमुख' सन्धि में प्रवेश करती है जहाँ 'प्रयत्न' और 'बिन्दु' का समन्वय होता है। शिल्पी के निर्देशन में चल रही माटी की साधना के दौरान कुदाली, मछली, काँटा, गदहा आदि न जाने कौन-कौन से विचारगर्भ प्रसंग लाए जाते हैं। अन्ततः कुम्भ उभर आता है, पर कषाय का प्रतीक जलीय अंश उसमें और शेष है। तपस्या से उसे भी सुखाया जाता है। 'तपन' पर अनेक विघ्न -बाधाएँ आती हैं, संकल्पवान् का सहायक पवन बनता है, जलीय अंश या कषाय समाप्त हो जाता है। अभी भी इस साधक को अग्नि परीक्षा देनी है और अग्नि परीक्षा से उसमें निखार और स्थायित्व आता है। अब वह 'पात्र' सत्पात्र बनता है तब उसका साज-शृंगार होता है। सत्पात्र की सार्थकता सन्तों के चरणों में समर्पण में है। यह कार्य सेठ द्वारा सम्पादित

होता है। कथा के इस सूत्र को संवाद और आगे बढ़ाते हैं। इस शब्दबद्ध कथा की पौध में बोध का सुगन्धित पुष्प है और वह पुष्प भी शोध की सरस फलमयी परिणति तक पहुँचता है। इस कथा में कुम्भ जलमय पाप का तपन द्वारा प्रक्षालन करता है और पुण्य का अर्जन करता है।

सत्पात्र कुम्भ सेठ के जिन करों से ऊपर उठा लिया जाता है, श्रमण के चरणों में समर्पण के निमित्त उसके साथ कुम्भ की बातचीत चलती है और परस्पर एक-दूसरे की प्रशंसा करते हैं। बाद में कुम्भ सेठ को भी सम्बोधित करता है और बताता है :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है।" (पृ. ३५२)

सेठ को प्रतीत होता है :

"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है/और
कुम्भ के निखिल अर्पण में/सन्त का आभार हुआ है।" (पृ. ३५४-३५५)

कथाकार धातुनिर्मित बहुमूल्य कलशियों के अनुपयोग में सेठ की अवमानना व्यक्त कर उनमें कुम्भ के प्रति आक्रोश व्यक्त करवाता है। मानों पूँजीवाद का प्रतीक बनाकर गैर पूँजीवादी सात्त्विक शक्तियों और साधकों के साम्प्रतिक ताण्डव का उपस्थापन करना चाहता है। पर अन्ततः ये विरोधी ताकतें परास्त होती हैं और सेठ की आस्था कुम्भ के प्रति यथावत् रहती है। परिपक्व कुम्भ भी समर्पित सेठ और उसके परिवार के उद्धार का संकल्प लेता है और सम्भावित आतंकवादी आक्रमण से बचाने के लिए कहता है :

"तुरन्त परिवार सहित/यहाँ से निकलना है,
विलम्ब घातक हो सकता है।" (पृ. ४१२)

परिवार कुम्भ के नेतृत्व में चल पड़ता है और त्रस्त प्राणी साथ हो लेते हैं। अन्ततः आतंकवाद भी परास्त होता है। साधकों के समक्ष संघर्ष का अन्त नहीं है, पर तीर्थंकर का नेतृत्व रहे और अनुगामी का उनमें विश्वास - तो कोई विपत्ति उन्हें डुबो नहीं सकती। गर्भसन्धि में साधक पर नदी का आक्रोश बाधक बनता है और लगता है कि तीर्थयात्री अब गए-तब गए, परन्तु 'विमर्श' चलता रहता है और अन्ततः 'निर्वहण' हो जाता है। नदी प्रतीक है - साधना यात्रा में विघ्न राशि का। उपासक सेठ परिवार की सम्भावित चिन्ता से सिद्ध कुम्भ नदी को ललकारता है :

"अरी निम्नगे निम्न-अघे !/इस गागर में सागर को भी
धारण करने की क्षमता है/धरणी के अंश जो रहे हम !" (पृ. ४५३)

इसी बीच कुम्भ को महामत्स्य से एक ऐसी मुक्तामणि मिलती है जो अगाध जल से भी धारक को पार कर देती है। सपरिवार सेठ को पार ले जाने वाले कुम्भ के आत्मविश्वास से बाधक नदी में भी समर्पण का भाव आ गया। लगा जैसे गन्तव्य ही अपनी ओर आ रहा है। यह तप, त्याग और सश्रद्ध साधना का ही प्रतिफल है कि आतंकवादी का भी स्वर मन्द हो जाता है। वह भी नदी से प्रार्थना करता है :

"ओ माँ ! जलदेवता !/हमें यह दे बता/अपराधी को भी क्या—
पार लगाती है ?/पुण्यात्मा का पालन-पोषण/उचित है···कर्तव्य है,

परन्तु क्या पापियों से भी/प्यार करती है ?'' (पृ. ४५६-४५७)

और कहता है कि यदि उन्हें पार नहीं लगाती तो कुम्भ के सहारे पार होने वाले सपरिवार पापी सेठ को भी डुबा दो। नदी कहती है कि वे समर्पित हैं, वैभव से विरक्त हैं। आतंकवादी फिर अपने अनुकूल होता न देखकर पुनः उग्र रूप ग्रहण करता है। सेठ का संघर्ष आतंक से चलता है। उनको फाँसने के लिए फेंके गए जाल को पवन उड़ा ले जाता है। कुम्भ के प्रति समर्पित परिवार की रक्षा कुम्भ के संकेत पर पवन करता है और दहलते हुए परिवार को नदी भी कहती है :

''उतावली मत करो !/सत्य का आत्म-समर्पण
और वह भी/असत्य के सामने ?'' (पृ. ४६९)

आतंकवाद और उग्र होता है और अपनी न चलती देख 'मन्त्र' का स्मरण करता है। देव-दल आता है, पर वह अपनी लक्ष्मण रेखा का इज़हार करता है। आतंकी दल को अपराध बोध होता है। सभी नाव से जल में एक-दूसरे को सहारा देते हुए कूल से लगने वाले ही हैं कि कूल :

''तट स्वयं अपने करों में/गुलाब का हार ले कर
स्वागत में खड़ा हुआ है।'' (पृ. ४७९)

और कुम्भ के मुख से मंगल कामना निकल रही है। छने जल से कुम्भ को भरकर परिवार आगे बढ़ा कि वही स्थान आ गया जहाँ शिल्पी कुम्भकार माटी लेने आया था। परिवार सहित कुम्भ कुम्भकार का अभिवादन करता है। परा - सत्ता आत्मसत्ता का उत्कर्ष देख प्रसन्न होती है। निर्देशक सद्गुरु कुम्भकार कहता है :

''यह सब/ऋषि-सन्तों की कृपा है,/उनकी ही सेवा में रत
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,/और कुछ नहीं।'' (पृ. ४८४)

अन्ततः सद्गुरु के भी गुरु सामने समासीन। आतंकवादी उनसे 'वचन' चाहता है पर वह अपने सद्गुरु की देशना बताते हुए कहते हैं कि सन्त 'वचन' नहीं, 'प्रवचन' देता है।

''दूसरी बात यह है कि/बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।'' (पृ. ४८६)

प्रवचन पर विश्वास लाओ, विश्वास को अनुभूति मिलेगी, मगर मार्ग में नहीं, मंज़िल पर।

इस प्रकार संवाद से कथा आगे बढ़ी है और आरब्ध का निर्वाह हुआ है। आरम्भ ही अन्त में पर्यवसन्न हुआ है। यात्रा वृत्ताकार है। वृत्त पूर्णता का, स्व-भाव का प्रतीक है। गुरु-शिष्य की अविच्छिन्न परम्परा ही सत् सम्प्रदाय है। जिसका सत् सम्प्रदाय नहीं, वह गुमराह है।

परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों में भी संवादों की धारा है। 'रामायण', 'महाभारत' संवादों और उपदेशों से भरे पड़े हैं। 'कुमारसम्भव' में पार्वती-सप्तर्षि का, पार्वती-शम्भु का, 'रघुवंश' में दिलीप-सिंह का,कौत्स शिष्य बरतन्तु का, कुश और नगरी का, 'किरातार्जुनीय' में भीम और युधिष्ठिर का, किरात और अर्जुन का, 'शिशुपाल वध' में कृष्ण और शिशुपाल का, तथा 'नैषधीयचरित' में राजा नल और हंसी का, कलि के परिवार का खण्डन-मण्डन द्रष्टव्य है। पर इन संवादों से आलोच्य कृति के संवाद का अपनी प्रतीकात्मकता में कुछ और ही वैशिष्ट्य है। कल्पना और अलंकार विधान सर्वत्र समान है।

(घ) भाव व्यंजना और विचार संयोजन

आलोच्य काव्य राजशेखर के अनुसार 'शास्त्र काव्य' कहा जा सकता है। उनका पक्ष है कि शास्त्र और काव्य की सापेक्षता के कारण कभी एक का और कभी दूसरे की प्रधानता भी सम्भव है - साथ ही समंजस रूप भी। रचयिता मुनि और आचार्य भी हैं - अत: वह 'काव्यकवि,' 'उभयकवि' की अपेक्षा 'शास्त्रकवि' अधिक हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं कि उनमें भावना या कल्पना जैसी कवित्वोचित क्षमताएँ उपेक्षित हैं। रागात्मक लगाव तो स्व-भाव के प्रति है ही, अन्यथा संघर्षों और तूफानों को झेलने और पार करने की प्रेरणा और शक्ति कहाँ से मिलती ? समर्पण भाव की भावना कृति में आद्यन्त व्याप्त है। आचार्य का पक्ष है कि लेखक और वक्ता से कई गुना अधिक साहित्यिक रस को श्रोता आत्मसात् करता है। उनकी दृष्टि में रस स्रष्टा में नहीं, सहृदय ग्राहक या श्रोता में है। यह विषय विवादास्पद है। यह सही है कि रसोइया की रसना रसदार रसोई का रसास्वादन कम कर पाती है, पर काव्य-बीज वह सर्जनात्मक अनुभूति है जो स्रष्टा में है। उसमें रस सम्भावना बन कर तो रहेगी ही, अन्यथा काव्य में रस का फल कहाँ से लगेगा ? रसीले बीज और रसीले फल में अन्तर अवश्य है। इतना अन्तर स्रष्टा और रसयिता की मनोदशा में रहेगा। आचार्यश्री ने आलोच्य कृति के दूसरे खण्ड में सभी रसों की चर्चा की हैं– वीर, हास्य, रौद्र, वात्सल्य, अद्‌भुत, भयानक, शृंगार, बीभत्स, पर उनका पक्ष है कि रसराज तो 'शान्त' ही है। वह कहते हैं :

> *"सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।*
> *यूँ गुनगुनाता रहता/सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।/···धन्य !*
> *रस-राज, रस-पाक/शान्त-रस की उपादेयता पर।" (पृ. १६०)*

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य शान्त रस है, जहाँ साधक कुम्भ ने अपनी और अपने निर्देश में चलने वालों में विषय मात्र के प्रति रुचि और संस्कार को नि:शेष कर दिया है, कषाय समाप्त कर दिया है, शम पुष्ट होकर शान्त बन गया है और आत्मा विभावों का निषेध कर स्वभाव में स्थित हो गया है। उपदेशक और रचयिता का एक अन्तर सबसे बड़ा यह होता है कि वह अपनी भावनाओं को पात्र में भरकर संवाद की पिचकारी चलाता है। अत: काव्य विचारगर्भ होने पर भी, उपदेश गर्भ होने पर एक पात्र के माध्यम से भावाविष्ट दशा में निकलते हैं। अत: पाठक भी पात्रों के साथ सुख-दु:ख में मग्न होता हुआ अन्त तक रसविभोर होकर साथ देता है।

जहाँ तक कृति में मेरुदण्ड स्थानीय वैचारिकता का सम्बन्ध है, वह आद्यन्त भरा हुआ है। विचार सदातन प्रकृति के भी हैं और अद्यतन या अपने समय के भी। सदातन विचारधारा 'मुक्ति'-कामी 'कुम्भ' या 'माटी' की यात्रा से सहज सम्बद्ध है। माटी से कंकर का नि:सारण भूतशुद्धि की प्रक्रिया है। कषाय के कारण आत्मा पर पड़े विजातीय द्रव्यों का नि:सारण है। पर विजातीय द्रव्यों के नि:सारण से ही काम नहीं चलता, उसके मूलस्रोत कषाय को भी सुखाना पड़ता है। कुम्भ में स्थित जलीय अंश उसी का प्रतीक है जिसे कुम्भ तपस्या से सुखाता है। आगे अग्निपरीक्षा में कुम्भ अवतीर्ण होता है तथा भवनाशिनी भावना-मग्न होता है। दया, क्षमा, अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दर्शन, अध्यात्म, समता, अनेकान्त, मोक्ष आदि पर पगे-पगे चर्चा आद्यन्त व्याप्त है। परस्पराप्रतिष्ठ 'रामायण' में 'करुण', 'महाभारत' में 'शान्त', 'किरातार्जुनीय' एवं 'शिशुपालवध' में 'वीर' तथा 'नैषधीयचरित' में 'शृंगार रस' का निष्पादन है। 'रघुवंश' का वैरस्यावसान शान्त के पक्ष में और 'कुमारसम्भव' का तारकसंहार पर्यवसायी होने से वीर के पक्ष में निर्वाह होता है। वैचारिक तत्त्व सर्वत्र विद्यमान हैं। इस साम्य के बावजूद गृहस्थ और मुनि के व्यक्तित्व भेद से अन्तर उभार पर स्पष्ट ही होगा।

विचार सदातन प्रकृति के ही यहाँ विन्यस्त नहीं हैं, सामयिक सन्दर्भों के भी हैं। कुछ काव्य 'सामयिक' प्रकृति के होते हैं और कुछ 'सदातन'। सामयिक में अपने देश-काल की समस्याओं पर वैचारिक प्रतिक्रिया व्यक्त होती है जबकि सदातन में उनसे तटस्थ रहकर सदातन 'बन्धन'-'मुक्ति' की समस्याओं पर। संस्कृत के इन परम्पराप्रतिष्ठ महाकाव्यों में अतीत के ऐतिहासिक या पौराणिक पात्रों को आधार बनाकर चिरन्तन मूल्यों की ही चर्चा की गई है परन्तु आलोच्य कृति में 'चिरन्तन' के साथ 'अद्यतन' समस्याओं को भी लिया गया है। रचनाकार अपने समय का होकर चिरन्तन का होता है तो एक प्रकार की समग्रता उसमें लक्षित होती है। इस कृति की सबसे पहली विशेषता तो यही है कि इसका मुख्य पात्र सर्वसाधारण माटी या मूकमाटी है – दलिता, पददलिता। आज के पूँजीवादी और तानाशाही वृत्ति की प्रतिक्रिया में रचयिता इसी 'साधारण' का पक्ष लेता है और उसमें सम्भावना के रूप में निहित 'असाधारणता' को मूर्त करना चाहता है। कृति में आज के तथाकथित राजनयिकों की, उनकी तथाकथित स्थितियों की आलोचना की है। उसने पूँजीवाद की, तथाकथित लोकतन्त्र की चुनावी पद्धति और उसकी दुष्परिणति की, 'समाजवाद', जहाँ 'मैं' पहले और 'समाज' बाद में रहता है– की, परिग्रही वैश्यवर्ग की, आतंकवाद की, पूँजीवादी वृत्ति के प्रतीक स्वर्ण की जैसी सामयिक समस्याओं की चर्चा तो की ही है, साहित्य की समस्याओं पर भी यत्र-तत्र अपने मत रखे हैं। इस प्रकार यह चिरन्तन विषयों के साथ अद्यतन विषयों को भी अपना वर्ण्यविषय बनाती हुई धर्म और अध्यात्म के साथ सामाजिकता को भी अपनी पुनीत कुक्षि में समेटे हुई है।

अन्तिम बिन्दु परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों के साथ तुलना के सन्दर्भ में आती है – अभिव्यक्ति कला और भाषा सौष्ठव की। संस्कृत महाकाव्य संस्कृत भाषा में लिखे गए हैं और प्रस्तुत कृति परिष्कृत परिनिष्ठित हिन्दी में। संस्कृत महाकाव्यों की लयवत्ता निर्धारित छान्दस साँचों में बद्ध है और आलोच्यकृति की लयवत्ता मुक्त है, स्वच्छन्द छन्दोमय है। काव्यतत्त्व या भाषागत कवित्वोचित तत्त्व 'शब्द की शक्ति' और 'सर्जक की कल्पना या प्रतिभा शक्ति' का मुखापेक्षी होता है। यों शब्द में भी सर्जक की प्रतिभा ही शक्ति भरती है। कुल मिलाकर प्रामुख्य उसी का ही है। परम्परा में 'निरुक्ति' एक अलंकार है, जहाँ अद्‌भुत और चमत्कारी निरुक्तियों द्वारा चमत्कार पैदा किया जाता है। आचार्यश्री ने भी आलोच्य कृति में निरुक्तियों की बाढ़ लगा दी है। इस सन्दर्भ में उन्होंने एक और चामत्कारिक प्रणाली ग्रहण की है और वह है शब्दों के विलोमीकरण से अर्थ दोहन की। परम्पराप्रतिष्ठ महाकाव्यों में, चित्रबन्धों में यह चमत्कार मिलता है। इस कृति में विलोम पाठ पर (नदी में दीन) भी चमत्कार निर्भर करता है। नारी (न+अरि), महिला (मह= उत्सव+ला = लाती), अबला (अव= अवगम+ला = लाती), सुता (सु+ता), दुहिता (दो हित वाली), स्त्री (स्+त्री–धर्म-अर्थ-कामवाली), मातृ (ज्ञानशक्ति) आदि निरुक्तियों के उदाहरण हैं। विलोम पद्धति के उदाहरण हैं– राख=खरा, लाभ=भला, राही =हीरा आदि। आलंकारिक अभिव्यक्ति से भाषा चित्रभाषा बन गई है। भावावेश में आलंकारिक उक्तियों का आ जाना उनके 'अपृथग्यत्नानिर्वर्त्यत्व' का ज्वलन्त निदर्शन है। इसके उदाहरण कहीं भी देखे जा सकते हैं। पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलते ही प्रातःकाल का आलंकारिक वर्णन, उपमाओं की माला देखने को मिलती है। चतुर्थ खण्ड में 'घर की ओर जा रहा सेठ' (पृ. ३४९-३५२) की मुद्रा पर अनेक कल्पनाओं का अविरल प्रवाह अनुभव योग्य है। एक उदाहरण :

> *"प्राची की गोद से उछला/फिर/अस्ताचल की ओर ढला*
> *प्रकाश-पुंज प्रभाकर-सम/आगामी अन्धकार से भयभीत*
> *घर की ओर जा रहा सेठ···।" (पृ. ३५१)*

इस तरह की शताधिक कल्पनाप्रवण पंक्तियाँ उद्‌धृत की जा सकती हैं। सारांश यह कि प्रस्तुत रचना की भाषा परिष्कृत

और प्रांजल होने के साथ-साथ अपनी भंगिमा में नितान्त सक्षम और शक्त है।

इस प्रकार जब हम परम्पराप्रतिष्ठ संस्कृत महाकाव्यों के साथ इस भाषा निबद्ध अतिमंजुल कृति की तुलना करते हैं तब पाते हैं कि क्या वस्तु विधान, पात्रयोजना, संवाद विधान और क्या भाव व्यंजना और विचार विन्यास तथा भाषा भंगिमा – सभी बिन्दुओं पर यह अपना एक वैशिष्ट्य और पहचान बनाती है। सर्वाधिक आकर्षण और रेखांकन का बिन्दु है इसके मुख्य पात्र का साधारण स्तर से उठना और सर्वोत्कृष्ट बिन्दु पर प्रतिष्ठापना। इससे रचयिता ने यह बताया कि कोई भी नायक हो सकता है। हर सत्तावान् पदार्थ में महासत्ता अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति की सम्भावना रखती है। आवश्यकता है अहंकारविहीन, समर्पण शील, यम-नियम-परायण साधना की, तितिक्षा की, संघर्ष और तूफानों में भी विश्वास और श्रद्धा की लौ को न बुझने देने की। साधना से सब सम्भव है। दूसरा वैशिष्ट्य है चिरन्तन विषयों के साथ अद्यतन समस्याओं से भी सम्पृक्त रहने की। अपनी इन विशिष्टताओं के साथ यह महाकाव्य भविष्य में भी सहृदय पाठकों के बीच अपना स्थान निर्मित करेगा।

❑

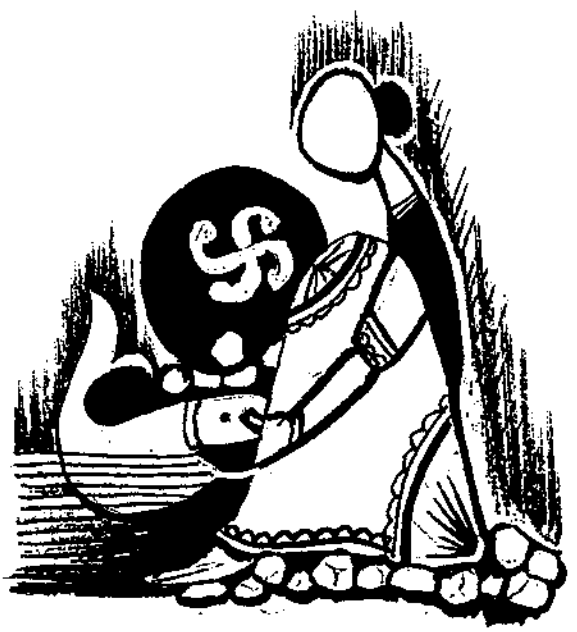

पृष्ठ ८६
और महत्ती
कहती है,----
समाधि को बस देख
सकूँ।

हिन्दी का कालजयी महाकाव्य : 'मूकमाटी'

पद्मश्री यशपाल जैन

'मूकमाटी' को मैं आद्योपान्त पढ़ गया हूँ। इस का नाम जब मैंने पहली बार सुना तो बड़ा विचित्र-सा लगा। माटी जड़ होती है और जड़ कभी मुखर नहीं हो सकता। लेकिन पुस्तक को देखा तो मेरा भ्रम सहज ही दूर हो गया। जिस मूकमाटी की कल्पना पुस्तक में की गई है, वह सामान्य माटी नहीं है। वह असामान्य है। सरिता तट की यह माटी अपनी विपन्नावस्था से व्यथित होकर 'माँ धरती' के सम्मुख अपनी वेदना को व्यक्त करती है और अन्त में प्रार्थना करती है कि 'हे माँ ! मुझे पद दो, पथ दो और पाथेय भी दो।'

धरिणी उससे विचलित हो उठती है और गुरु-गम्भीर वाणी में उसकी अन्तर्निहित सत्ता की ओर संकेत करती है। कहती है कि 'सत्ता शाश्वत होती है और प्रतिसत्ता में उत्थान-पतन की अमिट सम्भावनाएँ समाहित रहती हैं, जैसे बीज में वृक्ष समाया रहता है। समुचित क्षेत्र और समुचित खाद, हवा और जल उसे मिल जाते हैं तो वह कुछ ही समय में विशाल वट वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। यही इसकी महत्ता है। सत्ता शाश्वत और भास्वत होती है।'

आगे वह मार्ग सुझाती है :

"... जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।
आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ
चलती हैं साधक की,/सार्थक जीवन में तब
स्वरातीत सरगम झरती है !" (पृ. ९)

इसके साथ ही माटी की अकिंचनताजन्य आत्मवंचना को झकझोरकर वह कहती है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है
यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से
प्रभु को,/गुरुतम को/पहचाना है !/तेरी दूर-दृष्टि में
पावन-पूत का बिम्ब/बिम्बित हुआ अवश्य !
असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)

फिर वह गहरे मर्म का उद्घाटन करती हुई कहती है :

"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो/...तो/साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)

कह सकते हैं कि इसी अधिष्ठान पर इस महाकाव्य का भवन खड़ा किया गया है। चार खण्डों में माटी की जीवन-साधना का विस्तार से वर्णन किया है और अन्ततः उसकी मनोकामना की पूर्ति कराकर उसके जीवन की धन्यता उजागर की है। पहले खण्ड में जीवन का परिशोधन है। मिट्टी के पिण्ड में जो अशुद्ध तत्त्व मिले हैं, उन्हें दूर करना है। कुम्भकार यही करता है। खण्ड दो में बताया गया है कि परिशोधन की इस प्रक्रिया में कितनी सावधानी की आवश्यकता है। उसमें

बाधाएँ आती हैं। उनका निराकरण करने के लिए विवेक अनिवार्य है। तीसरे खण्ड का सार है : 'मन, वचन, काय की निर्मलता से, शुभकर्मों के सम्पादन से, लोककल्याण की कामना से पुण्य उपार्जित होता है। क्रोध, मान, माया, लोभ से पाप फलित होता है।' इसी मान्यता के आधार पर कुम्भकार के द्वारा माटी के विकास क्रम में पुण्य कर्म की श्रेयस्कर उपलब्धि चित्रित की गई है। अन्तिम खण्ड इस पुस्तक का सबसे बड़ा खण्ड है। उसका पटल अत्यन्त व्यापक है। कुम्भकार कुम्भ का निर्माण करता है, अग्नि में तपाता है और अन्त में अवे से निकाल कर ठोक-बजा कर देखता है। और भी अनेक प्रसंग इस खण्ड में आते हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य के रचयिता जैनाचार्य हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि इस कृति के माध्यम से उन्होंने जैन दर्शन का प्रतिपादन किया है, लेकिन उसे ऐसा रूप प्रदान किया है कि वह सहज ही सामान्य पाठक के गले उतर जाता है। यह कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि यह मानव जीवन का महाकाव्य है। प्रत्येक व्यक्ति मूलत: अकिंचन होता है। किन्तु उसके भीतर महानता की अमित सम्भावनाएँ छिपी होती हैं। जिस प्रकार दीपक की लौ को ढक देने से उसका प्रकाश मन्द पड़ जाता है, उसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि से आत्मा पर आवरण चढ़ जाता है और उसका प्रकाश धुँधला पड़ जाता है।

मिट्टी उसी प्रारम्भिक अवस्था की प्रतीक है। उसके परिशोधन का अर्थ होता है आत्मा पर पड़े कषायों के आवरण का हट जाना। जिसकी आत्मा पर से आवरण हट जाता है, वह विकास द्वारा उच्च सोपान पर आरूढ़ हो जाता है। आगे की यात्रा फिर उतनी कठिन नहीं रहती। वैसे सतत जागरूकता मंज़िल रूप अन्तिम चरण में पहुँचने तक जरूरी होती है।

जीवन के आत्मार्थियों तथा शोधार्थियों के लिए यह कृति एक राजमार्ग प्रशस्त करती है। लेकिन सिद्धि उन्हीं को प्राप्त होती है, जो साधना करते हैं। माटी को कुम्भकार साफ़ करता है। उसकी अशुद्धियों को दूर करके उसे मृदु बनाता है। फिर चाक पर घुमाता है, अपनी कुशल उंगलियों से उसे आकार देता है, थपथपाता है तब जाकर कुम्भ तैयार होता है। फिर उसकी अग्नि परीक्षा होती है। कच्चा घड़ा तो कभी भी फूट सकता है। कुम्भकार उसे पकाता है, आग में तपाता है। तब कहीं ऐसा घट तैयार होता है जो जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है।

इसी रूपक को मानव जीवन के साथ जोड़ें तो कह सकते हैं कि यह शरीर माटी है, उसका धर्ता कुम्भकार है और परिशोधन की प्रक्रिया साधना है।

विस्मय होता है कि एक धर्मपुरुष की कल्पना ने कितने विराट् पटल की रचना की है, और उस पर ऐसे चित्र अंकित किए हैं कि पाठक उनमें डूब जाता है। पाठक का विभ्रान्त मन वह रास्ता पा लेता है, जिसकी तनधारी मनुष्य अभीप्सा करता है, लेकिन चलते-चलते भटक जाता है।

काव्य की भाषा अत्यन्त सरल है, शैली रोचक है, विषय प्रतिपादन बोधगम्य है। भाषा का प्रवाह अनूठा है। जहाँ-जहाँ कवि ने प्रकृति का चित्रण किया है, वहाँ पाठक का मन विभोर हो उठता है।

कुल मिलाकर मैं इस महाकाव्य को हिन्दी की कालजयी रचना मानता हूँ। इसे जो भी पढ़ेगा, उसे जीवन-शोधन की प्रेरणा अवश्य मिलेगी। इस दृष्टि से कृतिकार हम सबके साधुवाद के पात्र हैं।

लेकिन एक बात मैं पुस्तक के आकार के विषय में कहे बिना नहीं रह सकता। आज का मानव समयाभाव से आक्रान्त है। उसके पास इतना समय नहीं है कि वह इतने विशाल ग्रन्थ को पढ़े। उतनी पठन-पाठन में रुचि भी नहीं है। अत: पुस्तक के कतिपय विवरण कुछ संक्षिप्त होते तो अधिक अच्छा होता। दूसरे, कथासूत्र भी कुछ सीमित कर दिया जाता तो पाठक के लिए यह महाकाव्य अधिक रोचक और संग्राह्य हो जाता। भाषा बहुत सुगम है, पारिभाषिक

शब्दावली को रचयिता ने बड़ी कुशलता से बचाया है, फिर भी बिम्ब इतने अधिक हो गए हैं कि पाठक कहीं-कहीं खो-सा जाता है। अधिकांशत: भाषा में सौष्ठव है, परन्तु कहीं-कहीं उसमें सपाटता भी है। काव्य की विशेषता ही यह होती है कि उसका प्रत्येक शब्द अर्थ-गाम्भीर्य-युक्त होता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायिनी' इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। भाषा सुगठित होती है तो उसका रूप निखर आता है।

पुस्तक की सामान्य मर्यादाओं के बावजूद मैं हिन्दी साहित्य में उसे ऊँचा स्थान देता हूँ। वह उदात्त विचारों का अनन्त भण्डार है। एक प्रकार से जीवन संहिता है। वह रत्नों का सागर है। इस सागर में जो जितनी गहरी डुबकी लगाएगा, उतने ही अनमोल रत्न उसके हाथ लगेंगे।

मेरी आकांक्षा है कि यह पुस्तक प्रत्येक शिक्षित परिवार में पहुँचे और परिवार का हर सदस्य इसे पढ़े। यह पुस्तक प्रेरणा का अक्षयस्रोत है। जीवन के मर्म को इतने सरल ढंग से हृदयंगम कराने वाली अन्य पुस्तक अब तक मेरे देखने में नहीं आई। बड़ा ही सामान्य बिम्ब लेकर लेखक आध्यात्मिकता की अतल गहराई में गए हैं और उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि जीवन निष्प्रयोजनीय नहीं है। उसका ऊँचा आदर्श है।

पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता है कि वह जीवन से जुड़ी है और उसका विषय प्रतिपादन इतने सुगम ढंग से किया गया है कि सामान्य शिक्षित व्यक्ति भी उसे समझ सकता है। उसमें जटिल तात्त्विक विवेचन नहीं है, क्लिष्ट शब्दावली नहीं है। इसी से वह सबके लिए उपादेय है।

पाठक आचार्य श्री विद्यासागरजी की इस महान् कृति के लिए चिरकाल तक आभारी रहेंगे। एक लेखक के नाते मैं कह सकता हूँ कि 'मूकमाटी' एक कालजयी रचना है।

आचार्यश्री को ऐसी जीवनोपयोगी रचना के लिए मेरी ओर से हार्दिक अभिनन्दन। मैं आशा करता हूँ कि उनकी लेखनी अब विराम नहीं लेगी और इस प्रकार की अनेक रचनाएँ पाठकों को पढ़ने के लिए सुलभ होंगी।

❑

पृष्ठ ३८
क्योंकि, सुनो !----
---- याद दिया !

'मूकमाटी' : प्रवचन महाकाव्य

डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

आचार्य विद्यासागर ने 'मूकमाटी' महाकाव्य लिखा है जो आकार की दृष्टि से तो महाकाव्य ही है, इसलिए भी कि यह हिन्दी का 'प्रवचन महाकाव्य' है। सामान्य महाकाव्य कथाप्रधान होते हैं पर यहाँ जैन दर्शन और साधना को, तर्क-वितर्क शैली में काव्यात्मक विधि पर प्रस्तुत किया गया है। आचार्य ने कुम्भ और कुम्भकार का रूपक प्रारम्भ से अन्त तक विनियुक्त किया है और सेठ (गृहस्थ) तथा सन्त-साधक का कथाप्रसंग भी चलाया है, किन्तु समग्रता में यह काव्य कथाप्रधान नहीं है।

प्रारम्भ में 'मूकमाटी' में प्रकृति का वर्णन है पर यहाँ सामान्य दृश्यांकन नहीं, दृश्यों का विचारीकरण अधिक है, जो बीच-बीच में भी है :

''करवटें बदल रही/प्रभात की प्रतीक्षा में।/तथापि,
माटी को रा'''त्रि भी/प्रभात-सी लगती है :/दु:ख की वेदना में
जब न्यूनता आती है/दु:ख भी सुख-सा लगता है।
...आज-जैसा प्रभात/विगत में नहीं मिला/और
प्रभात आज का/काली रात्रि की पीठ पर/हलकी लाल स्याही से
कुछ लिखता-सा है, कि/यह अन्तिम रात है/और/यह आदिम प्रभात;
यह अन्तिम गात है/और/यह आदिम विराट !'' (पृ. १८-१९)

दार्शनिक विवेचन इतने विस्तार और इत्मीनान से किया गया है कि तत्त्व बोध के जिज्ञासु आराम से पढ़ते चले जाते हैं। दार्शनिकता को आरोपित न कर सहज ढंग से समझाया गया है। ऐसे प्रसंगों में कविता कम है, पर एक लय का ध्यान रखा गया है। विवेचन में कविता कहीं-कहीं मुहावरेदार भाषा में मिलती है :

''दशा बदल गई है/दशों दिशाओं की/धरा का उदारतर उर
और/उरु उदर ये/गुरु - दरारदार बने हैं
जिनमें प्रवेश पाती हैं/आग उगलती हवायें ये।'' (पृ. १७७)

कहीं-कहीं कविता दृष्टान्त रूप में भी है :

''जल को मुक्ता के रूप में ढालने में/शुक्तिका—सीप कारण है
और/सीप स्वयं धरती का अंश है।/...जल को जड़त्व से मुक्त कर
मुक्ता-फल बनाना,/पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है/यही जिया कर्म है।''
(पृ. १९३)

प्रश्न यह है कि प्रवचन के लिए गद्य ही पर्याप्त था, कविता का प्रयोग प्रवचन के लिए क्यों किया गया ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि यही मुनि विद्यासागर जी की इच्छा है, मुनीक्षा ! और जो मुनीक्षा है, उससे कविता का एक

नया प्रकार -- 'प्रवचन कविता' का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता की दृष्टि से 'मूकमाटी' का यही महत्त्व है।

तथापि यह मन में आता है कि काश, 'मूकमाटी' में कविता की मात्रा अधिक होती ! जब प्रकृति का वर्णन करना ही था तो ज़रा जमकर किया जाता, जब दृष्टान्त के रूप में प्रकृति और पदार्थों का विनिवेश करना ही था तो दृश्यों का विधान अधिक मात्रा में होता और तब उनसे आध्यात्मिक अर्थ निकाले जाते या पदार्थों को प्रतीकत्व प्रदान किया जाता किन्तु मुनीक्षा निर्णायक है तो क्या कहा जा सकता है ?

तथापि, 'मूकमाटी' में एक विशेष प्रकार का आनन्द आता है और यह आनन्द आचार्यश्री की तर्क शैली के कारण आता है। भूमिका में, आचार्य विद्यासागर ने ईश्वर की अवधारणा का खण्डन किया है, जो तर्कसिद्ध है : "जिन-शासन के धर्मोपदेश को आधार बनाकर अपने मत की पुष्टि के लिए ईश्वर को विश्व-कर्मा के रूप में स्वीकारना ही ईश्वर को पक्षपात की मूर्ति, रागी-द्वेषी सिद्ध करना है। क्योंकि उनके कार्य, कार्य-भूत संसारी जीव, कुछ निर्धन-कुछ धनी, कुछ निर्गुण-कुछ गुणी, कुछ दीन-हीन-दयनीय-पदाधीन, कुछ स्वतन्त्र-स्वाधीन-समृद्ध, ...कुछ सुरूप-सुन्दर, कुछ कुरूप-विद्रूप आदि-आदि क्यों हैं ?" ('मानस-तरंग', पृ. XXIII)

इसी प्रकार स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के सिद्धान्त, आधुनिक ज्ञान और विज्ञान के युग में अधिक बुद्धिसंगत, अधिक उदार और अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होते हैं। जैनियों, बौद्धों और आजीवकों आदि को नास्तिक इसीलिए कहा गया है कि वे वेद को प्रमाण नहीं मानते और वैदिक परम्परा में जो ब्रह्म, आत्मा आदि को माना (जिस रूप में भी) गया है, उसे नास्तिक मतावलम्बी नहीं मानते। वे चेतना (Consciousness) को तो मानते हैं किन्तु उपनिषदों या वेदान्त की तरह किसी ब्रह्म या ईश्वर का अंश नहीं मानते। चेतना का उत्कर्ष योग द्वारा सम्भव है, अतएव नास्तिक मत में योग की स्वीकृति है, किसी चिरन्तन सत्ता की नहीं। कालान्तर में जैन एवं बौद्ध परम्परा में स्वयं इनके प्रवर्त्तकों—तीर्थंकरों और गौतम बुद्ध को ईश्वर मान लिया गया और योगियों के इन सम्प्रदायों में पूजा-उपासना, मूर्ति आराधना चल पड़ी किन्तु मूल तत्त्व बोध में ईश्वर नहीं है, ब्रह्म नहीं है, आत्मा का अजर-अमर-अक्षय रूप (वैदिक मत के अनुरूप) नहीं है। बौद्धों में निरात्मा या नैरात्मय का प्रत्यय मिलता है।

आश्चर्य यह है कि जब नैरात्म्य है या मात्र चेतना है तो नास्तिक मतों में आवागमन और कर्म-फल, स्वर्ग-नरक आदि की धारणाओं को मान्यता कैसे मिल गई ? इसका उत्तर यह है कि जैन और बौद्धों ने इसके लिए अपने-अपने तर्क दिए हैं किन्तु इनके बावजूद, ब्राह्मणवादी या वैदिक परम्परा में इनको स्वीकृति नहीं मिल सकी और इसी कारण वैदिक परम्परा में जो न्यायशास्त्र विकसित हुआ, उसमें इनका विशद खण्डन हुआ है।

बहरहाल, 'मूकमाटी' में जैन तत्त्वज्ञान के पक्ष में व्यवस्थित रूप में, काव्यात्मक रूप देते हुए जो तर्कशृंखला और दृष्टान्तों का सिलसिला है, वह अपनी युक्तिशक्ति से प्रभावित करता है। इसमें एक ही न्यूनता है कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण, पदार्थ से चेतना के गुणात्मक विकास के जो तर्क और तथ्य हैं, उनका उत्तर नहीं दिया गया। यह होता तो और अधिक भरा-पूरापन आ जाता।

समग्रतः 'मूकमाटी' हिन्दी में एक सर्वथा नए ढंग की रचना है। इसे रूढ़िगत दृष्टि से नहीं देखी जाना चाहिए कि यह महाकाव्य है या खण्डकाव्य— इन कोटियों से यह काव्य परे है। इसे एक नया प्रयोग ही मानना चाहिए और इस प्रयोगशीलता तथा मौलिकता के कारण 'मूकमाटी' एक रोचक और दिलचस्प महाकाव्य या बड़ा काव्य है।

आचार्य श्री विद्यासागर में निश्चय ही काव्यात्मक प्रतिभा है और उनमें तत्त्वज्ञान को स्पष्ट और साकार करने की क्षमता है।

मैं आचार्य विद्यासागरजी को इस रचना के लिए बधाई देता हूँ। ❑

दर्शन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति : 'मूकमाटी'

शिवकुमार श्रीवास्तव

सन्त कवि आचार्य विद्यासागरजी की रचना 'मूकमाटी' उत्कृष्ट काव्य कृति है। यह महाकाव्य है। महाकाव्य की शास्त्रीय परिभाषा के मान से भले ही यह महाकाव्य नहीं है, परन्तु रूढ़ अर्थ या परिभाषा को छोड़ दें और केवल उत्कृष्ट काव्य रचना होने के कारण इसे देखें-परखें तो यह निश्चित ही महाकाव्य है। "लीक छोड़ तीनों चलें, शायर - सिंह-सपूत" कहावत को चरितार्थ करते हुए आचार्य विद्यासागरजी ने महाकाव्य की परिपाटी तोड़ कर महाकाव्य की रचना की है।

महाकवि ने अपनी इस कृति में माटी को व्यक्तित्व प्रदान किया है। माटी के स्पन्दन की पहचान अतिरिक्त संवेदनशील कवि के ही बूते की बात है। माटी को माध्यम बना कर मानव जीवन को समग्रता में, निकष पर कस कर परखने का अनुष्ठान 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना है। पूरे काव्य में आँसुओं की पवित्र आर्द्रता और आत्मीय उष्मा का पावन स्पर्श है, जो कलुष को निःशेष कर के आत्मा को कंचनवत् करने का सार्थक श्रम है। इस काव्य में माटी को ही नहीं, धरती माँ को भी व्यक्तित्व प्रदान किया गया है।

काव्य की प्रारम्भिक कुछ पंक्तियों में प्रकृति सौन्दर्य के चित्रण के बाद मूक माटी द्वारा धरती माँ को सम्बोधित कर अपनी मनोवेदना को अभिव्यक्ति देने से रूपाकार ग्रहण करता है :

"....संकोच-शीला/लाजवती लावण्यवती--/सरिता-तट की माटी
अपना हृदय खोलती है/माँ धरती के सम्मुख !/'स्वयं पतिता हूँ
और पातिता हूँ औरों से/···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !
सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ' !" (पृ. ४)

काव्य को नाम दिया है 'मूकमाटी', परन्तु कवि ने उसे मूक नहीं रहने दिया है। उसकी पीड़ा, उसकी वेदना, उसकी यन्त्रणा, उसकी तड़प, उसकी कसक एवं उसकी टीस को कवि ने वाणी दी है। साथ ही माटी के बहाने साधना के, तप के, समर्पण के तथा लोक कल्याण के लिए उत्सर्ग के मार्ग पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है। माटी मूक है--फिर भी मूक नहीं है, माटी जड़ है--परन्तु वह कवि के निकट, संवेदनशील मन के लिए जड़ नहीं है, चेतन है, स्पन्दमयी है, संवेदनशील मन को उसकी धड़कन सुनाई देती है। इसलिए मूकमाटी व्यक्तित्व पा जाती है। कवि की लेखनी से वह धरती माँ के सामने अपना हृदय खोलने लगती है। धरती माँ भी मौन नहीं रहती। सन्तान के परिताप पर ममता मौन रह ही नहीं सकती। धरती का कथन दार्शनिक सत्यों का उद्‌घाटन करने लगता है।

आचार्य विद्यासागरजी सन्त हैं। उन्होंने श्रमण संस्कृति का अवगाहन किया है एवं भारतीय दर्शन के मूल तत्त्वों को स्वाध्याय, चिन्तन, मनन से आत्मसात् किया है। उनके काव्य का आरम्भ तो प्रकृति चित्रण से होता है परन्तु शीघ्र ही शाश्वत, मौलिक प्रश्नों से हमारा सामना होने लगता है। भारतीय मेधा जिस कारण दार्शनिक चिन्तन में प्रवृत्त होती है, वह है दुःख। उसी दुःख की स्थिति, दुःख का कारण और उसका निवारण--इन समस्याओं के समाधान के लिए ही समस्त ऋषियों-मुनियों ने, तपस्वी साधकों ने, मनीषियों-दार्शनिकों ने, तर्कशास्त्रियों तथा मतवादों के प्रवर्तकों ने साधना की और चिन्तन, मनन, समाराधन, आत्मानुभूति और आत्मसाक्षात्कार से जिन सार्वभौम शाश्वत सत्यों को उपलब्ध किया, वे मानव मात्र की मुक्ति के सोपान के रूप में वाङ्मय में सुरक्षित हैं। सन्त कवि के लिए यह सहज था कि वे परम्परा से हटते हुए भी परम्परा के रक्षण में दुःख और उसके निदान को अपनी दृष्टि में हमेशा बनाए रखते। माटी

का यह कहना-'सुख मुक्ता हूँ, दु:ख युक्ता हूँ'– काव्य में दर्शन की उपस्थिति दर्ज़ कराता है।

भौतिक सुख समृद्धि की पागल आकांक्षा से अनुप्रेरित अन्धी दौड़ से उत्पन्न सम्भ्रमों, तनावों और टूटन के युग में आत्म संयम, आत्मोत्सर्ग के द्वारा लोक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने वाला यह काव्य उस युग में रचा गया है, जब यह माना जाने लगा है कि महाकाव्य अतीत की वस्तु हो गया है। यह समस्त मानव समाज को वैचारिक सम्पदा का अमूल्य उपहार है।

मैं यह मानता हूँ कि काव्य रचना के लिए भावना अनिवार्य तत्त्व है। कवि भावुक होता है। जो भावुक नहीं है, संवेदनशील नहीं है, कवि हो ही नहीं सकता। परन्तु उत्कृष्ट काव्य के लिए यह आवश्यक है कि भावना की नदी चिन्तन के समुद्र की ओर संचरणशील हो और किनारों को रस प्लावित करती हुई चिन्तन के, विचारों के सागर में विसर्जित हो। भावना की नदी का चिन्तन के समुद्र में विसर्जन और चिन्तन के समुद्र का भावना की नदी को आत्मसात् कर लेना– उत्कृष्ट काव्य के लिए अनिवार्य आवश्यकता है।

'मूकमाटी' इस दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य रचना है। धरती माँ, माटी, कंकर, रसना, रस्सी, गदहा, चक्र, दण्ड, अवा, मछली तथा और भी अनेक प्रतीक हैं, जिनके द्वारा मानव जीवन की व्याख्या और उसके पथ निर्धारण का निर्देश यह काव्य करता है। कल्पान्तरों में मानवीय मेधा ने जिस सार्वकालिक, सार्वभौम सत्य का अनुसन्धान किया है, वह कहावतों में, मुहावरों में, सूत्रों में– हर भाषा तथा हर जाति की स्मृति में संचित है–'मूकमाटी' में वह सब अन्तर्निहित है।

पूरा काव्य मुक्त छन्द में है। परन्तु प्रत्येक पंक्ति गति, यति के साथ अन्त:सूत्र की तरह उपस्थित छन्द का हिस्सा है और इस तरह 'मूकमाटी' काव्य मुक्त छन्द में हो कर भी छन्द युक्त है।

शब्द के व्यक्तित्व से, उसकी सम्पूर्ण व्याप्ति और विस्तार में पहचान कवि के लिए, कविता के लिए आवश्यक है। सन्त कवि विद्यासागरजी ने शब्द की सार्थकता और शक्ति पर जैसा अधिकार अपनी साधना से प्राप्त किया है, वह अप्रतिम है। 'मूकमाटी' महाकाव्य की रचना के लिए महाकवि विद्यासागरजी प्रणम्य हैं। ❑

पृष्ठ ४०
पर के प्रति---
भगवान से प्रार्थना
करता है कि

'मूकमाटी' : एक रूपक महाकाव्य

डॉ. नगेन्द्र

आचार्य श्री विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' एक रूपक महाकाव्य है। यहाँ प्रस्तुत रूपक में मिट्टी के आत्म-निर्माण की कथा का वर्णन है और अप्रस्तुत रूप में आत्मा की मुक्ति की साधना की व्यंजना है। इस प्रकार कवि ने अत्यन्त कौशल के साथ अध्यात्म तत्त्व और कवित्व का सुन्दर समन्वय किया है। दर्शन शास्त्र तथा काव्य शास्त्र दोनों में निष्णात कवि की अभिव्यंजना शैली प्रौढ़ एवं अर्थ गर्भित है। भाषा पुष्ट और अलंकृत है। मेरा साधुवाद।

❑

आध्यात्मिक आधार वाला पहला महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) विजयेन्द्र स्नातक

खड़ी बोली और मुक्त छन्द में आध्यात्मिक आधार देकर लिखा गया 'मूकमाटी' पहला महाकाव्य है। धरती पर यद्यपि कवियों ने लिखा है और कुछ रचनाओं में माटी का उल्लेख भी आया है, पर इस महाकाव्य में माटी को आत्मा का प्रतीक मानकर वर्णन हुआ है। इसलिए इसका अध्ययन साहित्यिक कृति के रूप में नहीं बल्कि आध्यात्मिक और दार्शनिक महाकाव्य के रूप में करना चाहिए। काव्य की भाषा यद्यपि बहुत सरल है किन्तु अर्थ बहुत गूढ़ और मर्मस्पर्शी है। जैन दर्शन का अध्ययन किए बिना इसके साथ न्याय नहीं किया जा सकता। यह एक अनूठा ग्रन्थ है।

अब तक धरती पर ही कविताएँ लिखी गईं। मिट्टी पर किसी का ध्यान ही नहीं गया। दिगम्बर जैनाचार्य विद्यासागरजी ने मिट्टी पर यह महाकाव्य लिखकर साहित्य के क्षेत्र में महान् योगदान दिया है।

बौद्ध और जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा जाता है, परन्तु यह धारणा बिलकुल मिथ्या है। जैन दर्शन अन्य सभी धर्मों से अधिक आस्तिक है। केवल जैन ही सबसे अधिक आस्तिकता से पूजा-पाठ तथा अन्य धार्मिक कार्य करते हैं। जैन धर्म कभी भी पड़ोसी की तरफ ईर्ष्या से नहीं देखता, इसीलिए यह आज तक अडिग खड़ा है।

['नवभारत टाइम्स' (दैनिक) नई दिल्ली, २१ जनवरी, १९८९ एवं 'दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका', (पाक्षिक) जयपुर, राजस्थान, १ फरवरी, १९८९]

❑

पृष्ठ १४-१५

अब मौन का भंग होता है
माटी की ओर से —
यह मार्मिक कथन है, माँ!

श्री अरविन्द की 'सावित्री' और आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी': एक तुलनात्मक दृष्टि

डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव

स्वरूप, प्रेरणा, भावभूमि, प्रतिपाद्य विषय, पात्र योजना, भाषा शैली, प्रतीक विधान, विचारधारा और सन्देश इत्यादि विविध पक्षों का पारस्परिक वैभिन्य होते हुए भी श्री अरविन्द की 'सावित्री' और आचार्य विद्यासागर का 'मूकमाटी' महाकाव्य भारतीय वाङ्मय की अध्यात्मपरक काव्य परम्परा में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इसी दृष्टि से इन दोनों काव्यकृतियों की सापेक्षिक तुलनात्मक चर्चा सम्भव है।

श्री अरविन्द की 'सावित्री' एक संसिद्ध ऋषि की योगपरक मधुमती भूमिका में अवतरित आर्ष महाकाव्य है, जो एक साथ ही महाकाव्य और प्रतीकात्मक गाथा भी है और उसकी मूल प्रेरणा वैदिक एवं पौराणिक वाङ्मय में विद्यमान है। 'मूकमाटी' एक मनीषी जैन मुनि-आचार्य का प्रगीतात्मक प्रबन्धकाव्य है जिसकी मूल प्रेरणा जैन दर्शन के अध्यात्मचिन्तन में है। 'सावित्री' की कथावस्तु का स्रोत महाभारत का प्रख्यात सावित्री उपाख्यान है, जिसे कवि ने एक विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थवत्ता प्रदान की है। 'मूकमाटी' की कथावस्तु मुख्यत: कवि कल्पना प्रसूत है, जिसके माध्यम से उसने 'माटी' के मौन की सूक्ष्म गाथा के रूप में धरती की वेदना को मुखर किया है। 'सावित्री' का मुख्य प्रतिपाद्य मर्त्य प्रकृति का अमरत्व में रूपान्तर है। 'मूकमाटी' का प्रतिपाद्य आज की आतंकवादी एवं कुण्ठाग्रस्त मनोवृत्तियों के स्थान में उदात्त नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा है। 'सावित्री' के पात्र प्रख्यात, पौराणिक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति होते हुए भी प्रतीकात्मक रहस्यमयता के स्तर पर नवीन हो उठे हैं। 'मूकमाटी' के पात्र सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक होते हुए भी जीवन की विभिन्न मन:स्थितियों के प्रतिनिधि रूप में जीवन्त हो उठे हैं।

'सावित्री' का परम सन्देश प्रकृति के सर्वांगीण रूपान्तर द्वारा दिव्य वैश्व प्रेम का शाश्वत आदर्श है। 'मूकमाटी' का चरम सन्देश वैश्व अहिंसा के माध्यम से जन-जन व्यापी करुणा एवं संवेदना का जागरण है। 'सावित्री' अतिमानसिक भावभूमि पर अतिमानव के दिव्य अवतरण का काव्य है। 'मूकमाटी' उच्चतर मानसिक भावभूमि पर लघुमानव की सूक्ष्म एवं उदात्त महिमा का काव्य है। 'सावित्री' में आंग्ल भाषा की प्रकृति के अनुरूप शब्द शिल्प, अर्थ व्यंजना, मुक्त छन्द विधान एवं लय-संगीत का निर्वाह हुआ है। 'मूकमाटी' में हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुरूप वर्ण मैत्री, अर्थ सरणि, मुक्त वृत्त विधान एवं लय की अभिव्यक्ति हुई है। 'सावित्री' में शास्त्रनिष्ठ (क्लॉसिकल) अभिजात प्रतिपादन पद्धति की छाप है। 'मूकमाटी' में लोकनिष्ठ जनचेतना की संवाहक प्रयोग परम्परा का प्रवाह है। 'सावित्री' में योग, दर्शन, विज्ञान एवं अध्यात्म के अनेक गूढ़ रहस्यों का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। 'मूकमाटी' में जैन दर्शन के अनुरूप मानवतावादी नैतिकता तथा जैन ध्यान-साधना की आध्यात्मिक मनोभूमि का स्पन्दन है।

'सावित्री' प्रज्ञा प्रधान ऋचाकाव्य की कोटि में आता है जिसमें पराचेतना के अतिमानसिक चिदानन्द के स्तर पर दिव्य रस की निष्पत्ति हुई है। 'मूकमाटी' मननप्रधान संवेदनापरक काव्य है, जिसमें ऊर्ध्वोन्मुख एवं अन्तर्मुखी चेतना के विश्वव्यापी प्रशान्ति के स्तर पर श्रेष्ठ भावयोग का निर्वाह हुआ है।

'सावित्री' प्रेम-सौन्दर्य-आनन्दपरक संचरण भूमि पर परम ऋत्, चित् एवं सत्य के साक्षात्कार का महिम मन्त्रकाव्य है। 'मूकमाटी' नीति, दर्शन, अहिंसा एवं करुणापरक भावबोध के धरातल पर यथार्थ युग चेतना के घटाटोप के भीतर से झाँकते हुए भावी मानव कल्याण के आह्वान का सन्देश काव्य है। 'सावित्री' परम व्योम की चिन्मय तन्मयता के स्पन्दन से अणु-अणु, परमाणु-परमाणु के भागवत रूपान्तर का उद्‌घोषक भविष्यगामी विकास यात्रा का संवाहक उद्‌गीथ है। 'मूकमाटी' वसुन्धरा की रज-रज के कण-कण की ऊर्जा में व्याप्त उसकी चिदम्बरा संवेदन धारा

का सम्प्रेषक उद्‌गार है।

'सावित्री' और 'मूकमाटी' की प्रेरणा भूमि, प्रतिपाद्य लक्ष्य एवं अभिव्यंजना शिल्प के सम-विषम आयामों के दिग्दर्शन के उपरान्त उभय कृतियों का किंचित् स्वतन्त्र सापेक्षिक मूल्यांकन भी अपेक्षित है। भविष्यद्रष्टा दिव्यसृष्टा श्री अरविन्द का आर्ष महाकाव्य 'सावित्री' मन्त्रकाव्य है, ऋचाकाव्य है। मन्त्र की रचना नहीं होती, मन्त्र का दर्शन होता है। 'सावित्री' मन्त्रद्रष्टा की पश्यन्ती वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त अतिमानस चेतना का संवाहक रहस्यवादी महाकाव्य है, जिसका अवतरण अवाङ्मनसगोचर सच्चिदानन्दमय परम व्योम के सोम स्रोतों से हुआ है। श्री अरविन्द की वैश्व भागवत संसिद्धि के अनेक रहस्यमय आयामों को आत्मसात् करने वाली 'सावित्री' वस्तुतः उनके समग्र जीवन की उदात्ततम उपलब्धि है। मूल कथा व्यास के महाभारत से ग्रहण की गई है पर श्री अरविन्द ने उसे अपनी अद्‌भुत दिव्यभावयोग प्रेरित कारयित्री प्रतिभा के संस्पर्श से सर्वथा अभिनव परिवेश प्रदान कर दिया है। सारी कथा एक गाथा मात्र न होकर एक प्रतीक बन गई है जिसमें कथा, गाथा, इतिहास और अध्यात्म का विराट् समन्वय चरितार्थ हुआ है।

महाभारत की मूल कथा के ढाँचे को सुरक्षित रखते हुए श्री अरविन्द ने उसे अतीत के चमत्कारक इतिवृत्त के धरातल से उठा कर भविष्य के संस्कारक चिन्मय सत्य के ऊर्ध्व शिखरों पर प्रतिष्ठित किया है। महाभारत की 'सावित्री' एक पतिव्रता भारतीय नारी के समुज्ज्वल आदर्श तथा उसके बल पर पति सत्यवान के पुनर्जीवन की वरदान प्राप्ति की गाथा मात्र है। श्री अरविन्द की 'सावित्री' सत्यवान की अनन्य अनुरागिनी जीवनसंगिनी होने के साथ-साथ परात्परा शक्ति का अवतार है, जो मात्र अपने पति के पुनर्जीवन दान से सन्तुष्ट न होकर सारी मानवता, सारी धरती के सनातन अमरत्व की प्रतिष्ठा हेतु कृत संकल्प है :

Savitri is represented in the poem as an incarnation of The Divine Mother. This incarnation is supposed to have taken place in far past times when the whole thing had to be opened, so as to "how the ways of Immortality". – Shri Aurobindo–Letters on 'Savitri' (P.729)

सावित्री मर्त्य के अमरत्व का, मृत्यु की मृत्यु का काव्य है। श्री अरविन्द का सत्यवान परमा शक्तिस्वरूपिणी सावित्री द्वारा वरण किए हुए चिन्मय पुरुष का नरावतार है। सावित्री के मानव पिता अश्वपति धरा पर जीवन के सनातन अमरत्व की प्रतिष्ठा हेतु परात्परा परमा शक्ति के अवतरण का आवाहन करने वाले राजर्षि हैं, जिनका तप, जिनका पूर्णयोग मात्र व्यष्टि सिद्धि के लिए नहीं वरन् समष्टि संसिद्धि के व्यापक उद्देश्य से प्रेरित है।

श्री अरविन्द के सावित्री महाकाव्य में सावित्री-सत्यवान की गाथा अन्य वैदिक गाथाओं की परम्परा में एक शाश्वत चैतन्य की विकास कथा का प्रतीक बन गई है। इस स्तर पर प्रस्तुत गाथा के सभी प्रमुख पात्र अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए भी किन्हीं विशिष्ट तत्त्वों के प्रतीक हैं। सत्यवान अपने भीतर सत्ता के भागवत सत्य को धारण किए हुए आत्मा है, जो मरण और अज्ञान के पाश में बँध कर अवतरित हुआ है। 'सावित्री' दिव्य शब्द है, सविता की पुत्री है, परम सत्य की देवी है, जो लोकरक्षार्थ धरा पर अवतरित होती है। 'सावित्री' का मानव पिता अश्वपति तपस्या के आध्यात्मिक पुरुषार्थ की संकेन्द्रित ऊर्जा के प्रतीक हैं जो हमें मर्त्य से अमर्त्य स्तरों पर आरोहण करने में सहायक हैं। सत्यवान का पिता द्युमत्सेन भागवत मन है, जो अपनी दिव्य दृष्टि का साम्राज्य खोकर और उसी के कारण दीप्तिहीन होकर अन्धा हो गया है :

The tale of satyavan and savitri is recited in The Mahabharata as a story of conjugal love conquering death. But this legend is, as shown by many features of the human tale, one of many symbolic myhts of the vedic cycle. Satyavan is the soul carrying the divine truth of being within itself but descended into the grip of death and ignorance; Savitri is the divine word, daughter of the Sun, goddess of supreme truth who comes down and is born to save; Aswapati, the lord of the Horse, her

human father, is the lord of Tapasya, the concentrated energy of spiritual endeavour that helps us to rise from the mortal to the immortal planes. Dyumatsena, the lord of the Shining Hosts, father of Satyavan, is the Divine Mind here fallen blind, loosing its celestial kingdom of vision, and through that loss of its kingdom of glory. – Shri Aurobindo on 'Savitri'.(Author's Note)

इन प्रतीकार्थों का अभिप्राय यह नहीं है कि सारी गाथा मात्र काल्पनिक है और उसका अपना ऐतिहासिक अस्तित्व सन्दिग्ध है। इस सम्भावित भ्रम का निराकरण करते हुए स्वयं श्री अरविन्द को स्पष्ट करना पड़ा है कि "फिर भी यह (कथा) रूपक मात्र नहीं है; पात्र मात्र मानवीकृत गुण नहीं हैं वरन् जीवन्त और सचेतन शक्तियों के अवतार अथवा अभिव्यक्त रूप हैं जिनके स्थूल संस्पर्श में हम प्रवेश करते हैं और वे मानव की सहायतार्थ मानव देह धारण करते हैं तथा उसे उसकी मर्त्य अवस्था से दिव्य चेतना और अमर जीवन का पथ दिखाते हैं।"

Still this is not a mere allegory ; the characters are not personified qualities, but incarnations or emanations of living and conscious forces with whom we can enter into concrete touch and they take human bodies in order to help man and show him the way from his mortal state to a devine consciousness and immortal life. – Sri Aurobindo on 'Savitri' (Author's Note)

अश्वपति समग्र 'सावित्री' महाकाव्य की आध्यात्मिक ऊर्जा के मेरुदण्ड हैं जिस पर सारी कथा अनेक आयामों की ओर अग्रसर होती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों स्वयं श्री अरविन्द की सारी योगसाधना और अतिमानसिक रूपान्तर की सिद्धि का स्वरूप अश्वपति के रूप में मूर्तिमान् हो उठा है।

अदम्य अभीप्सा और सर्वांगीण समर्पण के सहारे चेतना के ऊर्ध्वारोहण, नाना रहस्यमय भावलोकों में संचरण तथा सारी पृथ्वी एवं समग्र प्रकृति के भागवत रूपान्तर हेतु परमा शक्ति के अवतरण का विराट् संकल्पनिष्ठ आह्वान जिस तीव्र संवेग और तन्मय तत्परता के साथ वर्णित है, उसके भीतर पग-पग पर पूर्णयोग के प्रवर्तक दिव्य जीवन के द्रष्टा तथा एक समुज्ज्वल भविष्य के स्रष्टा श्री अरविन्द की निरन्तर प्रगतिमुखी, सतत विकसनशील एवं उत्तरोत्तर नवनिर्माणोन्मुख अतिमानस चेतना की भास्वर रश्मियों के दर्शन होते हैं।

'प्रतीक ऊषा' (Symbol Dawn) से 'सनातन दिवस' (Eternal Day) तक की मंगलमयी विकासयात्रा का महाकाव्य 'सावित्री' मूलत: अश्वपति की योगसाधना का ही प्रतिफल है, जो सृष्टि की जटिल पहेली की, उसकी नाना रहस्यमयी समस्याओं, विडम्बनाओं एवं सम्भावनाओं की, गहराई में प्रवेश करके क्रमश: जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का सम्यक् साक्षात्कार करता है, अनेक गहन अन्धकारमय और ऊर्ध्व आलोकमय लोकों के बीच संचरण करता हुआ क्षुद्र अहंभाव से परमभाव तक की स्थितियों में लीन होकर जीवन और जगत् की प्रेरक शक्तियों का प्रामाणिक परिचय प्राप्त करता है और धरती की पुकार का प्रतिनिधित्व करता हुआ अपने प्रबल संकल्पपूर्ण आह्वान द्वारा परात्परा शक्ति को– भगवती माता को- 'सावित्री' के रूप में अवतरित होने को वात्सल्य-विवश करता है।

'सावित्री' के प्रथम भाग में वर्णित गाथा का केन्द्रीय पात्र अश्वपति ही है जो निर्ज्ञान एवं अज्ञान के पाश से आत्मा की मुक्ति, गुह्य ज्ञान, जीव की स्वतन्त्रता के प्रति सचेत होकर विभिन्न लोकों का यात्री बनता है। वह क्रमश: सूक्ष्म जड़ तत्त्व के राज्य, प्राणतत्त्व के उत्थान-पतन, क्षुद्र प्राण के राज्य, क्षुद्र प्राण के अधिदेवों, महत्तर प्राण के राज्य एवं अधिदेवों का परिचय पाकर अज्ञान की रात्रि, मिथ्यात्व के जगत् , अशुभ की जननी तथा अन्धकार के पुत्रों के बीच होता हुआ प्राणिक देवों के भोग-लोक का वैभव देखता है। तत्पश्चात् क्षुद्र मन और महत्तर मन के राज्य एवं अधिदेवों का दर्शन करता हुआ 'आदर्श के स्वर्गों' में होते हुए मन के स्वत्व में स्थित होकर विश्वात्मा तथा महत्तर ज्ञान के राज्यों में प्रवेश करता है। चेतना की इस लम्बी आरोहण यात्रा के अनन्तर अज्ञेय की खोज में प्रवृत्त होकर भगवती माता की

उपासना में लीन होता है, जिसके फलस्वरूप स्वयं अध्यात्मनिष्ठ होकर नई सृष्टि का अधिष्ठान बन कर परमा शक्ति के दर्शन एवं दिव्य वरदान का अधिकारी होता है। इस प्रकार अश्वपति की इस योगसाधना और योगसिद्धि की गाथा श्री अरविन्द की लम्बी योगसाधना एवं योगसिद्धि के इतिहास का प्रतिरूप बन गई है। 'एक देवता का श्रम'(A god's labour) जैसी रहस्योद्घाटिनी कविता में धरती की जड़ता की अतल गहराइयों से निरन्तर जूझते हुए समस्त प्रकृति के भागवत रूपान्तर के महत् संकल्प को चरितार्थ करने की अदम्य ऊर्जा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित करने वाले मन्त्रद्रष्टा एवं भविष्यस्रष्टा श्री अरविन्द की जिस अथक तपस्या की अभिव्यक्ति हुई है, उसका घनीभूत स्वरूप अश्वपति की तप-गाथा में प्रत्यक्ष है। इस प्रकार 'सावित्री' महाकाव्य श्री अरविन्द के समग्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व को आत्मसात् किए हुए है। 'दिव्य जीवन' (Life Divine) और 'योग समन्वय'(Synthesis of Yoga) जैसी कृतियों में सम्बोधि और सहज प्रज्ञा की जो अभिव्यक्ति हुई है वह मानों 'सावित्री' में आकर सच्चिदानन्दमय सहजानुभूति की चरम परिणति को पहुँच गई है। इस दृष्टि से 'सावित्री' महाकाव्य सच्चे अर्थों में अधिमानस भाव भूमि पर अतिमानस परम व्योम के ऊर्ध्वशिखरों से अवतरित परा वाणी को संवहन करने वाला ऋचाकाव्य—दिव्य मन्त्रकाव्य है। अश्वपति की तपगाथा सावित्री महाकाव्य की आधार शिला है।

'सावित्री' के द्वितीय भाग के अन्तर्गत 'दिव्य ज्वाला के जन्म एवं शैशव' शीर्षक सर्ग से मानवी 'सावित्री' की मूल कथा आरम्भ होती है। यहीं से व्यास के 'महाभारत' के 'सावित्री उपाख्यान' का आधार ग्रहण किया गया है। इसके पूर्व प्रथम भाग का विपुल वर्णन-विस्तार वैदिक साहित्य के रहस्यमय प्रतीकवाद तथा स्वयं श्री अरविन्द की निजी ऋतम्भरा मेधा और पश्यन्ती प्रज्ञा की गुह्य एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों पर आधारित है। 'सावित्री' के प्रथम भाग में कथा एवं गाथा का रूप गौण है और अध्यात्मनिष्ठ योगसाधना की सूक्ष्म भावयात्रा का रूप प्रधान। इस प्रकार अश्वपति की तपगाथा परोक्ष रूप में पूर्णयोग के प्रवर्तक दिव्य जीवन के गायक और मंगलमय भागवत भविष्य के पुरोधा श्री अरविन्द की ही रहस्यमयी आत्मकथा है।

'सावित्री' महाकाव्य वैदिक प्रतीकवाद और उपनिषदों के अध्यात्मवाद का परम्परागत पुराख्यान मात्र न होकर एक नूतन भविष्योन्मुख जीवनदर्शन का रूप प्रदान करता है और इस प्रक्रिया में वर्तमान विश्व की अनेक पहेलियों को उजागर करता हुआ उनके समाधान का सन्देश देता है। इस दृष्टि से 'सावित्री' महाकाव्य एक साथ आधुनिक युगबोध और भविष्यदर्शन का काव्य है। प्राचीन भारतीय दर्शन और आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की जाने कितनी मान्यताओं और अवधारणाओं का उसमें अद्भुत समन्वय हुआ है। मानवीय चेतना की भावयात्रा और पार्थिव प्रकृति की विकास यात्रा की गाथा उसमें एक साथ वर्णित है।

'सावित्री' महाकाव्य के प्रथम भाग के आरम्भिक दो सर्गों में 'प्रतीक ऊषा'(Symbol Dawn) तथा 'मूल समस्या' (The Issue) शीर्षकों के अन्तर्गत धरती पर परमा शक्ति 'सावित्री' के आविर्भाव एवं संचरण की जो झलक चित्रित है, वह बड़ी नाटकीय शैली में प्रस्तुत की गई है और उसके आवाहक अश्वपति की विश्वकल्याण प्रेरित तपस्या की विशद गाथा की पृष्ठभूमि है।

'सावित्री' के आरम्भिक दो सर्ग बड़ी रहस्यमयी भाषा-शैली में समग्र महाकाव्य के प्रमुख संकेत सूत्रों का उद्घाटन करते हुए एक प्रकार से उसके पुरोवचन अथवा प्रस्तावना का रूप प्रस्तुत करते हैं। इस अंश में ऋग्वेद के उषा सूक्त की-सी मनोरम अभिव्यक्ति हुई है जिसके माध्यम से सृष्टि के प्रथम प्रभात की भव्यता का आकर्षक उन्मेष मिश्रित है।

'सावित्री' महाकाव्य का प्रथम सूत्र वाक्य ही अपने आप में एक रहस्यमय मन्त्र है जो सावित्री के आविर्भाव के

भागवत मुहूर्त तथा विश्व सृष्टि के नवोन्मेष की अनेक आध्यात्मिक सम्भावनाओं का उन्मीलन करता है कि "यह वह घड़ी थी जब देवता जगे नहीं थे।"

It was the hour before the gods awake.–Savitri. [1/1/1, Pg.1]

इस वाक्य की बड़ी मार्मिक व्यथा स्वयं श्री माँ ने की है जिसका आशय यही है कि यह वह मुहूर्त था जब चित्, आनन्द, सत्य और जीवन से परिपूर्ण सत्ता अपने मूल आद्य स्वरूप में अव्यक्तावस्था से अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर होने वाली थी, ऊर्ध्व परमसत्ता में पार्थिव सृष्टि का प्रारम्भिक स्पन्द होते ही गुप्त रूप से अभावात्मक शक्तियों का प्रवेश हुआ और अपने मूल स्रोत से विचलित होकर चित् अचित् में, आनन्द विषाद में, सत्य मिथ्यात्व में और जीवन मृत्यु में परिणत हुआ–तभी उनके निराकरणार्थ दिव्य प्रकाश की प्रतिनिधि देवशक्तियों के जागरण की अपेक्षा हुई और यह जागरण मानों सविता की पुत्री, दिव्य शब्द की अधिष्ठात्री देवमाता अदितिस्वरूपिणी सावित्री के अवतरण का सहज परिणाम था। तात्पर्य यह है कि जिस भागवत मुहूर्त में सावित्री का संचरण होता है उस गहन अन्धकार में एक मात्र परमा शक्ति का ही एक मात्र दिव्य प्रकाश प्रकृति को आलोकित कर रहा था। 'प्रतीक ऊषा' भावी मंगलमय सनातन भागवत दिवस की सम्भावना का संकेत मात्र है।

द्वितीय सर्ग में सावित्री अपने दृढ़, अदम्य संकल्प से नियति को चुनौती देने का निश्चय करती है। उसकी अकेली संकल्पशक्ति वैश्व नियम का विरोध करने को तत्पर होती है और यह संकल्पशक्ति उसके अगाध विश्वप्रेम का द्योतक था :

Love in her was wider than The Universe,
The whole world could take refuge in her single heart.
...Her single will opposed the Cosmic rule. – Savitri. [1/1/2, Pg.15 & 19]

तृतीय सर्ग में लोकमंगलकामी अश्वपति के उस महत्तर व्यक्तित्व की झलक है जो एक महत्तर जगत् का द्रष्टा था।

A Greater being saw a greater world. – Savitri. [1/1/3, Pg.26]

'सावित्री' महाकाव्य का द्वितीय भाग मूलत: सावित्री के मानवीय जन्म, कर्म, शील, सौन्दर्य एवं माधुर्य का दिव्य आख्यान है, जिसके अन्तर्गत इस दिव्य ज्वाला के जन्म, शैशव, विकास एवं अभीप्सा सावित्री और सत्यवान के आकस्मिक मिलन, नारद के मुख से सत्यवान की मात्र एक वर्ष की शेष अल्पायु की भविष्यवाणी के रूप में नियति की घोषणा, सत्यवान के प्रति सावित्री की अनन्य अनुरक्ति की प्रगाढ़ता और भावी संकट की घड़ी की अनवरत प्रतीक्षा के बीच सावित्री के अन्तर्द्वन्द्व एवं आत्मसन्तुलन तथा वन में सत्यवान के तथाकथित देहावसान का नाटकीय एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन है। यह भाग मानवीय संवेदनों की अनेक मार्मिक अभिव्यंजनाओं से समृद्ध है और महाकवि की रागात्मिका वृत्ति की अगाध गहराई और साथ ही उसकी सांस्कृतिक चेतना की संचरणभूमि को उजागर करता है।

'सावित्री' महाकाव्य मात्र योगसंसिद्धियों की गाथा न होकर एक सरस काव्य भी है जिसमें मानवीय अनुराग भाव को दिव्य प्रेम के महाभाव की उदात्त भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया गया है। सावित्री की सत्यवान के प्रति अनन्य प्रेम की अभिव्यंजना देह, प्राण, मन और अन्तरात्मा के सभी स्तरों का निर्वाह करती हुई प्रेम को जीवन के विराट् एवं शाश्वत सत्य के रूप में संस्थापित करती है। इस सन्दर्भ में सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग वह है जहाँ नारद की भविष्यवाणी के कारण अवसादग्रस्त माता-पिता के समझाने पर सावित्री उन्मुक्त हृदय से घोषित करती है कि सत्यवान का जीवन यदि मात्र एक वर्ष के लिए हो तो वही उसके लिए समग्र जीवन है और इस प्रेम के आह्लाद के समक्ष सहस्र भाग्यशाली वर्षों का वैभव दारिद्र्य है।

If for a year, that year is all my life.
...This, this is the first, last joy and to its throb
The riches of a thousand fortunate years
Are A poverty. – Savitri. [2/6/1, Pg. 435]

परम्परागत पुराख्यान की सती साध्वी सावित्री के पतिव्रता रूप को श्री अरविन्द ने एक अभिनव और पूर्णतर परिवेश प्रदान किया है। सावित्री कहती है कि "मैं मृत्यु से दृढ़तर हूँ और अपने भाग्य से भी महत्तर हूँ। मेरा प्रेम जगत् से अधिक चिरजीवी है, मेरा संकट मेरी अमरता के समक्ष बेबस होकर गिर जाएगा।"

I am stronger than death and geater than my fate;
My love shall out last The World, doom falls from me
Helpless against my immortality. –Savitri. [2/6/1, Pg.432]
"मेरा प्रेम भाग्य के बन्धनों से दृढ़तर है।"

My love is stronger than the bonds of fate.–Savitri. [3/10/3, Pg. 633]

भाग्य के विधान को बदल देने की अदम्य संकल्प शक्ति से समृद्ध यह अनुरक्ति इस सन्देश की घोषणा है कि "प्रेम जीवन का सनातन और महत्तम सत्य है।"

Our love is the heavenly seal of The Supreme
For Love is the bright link twixt earth and heaven
Love is the far transcendent's angel here;
Love is man's lien on the Absolute.– Savitri. [3/10/3, Pg. 633]

'सावित्री' महाकाव्य का तृतीय भाग सत्यवान के सूक्ष्म शरीर के साथ कालपुरुष की गति का अनुसरण करती हुई सावित्री की अनेक सूक्ष्म लोकों में गुह्य यात्रा की गाथा है जिसमें दिव्य सन्देश की वाहिका दिव्य नारी की अद्भुत शक्ति की प्रतिष्ठा हुई है।

For I, the Woman, am the force of god.– Savitri. [Pg. 633]

'सावित्री' महाकाव्य का सर्वाधिक मौलिक सन्देश उसके तृतीय भाग के एकादश खण्ड 'सनातन दिवस' (Eternal Day) में मुखर हुआ है जिसके अन्तर्गत सावित्री सत्यवान के पुनर्जीवन मात्र से सन्तुष्ट न होकर समग्र सृष्टि के अमरत्व का वरदान प्राप्त करने में समर्थ होती है। यह सनातन दिवस वस्तुतः 'प्रतीक ऊषा' के विकास की चरम परिणति है जो इतिहास, कथा और प्रतीक, सभी के स्तरों पर चरितार्थ हुई है।

'सावित्री' महाकाव्य के अन्तिम अंशों में धरती और मानवता के मंगलमय उज्ज्वल भविष्य के प्रति बलवती आस्था मात्र नहीं, वरन् सम्पूर्ण धरती पर दिव्य भागवत जीवन की अवश्यम्भावी अभिव्यक्ति का आनन्दोन्मुख आश्वासन उद्घोषित है - सारी प्रकृति गुप्त ईश्वर को व्यक्त करेगी, अन्तरात्मा मानवलीला को धारण करेगी और यह पार्थिव जीवन दिव्य जीवन में परिणत होगा।

Nature shall live to manifest the secret god,
The spirit shall take up the human play,
This earthly life become the life divine. – Savitri.[1/11/1, Pg.710]

'मूकमाटी' तत्त्वद्रष्टा मनीषी कवि आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा प्रणीत कालजयी कृति है जो जैन दर्शन से प्रेरित तथा जीवन्त युगबोध से अनुप्राणित है और जिसमें भारतीय प्रज्ञा की आध्यात्मिक अनुभूति वैश्व रागात्मक भावभूमि पर वैचित्र्यपूर्ण कलात्मक अभिव्यंजना के वैभव के साथ चरितार्थ हुई है। परम्परागत रूढ़िग्रस्त मतवादों से परे उठकर आधुनिक मानवीय चेतना की विकासोन्मुखी जययात्रा का लोकमंगलकारी सन्देश जिस सरल, सुबोध एवं मर्मस्पर्शी

भाषा-शैली में प्रस्तुत किया गया है, वह प्रबुद्ध महाकवि की व्यापक जीवन दृष्टि तथा जनमनरंजिनी कारयित्री प्रतिभा का परिचायक है।

'मूकमाटी' एक प्रतीकात्मक महाकाव्य है जिसमें धरती के रजकण की जीवनगाथा 'मंगल घट' के निर्माण की प्रक्रिया के माध्यम से वर्णित है। उसकी इस गाथा में जड़ जगत् की अचेतना-अवचेतना की नाना गुत्थियों को एक अभिनव चिन्मय प्राणवत्ता के साथ उजागर करते हुए इतिहास की स्थूल गतिविधियों और प्रकृति की सूक्ष्म परिस्थितियों का सांकेतिक उद्घाटन अनेक नवीन बिम्बों एवं प्रतीकों के सहारे हुआ है। आधुनिक जीवन के भय, सन्त्रास एवं विसंगतियों पर तीव्र व्यंग्य करते हुए जन-जन में अभय, सन्तोष एवं समरसत्ता का आदर्श प्रतिष्ठित करने वाला प्रस्तुत काव्य मूकमाटी की अन्तर वेदना, प्रगाढ़ पीड़ा, कठोर तपस्या, तीव्र करुणा एवं सुकुमार अहिंसा के विविध भावस्तरों को मुखर करते हुए शाश्वत सत्य पर आधारित तथ्यपरक यथार्थ की नवीन व्याख्या करता है और प्रेय साधन द्वारा श्रेय साध्य की ओर अग्रसर होने का दिव्य सन्देश देता है।

शिल्प-सौन्दर्य के माध्यम से अव्यक्त सत्ता के रहस्य की वाङ्मयी अभिव्यक्ति में अनेक गूढ़ एवं अटपटी अर्थभंगिमाओं की संश्लिष्ट योजना कवि की उर्वर उद्भावना शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। महाकाव्य के अंगी रस के रूप में शान्त रस का निर्वाह हुआ है, जिसकी सम्पुष्टि हेतु अनेक अन्य रसों की सांकेतिक भावस्थितियों का समावेश यत्र-तत्र हुआ है। काव्य का मूल स्वर घटनापरक न होकर चेतनापरक रहा है, अतः बाह्य व्यापारों के स्थान में अन्तर अवधानों का संचरण ही प्रबल रहा है।

'मूकमाटी' की संक्षिप्त कथावस्तु को चार खण्डों में प्रस्तुत किया गया है जिनके शीर्षक एवं नामकरण मनीषी स्रष्टा के नैतिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दायित्व बोध के द्योतक हैं :

खण्ड १- 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', खण्ड २- 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', खण्ड ३- 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन', खण्ड ४- 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

प्रथम खण्ड में कंकर मिश्रित वर्णसंकर माटी के परिशोधन एवं अपनी सहज सुकुमार प्रकृति का वर्ण-लाभ वर्णित है। द्वितीय खण्ड में शब्द, अर्थ, संगीत एवं रस की तात्त्विक शोधपरक नवीन उद्भावनाएँ अद्भुत संश्लिष्ट वर्णयोजना के साथ अंकित हैं। तृतीय खण्ड में माटी की विकास यात्रा के माध्यम से पुण्य-पाप की मनःस्थितियों तथा कर्मचक्र के दर्शन एवं विज्ञान को नूतन भाव भंगिमाओं के साथ अवतरित किया गया है। चतुर्थ खण्ड अन्य खण्डों की भाँति मात्र भावपरक न होकर घटनापरक भी है जिसमें शिल्पी कुम्भकार परिपक्व कुम्भ को श्रद्धालु नगरसेठ के सेवक के हाथों में आहारदान हेतु पधारे हुए गुरु के पाद-प्रक्षालन एवं तृषा-तृप्ति के अर्थ देता है और सेवक द्वारा सात बार बजाने पर कुम्भ में सात स्वर ध्वनित होते हैं जिनके माध्यम से अनेक नई नैतिक एवं आध्यात्मिक अर्थच्छवियों की अभिव्यंजना हुई है। मनीषी कवि की सूझबूझ की मौलिकता दर्शनीय है :

"सा···रे ग···म···यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध···यानी ! पद-स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव-धर्म नहीं हो सकता।" (पृ.३०५)

माटी के कलश को सम्मानित देख कर उद्विग्न 'स्वर्ण कलश' का उत्पात धन और आतंकवाद रूप आधुनिक युग की दो प्रमुख विघटनकारी शक्तियों के अकाण्ड ताण्डव का प्रतीक है। सेठ के क्षमाभाव से आतंकवादियों के हृदय-परिवर्तन की घटना अन्ततः नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति के विजय के प्रति कवि की आस्था की द्योतक है।

चिन्तक स्रष्टा के भावबोध में कवि-हृदय की रागात्मक संवेदना यत्र-तत्र मनोरम बिम्ब विधान एवं सटीक

मानवीकरण की सुन्दर योजना में द्रष्टव्य है :

- *''और/फूली नहीं समाती,/भोली माटी यह/घाटी की ओर ही*
  अपलक ताक रही है/भोर में ही/उसका मानस
  विभोर हो आया।'' (पृ. २५-२६)
- *''नवविवाहिता तनूदरा,/घूँघट में से झाँकती-सी···*
  बार-बार बस,/बोरी में से झाँक रही है/माटी भोली !'' (पृ. ३०-३१)

कहीं-कहीं दार्शनिक तथ्यों को सूत्रमयी उक्तियों के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसमें प्रज्ञा एवं सौन्दर्य दृष्टि का अद्‌भुत संयोग है :

- *''अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं*
  और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !'' (पृ. ३३)
- *''करुणा की कर्णिका से/अविरल झरती है*
  समता की सौरभ-सुगन्ध।'' (पृ. ३९)

जैन दर्शन की झलक भी प्रसंगानुसार दृष्टिगोचर होती है यद्यपि वह काव्य की विषय वस्तु की सीमा के भीतर ही समाविष्ट है :

'' 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्‌वाद का प्रतीक।'' (पृ. १७२)

धरती की प्राकृतिक सुषमा के चित्रण में वर्णमैत्री के लालित्य एवं माधुर्य की छटा शिल्पी कवि की शब्द-संगीत-साधना की परिचायिका है :

''कलियाँ खुल खिल पड़ीं/पवन की हँसियों में,
छवियाँ घुल-मिल गईं/गगन की गलियों में,
नयी उमंग, नये रंग/अंग-अंग में नयी तरंग।'' (पृ. २६३)

समग्रत: 'मूकमाटी' धरती की संवेदना का प्रतीकात्मक महाकाव्य है जिसमें मानवता की विजययात्रा का लोकमंगलकारी सन्देश अपूर्व रागबोध एवं मधुमती प्रज्ञा के कलात्मक वैभव के साथ मुखर हुआ है।

इस प्रकार अपनी विशिष्ट भावभूमि पर अनेक जीवन मूल्यों, उदात्त आदर्शों, विश्वजनीन सन्देशों, जीवन्त परिवेशों, मौलिक उद्‌भावनाओं, उत्प्रेरक अवधारणाओं एवं मार्मिक रहस्यों से समृद्ध 'सावित्री' तथा 'मूकमाटी' अध्यात्मपरक प्रतीकात्मक भारतीय महाकाव्य परम्परा में लोकमंगलकारिणी कालजयी कृतियों के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

❑

'मूकमाटी' : पतित से पावन बनने का सन्देश

मुकेश नायक

(श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह) मध्यप्रदेश में १६ अक्टूबर '९५ को मध्यप्रदेश के (तत्कालीन) उच्चशिक्षा मन्त्री श्री मुकेश नायक की आचार्य श्री विद्यासागर महाराज से महाकाव्य 'मूकमाटी' पर साहित्यिक परिचर्चा)

"सूर्य नारायण प्रतिदिन निकलता है और अपना प्रकाश फैलाता जाता है। जो सोकर उठ जाता है वह प्रकाश पा जाता है तथा जो सोकर नहीं उठता, वह उससे वंचित रह जाता है। कुछ लोग घण्टों बिस्तर में पड़े रहकर भी उठना नहीं चाहते, उनके लिए भी सूर्य प्रकाश की किरणें छतों के सुराख से आकर उठा देती हैं अथवा सोते समय जो रजाई से मुख को ढाँककर रखे हों, उसकी रजाई को ऊष्मा से तपाकर भीतर पसीना ला देती हैं और आपको सोते रहने से जगा देती हैं। इसका लाभ-उपयोग लेने वाला ही ले पाता है। इसका सभी लोग लाभ लें, यह भावना अवश्य की जाती/जा सकती है"– उक्त विचार सन्त शिरोमणि दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह) मध्य प्रदेश में प्रदेश के उच्चशिक्षा मन्त्री श्री मुकेश नायक से साहित्यिक चर्चा के दौरान उस प्रश्न के उत्तर स्वरूप प्रदान किया, जिसमें आपने यह जानना चाहा था कि आज देश में जाति, वर्ग तथा क्षेत्र आदि की समस्याओं के कारण लोगों में बुद्धि, आनन्द एवं शक्ति संचार के अवरुद्ध द्वार कैसे खुलें ?

श्री मुकेश नायक आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के चरण वन्दनार्थ पधारे थे। आपने जानकारी देते हुए बताया कि भारत में एक विशाल सन्त परम्परा है। वह पूरी परम्परा ज्ञान, वैराग्य एवं भक्ति गुण से संयुक्त है। और वह पूर्ण रूप में आचार्यश्री जी में पाई/देखी जाती है। अन्य सन्तों ने वीतराग विज्ञान को सामान्य जनता में उतना सम्प्रेषित नहीं किया, जितना आचार्यप्रवर ने किया है। अत: मेरी भावना है कि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के लोकविश्रुत महाकाव्य 'मूकमाटी' को मध्यप्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों के उच्चस्तरीय अध्ययन हेतु पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाए। इस कार्य को शीघ्र ही मूर्त रूप दिया जा रहा है तथा सम्भव है अगले वर्ष के पाठ्यक्रम में वह सम्मिलित भी हो जाए।

इसी परिप्रेक्ष्य में श्री नायक ने यह भी बताया कि २९ अक्टूबर '९५ को भोपाल में 'मूकमाटी' पर एक बृहत् परिचर्चा रखी है, जिसमें देश के अनेक ख्यातिलब्ध समीक्षक एवं साहित्यकार भाग लेंगे। उसके पूर्व आचार्य श्री विद्यासागरजी से 'मूकमाटी' पर कुछ साहित्यिक चर्चा करने यहाँ आया हूँ ताकि यह चर्चा उस संगोष्ठी का ध्रुव केन्द्र हो सके और आचार्यश्री का विशाल दृष्टिकोण लाखों-करोड़ों लोगों तक पहुँच सके।

आचार्यश्री से परिचर्चा के दौरान श्री नायक ने जिज्ञासा व्यक्त करते हुए जानना चाहा कि समग्र भारतीय साहित्य के इतिहास में जिस किसी भी भाषा में देखा जाय, किन्हीं भी रचनाकारों ने जो भी महाकाव्य लिखे हैं उनमें से किसी ने भी मूक एवं पददलित माटी को अपना नायक नहीं बनाया। 'मूकमाटी' की नायिका वही धरती है, अत: इसके पीछे क्या कारण या मूल संवेदना रही है ? आपके इस प्रश्न पर समाधान प्रदान करते हुए आचार्यश्री ने कहा कि व्यक्ति के अन्दर सोई शक्ति उद्घाटित हो सके और वह पतित दशा से ऊपर उठकर पावन बन सके, यही मूल उद्देश्य इस रचना का है। जब तक मिट्टी के कण-कण बिखरे रहते हैं तो वह निर्जीव मानी जाती है, किसी विशेष कार्य को सम्पन्न नहीं कर पाती, जलधारण नहीं कर सकती। जैसे घट का रूप होने पर वही मिट्टी जलधारण करने की योग्यता पा जाती है,

जो कण-कण बिखरे रहने पर नहीं रहती। वैसे ही संसारी प्राणी की शक्ति पतित दशा में खोई-सी रहती है। उसके पुरुषार्थ करने से विश्व को भी जानने की क्षमता उसमें उद्घाटित हो जाती है। कणों के रूप में वह मिट्टी जल में घुल कर डूब जाती है जबकि घट के रूप में वह स्वयं भी जल में नहीं डूबती और डूबती को भी पार उतारने में सहायक बन जाती है। ऐसी क्षमता सब में उद्घाटित हो, यही मूल स्वर इस रचना का है।

श्री नायक ने जानना चाहा कि भारत की सन्त परम्परा में ज्ञान और वैराग्य की पूर्ण स्थिति प्राप्त होती है। जीवन में वीतरागता के विज्ञान का मूकमाटी से क्या सम्बन्ध है ? आचार्यश्री ने बताया कि वीतराग विज्ञान विराट् ज्ञान को धारण करने की क्षमता उत्पन्न करता है, जिसकी प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम राग-द्वेष, हर्ष-विषाद, विषय-कषायों तथा पाप प्रवृत्तियों से ऊपर उठना होता है, तभी यह क्षमता उद्घाटित होती है। इसी वीतराग विज्ञान के माध्यम से ही पतित से पावन बनने रूप उन्नति का पथ प्रशस्त होता है। इस हेतु व्यक्ति को संयत एवं वीतरागी होना आवश्यक है। तभी मौलिक ज्ञान की प्राप्ति होगी। अन्यत्र इसे 'स्थितप्रज्ञ' भी कहा गया है। हमारी प्रज्ञा या बुद्धि यहाँ-वहाँ दौड़ती रहती है, स्थित नहीं हो पाती। वही प्रज्ञा जब स्थित हो जाती है तो सही दिशा में स्वयमेव प्रयास करती है, जिससे अपूर्व आनन्द की उपलब्धि होती है।

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीनों के परस्पर सम्बन्ध को मूकमाटी के तत्त्वज्ञान में कैसे समन्वित किया जाए ? इस जिज्ञासा पर समाधान प्रदान करते हुए आचार्य विद्यासागरजी ने कहा कि ज्ञाता मूल द्रव्य है, ज्ञान उसका गुण है तथा ज्ञेय यानी जानने योग्य पदार्थ कहलाते हैं। हम ज्ञेयभूत जड़ पदार्थों की ओर तो देखते हैं किन्तु उसके भीतर छुपी जानने वाली क्षमता को नहीं देख पाते। 'मूकमाटी' में वह प्रेरणा है जिससे हमारी चेतना का विषय मात्र ज्ञान बन सके अथवा अनुभूति मात्र ज्ञान का विषय बन सके। इसके लिए हर्ष-विषादों से ऊपर उठ कर तथा संघर्षों के बीच से गुज़रते हुए आगे बढ़ने पर पतित से पावनता प्राप्त की जा सकती है और शुद्ध चेतन बनने का प्रयास किया जा सकता है।

इस परिचर्चा के दौरान जब श्री नायक ने प्रकृति को स्पर्शित करने वाले शिल्प विधान के बारे में आचार्यश्री के विचार जानना चाहे तब उन्होंने बताया कि प्रकृति बहुत अच्छा शब्द है, जो स्वभाव का वाचक है। सन्तों ने सर्वप्रथम संस्कृति को सामने लाने के लिए प्राकृत भाषा का माध्यम चुना था। जीवन के उत्थान में वही शिल्प विधान मुख्य है जो आत्मतत्त्व या स्वभाव की ओर मुड़ने की दिशा प्रदान करे। 'मूकमाटी' में यही दिग्दर्शन कुम्भकार के माध्यम से किया गया है। युग के आदि से ही कुम्भकार शिल्पकार है, जिसने अपने शिल्प को अपव्यय से दूर रखा। वही ऐसा शिल्पी है, जिस पर सरकार का कोई टैक्स नहीं है। भारतीय संस्कृति में वही शिल्प अद्वितीय माना जाता है, जो बिखराव को जुड़ाव के साथ या खण्डित को अखण्डित करने वाला हो। यही 'मूकमाटी' का प्रदेय है।

"उपादान की योग्यता, घट में ढलती सार।
कुम्भकार का हाथ हो, निमित्त का उपकार॥"

हम दूसरे पर उपकार करना चाहते हैं किन्तु जिस पर उपकार कर रहे हों, उसमें ऐसी योग्यता भी होनी चाहिए। जैसे मिट्टी में जो योग्यता है, वह कुम्भकार के द्वारा उद्घाटित हो जाती है। माटी में जो विराट् योग्यता है, वह अन्य में नहीं है। उसके विकास एवं उन्नति का श्रेय जैसे कुम्भकार को जाता है, ऐसे ही प्राणी मात्र को दिशाबोध प्राप्त हो, ताकि वह भी अपना कल्याण कर सके, यही 'मूकमाटी' का सन्देश है।

बड़े-बड़े वृक्षों की विराटता छोटे से बीजों में छुपी होती है, जिन्हें धरती में आरोपित करने पर वे अपने कठोर आवरण को फोड़ कर, ऊपर अंकुरित हो जाते हैं एवं वृक्ष का रूप धारण करते हैं। वे वृक्ष, नदी, सरोवर आदि सभी मूक-माटी की गोद में हैं। वृक्ष की डालों में होने वाले विभिन्न हरे, लाल, पीले रंगों का निर्माण किसने किया है ? श्री मुकेश

नायक की इस जिज्ञासा पर समाधान प्रदान करते हुए आचार्य श्री विद्यासागरजी ने बताया :

"उगते अंकुर का दिखा, मुख सूरज की ओर।
आत्मबोध हो तुरत ही, मुख संयम की ओर॥"

जैसे अंकुर फूटते ही उसका मुख अपने आदर्श, ऊर्जा के स्रोत सूरज की ओर होता है, वैसे ही प्रत्येक द्रव्य के अन्दर उपादन में ऐसी शक्ति छुपी है जो विभिन्न बाह्य निमित्तों, साधनों के माध्यम से उद्घाटित हो जाती है। उन्नति, विकास के लिए निमित्त की आवश्यकता होती है, जो धरती में पाई जाती है। स्वर्गीय भूमि को उत्तम क्षेत्र नहीं माना। पतित से पावन बनने के लिए धरती को ही उत्तम क्षेत्र माना है, स्वर्ग को नहीं।

आज तक अन्य महाकाव्यों में जीवित पात्र ही मुख्य रूप से पाए जाते हैं, फिर 'मूकमाटी' के नायक सहित अधिकांश पात्र निर्जीव क्यों हैं, जो महाकाव्य के पारम्परिक लक्षणों से भिन्न भी हैं ? -इस जिज्ञासा पर समाधान प्रदान करते हुए आचार्यश्री ने बताया कि सजीव पात्रों की अपनी सीमाएँ होती हैं। निर्जीव पात्र को प्राणवान् बनाकर उसके माध्यम से उसकी वास्तविक वेदना को अभिव्यक्ति प्रदान की जा सकती है, जो सजीव दशा में व्यक्ति स्वयं नहीं कह पाता। फिर महाकाव्यों के नियम तो टूटते ही चले गए। नियम ही नियम नहीं रहे और पद्य काव्य का स्थान अतुकान्त ने धारण कर लिया। अत: लोक को आत्मकल्याण का वास्तविक बोध प्राप्त हो, यही 'मूकमाटी' का मूल अभिप्राय है।

आचार्य श्री विद्यासागर महाराज के द्वारा लिखित 'मूकमाटी' महाकाव्य पर परिचर्चा के दौरान श्री नायक ने जब आचार्यश्री से पूछा कि मिट्टी-धरती के अन्दर पानी है और पानी में मिट्टी है, तब सृष्टि का आधार क्या है ? आचार्यश्री ने बताया कि जमीन सभी को आश्रय प्रदान करती है, इसीलिए उसे धरा, पृथ्वी, जमीन, क्षमा आदि कहा जाता है। जबकि जल को साहित्य में श्लेष के द्वारा 'जड़' भी कहा जाता है। वह जड़ होकर भी धरती का आधार/आश्रय पाकर ज्ञान पा लेता है, अपने आप को उपयोगशील बनाकर कृतार्थ हो जाता है। सघन मेघों से गिरी हुई बूँदें सागर में गिरकर उसी में विलीन हो जाती हैं, खारी बन जाती हैं। जब तक वह बूँदें धरती का सहारा नहीं लेतीं, वे मुक्ता नहीं बन पातीं। मेघ से गिरा जल नीचे आकर, सीप की गोद में जाकर मुक्ता का रूप धारण करता है। इसीलिए धरती की आवश्यकता है। उसके कारण ही जलत्व में पूज्यता/श्रेष्ठता आती है। 'मूकमाटी' में भी धरती के अंश माटी को इसीलिए मुख्यता प्राप्त हुई है।

एक अन्य प्रश्न के उत्तर में आचार्यश्री ने बताया कि 'मूकमाटी' सृजन की यात्रा शब्द से अर्थ एवं अर्थ से भाव की ओर नहीं हुई अथवा बाहर से भीतर नहीं बल्कि भीतर से बाहर हुई है। अत: भाव-संवेदनाओं को शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति मिली है। परिचर्चा के दौरान श्री नायक ने जानना चाहा कि दृश्य या द्रष्टा के बीच ऐसा क्या सम्बन्ध है कि बाहर देखने से कभी आनन्द की अनुभूति होती है तो कभी ग्लानि होने लगती है ? वह मन की कमी है या दृश्य अथवा द्रष्टा की ? आचार्य श्री विद्यासागरजी ने बताया कि भारतीय संस्कृति में दृश्य नहीं, द्रष्टा महत्त्वपूर्ण माना गया है। दृश्य को देखकर कई प्रकार के भाव हो सकते हैं, जो व्यक्ति की मन:स्थिति/उपयोग पर आधारित हैं। जो दिख जाता है, उनमें देखने वाले के विचार/परिणाम मुख्य हैं। द्रव्य/दृश्य को देखकर और भी अनेक प्रकार के भाव हो सकते हैं। श्री नायक के यह पूछने पर कि महिलाएँ सदा दृश्य तथा पुरुष सदा द्रष्टा बनना चाहता है, ऐसा क्यों होता है ? तब आचार्यश्री ने कहा कि यह पसन्द करने एवं चाहने वाले दोनों की भूल है। वस्तुत: यह द्रष्टापने को नहीं समझ पाने का परिणाम है। स्वभाव को जानें तो सभी पुरुष हैं। बाहर तो यह मात्र ड्रेस/वेश ही है। 'मूकमाटी' के एक प्रकरण में यह भाव स्पष्ट किया गया है कि पुरुष यानी आत्मा सब में है। यह जो ऊपर दिख रही है, वह तो प्रकृति है। इस वास्तविकता को नहीं समझ पाने के कारण ही संसार में भटकन हो रही है।

('आचरण' (हिन्दी दैनिक), सागर-मध्यप्रदेश, २९-१०-१९९५) □

'मूकमाटी' : एक अनूठी काव्यानुभूति

जवाहर लाल दर्डा

आचार्य विद्यासागर रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' एक ऐसा काव्य है जो अनुभूति के उच्चस्तर पर पाठक को ले जाता है। सीधी, सरल परन्तु गहन अर्थभरी यह काव्य शैली मन को आकृष्ट करती है और हम काव्यानन्द में डूब जाते हैं। इस काव्य में अध्यात्म इस तरह से गूँथा है कि मानों वह कोमल, सुगन्ध से भरपूर सुमनों की एक माला है। उसमें अलंकारों की छटा के साथ सजीव वार्तालाप है, जो अर्थपूर्ण है। आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर पग चलते हुए लोकमंगल को साधने में यह काव्य निश्चित ही मदद करता है। यह एक अनूठी काव्यानूभूति है। इस काव्य में शब्दालंकार और अर्थालंकार अनगिनत हैं। माटी की वेदना और कथा इतनी करुणा से विद्यासागरजी ने व्यक्त की है कि काव्यरसिक भावनाओं में एकरूप हो जाता है। यही इस काव्य की श्रेष्ठता है।

'मूकमाटी' का चार खण्डों में कवि के द्वारा किया हुआ विभाजन इतना सफल हुआ है कि एक-दूसरे में वे मिले-जुले हैं। इस काव्य की विशेषता यह है कि इसमें जीवन के शाश्वत सत्य बड़ी सहजता से व्यक्त किए हैं। इनमें से कुछ शाश्वत सत्य इस प्रकार हैं :

- *"बहना ही जीवन है।" (पृ. २)*
- *"सत्ता शाश्वत होती है।" (पृ. ७)*
- *"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।" (पृ. ८)*
- *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है।" (पृ. ९)*
- *"आस्था के बिना रास्ता नहीं।" (पृ. १०)*
- *"संघर्षमय जीवन का उपसंहार/नियम रूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १४)*
- *"लक्ष्य की ओर बढ़ना ही/सम्प्रेषण का सही स्वरूप है।" (पृ. २२)*
- *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)*
- *"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत।" (पृ. १०२)*
- *"पुरुष होता है भोक्ता/और/भोग्या होती प्रकृति।" (पृ. ३९१)*
- *"बन्धन रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही मोक्ष है।" (पृ. ४८६)*

मुझे आशा है यह काव्य पढ़कर नास्तिक व्यक्ति का भी हृदय परिवर्तन होगा और वह इस काव्य में धर्म-दर्शन तथा अध्यात्म देख पाएगा, यही इस काव्य की सफलता है। इस प्रेरणादायी साहित्य के रचयिता आचार्य विद्यासागरजी को मैं विनम्र प्रणाम कर उनकी रचना का न केवल स्वागत करता हूँ बल्कि प्रशंसा भी करता हूँ।

इस तरह का महाकाव्य प्रसिद्ध कर 'भारतीय ज्ञानपीठ' ने अपनी उज्ज्वल परम्परा कायम रखी है। यह सचमुच प्रशंसनीय प्रयास है।

'मूकमाटी' : यथार्थ की सच्ची कहानी

प्रो. (डॉ.) माजदा असद

आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' अपने नाम के विपरीत शब्दों की ज़ुबान धारण करके बोलती है और खूब बोलती है। ऐसे-ऐसे सन्देश दे जाती है जो सामान्यत: मूक के लिए सम्भव ही नहीं है।

'मूकमाटी' का प्रारम्भ प्रकृति के खुले प्रांगण से होता है जहाँ सीमातीत शून्य में नीलिमा के नीचे नीरवता छाई हुई है। 'निशा का अवसान' 'हरिऔध' की 'प्रियप्रवास' की प्रारम्भिक पंक्तियों की याद दिला देती है। प्रकृति का मानवीकरण कहीं 'प्रसाद' के पास पहुँच जाता है तो कहीं 'पन्त' के नौका विहार की गंगा के मानवीकरण के समीप ले जाता है।

मुनि विद्यासागर ने पृष्ठ दो पर 'अबला बालाएँ'-'तरला ताराएँ' के पतिदेव के रूप में चन्द्रमा को चित्रित किया है। प्रश्न उठता है कि क्या इक्कीसवीं सदी में पहुँचते हुए भी हम बालाओं को सबला का रूप नहीं देंगे? उनको अबलाएँ ही बनाए रखेंगे? क्या यह भारतीय समाज की विडम्बना नहीं है ? इसी तरह यहाँ चन्द्रमा के साथ पति शब्द का प्रयोग भी बहुपत्नीवाद को समर्थन प्रदान करता है। पति के स्थान पर और कोई शब्द होता तो ज्यादा अच्छा होता।

संवादों का-सा आनन्द भी 'मूकमाटी'में मिलता है :

"अरे ! अरे ! यह क्या !/कौन-सा कर्तव्य है ?/किससे निर्दिष्ट है ?
किस मन्तव्य से/किया जा रहा है ?/...यदि नहीं है···तो
माटी के मुख से/रुदन की आवाज़ क्यों नहीं आई ?" (पृ. २९)

कर्त्तव्य बुद्धि और कर्म का महत्त्व भी देखने को मिलता है :

"कर्तृत्व-बुद्धि से/मुड़ गया है वह/और/कर्तव्य-बुद्धि से
जुड़ गया है वह।/हाँ ! हाँ !! /यह मुड़न-जुड़न की क्रिया,
हे आर्य !/कार्य की निष्पत्ति तक/अनिवार्य होती है···!" (पृ. २८-२९)

'मूकमाटी' मानव जीवन से जुड़ी हुई मानव मन से बँधी हुई रचना है, जो वास्तविकता और यथार्थ को पहचानती है।

- *"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ. ३३)*
- *"वास्तविक जीवन यही है/सात्त्विक जीवन यही है/धन्य !" (पृ. ३३)*
- *"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है*
  शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।" (पृ. ७३)
- *"गुणों के साथ/अत्यन्त आवश्यक है/दोषों का बोध होना भी।" (पृ. ७४)*
- *"काँटों से अपना बचाव कर/सुरभि-सौरभ का सेवन करना*
  विज्ञता की निशानी है/सो···/विरलों में ही मिलती है !" (पृ. ७४)

यह काव्य कल्पना की कोरी उड़ान नहीं, वास्तविकता के ठोस धरातल को अनुभूति करके लिखा गया है, जिसमें ज़िन्दगी की हक़ीक़त छिपी है। यथार्थ की सच्ची कहानी है। वास्तविकता की अभिव्यक्ति है।

धरती का चित्रण माँ के रूप में हुआ है। इससे कवि का मातृभूमि प्रेम झलकता है। कविता में दार्शनिकता भी

बराबर बनी रहती है। सबसे अच्छी बात यह है कि कवि ने कहीं भी भाषा को जटिल नहीं होने दिया है। सरलता और सहज भावाभिव्यक्ति निरन्तर बनी रहती है।

दूसरे खण्ड का नाम 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' है। माटी जल के साथ मिलकर क्या रूप धारण करती है?

"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन···!" (पृ. ८९)

माटी की बात करते-करते कवि की कल्पना बहुत दूर-दूर तक घूम कर आ जाती है। पश्चिमी सभ्यता और भारतीय संस्कृति के अन्तर को चरितार्थ करने लगती है। कुम्भकार माटी को नया रूप, आकार देता है।

व्यंजना और अभिधा की बात करते-करते कवि साहित्य की परिभाषा देते हुए कहते हैं :

"हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

जीवन की सुख-शान्ति का उपदेश देते हुए कहा गया है :

"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का न मन दुखाओ।" (पृ. १४९)

कवि रसों की बात करते हुए कहता है :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/...वात्सल्य-जीवन का त्राण है
...शान्त-रस जीवन का गान है।" (पृ. १५९)

नौ और निन्यानवे की संख्या को लेकर कवि ने अनेक पदों की रचना की है। उन संख्याओं के माध्यम से अनेक दार्शनिक तथ्यों का विवेचन भी किया है।

पुनरुक्ति प्रकाश अलंकार के माध्यम से सौन्दर्य लाने में कवि को पूरी सफलता मिली है। साथ ही संगीत और लय भी प्रतिध्वनित है।

"जब उतारा गया वह/वसन्त के तन पर से/कफ़न···कफ़न···कफ़न
यहाँ गल रही है केवल/तपन···तपन···तपन···!"(पृ. १८१)

शब्दों में अक्षरों के उलट-फेर से चमत्कार करने का प्रयास भी दिखाई देता है।

तीसरा खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है। इसका प्रारम्भ बड़े दार्शनिक ढंग से हुआ है। धरती पर जब प्रलय होता है तो वह जल के कारण होता है। वह उसको शीतलता का लोभ दे उसका सर्वस्व लूट लेता है। धरती का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसका वसुन्धरा रूप नष्ट हो जाता है। जल रत्नाकर बनकर धरती के वैभव को नष्ट कर देता है। अन्तरकथाओं का निरूपण भी इस काव्य की विशेषता है। कवि ने उनका समावेश बहुत ही सहज ढंग से किया है :

- *"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता*

राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !'' (पृ. २१७)

- *''राह में राशि मिलती देख/राहु गुमराह-सा हो गया*
  हाय !/राहु की राह ही बदल गई।'' (पृ. २३५)

उपमान भी अन्तरकथाओं से जुटाए गए हैं। ऐसा ही एक उदाहरण है :

''रावण की भाँति चीखना !'' (पृ. २४७)

चौथा खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' है। इस खण्ड में कहीं-कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि कवि कविता के माध्यम से कोई कहानी सुना रहा है :

- *''आज अवा से बाहर आया है/सकुशल कुम्भ।...*
  लो, कुम्भ को अवा से बाहर निकले/दो-तीन दिन भी व्यतीत ना हुए
  उसके मन में शुभ-भाव का उमड़न/बता रहा है सबको कि,...।''(पृ.२९७-२९९)

- *''स्वर्ण का मूल्य है/रजत का मूल्य है/कण हो या मन हो*
  प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है,/परन्तु,/धन का अपने-आप में मूल्य
  कुछ भी नहीं है।'' (पृ. ३०७-३०८)

यहाँ लगता है कि कविता के माध्यम से एक बहस चल रही है जहाँ मूल्यों का निर्धारण हो रहा है।

चौथा खण्ड सबसे बड़ा है। इसमें कहानी निरन्तर चलती रहती है। उसके माध्यम से अनेक दार्शनिक तथ्यों को अभिव्यक्त किया गया है। कुम्भ की यात्रा आगे-आगे बढ़ रही है। गन्तव्य उसकी ओर बढ़ रहा है। कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है। वहीं कवि के मन में कुछ प्रश्न उठते हैं। नदी से आतंकवाद की प्रार्थना आरम्भ होती है :

''ओ माँ ! जलदेवता !/हमें यह दे बता/अपराधी को भी क्या—
पार लगाती है ?/पुण्यात्मा का पालन-पोषण/उचित है···कर्त्तव्य है,
परन्तु क्या पापियों से भी/प्यार करती है ?'' (पृ. ४५६-४५७)

'मूकमाटी' के चारों खण्डों में कवि का चिन्तन बराबर चलता रहता है। वह अनेक दृष्टान्त पाठकों के सामने रखता है। अनेक प्रश्न उठाता है। उन प्रश्नों के उत्तर देता है। चिन्तन करता है। मनन करता है और भाव प्रवाह में तीव्र गति से बहता चला जाता है। मूकमाटी के माध्यम से अनेक सन्देश मुखर हो उठते हैं। सोचने को नई दिशा मिलती है। शान्ति, अमन, भाई-चारे की नई राह सामने आती है। धैर्य, साहस, सहनशीलता की शिक्षा प्राप्त होती है। 'मूकमाटी' महाकाव्य है या नहीं—यह कोई बहस की बात नहीं। आप उसे जो चाहें मानें। काव्यशास्त्र के अनुसार उसमें महाकाव्य के अनेक लक्षण भी मिलते हैं। भले ही उसका कथानक परम्परागत महाकाव्य की श्रेणी में न आता हो। आरम्भ से लेकर अन्त तक उसमें पाठक को बाँधे रखने की क्षमता है। वह सोचने-विचारने पर प्रेरित करता है। मैं 'मूकमाटी' के प्रकाशन पर आचार्य विद्यासागरजी को बधाई देती हूँ और उनकी दीर्घायु की कामना करती हूँ।

□

काव्यशास्त्रीय निकष पर 'मूकमाटी'

डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया

'मूकमाटी' एक आध्यात्मिक काव्य है। इसके रचयिता हैं दिगम्बर जैन आचार्य मुनि विद्यासागरजी। आप सुधी साधक और कविर्मनीषी हैं। आपने काव्य शास्त्र की लीक से हटकर एक सशक्त काव्य रचा है जिसमें आत्मा के विकास का सुन्दरतम निदर्शन है। कवि की कल्पना, कवि का मनोभाव और उसकी अभिव्यक्ति शक्ति सर्वथा मौलिक और मूल्यवान् है।

'मूकमाटी' का कथ्य और कथानक सांसारिक सामान्य प्राणी का प्रतीकार्थ मूकमाटी है। अपनी उपादान शक्ति और निमित्त शक्ति को मिलाकर वह निरन्तर श्रम साधना करती है, अपने को मल से निर्मल बनाती है और अन्ततः अपने स्वरूप को रूप प्रदान करती है। इस पूरी यात्रा को सूत्र शैली में कहूँ तो कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' का प्रमुख पात्र - माटी, कर्मचक्र से धर्मचक्र की ओर उन्मुख होती है और अन्ततः वह सिद्धचक्र को प्राप्त करती है। यहाँ आकर पुरुषार्थ की पूर्णता होती है।

'मूकमाटी' इस दृष्टि से एक प्रतीकात्मक काव्य है जिसमें दर्शन, धर्म और अध्यात्म एक साथ मुखर हो उठे हैं। माटी एक निरीह संसारी प्राणी का प्रतीक है। वह आजन्म मैली है। वर्ण से संकर है। मिथ्यात्व को समेटे कंकरमयी माटी कुशल निमित्त के हाथों शुद्ध होती है। अपने को समरस बनाती है। उसका आर्जवी गुण मुखर हो उठता है तब वह चाकमुखी होती है और धर्मचक्र के बलबूते पर अपने स्वरूप को रूपायित करती है। कवि की विलक्षण शक्ति सामर्थ्य है जो अपनी नई शैली और नई शब्द शक्ति से उसे अभिव्यक्ति देती है।

पूरे काव्य में प्रकृति वर्णन आलम्बनी वातायन से मानवीकरण के द्वार तक बिखेरा गया है, जो भक्ति और रीतिकालीन कविता में प्रकृति वर्णन से सर्वथा भिन्न, छायावादी शैली से अनुप्राणित, प्रकृति में चेतना का आरोपण कर उसे अभिव्यक्ति में सहकारी के रूप में अपनाया गया है, यथा :

"फूल ने पवन को/प्रेम में नहला दिया,/और
बदले में पवन ने फूल को/प्रेम से हिला दिया !" (पृ. २५८)

काव्य में अनेक रसों का उद्रेक हुआ है। किन्तु उसके स्थायीभाव रति, निर्वेद नहीं हैं। रति का स्थान लिया है शोभा ने। शोभा आत्मिक गुणों को उजागर करती है। यहाँ केवल तन द्युति अनुराग और विराग का स्पर्श नहीं है अपितु अदृष्ट आत्मा के अनन्त चतुष्टय का अवबोधक है। शोभा का दायरा विस्तृत है। वह दरिया में बदलाव लिए है। यही दशा है निर्वेद की। पदार्थ के प्रति विरोधमुखी होकर छोड़ने का कोई आग्रह नहीं है अपितु पदार्थ बोध होने पर निरोध को जगाने का सन्दर्भ सँजोया गया है। ऐसी स्थिति में पदार्थ का छूटना होता है। उपेक्षा की नहीं गई अपितु उपेक्षा हो गई है। इस प्रकार ग्रन्थराज में अध्यात्म रस का उद्रेक हुआ है।

जहाँ तक काव्य की संरचना का प्रश्न है। उसमें अनेक तत्त्वों का उपयोग हुआ है-- उसमें छन्द हैं, उसमें अलंकार हैं, उसमें भाषा है और है शैली। इन कलापक्षीय अवयवों के प्रयोग में कवि ने व्यवहारगत नवीनता का संचार किया, जिसमें कवि का उद्देश्य कवि वैदुष्य प्रदर्शन करना नहीं रहा है, उसका मूलाभिप्रेत रहा है काव्याभिव्यक्ति को सशक्त करना। इसी अभिप्रेत से इस काव्य में अलंकारों के सुखद प्रयोग बन पड़े हैं। यमक का निरा नया प्रयोग काव्य सुख की सृष्टि करता है, यथा :

"कूट-कूट कर सागर में/कूट-नीति भरी है।" (पृ. २२७)

इसी प्रकार मानवीकरण के साथ उपमा का निरुपमेय प्रयोग देखते ही बनता है, यथा - रस्सी बोलती है :

"मुझे क्षमा करो तुम,/मेरे निमित्त तुम्हें कष्ट हुआ।
तुम्हारी/दुबली-पतली कटि वह/छिल-छुल कर
और घटी कटी-सी बन गई है।" (पृ. ४८०)

काव्य में जिस छन्द का प्रयोग हुआ है वह छन्द शास्त्र में गिनाया नहीं गया। राग अथवा रागिनी से मिलकर किसी शब्द को ही वह पद की संज्ञा देता है, ऐसा भी नहीं है। भावों की स्वतन्त्रता की नाईं छन्द भी मुक्त है। इस छन्द मुक्ति में लय है, गति है और है यति भी। महाकवि निराला की भाँति कवि ने 'रबड़ छन्द' का सफल प्रयोग किया है। भावों को बखूबी व्यक्त करने की इस छन्द में पूरी ताक़त है। पढ़ने में कोई अवरोध नहीं, निर्विरोध काव्य पाठ करने में आनन्द की अनुभूति होती है। छन्द की यही मंशा होती है और कवि ने अपने नए छन्द प्रयोग से अपनी छन्दशास्त्रीय शक्ति को प्रमाणित किया है, यथा :

"एक के प्रति राग करना ही/दूसरों के प्रति द्वेष सिद्ध करता है,
जो रागी है और द्वेषी भी,/सन्त हो नहीं सकता वह/और
नाम-धारी सन्त की उपासना से/संसार का अन्त हो नहीं सकता,
सही सन्त का उपहास और होगा···/ये वचन कटु हैं, पर सत्य हैं,
सत्य का स्वागत हो!" (पृ. ३६३)

काव्य की भाषा प्रांजल तथा विशुद्धमती है। खड़ी बोली हिन्दी का परिष्कृत संस्करण। कविवर निराला की भाँति छन्दों का सफल प्रयोग हुआ है। विवेच्य काव्यकृति में तो महाकवि पन्त की नाईं सुघड़ शब्दावलि का अभिनव प्रयोग भी बन पड़ा है। कवि में शब्द-शिल्प का अभिनव बल है, विवेक है। काव्य में पारिभाषिक शब्दावलि के प्रयोग भी निर्बाध हुए हैं, यथा : नवधा भक्ति, उपादान, निमित्त, द्रव्य, कषाय, स्वभाव तथा आत्मा आदि अनेक लाक्षणिक शब्दों को इस प्रकार प्रयोग में लाया गया है कि उनका अभिप्राय सहज ही मुखर हो उठा है। आध्यात्मिक भावों को अभिव्यक्त करने में भाषा का सटीक प्रयोग काव्य को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करता है।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है विवेच्य काव्य में नदिया के प्रवाह की नाईं सहज और सुगम शैली का प्रयोग हुआ है। अध्यापकीय शैली का प्रयोग वस्तुत: अभिनव ही कहा जाएगा। दरअसल कवि आचार्य है, अत: उसके सामने पाठक को समझाते हुए पाठ-पारायण का दायित्व निर्वाह करना रहा है। श्रमण एक लाक्षणिक शब्द है। कवि ने इस शब्द की पारिभाषिकता कितनी सरल और सरस शैली में व्यक्त की है कि किसी भी पाठक अथवा श्रोता को समझने में कोई व्यायाम नहीं करना पड़ता, यथा :

"श्रम करे सो श्रमण!/ऐसे कर्म-हीन कंगाल के/लाल-लाल गाल को
पागल से पागल शृगाल भी/खाने की बात तो दूर रही,
छूना भी नहीं चाहेगा।" (पृ. ३६२)

इसी प्रकार काव्य में 'नवधा भक्ति' के विषय में अवबोध कराते हुए कवि अध्यापकीय शैली का प्रयोग करता है, यथा :

"भो स्वामिन्!/नमोस्तु! नमोस्तु! नमोस्तु!
अत्र! अत्र! अत्र!/तिष्ठ! तिष्ठ! तिष्ठ!" (पृ. ३२२)

नवधा भक्ति का सूत्रपात होता है :

"मन शुद्ध है/वचन शुद्ध है/तन शुद्ध है/और
अन्न-पान शुद्ध है/आइए स्वामिन् !" (पृ. ३२३)

इसके अतिरिक्त संवादात्मक शैली में काव्याभिव्यंजना अभिदर्शनीय है। इससे अभिव्यक्ति में सजीवता का संचार हो उठा है, यथा :

"वाह ! धन्यवाद बेटा !/मेरे आशय, मेरे भाव
भीतर···तुम तक उतर गए।/अब मुझे कोई चिन्ता नहीं !
...अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !" (पृ. १६)

भाषा और शैलीगत अनेक स्थलों पर लोकमान्य मुहावरों और लोकोक्तियों का कविवर ने सुष्ठु प्रयोग किया है। आयुर्वेद के बोधक प्रयोग, अंक विद्या के विरल प्रयोग अभिव्यक्ति में चमत्कार पैदा करते हैं। पूरे काव्य में ओज गुण का आनन्द आकीर्ण है।

नई कविता की नाई विवेच्य काव्य में कथ्य है और है संरचना का विधान। इन्हीं अंगों पर हमें इस काव्य की कमनीयता का आस्वाद करना अपेक्षित है। यहाँ साहित्यदर्पणकार की परिभाषा बोझिल प्रतीत होती है। काव्यधारा तो किसी महाश्रमण की पदयात्रा की नाईं संयम और सूझ-बूझ से सम्पन्न दिशादर्शन का कार्य करती चलती है। जो इसमें अवगाहन करे वह सुखी और जो तटवर्ती दर्शक अथवा श्रोता बन साक्षी बने वह भी आनन्दमग्न हो धन्य और अनन्यता अनुभव कर उठता है। इतने बड़े काव्य के पारायण और श्रोतन से भी किसी भी कामकाजी को कोई अखरन जैसी अकुलाहट अथवा ऊब नहीं होती, इसे मैं काव्य और काव्ययिता की पूरी की पूरी सफलता ही मानता हूँ। आज के क्षणवादी युग में इतना विशाल काव्य का साभिप्राय सृजन, सुरुचि और शिक्षा का दस्तावेज़ खोलना वस्तुतः बहुत बड़ी बात है। इस काव्य को मैं छायावादी महाकाव्य की 'कामायनी' से भी सशक्त 'श्रमण महाकाव्य' की संज्ञा से समादृत करता हूँ। इत्यलम्।

❑

पृष्ठ ३०९
फिर बायें हाथ में कुम्भ
लेकर,--- प्रायः रस्सी
पर टिका है।

'मूकमाटी' की अन्तर्ध्वनि

प्रो. (डॉ.) सूर्य प्रसाद दीक्षित

आधुनिक भारतीय साहित्य, दर्शन और अध्यात्म की एक अनुपम निधि है - 'मूकमाटी'। इस कृति के अवगाहन से आचार्य कवि के गहन-चिन्तन का सहज बोध होता है। जीवन के महनीय तत्त्वों को उद्घाटित करने के लिए जिस सरल, सुबोध वस्तु और शिल्प का प्रयोग किया गया है, वह अपने में नितान्त नूतन है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में अध्यात्म का विशद विवेचन हुआ है। इसका प्रमुख कारण है – कवि का सन्त व्यक्तित्व। ग्रन्थ का शीर्षक कौतूहलवर्धक है। 'माटी' जैसी वस्तु को अपने काव्य का विषय बनाना उदात्तता की झलक प्रस्तुत करता है। हमें जीवन में जब कभी भी सीख लेनी हो तो प्राकृतिक उपमानों पर दृष्टिपात करना चाहिए।

प्रस्तुत काव्य को सन्त कवि ने चार अध्यायों में विभाजित किया है। प्रथम अध्याय में 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' का वर्णन हुआ है। इसमें मिट्टी की प्रारम्भिक अवस्था का अनुशीलन है। मिट्टी के साथ-साथ और बहुत सारे तत्त्व मिले होते हैं। जब कुम्भकार को घड़ा बनाना होता है तो वह सर्वप्रथम मिट्टी को छान कर उसे शुद्ध करता है, फिर घड़े का निर्माण करता है। उसी तरह मानव के अन्तर्मन में कंकर-पत्थर रूपी बहुत से अवगुण भरे होते हैं। उसके परिशोधन के लिए सर्वप्रथम मन को छान-बीन कर शुद्ध करना है।

प्रारम्भ में ही महाकाव्यों जैसे रम्य वातावरण का चित्रांकन किया गया है, जिससे अनन्तता और अलौकिकता का आभास होता है :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे
निरी नीरवता छाई/निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है/भानु की निद्रा टूट तो गई है
परन्तु अभी वह/लेटा है/माँ की मार्दव-गोद में।" (पृ. १)

कोई आवश्यक नहीं कि इस जीवन साधना में अनुकूल स्थिति ही रहे। प्रतिकूल भी हो सकती है। हमें दोनों स्थितियों में स्थिरचित्त रहने का सन्देश प्रस्तुत करता है यह काव्य :

"कभी-कभी/साधना के समय/ऐसी भी घाटियाँ/आ सकती हैं कि
थोड़ी-सी प्रतिकूलता में/जिसकी समता वह
आकाश को चूमती थी/उसे भी/विषमता की नागिन
सूँघ सकती है···/और, वह राही/गुम-राह हो सकता है।" (पृ. ११-१२)

सन्त-आचार्य ने अपने अध्यात्म और दर्शन चिन्तन में प्रतिकूलता का वरण दिखाकर भी उससे यथेष्ट सिद्धि की प्राप्ति की है। उनकी यह उक्ति कि केवल मीठे दही से ही नहीं, वरन् खट्टे दही से भी मक्खन निकलता है और दोनों से निकले हुए मक्खन का स्वरूप एक होता है, उसमें कोई विभेद नहीं।

"और, सुनो !/मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो
नवनीत का लाभ अवश्य होता है।/इससे यही फलित हुआ/कि
संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।" (पृ. १३-१४)

सुख और दु:ख को चक्रवत् मानते हुए उन्होंने शाश्वत सत्य का उद्‌घाटन किया है :

"पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

इस अध्याय में कवि ने वर्ण का तात्पर्य न रंग से लिया है और न अंग से; प्रत्युत रीति, परम्परा, परिपाटी और ढंग से लिया है। स्वयं कवि के शब्दों में :

"इस प्रसंग में/वर्ण का आशय/न रंग से है
न ही अंग से/वरन्/चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

कुण्डलिनी से लेकर सहस्रार तक पहुँचने पर आत्मा रूपी मछली को कैसी आनन्दानुभूति होती है, इसका सहजोच्छ्वास कवि की साधनात्मक प्रवृत्ति से नि:सृत हुआ है :

"लबालब जल से/भरी हुई बालटी कूप से/ऊर्ध्व-गतिवाली होती है/अब
पतन-पाताल से/उत्थान-उत्ताल की ओर।/केवल देख रही है मछली,
जल का अभाव नहीं/बल का अभाव नहीं/तथापि/तैर नहीं रही मछली।
भूल-सी गई है तैरना वह,/स्पन्दन-हीन मतिवाली हुई है
स्वभाव का दर्शन हुआ है, कि/क्रिया का अभाव हुआ-सा/लगता है अब···!
अमन्द स्थितिवाली होती है वह !/बालटी वह अबाधित/ऊपर आई–भूपर
कूप का बन्धन/दूर हुआ मछली का,/सुनहरी है, सुख-झरी है
धूप का वन्दन···! (पृ. ७८)

कवि का दर्शन "वसुधैव कुटुम्बकम्" की शिक्षा देता है। वह आधुनिक स्वार्थपूर्ण स्थिति को देखकर ऊहापोह की स्थिति में है :

"'"वसुधैव कुटुम्बकम्"/इस व्यक्तित्व का दर्शन–/स्वाद-महसूस/इन आँखों को
सुलभ नहीं रहा अब···!/यदि वह सुलभ भी है/तो भारत में नहीं,
महा-भारत में देखो !/भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।
हाँ-हाँ !/इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है/कि/"वसुधैव कुटुम्बकम्"
इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना
आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ.८२)

कवि ने सत्युग और कलियुग को युग न मानकर उसे मानसिक चिन्तन के आधार पर विभाजित किया है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

आचार्य कवि की कृति संयम, त्याग, तपस्या का कितना अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती है, एक बानगी देखें:

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा/और/इतना कठोर बनना होगा
कि/तन और मन को तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/यातना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन—आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोम-रूप से कह रहा है—
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा।" (पृ. ५६-५७)

एक-एक शब्द का गहन चिन्तन और विलोम का भी यहाँ सार्थक प्रयोग हुआ है। 'राही-हीरा' और 'राख-खरा' ये दोनों शब्द, दोनों ओर से एक दूसरे के अनुपूरक से बन गए हैं। इससे कवि के वाग्वैदग्ध्य का तो पता चलता ही है, साथ ही गहन अनुभूति का भी।

दूसरा अध्याय 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं' के अन्तर्गत शिल्पी ने घड़े के निर्माण हेतु माटी को छान-बीन कर छना निर्मल जल मिलाया है, जो मानव की साधना का दूसरा स्तर है :

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल-जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है
माटी के जीवन में/करुणामय कण-कण में।" (पृ. ८९)

प्रेय और श्रेय, प्रकृति और पुरुष का सम्यक् समवाय ही मोक्ष है, कवि की पंक्तियों से यह भाव मुखरित हुआ है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा।
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और
अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···!" (पृ. ९३)

मानव मन सुखाकांक्षी है। वह दु:ख में अधीर हो जाता है। फूल का वरण तो सभी करते हैं, किन्तु शूल का कोई भी नहीं। 'शिव' का उदाहरण देता हुआ कवि कहता है कि विश्व के कल्याण के लिए काम को जलाना होगा :

"शूलों की अर्चा होती है,/इसलिए/फूलों की चर्चा होती है।
फूल अर्चना की सामग्री अवश्य हैं/ईश के चरणों में समर्पित होते वह
परन्तु/फूलों को छूते नहीं भगवान्/शूल-धारी होकर भी।
काम को जलाया है प्रभु ने।" (पृ. १०३)

काव्य की एक-एक पंक्ति आध्यात्मिकता से सराबोर है। इतना गहन साहित्याध्यात्म तो नितान्त नूतन है। शिल्पी ने मन्त्र को बड़ा न मान कर मन की साधनावस्था को महान् माना है। उसका कथन है कि स्थिर मन ही महामन्त्र है :

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है
और/अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है।" (पृ. १०८-१०९)

इस अध्याय में कवि ने साहित्य के समस्त आयामों को नए ढंग से प्रस्तुत किया है। नवों रसों का नया स्वरूप प्रदान करने की मौलिक अभिव्यंजना कवि की सिद्धहस्तता का परिचय देती है। साहित्य की सम्यक् परिभाषा देते हुए कवि लिखता है :

"शिल्पी के शिल्पक-साँचे में/साहित्य शब्द ढलता-सा !
हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. ११०-१११)

कवि का शृंगार भी अध्यात्म से मिश्रित है। इन पंक्तियों में कवि की शृंगारिक दृष्टि कितनी पेशल और सुष्ठु है, देखें :

"जिन आँखों में/काजल-काली/करुणाई वह/छलक आई है,
कुछ सिखा रही है-/चेतन की तुम/पहचान करो···!
जिन-अधरों में/प्रांजल लाली/अरुणाई वह/झलक आई है,
कुछ दिला रही है-/समता का नित/अनुपान करो,
जिन गालों में/मांसल वाली/तरुणाई वह/ढुलक आई है,
कुछ बता रही है-/समुचित बल का/बलिदान करो···!
जिन बालों में/अलि-गुण हरिणी/कुटिलाई वह/भनक आई है
कुछ सुना रही है-/काया का मत/सम्मान करो···!
जिन चरणों में/सादर आली/चरणाई वह/पुलक आई है
गुनगुना रही है-/पूरा चल कर विश्राम करो···!" (पृ. १२८-१२९)

उपर्युक्त पंक्तियों में आँखों के साथ 'छलक', अधरों की लाली के साथ 'झलक', गालों की मांसल तरुणाई के साथ 'ढुलक', कुटिल बालों की 'भनक' और चरणों के साथ 'पुलक' का जो सार्थक प्रयोग हुआ है, वह देखते ही बनता है।

इसी प्रकार वीर और हास्य रस को इंगित करते हुए कवि ने लिखा है :

- *"वीर रस का अपना इतिहास है/वीरों को उसका अहसास है।" (पृ. १३२)*
- *"हँस-हँस कर बहस मत कर/हास्य रस की कीमत इतनी मत कर !"(पृ.१३३)*

इसी क्रम में कवि ने समस्त रसों का भी उल्लेख किया है।

संगीत और प्रीति की परिभाषा देते हुए कवि लिखता है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और
प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।" (पृ. १४४-१४५)

करुण और शान्त में भेद करता हुआ कवि लिखता है :

"करुणा की दो स्थितियाँ होती हैं-/एक विषय लोलुपिनी
दूसरी विषय-लोपिनी, दिशा-बोधिनी।" (पृ. १५५)

कवि ने अपनी इस कृति में महाकवि भवभूति की भाँति 'करुण' रस को जीवन का प्राण स्वीकारा है। 'वात्सल्य' रस को जीवन का त्राण और 'शान्त' रस को जीवन का गान माना है (पृ. १५९)।

इस कृति में कवि ने गणित का भी बड़ा सूक्ष्म निदर्शन प्रस्तुत किया है– '९९ के चक्कर' को सिद्ध करते हुए कवि ने अन्त में हर प्रकार ९ ही शेष दिखाया है, यथा–

"९९ x २ = १९८, १+९+८ =१८, १+८ =९

या

९ x २ = १८, १+८ = ९।" (पृ. १६६-१६७)

अर्थात् हमारा ध्येय ९ ही है। इसका तात्पर्य कवि ने नव-जीवन के स्रोत से लिया है। इसी प्रकार ६३ और ३६ का भी उदाहरण दिया है। ६३ की व्याख्या करते हुए कवि ने माना है–एक-दूसरे के सुख-दु:ख में परस्पर भाग लेना सज्जनता की पहचान है, लेकिन जब ६३ का विलोम परिणमन होता है तो ३६ का आगमन होता है। फिर क्या बताना! ३६ के आगे एक और तीन की संख्या जुड़ जाती है। कुल मिलाकर ३६३ मतों का उद्भव होता है, जो परस्पर एक-दूसरे के खून के प्यासे होते हैं, जिनका दर्शन सुलभ है आज इस धरती पर।

'ही' और 'भी' इन दोनों बीजाक्षरों का दर्शन कवि ने मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत किया है :

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!
और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सबको,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७२-१७३)

कवि की उपर्युक्त पंक्तियों में लोकमंगल की समुज्ज्वल भावना मुखरित हुई है।

काव्य का तीसरा अध्याय 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है। मन, क्रम(काया/शरीर), वचन से पुण्य सोचना, पुण्य करना और पुण्य बोलना ही पुण्य का पालन है। काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मत्सर का त्याग ही पाप का प्रक्षालन है।

इस खण्ड में कवि ने मिट्टी की विकास कथा की उपलब्धि दिखाई है। कवि ने इस अध्याय में न्याय पथ का पथिक बनने का महान् सन्देश प्रेषित किया है। अन्याय पक्ष के विलय के लिए और न्याय पक्ष की विजय के लिए यह कवि का सत्प्रयास ही कहा जाएगा।

कवि ने यहाँ नारी को समस्त गुणों का आधार माना है। वह वासना की शुक्ति नहीं, साक्षात् त्याग और मुक्ति है। नारी के प्रत्येक पर्याय शब्द की नित्य नूतन, अनूठी और मौलिक व्यंजना प्रस्तुत की है। इनमें कुछ शब्द जैसे-नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, मातृ, अंगना आदि हैं।

कवि नवीनता के वरण के लिए प्रस्तुत है। नवीनता ही लोक मंगल का मूल है जिसका यशोगान हमारे अन्य वरेण्य कवियों ने भी किया है। 'मूकमाटी' का एक दृश्य देखें :

"कलियाँ खुल खिल पड़ीं/पवन की हँसियों में,
छवियाँ घुल-मिल गईं/गगन की गलियों में,

नयी उमंग, नये रंग/अंग-अंग में नयी तरंग,
नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा/नये उत्सव तो नयी भूषा
नये लोचन–समालोचन/नया सिंचन, नया चिन्तन
नयी शरण तो नयी वरण/नया भरण तो नयाऽऽभरण
नये चरण-संचरण/नये करण-संस्करण
नया राग, नयी पराग/नया जाग, नहीं भाग
नये हाव तो नयी तृषा/नये भाव तो नयी कृपा
नयी खुशी तो नयी हँसी/नयी-नयी यह गरीयसी।" (पृ. २६३)

चिरसंचित साधना के बिन्दु ही मानव को महान् बनाते हैं। इसकी स्थिति भी कुम्भकार के घड़े की भाँति है :

"गुप्त-साधक की साधना-सी/अपक्व-कुम्भ की परिपक्व आस्था पर
आश्चर्य हुआ कुम्भकार को।" (पृ. २६६)

कृति का चौथा अध्याय 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' है। इस खण्ड में कृतिकार ने माटी को घट रूप में रूपायित कर दिया है। अब उसे पकाने की आवश्यकता है। यही अन्तिम साधना है, जिसमें साधक अपनी चरमावस्था पर पहुँचता है, जिसे 'साधक की मधुमती भूमिका' की संज्ञा दी गई है। कुम्भ को अग्नि में तपाने से तात्पर्य उसके कच्चेपन को दूर करना, उसके दोषों से उसे मुक्त करना है। लेखक के शब्द हैं :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है।
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।
दोष अजीव हैं, नैमित्तिक हैं,/बाहर से आगत हैं कथंचित्;
गुण जीवगत हैं/गुण का स्वागत है।" (पृ. २७७)

इस शरीर को बिना तपाए इसमें खरापन नहीं आ सकता। सोना भी बिना तपे चमकता नहीं है। अग्नि परीक्षा तो माँ सीता को भी देनी पड़ी थी।

अग्नि की कसौटी पर कसने में धूम्र उठेगा, पुनः निर्धूम-अग्नि का प्रकाश भास्वर होगा :

"धूम का उठना बन्द हुआ/निर्धूम-अग्नि का आलोक
अवा के लोक में अवलोकित होने लगा।/तप्त-स्वर्ण की अरुणिम-आभा भी
अवा की आन्तरिक आभा-छवि से/प्रभावित हुई–
आज के दिन इस समय/शत-प्रतिशत/अग्नि की उष्णता उद्घाटित हुई है।"
(पृ. २८०)

घड़ा तो बनकर तैयार हो गया, अब चाहे इसे त्रिलोचन का घट बनाएँ चाहे अन्त्येष्टि का; चाहे इसमें सोम रस भरें या विष रस। इसे भुक्ति और मुक्ति दोनों की चाह नहीं है। यह घड़ा दुःख-सुख दोनों का पर्याय है। किन्तु जब तक तामस का निगरण नहीं करेगा, तब तक समता नहीं आ सकती। तामस स्वयं विलोम रूप से समता उत्पन्न करता है। अब यह कर्तव्य की सत्ता में पूरी तरह डूब गया है। अब घड़ा युगों-युगों की स्मृति है।

दर्शन और अध्यात्म जीवन के दो पद हैं। इन दोनों की अगाधता ही मानव का ध्येय है। इन दोनों के अभाव में मानव शव के समान है और दोनों की उपलब्धि ही शिवत्व की उपलब्धि है :

"स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।/बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है,/अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा
निरंजन का गान करती है।" (पृ. २८८)

साधना की यह अवस्था शारीरिक परिवर्तन करती है :

"आज तक/इस तन को मृदुता ही रुचती आई,/परन्तु/तब संसार-पथ था
यह पथ उससे विपरीत है ना!/यहाँ पर आत्मा की जीत है ना!
इस पथ का सम्बन्ध/तन से नहीं है,/तन गौण, चेतन काम्य है
मृदु और काठिन्य में साम्य है, यहाँ/और/यह हृदय हमारा/कितना कोमल है,
इतना कोमल है क्या/तुम्हारा यह उपरिल तन?" (पृ. ३१०-३११)

भारतीय दर्शन में पुरुषार्थ के साथ-साथ आशा का भी गुण जुड़ा हुआ है। इसमें दया, माया, ममता, सहानुभूति, और करुणा का सम्मिश्रण है। साधना के क्षेत्र में प्रकृति मानव की सहचरी सिद्ध हुई है। प्रकृति के विपरीत चलकर साधना निरुद्देश्य होती है :

"प्रकृति से विपरीत चलना/साधना की रीत नहीं है।
बिना प्रीति, विरति का पलना/साधना की जीत नहीं।" (पृ. ३९१)

चतुर्थ अध्याय का अध्यात्म फलक बड़ा ही विस्तृत है। इसके समग्र सौन्दर्य को एक स्थान पर समेटना या आत्मसात् करना सहज नहीं है।

कुम्भ की कुशलता ही शिल्पी की कुशलता है। यही शिल्पी का सर्वाधिक ग्राह्य उल्लास है। यही सन्त समागम की सार्थकता है। इसके उपरान्त स्रष्टा को संयम, सन्तोष और शान्ति का अनुभव होता है। आत्मोद्धार के लिए स्वयं अपने को कसना होगा। गुरु तो मार्गदर्शक है, क्योंकि बन्धन रूप तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है। इसी की शुद्ध दशा में अविनश्वर सुख होता है।

ये कुछ स्फुरण हैं 'मूकमाटी' के वस्तु विन्यास और उसकी काव्य गरिमा के। ऐसे ही तमाम तत्त्वों के चिन्तन का रत्नाकर है यह काव्य। अपनी दिव्य सत्ता और आध्यात्मिकता से यह कृति सद्मार्गदर्शक चिन्तन सूत्र बन गई है। इस कृति में काव्य की मात्रा तो सर्वोपयुक्त है ही, साथ ही दर्शन, धर्म और अध्यात्म का त्रि-संकलन है, जो काव्य का प्राण बन गया है।

निश्चय ही आधुनिक, बल्कि उत्तर आधुनिक साहित्य की यह एक अभिनव उपलब्धि है।

□

'मूकमाटी': काव्य और अध्यात्म का संगम घाट

प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन

कवि और ज्ञानी सन्तों द्वारा जब भी सत्य के उद्घाटन और यथार्थ के दर्शन के प्रयत्न किए गए तो सर्वव्यापी और सरल स्वरूपी माटी उनकी आधारशिला बनी। चाहे वैदिक ऋषियों की अनुभूतियों का प्रतिनिधित्व पृथ्वीसूक्त के द्वारा हुआ हो या लोक कवि शूद्रक ने जन-जीवन को उजागर करने के लिए 'मिट्टी की गाड़ी' नाटक लिखा हो अथवा भगवान् महावीर को नियति और पुरुषार्थ का विवेचन करने के लिए कुम्भकार सकडाल पुत्र की दुकान के मिट्टी के बर्तनों का उदाहरण देना पड़ा हो -- सर्वत्र मिट्टी ही रूपक बनी है परमार्थ दर्शन का। आचार्यप्रवर, काव्यप्रवीण सन्त विद्यासागर द्वारा प्रणीत 'मूकमाटी' काव्य का ताना-बाना भी नाना रूपधारी माटी के इर्द-गिर्द बुना गया है, जो काव्य और अध्यात्म में डूबने के लिए पवित्र संगम घाट बन गया है।

'मूकमाटी' काव्य की परिभाषाओं से परे दार्शनिक अनुभूतियों की काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण की ललित रचना है। यह मनोरंजन की कृति नहीं, मन-भंजन की टाँकी है, जो मन के पार आत्मा के स्वरूप को प्रकट करने का मार्ग प्रशस्त करती है। यह सुखाभास नहीं, शाश्वत सुख के द्वार तक ले जाने वाला दीपस्तम्भ है। सत् साहित्य की यह बानगी है, क्योंकि स्वयं कवि सन्त ने परिभाषा दी है :

"जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

प्रस्तुत महाकाव्य के चार खण्ड हैं। 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' नामक प्रथम खण्ड में कंकरों से मिश्रित माटी को उसके मूर्त स्वरूप में लाने की बात कही गई है ताकि वह अपना कोमल वर्ण प्राप्त कर सके। यह प्रतीक है–भेद-विज्ञान का। हर पदार्थ अपने मौलिक स्वरूप में आ जाय, जाना जाय- यही धर्म का मार्ग है, कर्तव्य की डगर है। कवि इसी खण्ड में परिचय देता है कई जाने-माने शब्दों की अद्भुत परिभाषा देकर। सन्त की अनुभूतियाँ हैं :

- *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)*
- *"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं।" (पृ. १९२)*
- *"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है*
  जो यथा-योग्य/सही आ''दमी है।" (पृ. ६४)

'मूकमाटी' का दूसरा खण्ड सही दिशा देता है– शब्द, बोध ओर शोध को। ये पर्यायवाची से बन गए हैं– श्रद्धा, ज्ञान एवं चारित्र के। शुभ कार्यों के सम्पादन, लोक-हित एवं आत्म-हित के लिए किए गए प्रयत्नों/क्रियाओं से पुण्यार्जन होता है और कषायों की गुलामी से पाप-संग्रह, यही सन्देश इस काव्य का तीसरा खण्ड पाठक को देता है। कवि कहता है :

"जीवन को मत रण बनाओ/प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ।" (पृ. १४९)

समस्त दुःखों की जड़ भारतीय परम्परा में 'निदान' को माना गया है। कवि ने उसे सरल नाम दिया है– बदले का भाव। इस बदले के भाव से बचना ही, भव-बन्धन से बचना है। आचार्यश्री ने अपने इस काव्य में दर्शन और अध्यात्म

की भेद रेखा स्पष्ट कर दी है :

''अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन।
...कभी सत्य-रूप कभी असत्य-रूप/होता है दर्शन, जबकि
अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।'' (पृ. २८८)

काव्य का चतुर्थ खण्ड कथा-शिल्प का उत्तम नमूना है। इस कृति में सन्त, कवि, कथाकार--तीनों की अनुभूतियों का जो संगम हुआ है, वह महाकाव्य को अप्रतिम बनाता है। प्रकाशन और प्रस्तुतीकरण भी नयनाभिराम है।

[सम्पादक-'प्राकृत विद्या', उदयपुर, राजस्थान, अक्टूबर, १९८९]

❑

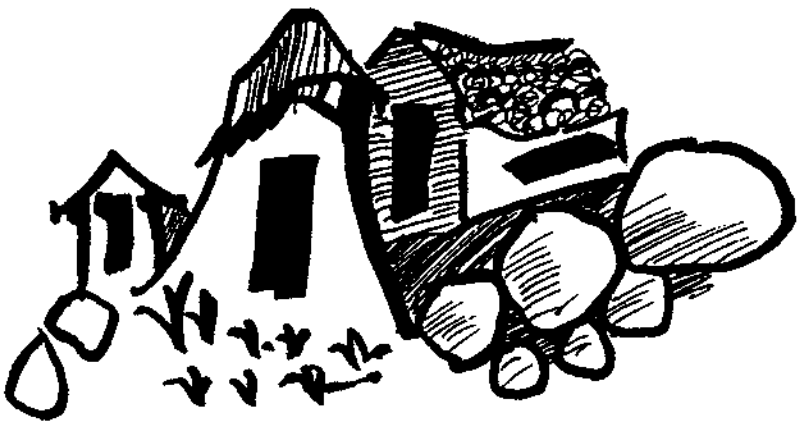

पृष्ठ ४८५
समग्र संसार ही
दुःख से भरपूर है,....
... अपना अनुभव बता सको
तो

काव्य की माटी और माटी का काव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) चक्रवर्ती

'मूकमाटी' वस्तुतः काव्य की माटी और माटी का काव्य है जिसमें हमारी धरती को उसकी सार्वभौमिकता में इस तरह स्वायत्त किया गया है कि वह मूर्त यथार्थ की प्रतिबिम्ब ही नहीं, बल्कि अपनी समग्रता में अमूर्त्त यथार्थ की प्रतिबिम्ब भी बन गई है। इसमें कवि ने अपने रचनात्मक धैर्य और भाषा की दीर्घकालिक सारस्वत योजना से उपदिष्ट मानव के ऊर्ध्वमुखी विकास के अद्यतन अन्तर्बाह्य संघर्षों और सार्थक-निरर्थक, सुन्दर-असुन्दर उपलब्धियों को जो अनुभूत किया, उसी को सम्बोध्य भारतीय मानस के लिए मुक्त छन्द में रहस्यसिक्त ढंग से सम्प्रेषित कर दिया। 'मूकमाटी' के व्यापक फलक पर, प्रति वस्तु का मानवीकरण और निरन्तर सूक्ष्म दृष्टि से रूपक, प्रतीक, बिम्ब विधान के संयोजन में कवि की चेतना संवेदनशील हो उठी है। माटी, यहाँ मानव जीवन की गतिविधि के प्रतीक-सी, एक प्रमुख भूमिका निभाती है और अपनी 'माँ'– धरा से निरन्तर उपदिष्ट (देशना) होकर चलती रहती है। धरा, प्रकृति की सम्पूर्णता के अनुभव से न अलग है और न अपरिचित। कवि ने इन्हें साधन और साध्य के रूप में परस्पर रूपान्तरित किया है। दोनों को, विभिन्न सन्दर्भों में भेदपरक पहचान दी है। उनकी तात्त्विक पहचान में काव्यार्थ की छवि विश्वसनीय बन गई है :

"फिर,/कुछ क्षणों के लिए/मौन छा जाता है–/दोनों अनिमेष
एक दूसरे को ताकती हैं/धरा की दृष्टि माटी में/माटी की दृष्टि धरा में
बहुत दूर···भीतर···/जा···जा–समाती है।" (पृ. ५-६)

माटी और धरती का सार्वभौमिक चित्र एक केन्द्रीय रूपक की भाँति यहाँ उभरता है जिसमें अतिव्याप्त विच्छिन्नता, प्रथम दृष्टि में ही, एक विशिष्ट प्रभाव की सृष्टि करती है। इस महाकाव्य के काव्य सत्य की पहचान के लिए जैन दर्शन के अनेकान्त दर्शन को जीवनगत पहचान में विन्यस्त देखना समीचीन होगा। समानाशयी स्याद्वाद के आवरण से उस गहरे बोध को अनावृत करना ही कवि को अभीष्ट लगता है। मूकमाटी ही इस महाकाव्य की दिव्य और मूर्त नायिका है और नायक है कुम्भकार- आध्यात्मिक गुरु, जो मंगल घट का शिल्पी है। कुम्भ और कुम्भकार के उद्धारकर्त्ता स्वयं जिनदेव हैं। मूकमाटी (धरा) की मंगल कामना है कि शिल्पी द्वारा निर्मित मंगल कलश से गुरु का पाद-प्रक्षालन हो। सरिता की माटी जो सहस्राब्दियाँ छलाँगती हुई आई, सारी मानव जाति की प्रतीक है तो सागर (धरा का अंग) उस परम सत्ता की गम्भीर प्रकृति का :

"मेरे लिए/इससे बढ़ कर श्रेयसी/कौन-सी हो सकती है/सन्धि वह !...
और···इधर···सामने/सरिता···/जो सरपट सरक रही है/अपार सागर की ओर
सुन नहीं सकती, इस वार्ता को/कारण !/पथ पर चलता है/सत्पथ-पथिक वह
मुड़कर नहीं देखता/तन से भी, मन से भी।/और, संकोच-शीला
लाजवती लावण्यवती–/सरिता-तट की माटी/अपना हृदय खोलती है
माँ धरती के सम्मुख/"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
···अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ३-४)

इसमें भारतीय दर्शन की रूढ्यात्मक बौद्धिक अभिव्यक्ति नहीं, वरन् कवि की भावनात्मक समृद्धिजन्य वैचारिकता व्यक्त है। युग-युग मानव जीवन प्रवाह में इस मानवीय माटी का संवेदनशील प्रश्न है :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

कवि जड़-चेतन सत्ताओं को नहीं वरन् सत्ताओं के सम्बन्धों को साक्षात्कृत करता है। विचार-भाव-सम्पन्न कवि की यह संरचना, अपने रूपकत्व में अप्रत्याशित और अलक्षित गहरे और विचारोत्तेजक अर्थों को सम्प्रेषित करने में विलक्षण बन गई। 'धृति धारिणी धरती' अपनी माटी को जो सम्बोधन करती है, वह नए भूभाग को कविता में लाने की उत्तेजना है, कवि की बौद्धिक मनोभूमि का अन्वेषण है और जैन दर्शन की पार्श्वभूमि पर एक रचनात्मक साहस है।

यहाँ बादलों की 'उजली-उजली जल की धारा' का अन्योन्याश्रित सम्बन्धों में, पूर्वश्रुत सत्य की अन्तर्ध्वनियाँ व्यक्त कर कवि अपनी सौन्दर्याभिरुचि दर्शाते हैं। वह निर्मल धारा, जैसे धूल में दल-दल, नीम में कटुता, विषधर में हाला, शुक्तिका में मोती बनती है, वैसे ही संगति के कारण मानव मति निर्मित होती है। कवि कहता है:

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर
रास्ता स्वयं शास्ता होकर/सम्बोधित करता साधक को
साथी बन साथ देता है।/...सार्थक जीवन में तब।" (पृ. ९)

विद्यासागरजी केवल योगी नहीं वरन् एक सहृदय सामाजिक और दार्शनिक भी हैं, जो संवेदना और तर्कबुद्धि से जन सामान्य को वह आलोक देते हैं, जो समता के राग का आलोक है।

कवि की भाव-ऊर्जा जैन धर्मानुशासन की भावभूमि से इतने घनिष्ठ रूप से जुड़ी है कि उनकी मानवनिष्ठ दृष्टि अपने प्रस्थान बिन्दु से लेकर अन्त तक मानव जीवन की संक्रमण स्थितियों के मार्मिक अन्तःसाक्ष्य ढूँढ़ती हुई साधना सम्भव मुक्ति की असन्दिग्ध आकांक्षा का निर्देश करती है। उनकी सर्जनात्मक ऊर्जा में एक गहरी आस्था और अदम्य प्रतिबद्धता दिखाई देती है।

धरती उस साधक (माटी) को आस्थापूर्ण साधना के लिए प्रेरित करती है और ध्यानमग्ना माटी, अपनी माँ के सम्बोधन को श्वसित कर बोल उठती है :

"इस सम्बोधन से/यह जीवन बोधित हो,/अभिभूत हुआ, माँ !...
बाहरी दृष्टि से/और/बाहरी सृष्टि से/अछूता-सा कुछ
भीतरी जगत को/छूता-सा लगा/अपूर्व अश्रुतपूर्व
यह मार्मिक कथन है, माँ !" (पृ. १४-१५)

और उसके भीगे भावों की अभिव्यंजना से धरती आश्वस्त हो गई :

"मेरे आशय, मेरे भाव/भीतर···तुम तक उतर गए।" (पृ. १६)

और फिर धरती अपने भावोच्छ्वास में एक गहन और सघन बुद्धिशीलता का परिचय देती है:

"कल के प्रभात से/अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !
प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,/समर्पण-भाव-समेत
उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें।" (पृ. १६-१७)

कवि की रहस्यात्मक अनुभूति की मनोहरता, सृजनात्मक कल्पना की सूक्ष्मता और नैसर्गिक तादात्म्य की रमणीयता दर्शनीय है :

"बिना दाग है यह शिल्प/और कुशल है यह शिल्पी।/युग के आदि में
इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !/'कुं' यानी धरती/और
'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो
कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

कवि ने श्रमण संस्कृति की सम्भावनाओं को और श्रमण-साधक के दिक्काल सम्बन्धों की निरन्तरता को परिभाषित करने का यत्न किया है :

- *"...अब शिल्पी ने/कार्य की शुरूआत में/ओंकार को नमन किया*
  और उसने/पहले से ही/अहंकार का वमन किया है।" (पृ. २८)
- *"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है*
  और/खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

यहीं से इस काव्य का चित्रात्मक फलक संवेद्य हो उठा है। इससे इस कविता में रह-रहकर दो स्पष्ट तत्त्व पारस्परिक विपरीतता लेकर अपने द्वैत एवं द्वन्द्व के चरमवादी संवाद स्वरों को उच्चरित करते हैं। इन सामान्य ज्ञानात्मक प्रतिवादों का प्रयोग आलंकारिक नहीं वरन् जैन दर्शन और आधुनिकतावादी वैचारिकता का विधिवत् रूपान्तरण है। कवि का चिन्तन विवादी स्वरों से अधिक, आध्यात्मिक रागों में पर्यवसित हुआ है।

माटी तो परिशोधन से रेत-कंकर मुक्त हो गई। किन्तु रेत-कंकर का रोष शिल्पी के प्रति व्यक्त हो गया :

"गात की हो या जात की,/एक ही बात है—
हममें और माटी में/समता-सदृशता है।" (पृ. ४६)

निम्न जातियों में जातीयता के विरुद्ध विद्रोही नहीं वरन् वस्तुस्थिति तथा आत्मस्थिति की एक नई पहचान की माँग है। इस गहरे अवहेलित सत्य का एक निपट और तीव्र आग्रह है यहाँ।

माटी में कंकर हैं तो वर्ण संकर है। घट के लिए तो कंकर (संकर) मुक्त करना आवश्यक है। कंकर पानी सोख नहीं सकता, क्योंकि उसमें दया नहीं है। कंकरों के उस पृथकवाद के आविर्भाव से 'उनके मान का बौना होना' और मान का अवसान लक्षित होता है। अतः कवि प्रार्थना करता है :

"ओ मानातीत मार्दव-मूर्ति,/माटी माँ !/एक मन्त्र दो इसे
जिससे कि यह/हीरा बने/और खरा बने कंचन-सा !" (पृ.५६)

सिद्ध कुम्भकार माटी को मंगल घट में रूपान्तरित करने के लिए जल-निमित्त गाँठग्रस्त रस्सी का अवलम्ब लेता है। दाँत और रसना का प्रयोग हिंसा का प्रतीक है, अतः रसना कहती है :

"मेरे स्वामी संयमी हैं/हिंसा से भयभीत,/और/अहिंसा ही जीवन है उनका।
...जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।" (पृ. ६४)

गाँठ मुक्त कर कुम्भकार बालटी कुएँ में डालता है। तभी उसकी प्रतिच्छाया नीचे जल में मछली पर पड़ती है। उसकी मनोभावना ऊर्ध्वमुखी हो उठती है। वह कुएँ से बाहर आना चाहती है :

"इस शुभ यात्रा का/एक ही प्रयोजन है,/साम्य-समता ही
मेरा भोजन हो/...दिवि में, भू में/भूगर्भों में/जिया-धर्म की

दया-धर्म की/प्रभावना हो···!'' (पृ. ७७-७८)

बालटी के साथ मछली बाहर आती है और माँ माटी के चरणों में गिर जाती है। वह माँ से ज्ञान माँगती है। माटी कुम्भकार से प्रार्थना करती है कि मछली को कूप जल में पहुँचा दें, क्योंकि ''दया धर्म का मूल है''।

द्वितीय खण्ड में कोमल माटी में अनुकूल जल मिश्रित करना, रौंदना और फिर कुलाल चक्र में रखकर आकार देना, कच्चे घट पर अनेक अंकों को, चित्रों को अंकित करना और सूखने के लिए छोड़ देने के अनेक विशद चित्रात्मक प्रसंग हैं। काव्य के दृश्यात्मक फलक पर घट और कुम्भकार की सन्निधि उस द्वैत के कारण, भिन्नता के यथार्थ से केवल समाहार ही नहीं करती वरन् साधक श्रमण के द्वैध सन्तुलन को संवेदन और संज्ञापन पर केन्द्रित करती है। 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि उस दूरी को साधता है, जहाँ सत्य और अध्यात्म साथ-साथ चलते हैं। अपनी प्रवचनात्मक वाचालता में सर्वातिशय गम्भीर चिन्तन का सहज सम्प्रेषण करना, भावों की अनिवार्य परिणति के लिए भाषा की वरीयता दर्शाना, निश्चिततावादी अवधारणा के अन्तरंग स्पन्दन को रेखांकित करना ही इस खण्ड के प्रमुख प्रतिपाद्य हैं।

''चक्र अनेक-विध हुआ करते हैं/संसार का चक्र वह है जो
राग-रोष आदि वैभाविक/अध्यवसान का कारण है;/चक्री का चक्र वह है जो
भौतिक-जीवन के/अवसान का कारण है,/परन्तु/कुलाल चक्र यह, वह सान है
जिस पर जीवन चढ़कर/अनुपम पहलुओं से निखर आता है।'' (पृ.१६१-१६२)

गुरु कुम्भकार अपने नैमित्तिक कर्म के सदृश अपने स्रष्टा हाथों से माटी को सत्य बोध से परिचित कराता है।

तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में कवि की चिन्ता और आस्था तथा विश्वास और पहचान की भूमिका स्पष्ट हुई है। सूर्य, चन्द्र, धरती, सागर, माटी एवं नारी आदि की वस्तुस्थिति तथा आस्तिकता तथा उनके राग-द्वेषात्मक अन्त:सम्बन्धों को कवि ने परिपक्व और विचारोत्तेजक तीव्रता के साथ प्रस्तुत कर दिया है। जागतिक प्रपंच की कारयित्री शक्तियों की लघिमा और गरिमा, अन्योन्याश्रित सत्ताओं का संकुचन एवं प्रस्तार और देश-काल की मायिक संसृष्टि की वैश्विक व्यवस्था के निरूपण में कवि की प्राणवत्ता रसमयी हो गई है। साधक कुम्भ की लोकायत प्रवाही यात्रा अडिग, अविकल्प, मौन और समभाव तो होती है पर प्रतिकूलताओं को भी अपनी लक्ष्य पूर्ति का साधन मानती है :

''जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।'' (पृ. २६७)

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में बहु घटनाचक्रों और अन्यान्य अन्त:कथाओं के कारण काव्यवस्तु का पूर्ववर्ती खण्डों के परिप्रेक्ष्य में अव्यवस्थित संयोजन हुआ है। अवा में कच्चे घट को पकाने के उपक्रम में शिल्पी के नवकार मन्त्र का जाप, बबूल की लकड़ियों का शिल्पी से प्रतिवाद, कुम्भ अग्नि का संवाद, कुम्भ के अग्नि-परीक्षण के लिए स्वीकृति, प्रमुदित अग्नि का प्रज्वलन, कुम्भ की आत्मशुद्धि और आत्मसाक्षात्कार की अभिव्यंजना के

बाद मानवीकृत माटी की केन्द्रीय अर्थसृष्टि कुछ पृष्ठों तक चलकर गौण हो जाती है।

यह खण्ड वस्तुत: एक स्वतन्त्र काव्य है, क्योंकि माटी की पूर्ववर्ती मधुरिम काव्य भूमिका के उत्तरोत्तर चित्रण की अपेक्षा, कवि की यहाँ उपदेशन मनोवृत्ति व्यापक रूप से उभर गई है। श्रमण-कवि की प्रवचनात्मक अभिव्यंजना--आँकड़ों, सूक्तियों, सूत्रों और वक्तव्यों के निरन्तर निरूपण में विकासवाद की परिणति का समर्थन मिलता है। वे अमर्यादित व्यवस्था में डूबे सम्पन्न-समृद्ध नगर सेठ को आत्मोन्माद संस्कृति और काव्य-वस्तु की मूलधारा मानवीकृत माटी के बीच एक अन्योक्ति सम्बन्ध को रेखांकित करके रह जाते हैं। प्रकृति और मान के सम्बन्धों के अन्वेषण और मूल्यांकन में कवि को भले ही सफलता मिली हो किन्तु महाकाव्य के इस खण्ड की कथावस्तु में कपोलकल्पित गल्पों और अन्तर कथाओं के शिथिल संयोजन से, कलात्मक उच्चाशय और काव्यात्मक संगठन की प्रतिबद्धता दिखाई नहीं देती। काव्य की माटी अर्थात् मानव और प्रकृति के मूल में तात्त्विक पहचान के द्वैत का आग्रह निरन्तर चलता रहता है।

नगर सेठ का यह उपस्थापित कथा प्रसंग, मूल कथा वस्तु से अपना सम्बन्ध बनाए रखता है। नगर सेठ के तर्क-छल जीवन की दहशत, गहरी व्यग्रता का भाव, पूरे परिवार की रुग्ण मन:स्थितियाँ, पूँजीवादी समाज की विकृतियों और विसंगतियों की परिणति तथा अन्तहीन एक कुस्वप्न के यथार्थ की अपरिहार्य अनुभूति के तमाम सन्दर्भों को प्रतिबिम्बनों, अपवर्त्तनों, विघटनों और विसंगतियों के अस्तित्वमूलक प्रश्नों के प्रति कवि सचेत है। किन्तु अन्योन्याश्रित गल्पों के एक वृत्त में उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा उपदेशात्मक या प्रवचनात्मक उपक्रम में प्रतिबद्ध हो गई है। कवि इतिहास, भूगोल, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, विज्ञान, राजनीति, दर्शन एवं चिन्तन आदि आधुनिक ज्ञानविकास और पूँजीवाद, विकासवाद तथा आतंकवाद आदि वैचारिक आन्दोलनों के बीच, मूल्यों से विच्छिन्न मानव को रूढ़-जड़ वस्तुओं, बूर्ज्वा घटकों और साम्प्रतिक द्वन्द्वों की पूर्वापरता की एकरैखिक यात्रा में विवश देखता है। वे काव्यवस्तु में प्रकृति और मानव के आत्मपरीक्षण और वर्तमानकालिक द्वैत-द्वन्द्वात्मक विघटन की कल्पना को संवाद की कठिन और गहरी प्रक्रिया में बाँधते तो हैं किन्तु अपनी आस्था और भावसम्पदा के द्वारा अपने चतुर्थ बृहत् खण्ड की संरचना को महाकाव्यत्व की गरिमा से सत्यापित करने में असमर्थ हो जाते हैं।

शिल्पी के द्वारा शोधित, निर्मित, अग्नि परीक्षण में उत्तीर्ण मंगल घट अपने शुद्ध सात्त्विक रूप में मानवेतर अर्थ और ध्वनियों के समाधान प्रस्तुत कर, गुरु (शिल्पी) और माँ (माटी) की उत्प्रेरणा और उपदेशना को सार्थक कर देता है। माटी स्वयं ऊर्ध्वमुखी होकर, सर्ग से निसर्ग तथा वर्ग से अपवर्ग की यात्रा युग-युग से करती आ रही है। यही माटी का काव्य है।

पृष्ठ ५६
यूँ बीच में ही
कंकरोंकी ओर से...
..... और खरा
बने कंचन-सा !"

□

आत्मचेतना का सम्यक् साहित्यिक प्रवाह : 'मूकमाटी'

आचार्य डॉ. हरिशंकर दुबे

दिगम्बराचार्यों की श्रमण परम्परा के उन्नायक आचार्य श्री विद्यासागर महाराज की अमर कृति 'मूकमाटी' गहरे आध्यात्मिक अर्थों को समेटे दार्शनिक पृष्ठभूमि पर विरचित एक सरस महाकाव्यात्मकता युक्त साहित्यिक कृति है, जो लोकरंजन के साथ लोकमंजन और भवभंजन की सम्पदा से युक्त है। यह काव्य न तो किसी कवि के ऐकान्तिक प्रेम का आलाप है, न उसकी विफलता का विलाप, न गहरी प्रेम-पीड़ा का प्रलाप है और न आत्म-विमुग्धा दशा का स्वान्तःसुखाय एकालाप, अपितु यह जीव और ब्रह्म के मध्य विस्तारित मायामय जगत् में फँसे-धँसे उस अंश का अपने अंशी से संलाप है जिस अंश को संसार की सत्यता-नित्यता-बद्धता आदि की सच्चाइयों का बोध है और यही बोध उसके इस संवाद की शक्ति है और सीमा भी। यही कारण है कि रचनाकार न तो कथाकार है, न व्यथाकार, अपितु वह यथाकार बनने का अभिलाषी है :

''मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।'' (पृ. २४५)

कृति की भावभूमि

कवि की यह रचना केवल कृति नहीं है, वरन् जीवन विकृति के विरुद्ध संस्कृति का सिंहनाद है। कवि का यथाकार बनने का भाव उसे सोऽहं की भारतीय संस्कृति की उस भावभूमि पर प्रतिष्ठित करता है, जो अद्वैत की चरम परिणति है। तथाकार बनने की कवि की अभिलाषा नई नहीं है, वह अन्यत्र अपनी एक कविता में कहता है :

''तन मन को तप से तपा, स्वर्ण बनूँ छविमान।
भक्त बनूँ, भगवान को भजूँ, बनूँ भगवान॥''

चाहे 'चेतना के गहराव में' नामक कविता संग्रह हो या 'नर्मदा का नरम कंकर' या फिर काव्य संग्रह 'तोता क्यों रोता' कृति हो या 'डूबो मत, लगाओ डुबकी' – सबमें आत्म-परिष्कार की यही गहरी टीस समाई है। चेतना के गहराव का कवि काल के प्रवाह में बहते जाते जीव और नष्ट होते जीवन के प्रति जागरूक है :

''यह एक/नदी का प्रवाह रहा है/काल का प्रवाह/बह रहा है
और बहता ! बहता !! कह रहा !!!/जीव या अजीव का/यह जीवन
पल-पल इसी प्रवाह में/बह रहा, बहता जा रहा है।''
('चेतना के गहराव में', काव्य संग्रहगत 'हँसीली सत्ता' कविता, पृ. ८२)

जीवन की इस दारुण दशा के कारणों का भान कवि को है। वह 'निजानुभव शतक' में कहता है :

''दारा नहीं शरण है, मनमोहिनी है,
देती अतीव दुख है, भववर्धिनी है।
संसार कानन जहाँ वह सर्पिणी है;
मायाविनी अशुचि है, कलिकारिणी है।'' (६२)

इसी तरह 'दोहा-दोहन' में भी ऐसी ही अनुभूतियाँ व्यक्त हुई हैं। हमारे कहने का अभिप्राय मात्र इतना है कि इन कृतियों में से व्यतीत होकर ही कवि की उस मनोभूमि को समझा और विवेचित किया जा सकता है, जिसमें 'मूकमाटी' की रचना का अभिमानस निर्मित हुआ है।

माटी की मुखरता में निहित भास्वरता

कवि भले ही अपनी रचना को 'मूकमाटी' की संज्ञा दे किन्तु अनकहे वह माटी इतना कुछ कहती है कि एक महाकाव्य का काय-कलेवर भी छोटा पड़ जाता है। माटी की मौन साधना में अन्तर्निहित वे तत्त्व ही उसे वाणी प्रदान करते हैं, जिन्हें संयम, सेवा, साधना, सत्कार, सहकार, संस्कार, शालीनता और समर्पण जैसे नामाभिधान दिए जा सकते हैं। मनुज माटी का पुतला है, अत: माटी के प्रति उसका आकर्षण सहज है, सप्रयास नहीं। माटी का स्वर मनुज और उसकी मनुष्यता का स्वर है और मनुष्य के स्वरों में माटी की मूक पीड़ा भी समाहित है। यही कारण है कि तुलसी जब 'पंच रचित यह अधम शरीरा' कहते हैं तो माटी को प्रथम पूज्य स्थान देते हैं और कबीर "माटी कहे कुम्हार से तू क्या रौंदे मोय। इक दिन ऐसा आयगा मैं रौंदूँगी तोय"– कहकर माटी की नित्यता के सम्मुख कुम्भकार की नश्वरता का उद्‌घोष कर देते हैं। 'अष्टाचक्रा नवाद्वारा देवानां पुरयोद्धया' कहने वाले वेद भी इस माटी के शरीर में ही देवताओं की उपस्थिति का आधार ढूँढ़ते हैं। तब से लगातार कविगण इस माटी में आत्मसात् उस सत्य के सन्धान में साधनारत हैं, जो जीव को जगत् में प्रवृत्त करता है। यह माटी भले ही मूक हो किन्तु (हिन्दू दर्शन के अनुसार) सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के सृजन की प्रथम आधारभूत शक्ति यही माटी बनी। इसी से मानव बना, उसका जीवन चला और उसने अपने जीवन के लिए सरंजाम सँजोए। इसी माटी के लिए जाने कितने सत्ता संघर्ष हुए और सत्ताधीशों की राज-सत्ताएँ माटी में मिल गईं। सत्यवती सीता इसी माटी की गोद में पाई गईं, खेलीं और अपने सतीत्व प्रमाण के लिए इसी माटी की गोद में चिर विश्रान्ति पा सकीं। इसी माटी का उद्धार करने के लिए विष्णु को वराह का अवतार धारण करना पड़ा और इसी माटी को तीन पग में नापने के लिए उन्हें वामन रूप लेना पड़ा। जब से मनुष्य ने बुद्धि-विवेक पाया तो इस माटी को चन्दन समझ माथे पर लगाया। इस देश का हर ग्राम तपोभूमि बना और बच्चा-बच्चा राम बन गया। इसी माटी की आन-शान-बान के लिए वीरयोद्धा समरांगण में प्राणों की बाजी लगा देते हैं तो इसी माटी पर न्यौछावर होने कवि माखनलाल चतुर्वेदी कह उठते हैं :

"मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक।
मातृभूमि हित शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक॥"

यह पुष्प की ही अभिलाषा नहीं, उस युग का सत्य बन गया जो युग अपनी धरती के प्रति कृतज्ञता भाव से नमित था। भगवान् भले जगत् को बनाते हों किन्तु उन्हें बनाने वाले भक्त के लिए यही मिट्‌टी सहारा बनी। इसी माटी के बल पर भक्त ने न जाने कितनी देव प्रतिमाएँ गढ़ीं। डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने इसी माटी के विश्वास की अमरता के लिए लिखा :

"सौ बार बने सौ बार मिटे, लेकिन मिट्‌टी अविनश्वर है।
मिट्‌टी गल जाती पर उसका, विश्वास अमर हो जाता है॥"

इसी माटी ने अपनी गोद में अनेक युगों को दुलराया है, शताब्दियों को सुलाया है :

"विरचे शिव विष्णु विरंचि विपुल/अगणित ब्रह्माण्ड हिलाए हैं।
पलने में प्रत्यय सुलाया है,/गोदी में कल्प खिलाए हैं॥"

इसी माटी से किसी ने अमृत घट बनाया तो किसी ने दीप की रचना कर तिमिर हरन का उद्योग किया। सियाराम शरण गुप्त का घट इस माटी की कुटिल कर्कशता से कराह उठता है :

''कुटिल कंकड़ों को कर्कश रज मल-मलकर सारे तन में।
जाने किस निर्दय निर्मम ने मुझको बाँधा है इस बन्धन में॥''

हरिवंश राय बच्चन ने भले ही इस माटी से अपनी हाला के ढालने के लिए प्याला गढ़ा हो किन्तु उन्हें भी इस माटी का गुमान है, यही कारण है कि वह कह उठते हैं :

''जिसे झंझा की झनक न भाए, उसे नहीं जीने का हक है,
जिसे माटी की महक न भाए, उसे नहीं जीने का हक है॥''

इस प्रकार इस माटी की मूकता में तत्त्वज्ञान, आत्मदान, बलिदान और प्राणवान् पावन ऊर्जा की जो भास्वरता सन्निहित है, उसे कवि की रससिद्ध दृष्टि ही समझ सकती है।

'मूकमाटी' का विराट् परिदृश्य

तुच्छ-सी कहलाने वाली अनेक मुहावरों की जन्मदात्री इस माटी के दृष्टिपथ में अनन्त का विस्तार समाया है, जिसकी रूप माधुरी का पान करके माँ की मार्दव गोद में मुख पर आँचल लेकर करवट बदलता भानु निद्रा सुख छोड़ प्राची से झाँकने लगा है :

- *''सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,*
  और'''इधर'''नीचे/निरी नीरवता छाई।'' (पृ. १)
- *''लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से*
  बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
  पाँखुरियों की ओट देती है।'' (पृ. २)

'मूकमाटी' के कवि के इस चित्रण से श्री जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' के आरम्भ का वह दृश्य सहसा नयन पटल पर उभर आता है, जहाँ हिमगिरि के उत्तुंग शिखिर पर बैठा एक पुरुष विराटमय प्रकृति और उसमें समाई चेतनता को अपलक निहार रहा है :

''दूर-दूर तक विस्तृत था, हिम स्तब्ध उसी के हृदय-समान,
नीरवता-सी शिला-चरण से टकराता फिरता पवमान।''

और तब उषा का आगमन हुआ :

- *''उषा सुनहले तीर बरसती जयलक्ष्मी-सी उदित हुई,*
  उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई।''
- *''नेत्र निमीलन करती मानो प्रकृति प्रबुद्ध लगी होने,*
  जलधि लहरियों की अँगड़ाई बार-बार जाती सोने।
  सिन्धुसेज पर धरावधू अब तनिक संकुचित बैठी-सी॥''

'मूकमाटी' का महाकाव्यत्व

प्रस्तुत संग्रह के आरम्भ में लिखित 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन इस कृति के सम्बन्ध में लिखते हैं : "...(इसे) महाकाव्य की परम्परागत परिभाषा के चौखटे में जड़ना सम्भव नहीं है, किन्तु यदि विचार करें कि चार खण्डों में विभाजित यह काव्य लगभग ५०० पृष्ठों में समाहित है, तो परिमाण की दृष्टि से यह महाकाव्य की सीमाओं को छूता है।" यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या केवल परिमाण की दृष्टि से ही यह महाकाव्य है ? परिणाम की दृष्टि से क्या है ? केवल कलेवर की विशालता ही कृति को महाकाव्यत्व दे सकती तो सारे शब्द-कोष महाकाव्य कहलाते। 'साहित्य-दर्पण'कार ने "सर्गबन्धो महाकाव्यम्" लिखकर महाकाव्य के सारे लक्षणों की चर्चा की है। सर्ग की दृष्टि से ही यदि विचार करें तो पुराने महाकाव्यों में कम-से-कम आठ सर्ग अनिवार्य माने गए हैं। प्रस्तुत काव्य कृति में तो चार ही सर्ग हैं। हिन्दी महाकाव्यों का प्रमाण माने जाने वाले 'श्री रामचरित-मानस' में "सप्त प्रबंध सुभग सोपाना" द्वारा सात सर्गों की ही अवतारणा की गई है, तो संस्कृत में वाल्मीकि ने 'रामायणम्' में सात काण्डों की ही रचना की है। यदि यह महाकाव्य है, तो सर्ग की दृष्टि से 'मूकमाटी' क्यों नहीं ? कहा जा सकता है कि वाल्मीकि 'रामायणम्' में एक-एक काण्ड में अनेक सर्ग-उपसर्ग समाहित हैं। महाकाव्य के लिए एक ही छन्द अनिवार्य होता है। तुलसी के दोहा-चौपाई को लिया किन्तु बीच-बीच में सोरठा आदि का भी सहारा लिया गया है। 'मूकमाटी' के रचनाकार को छन्दों के बन्धन स्वीकार्य नहीं, वह मुक्त छन्द का प्रयोग करता है। वस्तुतः छन्द बन्ध का मूल भाव कथा का प्रवाह है। 'मूकमाटी' का कवि कथा प्रवाह और उसके विस्तार के प्रति जागरूक है। यह बात भी विचारणीय है कि महाकाव्य का विषय क्या हो ? शास्त्रीय परम्परा में महाकाव्य और खण्डकाव्य के विषयों का पृथक्-पृथक् विचार है। महाकाव्य के वे ही विषय चुने जा सकते हैं, जिनमें वृहद् कथा-तत्त्व हों। 'माटी' को महाकाव्य का विषय कैसे बनाया जा सकता है ? इस दृष्टि से विचार करें तो हमारे सम्मुख श्रीहर्ष का 'नैषधचरित' सामने आता है, जिसमें नल-दमयन्ती के परिणय मात्र की कथा को आधार बनाया गया है, इसी तरह 'प्रिय प्रवास' और 'वैदेही वनवास' में छोटी-छोटी कथाओं को महाकाव्य का विषय बनाया गया है। महाकाव्य के लिए कथा की ऐतिहासिकता या पौराणिकता अनिवार्य होती है। 'मूकमाटी' की कथा इस दृष्टि से खरी नहीं उतरती किन्तु 'कादम्बरी' की कथा जिस तरह कल्पित कथा है, उसी तरह 'मूकमाटी' भी कवि की कल्पना की उद्भावना है। वस्तुतः महाकाव्य में कथा वैचित्र्य अपेक्षित नहीं होता। कथा रस अभीष्ट होता है। 'मूकमाटी' का रचनाकार कथा रस के प्रति जागरूक है, यही कारण है कि वह महाकवि केशव की 'रामचन्द्रिका' की तरह छोटे-छोटे वर्णनों पर ध्यान देता है। माटी का उत्खनन, काँटे का संवाद, माटी की छनाई-बिनाई-कुटाई में कंकड़ों की पीड़ा, पानी लाने के लिए कुआँ, बाल्टी, रस्सी की गाँठ, उस गाँठ को खोलने के लिए दाँतों का उपक्रम, लालारस (लार) में गाँठ का ढीला पड़कर खुलना आदि जाने कितने छोटे-छोटे वर्णनों के प्रति कवि सावधान है। महाकाव्य के आरम्भ में मंगलाचरण की परम्परा है, जो 'मूकमाटी' में अनुपलब्ध है। शास्त्रीय परम्परा में तीन प्रकार के मंगलाचरण माने गए हैं – नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक और वस्तु निर्देशात्मक। यहाँ तीनों का ही अभाव है। इस परम्परा को तोड़ने की भी परम्परा रही है। 'प्रिय प्रवास' से लेकर 'कामायनी' तक जाने कितने हिन्दी महाकाव्यों में मंगलाचरण की इस परम्परा का भंजन किया गया है जिसे विद्यासागरजी ने भी अपनाया है। दूसरी बात यह कि कवि 'मूकमाटी' के आरम्भ में "सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,/और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १) लिखता है, तो जिस सीमातीत महाशून्य का उल्लेख करता है, वह मानों उसी विराट् की अभ्यर्थना का मंगलाचरण बन जाता है। रस की दृष्टि से विचार करें तो 'मूकमाटी' का प्रधान रस शान्त है, जो नाटकों की दृष्टि से वर्जित माना जाता है। शृंगार या वीर ही प्रधान रस होना चाहिए।

इस प्रकार महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य अनेक प्रश्न खड़े करता है, जिनमें से एक उसके नायकत्व का भी है।

'मूकमाटी' का नायकत्व

महाकाव्य हो या खण्डकाव्य, नाटक हो या उपन्यास– सबमें नायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। 'मूकमाटी' के नायक को लेकर असमंजस की स्थिति रही है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ग्रन्थ के आरम्भ में लिखित 'प्रस्तवन' में इस प्रश्न को उठाते हैं : "...प्रश्न होगा कि 'मूकमाटी' का नायक कौन है, नायिका कौन है ? बहुत ही रोचक प्रश्न है, क्योंकि इसका उत्तर केवल अनेकान्त दृष्टि से ही सम्भव है। माटी तो नायिका है ही, कुम्भकार को नायक मान सकते हैं··· किन्तु यह दृष्टि लौकिक अर्थ में घटित नहीं होती। यहाँ रोमांस यदि है तो आध्यात्मिक प्रकार का है।" वस्तुतः नायक शब्द को पुल्लिंगवाची मानने के कारण मिट्टी को नायिका मान लिया जाता है, तो नायक की खोज आरम्भ होती है। कहीं कुम्भकार को नायक माना जाता है, तो कहीं माटी से निर्मित कलश के जल से जिन गुरुचरणारविन्दों का अभिषेक होना है, उन सद्गुरु को नायक घोषित कर दिया जाता है। हमें इस कृति के नायक की तलाश के लिए नायक की कसौटी पर ध्यान देना होगा।

'नाट्यशास्त्र' के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने अपने ग्रन्थ में लक्षणों की विस्तृत विवेचना की है। 'दशरूपक'कार धनंजय ने नायक का विनीत, शूरवीर, नेता, लोकप्रिय, स्थिर, युवा, उत्साही, कलाप्रिय, दृढ़प्रतिज्ञ तथा साहसी होना अनिवार्य माना है। भाषायी निष्पत्ति के आधार पर नायक शब्द संस्कृत भाषा की 'नी' धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ ले जाना होता है। अर्थात् नाटक की कथा के विभिन्न सूत्रों की एक शृंखला में आबद्ध करके अन्तिम लक्ष्य तक ले जाने वाला नायक कहलाता है। उपर्युक्त बातों के प्रकाश में मुख्य नायक के लिए यह आवश्यक है कि वह :

(१) कथा की केन्द्रीय धुरी हो अर्थात् मुख्य पात्र हो।

(२) अथ (कथारम्भ) से इति (कथा समापन) तक उसकी उपस्थिति हो।

(३) रस निष्पत्ति का मुख्य कारक हो।

(४) समस्त प्रासंगिक कथाओं का सूत्र संचालक हो।

धीरोदात्त आदि गुणों की चर्चा यहाँ हमारा अभिप्रेत नहीं है। इन तत्त्वों के प्रकाश में सहज स्पष्ट है कि वह माटी ही एक ऐसा चरित्र है, जो समूची काव्यकृति का केन्द्र बिन्दु है, और कृति का नामकरण भी उसके नाम पर ही हुआ है। कुम्भकार का प्रसंग हो या रस्सी, काँटे की बात हो या कंकड़ की – सारे प्रसंग माटी के कारण ही उपस्थित होते हैं। श्री फणीश्वर नाथ रेणु ने जब 'मैला आँचल' उपन्यास लिखकर उसकी भूमिका में लिखा है : "यह है, आँचलिक उपन्यास। इसमें धूल भी है, गुलाल भी, फूल भी हैं, शूल भी...।" तो समीक्षक उस आँचलिक उपन्यास में नायक तलाश करने लगे और अपना सिर धुनने लगे। डॉ. प्रशान्त को नायक माना जाने लगा तो नायक की कसौटी पर वह खरे नहीं उतरे। समीक्षकों के सम्मुख समस्या खड़ी हुई। बाद में निर्धारित किया गया कि इस रचना का नायक कोई व्यक्ति नहीं, समूचा परिवेश है। तब से अँचल को नायक मानने की बात सिद्ध हुई और आँचलिक उपन्यासों की नूतन धारा का श्री-गणेश हुआ। हमारे कहने का अभिप्राय मात्र इतना है, कि जब कृतिकार का पौरुष, उसका रचना सामर्थ्य इतना बढ़ा-चढ़ा होता है कि हमारी परम्परागत सोच के ढाँचे छोटे पड़ जाते हैं, तब समीक्षा के नए निकष बनते हैं, कोई निराला, कोई रेणु या कोई विद्यासागर जैसा रचनाकार अपनी अपरिमित प्राण ऊर्जा से शास्त्रीयता के बने बनाए साँचों को तोड़ डालता है; किंवा उसे छोटा कर देता है तो उस बौनेपन से नया शास्त्र जन्म लेता है; जिसमें मूकमाटी को नायक का पद देना समीक्षा की विवशता होती है, अनिवार्यता होती है। इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में 'माटी' ही इस सूचना का नायक

सिद्ध होती है।

स्पष्ट है कि 'मूकमाटी' को महाकाव्य के परम्परागत सूत्रों के सहारे विवेचित नहीं किया जा सकता। परिमाण की दृष्टि से नहीं, उसके सन्देश की दृष्टि से, रचना के परिणाम की दृष्टि से और रचना में समाहित कवि के उदात्त चिन्तन की दृष्टि से इस पर विचार किया जाना चाहिए।

चार सर्गों में समाहित माटी की करुण कर्मकथा का कथ्य

रचनाकार ने माटी की महाकाव्यात्मकता को चार सर्गों में वर्गीकृत किया है जिन्हें क्रमशः 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' जैसे नामों से सुशोभित किया गया है। प्रथम सर्ग में माटी का माँ सरिता से संवाद, कुम्भकार से माटी का संसर्ग, काँटे के माथे पर कुदाली की चोट, उसका कुम्भकार से प्रतिकार का भाव, माटी की करुण कथा से कुम्भकार का द्रवीभूत होना, खुरदुरी बोरी में माटी का भरा जाना, गदहे की पीठ पर लदना, रगड़ से घाव में मिट्टी का लेप, उपाश्रम परिसर में माटी का संस्कार, परिष्कार, वर्ण संकरी कंकर का संवाद, बाल्टी, रस्सी कुएँ का प्रसंग और मछली का प्रसंग समाहित है।

द्वितीय सर्ग कुम्भकार की दशा, काँटे को उपदेश, शूल-फूल की चर्चा, साहित्य की व्याख्या, आस्था से संस्था तक की विचार यात्रा, माटी का गूँथना, नव रसों की परिभाषा, चाक पर मिट्टी के लोंदे का चढ़ाव, घट निर्माण, उस पर की गई चित्रकारी आदि के वर्णन से भरा पड़ा है।

तृतीय सर्ग में कवि माटी की विकास यात्रा के ब्याज से पुण्य कर्म के सम्पादन से उद्भूत श्रेयष्कारी उपलब्धियों को चित्रित करता है और पाप-पुण्य का विवेचन करता है। धरती के सर्वसह्य रूप, वेणु (बाँस) की कथा, चन्द्रमा की ईर्ष्या, सागर का कपट, तीन बदलियों की कथा, प्रभा और उसके पति प्रभाकर की कथा, जनता की आकांक्षाएँ और राजमण्डली से मोह भंग, कुम्भ-राजा संवाद, बादल-सूर्य-सागर-संवाद, वर्षा वर्णन और कुम्भकार की दशा आदि का वर्णन है।

चतुर्थ सर्ग में अनेक कथाएँ समाहित हैं। कुम्भ का आँवे में पकाना, बबूल द्वारा लकड़ियों की अन्तर्वेदना का गान, कुम्भ का पकना, सेठ के घर आना, कलश रूप में घट स्थापना, आहारदान की प्रक्रिया, स्वर्ण कलश की ईर्ष्या, सेठ की रुग्ण दशा, स्वर्ण कलश का आतंकवाद और सन्त साधु का प्रसंग आदि की अवतारणा की गई है।

इस प्रकार चार सर्गों और ४८८ पृष्ठों में विस्तीर्ण माटी की यह कथा विषय वस्तु और वर्णन शिल्प दोनों दृष्टियों से महाकाव्य के क्षेत्र में एक नवीन उद्भावना है। 'मूकमाटी' में प्रकृति अपने सम्पूर्ण परिवेश के साथ साकार हो उठी है। प्रकृति स्वयं शान्तिस्वरूपा है, अतः काव्य का मुख्य रस शान्त होना स्वाभाविक है। अन्य कवियों की तरह महाकाव्यकार की चेतना शृंगार में नहीं रमती, उसके भीतर करुणा का एक अजस्र झरना प्रवाहित होता रहता है। कवि कल्पनाएँ तो करता है पर उसकी कल्पनाएँ रोमानी नहीं हैं, वह स्वप्नद्रष्टा तो है पर स्वप्निल संसार का मायाजाल नहीं रचता; वह पलायनवादी नहीं, पावनवादी जीवनदृष्टि का पोषक है। यही कारण है कि कवि की दृष्टि रागी नहीं, वीतरागी बनी रहती है। कवि यथार्थवादी है, पर यथास्थितिवादी नहीं। यथार्थ के व्यामोह में वह न तो अपनी आस्थाओं से डिगता है, न आस्तिकता से विरत होता है। श्रद्धा और विश्वास उसके सम्बल हैं जिसकी पूँजी के सहारे वह अपनी काव्यमय विचार यात्रा तय करता है।

अद्भुत शब्द-शिल्प का चमत्कारी कला-कौशल

'मूकमाटी' का कवि भावानुभूति के स्तर पर जितना प्रौढ़ है, उतनी ही सशक्त है उसकी अभिव्यक्ति।

वस्तुत: अनुभूति और अभिव्यक्ति के समुचित परिपाक से ही रचना प्रभावी बनती है। 'क्रौंचे' जब अभिव्यंजना पर बल देता है, तो वह इसी की ओर इशारा करता है और यही वह तत्त्व है जिसे भारतीय काव्यशास्त्र अलंकार और अलंकार्य का अभेदत्व मानता है। भाषा की पालकी में भाव ढुलते हैं, किन्तु पालकी भी तो बैठने वाले की हैसियत का बखान करती है। छायावादी कविता, हालावादी कविता और राष्ट्रीय भावधारा की कविता का आस्वादन और अन्तर हम उसकी भाषाई शक्ति सम्पदा द्वारा ही कर पाते हैं। 'मूकमाटी' का कवि वीतरागी, मनश्चेतना सम्पन्न आध्यात्मिक विचार चिन्तना से अनुप्राणित है, तो उसकी शब्दावली में वैसा शुभ्र वातावरण निर्माण करने की ताकत होगी ही। कवि की भाषा दीपज्योति की तरह प्रकाशवान्, आलोकवान् दृष्टिगोचर होगी ही।

आचार्य विद्यासागर का शब्द-शिल्प निराला है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कबीर को वाणी का डिक्टेटर कहा था और माना था कि कबीर में वह भाषाई सामर्थ्य है कि वह भाषा को सीधे नहीं तो दरेरा देकर चला लेते हैं। 'मूकमाटी' के कवि में शब्दों को अपने भावों के अनुरूप ढालकर, उसे तोड़कर, मरोड़कर, फोड़कर जैसा चाहे, वैसा अर्थ निकाल लेने का बुद्धि कौशल है, भाषाई शक्ति है। गधा को गदहा भी कहा जाता है, जिसका अर्थ एक चौपाए जानवर से लिया जाता है, किन्तु कवि उसे गद+हा के रूप में विभक्त करता है और 'गद' याने रोग तथा 'हा' याने हारक अर्थात् रोग का हारक बनने की अभिलाषा से भर देता है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ।" (पृ. ४०)

इसी तरह :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)

या

"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?
किस वलय में से आ/किस वलय में क्रीत जाते हैं।" (पृ. १४१)

अथवा

"इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी--/'न अरि' नारी···/अथवा
ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।"(पृ. २०२)

इन जैसे चमत्कारिक शाब्दिक खेल भरे पड़े हैं।

कवि ने लोक जीवन से अपनी भाषा का शृंगार किया है, अत: जन-जीवन में प्रचलित कहावतें, मुहावरे, लोकोक्तियाँ और सूक्तियाँ काव्य में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। *'पूत का लक्षण पालने में' (पृ. १४), 'दाल नहीं गलना' (पृ. १३४), 'मुँह में राम/बगल में छुरी' (पृ. ७२)* के साथ *'आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का/कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का' (पृ. १३५), 'आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव !'/तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!' (पृ. १३३)* जैसे लोक प्रचलित जुमले भी पाए जाते हैं। *'बायें हिरण/दायें जाय--/लंका जीत/राम घर आय' (पृ. २५)* जैसी सुगन सूचक उक्तियाँ भी पाई जाती हैं।

प्रकृति और उसका परिवेश रचना की पृष्ठभूमि में है। अत: प्रकृति चित्रण की भरमार है। सूर्योदय का यह चित्र कवि की कोमल कल्पना ही नहीं, उसकी कोमलकान्त पदावली का भी द्योतक है :

''प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और
सिन्दूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा—/भाई है, भाई···
लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपने पराग को—/सराग मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।'' (पृ. १-२)

इसमें बसन्त आदि ऋतुओं के चित्रण तो हैं किन्तु अन्य कवियों की तरह बसन्त यहाँ काम का सन्देश वाहक बनकर नहीं आता।

प्रतीक चयन की दृष्टि से 'मूकमाटी' का सौन्दर्य अनुपम है। कवि ने भले ही परम्परागत प्रतीकों का चयन किया हो किन्तु उन्हें नई अर्थवत्ता प्रदान की है। रस्सी को रस-सी कहकर या बाल्टी, मछली, घट, गदहा आदि को नए अर्थ प्रदान कर कवि ने इन प्रतीकों को आध्यात्मिक अर्थों में ढाला है और सामाजिकता से भर दिया है। संवेदना के धरातल पर यह प्रतीक अपना सविशेष अर्थ रखते हैं। कवि का बिम्ब विधान अनूठा है तो रूपकों की दृष्टि से समूचा कारण ही एक रूपक बनाकर प्रस्तुत किया गया है। माटी की कथा रूपक कवि के काव्य कौशल का अद्‌भुत चमत्कार बनकर हमारे सम्मुख आता है। इस प्रकार कवि अपने भाषाई सामर्थ्य से 'मूकमाटी' के शब्द विन्यास को नई अर्थवत्ता प्रदान करता है। यह उसकी प्रातिभ मेधा का ही चमत्कार है कि शृंगारहीन होने, कवि की ऐकान्तिक प्रेम अनुभूतियों की शून्यता होने तथा दर्शन की कंकरीली-पथरीली कठोर चट्टानों की उपस्थिति के बाद भी कवि सरस काव्य सरिता का कल्लोल प्रवाहित कर पाता है। उपदेशात्मक बोझिलता के बाद भी काव्य में शुष्कता या नीरसता नहीं आती, कथा प्रवाह बना रहता है और इस प्रवाह के प्रति औत्सुक्य का पाठकीय भाव भी।

सम-सामयिक जीवन दृष्टि

'मूकमाटी' का रचनाकार अपने तमाम सैद्धान्तिक आग्रहों के बाद अपनी दृढ़ दार्शनिक मान्यताओं के प्रति अटूट आस्थाओं के साथ अपने युग और उसकी समस्याओं के प्रति जागरूक है, संवेदनशील है। उसकी रचना के मूल में है - सम्यक् दृष्टि, जिसके फलस्वरूप काव्य के अनेक आयाम हैं। जिसके एक छोर पर दर्शन है तो एक छोर पर अध्यात्म, एक छोर पर यथार्थ है तो एक छोर आदर्श का है, एक छोर पर कलात्मक सच्चाइयाँ हैं तो एक पर अभिव्यंजना। कवि सम्यक् ज्ञानी है, अतः अपने युग चरित्र को कैसे विस्मृत कर सकता है ? धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष वाली पुरुषार्थ चतुष्टय की अवधारणा में अर्थ और काम की सर्वोपरिता कवि से छिपी नहीं है। साधु होकर भी उसे इसी संसार में विचरण करना पड़ता है, अतः माटी के पुतलों के अन्दर चलने वाले क्रिया-व्यापारों और (मूक होने पर भी) उनकी आकांक्षाओं को वह खूब पहचानता है। कामातुरों को फटकारते हुए जहाँ कवि ''कम-बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं'' (पृ. ९२) कहता है तो वहीं तथाकथित समाजवादी प्रेमियों की खबर लेते हुए भी कहता है :

''प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।'' (पृ. ४६१)

समाज में बढ़ते अपराधों और उसके कारणों की पहचान भी कवि को है। इसी कारण कवि समाज के लोगों को सचेत करते हुए कहता है :

''अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो

अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,
धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।'' (पृ. ४६७-४६८)

कभी रामचन्द्र शुक्ल ने इन मोटी तोंदवाले धन-कुबेरों की खबर लेते हुए लिखा था : ''अरे मोटे आदमियो ! तुम थोड़ा-सा दुबले हो जाते - अपने अंदेशों से ही सही तो जाने कितनी सूखी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।'' इसी तर्ज पर आचार्य विद्यासागरजी धनिकों की तथाकथित उदारता का उपहास करते हुए लिखते हैं :

''अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से
कुछ मिल भी जाय/वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल में प्यास दुगनी हो उठती है।'' (पृ. ३८५)

विश्व में बढ़ते आतंकवाद और उससे कराहती पीड़ित-जूझती मानवता को लक्ष्य कर कवि कहता है :

''जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,/ये कान अब
आतंक का नाम सुन नहीं सकते,/यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका/यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।'' (पृ. ४४१)

आतंकवाद को कवि जड़ से मिटा देना चाहता है किन्तु आतंकवाद क्यों पैदा होता है, इसका संकेत भी वह करता है। माटी के कलश की महत्ता स्वर्ण कलश को सह्य नहीं, अत: स्वर्ण कलश आतंक की सृष्टि करता है। इस उदाहरण द्वारा मानों कवि माटी से पावन भारत और धनकुबेर अमेरिका आदि राष्ट्रों की बिना कहे तुलना कर देता है। काँटे का क्रोध और बदले की कामना, रस्सी को रस-सी बनने का उपदेश एवं शुष्कता से बचने का सन्देश, और मछली, बाल्टी, कुआँ, कंकर आदि के उदाहरणों द्वारा कवि आज के मानव के अन्दर पनपने वाली क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अहंकार आदि विकारकारी वृत्तियों पर निशाना साधता है। इस प्रकार कवि अपने सामाजिक परिवेश के प्रति उदासीन नहीं होता, उसे सामाजिक जागृति के अपने दायित्व का बोध है। कवि नारी के कमनीय रूप को संसार के लिए बन्धन मानकर जहाँ अपनी कविता में दारा को सर्पिणी आदि तक कह देता है, वहाँ नारी के गरिमामय उदात्त रूप का प्रशंसक भी है। वह नारी के विविध नामों की अद्भुत व्याख्या करता है, यथा–कुमारी= '' 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देनी वाली···/इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।'' (पृ. २०४); स्त्री= '' 'स्' यानी सम-शील, संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं, धर्म, अर्थ काम–पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो···स्त्री कहलाती है।''(पृ. २०५); दुहिता =''दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है/अपना हित स्वयं ही कर लेती है/पतित से पतित पति का जीवन भी/हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।''(पृ. २०५)। इसी तरह अबला और सुता आदि के अर्थ भी किए गए हैं। परम्परागत प्रचलित अर्थों से भिन्न ये अर्थ कवि के उन भावों के परिचायक हैं जो नारी के प्रति समाज की परिवर्तित सोच के प्रमाण हैं। कवि नारी को मुक्ति के मार्ग में बाधा, ताड़न का अधिकारी या अशोच्या नहीं मानता, उसमें महत् तत्त्व की तलाश करता है। अस्तु।

समीक्षा की प्रणाली के अनुरूप काव्य में निहित दोषों को भी तलाशा जा सकता है। लम्बे-लम्बे उबाऊ

उपदेश, जिनके लिए कवि को स्वयं यह कहना पड़ा कि "अब ! प्रासंगिक कार्य आगे बढ़ता है," थका देते हैं। संख्याओं का चमत्कारिक खेल, शब्दों को उलट-पलट कर विलोम या विपर्यय द्वारा नए अर्थों की तलाश कहीं शाब्दिक खिलवाड के प्रति अरुचि पैदा करते हैं। भाषिक संरचना में व्याकरणिक दोषों का दर्शन भी आलोचक कर सकते हैं, किन्तु हम पूर्व में निवेदन कर चुके हैं कि परिमाण की दृष्टि से नहीं, परिणाम की दृष्टि से कृति अपना मूल्यांकन चाहती है, जिस कारण दूषण भी भूषण बन जाते हैं। काव्य दोष, रोष का विषय नहीं अपितु सन्तोष की बात बन जाते हैं, क्योंकि इसके पीछे रचनाकार का मूल स्वर क्या है ? हाँ, खटकने वाली बात इतनी है कि ग्रन्थ के आरम्भ में कवि हिन्दू धर्म-दर्शन की आलोचना इसलिए करता है कि किसी ने जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहा है। अपनी भूमिका में रचनाकार हिन्दू-दर्शन की अवतारवादी भावना और ब्रह्मा को स्रष्टा मानने का खण्डन करता है किन्तु कवि की मान्यता है कि माटी स्वयं कलश नहीं बन जाती, उसका आत्म-परिष्कार करना होता है, उसे तपना होता है और आकार लेना पड़ता है। यह सारे कार्य अनायास नहीं होते, इसका कर्ता कुम्भकार होता है। इसी कुम्भकार को (हिन्दू दर्शन के अनुरूप) स्रष्टा, रचनाकार या ब्रह्मा आदि किसी भी संज्ञा से संज्ञित किया जा सकता है। इस प्रकार कुम्भकार की उद्भावना द्वारा कवि स्वयं सृष्टिकर्ता के अस्तित्व को स्वीकार कर लेता है। इसी तरह अपनी रचना में जगह-जगह वह राम-रावण, कृष्ण आदि पौराणिक पात्रों, तत्सम्बन्धी मुहावरों, कहावतों का उल्लेख कर अपनी उदारता का भी परिचय देता है। कवि अपनी रचना का स्वयं ब्रह्मा होता है। अतः उसकी दृष्टि विराट् होती है, जिसमें संकीर्णता को कोई स्थान नहीं मिलता। 'मूकमाटी' का रचनाकार कोरा कवि नहीं है, अपितु तपःपूत के रूप में उसकी ख्याति जग-विख्यात है, जिनके लिए अपार लोकश्रद्धा समर्पित है। आचार्यश्री किसी मत या सम्प्रदाय विशेष के साधु नहीं रहे, अब वह मानव महासागर की एक ऐसी अमूल्य निधि बन गए हैं, जिन पर सबका हक है और जो सबके प्रिय हैं। अतः किसी मत या वाद की निन्दा द्वारा किसी मत की पुष्टि समादरणीय नहीं कही जा सकती। सन्त की समता और सम्यक् भाव में सारा संसार समाया है, फिर क्या अपना - क्या पराया ?

सम्प्रति, कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' नामक काव्य कृति वैराग्य शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर महाराज की ज्ञान-साधना से तपकर निकला वह कुन्दन है, जो जन आकर्षण का ही नहीं, जन श्रद्धा का केन्द्र बन गया है। कवि की चिन्तनशीलता, ज्ञानगरिमा, भाव प्रवणता, अपार करुणा, सम्यक् दृष्टि और अपने समय तथा समाज की सच्चाइयों के प्रति यथार्थ सोच के साथ ही संसार के लौकिक एवं पारमार्थिक कल्याण की कामना ने इस कृति को एक महनीय रचना के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। प्रस्तुत रचना अपनी शक्ति और सीमा भर जन-मन का कल्याण कर समाज की सोच को एक रचनात्मक नई दिशा प्रदान करेगी तथा जनता में आदर का केन्द्र बनेगी - द्विधा रहित हो, यह सहज विश्वास किया जा सकता है।

□

'मूकमाटी' : मानवीय मूल्यों की पहचान

प्रो. (डॉ.) उमा मिश्र

यह काव्य तप:पूत सन्त कवि विद्यासागर द्वारा विरचित काव्य है। इस काव्य को कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है। काव्य के ये चार अध्याय कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं : प्रथम खण्ड – 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; द्वितीय खण्ड – 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; तृतीय खण्ड–'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'; चतुर्थ खण्ड – 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

पहला खण्ड माटी की प्राथमिक अवस्था का चित्रण करता है। माटी को शुद्ध करने की प्रक्रिया यहाँ शुरू होती है। माटी प्रथमत: संकरित होती है। वह पिण्ड रूप में कंकड़ों से मिली हुई प्राथमिक दशा का परिचय देती है। यहाँ कुम्भकार की कल्पना कार्य करती है। माटी को मंगल घट का रूप देने के लिए कुम्भकार को उसे परिष्कृत करना होता है और एक लम्बी प्रक्रिया के माध्यम से उसे परिपक्व करना होता है। इन परिस्थितियों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण रचनाकार ने किया है। कुम्भकार की कल्पना रचनाकार की कल्पना है। संकरमय माटी को रचनात्मक और सार्थक रूप देने के लिए सन्त कवि की सार्थक दृष्टि परिलक्षित होती है। वर्णलाभ देकर उसे सार्थकता प्रदान करना और मंगल घट के रूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया रचनाकार की अभिव्यंजनात्मक शैली का परिचय देती है। रचनाकार कुम्भकार की सार्थकता इसी में है कि माटी से कंकड़ों को निकालकर मौलिक रूप प्रदान करे। शुद्ध माटी ही शुद्ध मंगल घट का रूप ग्रहण कर सकती है। कुम्भकार को माटी को मंगल घट का रूप देने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। बेमेल माटी को शुद्ध और सुडौल रूप देना पड़ता है, तभी माटी घट का रूप प्राप्त कर पाती है। रचनाकार ने यह कहना चाहा है कि तुच्छ माटी को स्वच्छ रूप देने के लिए कुम्भकार को कितना तपना होता है। अग्निरूपी तप में तपकर यह परिपक्व कंचन रूप धारण कर पाता है। कृती की कृति उसके रचना कौशल का ही परिणाम होती है। यही कवि का उद्देश्य है।

''स्वयं शिल्पी/चालनी का चालक है।/वह/अपनी दयावती आँखों से
नीचे उतरी/निरी माटी का/दरश करता है/भाव-सहित हो।
शुभ हाथों से/खरी माटी का/परस करता है/चाव-सहित हो।
और/तन से, मन से/हरष करता है/घाव-रहित हो।/अनायास फिर
वचन-विलास होता है/उसके मुख से, कि/''ऋजुता की यह
परम दशा है/और/मृदुता की यह/चरम यशा है/···धन्य!''
माटी का संशोधन हुआ,/माटी को सम्बोधन हुआ।'' (पृ. ४४-४५)

मृदु माटी से कुम्भकार का शिल्प निखर उठता है। शिल्पी कुम्भकार मृदु माटी को संशोधित रूप प्रदान कर उसे मृदुता के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा देता है। माटी की भव्यता उसकी मृदुता है। कुम्भकार माटी को जो शालीनता और वैभव देता है, वही उसका सृजन है। मृदु शब्दों में शिल्पी कह उठता है :

''मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है
और/खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।'' (पृ. ४५)

शिल्पी ने संकर दोष का वारण करके कंकर कोष को हटा दिया। शिल्पी ने कंकरों को उनकी अस्थिरता का बोध

कराया। माटी स्वयं कंकरों को अपनी स्थिति का आभास देती है। माटी की शालीनता स्वयम् सिद्ध है :

"माटी की शालीनता/कुछ देशना देती-सी···!/"महासत्ता-माँ की गवेषणा
समीचीना एषणा/और/संकीर्ण-सत्ता की विरेचना/अवश्य करनी है तुम्हें !
अर्थ यह हुआ—/लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही
शुभ का सृजन है।/अपार सागर का पार/पा जाती है नाव/हो उसमें
छेद का अभाव भर !" (पृ. ५१)

इस खण्ड में मछली का प्रसंग भी वर्णित है। मछली माटी से अलग होकर कुछ प्रश्न करती है, जिसको उसकी माँ 'माटी' समझाती है। माँ कहती है :

"समझने का प्रयास करो, बेटा !/सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं
भीतरी घटना है वह/सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् माननेवाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

माटी माँ अपनी पुत्री मछली को सारी परिस्थितियाँ समझाती है और विषयों की लहरों से बचकर रहने का उपदेश देती है। वह कहती है :

"यही कहना है बेटा !/कि/अपने जीवन-काल में/छली मछलियों-से
छली नहीं बनना/विषयों की लहरों में/भूल कर भी
मत चली बनना/और सुनो, बेटा/मासूम मछली रहना,
यही समाधि की जनी है।" (पृ. ८७-८८)

इस खण्ड का समापन 'दयाविसुद्धो धम्मो' की ध्वनि गूँजने के साथ होता है।

इस पूरे खण्ड में रचनाकार ने माटी की रचना प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी पक्षों का उद्घाटन किया है। शिल्पी कुम्भकार माटी के सारे दोषों का निवारण कर उसे शालीन रूप देता है। माटी की शालीनता में उसके शुद्धीकरण की प्रक्रिया आच्छन्न है। अन्तरकथा के रूप में कंकर की, और मछली के प्रसंग को जल के साथ वर्णित करना कवि की विशेष दृष्टि है। इस प्रक्रिया में कवि ने अपने दर्शन और चिन्तन को आधार बनाया है, जिससे वर्णन में गाम्भीर्य और भव्यता आई है। कवि की अन्तर्भेदी दृष्टि माटी को वर्णलाभ दिलाने में सार्थक प्रतीत होती है। सराहनीय यह बात है कि चिन्तनपरक दार्शनिक दृष्टि होते हुए भी काव्य की सहजता और सरलता पर कोई आँच नहीं आई है। माटी को वर्णलाभ देने तक कवि की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट और सुलझी हुई दिखाई देती है। भावाभिव्यंजना सरल और सम्प्रेषणीय है। पाठक को माटी की इस यात्रा से एक दृष्टि मिलती है और यह चेतना ही मनुष्य की अपनी थाती है।

दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' शीर्षक से अभिहित है। इस खण्ड में स्पष्ट रूप से शब्द के बोध को स्पष्ट करते हुए कवि ने बोध से शोध तक की यात्रा तय की है। मूकमाटी की यात्रा का अगला चरण प्रारम्भ होता है। जल माटी के साथ मिल कर के नव प्राण पाता है। माटी ज्ञान का और पानी अज्ञान का प्रतीक है। माटी चिर और स्थिरप्रज्ञ है तथा जल अस्थिर, चंचल, अचिर। ज्ञानी माटी से मिलकर अज्ञानी जल ने प्राणवत्ता पाई है। अस्थिर तथा अचिर को स्थिरता और चिरता मिली है। यही उसका नया कायाकल्प है, नूतन परिवर्तन है। कवि अपनी दर्शन-

परक दृष्टि का परिचय देते हुए चेतना के चिरन्तन नर्तन की बात कहता है :

"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली/नव-नूतन परिवर्तन···!
तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है यह/वह कौन-सी आँखें हैं
किस की, कहाँ हैं/जिन्हें सम्भव है/इस नर्तन का दर्शन यह ?" (पृ. ८९-९०)

इस दूसरे खण्ड में कवि ने अनेक चरणों तथा आयामों में अपना मन्तव्य अंकित किया है। पूरे काव्य में कवि ने प्रकृति की छवि का भी चित्रण किया है। प्रकृति का परिवेश किस प्रकार वातावरण को प्रभावित करता है, ऋतुएँ प्रकृति में क्या परिवर्तन लाती हैं, आदि तथ्यों का चित्रण कवि ने बड़े मनोयोग से किया है। बीच-बीच में माटी और शिल्पी के बीच वार्तालाप होता रहता है। इस कथोपकथन से कथा का प्रसंग तो आगे बढ़ता ही है, साथ ही कथ्य और तथ्य दोनों स्पष्ट होते हैं तथा पाठक को काव्य की मूल चेतना को समझने में सरलता होती है। कवि ने अपनी दार्शनिक और चिन्तनमय दृष्टि का परिचय दिया है। माटी का सम्बोधन कितना चिन्तनमय और दर्शनमय है :

"अरे सुनो !/कुम्भकार का स्वभाव-शील/कहाँ ज्ञात है तुम्हें ?
जो अपार अपरम्पार/क्षमा-सागर के उस पार को/पा चुका है
क्षमा की मूर्ति/क्षमा का अवतार है वह।" (पृ. १०५)

इस खण्ड में शृंगार, वीर आदि नव रसों की व्याख्या तथा आकलन किया गया है। शृंगार और वीर आदि रसों की मौलिक व्याख्या भी मिलती है। माटी की यात्रा-व्याख्या में गणितीय संयोग भी कवि ने किया है, जो मौलिक अवधारणा है। शब्दों का मार्जन-परिष्करण इस खण्ड में अधिक दिखाई देता है। बोध जब आचरण में उतर जाता है तब शोध का रूप धारण कर लेता है, इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या कवि ने अपनी लेखनी से की है। इस खण्ड में तप:पूत कवि ने तपस्या के प्रभुत्व को भी स्थापित किया है। कंचन तपकर ही कुन्दन बन जाता है। बिना तपस्या के परिष्कार सम्भव नहीं और बिना परिष्कार तथा मार्जन के सार्थकता प्राप्त नहीं हो सकती। कवि कहता है :

"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता/और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,/उदय हो नहीं सकता
तप के अभाव में ही/तपता रहा है अन्तर्मन यह
अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प-कालों से।" (पृ. १७६)

अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प कालों से, माटी की कथा अब तीसरे चरण में पहुँचती है। कवि ने इस खण्ड का शीर्षक 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' दिया है। कवि ने माटी की इस विकास-कथा को अर्जन तथा उपलब्धि के धरातल पर चित्रांकित किया है। शीर्षक की स्पष्ट अभिव्यक्ति है कि पुण्य के पालन से ही पाप का प्रक्षालन होता है। प्रकृति का नियम है कि महासागर के जल से मेघ का सृजन होता है। मेघ जल मुक्ताओं का सृजन करता है। जल ही मुक्ता और मुक्ता ही जल है। इन्हीं मुक्ताओं का वर्षण कुम्भकार के प्रांगण में होता है। वसुधा इन मुक्ताओं को पाकर सार्थक हो जाती है, लहलहा जाती है, शस्य-श्यामला बन जाती है। इन्हीं मुक्ताओं के प्राप्त करने का अधिकार उस कुम्भकार को है जिसने एक लम्बी साधना और तपस्या के बाद संकर वर्ण माटी को शुद्ध रूप देकर मंगल घट का रूप

दिया है। जो साधनाहीन, तपस्याहीन प्रभुत्व है, वह मुक्ताओं को बटोर लेना चाहता है। उसे यह नहीं मालूम कि पुरुषार्थ के बिना, तपस्या और साधना के बिना मुक्ताओं को प्राप्त करना अधर्म है, पाप है। जो साधना में जलता है, उसे जल और ज्वलन में अन्तर अनुभव नहीं होता। वही इस मुक्ता को प्राप्त करने का अधिकारी है। कुम्भ की तपस्या स्वयम् बोल उठती है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

लोकहित साधक शीतलता और ज्वाला में अन्तर अनुभव नहीं करता है। निरन्तर साधना से शेष, अशेष हो जाता है, भेद से अभेद हो जाता है। साधक कवि की अन्तर्भेदी दृष्टि ने इस खण्ड को अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। माटी को निर्मल दृष्टि और सुदृढ़ आस्था का आधार मिला है। कवि की आस्था ही रचना को परिपक्वता देती है। साधना की अग्नि ही कंचन मन को परिपक्वता देती है। परिपक्व साधना ही लोक मंगल करती है। लोक मंगल ही जीवन का अभीष्ट है। लोक मंगल की ओर मनुष्य को प्रेरित करना ही सन्त कवि का चरम लक्ष्य है। प्रकृति का चिरनूतन प्रसंग सदैव काव्य के साथ प्रवाहित होता है जिससे कविता में सौन्दर्य बढ़ जाता है। इस खण्ड की भाषा बड़ी परिष्कृत तथा प्रांजल है और भावाभिव्यंजना बड़ी सशक्त है।

इस काव्य का चौथा और अन्तिम खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक से अभिहित है। इस खण्ड का कथा-फलक बहुत विस्तृत और व्यापक है। अन्तर प्रसंग भी अधिक हैं। एक लम्बी यात्रा और साधना के बाद इस सोपान पर आकर, अपरिपक्व कुम्भ पककर मंगल घट का रूप धारण करता है। जब तक कुम्भ पक नहीं जाता है तब तक कुम्भकार अपनी तपस्या और साधना में सतत लीन रहता है। अग्नि में प्रवेश दिलाकर कुम्भकार उसे सतत जलते रहने देना चाहता है। चाँदी-सी राख मंगल घट की शुभ्रता, शुद्धता और परिपक्वता की द्योतक है। कुम्भकार की कला और उसकी साधना घट को मंगलमय बनाती है, जिसमें जलरूपी मुक्ता भरे जाएँगे और वह लोकहित में संसार की तृषा को तृप्त करेगा। कवि का यह कहना नि:सन्देह अनुभवगम्य है कि अपने को जलाना ही शुद्धता का परिचायक है। वही दूसरे के दोषों को भी जला सकता है जो जलकर स्वयम् परिष्कृत, सुसंस्कृत एवं सन्त प्रकृति का हो गया हो। अग्नि में सतत जलना, तपना ही कुम्भ का जीवन धर्म है। कुम्भकार स्वयम् अपने कौशल से, अपनी तपस्या से कुम्भ को कंचन रूप देकर उसके स्वागत के लिए तैयार होता है। कृति और कृती दोनों धन्य हो जाते हैं। कुम्भकार सोल्लास चाँदी-सी राख को फावड़े से हटाकर तपे हुए कुम्भ को बाहर निकालता है। कुम्भकार ने इसे मंगल रूप देने के लिए कितनी कठिन साधना की है। आज कुम्भकार की साधना का ही सुफल है कि मूकमाटी मुखर तथा प्राणवान् हो गई है। वह मंगल गान करती है। आनन्द और मंगल की संरचना ही माटी का अन्तिम लक्ष्य है और कवि जीवन का भी। कितने सोपानों को पार कर माटी ने आज कंचनमय खरा रूप धारण किया है। मूकमाटी को शब्दायमान करने का जो अथक प्रयास सन्त कवि की रचना-तपस्या ने किया है, वह नितान्त स्तुत्य है।

अन्तत: मंगल घट का निर्माण एक हित है। दूसरा हित, जो अपने चर्मोत्कर्ष पर है, वह है प्यास की तृषा को बुझा देना। माटी की शुद्धता की साक्षी तो अग्नि ही है। अग्नि सृजनशील है। वह दोषों का परिहार करती है। कुम्भकार की श्रेष्ठता इसी में सिद्ध होती है कि वह इतनी बड़ी रचना करके भी इतना बड़ा स्रष्टा होकर भी विनम्रता की मुद्रा में

कह उठता है :

''यह सब/ऋषि-सन्तों की कृपा है,/उनकी ही सेवा में रत,
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,/और कुछ नहीं।'' (पृ. ४८४)

कवि मोक्ष की परिभाषा देता हुआ कहता है :

''बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !'' (पृ. ४८६-४८७)

कवि कुम्भकार ने माटी को तो बनाया ही है, साथ ही वही माटी हेममयी हो गई है। हेम आभा से उसका मुख-मण्डल प्रदीप्त हो उठा है। मंगल घट में भरे जल से आज गुरु का पाद-प्रक्षालन हो सकेगा, श्रमण साधना का चरमोत्कर्ष उपस्थित हो सकेगा और परमानन्द, अक्षय सुख का विश्वास जागेगा। मनुष्य की भव्यता, मूल्यदृष्टि इसी में है कि वह भोले-भाले, भूले-भटके, विनीत भाव से भरे हुए, सहज-सरल तथा अकिंचन की सहायता करे। उसे हित-मित-मिष्ट वचनों से आप्लावित कर दे। साधना की सार्थकता वही है जिसे जीवन में उतारा जा सके तथा अपनाया जा सके और जीवन में आश्वस्त बना जा सके। राग में विराग है और विराग में राग। सन्त इन दोनों से ऊपर उठता है। न उसमें राग होता है और न ही विराग। वह तो ऋषि है, गुणातीत है, आर्ष परम्परा का प्रतीक है। उसका प्रसाद आराधक को बड़ी साधना के बाद मिलता है। मुदित मुख गुरु का प्रसाद ही अभय का हाथ है जो भावों से भरा हुआ है, शाश्वत सुख का दाता है। अभय का हाथ उठ जाने पर साधक का परम कल्याण होता है।

आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित यह 'मूकमाटी' काव्य हिन्दी साहित्य की ही नहीं अपितु भारतीय साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। हमें आशा है कि काव्य के आध्यात्मिक चिन्तन और दर्शन की परिचर्चा जहाँ होगी है वहाँ इसका सन्दर्भ अवश्य दिया जाएगा। आध्यात्मिक अन्तश्चेतना को माटी में सान कर यशस्वी सन्त कवि ने मानव समाज तथा सुधी पाठकों के लिए मंगलमय घट का निर्माण किया है। अपने कवि जीवन के अनुभवों के रस से सिंचित कर कवि ने काव्य को भव्यता और सरलता प्रदान की है। कवि का यह सन्देश है कि मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार अपने पुरुषार्थ से ही कर सकता है और उसे अविनश्वर सुख प्राप्त हो सकता है। कवि की लेखिनी ने 'मूकमाटी' को अबाधित जलधारा का रूप दिया है। कविता धाराप्रवाह अबाधित सरिता के रूप में प्रवहमान् है। 'मूकमाटी' में कवि ने सरलता, आध्यात्मिकता, दर्शन एवं चिन्तन तथा प्रेरणादायक अनुभवगम्य स्रोतों से काव्य को कल्पवृक्ष के समान जीवन्त और प्राणवान् बना दिया है। यदि इसे मानव जीवन का कल्पवृक्ष कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह रचना कवि की परिपक्वता का द्योतक है तथा महाकाव्योचित औदात्य को धारण करने वाला एक अभिनय यश-काव्य है। तपःपूत सन्त कवि की काव्य प्रतिभा से सम्पन्न एवं प्रशस्त शैली का काव्य सम्पूर्ण मानव समाज का हित साधक है। इस काव्य की सफलता यह है कि रचनाकार ने अपनी साधना से, कर्मठता और आत्मविश्वास से तुच्छ माटी को भी हेममय कुम्भ बना दिया है। यह नन्हीं काया मूलतः मूकमाटी ही है। रचनाकार इसे सुन्दर पक्व घट का रूप देकर हमें प्रेरणा देता है कि जीवन घट को तपस्या की अग्नि में पकाएँ और भव्य मंगल घट का रूप दें। मनुष्य अपनी साधना से संरचनाकार साधना के माध्यम रूप गुरु को प्रसन्न करे और उसका अविनश्वर प्रसाद ग्रहण करे। कवि-कर्म, दर्शन और अध्यात्म की त्रिवेणी इस काव्य में प्रवाहित हो रही है। इस काव्य सरिता की त्रिवेणी ने इसे पवित्र संगम तीर्थराज का रूप दिया है,

जिसमें अवगाहन कर मन, हृदय और बुद्धि निर्मल हो जाती है। सुन्दर भावाभिव्यंजना, सरस काव्य शैली और सरल भाषा में निबद्ध कर यह अनूठी रचना प्रस्तुत की गई है। दर्शन का सुधारस पिला देने के कारण इस काव्य में पुष्टता, परिपक्वता और सौष्ठव का गुण आया है। इससे काव्य में गुरुता भी आई है। कवि अपने भावों को चित्रवत् अखण्ड रूप में व्यक्त करने में समर्थ है। आस्था, आशा और विश्वास के स्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र कृति में गूँज रहे हैं। माटी जैसी अकिंचन परन्तु मूल्यवान् वस्तु को इतने सुन्दर और भव्य रूप में प्रस्तुत कर देना, और उसकी छिपी हुई मूक वेदना को पहचानकर मुखरित कर देना एवं साकार रूप प्रदान कर देना, रचनाकार की अभूतपूर्व सफलता है। मूकमाटी को एक मंगल घट के रूप में परिवर्तन कर देना कुम्भकार-रचनाकार की सफल साधना है। यह अनवरत, अथक परिश्रम का ही सुफल है। आज के सन्दर्भ में भी यह काव्य अधिक मूल्यवान्, जीवन्त और प्राणवान् सिद्ध होता है। मूकमाटी के समान विश्व में न जाने कितने लोग निरीह, पद दलित और व्यथित हैं। उनकी मूक वेदना को पहचानकर उसे प्राणवान् बना देना बहुत कठिन है। सभी में किसी न किसी रूप में मूकमाटी की-सी वेदना अन्तर्निहित है और गुरु का प्रसाद ग्रहण कर मुक्ति की आकांक्षा सभी करते हैं। मूकमाटी की वेदना और उसे कंचन रूप देने की चेतना विश्व भावना से ओत-प्रोत और परिव्याप्त है। जीवन के उन्नयन, आत्म शुद्धि और दर्शन लाभ में इसकी परिणति हुई है। रचनात्मक और दार्शनिक दृष्टि से विश्व को पहचानने की शक्ति और अन्तर्दृष्टि सन्त-कवि में दिखाई देती है। कवि स्वयं शिल्पी, कुम्भकार एवं रचनाकार है जिसने मानव जीवन की ध्रुव सत्ता को पहचाना है। रचनाकार की साधना की चरम उपलब्धि यह है :

"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं,/मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूक-माटी।" (पृ. ४८८)

यह काव्य मानव जीवन का अध्यात्म चिन्तनपरक काव्य है। महाकाव्योचित औदात्य होने के कारण इसे स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र दृष्टि से महाकाव्य कहा जा सकता है। लगभग पाँच सौ पृष्ठों का यह विशालकाय काव्य मानव जीवन को प्रेरणा देने वाला अनुपम काव्य है। महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर, भले ही यह महाकाव्य के रूप में न स्वीकार्य हो, परन्तु उदात्तता, गरिमा, अन्तर्दृष्टि और अनुभव की गहराई को देखते हुए इसे महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह काव्य मानव जीवन का अनमोल रत्न है। यह महाकाव्य मानवीय मूल्यों की पहचान कराता है तथा यह काव्य मानव जीवन को मंगल रूप भी प्रदान करता है, अतएव नि:सन्देह यह महारचनाकार की श्रेष्ठतम रचना है।

पृष्ठ ४८७
दुग्ध का विकास होता है----
अंतिम कुछ कहता हूँ।

❑

'मूकमाटी' महाकाव्य में वर्णित नारी विषयक अवधारणा : नारी एक - रूप अनेक

डॉ. सरोज गुप्ता

''इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।
यही कारण है कि/इनका सार्थक नाम है 'नारी'।'' (पृ. २०२)

कवि वरेण्य आचार्य विद्यासागरजी ने नारी को प्राचीन मूल्यों एवं उत्तम आदर्शों के अनुरूप नवीन दृष्टिकोण से महिमामण्डित किया है। वह सृष्टि की उत्पादिका, प्रतिपालिका, करुणामयी, सतत मित्र स्वरूपा एवं समस्त सुख राशियों का उद्‌गम है। 'न अरि' के रूप में वह शत्रु नहीं वरन् मित्र है। नारी में सहनशक्ति और धैर्य के अतिरिक्त श्रद्धा का गुण भी विशेष रूप से पाया जाता है। श्री जयशंकर प्रसादजी ने तो नारी को साक्षात् श्रद्धा कहा है -''नारी तुम केवल श्रद्धा हो''। कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने भी नारी को ''एक नहीं दो-दो मात्रायें, नर से भारी नारी'' कहकर नारी को प्रमुखता दी है। प्रो. शीलचन्द्र जैन के शब्दों में : ''नारी एक शक्ति है। वह पुरुष की प्रेरणा और सहचरी है। उसमें सागर जैसी गम्भीरता, आकाश जैसी विशालता और पृथ्वी जैसी क्षमाशीलता समाविष्ट है।'' नारी के मुख्य स्वरूपों में स्त्री, महिला, दुहिता, कन्या या कुमारी, जाया, जननी, अबला, सुता, अंगना एवं प्रकृति आदि हैं। आचार्य विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में नारी के पर्याय शब्दों की अर्थान्वेषण दृष्टि से विशद व्याख्या की है।

आचार्यश्री पद-पद पर पददलित परम्परा से अबला के रूप में प्रतिष्ठित नारी को नया अर्थ, नया भाव, नया बोध देते हुए 'अबला' शब्द को नए ढंग से परिभाषित करते हैं :

''जो अब यानी/'अवगम' – ज्ञानज्योति लाती है,
तिमिर - तामसता मिटाकर/जीवन को जागृत करती है
अबला कहलाती है वह!'' (पृ. २०३)

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने ''अबला जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी'' कहकर जहाँ 'आँचल के दूध' द्वारा नारी हृदय की उदारता, दान, त्याग एवं ममत्व को उद्‌घाटित किया है, वहीं 'आँखों में पानी' द्वारा वियोग-वेदना को प्रकट किया है। भारत में अबला पर परतन्त्रता का बन्धन था। वह पूर्णरूपेण पराधीन रही। विवाहिता की धन सम्पत्ति पर पति का अधिकार हो गया था। नारी की इस स्थिति का वर्णन आचार्यश्री के शब्दों में :

''स्त्री-जाति की कई विशेषताएँ हैं,/जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।
प्रतिपल परतन्त्र हो कर भी/पाप की पालड़ी भारी नहीं पड़ती/पल-भर भी!
इनमें, पाप-भीरुता पलती रहती है/अन्यथा,
स्त्रियों का नाम 'भीरु' क्यों पड़ा?'' (पृ. २०१)

नारी को उसकी शारीरिक, मानसिक तथा सुकोमल संरचना के कारण केवल इने-गिने अधिकार ही दिए गए थे। बचपन में उसे पिता, यौवनावस्था में पति तथा प्रौढ़ावस्था में पुत्र का संरक्षण प्राप्त था। इसीलिए उसे 'भीरु' नाम से सम्बोधित किया गया। परन्तु आचार्यश्री को नारी का 'अबला' वाला कमजोर रूप मान्य नहीं है। वह कहते हैं :

"...जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है/'अबला' कहलाती है वह···!
बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला
समस्या-शून्य-समाधान !/अबला के अभाव में
सबल पुरुष भी निर्बल बनता है/समस्त संसार ही,/फिर,
समस्या-समूह सिद्ध होता है,/इसलिए स्त्रियों का यह
'अबला' नाम सार्थक है।" (पृ. २०३)

आचार्यश्री ने नारी को ज्ञान-ज्योति प्रदीप्त करने वाली, तिमिराच्छादन हटाकर जीवन को उदात्त बनाने वाली, पुरुष चित्त की वृत्तियों को सन्मार्ग पर लाने वाली तथा नारी को समस्या शून्य समाधान के रूप में प्रस्तुत करके 'अबला' नाम को सार्थकता प्रदान की है। प्रेम और पातिव्रत्य के ज्वलन्त आदर्शों की रक्षा करने वाली नारी में पति के लिए त्याग और तपस्या से पूर्ण मंगल-कामना ही उत्पन्न होती है। यही उसका तप, यही उसके हृदय की पावन निधि है तथा यही उसके शील एवं सात्त्विकता की शक्ति है। आचार्यश्री के शब्दों में :

"धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
इन पुरुषार्थों के समय/प्रायः पुरुष ही/पाप का पात्र होता है,
वह पाप, पुण्य में परिवर्तित हो/इसी हेतु स्त्रियाँ/प्रयत्न-शीला रहती हैं सदा।
पुरुष की वासना संयत हो,/और/पुरुष की उपासना संगत हो,
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,/बस, इसी प्रयोजनवश
वह गर्भ धारण करती है।/संग्रह-वृत्ति और अपव्यय-रोग से
पुरुष को बचाती है सदा,/अर्जित-अर्थ का समुचित वितरण करके।
दान-पूजा-सेवा आदिक/सत्-कर्मों को, गृहस्थ धर्मों को/सहयोग दे,
पुरुष से करा कर/धर्म-परम्परा की रक्षा करती है।" (पृ. २०४-२०५)

वास्तव में नारी शील, संयम एवं सौन्दर्य की समन्वित मूर्ति है। शेक्सपियर के शब्दों में : "नारी अपने सौन्दर्य के कारण रूपगर्विता होती है, शील के हेतु अत्यन्त आकर्षण का पात्र बनती है एवं अपनी सौम्यता से अलौकिक दिखलाई देती है।" शील, संयम एवं भव्यता—ये गुण नारी के रक्षक देवता हैं। आचार्यश्री के शब्दों में :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल संयत बनाती है
सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

'स्त्री' शब्द 'स्तै' धातु से बना है। शील, संयम एवं लज्जाशील होने के कारण उसे स्त्री कहा गया है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की प्रतीक नारी त्याग एवं तपस्या का पुंजीभूत स्वरूप है। नारी के मुख्य स्वरूप हैं, कन्या – जिसे कुमारी, सुता एवं दुहिता भी कहते हैं, जाया– पत्नी एवं जननी– माँ। कौमार्य काल में कन्या रूप शक्ति नारी जीवन की साधना के रूप में अंकुरित होकर पल्लवित होती है। वही शक्ति भार्या - जाया - पत्नी के रूप में विकसित होकर

फल प्रदान करती है एवं मातृत्व के रूप में वही शक्ति आनन्द वितरण के सेवापूर्ण विमल स्तर तक पहुँचती है। आचार्यश्री 'कुमारी' शब्द की व्याख्या इस प्रकार करते हैं :

'' 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और/'री' यानी देने वाली···
इससे यह भाव निकलता है कि/यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना
तब तक रहेगी/जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।'' (पृ. २०४)

आचार्यश्री ने 'कुमारी' को लक्ष्मी के समतुल्य माना है। महर्षि गर्ग कहते हैं : ''यद् गृहे रमते नारी लक्ष्मीस्तद् गृहवासिनी।'' लक्ष्मी विष्णु भगवान् की पत्नी तथा श्री-सम्पन्न हैं। वह राजकीय शक्ति, ऐश्वर्य, धन-सम्पदा और कल्याण का प्रतीक है, इसलिए यह आज भी आदर्श भारतीय नारी का गुण माना जाता है। 'सुता' शब्द आचार्यश्री की दृष्टि में :

'' 'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :/'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ
और/'ता' प्रत्यय वह/भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,
सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो—/'सुता' कहलाती है।'' (पृ. २०५)

वैदिक भारत में ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ वैदिक ऋचाओं की रचना करती थीं। धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी, विजयिनी दुर्गा एवं ज्ञान प्रदान करने वाली सरस्वती की तरह अदिति, उषा, इड़ा, इन्द्राणी आदि नारियाँ अनेक गूढ़ तत्त्वों की अधिष्ठात्री देवियाँ थीं। 'दुहिता' को आचार्यश्री ने दो हित या सबका हित सम्पादित करने वाली कर्तव्य पथ पर अग्रसर नारी के रूप में अभिव्यक्त किया है :

''दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
अपना हित स्वयं ही कर लेती है,/पतित से पतित पति का जीवन भी
हित सहित होता है, जिससे/वह दुहिता कहलाती है।
उभय-कुल-मंगल-वर्धिनी,/उभय-लोक-सुख-सर्जिनी
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो···/दुहिता कहलाती है।'' (पृ. २०५-२०६)

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते ही नारी की कई भूमिकाएँ स्वतः ही प्रस्फुटित हो जाती हैं। वह मातृ-पक्ष एवं पितृ-पक्ष दोनों कुलों का मंगल विधान करने वाली, दोनों लोकों (इहलोक-परलोक) के सुखों की सर्जिनी बन जाती है। पति के लिए पावन प्रेम जहाँ उसे देवी बनाता है, वहीं सन्तान के लिए वात्सल्य उसे जगदम्बा के सिंहासन पर अभिषिक्त करता है। नारी का वास्तविक रूप माँ का है। आचार्यश्री समाज में पारिवारिक आदर्शों को प्रस्थापित करना चाहते हैं। आपने पारिवारिक स्नेह सम्बन्धों में मातृत्व को प्रमुखता दी है, क्योंकि यही नारी का सबसे गौरवपूर्ण और आकर्षक रूप है। आचार्यश्री के शब्दों में :

''हमें समझना है/'मातृ' शब्द का महत्त्व भी।/प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान
प्रमेय यानी ज्ञेय/और/प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त।/जानने की शक्ति वह
मातृ-तत्त्व के सिवा/अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।

यही कारण है, कि यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है।
...इसीलिए इस जीवन में/माता का मान-सम्मान हो,
उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!'' (पृ. २०६)

यहाँ आचार्यश्री ने मातृ शक्ति के उदात्त आदर्श को प्रस्तुत किया है। भारत में जननी और जन्मभूमि को स्वर्ग से भी बड़ा समझा गया है : ''जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी''। पृथ्वी की समस्त शक्तियों के विकास के लिए नारी, पत्नी व माता के रूप में अन्तःप्रेरणा देने वाली है। नारी का एक नाम महिला भी है। महिला शब्द की व्युत्पत्ति मह+इलच+आ= महिला बताई गई है। मह का अर्थ पूजा है। पूज्य होने के कारण स्त्री का नाम 'महिला' पड़ा। आचार्यश्री कहते हैं :

''जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है,
'महिला' कहलाती वह।/जो निराधार हुआ, निरालम्ब,/आधार का भूखा
जीवन के प्रति उदासीन - हतोत्साही हुआ/उस पुरुष में···/मही यानी धरती
धृति-धारिणी जननी के प्रति/अपूर्व आस्था जगाती है।
और पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का–
महिला कहलाती वह!'' (पृ. २०२)

यही नहीं नारी पति की मार्गदर्शिका है। पति के लिए पावन प्रेम ही उसे देवी बनाता है। सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए जरूरी है कि पति-पत्नी जीवन के सुख-दुःख एक साथ झेलें। पति-पत्नी का प्रेम मर्यादा एवं आदर्श पर आधारित होता है। सृष्टि के प्रमुख दो तत्त्व हैं–पुरुष और प्रकृति। पुरुष सृष्टि का मुख्य तत्त्व है, जिसके संयोग से प्रकृति विश्व की सृष्टि करती है। आचार्य श्री विद्यासागरजी के शब्दों में :

''पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही
संसार है, यह कहना,/मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र!
खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और/प्रकृति खिलौना मात्र!
स्वयं को खिलौना बनाना/कोई खेल नहीं है,
विशेष खिलाड़ी की बात है यह!/...'प्रकृति का प्रेम पाये बिना,
पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं'।'' (पृ. ३९४-३९५)

पुरुष और प्रकृति सनातन हैं। उनके योग से ही सृष्टि चल रही है। प्रकृति सृष्टिकर्त्री है। वह जननी है। नारी की महिमा के गायक सन्त कवि आचार्य विद्यासागरजी भारत की नैतिक एवं आर्थिक प्रगति में नारी की महत्त्वपूर्ण भूमिका मानते हैं। वह नारी को भारतीय संस्कृति के बलिष्ठ, पवित्र एवं दृढ़ सिद्धान्तों से सज्जित एवं निम्न व दूषित प्रवृत्तियों से अनायास मुक्त, सीता व सावित्री के रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं। आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' महाकाव्य में जिस नारी विषयक अवधारणा को नवीन दृष्टि प्रदान की है, वह आज के वैज्ञानिक युग में प्रासंगिक है व स्तुत्य है।

□

मृत्तिकोपनिषद् है 'मूकमाटी'

आनन्द बल्लभ शर्मा 'सरोज'

'मूकमाटी' महाकाव्य एक ऐसे तपःपूत साधक की उत्कृष्ट उद्भावना और शुचि-शुद्ध-सर्जना है, जिसने दर्शन तथा अध्यात्म की जटिलतम ग्रन्थियों को अत्यन्त सहज-सरल रूप में अध्येताओं के सम्मुख एक-एक कर खोल के रख दिया है। क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर—इन पंच महाभूतों के अनुपम विश्लेषण से विहित इस गुरु-गम्भीर ग्रन्थ में प्रथम गणनीय, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'क्षिति-तत्त्व' को प्रधानता प्रदान कर, उसी की आधारभित्ति पर परमार्थ का पुण्य प्रासाद निर्मित किया गया है। 'माता पृथ्वी,पुत्रोऽहं पृथिव्याः' की पवित्र परिकल्पना के अनुसार धरती को हम माँ की मान्यता प्रदान करते रहे हैं। कवि की कला कुशल लेखनी ने 'माटी' को इस माँ की पद-दलित पुत्री के रूप में अवतरित कर कथा सूत्र को अविकल विस्तार दिया है। इससे पहले हमें 'श्रीमद् भागवत महापुराण' में भी माटी के महिमामण्डित स्वरूप का मनमोहक कथानक प्राप्त होता है, जहाँ भागवतकार ने युगावतार बाल कृष्ण के श्रीमुख में माटी का सन्निवेश कराकर उसी के मिस माता यशोदा को अखिल ब्रह्माण्ड के वैराट्य और जगत् नियन्ता श्यामसुन्दर के सहज-समर्थ स्वरूप का बोध कराया है। दर्शन और अध्यात्म के समन्वय का अद्भुत कथानक है वह। किन्तु उससे भी विचित्र और चमत्कारिक दृष्टि है जैन दर्शनाचार्य, 'मूकमाटी' के प्रणयनकर्त्ता, तेजस्वी सन्त श्रीयुत विद्यासागरजी महाराज की। मीमांसा के क्षणों में भारत का प्रत्येक दर्शन घट-पट के ताने-बाने में सिद्धि के सूत्रों को बुनता-जोड़ता रहा है। 'मूकमाटी' में भी जहाँ माटी है, वहीं कुम्भ भी है, कुम्भकार भी। किन्तु सब कुछ एक नए वेश, नए परिवेश में, जीव-जगत् की विशद व्याख्या को समेटे हुए, नई-नई प्रस्थापनाओं के साथ। अतः मेरा तो यही अभिमत है कि 'मूकमाटी' केवल एक श्रेष्ठतम साहित्यिक कृति ही नहीं अपितु उपनिषदों की शृंखला में यह एक और नया उपनिषद् है— 'मृत्तिकोपनिषद्'।

विद्वान् काव्यकार ने एक स्थान पर दर्शन और अध्यात्म की तुलना करते हुए अध्यात्म को दर्शन से कहीं अधिक श्रेष्ठ निरूपित किया है (पृ.२८८-२८९)। इस दृष्टि से प्रश्न उठता है कि क्या 'मूकमाटी' को केवल विशुद्ध आध्यात्मिक महाकाव्य ही माना जाए ? ऐसा तो तभी माना जा सकता था जब ग्रन्थ के सर्वांगीण चिन्तन, मनन, अध्ययन और आलोड़न-विलोड़न के बीच दर्शन बार-बार उमड़-उभर कर सामने न आता रहता हो। किन्तु यहाँ तो तत्त्व विवेचन के क्रम में काया-माया, रज्जु-कूप, ध्यान-धारणा, समाधि-प्राणायाम जैसे दार्शनिक उपादान (पृ. ५९,२७९,२८६) इन से सम्पृक्त (भू, भुवः, स्वः, मह, जनः, तप की) ऊर्ध्वगामी अवधारणा, कहीं अणु और मनु तथा कहीं ज्ञान-विज्ञान का वैदुष्यमय विवेचन (पृ. २४९); रूप, रस,स्पर्श और गन्ध जैसे पंच गुणों की ऐन्द्रिक व्याख्या (पृ. ३२८,३३०); बीजाक्षरों की परिकल्पना (पृ.३९७); अग्नि-परीक्षा प्रकरण (पृ.३७४); आस्था, स्वप्न तथा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसूत्र' तथा पारिशेष्य न्याय आदि की चर्चा - सभी कुछ तो विद्यमान है। सर्वोपरि-सन्त शिरोमणि रचनाकार की यह मान्यता कि- कार्य-कारण हेतु से ईश्वर सृष्टिकर्त्ता की कोटि में नहीं आता- इसे दार्शनिक परम्परा की कृति सिद्ध करने हेतु पर्याप्त है। पुनश्च, ग्रन्थ में 'मानस-तरंग' के विद्वान् लेखक का यह कथन भी द्रष्टव्य है : ''ब्रह्मा को सृष्टिकर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है (उद्धरण- 'तेजोबिन्दूपनिषद्' से)। ...ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है।'' चूँकि सिद्धान्त निरूपण मूलतः दर्शन का विषय है अतः 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' के अनुसार यह कृति दर्शन प्रधान है, इसमें संशय नहीं। अस्तु, उपर्युक्त मान्यता या प्रस्थापना के प्रति जिज्ञासुजनों और सुधी अध्येताओं के सहमति अथवा असहमति के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि 'मूकमाटी' नव-नवोन्मेषिणी तात्त्विक विवेचना से परिपूर्ण एक ऐसी विशिष्ट कृति है जो दार्शनिक अभिव्यंजना के क्षेत्र में एक कीर्तिमान् स्थापित करती हुई उपनिषदों की कोटि में आसीन होने की

क्षमता से सम्पन्न है। इसीलिए इसे इसके गुण-धर्मानुरूप 'मृत्तिकोपनिषद्' की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

साहित्यिक दृष्टि से तो 'मूकमाटी' सारस्वत भाव सिन्धु के मध्य उभरे एक ऐसे मनोरम द्वीप के समान है जिस के चतुर्दिक् अक्षर-अक्षर की तरल तरंगें हैं, भव्य-भावनाओं का कल-कल नाद है और यदा-कदा शब्दों का पारिस्थितिक गर्जन-तर्जन भी। इस प्रकार चिन्तन की लहराती-गहराती श्वेत-श्याम जलधाराओं से समन्वित किन्तु स्वभावतः मर्यादित महासागर की मंजुल मेखला से आवेष्टित यह, जल धारा के बीच भी है और जल से ऊपर भी। पारावार के मध्य अपार शान्ति के प्रतीक द्वीप सदृश 'मूकमाटी' के स्रष्टा का विचार है : *"शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही/स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का"* और *"सहित का भाव ही/साहित्य बाना है/...जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो/सही साहित्य वही है" (पृ.१११)*। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी यही कहा : "कीरति भनिति भूत भल सोई, सुरसरि सम सब कर हित होई।" इस दृष्टि से 'मूकमाटी' भी वह 'ज्ञान गंगा' है जिसमें अवगाहन कर हर जिज्ञासु एक नवजीवनदायिनी शक्ति प्राप्त कर आन्तरिक सुख-शान्ति के पथ पर निरन्तर अग्रसर हो सकता है।

अपने भाव पक्ष और कला पक्ष की दृष्टि से भी यह कृति अद्वितीय है। इसका प्रणेता समृद्ध शब्द शिल्पी है। शब्दों का जादूगर है वह, जिसके संकेत मात्र पर हर शब्द एक निश्चित यति-गति और लय-ताल पर थिरकता-सा प्रतीत होता है। उसने शब्द संसार में 'एकोऽहं बहुस्याम' को प्रतिफलित कर दिखाया है। एक-एक शब्द को चंचल शिशुवत् कभी इस करवट, कभी उस करवट लिटा-सुला कर खूब 'हलराया, दुलराया, मल्हाया' है- 'जसोदा हरिपालने झुलावै' की भाँति, जिससे हुई है नाद-सौन्दर्य की सृष्टि (पृ.३०६), शब्द मैत्री का उदय, अर्थ परिवर्तन का चमत्कार (द्रष्टव्य-पृ.३८,५६,८७ तथा ९२,१२३,१४१ एवं अन्यत्र भी)। छन्दशास्त्रीय दृष्टि से काव्य में जहाँ शब्द शक्तियों (अभिधा,लक्षणा,व्यंजना) की चारु चर्चा है (पृ. ११०), वहीं रस-विवेचन(पृ. १३०-१६०) एवं अलंकार निरूपण तथा ऋतु वर्णन के अतिरिक्त 'अरुण अरविन्द बन्धु' जैसी दृष्टकूट शब्दावली भी है। सन्त कवि की गहन अन्वेषिणी अथच सूक्ष्म दृष्टि का विस्तार मच्छर से लेकर 'स्टार वार' यानी सूक्ष्म से लेकर विराट् तक है। उपमा तो एक से एक अनूठी हैं, यथा – *"काठियावाड़ के युवा घोड़ों की पूँछ-सी/ऊपर की ओर उठी/मानातिरेक से तनी/जिनकी काली-काली मूँछें हैं" (पृ. ४२८)* या *"...करुणा.../नमकीन आँसुओं का/स्वाद है वह" (पृ.१५५)* आदि। सूक्तियों और कहावतों ने तो काव्य को अनुभवानुभूति के धरातल पर अपूर्व गरिमा प्रदान की है। *"दयाविसुद्धो धम्मो" (पृ. ८८)* और *"बायें हिरण/दायें जाय–/लंका जीत/राम घर आय" (पृ. २५)* या *"आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।/तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव" (पृ. १३३)* जैसी जीवनोपयोगी सूक्तियाँ 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का सन्देश देतीं-सी रचनाकार की लोक मंगलकारिणी प्रवृत्ति को परिपुष्ट करती हैं (द्रष्टव्य-पृ. १३५,३९९)। 'दूध में छौंक लगाना' (पृ. ३५८) जैसी उक्ति का अभिनव-प्रयोग कवि के कला कौशल को नए रूप में उद्घाटित करता है।

यों अतुकान्त होने पर भी प्रस्तुत काव्य-कृति किसी भी दृष्टि से कहीं भी उन्नीस नहीं ठहराई जा सकती किन्तु जैसे ही हमारी दृष्टि *"ऐसी हँसती धवलिम हँसियाँ/मनहर हीरक मौलिक-मणियाँ" (पृ.२३६)* तथा *"नयी कला ले हरी लसी है/नयी सम्पदा वरीयसी है" (पृ.२६४)* और *"सन्तों की, गुणवन्तों की/सौम्य-शान्त-छविवन्तों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !" (पृ.३१५)*, सर्वोपरि- *"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,/भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !" (पृ.३२५)* जैसी चित्ताकर्षक पंक्तियों पर जा टिकती है तो मन बरबस कह उठता है कि काश ! यही रचना कहीं छन्दोबद्ध रूप में प्रकट हुई होती तो क्या कहना ! तब यह बहती गंगा से भी बढ़कर चन्द्रमौलि के जटाजूट में शोभित गंगा के समान अद्भुत आभा से मण्डित होती। फिर भी, गंगा किसी भी रूप में क्यों न हो, वह तरण तारिणी तो है ही, जन-मन मंगलकारिणी भी। हाँ, उसके निर्मल प्रवाह में चमचमाते रजकणों

के बीच कभी कहीं कोई छोटा-मोटा कंकड़ भी दिखाई दे सकता है। 'प्रभु फर्माते हैं' (पृ.१५०) जैसे प्रयोग को इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए। यों ऐसे प्रयोग से किसी प्रकार के दूषण की कोई आशंका नहीं। उल्टे इसे शिशु के भाल पर माँ का लगाया दिठौना मानना उचित होगा।

'मूकमाटी' के शिल्पी ने जहाँ शिल्प को 'अनल्प श्रम, दृढ़ संकल्प (और) सत्-साधना संस्कार का फल' निरूपित करते हुए संगीत के सप्त स्वरों से 'नीराग नियति का उद्घाटन' और मृदंग की झनकार से 'प्रकृति और पुरुष के भेद' को अत्यन्त कुशलतापूर्वक व्यक्त किया है (पृ.३०४-३०६), वहीं कुछ 'तत्त्वोद्घाटक संख्याओं' (पृ.१६६ पर) का अंकन कर अद्भुत अंक गणितीय चमत्कार भी कर दिखाया है। अंक शास्त्र की यह छटा कई पृष्ठों (पृ. १६९) तक बिखरती चली गई है। काव्यकार जब तक बहुज्ञ और बहुश्रुत न हो, वह लोक हितकारी काव्य की सृष्टि नहीं कर सकता। किन्तु 'मूकमाटी' का प्रणेता तो स्वयं सृष्टि का कोई सामान्य जीव न होकर एक तपस्वी, सन्त, साधक, चिन्तक-विचारक, विद्वत् शिरोमणि, धर्माचार्य और तत्त्वान्वेषी युगपुरुष है। ऐसी महानतम विभूति की सत्य सिद्ध लेखनी से कोई भी विषय भला कैसे अछूता रह सकता है। यही कारण है कि 'मूकमाटी' मात्र जन-मनरंजक एक काव्य-कृति नहीं अपितु ज्ञान-विज्ञान का बृहत् कोश है। काव्यकार ने स्वयं कहा है : *''मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/ व्यथाकार नहीं।/और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।/इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक/जागृत····जीवित····अजित !''* (पृ. २४५)।

यही कारण है कि इस अभिनव कृति में जीव जगत् का कोई भी पक्ष अछूता नहीं रहा है। प्राकृतिक उपचार के परम्परागत प्रयोग, और आयुर्वेदीय चिकित्सा के सुगम सूत्रों (पृ. ४००, ४०५) से लेकर कलिकाल के कुटिल प्रभाव (पृ. ४११), वैज्ञानिक विकास जन्य विकृतियों के विद्वत्तापूर्ण विवेचन (पृ. ४१३), पद-प्रेमियों को प्रताड़ना (पृ.४३४), दल बहुलता पर प्रहार (पृ. १९७), समाजवाद की युक्ति संगत व्याख्या (पृ. ४६१), पाश्चात्य सभ्यता के ग्रहण से गिरते मानव मूल्य (पृ.१०२, १७३) और इससे विरत रहने की चेतावनी से युक्त इस ग्रन्थ में क्या कुछ नहीं है ? मंगल-काव्य है यह—'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की अवधारणा से ओत-प्रोत। प्राणिमात्र के बीच वैषम्य के निवारण हेतु कवि, कुम्भ कथन के मिस प्रभु से प्रार्थना करता है :

''प्रभु-पन पाने से पूर्व/एक की प्रशंसा/एक का प्रताड़न
एक का उत्थान/एक का पतन/एक धनी, एक निर्धन
एक गुणी, एक निर्गुण/एक सुन्दर, एक बन्दर/यह सब क्यों ?
इस गुण-वैषम्य से/इसे पीड़ा होती है, प्रभो !/देखा नहीं जाता
और/इसी कारण बाध्य होकर/आँखें बन्द करनी पड़ती हैं।
***बड़ी कृपा होगी,/बड़ा उपकार होगा,/सब में साम्य हो, स्वामिन् !''* (पृ. ३७२)**

यह है 'सर्वे सन्तु निरामया:' की उदात्त भावना, जो सन्तों में न होगी तो फिर और कहाँ होगी ? आचार्यश्री पहले सन्त हैं और फिर कवि। और सन्त होते हैं उदारमना। 'सन्त हृदय नवनीत समाना'। वे करुणाकर कहलाते हैं। यह करुणा ही तो काव्य की उत्पत्ति का मूल है। 'मूकमाटी' के रूप में यही शुभाकांक्षिणी करुणा बिखरी है चारों ओर।

कहाँ तक कहा जाए। इस विशाल आकर ग्रन्थ की विवेचना कुछेक पृष्ठों में सम्भव नहीं। वह भी मेरे जैसे अल्पमति से। कवि-कुलगुरु कालिदास की उक्ति को दुहराऊँ तो—''क्व सूर्यप्रभवो वंश: क्व चाल्पविषया मति:, तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।'' आचार्यश्री गुरुपद की गरिमा से मण्डित हैं और "गुरु: साक्षात्परब्रह्मा तस्मै श्री गुरुवे नम:।" दिव्य चक्षु चाहिए उनके स्वरूप वर्णन के लिए। यह भी उन्हीं के कृपा बल से प्राप्त हो सकते हैं। अस्तु। 'मूकमाटी' के मिस बारम्बार उनका शुभ स्मरण कर सका, यह मेरा सौभाग्य है।

□

नयी कविता से अलग : 'मूकमाटी'

डॉ. (श्रीमती) कृष्णा रैणा

स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संघर्ष और स्वाधीनता की प्राप्ति आज के भारतीय इतिहास की प्रमुख घटनाएँ हैं। इनसे देश का इतिहास ही बदल गया, यहाँ की परिस्थिति बदली, परिवेश बदला और यहाँ का साहित्य बदला। सन् १९४३ ई. में अज्ञेय के सम्पादकत्व में प्रयोगवादी कविताओं का एक संकलन 'तार सप्तक' नाम से प्रकाशित हुआ था जिससे प्रयोगवादी कविता का आरम्भ माना जाता है। स्वयं अज्ञेय ने 'प्रयोगवाद' नाम स्वीकार नहीं किया था। 'तार सप्तक' की भूमिका में उनके ये शब्द बड़े वज़नदार हैं : ''सातों कवि एक दूसरे से परिचित हैं किन्तु इससे यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी स्कूल के कवि हैं या किसी साहित्य जगत् के, किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण यही है कि वे किसी मंज़िल पर पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं। राही नहीं - राहों के अन्वेषी हैं। सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी राय अलग-अलग है। प्रत्येक युग की कविता अपने युग की परिस्थितियों की देन होती है। कवि अपने युग सत्य को प्रस्तुत करना चाहता है।'' सन् १९५१ ई. में 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन से कविता का नया दौर चला जिसे 'नयी कविता' नाम दिया गया। कुछ लोग नयी कविता और प्रयोगवादी कविता को एक प्रकार की कविता मानते हैं परन्तु मेरे विचार से नयी कविता अपने पहले की कविता से एकदम भिन्न है।

नयी कविता ने यथार्थ को अभिव्यक्ति दी। इस कविता में भोगा हुआ यथार्थ तथा अनुभूत सत्य है। इसमें कवि ने परस्पर विरोधी जटिल और जीवन के उलझे हुए सन्दर्भ भी लिए हैं। नया कवि नए मूल्यों की तलाश में है। उसके लिए पुराने मूल्य विघटित हो गए हैं और मिथ्या पड़ गए हैं। 'आधुनिक कविता का मूल्यांकन' (पृ. ८७) में डॉ. इन्द्रनाथ मदान के अनुसार : ''नयी कविता का उद्देश्य जीवन की नवीन परिस्थिति, उसके नवीन स्वरों एवं धरातलों को व्यक्त सत्य की दृष्टि से अभिव्यक्ति देना है।'' 'हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' (पृ.१४१) में अज्ञेय ने लिखा है : ''नयी कविता का फलक जीवन का विस्तृत सन्दर्भ बन गया। इसमें मानव की पुन: प्रतिष्ठा की खोज है। नयी कविता सबसे पहले एक नयी मन:स्थिति का प्रतिबिम्ब है—एक नए मूड का, एक नए राग सम्बन्ध का।'' इस कविता में नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना के लिए आग्रह है और विशेष रूप से मूल्यों की स्थिति में ही इस कविता ने व्यक्ति और समाज को लिया है। आधुनिकता इसका प्राणतत्त्व है। नए कवियों ने पुराने और परम्परागत मूल्यों को अप्रासंगिक माना। मान्यताओं के आगे प्रश्नचिह्न लग गए। इसमें मनुष्य के भीतरी दर्द को लिया गया है और उसे यथार्थ दृष्टि से आँका गया। इस सन्दर्भ में यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि आज के साहित्य पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव भी देखने में आता है। कवि क्षण के प्रति पूरी तरह सचेत है। वह भीड़ में रहकर भीड़ से अलग है, रिश्तों में रहकर रिश्तों से तटस्थ है। वह अपने को अकेला अनुभव करता है। परन्तु जहाँ हम एक ओर कविता में मूल्यहीनता की ऊब, कुण्ठा, रिक्तता, सन्त्रास और घुटन की हवा पाते हैं वहीं हमारी सन्त काव्यधारा भी अजस्र रूप से प्रवाहित है।

भारत वर्ष में सन्त परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। यदि हम भारत के इतिहास और साहित्य के इतिहास को देखें तो ज्ञात होगा कि यहाँ समय-समय पर सन्तों ने अपनी सरल, सहज वाणी द्वारा आध्यात्मिक अनुभवों को आम आदमी तक पहुँचाया है। आज यदि कबीर या तुलसी के साहित्य की प्रासंगिकता की बात की जाती है तो यह साहित्य इसी कारण प्रासंगिक है, क्योंकि यह आम आदमी के लिए है और आम आदमी की भाषा में है। आज का युग सत्य भी कुछ-कुछ उनके युग सत्यों से मिलता है। इन कवियों ने जो बात की, प्रेम, अध्यात्म, समन्वय, ज्ञान, आस्था

आदि की, उसी से मनुष्य भौतिक जगत् के राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। इन सन्तों की वाणी सार्वभौम है। इन सन्तों ने देश और काल के बन्धन को तोड़ दिया है। यही कारण है सन्त काव्य विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है और प्राचीन से अर्वाचीन काल तक इसकी परम्परा प्रवाहित हो रही है। हिन्दी भाषा में 'सन्त' शब्द का प्रयोग साधारणत: किसी भी सदाचारी और पवित्रात्मा के लिए होता है। अँग्रेजी का 'सेंट' शब्द वस्तुत: लैटिन सेंशियो के आधार पर निर्मित सैंक्टस शब्द से बना है, इसका अभिप्राय भी पवित्र करना है। यह ईसाई धर्म के कतिपय प्राचीन महात्माओं के लिए पवित्र आत्माओं के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है।

आज जब कि संसार में व्यक्ति के सामने असुरक्षा का प्रश्न है, विश्व छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित है, वर्गों में विभाजित है, देश और राष्ट्र आपस में अनाम लड़ाई लड़ रहे हैं, संघर्ष के वातावरण में प्राणी मूक बन रहा है, उसका मन शंकाओं और सन्देहों से परिपूर्ण है, ऐसे समय में सन्तों की वाणियों का स्थान और महत्त्वपूर्ण हो रहा है। इस सन्दर्भ में आचार्य विद्यासागर का काव्य 'मूकमाटी' आज के साहित्य की एक प्रमुख रचना है। कवि जिन विषयों को आज कविता में उठाते हैं उनसे अलग हटकर शाश्वत प्रश्नों को इस पुस्तक में आचार्यजी ने उठाया है।

'मूकमाटी' को महाकाव्य की संज्ञा दी गई है। वास्तव में यह काव्य आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय रचना है। इसमें दार्शनिक विषय को उठाया गया है। आचार्य विद्यासागरजी स्वयं सन्त हैं। उनके चिन्तन-मनन के परिणाम स्वरूप ही इस 'मूकमाटी' काव्य की रचना हुई है। सन्तों ने सदैव तपस्या, साधना करके जीवन सम्बन्धी रहस्यों की अनुभूति प्राप्त की है और उसका उद्‌घाटन किया है। इसका मूल मन्त्र तत्त्व दर्शन है। आज उथल-पुथल के वातावरण में भी कवि की सन्त आत्मा जीवन के रहस्यों का उद्‌घाटन करती है। इस काव्य को खण्डों में विभाजित कर प्रस्तुत किया गया है। इसके खण्ड एक 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में माटी की प्रारम्भिक दशा है। माटी कंकर-कणों से मिली-जुली है, यहाँ परिशोधन की अवस्था आती है। कुम्भकार की कल्पना में माटी का मंगल घट रचित हुआ, जिसे सार्थक रूप देना है। उसके लिए वर्णसंकर की स्थिति को हटा कर शुद्ध दशा की प्राप्ति करनी है। कवि इसी भाव को इन पंक्तियों में व्यक्त करते हैं :

"यथा-विधि, यथा-निधि/क्षीर में नीर मिलाते ही/नीर क्षीर बन जाता है।
और सुनो !/केवल/वर्ण-रंग की अपेक्षा/गाय का क्षीर भी धवल है
आक का क्षीर भी धवल है/दोनों ऊपर से विमल हैं/परन्तु
परस्पर उन्हें मिलाते ही/विकार उत्पन्न होता है—/क्षीर फट जाता है
पीर बन जाता है वह !/नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है
इससे यही फलित हुआ,/अलं विस्तरेण !" (पृ. ४८-४९)

मिलन का अर्थ लय होना है, यानी जहाँ द्वैत समाप्त हो, जहाँ अपने गुण-धर्म सब विलुप्त हो जाते हैं और एकाकार की भावना आती है, उसे कवि ने व्यंजित किया है :

"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !
माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम/इतना ही नहीं,
चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !
भले ही/चूरण बनते, रेतिल;/माटी नहीं बनते तुम !" (पृ. ४९)

जीवन गति है, चेतना है। इसमें ठहराव नहीं है। जीवन का प्रतीक जल है, नदी की धारा है जो सनातन रूप से बहती है। यह चेतनता की धारा अविरल गतिमान् है। आचार्यजी ने अपने काव्य में इसे इस प्रकार व्यक्त किया है :

"जल जीवन देता है/हिम जीवन लेता है,/स्वभाव और विभाव में/यही अन्तर है,
यही सन्तों का कहना है/जो/जग-जीवन-वेत्ता हैं।" (पृ. ५४)

कवि का उपास्य अहिंसा है। यही मानव कल्याण का अस्त्र है। हिंसा नाश की ओर ले जाती है और अहिंसा मानव और अन्य प्राणियों को निकट लाती है, सहयोग की ओर अग्रसर करती है :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।" (पृ. ६४)

'मूकमाटी' का दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' है। इसमें कवि के साहित्य बोध की अभिव्यक्ति है। यहाँ भी आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध सरिता और सागर के माध्यम से व्यक्त किया गया है। सरिता सरकती है, गतिमान् है तथा अस्थाई है जबकि सागर स्थाई है, सरकता नहीं है, इसकी ओर सरिता सरककर आती है और इसी में लय हो जाती है। इसी प्रकार जीव गतिमान् है, अस्थिर है। उसका उद्देश्य ही सागर रूपी परब्रह्म या अपार सत्ता में लय होना (तद्रूप हो जाना) है :

"जो खिसकती-सरकती है/सरिता कहलाती है/सो अस्थाई होती है।
और/सागर नहीं सरकता/सो स्थाई होता है/परन्तु,
सरिता सरकती सागर की ओर ही ना!/अन्यथा,/न सरिता रहे, न सागर।
यह सरकन ही सरिता की समिति है।" (पृ. ११९)

परमात्मा असीम है, अपार है, उसका कहीं किनारा नहीं, उसकी गुरुमत्ता की कोई सीमा नहीं। यह जो दृश्यमान् जगत् है, वह उस अपार शशि का एक बिन्दु है :

"ओर-छोर कहाँ उस सत्ता का ?/तीर-तट कहाँ गुरुमत्ता का ?
जो कुछ है प्रस्तुत है/अपार राशि की एक कणिका
बिन्दु की जलांजलि सिन्धु को/वह भी सिन्धु में रह कर ही।" (पृ. १२९)

इस संसार में जीव सांसारिक मोह - माया में लिप्त रहते हैं जिस के फलस्वरूप उन्हें आशा-निराशा होती है और सुख- दुःख भोगना पड़ता है परन्तु जो आत्मज्ञानी है, जिसने अपनी आत्मा में ही ब्रह्म का साक्षात्कार किया हो वह उद्देश्य को प्राप्त होता/करता है। ऐसा ही जीव आत्मविज्ञ कहलाता है, स्थित-प्रज्ञ कहलाता है जो माया-मोह के बन्धन में नहीं फँसता और जो सांसारिक राग-द्वेष से ऊपर उठकर सुख-दुःख की स्थिति से परे पहुँच जाता है :

"स्थित-प्रज्ञ हँसते कहाँ ?/मोह-माया के जाल में
आत्म-विज्ञ फँसते कहाँ ?" (पृ. १३४)

काव्य में कुछ तत्त्वोद्घाटक संख्याओं और विचित्र चित्रों की व्याख्या भी है जिनके द्वारा कवि ने कई दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या की है। कवि संसार को ९९ का चक्कर मानते हैं, अतः हेय है और नव जीवन का स्रोत ही ध्येय है :

"संसार ९९ का चक्कर है/यह कहावत चरितार्थ होती है/इसीलिए
भविक मुमुक्षुओं की दृष्टि में/९९ हेय हो और/ध्येय हो ९
नव-जीवन का स्रोत !" (पृ. १६७)

इस खण्ड में कवि ने नव रसों की व्याख्या भी की है। ऋतुओं का वर्णन, शृंगार और वीर की व्याख्याएँ काव्य में प्रभावोत्पादन करती हैं। दार्शनिक सूत्रों की सरल व्यावहारिक भाषा में अभिव्यक्ति है। निम्न शब्दों में कितनी बड़ी बात कवि ने कही है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना, यानी जनन–उत्पाद है
जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है, यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

कवि ने 'शब्द' को महत्त्व दिया है। इस के अर्थ को जानना 'बोध' है, बोध की अनुभूति और विश्लेषण 'शोध' है। शब्द ही ब्रह्म है।

'मूकमाटी' का तीसरा खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' है। इस खण्ड में माटी की विकास यात्रा के माध्यम से पुण्य कर्म के द्वारा श्रेयस्कर उपलब्धि की ओर संकेत है। यदि मनुष्य मन, वचन और कर्म से शुभ कर्म करे तो लोक-कल्याण की कामना होती है, पुण्य का अर्जन होता है। इसमें मेघ से मेघ-मुक्ता का अवतार दिखाया है। मुक्ता का वर्षण होता है। मोतियों की वर्षा हुई उन अपरिपक्व कुम्भों पर। राजा को समाचार मिला। राजा की मण्डली को उन्हें बोरियों में भरने का संकेत मिला। ज्यों ही मोती भरने के लिए राजा की मण्डली नीचे की ओर झुकी, आकाश में गुरु गर्जन हुआ– 'अनर्थ ! पाप !' परन्तु कुम्भकार ने यह सोचकर कि मुक्ता राशि पर राजा का अधिकार है, उसे ही समर्पित किया। कवि कहता है धरिणी का ही कार्य है कि वह जल को जड़त्व से मुक्त कर मोती बना देती है। उसे नीचे गिरने के बजाय ऊँचे स्थान पर पहुँचाने का कार्य धरती ही करती है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर /उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

इस काव्य में नारी की महिमा को मण्डित किया गया है। कवि का कथन है कि जो जीवन में मंगलमय महोत्सव लाती है, वही 'महिला' है। वही पुरुष को सही रास्ता दिखाती है, सबल पुरुष भी इसके सामने निर्बल पड़ जाता है। यह धरती तब तक सम्पदा-सम्पन्ना रहेगी, जब तक इस पर 'कुमारी' रहेगी, जो प्राथमिक मंगल है। इसमें सम, शील और संयम है। वह पुरुषों में धर्म, अर्थ और काम को संयत करती है। वह अपना और अपने पति का जीवन कल्याण भावना से पूर्ण बनाती है, हित की भावना से ही उसे 'दुहिता' कहा गया है। कवि ने इस प्रकार महिला, अबला, नारी, कुमारी, स्त्री, दुहिता, मातृ शब्द की व्याख्या कर उसकी महानता की ओर संकेत किया है :

"यही कारण है, कि यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है।" (पृ. २०६)

इस आध्यात्मिक यात्रा को कवि ने सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है। साधक की अन्तरदृष्टि में सदैव साधना की

यात्रा रहती है। यह यात्रा भेद से अभेद की ओर, वेद से अवेद की ओर बढ़ती है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए
अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

'मूकमाटी' का चौथा खण्ड है 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। इसमें वर्णित है कि अवा में कुम्भ कई दिन तक तपता रहा फिर कुम्भकार पके कुम्भ को बाहर निकालता है और श्रद्धालु नगर-सेठ के सेवक को देता है ताकि इसमें भरे जल से गुरु का पाद-प्रक्षालन हो और उनकी प्यास बुझ जाए। लेने से पहले सेवक कुम्भ को सात बार बजाता है। साधु की आहार-दान प्रक्रिया में भक्ति, हर्ष, विषाद, धर्मोपदेश, पूजा, उपासना के उपकरण आदि की व्याख्या आती है। काव्य में स्वर्णकलश की उपेक्षा कर मिट्टी के घड़े का वर्णन है। इस अपमान का बदला लेने के लिए स्वर्णकलश एक दल बना लेता है, जो त्राहि-त्राहि मचा लेता है। यह स्वर्णकलश और इसका आतंक मचाना युग सन्दर्भ की दृष्टि से सार्थक है। इसमें लेखक बताता है कि जब तक धरती पर आतंकवाद है तब तक यहाँ शान्ति नहीं हो सकती है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते।" (पृ. ४४१)

यह कैसा युग है ? क्या असत्य शासक बनेगा और सत्य शासित होगा ? क्या आज वास्तविक हीरों की हार हो जाएगी और काँच की ही चकाचौंध छा जाएगी ?

"यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?/हाय रे जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार !/हाय रे, काँच की चकाचौंध में
मरी जा रही—/हीरे की झगझगाहट !" (पृ. ४६९-४७०)

क्या सत्य आत्मसमर्पण करेगा असत्य के सामने और सती व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे चलेगी ? कवि के अनुसार बुरा समय समाप्त होगा और जीवन फिर से मंगलमय बनेगा। अमंगल भाव टल जाएँगे और आशा की किरण फूट पड़ेगी। सब के जीवन की लता पुनः सुख में हरी-भरी हो जाएगी। आतंकवाद के पश्चात् अनन्तवाद का श्रीगणेश होगा :

"आतंकवाद का अन्त/और/अनन्तवाद का श्रीगणेश !" (पृ. ४७८)

भारतीय दर्शन की ऐसी मान्यता और परम्परा रही है कि भौतिक जीवन नश्वर है, अतः प्रबुद्ध प्राणी सांसारिक सुखों और वैभव के पीछे नहीं दौड़ते थे। वे सदैव आध्यात्मिक चिन्तन-मनन में लगे रहते थे परन्तु यह ऋषि-परम्परा अब इस काल में लुप्तप्राय है। आज भी यदि व्यक्ति सामाजिक दायित्व को समझे, समभाव और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की बात करे तो अधिकांश दुःख और कलुष मिट जाएँगे।

इस काव्य में भारतीय चिन्तन पद्धति को लिया गया है। इस काव्य का आधार दर्शन है। 'मूकमाटी' में जीवन दर्शन की व्याख्या है, इसके साथ ही प्रकृति का चित्रण प्रांजल रूप में है। साहित्य की परिभाषा भी इसमें मिलती है।

'मूक माटी' को महाकाव्य की संज्ञा दी गई है। महाकाव्य के अनुरूप प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण इसमें है। इसमें माटी को नायिका और कुम्भकार को नायक माना गया है। इस काव्य में आध्यात्मिक प्रकार का रोमांस है। समकालीन युगबोध का अंकन इस काव्य के पृष्ठ भाग में मिलता है, जहाँ आतंकवाद का संकेत है। शास्त्रीय रूप से यह काव्य चाहे महाकाव्य हो या न हो परन्तु इसमें एक उदात्त विषय को लिया गया है जिसे उदात्त भाषा में उदात्त ढंग से अभिव्यक्ति मिली है, अत: आज के साहित्य की एक प्रमुख कृति के रूप में इस रचना को लिया जाएगा। इस काव्य में उस माटी को लिया गया है जो मूक है, जिसकी संवेदना मौन है परन्तु फिर भी वह सब का आधार है। यह साधारण माटी है जो जन सामान्य का प्रतीक है जिसमें सामन्तीय गन्ध नहीं है। अत: इसकी व्याख्या करने के लिए हमें कृति की राह से ही गुज़रना पड़ेगा। नई कृतियों को परखने के लिए पुराने मापदण्ड सार्थक सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

□

'मूकमाटी' की महिमा

डॉ. रवीन्द्र भ्रमर

आचार्य श्री विद्यासागर की विलक्षण कृति 'मूकमाटी' को दूसरी बार पढ़ने का मन बनाया। कुछ दो वर्ष पूर्व, पहली बार इसका पारायण किया था। गुरु कृपा से दूसरी बार प्रेरणा हुई और इस काव्य सरोवर का अवगाहन करने का प्रयास नए सिरे से किया।

माटी की संवेदना, सर्जना शक्ति और दार्शनिक चिन्तना को आधार बनाकर एक ऐसे काव्य की संरचना होना आह्लादकारी है। इसे मृत्तिका मंगल का भी काव्य कहा जा सकता है। माटी और कुम्भकार का सम्बन्ध सनातन है। कुम्भकार माटी से उस मंगल घट की रचना करता है जो जल से पूरित होकर जन-जन की तृषा का निवारण करने को उद्यत रहता है। विधाता रूपी कुम्भकार माटी से उस मंगल मूर्ति की रचना करता है जो प्राणों से विस्फूर्जित होकर मानव की संज्ञा प्राप्त करता है और सत्कर्मों से आवेष्टित होकर लोक कल्याण का निमित्त बनता है। आचार्य श्री विद्यासागर ने कुछ ऐसे ही विचार तत्त्वों का संगुम्फन करके 'मूकमाटी' को प्राणवान् बना दिया है।

इस कृति को 'महाकाव्य' की संज्ञा दी गई है। महाकाव्य के समस्त लक्षण उपलब्ध न भी हों तो श्रेष्ठ काव्य के गुणधर्म इसमें विन्यस्त हैं। मुक्त छन्द की रचना होने के बावजूद मार्मिक उक्तियों, रोचक प्रसंगों, प्रकृति के मनोहर चित्रों, काव्य बिम्बों और अभिव्यंजना की अन्तर्वर्ती लय के कारण यह कृति एक अनहद आध्यात्मिक संगीत बन गई है। और हाँ, आध्यात्मिकता अथवा दार्शनिकता के कारण इसका काव्य रूप सृजन के नए आयाम ग्रहण कर लेता है। इन्हीं शब्दों के माध्यम से 'मूक माटी' के कर्ता आचार्य श्री विद्यासागरजी के प्रति मेरी विनम्र प्रणति।

□

पृष्ठ ४५२-४५३
जब आग की नदी को
पार कर आये हम.....
... धीर को धारण करे सो धरणी
धीर का पालन करे सो धरणी!

नीति, दर्शन और अध्यात्म का ग्रन्थ : 'मूकमाटी'

डॉ. प्रेमसागर जैन

'मूकमाटी' शास्त्रीय काव्य है अर्थात् शास्त्र है और काव्य भी। शास्त्र में रूखे सिद्धान्त होते हैं। रूखे भी ऐसे-वैसे नहीं, बहुत रूखे। वैज्ञानिक दृष्टि से उनका तार हृदय से नहीं, मस्तिष्क से जुड़ा होता है। अतः उन्हें पचाना तो दूर, समझना भी मुश्किल हो जाता है। वे साहित्य नहीं बन पाते। साहित्य के लिए भावोन्मेष होना अनिवार्य है। दर्शन हो, सिद्धान्त हो या अन्य कोई रूक्ष विषय हो, भावोन्मेष हो जाने पर साहित्य की कोटि में आ जाते हैं। 'मूकमाटी' के अनेक स्थलों में भावोन्मेष हुआ है किन्तु संख्या अल्प ही है। एक उद्धरण दे रहा हूँ :

"परिणाम-परिधि से/अभिराम-अवधि से/अब यह
बचना चाहता है, प्रभो !/रूप-सरस से/गन्ध परस से परे
अपनी रचना चाहता है, विभो !/संग-रहित हो/जंग-रहित हो
शुद्ध लौह अब/ध्यान-दाह में बस/पचना चाहता है, प्रभो !" (पृ. २८५)

दूसरा स्थल है :

"जिन आँखों में/अतीत का ओझल जीवन ही नहीं,
आगत-जीवन भी स्वप्निल-सा/धुँधला-धुँधला-सा तैरने लगा,
और/भावी, सम्भावित शंकिल-सा/कुल मिला कर सब-कुछ
धूमिल-धूमिल-सा/बोझिल-सा झलकने लगा।" (पृ. २९४)

'मूकमाटी' नीति, दर्शन और अध्यात्म का ग्रन्थ है। इस की खूबी है भाषा की सरलता। उस में सहजता है, वह भावों के पीछे-पीछे चलती है। दर्शन और अध्यात्म गूढ़ विषय हैं। उनकी सहज अभिव्यक्ति वही कर सकता है, जिसने उसे पचाया हो। 'मूकमाटी' इस दृष्टि से एक उत्तम काव्य है। सामान्य पाठक भी उन्हें आसानी से समझ लेता है। समझना और बात है, दिल की तलहटियों को स्पर्श करना कुछ और है। लेखक ने दृष्टान्त अलंकारों के माध्यम से इस चुनौती को स्वीकारा है। एक दृष्टान्त देखिए :

"तैरने वाला तैरता है सरवर में/भीतरी नहीं,
बाहरी दृश्य ही दिखते हैं उसे।/वहीं पर दूसरा डुबकी लगाता है,
सरवर का भीतरी भाग/भासित होता है उसे,
बहिर्जगत् का सम्बन्ध टूट जाता है।" (पृ. २८९)

दर्शन और अध्यात्म की गहरी डूब और ऊपर-ऊपर तैरने का अन्तर दिखाया है। एक दूसरा दृष्टान्त है :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं—
एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;
और एक/योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।
कुछ ही क्षणों में/दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।
फिर क्या कहना !/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)

यहाँ एक भोग-राग और मद्य-पान में खोता है तो दूसरा योग-त्याग और आत्म-ध्यान में अपने को डुबो कर खोता है।

'मूकमाटी' में यदि किसी अलंकार की बहुलता है तो वह है रूपक। रूपक के दो भेद होते हैं–सांग और निरंग। पानी और मछली, आग और लकड़ी, कुआँ और रस्सी तथा मिट्टी और कुम्भकार के अनेकानेक रूपक हैं- जिनमें कुछ सांग है और कुछ निरंग। उन सबके उद्धरण देने से इस अल्प कलेवर समीक्षा का आकार बहुत बढ़ जाएगा। रूपकों में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जानकारी रचयिता की तलस्पर्शिता को दिखाने में पूर्ण समर्थ है। किन्तु विनम्रता-पूर्वक लिखना चाहूँगा कि अधिकांश रूपक बोझिल और रूखे हैं, उनमें वह भाव प्रवणता नहीं है जो एक काव्य के लिए आवश्यक है। पृष्ठ २७० पर अवा के पूरे विवेचन में लकड़ियों का रूपक रूक्ष ही रूक्ष है।

हेतूत्प्रेक्षाओं के अभाव ने भी काव्य में रस को आघात पहुँचाया है। स्वयम्भू का 'पउम चरिउ' हेतूत्प्रेक्षाओं के ही कारण जीवन्त बना है। प्रात: आते-आते चन्द्र पीत वर्ण का हो ही जाता है। इस पर कवि कल्पना करता है कि रात भर सूर्य की पत्नी निशा से सहवास के कारण वह भयभीत है कि कहीं सूर्य उसे देख न ले। इसी कारण वह पीला पड़ गया है। 'मूकमाटी' के रचयिता ने भी चन्द्र के पीत वर्ण पर कल्पना की है :

"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति
अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं
कहीं···सुदूर···दिगन्त में···/दिवाकर उन्हें/देख न ले, इस शंका से।" (पृ. २)

प्रात: होने को है। ताराओं का अस्त होना प्राकृतिक है। कवि कल्पना करता है कि दिवाकर कहीं उन्हें देख न ले, इस कारण छिपी जा रही हैं। किन्तु यहाँ यह भय सार्थक नहीं है। ताराएँ तो चन्द्र की पत्नियाँ हैं, अत: दिनकर देख भी ले तो उन्हें भय क्यों हो अर्थात् हेतूत्प्रेक्षा निर्जीव-सी है।

कवि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में लक्षणा को अधिक प्रश्रय देते प्रतीत होते हैं। किन्तु लक्षणा के प्रयोगों में विशृंखलता है, ऐसा अनेक स्थलों पर प्रतिभासित होता है, जैसे :

"विषयों और कषायों का वमन नहीं होना ही
उनके प्रति मन में/अभिरुचि का होना है।" (पृ. २८०)

यह एक लक्षणात्मक प्रयोग है। खाद्य पदार्थों के मुँह से कै होने को 'वमन' कहते हैं। अत: मुख्य अर्थ में बाधा उपस्थित हुई और अन्यार्थ का समाहार हुआ कि विषयों और कषायों को बिल्कुल निकाल फेंकना है। इसके दो उपाय हैं – एक तो उस तरफ ध्यान ही न जाए और दूसरा इतना प्रयोग कि घिसते-घिसते चुक जाएँ। वमन शब्द दूसरे उपाय की ओर इंगित करता है। क्या यह ठीक है ?

"रस का स्वाद उसी रसना को आता है
जो जीने की इच्छा से ही नहीं,
मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है।" (पृ. २८१)

जीवन और मृत्यु के ऊपर उठकर जो रस प्राप्त होता है, वह ब्रह्मानन्द है, 'ब्रह्मानन्द सहोदर' नहीं है। काव्य की आत्मा रस होती है और वह रस 'ब्रह्मानन्द सहोदर' होता है। यहाँ पर भी लक्षणा है। रसना में रस का स्वाद भौतिक होता है, वह उद्देश्य यहाँ नहीं है। अत: मुख्यार्थ में बाधा हुई। अन्यार्थ का समाहार है कि रस का स्वाद अर्थात् ब्रह्मानन्द तब प्राप्त होता है, जब यह जीव जीवन और मृत्यु से ऊपर उठ जाता है। किन्तु रसना शब्द बाधक है, वह अध्यात्म की ओर नहीं साहित्य की तरफ इंगित करता है। किन्तु ब्रह्मानन्द सहोदर के बिना साहित्यिक रस कैसे ढूँढूँ?

जहाँ तक रस का सम्बन्ध है, रचयिता ने "शान्त रस जीवन का गान है," स्वीकार किया है। 'जीवन का गान' महत्त्वपूर्ण है। जिस जीवन में उल्लास नहीं, उत्सव नहीं, वह व्यर्थ है। तड़फती, सिसकती, बेकरार ज़िन्दगी बोझ है। जीवन में अगर संगीत आता है तो शान्त रस से ही। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्ष बैचेन कर देने वाले होते हैं। वह रस-राज कैसे हो सकता है, अत: कवि ने शान्त को ही रस-राज माना। भले ही ज़िन्दगी जद्देमुसल्लसल हो, किन्तु सतत होने वाले संघर्ष से निजात पाने के लिए शान्त रस ही अनिवार्य है। वही ज़िन्दगी को "रसं लब्ध्वा वै आनन्दी भवति" से भर सकता है, अन्य नहीं।

'मूकमाटी' के रचयिता ने प्रेम को लोकोत्तर माना है। इस माटी के स्थूल, मांसल प्रेम को अस्वीकार कर दिया है। मांसल और वासना हमराही हैं। वासना इच्छा को कहते हैं। इच्छा सदैव अस्थाई होती है। तो, इस धरती का प्रेम कभी स्थाई नहीं हो सकता। उसमें शाश्वत बने रहने की शक्ति नहीं है। उसमें आनन्द तो होता है, किन्तु वह आनन्द, जो मिट-मिट जाता है, बना नहीं रहता। माटी के प्रेम में 'दोनों ओर पलने' की बात है।

जैन सन्दर्भ मूल में ही इस शर्त को नकारता है। जैन आचार्य उसी प्रेम को प्रेम कहते हैं, जिसमें देश और काल का व्यवधान न हो जो सतत चलता रहे। वह अहिंसा का पर्यायवाची है। वह अलौकिक है - लोकोत्तर। आकाश की तरह उन्मुक्त और व्यापक। प्रश्न यह है कि यह नि:सीम प्रेम धरती के आदमी के छोटे-से दिल में कैसे आए - समाए कैसे? उत्तर है कि जब असीम ससीम में आता है तो वह सीमा फैल कर नि:सीम बन जाती है। इसी को आदमी का रूपान्तरण कहते हैं तो, 'मूकमाटी' में प्रेम के द्वारा आदमी के रूपान्तरित होने की यह प्रक्रिया सजीव है। फ्रेंच कवि और चिन्तक वर्गसाँ का यह कथन कि "उपन्यासों और काव्यों आदि में जो प्रेम दिखाया जाता है, वह लोकोत्तर प्रेम से उधार लिया गया है", 'मूकमाटी' ने उसे सही साबित किया है।

खींचतान हर जगह बुरी होती है - चाहे वह दर्शन और सिद्धान्त हो अथवा साहित्य। 'मूकमाटी' में जो शब्द-चातुर्य दिखाने का प्रयास किया गया है, वह दूर की कौड़ी मारना है। यह खिलवाड़ न होता तो श्रेयस्कर होता। इससे रस में व्याघात पहुँचा है और "रसो वै स:" का जन्म नहीं हो पाया है। रस का जन्म तभी हो पाता है जब भाव-विभाव-अनुभाव का स्वाभाविक परिपाक हुआ हो। यह तभी सम्भव है, जब उसकी अभिव्यक्ति सहज हो। उसका मुख्य उपकरण है - शब्द। शब्द के अर्थ को चकरदण्ड देने से रस मूर्च्छित हो जाता है।

'मूकमाटी' के रचयिता एक जैनाचार्य हैं। उन्हें दर्शन का तल-स्पर्शी ज्ञान है। वे कृशकाय तपस्वी हैं। तप ही उनका जीवन है किन्तु साहित्य की ओर उनका भावात्मक अभियान मुझे अच्छा लगा। उन्होंने अध्यात्म का भावोन्मेष कर उसे सहज बना दिया है। इससे वह जनसाधारण की समझ में आ पाता है। उन्होंने हिन्दी भाषा की आधुनिक काव्यशैली को अपना कर राष्ट्र को गौरवान्वित किया है। हिन्दी भाषा भी धन्यभाक् बनी है।

यह सत्य है कि प्राचीन काल से ही जैन आचार्यों ने दर्शन, सिद्धान्त और प्रतिष्ठाओं आदि में जहाँ रुचि दिखाई, वहाँ काव्य का क्षेत्र भी उनसे अछूता नहीं बचा। अनेकानेक भावपूर्ण स्तुति एवं स्तोत्र काव्यों की उन्होंने रचना की है। आज भी वे उनकी लोकप्रियता के मानस्तम्भ हैं। शंकराचार्य 'अद्वैतवाद' से नहीं, 'भज गोविन्दम्' से अधिक जाने या समझे जाते हैं। इसी प्रकार मैं समझता हूँ आचार्य श्री विद्यासागर भी 'मूकमाटी' से जन-जन के बीच लोकप्रिय होंगे।

पृष्ठ १६८
जुत को प्रसूत करु...
..... प्रसूती माँ की
आँखों में/सोती हुई करुणा,

□

आधुनिक युग की मनुस्मृति और गीता : 'मूकमाटी'

डॉ. परमेश्वर दत्त शर्मा

जैनाचार्य सन्त कवि श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा विरचित 'मूकमाटी' युगप्रवर्तक महाकाव्य है। यह महाकाव्य ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा चेतना का अभिनव शास्त्र है। यह आधुनिक युग की मनुस्मृति और गीता भी है। यदि 'रामायण', 'महाभारत', 'पउमचरिउ' तथा 'रामचरितमानस' के रचयिता वाल्मीकि, व्यास, स्वयम्भू और तुलसी सन्त कवि हैं तो 'मूकमाटी' के रचयिता आचार्य विद्यासागर भी वीतराग सन्त कवि हैं। सूफी सन्त महाकवि मलिक मोहम्मद जायसी का महाकाव्य 'पदमावत' यदि आध्यात्मिक रूपक है, महाकवि जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' यदि मनोवैज्ञानिक रूपक है तो 'मूकमाटी' धार्मिक रूपक है। वस्तुतः यह हिन्दी काव्य जगत् का गौरव ग्रन्थ है।

सांस्कृतिक कथानक

आचार्य श्री विद्यासागरजी की काव्य प्रतिभा का यह अद्‌भुत चमत्कार है कि माटी जैसी अकिंचन वस्तु को महाकाव्य की विषय-वस्तु बनाकर उसकी मुक्ति की कामना को वाणी दी है। कुम्भकार शिल्पी ने मिट्टी की ध्रुव और भव्य सत्ता को पहचानकर, कूट-छानकर, वर्णसंकर कंकरों को हटाकर उसे निर्मल मृदुता का लाभ दिया। फिर जल देकर प्राण प्रतिष्ठा की, चाक पर चढ़ाकर कुम्भ का रूप दिया, संस्कारित कर अवे में तपाया और फिर मंगल घट का रूप दिया। मंगल घट ने सांसारिक परिवारी सेठ को महासन्त गुरु के सत्कार का सुअवसर दिया। सन्त के सत्संग से सेठ को विराग जागा और वह सब कुछ त्याग कर नीराग साधु की शरण में चला गया। वीतराग महासन्त ने कुम्भ, कुम्भकार, श्रेष्ठी, आतंकवाद और धरती को 'शाश्वत सुख के लाभ' की कामना की। यद्यपि मिट्टी की महिमा का गान इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य है, तथापि उसकी मुक्ति यात्रा में अनेक प्रसंग जुड़ते गए हैं। माटी से मंगल घट का निर्माण तो साधना का क्षेत्र है, किन्तु मंगल घट के संपर्क से कर्मबद्ध आत्मा की मुक्ति का क्षेत्र सिद्धि क्षेत्र है। सिद्धि क्षेत्र की अनन्त समस्याएँ हैं। उन सबका विस्तृत आख्यान प्रासंगिक कथाओं में बिखरा पड़ा है किन्तु मूल कथा में साधक को जिन जिन अवस्थाओं से गुज़रना पड़ता है उनका उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है—धरती माँ कृतकार्य कुम्भ से कहती है कि 'बेटा! तुम्हारी उन्नति और प्रणति देखकर मैं प्रसन्न हूँ। तुमने मेरी आज्ञा का पालनकर शिल्पी कुम्भकार के संसर्ग में आकर विकासशील जीवन का प्रारम्भ किया—यह पहला चरण था। अहंकार त्याग कर कुम्भकार को श्रद्धापूर्वक समर्पण किया—यह दूसरा चरण था। अग्नि परीक्षा जैसी कठोर परीक्षाओं में सफल हुए—यह तीसरा चरण था। क्षणभंगुर जीवन को स्वाश्रित, ऊर्ध्वगामी और ऊर्ध्वमुखी बनाया—यह अन्तिम चरण था। इस प्रकार जन्मा से अजन्मा होना, जीवन का वर्गातीत अपवर्ग होना है—शाश्वत सुख पाना है' (पृ.४८२-४८३)।

इस कथानक के द्वारा कवि ने आत्मा के उत्कर्ष की, मुक्ति यात्रा की कथा का रूपक बाँधा है। इसमें 'धरती' को ध्रुवसत्ता 'मूकमाटी' को पवित्र आत्मा, 'कुम्भकार शिल्पी' को पथ-प्रदर्शक गुरु, 'मंगल घट' को निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु, 'अतिथि सन्त' को विराग चेतना, 'आतंकवाद' को सांसारिक माया, प्रलोभन, बाधक तत्त्व का और 'नीराग साधु' को अर्हन्त जिनदेव का प्रतीक माना गया है। मूल पात्रों के अतिरिक्त चेतन और अचेतन पदार्थों का मानवीकरण कर कवि ने उनके गुण-धर्ममय स्वरूप का निरूपण भी पात्र रूप में किया है। यथा—कंकर, कुदाली, गदहा, लेखनी, कुलाल-चक्र, आलोक, डण्डा, कील, डोरी, अनल, अनिल, जल, गगन, भूमि, तानपूरा, वाद्ययन्त्र, गजमुक्ता, राजा, स्वर्ण कलश, झारी, मच्छर, मत्कुण, विविध रत्न, हाथी, सिंह, नाग-नागिन, प्रलयवृष्टि, बाढ़, रस्सी, जलजन्तु, चक्रवात आदि मानवी भाषा में सम्भाषण करते और अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य करते हैं, किन्तु दया और

अहिंसा का आश्रय ग्रहण करके धर्मानुरागी बन लोक कल्याण में प्रवृत्त हो जाते हैं। कवि की ये मौलिक चिन्तनाएँ और धर्म के प्रति अटूट आस्थाएँ हैं।

तर्कसंगत संघटना

महाकाव्य का नाम कवि ने 'मूकमाटी' दिया है। माटी कभी बोलती नहीं किन्तु उसकी महिमा अपार है। सन्त कबीर की ये पंक्तियाँ इस प्रसंग में सार्थक हैं : "माटी कहे कुम्हार से, तू क्यों रूँधै मोय। इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँधौंगी तोय"। माटी की यह वेदना विद्यासागरजी को करुण बना गई और उन्होंने माटी पर 'मूकमाटी' महाकाव्य रच दिया। माटी ने अपनी शुद्धि यात्रा में चार सोपान चढ़े, इसलिए कवि ने महाकाव्य को चार खण्डों में विभक्त किया, जिनके नाम हैं क्रमशः– १. संकर नहीं : वर्ण-लाभ २. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं ३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन और ४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख। पहले खण्ड में कंकर-कर्कट-कूड़े से युक्त मिट्टी को कुम्भकार द्वारा खोद-कूट-छानकर अपमिश्रण से मुक्त करने और उसको मृदु स्वरूप में लाने की प्रक्रिया का वर्णन है। दूसरे खण्ड में 'माटी' का उच्चारण मृदु शब्द है। इस शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना बोध है। कुम्भकार माटी में निर्मल जल मिलाकर प्राण फूँकता है और इस बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना शोध है कि 'अज्ञानी ने नव ज्ञान पाया है'। माटी जल मिश्रित हो कुलालचक्र पर लोंदा बन चढ़ी, कच्चे घट के रूप में सूखी और धर्म-संस्कार-चिह्नों से अंकित हो अहंकार को छोड़ चुकी है। तीसरे खण्ड में माटी ने मन, वचन, काय की निर्मलता से और शुभ कार्यों तथा लोक कल्याण के सम्पादन से पुण्य प्राप्त किया तथा क्रोध, लोभ, मान, माया, मोह का परित्याग कर पाप को धो डाला। महाप्रलय के मध्य पंच तत्त्वों की परस्पर स्पर्धा समाप्त कर कच्चा घट राजा को लोभ मुक्त कर देता है तथा स्वयं साधना की अगली यात्रा प्रारम्भ करता है। चौथा खण्ड अपने आप में एक महाकाव्य है। मंगल घट को अवे में तपाना, श्रेष्ठी से मंगल घट का सहचार, भ्रामरी वृत्ति हेतु आगत अतिथि-सन्त को भोजनदान तथा श्रेष्ठी का विराग और वीतराग सन्त की शरण में जाना ही चाँदी-सी राख पाना है। नीराग महामुनि ने कहा 'बन्धन रूप, तन, मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है और मोक्ष पाकर संसार में आना सम्भव नहीं'। यही जीवन का उज्ज्वल पक्ष है, चाँदी है। इस प्रकार कवि ने महाकाव्य की संघटना तर्कसंगत विधि से करके अपने सृजन को प्रयोजनमूलक बनाया है। माटी के कल्याणकारी रूप के विकास के चार सोपान हैं– अकिंचनावस्था, साधनावस्था, सिद्धावस्था और प्रयोजनावस्था। उसने जिस सरिता तट से निरीहावस्था में मुक्ति यात्रा प्रारम्भ की थी, उसी सरिता तट में उसके उत्कर्षशील रूप मंगल घट ने आत्म कल्याण, लोक कल्याण और विश्व कल्याण के लिए मुक्ति यात्रा समाप्त की है।

रचना का उद्देश्य

'मूकमाटी' की रचना क्यों की गई ? इस सम्बन्ध में कवि से स्वयं स्पष्टीकरण किया है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में 'मानस तरंग' नामक भूमिका लिखी है। उसमें श्रमण संस्कृति में निहित दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है। इसके सात्त्विक अनुशीलन से शृंगार रस के जीवन में वैराग्य उभर आता है, लौकिक अलंकार अलौकिक बन जाते हैं, शब्द को अर्थ और अर्थ को परमार्थ प्राप्त होता है, नूतन शोध प्रणाली को नई दृष्टि मिलती है, आध्यात्मिक काव्य सृजन की शुद्ध चेतना जाग्रत होती है, वर्ण-जाति-कुल की व्यवस्था के प्रति आस्था जगती है और शुद्ध-सात्त्विक जीवन में धर्म की प्रतिष्ठा होती है। सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करने, युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित करने तथा भोग से योग की ओर मोड़कर श्रमण संस्कृति को जीवित रखने की निष्ठा उत्पन्न होती है (देखें– पृ. XXIV, भूमिका)। वीतराग श्रमण संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन के द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय–धर्म,

अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से मानव मात्र की कल्याण कामना 'मूकमाटी' का महान् उद्देश्य है। श्रमण संस्कृति का मूल है– अहिंसा। अहिंसा की उपासना निर्ग्रन्थ साधु का मूल धर्म है (पृ. ६४-६५)। इसीलिए मानव मन के विषयजन्य कषायादि मनोविकारों (आतंकवाद) को जीतकर सदाचरण युक्त अनन्तजीवन की शुरुआत करने की प्रेरणा मूकमाटी देती है। *''श्रमण-साधना के विषय में /और/अक्षय सुख-सम्बन्ध में/ विश्वास नहीं हो रहा हो/तो.../आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ /वहाँ आकर देखो मुझे,.../इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी/...मगर/मार्ग में नहीं मंजिल पर''* (पृ.४८७-४८८) – ये शब्द हैं पूज्यपाद नीराग सन्त के। यही बात भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कही है। श्री कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि जो मनुष्य दोषदृष्टि से रहित होकर श्रद्धापूर्वक मेरे मत का सदा आचरण करते हैं वे भी सम्पूर्ण कर्मों के बन्धन से मुक्त हो जाते हैं :

''ये मे मतमिदं नित्यं अनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥'' (गीता-३/३१)

भारतीय संस्कृति की 'सब सुखी रहें, सब निरोग हों, सबका कल्याण हो, कोई दुखी न रहे' की उदात्त भावना को भी 'मूकमाटी' ने यह स्वर दिया है : *''यहाँ ''सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,/सबके सब टलें–/अमंगल भाव !''* (पृ. ४७८)

मूल-विचारणा-बिन्दु

वैचारिक दृष्टि से 'मूकमाटी' का पटल अत्यन्त विस्तृत है। धर्म, दर्शन, अध्यात्म, संस्कृति, साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, काव्य, व्याकरण, चिकित्सा आदि सभी तो विद्यमान हैं इसमें अपनी पूर्णता में। धर्म के बारे में कवि के विचार :

- *''हम निर्ग्रन्थ-पन्थ के पथिक हैं।''* (पृ. ६४)
- *''धम्मो दया-विसुद्धो।''* (पृ. ७०, ७१)
- *''धम्मं सरणं गच्छामि।''* (पृ. ७०)
- *'' धम्मं सरणं पव्वज्जामि।''* (पृ. ७५)
- *''सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना...।''* (पृ. ८७)
- *''दयाविसुद्धो धम्मो।''* (पृ. ८८)
- *''खम्मामि, खमंतु मे।''* (पृ. १०५)

अध्यात्म विषयक विचार हैं :

''स्वस्तिक से अंकित हृदय से/अध्यात्म का झरना झरता है।...
बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं/...स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।'' (पृ. २८८)

दर्शन के सम्बन्ध में कवि की मान्यता है :

दर्शन : *''दर्शन का स्रोत मस्तक है.../दर्शन का आयुध शब्द है– विचार, (वह) ज्ञान है, ज्ञेय भी।''* (पृ.२८८-२८९)
संसार : *''जो सम्यक् सरकता है।''* (पृ.१६१)
भारतीय संस्कृति : *''सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।''* (पृ.१०३)

'ही' और 'भी': *'' 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति... ।'' (पृ. १७३)*
साहित्य : *''जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो ।'' (पृ. १११)*
कला : *''कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है ।'' (पृ. ३९६)*

'नारी' : आचार्यश्री ने नारी की महिमा को स्वीकारा है। उसके पर्यायवाची शब्दों के व्युत्पत्तिपरक व्याकरणिक अर्थों से नवीन अवधारणाएँ स्थापित की हैं। नारी याने मित्र, महिला याने मार्गदर्शक, अबला याने वर्तमान में लाने वाली, स्त्री याने पुरुष को संयत करने वाली, अंगना याने शरीर ही नहीं आत्मा को बतलाने वाली, कुमारी याने सम्पत्तिदात्री, सुता याने सुख-सुविधाओं का स्रोत, दुहिता याने अपना और पति दोनों का हित साधने वाली और मातृ याने ज्ञाता और ज्ञेय की धारिणी (पृ.२०१-२०७)। इन अर्थों में कवि की प्रतिभा का चमत्कार लक्षित होता है।

दण्ड-संहिता : *''प्राणदण्ड से/औरों को तो शिक्षा मिलती है,/परन्तु*
जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्डसंहिता इसको माने या न माने,
क्रूर अपराधी को/क्रूरता से दण्डित करना भी
एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है ।'' (पृ. ४३१)

चिकित्साशास्त्र : 'स्वस्थ तन - स्वस्थ मन' के मन्त्र का समर्थन करने वाले सन्त कवि ने एलोपैथिक चिकित्सा की अपेक्षा आयुर्वेदिक और प्राकृतिक उपचार का समर्थन किया है। माटी सब रोगों का उपचार है (पृ. ४०५-४०६)।

इसी प्रकार मणि, मुक्ता, हीरा, पुखराज, स्फटिक, माणिक और नीलम आदि असाध्य रोगों के उपचारक हैं (पृ. ४११-४१२) तथा चन्दन, घृत, तैल और दुग्ध दाह-रोग नाशक हैं (पृ. ४१३-४१४)।

संगीत : संगीत के सप्त स्वरों की व्याख्या कवि ने यों की है :

''सा''रे ग''म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प''ध यानी ! पद—स्वभाव/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता ।'' (पृ. ३०५)

वाद्य के अर्थ में नवीनता है :

''धा''धिन्''धिन''धा''/चेतन-भिन्ना चेतन-भिन्ना,...
ता''तिन''तिन''ता''/का तन''चिन्ता, का तन''चिन्ता ?'' (पृ. ३०६)

संस्कृति : मंगल कलश को संस्कारित करते समय शिल्पी ने जो संख्याओं का अंकन और चित्रों का चित्रणं किया, वह भारतीय कला के उत्कृष्ट नमूने हैं। ९ का अंक अविनश्वरता, ९९ के अंक नश्वरता के, ६३ के अंक त्रिषष्ठिशलाका पुरुषों के, ३६ के अंक विरोध के और ३६३ के अंक संघर्ष के द्योतक हैं। कलश पर सिंह, श्वान, कच्छप और खरगोश के, चन्द्र-बिन्दुयुक्त ओंकार और स्वस्तिक आदि को अंकित कर कवि ने सोद्देश्य कला को प्रश्रय दिया है (पृ.१६६-१७६)। 'कर पर कर दो', 'मैं दो गला', 'मर, हम मरहम बनें' और 'प्रमाद पथिक का परम शत्रु है' जैसे आलेख प्रबोध के हेतु हैं। कलश के गले में लिखित 'ही' का अक्षर एकान्त दर्शन का और 'भी' का अक्षर अनेकान्त दर्शन का बोधक है।

विज्ञान : जल-प्लावन के द्वारा सागर ने धरती पर अत्याचार किया। धरती के मित्र इन्द्र ने बादलों पर वज्र प्रहार किया। बादलों ने विद्युत् प्रहार किया, गड़गड़ाहट से सौर मण्डल बहरा हो गया। बादलों ने ओलावृष्टि की।

सौरमण्डल और भूमण्डल में अणुयुद्ध छिड़ गया—ऊपर अणुशक्ति काम कर रही, नीचे मनु की शक्ति विद्यमान। एक विज्ञान है। एक आस्था है। ऊपर वाले के पास केवल दिमाग है, वह विनाश का पाठ पढ़ सकता है (पृ. २४९)। इस प्रसंग में कवि ने विज्ञान की मानसिकता का बिम्ब खींचा है। अन्तरिक्ष युद्ध के परिणाम सर्वनाशकारी होंगे, कवि की यही धारणा है।

व्याकरण : आचार्यश्री व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उनके मुख से शब्दब्रह्म निर्झर की भाँति अजस्रधारा में प्रवाहित होता है। शब्दों की व्युत्पत्तियों से, शब्द चमत्कार से अर्थ-बोध प्रतिष्ठापित करते हैं। 'मूकमाटी' में सैकड़ों स्थल ऐसे हैं जहाँ शब्दों की परतों से नवीन प्रसंगों की उद्भावना की गई है। बानगी देखिए— सहित का भाव ही साहित्य बाना है (पृ. १११); 'कुं' यानी धरती, 'भ' यानी भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो, कुम्भकार कहाता है (पृ. २८); 'न अरि' नारी अथवा आरी नहीं, सो नारी (पृ. २०२); 'नि' यानी निज में ही, यति यानी यतन—स्थिरता है, अपने में लीन होना ही नियति है (पृ. ३४९); 'भू'-सत्तायां' कहा है ना, कोषकारों ने (पृ. ३९९); सृज्— धातु की भाँति, भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा तुमने स्वयं को जो निसर्ग किया, सो सृजनशील जीवन का अपवर्ग हुआ (पृ. ४८३)।

व्यजंक भाषा-शैली

आचार्यश्री की भाषा इतनी सहज और लचीली है कि उसका अर्थबोध सामान्यजन को तो बोधगम्य है, पर विज्ञजनों के लिए मनन को बाध्य करता है। लोक प्रचलित मुहावरों, कहावतों, सूक्तियों और लोकोक्तियों का समावेश काव्य की पंक्तियों में जिस सहजता से किया गया है, वह कुशल भाषाशास्त्री को सरस वाणी का अभिसार है। लयमयी मुक्तछन्दों की सरिता कहीं रागमयी बन क्षिप्रता से बह निकलती है तो कहीं मृदु, मन्द मन्द, मन्थर मन्थर गति से भाव गम्भीरता में लीन हो जाती है। "कछुए की चाल चलना, शतरंज की चाल चलना, मन की बात मन में रहना, दोगला होना, लक्ष्मण रेखा" जैसे मुहावरे लयमयी भाषा के मुखौटे हैं। *"पूत का लक्षण पालने में" (पृ. १४ एवं ४८२), "नाक में दम कर रक्खा है" (पृ. १३५), "नया मंगल तो नया सूरज" (पृ. २६३), "बहता पानी और रमता जोगी" (पृ. ४४८), "श्वान का श्वान को देखकर गुर्राना" (पृ. ७१)*— जैसी कहावतों से भाषा का शृंगार हुआ है। *"बायें हिरण दायें जाय-लंका जीत राम घर आय" (पृ. २५), "आधा भोजन कीजिए, दुगुणा पानी पीव, तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी, वर्ष सवा सौ जीव" (पृ. १३३), "माटी, पानी और हवा, सौ रोगों की एक दवा" (पृ. ३९९), "बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख" (पृ. ४५४)* जैसी लोकोक्तियों ने भाषा को व्यंजक बना दिया है। *"जैसी संगति वैसी मति" (पृ. ८), "आस्था के बिना रास्ता नहीं, मूल के बिना चूल नहीं" (पृ. १०), "पापी से नहीं, पाप से, पंकज से नहीं, पंक से, घृणा करो" (पृ. ५०), "वसुधैव कुटुम्बकम्" (पृ. ८२), "आमद कम खर्चा ज्यादा, लक्षण है मिट जाने का, कूबत कम गुस्सा ज्यादा, लक्षण है पिट जाने का" (पृ.१३५), "नाक में दम कर रक्खा है" (पृ. १३५), "उत्पाद-व्यय ध्रौव्य-युक्तं सत्/...आना जाना लगा हुआ है" (पृ. १८४-१८५), "अर्थ की आँखें, परमार्थ को देख नहीं सकतीं" (पृ. १९२), "चेतन वाले वतन की ओर, कम ध्यान दे पाते हैं, और चेतन वाले तन की ओर, कब ध्यान दे पाते हैं" (पृ. १२३), "श्रमण का शृंगार ही समता-साम्य है" (पृ. ३३०)* जैसी सूक्तियाँ भाषा को व्यंजित कर रही हैं। वर्ण-विपर्यय, वर्ण-विच्छेद, शब्द-विग्रह, शब्द-विलोम, पदच्छेद और शब्द क्रीड़ा की वाग्विदग्धता से आचार्यश्री ने पद लालित्य के द्वारा 'मूकमाटी' में अर्थ चमत्कार उत्पन्न किया है। यथा— 'दया-याद, राही-हीरा, खरा-राख, लाभ भला, नदी-दीन' में वर्ण-विपर्यय द्वारा; 'नारी=न+अरि, गद+हा, कम+बल, नम+न, तप+न, महि+ला, अब+ला, धर+ती, तीर+थ' जैसे रूपों में पद-विच्छेद के द्वारा तथा 'मर+हम, कु+मा+री, काय+रता, दो+गला' जैसे रूपों द्वारा शब्द-वैचित्र्य उत्पन्न किया है, जिससे अर्थ चमत्कृत हो उठा है। काव्यरूप होने से मुक्त छन्दों का प्रवाह तो लयात्मक है ही, साथ ही दोहा, वसंततिलका जैसे मात्रिक, सममात्रिक और अर्द्ध सममात्रिक छन्दों का

प्रयोग कृति को रोचक बना देता है। संस्कृतनिष्ठ भाषा में प्रवचनपरक दृष्टान्तयुक्त संवाद शैली में कथानक के रोचक विकास से कृति सार्थक हो उठी है।

कलात्मक महाकाव्य, न कि प्रवचनात्मक

प्रवचनकाल में प्रवचनकार और लेखनकाल में लेखक दोनों अतीत में लौट जाते हैं किन्तु साहित्यिक रस को इन दोनों से अधिक कोई आत्मसात् करता है, तो वह है श्रद्धा से अभिभूत प्रवचन-श्रवण-कला-कुशल श्रोता। आचार्यश्री विद्या के अतलस्पर्शी महासागर हैं, जिनके पगतल में ज्ञान की अनन्त रत्नराजि बिखरी पड़ी है। इसलिए उनके मुखारविन्द से जो भी उच्चरित होता है वे शब्द, शब्दज्ञान के भास्वर रत्न हैं। 'मूकमाटी' स्वानुभूतियों का अक्षय भण्डार है। इसमें क्या नहीं है ? सन्त कवि का आँखों देखा संसार है, उसका सत्-असत् रूप है, उस संसार का इतिहास है, उसका वर्तमान है और है भविष्यत् का स्वरूप। माटी की साधना का ऊर्ध्वमुखी फल अनश्वर सुख है, शाश्वत सुख के अधिकारी जड़-चेतनपात्र हैं तथा अभिव्यंजनमयी भाषा में व्यक्त विचार, चेतना हैं। उस चेतना के भीतर प्रवाहित दर्शन और संस्कृति को सौन्दर्य से मण्डित करने वाली कला है। इस कला को रसात्मक बनाने वाले रसों का समावेश है। वीर रस के उत्साह से प्रारम्भ कर हास्य, रौद्र, क्रोध, भय, विस्मय, शृंगार, करुणा, बीभत्स, वात्सल्य की सरणियों को पार करता हुआ शिल्पी, रस का परिपाक शान्त रस में करता है (पृ. १६०)। कला सरस हो जाती है। अभिधा, लक्षणा, व्यंजना और तात्पर्याख्या शब्द शक्तियाँ इस सरस कला-काव्य को मुलम्मा चढ़ा देती हैं।

काव्य का आरम्भ सरिता तट की विशाल प्रकृति पटी पर हुआ है, जहाँ काव्य की नायिका माटी, माँ धरती से प्रार्थना करती है कि उन्नत जीवन के लिए बेटी को घर से विदा करे। उषा की लालिमा ने उसका अभिवादन किया और प्रकृति उसकी सहचरी बनकर उसका पाथेय बनी। प्रकृति ने कभी मानवी रूप में, कभी उद्दीपन रूप में, कभी प्रतीक रूप में, कभी उपदेशिका के रूप में और कभी सन्देशवाहिका के रूप में और कभी रौद्र या सौम्य रूप में 'मूकमाटी'को अपनी सेवाएँ दीं। कवि ने प्रकृति के विविध रूपों का चित्रण यथाप्रसंग किया है (पृ. १, ११९, १९९, २१५, २२८, २५७, २६१, २६५, २२७, २५९-६०, ४२३)। सर्दी, गर्मी और वर्षा ऋतुओं ने भी माटी की विकास यात्रा में सहायता की। माटी में पानी देकर जब शिल्पी ने उसमें नवप्राणों का संचार किया, तभी ठिठुराने वाली शिशिर ऋतु आई (पृ. ९०-९४)। कुम्भ के जलतत्त्व को सुखाने के लिए जब शिल्पी ने घट को धूप में रखा, तब प्रभाकर का प्रचण्ड रूप, चिलचिलाती धूप और धगधगाती लपटें तपन बरसाने लगीं (पृ. १७७-१८४)। यह ग्रीष्म थी। मंगल घट का अनुगामी श्रेष्ठी परिवार आतंकवाद से परित्राण पाने के लिए जब सरिता तट में आया, तब वर्षा ऋतु ने विकराल रूप दिखाया-मूसलधार वर्षा होने लगी (पृ. ४३८-४३९)। कवि ने इसका प्रासंगिक किन्तु विस्तृत वर्णन किया है।

'मूकमाटी' के लौकिक अलंकार अलौकिक हो गए हैं। साम्यमूलक अलंकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और तुल्ययोगिता के प्रयोगों की भरमार है। *"कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की-सी/दशा है सेठ की" (पृ. ३५१), "लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह" (पृ. २), "नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी/अपने घुटने टेक देता है" (पृ. २६९)*। शब्दालंकारों में अनुप्रास, यमक, श्लेष और लाटानुप्रास के द्वारा शब्द-चमत्कर व्यंजित हैं– *"किसलय ये किसलिए/किस लय में गीत गाते हैं ?" (पृ. १४१), "कभी-कभी खुशी-हँसी,/कभी निशि मषि दिखी" (पृ. १८३), "बादल दल छँट गये हैं/काजल-पल कट गये हैं/वरना, लाली क्यों फूटी है" (पृ. ४४०)* और *"प्रभा तो प्रभावित हुई, परन्तु,/प्रभाकर का पराक्रम वह/प्रभावित --पराभूत नहीं हुआ" (पृ. २००)*। राजनीतिक व्यंग्यों में अन्योक्ति, सामाजिक परिवेश में प्रश्न तथा दार्शनिक सन्दर्भों में सन्देहालंकार का खुलकर प्रयोग हुआ है। यदि बारीकी से विश्लेषण किया जाए तो शास्त्रों में परिगणित अलंकारों से अधिक अलंकार इस महाकाव्य में उपलब्ध हो जाएँगे।

संस्कृत की कोमलकान्त पदावली में भावों की स्रोतस्विनी, निर्मल प्रवाह में अनुभूतियों के स्वच्छ रूपों की अभिव्यक्ति को सन्त कवि ने सहज सुबोध और सुगम बनाया है, जिससे वह अभिव्यक्ति पाठक या श्रोता को सरलता से समझ में आ जाती है। प्रति पंक्ति का भाव कथा, उपकथा, संवाद या उपदेश के द्वारा कवि ने स्पष्ट रूप से समझाया है किन्तु पुनरावृत्ति से कवि बचा है। इसलिए श्रमण संस्कृतिमूलक धारणाओं को भी सहजता से समझा जा सकता है। कथा में कहानी-सी रोचकता, निर्जीव और सजीव पात्रों के संवादों में नाटकीयता तथा शब्दों के अर्थ की सरस व्यंजना इस महाकाव्य को सुनने-गुनने की आकांक्षा जाग्रत करती है। रसों की सरस व्यंजना, प्रकृति का सजीव चित्रण, अलंकारों का चमत्कारिक प्रयोग, भाषा का पद लालित्य और वाणी का अर्थगौरव 'मूकमाटी' को कलाकाव्य के आसन पर विराजमान कर देते हैं।

युगचेतना की अभिव्यक्ति

आचार्यश्री ने निरपेक्ष द्रष्टा प्रवचनकार के रूप में समसामयिक मूल्यों पर निष्पक्ष दृष्टि डाली है। व्यक्ति के कुसंस्कार, समाज की विषमता, राजनीतिक, नैतिक और धार्मिक पाखण्डों पर उन्होंने पर्याप्त कटाक्ष किए हैं। आप जब यह लिखते हैं कि *"लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं"* (पृ. ३८६), तब मनुष्य मात्र की नैतिकता पर प्रहार करते हैं। नेताओं के झूठे आश्वासनों पर उनका क्षोभ द्रष्टव्य है : *"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/...कपटता की पटुता को/जलांजलि दो।"* (पृ. ३८७)। पंजाब, कश्मीर और असम में व्याप्त आतंकवाद के सम्बन्ध में कवि का सन्देश है : *"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !/...समष्टि जिया करो !"*(पृ. १४९)। लोकतन्त्र के सम्बन्ध सम्बन्ध में कवि का अभिमत है कि *"लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा/जब तक 'भी' (अनेकान्त) श्वास लेता रहेगा"* (पृ. १७३), *"प्रायः बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,/पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है"* (पृ. ३८२)। राजनीतिक दलों की स्थिति पर कवि का चिन्तन है : *"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना !"* (पृ. १९७)। सब के उदय की बात, 'जियो और जीने दो' की बात को नकारने वाले समाजवाद पर सन्त कवि की धारणा है : *"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।/समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे"* (पृ. ४६१)। सन्त कवि ने धर्म के झण्डाबरदारों को उनके पाखण्डमय आचरण के लिए भर्त्सना की है : *"चोरी मत करो, चोरी मत करो/यह कहना केवल/धर्म का नाटक है"* (पृ. ४६८)। युगजीवन की ऐसी अनन्त विचारणाओं पर कवि ने अपने मन्तव्य व्यक्त किए हैं।

विवेचना

'मूकमाटी' आधुनिक युग का श्रेष्ठ सांस्कृतिक महाकाव्य है। सन्त-कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने श्रमण संस्कृति के संरक्षण के व्याज से मानव संस्कृति की संरक्षा का दायित्व ग्रहण किया है और साम्प्रदायिक संकीर्णता से परे रहकर उदार दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति को अभिव्यक्त किया है। चेतन-अचेतनों में आत्मा का संचार करके कवि ने मूकमाटी की प्रतीकात्मकता को प्राणीमात्र की मुक्ति-यात्रा का रूपक बना दिया है। कुम्भकार शिल्पी पथ-प्रदर्शक गुरु है, मंगल घट सांस्कृतिक गुरु तथा श्रेष्ठी परिवार कर्मबद्ध आत्मा है। बाधक है आतंकवाद, जो अहिंसा के द्वारा हृदय को परिवर्तित कर नीराग साधु के सान्निध्य में श्रमण साधना को अपनाकर शाश्वत सुख पाना चाहता है।

कवि का मन्तव्य कथाछलेन जैन सिद्धान्तों का प्रकाशन है। कथा का कलेवर क्षीण है, प्रासंगिक कथाएँ उपदेशात्मक हैं, निर्जीव पात्रों का चित्रण नाटकीय है, संवादों में विभिन्न विषयों की परिभाषाएँ दी गई हैं, जो बोधगम्य होकर भी परम्पराओं का नव-मूल्यांकन करती हैं।

आचार्यश्री सन्त हैं, बहुज्ञ हैं, बहुश्रुत हैं और संयमशील कवि हैं। उन्होंने बहुत कुछ पढ़ा है, बहुत कुछ लिखा

है, बहुत कुछ देखा है और बहुत कुछ गुना है। इसलिए छोटे-मोटे रचनाविधानों में औचित्यात्मक संघटना को महत्त्व नहीं देते।

'मूकमाटी' के प्रथम तीन खण्ड तो सन्तुलित हैं, किन्तु चौथा खण्ड तीनों खण्डों के जोड़ की पृष्ठ संख्या के लगभग समान ही पृष्ठ संख्यावाला है। चौथे खण्ड का कथानक भी विस्तृत है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से संघटनौचित्य का निर्वाह नहीं हो पाया है।

आचार्यश्री का उद्देश्य लोक मंगल और लोक कल्याण की साधना है। वे चाहते हैं कि समाज को सब प्रकार से संस्कारित किया जाए। इसलिए उनके पास जो है, उसे वे जन-गण में बाँट देना चाहते हैं। 'लो धर्म, लो दर्शन, लो अध्यात्म, लो कर्मकाण्ड, लो आचरणशास्त्र, लो भारतीय संस्कृति, लो काव्य, लो कला, लो राजनीति, लो समाजनीति, लो दण्डनीति, लो चिकित्साशास्त्र, लो युद्धविद्या, लो विज्ञान, लो व्याकरण, लो लोकभाषा,लो लोकतन्त्र, लो समाजवाद, लो आचारशास्त्र, लो सब कुछ जो मैं जानता हूँ' की अभिव्यक्ति ने 'मूकमाटी' को काव्य की अपेक्षा ज्ञानकोष बना दिया है। पाठक या श्रोता पढ़-सुनकर बार बार उसकी परिभाषाओं को दुहराता है। मंगल घट की साज-सज्जा को परखना हो या अतिथि-साधु को भोजन-पान कराना हो तो विधि-विधान के लिए 'मूकमाटी' को सन्दर्भित करो। वस्तुत: यह ग्रन्थ ज्ञान का भण्डार है।

आचार्यश्री समय समय पर पद-विहार करते रहते हैं, अत: अनुभूतियों का अक्षय कोष उनके पास है। वे वर्तमान की सात्त्विक चेतना के प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं। 'मूकमाटी' के रचनाकाल की तात्कालिक घटनाओं का बिम्ब उसमें विद्यमान है। विज्ञान की विभीषिका के बिम्बों का अंकन 'मूकमाटी' में हुआ है। अणु-युद्ध और अन्तरिक्ष-युद्ध तथा नवीनतम आविष्कारों का वर्णन कवि की सजगता का प्रमाण है। आश्चर्य होता है कि सन्त होकर भी कवि सांसारिक कृत्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कैसे चित्रित कर पाया है ? प्रतिभा का वरदान ही 'मूकमाटी' जैसे शास्त्रीय महाकाव्य की सर्जना का उपादान कारण है। 'भाव, भाषा, शैली और प्रभाव की दृष्टि से 'मूकमाटी' महाकाव्य विश्व के श्रेष्ठ महाकाव्यों में अपना स्थान बना लेगा'– मेरा दृढ़ विश्वास है। अच्छा हो, इसका अनुवाद सभी भारतीय भाषाओं में हो जाय, जिससे भारतवासी यह समझ सकें कि सन्त कवि ज्ञान के, विज्ञान के, साहित्य के और संस्कृति के क्षेत्र में क्या-क्या योगदान कर रहे हैं। आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज को मेरा नमन, जिन्होंने चिन्तन और दर्शन को कलात्मक सौन्दर्य से युक्त किया 'मूकमाटी' महाकाव्य में।

❑

पृष्ठ ३२३-३२४
पराग-प्यासा भ्रमर-दल वह
..... भ्रामरी-वृत्ति कही जाती
सन्तों की!

'मूकमाटी' : एक सोद्देश्य महाकाव्य

डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर

आचार्य श्री विद्यासागरजी एक कवि से बढ़कर श्रेष्ठ जैनाचार्य हैं जो अपने धर्माचरण में निष्ठावान् और तदनुसार कठोर तपस्वी हैं। प्रज्ञाचक्षु, तपस्यारत आचार्यजी कवि कल्पना की अपूर्व सिद्धि से भी अनुगृहीत हैं। इसलिए लोक जीवन के प्राकृतिक उपादानों के रंगों से परमार्थ के रहस्यों का मोहक चित्र तैयार करने में पूर्णत: सफल बने हैं। इस सहज अभिव्यक्ति को योग परिणाम का वरदान मान सकते हैं। योग और कवित्व के संयोग से एक अमर रचना का प्रणयन हुआ है !! यही 'मूकमाटी' है।

इस रचना का मूलत: लक्ष्य जीवन को अमरत्व का सन्देश देना है। अत: इसे मात्र एक रोचक महाकाव्य न मानकर एक अपूर्व एवं सांस्कृतिक तथा सोद्देश्य चेतन परिणति मानना ही संगत होगा। ग्रन्थ के 'मानस-तरंग' में रचनाकार द्वारा यह सूचना दी गई है कि इस कृति का सृजन ईश्वर सम्बन्धी कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु हुआ है : ''कुछ दर्शन, जैन-दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं।'' इस प्रकार के प्रस्तावों का खण्डन करके यह स्थापित करना जरूरी समझा गया है कि उपर्युक्त मान्यता अथवा प्रस्ताव जैन संस्कृति की सच्चाई को न जानकर किया जाता है। वास्तव में : ''श्रमण-संस्कृति के सम्पोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं। ...ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है।'' इस प्रकार यह समझाया गया है कि जैन दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है।

इस सिद्धान्त को समर्थन देने वाले कतिपय उपनिषद् सूक्तों को उद्धृत करके यह स्थापित करने की चेष्टा की है कि यथार्थ में ईश्वर को सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है और यही नास्तिकता है। 'तेजोबिन्दु उपनिषद्' की निम्न कारिकाएँ स्पष्टत: बताती हैं :

- *''रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम्।'' (५/५१)*
- *''संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।'' (५/५२)*

सारे ब्रह्माण्ड को एक रस, चित् स्वरूप और चैतन्य रूप मानने वाला 'तेजोबिन्दु उपनिषद्' एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त है।

''अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत्
चिन्मात्र एव चिन्मात्रमखण्डैकरसं परम्।
भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि
इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मयमेव हि॥''

परम तत्त्व अखण्ड, एक रस युक्त और चैतन्य मात्र है। सब, संसार रहित सारा दृश्य और अदृश्य चिन्मात्र है। मात्र चिन्मात्र है। यह सारा चिन्मात्र है, मात्र चिन्मात्र।

असंख्य कारिकाओं से इस तत्त्व का पुन: पुन: समर्थन किया है। 'मूकमाटी' का परम तत्त्व भी शुद्ध चेतना अथवा चिन्मात्र है। इसकी व्याख्या यह है : ''जिसके प्रति-प्रसंग-पंक्ति से पुरुष को प्रेरणा मिलती है– सुसुप्त चैतन्य-शक्ति को जाग्रत करने की; जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद

आचरण के अनुरूप, उनमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है।''

अतः अविराम निरन्तरता और यात्रा क्लेश को विस्मृत कर तत्त्व को अन्त में स्वीकार करता है जीव।

''सीप का नहीं, मोती का/दीप का नहीं, ज्योति का
सम्मान करना है अब !/चेतन भूल कर तन में फूले
धर्म को दूर कर, धन में झूले/सीमातीत काल व्यतीत हुआ
इसी मायाजाल में,/अब केवल अविनश्वर तत्त्व को
समीप करना है,/समाहित करना है अपने में, बस !'' (पृ. ३०७)

माटी की पतित अवस्था को देखकर उसका महत्त्व कम करके देखना नहीं चाहिए। वह उस बीज का सक्षमरूप है जो संयोग से फूट निकलता है और महाकाय वट वृक्ष का रूप धारण करता है। लेकिन उस बीज को देखकर कोई मामूली चक्षु उसी विराट् रूपी वट वृक्ष की कल्पना नहीं कर सकता।

जीव की साक्षात् गति तभी होती है, जब वह साधना के पथ पर से जाता है। यह, अन्धकारमय संसार में विरले ही सम्भव होता है। साधना पथ स्वीकार करना कोई सुगम कार्य तो नहीं है, जबकि पाप का काम करने पर भी उसे पुण्य रूप फल की कामना है। और पाप का काम करना आसान भी है :

''पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥''

हाँ, यही दिखाई देता है :

''इसे कलिकाल का प्रभाव ही कहना होगा/किंवा
अन्धकार-मय भविष्य की आभा,/जो/मौलिक वस्तुओं के उपभोग से
विमुख हो रहा है संसार !/और/लौकिक वस्तुओं के उपभोग में
प्रमुख हो रहा है, धिक्कार !'' (पृ. ४११)

आधुनिक जीवन में मिट्टी का महत्त्व विस्मृत हो गया है। मनुष्य का शरीर स्वयं मिट्टी रूप है। उस मिट्टी के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बिछुड़ गया है। जो कृषक मिट्टी के साथ जीवन व्यतीत करता है, वह हृष्ट-पुष्ट रहता है। उसे देख रोग भयभीत हो जाते हैं। उसके घर में मिट्टी के बर्तन हैं और उसका घर भी मिट्टी से लिपा-पुता है। पर, आज के सभ्य जीवन में उस किसान की गिनती नहीं। मिट्टी का महत्त्व न जानने वाला आधुनिक सभ्यताभिमानी मानव अनेक रोगों से पीड़ित है। उसी क्रम से अनगिनत औषधियाँ भी निर्मित हुई हैं।

''औषधियों का सही मूल्य/रोग का शमन है।/कोई भी औषधि हो
हीनाधिक मूल्य वाली होती नहीं,/तथापि/श्रीमानों, धीमानों की आस्था
इससे विपरीत रीत वाली हुआ करती है,/और जो
बहु-मूल्य औषधियों पर ही टिकी मिलती है।'' (पृ. ४०८)

आज के समाज ने कहाँ सोचा है :

''अहिंसा-परक चिकित्सा-पद्धति/जीवित रहे चिर।'' (पृ. ४०९)

रोगों से विमुक्त रहने का क्रम सहज ही अपनाना है :

"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है,/और
भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)

जब मनुष्य सजग रहता है और प्रज्ञावान् रहता है तब उसकी वाणी भी सर्वसाधारण श्रुति का विषय हो रहती है :

"सत्पुरुषों से मिलने वाला/वचन-व्यापार का प्रयोजन/परहित-सम्पादन है...
तालु-कण्ठ-रसना आदि के योग से/जब बाहर आती है वही मध्यमा,
जो सर्व-साधारण श्रुति का विषय हो/वैखरी कहलाती है।" (पृ. ४०२)

पराशक्ति का चिन्मात्र रूप योगियों के लिए ज्ञेय है। तभी वह तेजोमय रूप में बाहर प्रकट होता है।

- *"परा प्रत्यक् चितिरूपा पश्यन्ती परदेवता।*
  मध्यमा वैखरी रूपा भक्तमानसहंसिका॥" (ललिता सहस्रनाम)
- *"पश्यन्तीव न केवलमूर्त्तीणा नापि वैखरीव बहिः*
  स्फुटतरनिखिलावयवा वाग्रूपा मध्यमा॥" (योग शास्त्र)

यह सुदीर्घ साधना का फल है :

"त्रिभुवन-जेता त्रिभुवन-पाल/ओंकार का उपासन
भीतर-ही-भीतर चल ही रहा है।" (पृ. ४०१)

यही आनन्दमय है ('आनन्दमयोऽभ्यासात्' - ब्रह्मसूत्र, १२)।

'तैत्तरीयोपनिषद्' में ब्रह्मानन्द वल्ली की उक्ति के अनुसार आनन्दमय को अन्य किसी अन्तरात्मा की सूचना नहीं मिलती।

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥" (तैत्तरीय)

जहाँ से मन के ही साथ वाणी भी उससे न मिलकर लौटती है उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला किसी से भयभीत नहीं होता। यहाँ आनन्द ही ब्रह्म है।

लोक तत्त्वों, आध्यात्मिक तत्त्वों और योग तत्त्वों से गुम्फित एवं सारगर्भित यह महाकाव्य हिन्दी के महाकाव्यों में अकेला सन्त काव्य है—प्रतिपादन में, वस्तु चयन में, उद्देश्य में। 'सरस-कोमल-कान्त पदावलि' की उक्ति इस रचना की अनुवर्तिनी है। एक तपोनिष्ठ योगी के भीतर शब्दों का इतना बड़ा भण्डार ! इस रचना को केन्द्र मानकर अनेक सार्थक विषयों पर शोध कार्य सम्भव है। संपूज्य महायोगी आचार्य विद्यासागर को मेरा विनम्र नमस्कार।

❑

पृष्ठ ३७०
लो, दीपक की लाल लौ....
...एकाग्रता से दर्शनाकार!

'मूकमाटी' : दिव्य मानव का अप्रतिम काव्यावदान

डॉ. सूर्य नारायण द्विवेदी

'मूकमाटी' नाम से स्पष्ट है कि कृति का वर्ण्य विषय अत्यन्त सामान्य स्तर से चुना गया है, किन्तु अपनी प्रतिष्ठा में असामान्य, दिव्य एवं अप्रतिम भी है। वास्तव में जिस ओर सामान्य कवि का ध्यान भी नहीं जाता, असामान्य प्रतिभाएँ वहाँ से ऐसे स्थल निकाल लेती हैं, जो कोयले को हीरे में बदलने जैसी स्थिति जैसा होता है। साथ ही असामान्य लोगों में भी ऐसे परम साधक होते हैं जो न केवल सामान्य में असामान्यता को ढूँढ़ लेते हैं अपितु उसमें विजड़ित किन्तु परम संवेदनात्मक वैचारिक वैभव एवं विचारात्मक संवेदनाओं से सीधे जुड़कर सुविचारित रमणीय रूप में उसका ऐसा आगान करते हैं कि मानवीय चेतना को उनके प्रयास एवं अनन्य साधारणता पर सुखद विस्मय होता है। 'मूकमाटी' को सामने पाकर शीर्षक से प्रतिपादन तक के प्रत्येक स्तर पर मुझे ऐसा ही लगा। नहीं जानता परमाचार्य विद्यासागर की स्वयं की आध्यात्मिक ऊँचाई क्या है ? और यह भी नहीं कि उन्होंने और क्या-क्या, और कैसा लिखा है ? पर 'मूकमाटी' मेरी दृष्टि में अकेली वह कृति हो सकती है जो उनके भीतर बैठे दिव्य मानव की एक झलक दे सके।

'मूकमाटी' का सृजन अप्रत्याशित तो नहीं पर गहन संवेदनात्मक अनुभूति की अकृत्रिम अभिव्यक्ति अवश्य है। माटी जो कवियों के सृजन का अपने उर्वर रूपों, गुणों, आकृतियों एवं प्रकृतिपरक अवदानों के कारण चाहे उद्दीपक रही हो, पर विभाव रूप में एवं आलम्बन विभाव के रूप में उसका ग्रहण विरले ही रचनाकारों ने किया है। सुना है, कतिपय अवतारों एवं तीर्थंकरों तक ने माटी का स्वाद लिया था और कई-कई रचनाकारों ने कवि प्रौढ़ोक्ति के रूप में या कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति रूप में उसका वर्णन भी किया है। पर माटी की पीड़ा से किसी का नाता नहीं, और वैसा तो एकदम सामने नहीं आया जैसा आचार्यप्रवर विद्यासागर ने किया है। माटी की जड़ता जगत् प्रख्यात है और उसकी मूकता तो और भी। क्योंकि माटी से जुड़ा चेतन समुदाय उसका सम्मान करे या अपमान; सत्प्रयोग करे या दुष्प्रयोग, उसकी असाधारण चुप्पी किसी से छिपी नहीं पर उसकी इस निरीहता की ओर किसका ध्यान गया ? सच तो यह है कि ऐसा प्रयास ऐसे महापुरुष के द्वारा सम्भव है जो पावनतम, समाधिस्थ स्थिति में वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों एवं भावनाओं का वैचारिक प्रत्यक्ष करें। मुनीन्द्र श्री विद्यासागर इस प्रयास में इसीलिए कृतकार्य हो सके हैं, क्योंकि उन्होंने साधना एवं आराधना के बल पर ऐसी शक्ति पा ली है जो उन्हें न केवल जड़ एवं चेतन के आन्तर से जोड़ती है अपितु स्वयं उनके हृदय को निरर्गल भावुकता से जोड़ती हुई अभिव्यक्तिमुखी भी हो सकी है।

मैं साहस के साथ यह बात कहना चाहता हूँ कि नींव से पावनतम निर्मिति तक इस प्रकार काव्यात्मक रूप में सृजन निश्चित ही आचार्य विद्यासागर का अभिनव प्रयोग है, जहाँ बिना किसी असत् आग्रह, दुराग्रह या पूर्वाग्रह के बात को उसकी सम्पूर्ण आकृति में, शब्दों में विन्यस्त करने का सीधा प्रयत्न है। यह दूसरी बात है कि वह प्रयास काव्य-शास्त्रीय परिसीमाओं में बँधता है या नहीं। प्राचीन से अर्वाचीन तक की फैली लम्बी परम्परा के द्वारा सुझाए (काव्यात्मक) उपकरणों का, छन्दों का, प्रबन्ध बन्ध का उसमें प्रयोग है या नहीं, परम्परित समीक्षकों को 'मूकमाटी' के पढ़ते समय ठीक-ठीक वही बातें मिलेंगी या नहीं--मेरा कथन है कि वे भी यहाँ हैं पर सबसे बड़ी जो चीज़ यहाँ मिली वह है प्रतिपाद्य की यथार्थ अभिव्यक्ति। वैसे 'मूकमाटी' नव शब्द-विधान, अलंकृति विशिष्टार्थ, शैली, वैचारिकता, भाववैभव को ढूँढ़ने वालों को निराश नहीं करती, पर ऐसे तत्त्वाभिनिवेशी रचनाकार में वह भी ढूँढ़ा जाना चाहिए जिसने एक परम विरागी, संसार से उपरत महामानव को लेखन की दिशा में प्रेरित किया है। और वह है मानव जीवन की विभीषिकाओं से गुज़रने वाले जन-सामान्य के प्राणों में नए एवं प्राणदायी आश्वासन को रेखांकित करना। घट निर्माण से पहले उस

माटी की प्रतिपद पीड़क यात्रा के प्रत्येक स्तर के प्रति अवधानबद्ध होकर अनुभूति के स्तर पर प्रत्यक्षीकृत तत्त्व सम्पदा का शब्दों के सम्मूर्तन 'मूकमाटी' में कम विस्मयावह नहीं। वास्तव में 'मूकमाटी' का रचना फलक अपने लिए नए आयाम का सृजन करता है। अतएव उसकी समीक्षा के लिए एक परमोदार समीक्षा दृष्टि की आवश्यकता बनती है।

'मूकमाटी' मानवीय विवेक की नई परतें खोलने का प्रयास है, जो उसे न केवल नए आयामों से परिचित कराती है अपितु जीवन विकास की विविध परिधियों की सीमाओं, सहजताओं, कठिनाइयों, साधनाओं एवं लक्ष्य के प्रति अवधानबद्ध यात्राओं को इस प्रकार अपने बीच बाँधती है कि अध्येता का मानस अपेक्षित दिशा में चलता हुआ रचनाकार के कथ्य का अनायास प्रत्यक्ष कर पाता है। उसका मस्तिष्क रचना की सहजता के साथ इतना एकमेक हो जाता है कि वह कविता पढ़ रहा है या कथ्य की सहजता का साक्षात्कार –यह अन्तर उसके आन्तर से अन्तर्हित होता हुआ कृति एवं कृतिकार से उसकी तन्मयता को जोड़ पाने में सफल होता है। और यह सब कुछ मूलत: रचनाकार के मूल संकल्प की अकृत्रिम अभिव्यक्ति की ही परिणति है जो अपने अध्येता को और सब कुछ (काव्य-अकाव्य, लोक-अलोक, सामान्य-असामान्य) से हटाकर कृति के लक्ष्य के प्रतिपल समर्पित होने में सहायता करती है।

'मूकमाटी' परम्परित काव्यात्मक धारणाओं से आगे बढ़ कर अभिव्यक्ति देने वाली रचना है, जहाँ भाव, विचार, कल्पना एवं शैली के प्रति पाठक का आग्रह न होकर कृतिकार के कथ्य की ओर होता है। वह उसमें ढूँढ़ने में व्यस्त हो जाता है कि रचना कहना क्या चाहती है ? रचनाकार जीवन की किस अभेद्य ग्रन्थि का भेदन करना चाहता है ? मानवीय चेतना के किस स्तर पर खड़ा होकर वह किस रहस्य से उलझता एवं उसके द्वारा किस परिणाम पर पहुँच पाता है ? प्राय: रचनाकारों को काव्यात्मक प्रतिपादन के व्यामोह में लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पित न होकर कलात्मक प्रदर्शन, उक्ति वैचित्र्य, अलंकृति, बिम्ब, प्रतीक एवं मिथक विधान में उलझते देखा गया है। ऐसे में कथ्य के प्रति उनका रुझान उस तरह का नहीं रह जाता जो कि काव्य का लक्ष्य, अभिव्यक्ति की अभीप्सा होनी चाहिए। 'मूकमाटी' के रचनाकार का प्रतिपादन निश्चित ही इस दिशा में भी अप्रतिम है। सब कुछ काव्यात्मक पद्धति पर होने पर भी न तो रचनाकार का अभिमान है और न कृति को काव्यात्मक बनाने का प्रयास ही। अपनी बात कही जा रही है, वह काव्यात्मक बने तो बने, सच्छन्द बने या स्वच्छन्द, अलंकृति है या अनलंकृत–जैसे भी हो मूल बात अध्येता तक पहुँचनी चाहिए। इस अमानी स्थिति में मूल कथ्य को मान देने की यह पद्धति रचनाकार की अप्रतिम प्रतिभा की ओर संकेत करती है।

'मूकमाटी' का कथ्य साक्षी है कि वह परम्परित कथानकों की नव्य या प्राचीन शृंखला से सर्वथा भिन्न है। वास्तव में वह एक ऐसा कल्प है जो अन्वेषक मनीषा से माटी की आभ्यन्तर शक्ति, सीमा एवं विस्तार से जुड़कर घट के सांग सृजन एवं उपयोगिता तक जुड़ता एवं उसकी रचना में समाए रहस्य संभार का मानस एवं प्राज्ञ प्रत्यक्ष करता है। यदि कोई चाहे तो इस प्रकार के काव्य बन्ध को समासोक्ति पद्धति पर निर्मित महाकाव्य के रूप में ले सकता है, क्योंकि घट निर्मिति से सारी परीधियों में मृत्तिका एवं घट का ही यहाँ सहज संवेद्य स्वरूप कृति में पल्लवित है, जो 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'; 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' जैसे शीर्षकों में सामने आता है। दूसरी ओर मानव को पूर्ण मानव बनने से पूर्व किस प्रकार तप, त्याग, संयम के क्रम में वैराग्य भावना की पुष्टि के लिए द्वादश अनुप्रेक्षाओं– अनित्यता, अशरणत्व, संसरण, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरत्व, लोक, बोधिदुर्लभत्व एवं धर्मानुप्रेक्षा से गुज़रते हुए पंच महाव्रतों– अहिंसा, अमृषा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह से संयुक्त होना परमावश्यक होता है। यह न होने पर घट का सम्पूर्ण विकास जैसे अपुष्ट रह जाता है वैसे ही मानव का भी महामानवत्व समग्रता की उपलब्धि नहीं कर पाता। आचार्यप्रवर विद्यासागर की यह

महान् कृति उन तथ्यों को समेटती हुई मानव के सृजन के साथ ही उसकी सम्पूर्ण विकास सरणी को उजागर करती है। इस प्रकार 'मूकमाटी' न केवल घट की कथा है अपितु मानवीय विकास की कथा भी। 'मूकमाटी' न केवल नई कथ्य परम्परा स्थापित करती है अपितु अपने सृजन के लिए नई धरती भी तैयार करती है, अर्थात् नव गति, नव लय, ताल छन्द नव, सब कुछ नया-नया। वह एक नए भावस्पर्श एवं विवेक की पावन परिणति के स्पर्श से पुलकित रचना का आकार लेती है, जहाँ परम्परित लीक से हटकर अछूते उपमानों, अनास्वादित बिम्बों, अमृतकल्प प्रतीकों एवं भाव न केवल जीवन्त, नित्य नूतन किन्तु सर्वथा विश्वसनीय भावों की एक शृंखला मिलती है। हमारा पूर्ववर्ती संस्कार यदि किसी कृति में अपनी पूर्व प्रवर्तित शास्त्रीय सरणी को नहीं पाता तो निराश होकर नए को नकारने से नहीं चूकता। अतएव किसी अप्रतिम एवं सहज कृति में भी परम्परित रूप में प्राकृतिक परिदृश्यों, परिभाषित जीवन दर्शन, परम्परित सृजन सम्बन्धी मान्यताओं का अनुपालन, अलंकार विधान, शब्द साधना, साहित्य के आधारभूत घिसे-पिटे सिद्धान्तों का संगमन जैसे तत्त्व को ढूँढ़ना चाहते हैं, जबकि 'मूकमाटी' जैसी रचनाएँ ऋषिकल्प महान् आत्मा की अकृत्रिम भाषा में सहज अभिव्यक्ति होती है, अर्थ जिसका अनुगमन करता है।

"ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति" (उत्तररामचरितम्-१/१०)- अर्थात् आचार्य विद्यासागर जैसे लोगों की रचनाएँ शब्द प्रधान होती हैं, अर्थ जहाँ उनके द्वारा अभिव्यक्त शब्दों का अनुगमन करता है। 'मूकमाटी' के शब्द अपने भीतर ऐसी ऊष्मा छिपाए चलते हैं कि सहृदय को पग-पग पर उसके विशिष्टार्थ की तहों तक पहुँचने के लिए एक बार मात्र पढ़ लेने से सन्तोष नहीं हो सकता, क्योंकि जैसे-जैसे उसकी आवृत्तियाँ होंगी, नए अर्थ एवं आयाम प्रकट होकर मेधा की सतहों की शक्ति परीक्षा लेते-से लगते हैं कि हमने उसे कितने स्तर तक समझा एवं आत्मसात् किया। वास्तव में ऐसी रचनाएँ एक बार पढ़कर चुपचाप ग्रन्थालय की शोभा बढ़ाने के लिए नहीं होतीं अपितु उनमें निहित सत्य एवं तथ्य को पाने की लालसा में उनका बार-बार आलोड़न करना होता है। 'मूकमाटी' मानवीय जीवन के सुधरे सृजन की गीता है, जिसका अनवरत अध्ययन एवं चिन्तन द्वारा उसके कथ्य का अधिगमन निश्चित ही साधक को विचार से व्यवहार तक की सारी परिधियों को प्रतिपद उजागर करेगा। कम से कम मैंने तो इसे इसी रूप में पाया है।

वैखरी वाणी में जो कुछ अभिव्यक्त होता है निश्चित ही वह मध्यमा का सहस्रांश भी नहीं होता। मध्यमा इसलिए कि पश्यन्ती के आश्रित होती है और पश्यन्ती स्वयं परा के, अतएव परा का मूल एवं स्वतः प्रकाश स्वरूप मात्र स्फुलिंग रूप में ही अपरा वाणियों का विषय बनता है। मूकता एक ऐसी रहस्यमयी स्थिति है, जहाँ परा का स्वतःप्रकाश अपने सम्पूर्ण रूप में विद्यमान होता है। ऐसे प्रकाश में अनुभूति की सघनता इतनी संश्लिष्ट होती है कि अपरा वाणियाँ उसके विविध स्तर—सहृदय की आनुभूतिक, बौद्धिक एवं मानसिक ऊँचाई के क्रम में प्रकाशित कर पाती है। 'मूकमाटी' का सृजन ऐसा ही एक कल्प लगता है, जिसको जितनी बार पढ़ा जाय, जितने स्तरों में पढ़ा जाय, पाठक की आन्तर एवं बाह्य योग्यता के अनुसार एवं प्रतिवार अर्थों की विविध कुण्डलियाँ खुलती हैं। अत्यन्त धीर, गम्भीर क्रम में प्रवाहित इस रचना का सीधे शब्दों में न मूल्यांकन सम्भव है और न सपाट अनुभूति ही। भाव, विचार, कल्पना एवं बिम्ब विधान के विविध आकार इस रूप में यहाँ संश्लिष्ट मिलेंगे कि रचनाकार की आनुभूतिक गहराई, वैचारिक चिन्मयता एवं दिव्य कल्पना शक्ति पर आश्चर्य होना स्वाभाविक है। जैसा पहले ही कहा गया है कि 'मूकमाटी' का प्रत्येक अध्याय एक परम रहस्य छिपाए पड़ा है—'संकर नहीं : वर्ण-लाभ;' 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' जैसे संकेत मेरी बात को प्रमाणित करते हैं। स्वयं रचनाकार के शब्दों में :

"शब्दों पर <u>विश्वास</u> लाओ,/हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी
अवश्य मिलेगी/मगर/<u>मार्ग में नहीं, मंज़िल पर</u> !" (पृ. ४८८)

रेखांकित पदों से रचनाकार की आस्था ही नहीं, पथ के भी संकेत मिलते हैं। अनुभूति का वैखरी में उतरने का एक निश्चित क्रम है, जो श्रद्धा (आस्था) विश्वास से सहकृत होकर ही रचनाकार के इच्छित विशिष्ट को आकार देता है। परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा के स्तरों को पार किए बिना वह सम्भव कहाँ है ? इसीलिए एक पूरा अध्याय ही बोध एवं शोध की प्रक्रिया की गुत्थियों को सुलझाता हुआ, सहृदय की चेतना के त्रिविध स्तरों को छूता एवं मानवीय मंगलाशा का विधान करता है। इस रूप में वह मानवीय विवेक की अछूती परतों का स्पर्श करता हुआ, नए भावबोध को वहाँ जड़ के भी सूक्ष्मतम चेतना संस्कारों को सहज बोधगम्यता से जोड़ता है। स्पष्ट ही 'मूकमाटी' की प्रत्येक पंक्ति सायास नहीं, सहज बोध एवं सहजानुभूति से जुड़ी है। वहाँ न अलंक्रिया का प्रयास है और न बाह्य चाकचिक्य के मोह में बातों को विशेष भंगिमा से कहने का प्रयत्न। बल्कि परा की सीधी, सहज, शिव एवं सुन्दर अभिव्यक्ति ही काम्य है। महान् रचनाकार के पास इतना महत्त्वपूर्ण, सूक्ष्म एवं गम्भीर कहने को होता है कि शब्दों को उनके अभिप्रायों के अनुरूप स्वयं एवं अहंपूर्विकया पीछे-पीछे दौड़ना पड़ता है। ''ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति''- भवभूति ने यह ठीक ही कहा था। 'मूकमाटी' में ऐसा पद-पद पर मिल रहा है। आचार्यश्री को इतना अधिक देने की लालसा है कि शब्द योजना, वाक्य क्रम एवं काव्यात्मकता के सन्दर्भ में बहुत कुछ देखने का न अवसर है और न अनिवार्यता ही, क्योंकि जब वाणी स्वयं उनकी अभिव्यक्ति का अनुगमन करती हो, स्वतः ही वहाँ गुण, अलंकार, रस, ध्वनि का समावेश इतने सहज ढंग से बनता जा रहा है कि यदि कोई चाहे तो उस दृष्टि से भी उसका अध्ययन, विश्लेषण कर सकता है। पर मेरा स्पष्ट मत है कि प्रचलित काव्यात्मक धारणाओं से ऊपर उठकर इस कृति को देखने से ही इस महान् रचना के प्रति न्याय हो सकेगा।

काव्यशास्त्र के परमविशिष्ट आचार्य आनन्दवर्द्धन ने 'ध्वन्यालोक' में ठीक ही कहा है :

''प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती॥'' (४/१७)

'मूकमाटी' में चेतना बिम्बात्मक स्तर से लेकर मानसिक, बौद्धिक एवं चित्तीय ऊँचाई तक अलग-अलग स्तरों पर इस रूप में प्रसृत है कि कोई इसके बाह्य आकार से ही यदि परिचय पाकर लौट जाय तो उसे निश्चित ही कुछ भी हाथ न लगेगा। पर ज्यों ही वह आभ्यन्तर परतों-दर-परतों से जुड़ेगा और जितनी बार जुड़ेगा तब व्यक्ति, समाज, नीति, अध्यात्म एवं व्यवहार आदि किसी भी स्तर पर उसे उत्तमोत्तम उपलब्धियाँ होंगी। हाँ, इतनी सावधानी आवश्यक है कि असद् आग्रह या तटस्थ भाव से न जुड़ा जाय। एक महान् पुरुष की वाणी में इस रचना को मात्र गौरव के कारण नहीं, बल्कि इसके रेशे-रेशे को तपाकर, छिन्न कर, कसौटी पर कसकर युग के महान् समीक्षक देखें :

''तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्यतद् वचो ग्राह्यं विद्वांसो नैव गौरवात्॥''

□

मूकमाटी के ममतीले स्वरदाता : आचार्य विद्यासागर

प्रो. (डॉ.) पद्मश्री लक्ष्मी नारायण दुबे

आचार्य विद्यासागर आधुनिक राष्ट्रीय सन्त हैं, इसलिए वे ज़मीन से जुड़े हैं और मूक माटी को स्वर एवं वाणी प्रदान करते हैं। मध्यकालीन सन्तों की दो विशेषताएँ रही हैं--एक तो उन्होंने जनभाषा का प्रयोग किया और दूसरे भारत की माटी के साथ सांस्कृतिक न्याय किया। इसी समृद्ध, पुनीत एवं सात्त्विक परम्परा का सफल एवं सार्थक निर्वाह आचार्य विद्यासागर में मिलता है। उनका व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व साधना की उच्चतर सीढ़ियों पर सतत आरोह्य का आलोक बिन्दु है।

आचार्य विद्यासागर का जन्म कर्नाटक में हुआ और वे अहिन्दी भाषाभाषी हैं परन्तु उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी की अपूर्व एवं ऐतिहासिक सेवा की है। वे चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा को विकसित तथा प्रगतिशील बनाते हैं ताकि जनता की भाषा में जनता की बात कही जाय। इसीलिए महावीर स्वामी ने देववाणी संस्कृत को अस्वीकार करके प्राकृत को मान्यता दी, क्योंकि वे 'नोट' तथा 'वोट' की भाषा में पार्थक्य उपस्थित नहीं करना चाहते थे।

आचार्य विद्यासागर की रचनाएँ सिर्फ हिन्दी में ही नहीं मिलती हैं अपितु उन्होंने अपने बहुभाषाविद् होने के प्रमाण स्वरूप संस्कृत, प्राकृत, बंगला एवं अँग्रेजी में भी अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा को अभिव्यक्ति प्रदान की है। वे मर्मी कवि, सफल अनुवादक, शास्त्रज्ञ, विद्वान् तथा चिन्तक भी हैं। उन्होंने अपने वाङ्मय को हित-मित-वचनामृत से जन-कल्याण में निरत कर दिया है।

आचार्य विद्यासागर की साहित्य-तपस्या का उत्कर्ष कलश उनके महाकाव्य 'मूकमाटी' में मिलता है जो कि आधुनिक भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इस सृजन के मूल में यह भाव है कि सात्त्विक सान्निध्य पाकर रागातिरेक से भरपूर शृंगार रस के जीवन में भी वैराग्य का उभार आना, जिसमें लौकिक अलंकार अलौकिक अलंकारों से अलंकृत हुए हैं। 'मूकमाटी' के मूल स्वर हैं : "...सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर, भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है।"

इस महान् कृति में चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड संकर नहीं, वर्ण-लाभ को लेकर चलता है। द्वितीय खण्ड में शब्द सो बोध नहीं, बोध सो शोध नहीं का मूलभाव है। तृतीय खण्ड में पुण्य का पालन एवं पाप-प्रक्षालन का एक सामयिक मुद्दा है। चतुर्थ खण्ड में अग्नि की परीक्षा और चाँदी-सी राख को निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इस महाकाव्य में मूकमाटी मंगल घट में परिणत हो जाती है। धर्म-दर्शन तथा अध्यात्म के सार को आज की रचनाधर्मिता में ढाला गया है। इसके केन्द्र में है मानव, जिसके कारण यह रचना आधुनिकता तथा प्रगतिशीलता से भी आपूर्ण हो गई है। लगभग पाँच सौ पृष्ठों की यह कृति महाकाव्य की गरिमा, उदात्त स्थिति तथा महत्ता से इसलिए विभूषित नहीं है, क्योंकि यह महाकाय है अपितु महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों के अतिरिक्त, इसमें उसकी विराटता तथा गौरव भी निहित है।

भगवान् महावीर स्वामी ने राजकुमारी चन्दनबाला के माध्यम से समस्त नारी जाति के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की थी। यही स्थिति इस महाकाव्य में भी परिलक्षित है। आचार्यश्री ने महिलाओं के प्रति अपनी आदर भावना को शालीनता के साथ पिरोया है।

मन, वचन, काय (शरीर) की निर्मलता से, शुभ कार्यों के सम्पादन से, लोककल्याण की कामना से पुण्य उपार्जित होता है। इस कृति में एक मच्छर के माध्यम से सामाजिक दायित्व बोध कराया गया है। इसे सचमुच में आधुनिक जीवन के अभिनव शास्त्र के रूप में ग्रहण करना चाहिए। यह आचार्य विद्यासागर की प्रज्ञा का सर्वश्रेष्ठ कल्पवृक्ष है। इसका अध्ययन एवं मनन परितोषदायी एवं स्फूर्तिप्रदाता है। लोकजीवन के अनेक मुहावरों का भाषा में सहज तथा सरल प्रयोग करके, महाकवि ने सचमुच माटी के साथ औचित्यपूर्ण न्याय किया है। नव रसों के परिपाक के साथ ही संगीत की अन्तरंग प्रकृति से यह महाकाव्य अनुस्यूत है।

'मूकमाटी' के माध्यम से वर्तमान कुण्ठाग्रस्त एवं सन्त्रास से पीड़ित मनुष्य को नए सात्त्विक प्राण एवं चेतना-केन्द्र दिए गए हैं। यह आधुनिक बोध में अध्यात्म के महत्त्व को समाहित करने वाली परम कृति है, जिसका हार्दिक स्वागत किया जाना चाहिए।

मैं आचार्य विद्यासागरजी का अभिनन्दन करता हूँ कि उन्होंने हिन्दी साहित्य को एक अत्यन्त बहुमूल्य, चिरस्मरणीय, मानक तथा वन्दनीय कृति का अवदान दिया और हमारी महाकाव्य की परम्परा, जो कि 'मानस', 'साकेत' तथा 'कामायनी' से सम्पुष्ट हुई है, उसे वास्तविक रूप में 'चरैवेति चरैवेति' का मूल मन्त्र प्रदान किया है। यह महाकाव्य प्रेय से श्रेय की सार्थक यात्रा करता है। यह महाकाव्य को भी महाकाव्य का आदर्श बताता है। इस प्रकार की रचनाओं से आज की मानसिकता में स्वस्थ तथा रचनात्मक परिवर्तन सम्भाव्य है, क्योंकि सन्त कवि एवं सन्त-परम्परा के उन्नायक तथा संवर्द्धक आचार्य विद्यासागर ने माटी के द्वारा लोकहित एवं विश्वमैत्री का सन्देश निस्सृत किया है। इसकी समाप्ति ही अविश्वास, हिंसा, आतंक, भय, साम्प्रदायिकता का कारण बन जाता है। ऐसी ही कृतियों से पीड़ित युग में आस्था तथा यथार्थ के धरातल पर स्वर्णिम मंगल घट का अवतरण होता है :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान
...और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त"/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/"'मूकमाटी।" (पृ. ४८७-४८८)

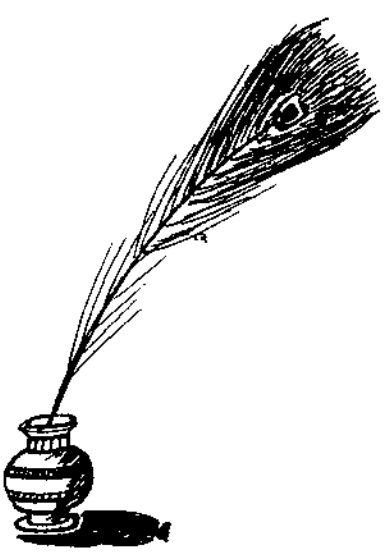

पृष्ठ ३५५
यह लेखनी भी---
हमारी भी यही भावना है।

'मूकमाटी' : धरा की अनुगूँज

डॉ. शेखर चन्द्र जैन

पूज्य आचार्य विद्यासागर की लेखनी से विस्तृत भावकाव्य धारा का अनूठा उपहार 'मूकमाटी' काव्य साहित्य जगत् की अनुपम धरोधर ही सिद्ध होगी। इस कृति को भाव एवं कला की कसौटी पर कसने पर सिद्ध होता है कि दर्शन और कला का कितना मनोहर सामंजस्य इसमें हुआ है। मुनि और कवि दोनों धर्मों का उचित निर्वाह हुआ है। दोनों साथ-साथ होते हुए भी परस्पर में किसी पर हावी नहीं। गंगा-जमुना की धाराएँ साथ होकर भी अपने-अपने अस्तित्व में स्वतन्त्र ही हैं। आचार्यश्री ने मूकमाटी को वाणी प्रदान की है जो धरती की अनुगूँज बन गई है। कृति में जीवन जीने की कला, जीवन की महत्ता, जीवन में धर्म का स्थान व महत्त्व, धर्म की श्रेय एवं प्रेय अवस्थाओं का सटीक प्रस्तुतीकरण हुआ है। साथ ही अछन्दस् पद लालित्य, भाषा का गरिमामयी रूप, नए बिम्ब एवं प्रतीक भावों को ऊर्ध्वगति प्रदान करते हैं। प्रकृति का सौन्दर्य बिखरा है जो चित्त को प्रसन्न एवं सत्कार्यों की ओर प्रेरित करता है। भाषा भावों की अनुगामिनी व सहगामिनी बनी है। यहाँ मैं समीक्षा की क्षमता का दावा नहीं करता परन्तु कृति ने मुझे दो-दो बार पढ़ने के लिए प्रेरित किया, मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ा उसे ही अल्पज्ञ बुद्धि से प्रस्तुत कर अपनी भावांजलि प्रस्तुत कर रहा हूँ। कृति की समालोचना में मैं प्रयत्न करूँगा कि आचार्य विद्यासागर और कवि विद्यासागर का व्यक्तित्व स्वतन्त्र ही रहे।

'मूकमाटी' अपने आप में अनूठा महाकाव्य है। जहाँ तक काव्यतत्त्व का प्रश्न है प्रथम दृष्टि से कुछ विशेष नहीं है। चन्द शब्दों में कहा जा सकता है कि माटी को खोदने से लेकर अवा में पकने तक घट की अपनी कहानी है। लेकिन माटी, कुम्हार एवं स्वर्ण आदि अन्य धातुओं के काल्पनिक पात्रों में कथोपकथन की आयोजना पूरे महाकाव्य को वाणी प्रदान करती है।

पात्रों में सजीवारोपण अलंकार योजना 'मूकमाटी' को भी सशरीर प्रस्तुत करते हैं। मिट्टी की यह त्यागमयी भावना कि खोदे जाने की चोटें खाकर भी वह घट का स्वरूप धारण करने हेतु कुटाई-पिटाई सहकर और अग्नि में तपकर इस योग्य बनती है कि वह मंगल घट का स्वरूप धारण कर सके, जिसका जल त्यागी अतिथि के आहार में उपयुक्त होकर धन्यता का अनुभव कर सके और तूफानी नदी की भँवर में फँसे हुए श्रद्धायुक्त मानव के उत्थान का निमित्त बन सके। उसकी यही त्याग भावना, स्वयं को मिटा कर विश्व कल्याण की भावना उसे स्वर्ण कलश से भी अधिक महत्त्वपूर्ण बना देता है। महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता है मूकमाटी के प्रतीक घट से समस्त जीवन का चित्र, जीवन की उपयोगिता और आत्मा से परमात्मा बनने तक ऊर्ध्वगमन का मार्ग प्रशस्त करता है। सच तो यह है कि मूकमाटी के स्वर अधिक मुखरित हैं। पद दलित, नगण्य माटी भी नायिका के रूप में अंकित हो सकती है। सन्त के स्पर्श से माटी को चेतना मिली है तो कवि की अनुभूति ने उसे निर्मल वाणी प्रदान की है।

महाकाव्य के लक्षणों की कसौटी पर कसने पर भी एक सफल महाकाव्य की कोटि में इस कृति को प्रस्तुत किया जा सकता है। माटी या घट आदि सभी प्रतीक पात्र हैं लेकिन कवि की लेखनी ने उन्हें भी जीवित स्वरूप प्रदान किया और उनके चरित्र का विकास विशाल फलक पर उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होता है। उसकी चारित्रिक विशेषताएँ कमल की पाँखुड़ियों की तरह खुलती जाती हैं। कुम्हार, पिता या गुरु की भूमिका में है। सेठ आदि की कथा महाकाव्य की अवान्तर कथा है परन्तु घट की महत्ता के लिए वह महत्त्वपूर्ण है। आधिकारिक कथा के साथ यह प्रासंगिक कथा महत्त्वपूर्ण बन गई है। महाकाव्य सम्पूर्ण रूप से कथोपकथन शैली में प्रस्तुत है। कथोपकथन और कथा का विकास चरित्र का उद्‌घाटन तो करते ही हैं, कथा को आकर्षक जिज्ञासा भी प्रेरित करते हैं। प्रकृति चित्रण, जो महाकाव्य की विशेषता होती है, का अत्यन्त सुन्दर, वास्तविक वर्णन कवि ने किया है। साधना की आँखें प्रकृति के सौन्दर्य में सात्त्विक स्वरूप

निहारती हैं। प्रकृति कहीं पर भी शृंगार के स्रोत में विकृत नहीं बनती अपितु जीवन की स्वीकृति बनती है।

महाकाव्य में यद्यपि शास्त्रीय दृष्टि से कम से कम आठ सर्गों का विधान माना गया है। लेकिन इस महाकाव्य के चार ही खण्ड हैं। परन्तु चतुर्थ खण्ड के और भी उपखण्ड किए जा सकते थे। यद्यपि इस नियम का पालन तुलसीदासजी 'रामचरितमानस' में भी नहीं कर सके। उसमें भी सात ही काण्ड हैं।

प्रस्तुत कृति के चार खण्डों में माटी के प्रारम्भ से अन्त तक की जीवन यात्रा का लेखा-जोखा है। हम प्रत्येक खण्ड के सन्दर्भ में आगे विस्तृत विचार प्रस्तुत करेंगे। कवि ने खण्डों के नाम भी विशेष अवस्था के सन्दर्भ में दिए हैं।

महाकाव्य की काव्यशैली अछन्दस् है लेकिन उसकी प्रवाहमयता गम्भीर सलिला की भाँति प्रवाहित है। भाषा, मुनि विद्यासागर की तप:पूत वाणी की निर्बाध प्रवाहमयता लिए प्रवाहित हुई है। शब्दों के शिल्पी कवि विद्यासागर उन्हें तराशते हैं और शब्दों का आकर्षण उनके विविध अर्थ, व्याख्याएँ, लोम-प्रतिलोम अर्थ कवि की अर्थान्वेषणी दृष्टि तो प्रस्तुत करते ही हैं, शब्दों में चमत्कार भी भर देते हैं। मुहावरे, कहावतें, देशज शब्द भी स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त हुए हैं। अलंकार भावों को प्रस्तुत करने, समझाने में मददगार हुए हैं।

जहाँ तक कृति के उद्देश्य का प्रश्न है वह तो अथ से इति तक बिखरा पड़ा है। ऐसा लगता है जैसे मार्ग का प्रारम्भ ही मंज़िल के लिए हुआ है। संसार, दु:ख बन्धन हैं, इन सबसे ऊपर उठना ही जीवन साधना का ध्येय है। जैन दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को स्वयं का उद्धारक बनना होगा, जिसकी उपलब्धि साधना से ही सम्भव है। गुरु प्रवचन तो दे सकते हैं, उद्धार का वचन नहीं। उद्धार स्वयं को स्वयं का करना होगा। कृति के बारे में लक्ष्मीचन्द्र जैन ने बहुत ही योग्य कहा है अपने 'प्रस्तवन' में कि 'सन्त कवि विद्यासागरजी की प्रज्ञा और काव्य-प्रतिभा से यह कल्पवृक्ष उपजा है।' मैं इसे भाव काव्य या भावमय काव्य मानता हूँ।

मैंने प्रारम्भ से 'मूकमाटी' महाकाव्य को महाकाव्य की कसौटी पर परखने का संक्षिप्त प्रयास किया है। मैंने प्रत्येक खण्ड को अपने वैचारिक स्तर पर जैसा सोचा-समझा है, कृति को जिस तरह हृदयंगम कर सका हूँ, उसे ही अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत कर रहा हूँ।

समीक्षा से पूर्व आचार्य मानतुंग का वह श्लोक स्मरण आता है कि विद्वानों के बीच हास्य का पात्र ऐसा अल्पश्रुत मैं क्या कह सकता हूँ ? लेकिन कृति के प्रति भक्ति, उसके काव्य की शक्ति स्वयं वाचाल बना देती है। वसन्त का सौन्दर्य जैसे कोयल को कुहका देता है, वैसे ही यह महाकाव्य किसी भी भक्त या कविहृदय को वाणी प्रदान करता है। इस दृष्टि से मूकमाटी को ही वाणी नहीं मिली है अपितु मेरे अन्तर्विचारों को भी वाणी मिली है।

कृति का प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है। कृति का प्रारम्भ प्रकृति चित्रण से होता है। प्रात:काल का सुन्दर समय है, अभी सूर्य पूरा उगा नहीं है। कवि कल्पना करता है कि मानों माँ की मार्दव गोद में भानु करवटें ले रहा है :

"भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।" (पृ. १)

इसी तरह पूर्व दिशा की शोभा और लज्जा के घूँघट में डूबती-सी कुमुदनी का रूप-चित्र बड़ा ही मनोहर है। तारों के डूबने में भी एक सजीव चित्र कवि ने खड़ा किया है। प्रात:काल का सन्धिकाल जैसे जीवन को सत्पथ का सन्देश देता है। इसी समय सरिता तट की माटी धरती माँ के सम्मुख अपनी वेदना खोलती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !

...इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ'''इसे !'' (पृ. ४-५)

माटी माँ से उद्धार का मार्ग पूछती है और बेटी को दुखी देखकर माँ विचलित हो जाती है। मानों उसे छाती से लगा कर, उसकी वेदना को समझ कर, उसे संसार की स्थिति, विकास आदि के बारे में समझाती हुई ध्रौव्य तत्त्व के बारे में समझाती है और यथा संग तथा गुण प्राप्ति के सन्दर्भ में विविध उदाहरण देती है। वर्षा की बूँदें यदि धूल में गिरती हैं तो दल-दल बन जाती हैं; यदि नीम की जड़ों में गिरती हैं तो कटुता बन जाती हैं; लवणाकर में गिरकर सागर बनती हैं और यदि स्वाति काल में सीप में गिरें तो मोती बनती हैं तथा साँप के मुख में गिरकर जहर बन जाती हैं। इसलिए उत्तम संग उत्तमता प्रदान करता है। स्वयं की लघुता ही आत्मा की पहचान का उत्तम साधन है। सत्य को समझने के लिए हमें उसके निकट जाना होगा। आस्था के बिना रास्ता नहीं मिलता। प्रारम्भ में होने वाली भूलों को उत्तरोत्तर सुधारना होगा। जीवन में विषमताएँ मनुष्य को गुमराह कर सकती हैं। अत: उत्तरोत्तर दु:ख को कसौटी के रूप में स्वीकार करके आगे बढ़ना होगा। धरती के उद्‌बोधन से माटी का हृदय कुछ शान्त होता है। और, तब पुन: माँ भविष्य का कथन करते हुए कहती है कि बेटा ! प्रात:काल कुम्हार आएगा, वही तुम्हें पतित से पावन बनाएगा। पावन बनने की यह बात माटी के हृदय को दोलायमान करती है। पावन बनने की प्रतीक्षा में उसे नींद नहीं आती। आखिर प्रभात होता है। धरती कोमल कोंपलों की हरी साड़ी पहनकर प्रभात का अभिनन्दन करती है। सरिता के तट पर उठने वाला फेन मानों मंगल कलश सजाए है।

प्रारम्भ में माटी को कुछ तनाव-सा लगता है। जिसका उदाहरण कवि, कुशल लेखक को भी नई निब से लिखने में होने वाली बाधा की तरह लगता है। कुम्हार की प्रतीक्षा करती हुई माटी दूर दिशा में देखती है कि श्रमिक चरण उसकी ओर बढ़ रहे हैं और फिर अपने सामने पाती है कुम्भकार को। कवि ने कुम्भकार का बड़ा ही सुन्दर अर्थ करते हुए उसे धरती का भाग्य विधाता सिद्ध किया है।

कुम्हार मिट्टी खोदने से पहले ओंकार को नमन करता है। यह प्रभु नमन किसी भी कार्य के प्रारम्भ में अहंकार के वमन के लिए किया जाता है। नोकदार कुदाली से प्रहार सहते हुए भी मिट्टी बिलकुल नहीं रोती, क्योंकि इस कष्ट में भी भविष्य के उद्धार के भाव छिपे हुए हैं। खुदी हुई मिट्टी बोरियों में भरी जाती है। फटी हुई बोरियों से झाँकती हुई मिट्टी की कल्पना कवि उस नव विवाहिता वधू से करता है जो घूँघट से बार-बार बाहर झाँकती है। माटी गरीबों की संगनी है। उनके छिद्रों को भरती है और तब 'पीड़ा की अति ही-पीड़ा की इति' बन जाती है। माटी इतनी दयाशील है कि उसकी रगड़ से गदहे की पीठ पर जो छिलन हो रही है, उससे उसे दु:ख होता है। उन घावों पर वह छेद में से छन-छन कर मलहम का काम कर रही है, क्योंकि उसे बार-बार यह अनुभूति होती है कि इस छिलन में निमित्त मैं ही हूँ। इस आत्म-वेदना से ही वह विगलित हो जाती है तभी तो दया को श्रेष्ठ चरित्र माना है :

- *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।"* (पृ. ३७)
- *"पर की दया करने से/स्व की याद आती है*
  और/स्व की याद ही/स्व-दया है।" (पृ. ३८)
- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।"* (पृ. ३८)

कवि दया की महत्ता प्रतिपादित करता है। वह तो गदहे को भी स्वर देता है। कवि 'गद' का अर्थ रोग और 'हा'का अर्थ हारक करते हुए सर्व रोगों का हन्ता 'गदहा' होता है - ऐसा कहते हुए गदहे की उच्च मनोभावना प्रस्तुत करता है कि वह सबके दु:खों का हारक बन सके। कवि इसी सन्दर्भ में श्रम की महत्ता भी प्रस्तुत करता है।

घर लाकर कुम्भकार माटी को बारीक चालनी से छानता है। कोमल, मुलायम कंकड़ रहित मिट्टी के स्पर्श से वह प्रसन्न हो जाता है। संशोधित माटी उसे मानों ऋजुता और मृदुता का आभास कराती है। इस छानने की प्रक्रिया में निष्कासित कंकड़ वेदना और रोष से पीड़ित हो उठते हैं। उन्हें यही दु:ख है कि आज वे अपनी माँ से पृथक् क्यों कर दिए गए। शिल्पी उन्हें उनकी स्थिति में बाधक बनता है। वे तो बेचारे कुट-पिसकर भी माँ के साथ रहना चाहते हैं पर कुटने के बाद भी उनका स्वभाव तो नहीं बदला जा सकता। माटी के साथ रहने पर भी उनमें माटी-सी मृदुता कब आई है ? वे जल से भीगने पर भी माटी की तरह फूलते भी कब हैं ? वे तो पाषाण हृदय हैं। वो कभी दूसरों के दर्द में पिघले ही नहीं। कंकड़ तो मान के प्रतीक हैं। शिल्पी द्वारा उनके दोष दर्शन कराने पर उनका हृदय रो पड़ता है। जैसे सन्त समागम से अहंवादी का अहम् मोम-सा पिघलने लगता है। वे रो-रो कर माँ माटी से वरदान माँगते हैं :

"ओ मानातीत मार्दव-मूर्ति,/माटी माँ !
एक मन्त्र दो इसे/जिससे कि यह/हीरा बने
और खरा बने कंचन-सा !" (पृ.५६)

इस वरदान के लिए माटी उन्हें संयम की राह पर चलने का उपदेश देती है, राही बनना ही तो हीरा बनना है। इसके लिए तप की आग में तपकर राख तक बनना होगा। राख बनना ही तो खरा बनाती है।

कुम्भकार कुएँ में से बालटी के द्वारा जल निकालने को प्रस्तुत होता है पर वहाँ रस्सी की गाँठ से बाधा है। कवि यहाँ साधारण रस्सी को कर्म की गाँठ से तौलता है। शाम, दाम, दण्ड की नीति के प्रयोग की चर्चा भी करता है। पर जब तक गाँठ का सन्धि स्थान नहीं खोजा जाएगा, गाँठ कैसे खुलेगी ? अरे ! मसूड़े तक छिल जाएँगे मुँह से खोलने के प्रयास में ! पर जब सन्धि स्थान का पता चलता है तो गाँठ भी छूटती है। कवि पुन: गाँठ और रस्सी के आध्यात्मिक अर्थ को प्रस्तुत कर अहिंसा, मार्दव आदि गुणों को समझाता है — 'ग्रन्थि ही हिंसा की सम्पादिका होती है'(पृ. ६४)।
खुली गाँठ में बँधी बालटी जल तक पहुँचती है कि जल के साथ एक मछली उसमें आकर प्रार्थना करती है :

"इस अन्ध-कूप से/निकालो इसे कोई
उस हंस रूप से/मिला लो इसे कोई।" (पृ. ६७)

मछली का यह रुदन अरण्य रोदन ही बन कर रह गया। मछली में तड़प है जल से बाहर आने की। उसका नश्वर शरीर से मोह विगलित होने लगा। ईश्वर के प्रति प्यास बढ़ने लगी। संयमी कुम्भकार सावधानी से जीवहिंसा को बचाता हुआ बालटी कुएँ में डालता है। यह बालटी मानों मछली को यान-सी लगने लगी। जैसे उसकी पुकार सुन ली गई हो। उसे धर्म की शरण में जाने का शुभयोग मिलने वाला था। उसे लगा जैसे 'धम्मो दयाविसुद्धो' एक मात्र सन्देश उसके कानों में गूँजने लगा हो। मछली का जल से, अपनी सजातीय बहिनों से अलग होने की बात के साथ आचार्यश्री समाज में व्याप्त अपनों के द्वेष भाव एवं वर्तमान युग के दम्भ को प्रतीकों द्वारा प्रस्तुत कर बड़ा करारा व्यंग्य करते हैं :

"अब तो···/अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी
'दया-धर्म का मूल है'/लिखा मिलता है।/किन्तु,
कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)

इस सन्दर्भ में मनुष्य के राग-द्वेष आदि भावों का मनोवैज्ञानिक पृथक्करण भी करते हैं।

मछली बालटी के द्वारा पानी के साथ ऊपर आ जाती है। मानों उसे शरण मिल गई हो। सभी साथी-संगियों के आश्चर्य के बीच वह माया को छोड़ मुक्ति के पथ पर अग्रसर होती है। बाहर माटी के चरणों में गिरकर फूट-फूटकर रोती है। मानों माँ माटी के चरण पखार रही हो। पुनः, कवि मानव में लुप्त हो रही मानवता की ओर इंगित करता है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इस व्यक्तित्व का दर्शन—
स्वाद—महसूस/इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब···!
यदि वह सुलभ भी है/तो भारत में नहीं,/महा-भारत में देखो !
भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।/हाँ-हाँ !
इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है/कि
"वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

माटी-मछली के कथोपकथन द्वारा कवि कलियुग की स्वार्थमय पहिचान भी कराता है। सत्-युग और कलियुग में दृष्टि की महत्ता को स्पष्ट करता है। दृष्टि ही शिव-शव के भेद को स्पष्ट करती है :

"एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन/अमृत-सा लगता है/कान्ति-युक्त शिव है।" (पृ. ८४)

बेटी मछली को धरती माँ पुनः-पुनः जल में लौटने का आग्रह करती है, पर बेटी मछली जिसे अब वैराग्य हो गया है, वह तो सल्लेखना चाहती है। इसी परिप्रेक्ष्य में आचार्य कवि सल्लेखना का सही व वैज्ञानिक स्वरूप संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है,/···घुटना ही चाहिए।
...म्लान-मुखी और मुदित-मुखी/नहीं होना ही
सही सल्लेखना है, अन्यथा/आतम का धन लुटता है, बेटा !" (पृ. ८७)

मछली को पुनः जल में सुरक्षा से पहुँचा दिया जाता है। वही 'दयाविसुद्धो धम्मो' की गूँज पुनः उठती है।

द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में यही कल्पना कथा कलेवर धारण कर आगे बढ़ती है। सभी ऋतुएँ माटी पर अपना प्रभाव डालती हैं। माटी और शिल्पी के संवाद जीवन को बहुत कुछ पाथेय प्रदान करते हैं। माटी तो शीत सह भी ले, शिल्पी कैसे सहे ! तभी तो माटी कहती है :

"काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है/लगती है जाया-सी···
सो···/कम से कम एक कम्बल तो···/काया पर ले लो ना !" (पृ. ९२)

आचार्य इस सम्बन्ध में अपरिग्रह के महत्त्व, उपयोगिता का सटीक वर्णन करते हैं। परिग्रह तो कमजोरी का प्रतीक है। ये 'नीति करम' से विपरीत होते हैं। आत्मा का मूल स्वभाव तो मोक्ष प्राप्ति है। कवि कामवृत्ति में मनो-विकार की भावना का मनोवैज्ञानिक पहलू प्रस्तुत करता है।

कवि माटी के खुदने, टूटने, फूटने और अब गलने की जीवन यात्रा की ओर आगे बढ़ता है। यह टूटन-फूटन या

गलन ही तो अहम् का तिरोहण है। जो इसको हँसकर सहन कर लेता है, वही नमन के योग्य बनता है। जहाँ मन न रहे, वहीं तो पूर्ण तटस्थ स्थिति प्रज्ञता है। बदले की आग और अहम् ही मनुष्य के पतन की निशानी है :

"बदले का भाव वह दल-दल है/कि जिसमें
बड़े-बड़े बैल ही क्या,/बल-शाली गज-दल तक
बुरी तरह फँस जाते हैं।" (पृ. ९७)

बदले का भाव तो राहु है जिसमें आत्मा का उत्तम भानु भी ग्रसित हो जाता है। इसी सन्दर्भ में कवि शूलों के महत्त्व को प्रतिपादित करता है एवं शूलों के दृढ़ मनोबल का उत्तम चित्रण प्रस्तुत करता है। संसारी जीवों की भोगासक्ति की चर्चा कर, उसके विनाशी परिणामों को समझाता है। शिव द्वारा कामदेव को जला देने का उत्तम उदाहरण इस तथ्य के समर्थन में प्रस्तुत कर जैन आचार्य कवि अपनी समन्वय दृष्टि का परिचय देता है।

कृति में शिल्पी गुरु है जो सदैव दया, क्षमा का ही समर्थक है। कवि ज्ञान के साथ उसके उपभोग यानी चारित्र को विशेष महत्त्व देता है। ज्ञान प्रयोगात्मक होकर जब जीवन में उतरे तभी उसकी महत्ता है, अन्यथा कथनी-करनी का भेद सत्य को फलवान् नहीं होने देता :

"बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०७)

इसी प्रकार मनुष्य का मन ही समस्त सुख-दुःख का कारण होता है। सुख-दुःख वस्तु में नहीं, मन में होता है। वे मनोवैज्ञानिक सत्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं :

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा
अच्छा, बुरा तो/अपना मन होता है
स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और
अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,
एक सुख का सोपान है/एक दुःख का 'सो' पान है।" (पृ. १०८-१०९)

वास्तव में मनुष्य पर-पदार्थों के प्रति ही अधिक मोहित व प्रभावित हो रहा है। यही उसके दुःख का मूल कारण है। कवि इसी सन्दर्भ में साहित्य की व्याख्या प्रस्तुत करता हुआ उत्तम साहित्य व स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादित करता है। कवि की आत्मा इस समय अधिक मुखरित है, तभी तो वह कहता है :

"प्रवचन-काल में प्रवचनकार,/लेखन-काल में लेखक
दोनों लौट जाते हैं अतीत में।" (पृ. ११३)

कवि वर्तमान राजनीतिज्ञों की पद लालसा पर भी व्यंग्य करने से नहीं चूकता। सत्ता, शान्ति की समर्थक बने-- यही उसकी अभिलाषा है, सन्देश है। प्रत्येक कार्य में सफलता तभी मिलती है जब आस्था की आधारशिला मजबूत हो। यही आस्था पत्थर को भी प्रतिष्ठित करती है :

- *"वही निष्ठा की फलवती प्रतिष्ठा/प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)*
- *"आस्था का दर्शन आस्था से ही सम्भव है/न आँखों से, न आशा से।" (पृ. १२१)*

कवि स्वार्थ के कारण देश एवं समाज का अहित करने वाले वेतनभोगियों पर कितना मार्मिक व्यंग करता है :

"वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं/और
चेतन वाले तन की ओर/कब ध्यान दे पाते हैं ?" (पृ. १२३)

(यहाँ वेतन से तात्पर्य अर्थ की ओर दृष्टि रखने से है न कि मात्र कर्मचारी वर्ग से एवं चेतन से तात्पर्य परमार्थ की ओर दृष्टि रखने से है।)

मनुष्य के जीवन की सार्थकता है कि वह अपने कर्तव्य-पथ पर ही अनेक कष्टों में भी दृढ़ता से डटा रहे। यही आस्था की सच्ची पहचान है :

"इसीलिए तो'''/राजा का मरण वह/रण में हुआ करता है
प्रजा का रक्षण करते हुए,/और/महाराज का मरण वह
वन में हुआ करता है/ध्वजा का रक्षण करते हुए
जिस ध्वजा की छाँव में/सारी धरती जीवित है
सानन्द सुखमय श्वास स्वीकारती हुई !" (पृ. १२३)

कवि माटी और पल्लव के मध्य संवाद योजना प्रस्तुत कर मान, वीर रस, रौद्र रस, कषाय, हास्य, त्रिगुण आदि भावों को विस्तार से समझाता है। साधक अब 'धाम नहीं धाम, राग नहीं पराग' का आकांक्षी बने, इसी तथ्य की ओर आकर्षित रहता है।

मनुष्य का जीवन संगीतमय अर्थात् सही अर्थों में गतिमय-आनन्दमय बने, उस पर अपनी नवीन दृष्टि प्रस्तुत करते हुए आचार्य कहते हैं :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है
और/प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है
मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत'''!" (पृ. १४४-१४५)

माँ माटी तो त्यागमयी है। मिटने का आनन्द वही जानती है। कवि उस आनन्द को लेखनी से भी व्यक्त करता है। आज के मानव की विडम्बना है कि वह आदि पुरुष द्वारा निर्देशित पथ पर चल ही नहीं रहा है। आज कथनी करने वालों की भीड़ जरूर बढ़ी है पर चलने वालों का अभाव ही है :

"चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !
...जिसे पथ दिखाया जा रहा है/वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,
औरों को चलाना चाहता है/और
इन चालाक, चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

इसी प्रकार करुणा, उसकी अवस्था, पात्रता, परिणाम की व्याख्या आचार्य कवि उदाहरण द्वारा समझाते हैं। उसकी भावना पर प्रकाश डालते हैं। आचार्य इस प्रसंग में भावुक कवि अधिक हैं :

"इस करुणा का स्वाद/किन शब्दों में कहूँ !

गर यक़ीन हो/नमकीन आँसुओं का/स्वाद है वह !'' (पृ. १५५)

कवि दर्शन और हृदय के भावों का अनूठा सामंजस्य प्रस्तुत करते हुए वस्तु के मूल स्वभाव की चर्चा करता है। पर-भाव उसको विकृत भले ही कर दें पर मूल स्वभाव को बदल नहीं सकते। वे शान्त रस, करुण रस एवं वात्सल्य भाव इत्यादि को पूरी भावना से समझाते हैं। कवि दुग्धानुपान करते बालक का शब्द चित्र प्रस्तुत कर वात्सल्य को समझाते ही नहीं वरन् उसको मानों जीते हैं। जीने का मन्त्र देते हैं। कितनी सरल, पर हृदयस्पर्शी व्याख्या प्रस्तुत की है :

''करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक/चमत्कार की बात हुई,/शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्त रस की बात है/वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में/निषेध-मुख से कहूँ/सब रसों का अन्त होना ही—
शान्त-रस है।'' (पृ. १५९-१६०)

आचार्य दार्शनिक दृष्टि से संसार की व्याख्या भी नए बिम्ब एवं प्रतीकों से समझाते हैं।

कुम्हार माटी में जल मिलाकर उसे छूता है। जिससे माटी के अंग-अंग में पुलकन-सिहरन दौड़ जाती है। संवेदनशील भोग्या माटी में आनन्द-उल्लास भर देता है।

माटी चाक पर घूम-घूम कर ऊपर उठती है। नए रूप को ग्रहण करती है। शिल्पी हाथ में उठाकर उसे स्वरूप प्रदान करने के लिए सोटे से खोट पर चोट भी करता है। यहाँ शिल्पी का लक्ष्य चोट करना नहीं अपितु खोट सुधारना है। कवि पुनः बौद्धिक दृष्टि के प्रयोग से ९ के अंक की पूर्णता का चमत्कार प्रस्तुत करता है। लगता है कवि कविता और गणित के पारस्परिक सम्बन्ध को जोड़ कर ३६३, ६३ या ३६ के अंकों द्वारा समन्वय व विरोध के मनोभावों को भी गणित के आधार पर अभिव्यक्त करता है। ये अंक सज्जन व दुर्जन की पहचान के प्रतीक हैं। कवि आज के विश्वासघाती मनुष्य पर, उसकी विश्वासघाती वृत्तियों पर चोट करते हुए लिखता है :

''सिंह और श्वान का चित्रण भी/बिना बोले ही सन्देश दे रहा है।'' (पृ. १६९)

शेर कभी पीछे से आक्रमण, प्रहार नहीं करता जबकि श्वान पीछे से काटता है :

''श्वान-सभ्यता—संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है/कि
वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,/राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है,
होनी भी चाहिए।'' (पृ. १७१)

इसी सन्दर्भ में कवि कछुआ और खरगोश के उदाहरण देकर साधक की दशा-स्थिति का चित्रण करता है। और आगे की सरलतम व्याख्या द्वारा 'ही' से 'भी' की ओर मुड़ कर परस्पर प्रेम के सन्देश की गाथा की उद्घोषणा करता है। कवि आत्मालोचना करते हुए स्वयं को 'दो गला' कह कर मानों प्रतिक्रमण द्वारा आलोचना ही करके सभी को आत्मालोचन द्वारा स्वयं परिशुद्ध होने का मार्ग प्रशस्त करता है। यही भाव मनुष्य को तप की ओर उन्मुख करता है। यही

तप वर्षा यानी सच्चे सुख का कारण बनता है। मनुष्य का जीवन नदी-सा निर्मल व प्रवाहित रहे, यही उसकी सार्थकता है। जीवन में यौवन-वसन्त भले ही हो, पर वह पतझर-सा झर भी जाता है। इसलिए संयम रसना पर रस-ना रहे, तभी सम्भव होता है।

पुनः, कवि उपाध्याय की भूमिका का निर्वाह कर संसार के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तत्त्व, उनकी महत्ता, संसार की रचना, परिवर्तन आदि का तात्त्विक बोध सरल अर्थों में प्रस्तुत करता है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है।" (पृ. १८५)

मनुष्य स्वयं का निर्माता एवं विनाशक है :

"अपना स्वामी आप है/अपना कामी आप है।" (पृ. १८५)

इन सरल शब्दों द्वारा जीवन की व्याख्या कर गागर में सागर भर दिया है।

दूसरे खण्ड में वास्तव में कवि से अधिक विद्यासागर आचार्य ही अधिक रहे। जैन दर्शन के विविध पहलुओं पर उनकी क़लम मार्गदर्शक-पथदर्शिका बनी है। माटी और शिल्पी का वार्तालाप, उसमें प्रतिपादित सिद्धान्त, उनकी व्याख्या द्वारा आचार्य हम संसारी जीवों को मुक्ति पथ की ओर अग्रसर होने, सच्चे मनुष्य बनकर मानवता को सही अर्थों में समझने का बोध देते हैं।

कृति के तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में धर्म और जीवन के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। कवि धरती के गुण वैतालिक की भाँति गाता है। यहाँ कवि धरती का गायक ही बन गया है। धरती तो माँ है। माँ की ममता, त्याग, वात्सल्य, सहनशक्ति, उपयोगिता आदि गुणों के गीत कवि ने अपने मुक्त कण्ठ से गाए हैं। लगता है धरती की गन्ध आपके रोम-रोम को आह्लादित करती है। धरा का गायक कवि और सिद्धान्त तत्त्वों का निरूपक आचार्य दोनों में जैसे होड़-सी लगी है। तभी तो धरा के सौन्दर्य के साथ-साथ वह मानवता एवं जैन दर्शन के सिद्धान्तों को भी पिरोता चलता है। पर-स्वहरण वृत्ति उसे निन्दनीय लगती है :

"पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

कवि सन्तों की सहनशक्ति की तुलना धरती से करता है। जो सहता है, वही कुछ दे पाता है, वही कुछ पाता है। कवि प्रकृति के सूर्य और चन्द्र की महिमा के गुणगान में चन्द्र की बदली नीयत को वर्तमान छू सके, अतः उसके साथ तौलकर आज की इस अधम वृत्ति पर प्रहार करने से नहीं चूकता :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

परोपकारिणी धरती सीप में पड़ी बूँद को मोती का रूप प्रदान करती है। उसका गोताखोरों से रक्षण करती है। उसकी गोद में पली मुक्ता तभी तो कृष्ण के कण्ठ की शोभा बनी जो मुरलीधर को भाई। वह सागर की ही नहीं, अनेक मुक्ताओं की भी जननी है। चन्द्रमा अपनी करतूतों से सागर द्वारा बादलों के माध्यम से जल वृष्टि करा कर एवं दलदल

फैलाकर क्षति पहुँचाता है। इसी दलदल के सन्दर्भ को लेकर कवि वर्तमान दलगत राजनीति के दल-दल पर प्रहार करता है। वर्तमान राजनीति का आधार धन और सत्ता बनकर रह गया है। इससे बचने के लिए मन की दृढ़ता आवश्यक है। कवि मुखरित हो उठा है सागर पर छाई पहली बदली को देखकर। प्रकृति वर्णन में कवि की भाव विभोरता द्रष्टव्य है :

"दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह/ऊपर से
साधनारत साध्वी-सी लगती है।" (पृ. १९९)

धरती की ही भाँति नारी की सहनशक्ति, उसका प्रेम, वात्सल्य, धर्म परायणता, ममता, उसके मातृत्व आदि की चर्चा कवि ने विशद एवं गहन भाव से की है। नारी उपेक्षिता या अनुचरी नहीं है। वह तो सहचरी, ममता का अगाध सागर है। विविध अवस्थाओं, रूपों में वह पुरुषों की सह-साधिका रही है। कवि के विशाल दृष्टिबोध का परिचय नारी वर्णन में परिलक्षित है :

"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता/बाहर आता ही है उमड़ कर,
इसी अवसर की प्रतीक्षा रहती है—/उस दूध को।" (पृ. २०१)

आज का स्वार्थमय मानव इसी प्रतिष्ठा को धन के हेतु बेच रहा है। स्त्रियों को कुपथ पर ले जाने वाला पुरुष ही है। कवि ने 'नारी' उसे माना है जिसका कोई शत्रु ना हो। फिर नारी के विविध पर्यायवाची एवं रूपों- महिला, नारी, अबला, स्त्री, सुता, दुहिता, जननी, माता, अंगना आदि शब्दों के अर्थ, भावार्थ बड़े ही ज्ञानपूर्ण तथा अर्थपूर्ण रूप से किए हैं। कवि का बुद्धि चातुर्य शब्दों की नए सन्दर्भों में की गई व्याख्या में दृष्टिगत होता है। पत्नी का पति के जीवन में आना भोग के लिए नहीं अपितु उपासना में मदद रूप बनने, काम को संयत बनाने आदि के साथ धर्मोपार्जन के लिए ही होता है :

"पुरुष की वासना संयत हो,/और/पुरुष की उपासना संगत हो,
यानी काम पुरुषार्थ निर्दोष हो,/बस, इसी प्रयोजनवश
वह गर्भ धारण करती है।" (पृ. २०४)

यहाँ पुरुष से तात्पर्य जहाँ पतिवाचक है, वहीं दूसरा पुरुष शब्द परमात्मा की उपासना का परिचायक है। इसी खण्ड में कवि एक चमत्कार का आयोजन भी करते हैं। कुम्भकार के आँगन में मुक्ताओं की वर्षा होती है। सभी आश्चर्यचकित हैं। राजा भी लोभ के वशीभूत हो मुक्ताओं को लेना चाहता है। उसके सेवक ज्यों ही मुक्ताओं को उठाना चाहते हैं, तभी नभ-गर्जना होती है। इस नभ-गर्जना में कवि श्रम की महत्ता का प्रतिपादन करता है। श्रम के बिना धन की प्राप्ति चोरी है, घूँस ही है :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है!" (पृ. २१२)

राजा की मण्डली फिर भी मोती बटोरना चाहती है। तभी उन्हें बिच्छू के डंक-से लगते हैं। फलतः वह बेहोश हो जाती है। राजा भी कीलित हो जाता है। इस दुर्घटना से कुम्भकार दुखी है कि उसके आँगन में ऐसा घटित हुआ। राजा को चेतना आते ही कुम्भकार उससे क्षमायाचना करता है। मोतियों को स्वयं बोरियों में भरता है। इस चमत्कार से सभी प्रभावित हैं। कुम्हार का श्रम सभी को चेतनामय बनाता है। यह था श्रम और सत्य का महत्त्व। कवि मर्यादा की महत्ता

प्रतिपादित करता है। यही संसार को सुचारु रूप से चलने में मदद करती है :

"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)

कुम्हार राजा से निवेदन करता है कि वे मोतियों को भेंट रूप स्वीकार करके ले जाएँ। राजा स्वीकार करता है वह भेंट। कुम्हार की फटी बोरियों में भरी मोती राशि बाहर ऐसे झाँका करती हैं जैसे कोई नव विवाहिता घूँघट से झाँक रही हो।

सागर से उठनेवाली बदलियों की कालिमा, घनी कालिमा के वर्णन में कवि लेश्याओं द्वारा मानव मन के कलुषित मनोभावों को ही मानों प्रस्तुत करता है। दुष्टों के कलुषित स्वभाव की एक झलक देखिए :

"घमण्ड के अखण्ड पिण्ड बने हैं,/इनका हृदय अदय का निलय बना है,
रह-रह कर कलह/करते ही रहते हैं ये,
बिना कलह भोजन पचता ही नहीं इन्हें !" (पृ. २२८)

कवि सूर्य और सागर के सन्दर्भ में भले-बुरे व्यक्तियों के स्वभाव का मूल्यांकन करता चलता है। पाखण्ड के पक्षधरों की अवहेलना करता है। पुनः, कवि राहू द्वारा दिन-दहाड़े सब कुछ हड़पने की बात कहकर हड़पने की वृत्ति पर प्रहार करता है।

यह सत्य है कि दुष्ट शक्ति के कारण सब कुछ हड़प लेता है पर उसका मुँह अधिक ही काला हो जाता है। कवि सन्ध्या के पश्चात् अवतरित रात्रि का शब्द चित्र बड़े ही वास्तविक रूप में खींच पाया है। पूरा प्रसंग हमारे समक्ष रात्रि के अन्धकार की भयानकता को सादृश्य बना देता है। कविता और प्रकृति के सजीव चित्रण का यह एक अनूठा उदाहरण है।

इसी सन्दर्भ में महापुरुषों के लक्षण को एवं उनके सरल स्वभाव को प्रस्तुत किया है :

"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।" (पृ. २४५)

और जैसे आत्म भाव प्रकट करके आत्मकल्याण पर दृष्टि केन्द्रित करके कह रहे हैं :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।" (पृ. २४५)

इसी समय वर्षा प्रारम्भ होती है। वह रौद्ररूप धारण कर ताण्डव ही करने लगी है। इस वर्षा और रौद्ररूप का वर्णन इतना सजीव है कि लगता है मानों हम ऐसे तूफानी झंझा को महसूस कर रहे हैं।

ओला-वृष्टि का ताण्डव रावण-सा कहर बरसा रहा है। कवि की लेखनी सौर और भूमण्डल की तुलना करने लगी। वह विज्ञान की तुलना करता है और स्पष्ट करता है कि आकाश की ओर उठने वाले के चरण धरती से न छूट जाएँ, अन्यथा सब डगमगा जाएगा। और ऊपर वाले का दिमाग भी धरती को देखे, अन्यथा अभिमान से टूट जाएगा। कवि वर्तमान आर्यभट्ट या रोहिणी उपग्रहों की नवीनतम उपमाओं को प्रस्तुत कर मानों इस तथ्य को साबित करता है कि साधु परम्पराओं को रूढ़ियों के संकुचित दायरे में नहीं बाँधता। वह दीर्घ द्रष्टा है, युग द्रष्टा भी है। कवि आकाश में चल

रहे संघर्ष को 'स्टार वार' की तुलना देकर नए कवियों के बिम्ब, प्रतीकों को भी लजा देता है। घट को फोड़ने के लिए उद्धत ओलों से वर्षा के कण रक्षा करते रहे घट की। अपनी कम, पर दृढ शक्ति से लड़ते रहे अन्यायी से। कवि इन वर्षा एवं भूकणों की माँ के साथ तुलना करता है जो अपने शिशु की सूक्ष्मतम सिसकन को भी जानती ही नहीं, अनुभव भी करती है, महसूस करती है।

अत्यन्त दुख का सामना कणों ने किया। वे घट को बचाते रहे। अति संकट, उपसर्ग दृढ़मन के व्यक्ति को भी डिगा देते हैं। यह वास्तविकता कवि भूला नहीं है :

"अति-परीक्षा भी प्रायः/पात्र को विचलित करती है पथ से।" (पृ. २५४)

दुष्टों पर हिंसात्मक प्रहार न किया जाय, यही तो मनुष्य की मानवता के विकास की उपलब्धि है :

"विकट से विकटतम संकट भी/कट जाते हैं पल भर में;
आप को स्मरण में लाते ही/फिर तो प्रभो!" (पृ. २५६)

पुनः मन्द शीतल पवन का संचार हुआ। गुलाब मुदित होकर झूमने लगा। फूल ने पवन को प्रेम से नहला दिया। मनुष्य को सदैव पर के उपकार का माध्यम बन करके ही जीना चाहिए। तभी सुरभि सर्वत्र प्रसारित हो पाती है। यही भाव, पर के प्रति अन्तर की ग्लानि को विगलित कर देता है। पवन ने पुनः बादलों के आक्रमण की सम्भावना देखी तो अपनी शक्ति का उपयोग कर उन्हें तितर-बितर कर दिया। स्वच्छ आकाश का सौर मण्डल जैसे धरती की स्तुति करता है :

"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और/हम सब की
धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।" (पृ. २६२)

कवि की लेखनी जैसे नए आकाश और भानु की नई किरण से आह्लादित बन उठी। कलम चित्रकार की कूँची बनकर शब्दों-चित्रों द्वारा चित्र ही आँकने लगी। नवीनता का यह बोध सचमुच कविता और भावों की नवीनता भरता है। नए भावों की किरणें हृदय में नावीन्य का भाव अँकुराती हैं। कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"नया योग है, नया प्रयोग है/नये-नये ये नयोपयोग हैं
नयी कला ले हरी लसी है/नयी सम्पदा वरीयसी है
नयी पलक में नया पुलक है/नयी ललक में नयी झलक है।" (पृ. २६४)

परीषहजन्य वातावरण में घट सुरक्षित रह कर मानों कुम्भकार को समझा रहा है :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह!" (पृ. २६६)

कुम्भकार भी आश्चर्यचकित है घट की इस शक्ति, आस्था एवं बुद्धि को देखकर। कुम्भकार घट को चेतावनी देता हुआ उठता है कि तीर पर पहुँचने के लिए तुम्हें अपने ही हाथों तैरना पड़ेगा। आग की नदी पार करना होगी। घट, जो अब सुख-दुःख में स्थितप्रज्ञ है, जिसमें मुक्ति यात्रा की चाह जाग उठी है, वह कहता है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा

भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

कृति का चतुर्थ खण्ड वृहदाकार है। 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक वाला यह खण्ड जीवन में तप और सिद्धि का परिचायक है। खण्ड का प्रारम्भ ही संयम-असंयम जीवन की तुलना से होता है। कवि संयम की श्रेष्ठता को ही सर्वोपरि सिद्ध करते हुए कहता है :

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है।" (पृ. २६९)

घट की जीवन यात्रा आगे बढ़ती है। अब उसे अग्निज्वाला की नदी पार करना है। परीक्षण में खरा उतरना है। घड़े को पकाने के लिए अवा भी लगाया, सजाया जा रहा है। इस प्रसंग में कवि बबूल की लकड़ी के कड़ेपन में पश्चाताप भर देता है। उसे समझा कर मानों जीवन की कड़ी गाँठों के प्रति व्यक्तियों को पश्चाताप करने को प्रेरित करता है और वर्तमान में गणतन्त्र के नाम पर पनप रहे धनतन्त्र एवं मनमाने 'तन्त्र' की स्थिति पर प्रकाश डालता है। आज के न्यायतन्त्र की विलम्ब नीति, शिथिलता को भी वे अंकित करते हुए यही समझाते हैं कि बल का सही उपयोग निर्बल की मदद करना है, उन्हें सताना नहीं :

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

और वह व्यक्ति भी तो दोषी ही है जो अन्याय सहन करता है, उठता नहीं। कुम्भकार अवा के द्वार पर अग्नि प्रकट करने के प्रयास करता है पर अग्नि जलती नहीं। अग्नि को स्वयं वेदना है जलाने की। दूसरों को जला कर वह परीक्षा की निर्णायक बनती है, पर वह खुद अपनी परीक्षा कैसे दे ? अग्नि के इस मनोमन्थन-युक्त भाव-भाषा को जानकर कुम्भ जैसे उपदेशक की भूमिका में प्रस्तुत होकर अग्नि को समझाता है कि मेरे दोषों को जलाने में कोई दोष नहीं। उलटे मुझे तपाकर तुम इस योग्य बनाओगे कि मैं लोगों को शीतल जल प्रदान कर उनकी तृषा शान्त कर सकूँगा। बस ! अग्नि का मन शान्त हुआ। घट की भलाई के लिए वह जलती है। इधर अवा के दृश्य को कवि ने चित्रात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए उसके धुएँ एवं ज्वाला आदि का वर्णन तो किया ही है, उसके साथ प्राणायाम की यौगिक क्रियाओं का भी वर्णन किया है। साथ ही साथ निरोगी शरीर और मन की चर्चा भी की है। अग्नि की ज्वालाओं का रस घट का प्रक्षालन करता है। उसका 'ता···म···स स···म···ता' में परिवर्तित हो जाता है। वह प्रभु से निरन्तर प्रभुमय बनने की प्रार्थना करता रहता है। उसकी प्रार्थना पर अग्नि की वाणी का मर्म कवि प्रस्तुत करता है और ध्यान की महत्ता को समझाते हुए कहता है कि 'शव से शिव' बनना ही ध्यान की परमोत्कृष्ट स्थिति है।

कवि अग्नि एवं घट के कथोपकथन द्वारा दर्शन के कुछ गम्भीर पहलुओं को भी सरलता से समझाता है। घट अग्नि से दर्शन और अध्यात्म के भेद, उनके कार्य-कारण सम्बन्धों पर प्रश्न करते हुए प्रश्न पूछता है कि किससे तृप्ति और मुक्ति मिलती है ? प्रश्नों के उत्तर अग्नि के द्वारा आचार्यश्री दिलवाते हुए कहते हैं :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।

...अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन
...स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।
...दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,/अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध—निर्विचार!" (पृ. २८८-२८९)

इस परिचर्चा में आचार्य अध्यात्म को ही दर्शन से श्रेष्ठ व आत्म कल्याणकारी मानते हैं।

प्रात:काल कुम्भकार अवा के पास जाता है। 'कुम्भ की कुशलता सो अपनी कुशलता' कह उल्लास से अवा पर जमी राख को हटाता है। कुम्भ के दर्शन कर प्रसन्न होता है। अग्नि से तपकर उसका रंग भले ही काला पड़ गया - पर, उसके शरीर से एक आभा फूटती है। आचार्य मानों इंगित करते हैं कि तपने के बाद देह मलीन हो जाय, पर आत्मा की पवित्रता की चमक चेहरे पर दिखती है। कुम्भ में पवित्रता है, भक्तिभाव है। आचार्य इस छोटे से प्रसंग की गरिमा मुनि के चरित्र की, दिनचर्या, परीषह सहनशीलता आदि का वर्णन कर मानों पूरे आचारांग की प्रस्तुति ही कर रहे हैं। लोगों को भी सच्चे मुनि के स्वरूप, व्यवहार, आचार-विचार से अवगत करा रहे हैं। मुनि का संयम इन्द्रियविजयी होना, सिंह वृत्ति के साथ अहिंसक वृत्ति, निर्लोभ, अपरिग्रही होने आदि गुणों का कथन प्रस्तुत किया है।

घट की कथा के साथ कवि एक सेठ की स्वप्न से लेकर अन्तिम अवस्था तक की कथा को प्रस्तुत कर कृति को रोचक तो बनाता ही है, वह विविध प्रसंगों की योजना द्वारा मिट्टी के कुम्भ की महत्ता, उसकी श्रेष्ठता को भी सिद्ध करता है। इस पूरे प्रसंग में धर्म की श्रद्धा केन्द्र में है।

सेठ का नौकर कुम्भकार के यहाँ कुम्भ को ठोंक-बजाकर लेने जाता है। पर विडम्बना तो यह है कि जो परीक्षक बनता है, वह स्वयं परीक्षा से नहीं गुज़रता है। तात्पर्य यह कि परीक्षक को पहले परीक्षा देना चाहिए, अन्यथा उसे उपहास का पात्र बनना पड़ेगा। घट को परीक्षण के लिए बजाने पर उसमें से संगीत के सप्त स्वर ध्वनित होते हैं। कवि उस सरगम का भी आध्यात्मिक अर्थ यही करता है कि 'दु:ख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता।' और कितनी सारगर्भित व्याख्या करते हैं :

"इन सप्त-स्वरों का भाव समझना ही/सही संगीत में खोना है
सही संगी को पाना है।" (पृ. ३०५)

कुम्भ के इस ज्ञान का श्रेय शिल्पी को है, जिसको वह स्वीकार करता है। अपनी कालिख को वह श्रेयस्कर ही मानता है जिसमें से निकलते तबले के स्वर आनन्द प्रदान करते हैं। कुम्भकार से ग्राहक कुम्भ खरीदकर उसका दाम देना चाहता है पर कुम्भकार ग्राहक से लेन-देन के व्यापार को हेय समझकर पैसे लेने से इनकार करता है। आचार्य पुन: ग्राहक-व्यापारी के, धन आदि के सम्बन्धों की चर्चा करते हैं। स्वस्तिक की व्याख्या द्वारा चतुर्गति का वर्णन करते हैं। ग्राहक कुम्भ को सेठ जी के घर ले जाता है। उस पर कुंकुम का पुट दिया जाता है। मुख पर चार पान सजाए जाते हैं। श्रीफल रखा जाता है, हल्दी-कुंकुम छिटके जाते हैं। कुम्भकार का जैसे जीवन ही धन्य हो गया हो। अरे! जटा हटाने पर श्रीफल की ऊर्ध्वमुखी चोटी मानों उसे मुक्ति फलप्रद बना रही है। नारियल को अपनी कठिनता पर क्षोभ है पर कितनी श्रेष्ठ सूक्ति से बात समझाई गई है :

"मृदुता और काठिन्य की सही पहचान
तन को नहीं,/हृदय को छूकर होती है।" (पृ. ३११)

सेठ पूजा कार्य को प्रसन्नता से करता है और इसी प्रसंग में कवि मुनि के आहार की पूरी चर्या का वृत्तान्त, विधि आदि समझा देते हैं। भाग्यशाली सेठ के यहाँ मुनि आहार का सुयोग बनता है और धन्य हो जाता है सेठ का जीवन। दाता का गुण विवेक होना चाहिए। तभी दान की सार्थकता है। विवेकी व्यक्ति के गुण मानव के उत्कर्ष के गुण हैं।

"पात्र से प्रार्थना हो/पर अतिरेक नहीं,/इस समय सब कुछ
भूल सकते हैं/पर विवेक नहीं।...
अंग-अंग से/विनय का मकरंद झरे,/पर, दीनता की गन्ध नहीं।" (पृ. ३१९)

आचार्य दानदाता के लक्षण और गुणों की विशेष चर्चा प्रस्तुत करते हुए हमारा मार्ग प्रशस्त करते हैं कि हम कैसे दाता बनें। मुनि को आहार देने का सौभाग्य सेठ प्राप्त करता है। मुनिश्री पूरी आहार की चर्या का आलंकारिक भाषा में वर्णन करते हैं। पड़गाहन से भोजन की समाप्ति तक की क्रिया इतनी सटीक व चित्रांकन पूर्ण है कि लगता है हम आहार को निकले एवं पड़गाहन स्वीकारते हुए, मुनि को आहार लेते व देते हुए मुनि व भक्तजन का चित्र ही निहार रहे हों। साथ ही मुनि की क्रिया-लक्षण का पुनः प्रस्तुतीकरण किया गया है। एक लक्षण देखिए :

"जिनके पास संग है न संघ,/जो एकाकी हैं,
फिर चिन्ता किसकी उन्हें ?/सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं,
अष्टादश दोषों से दूर···।" (पृ. ३२७)

(यह प्रकरण मुनिचर्या के अन्तर्गत आराध्यभूत अरहन्त प्रभु का लक्षण है।)

मुनि तो इन्द्रियसंयमी हैं। उन्हें तो खट्टे-मीठे, रूक्ष-स्निग्ध पदार्थों से क्या मतलब ? उन्हें तो तपस्या में रत शरीर को ईंधन देना है। भूख तो मोह और असाता कर्म के उदय का परिणाम है। तभी वे कहते हैं :

"ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है/श्रमण का शृंगार ही
समता-साम्य है···।" (पृ. ३३०)

आहार के इस प्रसंग में महत्त्वपूर्ण बात है कि सेठ के यहाँ स्वर्ण-रजतकलशों में विविध रस व्यंजन हैं, साधु की अँजुली इन कीमती घट पदार्थों के लिए नहीं खुलती। पर, मिट्टी के घट में भरे जल को देने की प्रक्रिया में अँजुली खुल जाती है। जो सौभाग्य रत्न रजत-स्वर्ण के घटों को नहीं मिला, वह मिट्टी के घट को प्राप्त होता है। सेठ की अँगुली पर शोभित रत्नजड़ित मुद्रिका आज धन्य हो गई मुनि के पाद-प्रक्षालन का सुयोग पाकर। कान के कुण्डल कपोलों पर दमकते हैं। स्पर्धा विकास के लिए उत्तम है पर उसमें अहम् के उत्पन्न होने की सम्भावना भी छिपी रहती है जो पतन का कारण बनती है। सेठ के ललाट की लट आगे आकर मानों मुनिवर से मुक्ति की याचना करती है। आहार की समाप्ति पर सेठ करबद्ध होकर पात्र से यही प्रार्थना करता है :

"आशु आशीर्वाद मिले/शीघ्र टले विषयों की आशा, बस !" (पृ. ३४४)

मुनि भी संसार को जानने-देखने की, ज्ञाता-द्रष्टापन रूप दृष्टि का संक्षिप्त उद्बोधन देकर वन की ओर साधनार्थ विहार करते हैं। सेठ भी जैसे किसी चुम्बकीय शक्ति से आबद्ध हो - मुनि के पीछे-पीछे निकल पड़ता है। मुनि के द्वारा लौट जाने के संकेत पर भी वह लौटता नहीं। आत्म-आलोचना ही करता है। उनसे अनेक प्रश्न करता है। मुनि वात्सल्यमयी माँ की तरह प्रश्नों के उत्तर देकर उसकी शंकाओं का समाधान करते हैं। उनके वचनामृत से यही बोध निःसृत होता है :

"अपने में लीन होना ही नियति है/...आत्मा को छोड़कर
सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

अनेक उदाहरणों से समझकर सेठ वापिस लौटता है। सेठ की वेदना इस वियोग से अत्यन्त बढ़ गई है। उसकी दशा देखिए :

"सहपाठियों के समक्ष/पराभव-जनित पीड़ा से भी/कई गुनी अधिक
पीड़ा का अनुभव हो रहा है/इस समय सेठ को।
डाल के गाल का रस-चूसन/पूर्णरूप से छूटने से
धूल में गिरे फूल-सम/आत्मीयता का अलगाव साथ ले
शेष रहे अत्यल्प साहस समेत/घर की ओर जा रहा सेठ··।" (पृ. ३५०)

उसकी स्थिति माँ से बिछुड़े शिशु-सी दीन, वसन्त के अन्त पर दु:खी वृक्षावली एवं डूबते, दु:खी सूर्य-सी हो रही है। सेठ की स्थिति द्वारा मानों आचार्य कह रहे हैं कि सन्त समागम के पश्चात् ऐसा ही वैराग्य भाव एवं संसार के प्रति निर्मोह उत्पन्न होना चाहिए।

कुम्भ के उपदेश मानों स्वयं आचार्य के उपदेश हों, जो सेठ को नहीं, हम सबको दिए जा रहे हैं। कैसा परिवर्तन ! सेठ सारे वैभव का त्याग कर माटी के घट को स्वीकार करता है। कुटुम्ब के लोग भी उसका समर्थन करते हैं, वैभव का नहीं। कवि मृत्तिका घट से ईर्ष्या, मान करने वाले स्वर्ण-रजत-रत्नघटों की ईर्ष्यापूर्ण मन:स्थिति का प्रभावक ढंग से आत्मकथन शैली में वर्णन करता है। घट निर्जीव न रहकर मानों देहधारी, राग-द्वेष से पीड़ित दृष्टिगत होते हैं। कवि यहाँ मनुष्य का मूल्यांकन उसके कर्मों से एवं सद् व्यवहार से करना चाहता है, मात्र कुल या जाति से नहीं, जो कवि का विशाल राष्ट्रीय दृष्टिकोण ही है :

"उच्च-उच्च ही रहता/नीच-नीच ही रहता/ऐसी मेरी धारणा नहीं है,
नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,/उचितानुचित सम्पर्क से
सब में परिवर्तन सम्भव है।/परन्तु ! यह ध्यान रहे--
शारीरिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि/सहयोग-मात्र से
नीच बन नहीं सकता उच्च/इस कार्य का सम्पन्न होना
सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।" (पृ. ३५७)

'रज' इसलिए पूज्य है कि वह पूज्य चरणों से सेवित रज है। पर रज का स्थान च्युत होना दु:खदायी भी बनता है। आचार्य श्रमण के गुणों की चर्चा करते हुए उसे समतावान् अभयदाता बताते हैं और श्रमण तो श्रम-संस्कृति का जनक-पोषक एवं प्रेरक हैं—'श्रम करे सो श्रमण'(पृ. ३६२)। अरे ! धन के अभिमानी घट सन्त पर भी पक्षपात के आरोप लगाने से नहीं चूकते। अरे ! वह क्या जानें मूल्यवान् वस्तुओं का उपयोग-- ऐसा परिहास भी करते हैं। पर ये बहुमूल्य अनुत्पादक घट क्या जानें मिट्टी की महिमा को ! जो कभी द्रवित ही नहीं हुए :

"दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर/जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है।" (पृ. ३६५)

माटी तो अपने गर्भज बीज को स्वयं टूट कर भी पनपने का अवसर देती है। फिर धन की संगति प्राय: व्यक्ति को दुर्गन्धयुक्त, स्वार्थमयी ही बनाती है। यहाँ आचार्य युगद्रष्टा कवि की भूमिका में वर्तमान पूँजीवाद, उसके दुखद

परिणामों, समाज की असमान व्यवस्था पर विचार प्रकट करते हैं। किसी भी कार्य में ध्येय की दृढ़ता ही महत्त्वपूर्ण होती है, अन्यथा चंचलता वैसे ही आग लगा देगी जैसे मशाल। मनुष्य का जीवन मशाल-सा भमकने वाला नहीं होना चाहिए अपितु दीपक-सा सौम्य, अन्धकार को पीने वाला होना चाहिए। पथ-दर्शक होना चाहिए। आचार्य कवि विविध मूल्यवान् घटों के आक्रोष द्वारा मानव मन के स्वभाव, उसके कषायभाव आदि का वर्णन करते हुए उससे छूटने का मार्ग ही प्रशस्त करते हैं। घटों के संवाद द्वारा तत्त्व निरूपण व उनकी सरल बोधगम्य व्याख्याएँ निरूपित हुई हैं। समता का एक उदाहरण :

"किसी रंग-रोगन का मुझ पर प्रभाव नहीं,
सदा-सर्वथा एक-सी दशा है मेरी/इसी का नाम तो समता है।" (पृ. ३७८)

मनुष्य में भोगों के प्रति अनासक्ति बढ़े, यही संयम के लिए आवश्यक है।

आज मृत्तिका घट अकेला पड़ गया। दूसरी ओर अनेक बहुमूल्य घट अपना बहुमत बना लेते हैं। आज के जनतन्त्र की यही तो विडम्बना है कि बहुमत के कारण पात्र को भी अपात्र की कोटि में आ जाना पड़ता है।

आज घर के सभी लोग प्रसन्न हैं, क्योंकि साधु का आहार निर्विघ्न समाप्त हो गया। मानों उन्हें मनोवांछित फल मिल गया। सेठ को नींद नहीं आती। संसार के प्रति जैसे नाता ही टूट गया। धन के प्रति मोह समाप्त हो गया।

कवि सामाजिक परिवेश को भूला नहीं तभी तो विवाह जैसे संस्कारी कार्य में दहेज को घृणित मानकर धन लोलुपों पर व्यंग्य करता है :

"लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

आज मजदूर या किसानों को कम वेतन देकर सेठ लोग जो शोषण कर रहे हैं, उसे भी कवि भूला नहीं। मानवता का लोप मानव कैसे कर रहा है, इसकी ओर भी कवि का निर्देश है।

सेठ अस्वस्थ हो गए। भूख-प्यास के कारण कमजोर हो गए। ऐसी स्थिति का कवि यथार्थ चित्रण ही नहीं करता अपितु सही बोध देकर यही समझाता है कि मात्र शरीर सुखाना धर्म नहीं है :

"तन की भी चिन्ता होनी चाहिए,/तन के अनुरूप वेतन अनिवार्य है,
मन के अनुरूप विश्राम भी।/मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया
फलवती नहीं होती है,/केवल चेतन-चेतन की रटन से,/चिन्तन-मनन से
कुछ नहीं मिलता!" (पृ. ३९१)

कवि प्रकृति और पुरुष के भोग्य-भोग्या सम्बन्धी चर्चा करते हुए विषय-वासना के दुष्परिणाम को समझाता है। वासना पुरुष को कितना बेहाल बना सकती है, इसका वर्णन प्रस्तुत किया है :

"यही तो पुरुष का पागलपन है/···पामर-पन
जो युगों-युगों से/विवश हो,/हवस के वश होता आया है।" (पृ. ३९४)

वर्तमान चिकित्सकों की लोभवृत्ति भी कवि की कलम से बच नहीं सकी। चिकित्सक का कर्तव्य उसकी निर्लोभ वृत्ति का परिचय देता है। रोगी के लिए पथ्य कितना आवश्यक है, इसे भी बतलाना नहीं भूलता। आचार्य जैसे एक कुशल चिकित्सक की भूमिका ही अदा कर रहे हैं।

बौद्धिक कवि 'श-स-ष' तीन अक्षरों में धर्म की अपार भावनाएँ व्यक्त करता है। 'श' कषाय का शमन

करता है और 'स' सहज सुख का साधन है तो 'ष' पाप-पुण्य से मुक्त होने का प्रतीक है। इसी सन्दर्भ में कवि 'भू' शब्द से धरती के अनेक गुण, रूप का वर्णन भी कर देता है। कुशल चिकित्सक दवा और उपदेश द्वारा तन-मन दोनों का उपचार करता है। प्राकृतिक चिकित्सा में विश्वास व्यक्त करता है। वह माटी के उपचारों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करता है। कवि इसी सन्दर्भ में वाणी की महत्ता प्रतिपादित करता है। उसके स्वरूपों को प्रस्तुत करते हुए एक भाषावैज्ञानिक की भाँति उसके उच्चारण, स्थानों, प्रभाव आदि का वर्णन कर 'बैखरी वाणी' पर विशेष विचार प्रस्तुत करता है। 'बैखरी' की व्याख्या भी अपने ढंग से करते हुए उसे प्रमाद या अज्ञान से मुक्ति दिलाने वाली मानता है।

मुनि ध्यान की चर्चा करते समय उसके उपयुक्त समय-स्थान का निर्देश करता है। अयोग्य समय में यदि ध्यान क्रिया की जाए तो उलटे नुकसान करती है :

"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है,/और
भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)

कवि दवा के सेवन में भी निर्दोष आयुर्वेदिक दवाओं के प्रयोग की हिमायत करता है। विदेशी हिंसात्मक, बहुमूल्य दवाएँ खाने का रोग भी अमीरों को ही होता है।

मुनि की दृष्टि का पैनापन देखिए -- वह हमारे रसोई घर के बर्तनों से कितना परिचित है। अरे ! आज के लोग सोने, चाँदी, ताँबे एवं पीतल के शुद्ध बर्तनों के स्थान पर लोहे के यानी 'स्टील' के बर्तनों के पीछे पागल हो रहे हैं। अरे ! जेल में भी लोहे की हथकड़ियाँ पहनाई जाती हैं तो क्या हम इन बर्तनों के उपयोग द्वारा कहीं अपने स्वास्थ्य को जेल में तो नहीं डाल रहे ! यह कैसा युग ! सोना गया तो लोहा ही रह गया।

वर्तमान में जीभ की लोलुपता और खाद्यान्न में मिलावट कितनी खतरनाक है, इस ओर भी वे इंगित कर रहे हैं। ऐसा भोजन ही आज दाह रोग, रक्तचाप, हृदय रोग आदि का कारण बन रहा है। कवि को चिन्ता है समाज के स्वास्थ्य की। कवि धन के अतिव्यय का पक्षपाती नहीं। उसे मितव्यय में आस्था है।

स्वर्ण आदि घटों के इतने आक्रोशात्मक कटुवचन के बाद भी मिट्टी के कुम्भ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो क्षमा गुण से मुस्कराता है। सेठ भी उसी को स्वीकार करते हैं। इससे क्रोधाग्नि, ईर्ष्याग्नि से पीड़ित हो सभी हिंसा और आतंकवाद पर उतर आते हैं।

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।" (पृ. ४१८)

यह आतंकवाद 'पर' एवं 'स्व' सबके लिए घातक ही होता है। कवि आतंकवाद के उद्भव, कार्य और परिणामों की भयानकता का चित्र प्रस्तुत कर मानों वर्तमान आतंकवाद के विषय में अपने भाव प्रस्तुत करता है। उसका भाव है कि ये आतंकवाद समाप्त हो, क्योंकि यह सबके लिए दुखद है।

आतंकवाद कभी व्यक्ति की पहिचान नहीं करता। वह दोस्त-दुश्मन के भेद को भूल जाता है। अतः एक परिवार के कारण अन्य दुःखी ना हों, इस भाव से कुम्भ सेठ को सपरिवार निकल भागने की सलाह देता है। सेठ स्वीकार करता है। इस खण्ड की यह उपकथा बड़ी ही रोचक, रोमांचक है। कथा तथ्य की दृष्टि से भी यह महत्त्वपूर्ण है।

भागते हुए परिवार को जंगल में सिंह प्रेम से, अहिंसा से अभय-दान देकर स्वागत करता है। यह धर्म का ही प्रभाव कहा जाएगा। आतंकवाद जोर-शोर से पीछा कर रहा है। कवि ने आतंकवाद के रौद्र स्वरूप का यथातथ्य चित्रण किया है, मानों रौद्र रस ही रूप धारणकर अवतरित हुआ हो। कुछ पंक्तियाँ देखिए :

"जो बार-बार होठों को चबा रहे हैं,/क्रोधाविष्ट हो रहे हैं,
परिणामस्वरूप, होठों से/लहू टपक रहा है
...जिनका तन गठीला है/जिनका मन हठीला
...मस्तक के बाल/सघन, कुटिल और कृष्ण हैं
...जिनके अंग-अंग के अन्दर/दया का अभाव ही भरा है।" (पृ. ४२७-४२८)

पर ऐसे दुष्टों से गजदल भी परिवार के चारों ओर खड़ा होकर उनकी रक्षा करता है। कवि यही तो कहना चाहता है कि जब मनुष्य क्रूर पशु बन जाता है तब पशु ही उसकी रक्षा करते हैं। कवि ने इस रौद्र रस के परिप्रेक्ष्य में प्रकृति का भी ऐसा ही भयावह रूप प्रस्तुत किया है।

अरे ! धर्म का प्रभाव तो देखो ! स्वयं हिंसात्मक सर्प भी विष को त्याग परिवार की रक्षा को दौड़ा आया। आतंकवाद के पाँव रुक गए। भयभीत हुए। कवि सर्प की –'उरग' की भूमिका पर सुन्दर शब्दों का चित्र उपस्थित करता है। आज पदवाले कितने घृणित हो गए हैं :

"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,
पाप-पाखण्ड करते हैं।" (पृ. ४३४)

आतंकवाद झाड़ियों में छिप गया। लगता है जहर से जहर का प्रतिवाद हो गया। कवि त्राटक का प्रयोग करता है। यह बात कुछ समझ में नहीं आई कि इसकी क्या आवश्यकता थी ?
इसी समय जोर की आँधी, तूफान, वर्षा का ताण्डव प्रलय का भयावह रूप धारण कर उठता है। यह प्रकृति का ही आतंक माना जाएगा। तभी तो कवि कहता है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद
शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

पर, धर्म का कवचधारी परिवार इस आपत्ति में भी सुरक्षा पाता रहता है। लगता है कवि मानतुंग के 'भक्तामर' के इन भावों को वाणी दे रहा है, जहाँ अनेक कष्ट आँधी, तूफान, रोग आदि में भी भक्त का रक्षण होता है। और यह श्रद्धा भी दृढ़ करता है कि धर्म के सम्बलधारी का आधि-व्याधि-उपाधि कोई भी कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं।

नदी में उफान है। भयानक जलचर हैं। पर परिवार की शान्तमुद्रा देख उनके हिंसक भाव भी तिरोहित हो गए हैं। परिवार को अब नदी पार करना है। नदी में तूफान है। उलटी दिशा में तैरना है। नदी में भँवरें उठ रहीं हैं। इन भँवरों में सिंह जैसा बलशाली भी समाधिस्थ हो जाता है। इस घटना से परिवार का धैर्य टूट ना जाए, अत: कुम्भ नदी को ललकार कर कहता है कि हे पाप पाँववाली नदी ! तू इनका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। ये तो पारगामी जीव हैं। अरे ! इस गागर में सागर को भर लेने की क्षमता है, क्योंकि हम धरती के अंश हैं, और धरती का अर्थ है जो तारे, उद्धार करे।

बस फिर क्या था ! कुम्भ अपने गले की रस्सी से पूरे परिवार को क्रम से बाँध कर पार लगाने उतर पड़ता है प्रचण्ड नदी के प्रवेग में। श्रद्धावान् भक्तों को कहीं-न-कहीं से मदद मिल ही जाती है। यही तो शुभकर्म का पुण्योदय है। कुम्भ के इस साहस और परिवार के रक्षण हेतु एक महामत्स्य प्रसन्न होकर एक ऐसी मुक्ता का दान देता है जिससे धारक अबाध जल में भी पथ पा सके। यद्यपि यह एक चमत्कार ही है - तथापि निर्देश है पुण्योदय का। कवि सूक्ति के प्रयोग से कहता है :

'' 'बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख'
और यह फल/त्याग-तपस्या का है सेठ जी !'' (पृ. ४५४)

घट परिवार को बाँधते समय भी बड़ा हृदयस्पर्शी तथ्य प्रस्तुत करता है कि यद्यपि बन्धन कभी, किसी को भी रुचिकर नहीं होते परन्तु कभी-कभी वह आवश्यक भी होते हैं। पूरी श्रद्धा से एक पतली रस्सी का सहारा लेकर सेठ परिवार धारा में कूद जाता है। श्रद्धालु को नदी के मगरमच्छ भी अभयदान ही देते हैं। अरे ! उनके भाव भी बदल जाते हैं :

''परिवार की शान्त मुद्रा देख/क्षोभ का नूतन प्रयोग करना
जो मूल-धर्म है उनका/भूल से गये हैं,
उनकी वृत्ति में आमूल-चूल/परिवर्तन-सा आ गया है।'' (पृ. ४४५)

घट की आस्था, सेठ की दृढ़ श्रद्धा एवं चमत्कार के कारण तूफान, भँवर का संकट टल जाता है। कुम्भ का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगता है जैसे कोई विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है।

आतंकवाद नदी से सभी को डुबोने की सलाह देता है, पर नदी तो माँ है -- ऐसे आदेश या कथन का पालन क्यों करे ? आतंकवाद तो मार्ग विरोधी बन कर नदी से पार हुए परिवार पर पुनः उपसर्ग के रूप में पत्थर बरसाने लगता है। इसी घटना के परिप्रेक्ष्य में कवि समाजवाद की धारा पर विचार प्रस्तुत करता है। हकीकत में हम भगवान् महावीर की समता को समझे ही नहीं। और हमने समाजवाद का अर्थ भी विकृत कर दिया। वह एक मात्र राजनीतिक नारा बनकर रह गया। पर आचार्य समाजवाद के वास्तविक अर्थ को समझाते हैं :

''प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का
जीवन ही समाजवाद है।/समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से
समाजवादी नहीं बनोगे।'' (पृ. ४६१)

पत्थरों से लोग लहूलुहान हुए। सेठजी समताधारी हैं पर परिवार दुःख से पीड़ित है। सेठ की मानों अहिंसा, समता, धैर्य की कसौटी पर परीक्षा ही हो रही है। वह अपनी जान की बाजी लगाकर भी पेट के नीचे कुम्भ को छिपाकर उसकी रक्षा करता है। यही तो सज्जनता है कि व्यक्ति अपने रक्षक की रक्षा में जी-जान लगा दे। पुनः, आचार्य एक चमत्कार को मूर्त रूप देते हैं। इस उपसर्ग से रक्षा हेतु जलदेवता अपनी विक्रिया-विद्या से परिवार के चारों ओर रक्षा-मण्डल कर वृत्त रचाते हैं। अरे ! आतंकवाद के द्वारा फेंके गए जाल से पवन रक्षा करता है। पूरे दल को एक बार उछाल कर जल में फेंकता है। नाव चक्रवात में फँस कर चकराने लगती है। यह था रक्षण के लिए एक कड़वा उपाय। समय बीतता है। नाव किनारे लगती है। परिवार की मूर्च्छा टूटती है, पर पुनः आतंकवाद का विकृत स्वर गूँजता है। कवि यहाँ पुनः समाजवाद का मूल्यांकन करता है और एक ऐसे कटु सत्य को प्रस्तुत करता है कि चोर से अधिक पापी उसे चोर बनाने वाले होते हैं :

''चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।'' (पृ. ४६८)

कवि सीता का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बात को अधिक स्पष्ट करता है कि रावण द्वारा सीता के हरण में सीता का रूप भी एक कारण था जिससे रावण में ऐसे विकारी भाव जन्मे। यह सीता के अशुभ कर्मों का ही फल था। इतने विकराल कष्ट देखकर सेठ के परिवार का मन विचलित हो उठता है समर्पण के लिए। पर नदी रोकती है कि असत्य

के सामने सत्य का समर्पण ठीक नहीं। इससे तो असत्य का शासन आ जाएगा तथा इससे सब गड़बड़ा जाएगा।

"सती अनुचरी हो चलेगी/व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे।" (पृ. ४७०)

संकट की इस पराकाष्ठा के बाद देवताओं में भी मानों खलबली और लज्जा फैल गई। वे सभी सेठ के रक्षणार्थ प्रस्तुत हुए और अपनी मजबूरी पर लज्जा प्रस्तुत करते हैं। अन्ततः, विजय श्रद्धा, भक्ति एवं सहकार्य की ही होती है। आतंकवाद का हृदय परिवर्तित होता है। वे माँ से क्षमा-याचना करते हैं और वत्सला माँ अपनी अपार करुणा देकर उसका परिमार्जन ही करती है। अब श्रीगणेश होता है अनन्तवाद का। कुम्भ के पीछे पंक्तिबद्ध परिवार चल रहा है, जैसे एक माँ की सन्तान एक जान की तरह चलते हैं। इतने कष्टों के बाद भी वे सब की मंगल-कामना करते हैं। कुम्भ भी तट का चुम्बन करता है। अरे! पार लगाने वाली रस्सी कितनी भोली, सरल है जो कटि में बँधकर, पार लगाकर भी इसलिए दुःखी है कि उसके बन्धन से परिवार को कष्ट हुआ। आचार्य निमित्त और उपादान के तत्त्व दर्शन को भी समझाते हैं। घट के कार्य से माँ अति प्रसन्न है। माँ यही उपदेश देती है कि समर्पित की ही बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ होती हैं। इसका श्रेय कुम्भकार को है जिसने यह रूप प्रदान किया। पर, कुम्भकार अधिक विनम्र है। वह इस सबका श्रेय ऋषि-सन्तों की कृपा को देता है।

सभी का ध्यान जाता है एक साधु की ओर। आतंकवाद स्वयं साधु से परित्राण का मार्ग पूछता है। सेठ का परिवार गद्‌गद है साधु दर्शन से। सभी ऐसे वचन का आग्रह करते हैं जिससे भव पार हो जाएँ। तब आचार्य जैसे अपनी वाणी से अपने मनोभावों को प्रस्तुत करते हैं :

"गुरुदेव ने मुझसे कहा है/कि/कहीं किसी को भी/वचन नहीं देना,
क्योंकि तुमने/गुरु को वचन दिया है :/हाँ ! हाँ !/यदि कोई भव्य
भोला-भाला भूला-भटका/अपने हित की भावना ले
विनीत-भाव से भरा—/कुछ दिशा-बोध चाहता हो/तो···
हित-मित-मिष्ट वचनों में/प्रवचन देना—/किन्तु
कभी किसी को/भूलकर स्वप्न में भी/वचन नहीं देना।" (पृ. ४८६)

मुनिश्री कर्म का क्षय, मोक्ष के मार्ग सम्बन्धी अपनी अमृतवाणी से आप्लावित करते हैं। वे गुरु के शब्दों पर विश्वास करने को कहते हैं :

"शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी।" (पृ. ४८८)

इस पवित्र वातावरण को स्नेह, श्रद्धा भक्ति से निहार कर धन्य हो रही है मूकमाटी।

भावों की दृष्टि से यह कृति जितनी समृद्ध है, कलापक्ष की दृष्टि से भी उतनी ही समृद्ध है। काव्य की भाषा अति मधुर, विचारों के अनुकूल है। भाषा और भाव परस्पर के पूरक बने हैं। कवि ने गहनतम सिद्धान्तों को भी सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। कवि विद्यासागर शब्दों के शिल्पी ही नहीं, उनसे खेलते भी हैं, उन्हें मथते हैं और नए अर्थो-सन्दर्भों का नवनीत निकालते हैं। कृति में अनेक उदारण हैं जिनमें से यहाँ कुछ ही प्रस्तुत हैं जो शब्दों के और वैचारिक विशालता के परिचायक हैं। कुम्भकार का अर्थ देखिए :

" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो

भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

'दया' का 'प्रतिलोम 'याद,' सदैव दया की याद दिलाता है। इसी प्रकार 'गदहा' का अर्थ 'रोग-हारक' है। और गदहा भी धन्य है पर-दुख या पर-भार वहन करके। 'रस्सी' भी रस-सी है। और संयमी 'आदमी' ही 'आ···दमी' है। 'कृपाण' को दुःख है कि उसमें 'कृपा···न' है। और यदि भाव नहीं तो 'भावना' भी 'भाव···ना' है। 'लाभ' विलोम में 'भला' ही करता है। यदि ऋजुता नहीं तो 'नमन' भी 'न मन'-सा हो जाता है। और विरोध में 'नम···न' की उद्दण्डता का पोषक भी। परोपकारी मरकर भी परहितं करते हैं तभी तो वे 'मर हम' के भाव से 'मरहम' बनते हैं। देखिए 'दो-गला' आज जो गाली है, उसके भी कितने विविध भाव व्यक्त कर दिए हैं – एक है द्विभाषी होना, दूसरा दुष्ट प्रकृति का और तीसरा अहं को दो गला। 'नदी' यदि जलहीन है तो 'दीन' हो जाती है। कवि ने नारी के विविध पर्यायवाची शब्दों के उत्तम भावार्थ एक-एक अक्षर को लेकर प्रस्तुत किए हैं। 'महिला' धरती के प्रति आस्था जगाती है तो 'अबला' जीवन को जाग्रत करती है। 'कुमारी' धरा सम्पदा-सम्पन्नता की प्रतीक है तो 'स्त्री' पुरुष को कुशल संयत बनाती है। 'सुता' सुख-सुविधाओं का स्रोत है तो 'दुहिता' स्वयं का हित करते हुए पतित पति का भी हित करती है। 'मातृ' शब्द सम्पूर्ण ज्ञाता का प्रतीक है। 'अंगना' द्वारा 'अंग···ना' है। इस प्रकार के अन्य अनेक शब्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

कवि ने भाषा में मुहावरे, कहावतें और सबसे अधिक सूक्तियों का प्रयोग किया है। इनमें ग्रामीण तथा परम्परागत मुहावरे आदि भी हैं। कृति में उनकी बहुलता है पर कुछ उदाहरण देखिए :

"जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है।" (पृ. ८); "आस्था के बिना रास्ता नहीं" (पृ. १०); "पूत का लक्षण पालने में" (पृ. १४); "बायें हिरण/दायें जाय—/लंका जीत/राम घर आय" (पृ. २५); "पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है" (पृ. ३३); "पापी से नहीं/पाप से,/पंकज से नहीं/पंक से/घृणा करो" (पृ. ५०-५१); "ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है" (पृ. ६४); "कूप मण्डूक-सी···/स्थिति है मेरी" (पृ. ६७); "मुँह में राम/बगल में छुरी।" (पृ. ७२); "कम बलवाले ही/कम्बलवाले हैं" (पृ. ९२); "मन माया की खान है" (पृ. ९७); "बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं" (पृ. १०६); "आधा भोजन कीजिए/दुगणा पानी पीव।/तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३); "दाल नहीं गलना," "चाल नहीं चलना" एवं "करवट बदलना" (पृ. १३४); "आँख की पुतलियाँ/लाल-लाल तेजाबी बन गईं" (पृ. १३४); "नाक में दम कर रखना" (पृ. १३५); "आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का/कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का" (पृ. १३५); "खोट पर चोट होना" (पृ. १६५); "गुरवेल तो कड़वी होती ही है/और नीम पर चढ़ी हो/तो कहना ही क्या!" (पृ. २३६); "प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते" (पृ. २७१); "अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं" (पृ. २७५); "अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है" (पृ. २७६); "स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है" (पृ. २८८); "वैराग्य की दशा में/स्वागत-आभार भी/भार लगता है" (पृ. ३५३); "मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती" (पृ. ३९१); "गागर में सागर धारण करना" (पृ. ४५३); "जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह" (पृ. ४४१); "काई-लगे पाषाण पर/पद फिसलता ही है!" (पृ. ११); "दाँत मिले तो चने नहीं,/चने मिले तो दाँत नहीं" (पृ. ३१८); "बाल की खाल निकालना" (पृ. १५२); "आचरण के सामने आते ही/प्रायः चरण थम जाते हैं" (पृ. ४६२)।

कवि ने गिर्री, छौंक, निब, महेरी आदि ग्राम्य शब्दों का प्रयोग किया है तो माहौल, यक़ीन, मरहम, हवस जैसे

कई उर्दू, अरबी, फ़ारसी शब्दों का प्रयोग भी किया है। पर ये ग्रामीण या उर्दू आदि के शब्द स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होने से भाषा की शोभा ही बने हैं। कवि ने अपने भावों को अधिक स्पष्ट करने के लिए, लोकभोग्य बनाने के लिए उपमा, रूपक, उदाहरण, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का एवं बिम्ब-प्रतीकों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। प्रकृति चित्रण में भी अलंकारों का प्रयोग किया है। कृति में अनेक अलंकारों के उदाहरण अंकित हैं। यहाँ कुछ उदाहरण ही प्रस्तुत हैं :

- *"कुशल लेखक को भी,/जो नई निबवाली/लेखनी ले लिखता है*
  लेखन के आदि में/खुरदरापन ही/अनुभूत होता है।" (पृ. २४)
- *"सावरणा–साभरणा/लज्जा का अनुभव करती,*
  नवविवाहिता तनूदरा/घूँघट में से झाँकती-सी···।" (पृ. ३०)
- *"उछलती हुई उपयोग की परिणति वह/करुणा है/नहर की भाँति!" (पृ. १५५)*
- *"सिंह और श्वान का चित्रण भी/बिना बोले ही सन्देश दे रहा है।" (पृ. १६९)*
- *"कभी कराल काला राहू/प्रभा-पुंज भानु को भी/पूरा निगलता हुआ दिखा,*
  कभी-कभार भानु भी वह/अनल उगलता हुआ दिखा।" (पृ. १८२)
- *"दधि-धवला साड़ी पहने/पहली वाली बदली वह*
  ऊपर से/साधनारत साध्वी-सी लगती है।" (पृ. १९९)
- *"इससे पिछली, बिचली बदली ने/पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी।" (पृ. २००)*
- *"प्रभाकर के कर-परस पाकर/अधरों पर मन्द-मुस्कान ले*
  सरवर में सरोजिनी खिलती हैं।" (पृ. २१५)
- *"रणभेरी सुनकर/रणांगन में कूदने वाले/स्वाभिमानी स्वराज्य-प्रेमी*
  लोहित-लोचन उद्भट-सम/या/तप्त लौह-पिण्ड पर
  घन-प्रहार से, चट-चट छूटते/स्फुलिंग अनुचटन-सम।" (पृ. २४३)
- *"आज का यह दृश्य/ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि*
  ग्रह-नक्षत्र-ताराओं समेत/रवि और शशि
  मेरु-पर्वत की प्रदक्षिणा दे रहे हैं।" (पृ. ३२३)

कवि नए युग के बिम्ब-प्रतीकों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर कविता को नए युगबोध से युक्त बना सका है :

- *"मस्तक के बल भू-कणों ने भी/ओलों को टक्कर देकर*
  उछाल दिया शून्य में/बहुत दूर···धरती के कक्ष के बाहर,
  'आर्यभट्ट,' 'रोहिणी' आदिक/उपग्रहों को उछाल देता है
  यथा प्रक्षेपास्त्र!" (पृ. २५०)
- *"यह घटना-क्रम/घण्टों तक चलता रहा···लगातार,*
  इसके सामने 'स्टार-वार'/जो इन दिनों चर्चा का विषय बना है
  विशेष महत्त्व नहीं रखता।" (पृ. २५१)
- *"उड़ रहे हैं भू-कण!/सो···ऐसा लग रहा, कि/हनूमान अपने सर पर*
  हिमालय ले उड़ रहा हो!" (पृ. २५१)

यद्यपि पूरी कृति समग्रता में शान्त रस की कृति है पर कवि ने कथा के प्रसंगों में रौद्र, वीर, करुणा आदि रसों का भी प्रयोग किया है। कहीं-कहीं कवि ने रसों के लक्षणों एवं प्रभाव का भी तटस्थ रूप से वर्णन किया है :

"वीर-रस के सेवन करने से/तुरन्त मानव-खून
खूब उबलने लगता है।" (पृ. १३१)

पर पर अधिकार चलाने की भूख इसी का परिणाम है। रौद्र रस का उदाहरण देखिए :

"एक साथ, सात-सात हाथ के/सात-सात हाथी आ-जा सकते
इतना बड़ा गुफा-सम/महासत्ता का महाभयानक/मुख खुला है
जिसकी दाढ़-जबाड़ में/सिंदूरी आँखोंवाला भय/बार-बार घूर रहा है बाहर,
जिसके मुख से अघ-निकली लोहित रसना/लटक रही है
और/जिससे टपक रही है लार/लाल-लाल लहू की बूँदें···सी।" (पृ. १३६)

बीभत्स रस :

"जिस पर मक्षिकायें/जो राग की जनिकायें हैं
विषय की रसिकायें हैं/भिनभिनाने लगीं···।" (पृ. १४७)

इसी प्रकार घृणा उत्पन्न करने वाला चित्रण भी है :

"शृंगार के बहाव में बहने वाली/नासा बहने लगी प्रकृति की।
कुछ गाढ़ा, कुछ पतला/कुछ हरा, पीला मिला--
मल निकला, देखते ही हो घृणा!" (पृ. १४७)

शान्त रस :

"रंग और तरंग से रहित/सरवर के अन्तरंग से
अपने रंगहीन या रंगीन अंग का/संगम होना ही संगत है
शान्त-रस का यही संग है/यही अंग!" (पृ. १५९)

करुण एवं वात्सल्य रस की व्याख्या देखिए :

"करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।" (पृ. १५९)

कवि वर्षा के ताण्डव में उसके रौद्र रूप का वर्णन करते समय भी रौद्र रूप की अभिव्यंजना कर सका है। पूरे चित्र दिल में भय पैदा करने वाले हैं। इसी प्रकार आतंकवाद की चर्चा में, नदी के उफान में, भँवर वर्णन में ऐसे ही रसों का परिपाक द्रष्टव्य है। इससे वातावरण सजीव बन सका है।

कवि ने इसी प्रकार जहाँ आवश्यक लगा है वहाँ कटूक्तियों का प्रयोग भी सहजता से किया है--"तुम माटी के उगाल हो"(पृ. ३६५); "पाप की पुतली कहीं की"(पृ. ३७८)। आतंकवाद के चित्रण में ऐसी कटूक्तियाँ देखी जा सकती हैं।

इसी प्रकार कवि ने व्यंग्य भाषा का प्रयोग भी किया है। जहाँ वे समाजवाद, अपरिग्रह, वर्तमान वेतनभोगी, गणतन्त्र आदि की चर्चा करते हैं वहाँ व्यंग्यात्मक ध्वनि स्वयं मुखरित हुई है।

कृति में शब्द चित्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कवि शब्दों द्वारा अमूर्त को भी मूर्त रूप देता गया है। यद्यपि पूरी

कृति ही अमूर्त माटी की मूर्त कहानी है, अमूर्त घट की मूर्त वाणी है पर कवि ने इनके वर्णन आदि में शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं। विशेषता यह है कि निर्जीव भी सजीव हो उठे हैं। इसके कृति में अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं। एक उदाहरण देखिए जो शब्द चित्र एवं वात्सल्य का उदाहरण है :

''माँ की गोद में बालक हो/माँ उसे दूध पिला रही हो
बालक दूध पीता हुआ/ऊपर माँ की ओर निहारता अवश्य,
अधरों पर, नयनों में/और/कपोल-युगल पर।'' (पृ. १५८)

ऐसे शब्द चित्र वर्षा के ताण्डव या आतंकवाद के प्रसंग पर भी कवि ने प्रस्तुत किए हैं।

कृति की कलात्मक विशेषता है उसका प्रकृति चित्रण, वह ऐसा है जिसमें सजीवालंकार का, उपमाओं का एवं विविध भावों के अनुरूप आलम्बन, उद्दीपन के रूप में वर्णन हुआ है। कृति का प्रारम्भ ही देखिए, कितनी वत्सल प्रकृति के चित्रण से हुआ है :

''भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।
प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और
सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा/भाई है, भाई···!'' (पृ. १)

कवि ने प्रकृति को षोडशी नायिका की तरह लज्जावान् चित्रित किया है :

''लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से
बचना चाहती है वह;/अपनी पराग को—/सराग-मुद्रा को—
पाँखुरियों की ओट देती है।'' (पृ. २)

ऐसे वर्णन से प्रकृति के विविध नायिका रूप ही जैसे चित्रित हो उठे हैं।

कवि ने नदी के वर्णन में ऐसी ही प्रकृति का चित्रण किया है। कवि ने षड् ऋतु वर्णन में प्रकृति के सौन्दर्य का सात्त्विक रूप प्रस्तुत किया है। कवि शीत-वर्षा-गरमी सभी ऋतुओं के वर्णन में सजीवता शब्द चित्रों से ही ला सका है। देखिए :

''शीत-काल की बात है/अवश्य ही इसमें/विकृति का हाथ है
पेड़-पौधों की/डाल-डाल पर/पात-पात पर/हिम-पात है।'' (पृ. ९०)

बदली का चित्रण कितना चित्रात्मक है :

''सागर से गागर भर-भर/अपार जल की निकेत हुईं
गजगामिनी भ्रम-भामिनी/दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी/तीन बदली निकल पड़ी हैं।'' (पृ. १९९)

सन्ध्या का वर्णन जिसमें दिवस के अवसान का बोध है, उसका एक उदाहरण :

''दिनकर तिरोहित हुआ···सो/दिन का अवसान-सा लगता है

दिखने लगा दीन-हीन दिन/दुर्दिन से घिरा दरिद्र गृही-सा।" (पृ. २३८)

और दिवस के अवसान ग्रहण से पूरी प्रकृति ही जैसे आतंकित है :

"काक-कोकिल-कपोतों में/चील-चिड़ियाँ-चातक-चित में
बाघ-भेड़-बाज-बकों में/सारंग-कुरंग-सिंह-अंग में
खग-खरगोशों-खरों-खलों में/ललित-ललाम-लजील लताओं में
पर्वत-परमोन्नत शिखरों में/प्रौढ़-पादपों औ' पौधों में
पल्लव-पातों, फल-फूलों में/विरह-वेदना का उन्मेष
देखा नहीं जाता निमेष भी।" (पृ. २४०)

शब्दालंकारों में यमक, अनुप्रास के अनेक उदाहरण कृति में अंकित हैं, विशेषकर ऋतु वर्णन में। ऐसे अनेक चित्रों से पूरी कृति सजी हुई है। प्रकृति के उग्र रूप का चित्रण रौद्र रस का उत्तम उदाहरण है। और कष्ट टल जाने पर निरभ्र आकाश का चित्रण बड़ा ही मनोहारी है। शान्त रस का प्रवाह बहा है। सर्वत्र वर्णन में नवीनता है। इस हेतु पृष्ठ २६३-२६४ की पूरी पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। सन्त के गृह त्याग के पश्चात् वन में आश्रय ले रहे सेठ व परिवार को प्रकृति की गोद में ही आनन्द मिलता है। कवि प्रकृति के चित्रण का कोमल स्वरूप प्रस्तुत करता है।

स्थान की मर्यादा के कारण इस अथाह समुद्र का अवगाहन अपनी अल्पबुद्धि से जितना कर सका, मैंने उतना किया। भाव एवं कला पक्ष दोनों दृष्टियों से पूरी कृति की पृथक्-पृथक् समीक्षा की जाए तो दो अलग कृतियाँ लिखी जा सकती हैं। पूरी कृति को सांगोपांग पढ़ने-मनन करने के पश्चात् इस पर मेरी दृष्टि से निम्नलिखित विचार-पत्र प्रस्तुत किए जा सकते हैं-

'मूकमाटी' का भाव पक्ष : इसके अन्तर्गत कथा तत्त्व, जैन दर्शन की तात्त्विक विवेचना, समाजवादी दर्शन, नारी भावना, मातृत्व की महत्ता, वर्तमान युग बोध, जैन आचारांग, प्रकृति चित्रण, रस निरूपण रखा जा सकता है।

कलापक्ष : इसके अन्तर्गत 'मूकमाटी' की भाषा, छन्द, अलंकार, भाषा की चित्रात्मकता, कृति में मुहावरे एवं कहावतें, भाषा में बिम्ब तथा प्रतीक लिए जा सकते हैं।

कृतिकार की अन्य काव्य कृतियों के मूल्यांकन को समाविष्ट करके 'आचार्य कवि विद्यासागर : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' पर शोध कार्य किया जा सकता है।

समग्रता को चन्द शब्दों में बाँधू तो इतना ही कहना चाहूँगा कि 'मूकमाटी' शर्करायुक्त वह रोटी है, जिसे किसी भी जगह से खाया जाय, वह मीठी ही मीठी लगेगी। यह आचार्यश्री के प्रति श्रद्धायुक्त पक्षपात नहीं है अपितु कवि और कृति का मन-मस्तिष्क पर पड़ा प्रभाव है। मैथिलीशरण गुप्त की भाषा में कहूँ तो 'मूकमाटी' का पठन-पाठन-मनन-अध्ययन करते-करते कोई स्वयं कवि बन जाए, यह सम्भाव्य है'''अतिशयोक्ति नहीं। उसी की प्रेरणा का प्रतिबिम्ब मेरा मनोभाव है :

'मूकमाटी बोलती है/पर,/श्रवण की शक्ति अपने में
सभी को जगाती है।/यह धरा की गूँज/नभ तक गूँजती है।
और/हर स्वर/दे रहा सन्देश सब को—
'त्याग छोड़ो मलिन तन का/भार सहना सीख लो तुम कुम्भ-सी
तपन सीखो अग्नि में तुम कुम्भ-सी।'

खुद तरो,/औरों को तारो/यही हो आराधना।
'विद्या' के जो हैं स्वयं 'सागर'/ज्ञान-गुण के जो हैं आगर
इन्हीं के चरणों में नत हो—/हम करें नित साधना।
मूक माटी की सुगन्धी/फैलती बन आज चन्दन
शब्द को दे अर्हन्त स्वामी/करें 'शेखर' चरण वन्दन।'

❑

'मूकमाटी' : सत्य पथ से विमुख जनों को विचार देने वाला काव्य

डॉ. दया प्रकाश सिन्हा

'मूकमाटी' में हमारे आस-पास के क्रियाशील जगत् के साधारण उपादानों को आधार बनाकर जीवन तथा दर्शन के सत्य को व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। इसके कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी ने इसमें ईश्वर के स्वरूप, आस्तिकता-नास्तिकता, जीवन के उद्देश्य आदि जैसे शाश्वत प्रश्नों का समाधान खोजने में रुचि ली है तो सांकेतिक ढंग से ही सही, समकालीन समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर भी रोशनी डाली है। आतंकवाद की समस्या को ही लें, आचार्यजी की टिप्पणी है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह।" (पृ. ४४१)

'माटी' जैसी उपेक्षित, अति सामान्य और तिरस्कृत वस्तु को काव्य का प्रमुख पात्र बनाना और धरती को उसकी माता के रूप में प्रस्तुत करना अनायास नहीं है, बल्कि इसके पीछे आचार्यजी की यह मान्यता है करुणामय कण-कण में।

एक सन्त द्वारा लिखी जाने वाली कृति 'मूकमाटी' में काव्य के लिए आवश्यक संवेदना और आदर्श हैं ही, साथ ही अलंकार, रूपक आदि के सन्तुलित प्रयोग भी हैं। मुक्त छन्द में होते हुए भी 'मूकमाटी' में एक लयपूर्ण प्रवाह की व्याप्ति है।

'मूकमाटी' में आचार्यजी की आस्था 'वचन' में नहीं, सत्य के पथ से विमुख अथवा भटके हुए लोगों को 'विचार' देने के प्रति है। अब इस विचार के प्रभाव की सीमाओं और सम्भावनाओं पर मतभेद अथवा सहमति हो सकती है किन्तु इतना तो तय है कि उक्त 'विचार' इस कृति को उल्लेखनीय बनाते हैं।

❑

पृष्ठ ८३
अधोमुखी जीवन
ऊर्ध्वमुखी हो/.... अर्घ पा
जाते हैं, यहाँ पर।

श्रेष्ठ सांस्कृतिक महाकाव्य : 'मूकमाटी'

प्रो. (डॉ.) सीताराम झा 'श्याम'

वैदिक, औपनिषदिक चिन्तनरस से अभिसिंचित तथा आधुनिक विचारबिन्दुओं के आलोक में उपस्थापित 'मूकमाटी' मानवीय संस्कृति की जीवन्त गाथा है। विवेच्य काव्यग्रन्थ में महाकवि आचार्य विद्यासागरजी ने सृष्टि की आरम्भिक स्थिति से लेकर मानव विकास के विविध रूपों का परिदर्शन कराते हुए बड़ी कुशलता से जीवन के चरम लक्ष्य का प्रतिपादन किया है।

'मूकमाटी' हिन्दी का, कदाचित्, पहला ऐसा महाकाव्य है, जिसमें अध्यात्म, धर्म, दर्शन, संस्कृति, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि को अतिसूक्ष्म एवं रोचक कथा के रूप में उपस्थित किया गया है। गहन चिन्तन, प्रभावक वर्णन, अभिनव काव्य सौष्ठव, मुक्त छन्द एवं सरल भाषा-शैली में रचित यह विलक्षण काव्यकृति हिन्दी साहित्य की विशिष्ट निधि के रूप में समादृत होगी, इसमें सन्देह नहीं।

'मूकमाटी' की सबसे बड़ी विशेषता है जीवन को उसकी समग्रता में देखने की व्यापक दृष्टि। प्रस्तुत काव्य में पारम्परिक मान्यताओं के साथ प्रगतिशील विचारों का गुम्फन मणिकांचन संयोग का अन्यतम निदर्शन है। कवि ने सम्पन्न एवं गौरवपूर्ण अतीत के चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण की है, बौद्धिक धरातल पर समस्या संकुल वर्तमान को अनुप्राणित किया है और सुखद भविष्य के लिए आशापूर्ण दिव्य सन्देश दिया है। इस प्रकार, महती काव्य प्रतिभा, महत् अनुष्ठान एवं महदुद्देश्य के कारण 'मूकमाटी' को एक सफल महाकाव्य होने का श्रेय स्वतः प्राप्त हो जाता है।

समीक्ष्य महाकाव्य का शुभारम्भ प्रकृति वर्णन से किया गया है : *''न निशाकर है, न निशा है/न दिवाकर है, न दिवा, अभी दिशायें भी अन्धी हैं''* (पृ. ३)। काव्य की आरम्भिक पंक्तियों में प्रातःकाल का ऐसा नयनाभिराम एवं आह्लादक वर्णन - *''प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है''*(पृ. १) और इतना सटीक बिम्ब : *''लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी/प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह''* (पृ. २) है कि 'कामायनी' महाकाव्य के 'चिन्ता' 'लज्जा' एवं 'श्रद्धा' सर्ग के कई मनोहर दृश्य अनायास ही उपस्थित हो जाते हैं।

हितकारिता से युक्त रहना श्रेष्ठ साहित्य का प्रमुख लक्षण होता है। आचार्य विद्यासागर ने अपने इस महाकाव्य में समस्त लोक की कल्याण कामना की है। उनका दृष्टिकोण विभेद-रहित है। वे बड़े-छोटे, धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित सबके प्रति समभाव के आग्रही हैं जो सन्त परम्परा की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि है। सचमुच, महान् व्यक्ति वही है, जो लोक को सभी प्रकार के तापों से मुक्त करे। कवि ने बड़ी स्पष्टता एवं निर्भीकता से अपने प्रगतिशील विचारों को वाणी दी है :

''अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;
***कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।''* (पृ. ३२)**

'मूकमाटी' की उपर्युक्त पंक्तियाँ लोकदुःख से सन्तप्त सन्त हृदय की अकृत्रिम वाणी हैं। इस उक्ति में संवेदना और सहानुभूति के साथ-साथ अपेक्षित परिवर्तनजन्य उद्घोष भी है, जो महर्षि वेदव्यास के स्वर का स्मरण कराता है : *''तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः''* – *(श्रीमद्भागवत महापुराण, ८/७/४४)*। इसके साथ ही, दुर्धर्ष व्यक्तित्व महाकवि निराला की कतिपय पंक्तियाँ भी मानस पटल पर अंकित हो जाती हैं : *'अमीरों की हवेली, किसानों की होगी पाठशाला''(बेला, पृ. ७०)*।

यह तो निर्विवाद तथ्य है कि मानव का सम्यक् विकास नहीं हो पा रहा है। समाज में चतुर्दिक् क्षोभ, घृणा, द्वेष, भय, शोषण और उत्पीड़न का वातावरण व्याप्त है। सच्ची सहानुभूति एवं वास्तविक दया के बिना विभेद की खाई को पाटना असम्भव है। दमन एवं शोषण की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हुए कवि लिखता है :

"क्या माटी की दया ने/कुदाली की अदया बुलाई है ?
क्या अदया और दया के बीच/घनिष्ट मित्रता है !" (पृ. २९)

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी इस वैषम्य को दूर करने के उद्देश्य से कहा था : *"वृक-व्याघ्र-भीति से मही को मुक्त कर दो"(कुरुक्षेत्र)*।

नि:सन्देह, भयाकुल परिवेश, अशान्त वातावरण और क्रूर व्यवहार मानव स्वभाव के विरुद्ध है। इसी से कवि की स्थापना है :"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का सम्यक् परिचय है" (पृ. ३७)। हमारे देश के महामुनियों ने पुराकाल से ही इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि लोक और परलोक दोनों के लिए दान-दया से बढ़कर कल्याणकारी तत्त्व दूसरा नहीं है : *"नास्ति दानात् परं मित्रमिह लोके परत्र च" (अत्रिस्मृति, १५०-उत्तरार्द्ध)*।

वेदनाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' एक सफल काव्य है। मन की पावनता, कर्म-भोग के प्रति अनासक्ति एवं साधना की एकाग्रता से ही मनुष्य दुख-मुक्त हो सकता है। परन्तु, मनुष्य अपने जीवन में सावधानी नहीं बरतता। इसी से उपयुक्तता एवं युक्तियुक्तता के अभाव में उसे अनेक प्रकार के कष्टों का फल भोगने के लिए बाध्य होना पड़ता है :

"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है,
और/भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)

अतएव, मनुष्य साधना सम्पन्न बने, साथ ही ईश्वर में पूर्ण आस्था रखे, तभी वह दिव्य जीवन के उच्चतम शिखर पर पहुँच सकता है, अन्यथा सामान्य रक्त-चर्ममय जीवन में उसे शाश्वत आनन्द की उपलब्धियाँ कभी नहीं हो सकतीं : *"आस्था से रीता जीवन/यह चार्मिक वतन है, माँ !"* (पृ. १६)। हाँ, दु:ख से घबराने की आवश्यकता नहीं, साधनारत होकर धैर्यपूर्वक मनुष्य को जीवन व्यतीत करना चाहिए। दु:ख की समाप्ति पर सुख होगा ही : *"पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है"* (पृ. ३३)। महादेवी का वेदनावाद भी इसी प्रकार का रहा : *"दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो" (दीपशिखा, पृ. ९०)*।

आचार्य विद्यासागर मनुष्य को अध्यात्मोन्मुख बनने एवं समाज में धन उत्पादन एवं उसके वितरण की समुचित व्यवस्था पर बल देते हैं। मानव जीवन में जब तक सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्तर पर भिन्नता रहेगी, तब तक समाज में सुव्यवस्था नहीं लाई जा सकती। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं : *"समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे" (पृ. ४६१)*। इसके लिए लोभ को छोड़कर त्याग की भावना अपनानी होगी, क्योंकि :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

मुनिजी की उपर्युक्त पंक्तियों की तुलना निरालाजी की निम्नांकित पंक्तियों से की जा सकती है :

"खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा कैपिटलिस्ट।" (*'कुकुरमुत्ता', पृ.४*)

आचार्य श्री विद्यासागर 'कथनी' को गौण, 'करनी' को मुख्य मानते हैं। इसीलिए, मनुष्य को उच्च विचारोंवाला, उदार दृष्टिकोणोंवाला और सबसे बढ़कर सर्वहित का ध्यान रखनेवाला बनना है। तभी सच्चा समाजवाद आ पाएगा : *"प्रचार-प्रसार से दूर/प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है"(पृ.४६१)*। ऐसा नहीं होने पर समाज में विद्वेष की भावना फैलेगी - अनैतिक कार्य होने लगेंगे। अस्तु, कवि का सत्परामर्श है :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !
और/लोभ के वशीभूत हो/अँधाधुन्ध संकलित का
समुचित वितरण करो/अन्यथा,/धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ. ४६७-४६८)

समाज में व्याप्त क्षोभ, असन्तोष एवं अराजकता से कवि बहुत चिन्तित है। जब भी अयोग्यता को आदर दिया जाएगा तथा योग्यता का अनादर होगा, अराजक स्थिति उत्पन्न होगी ही :

"हे भगवन् !/यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?
क्या सत्य शासित होगा ?/हाय रे जौहरी की हाट में
आज हीरक-हार की हार !/हाय रे, काँच की चकाचौंध में
मरी जा रही—/हीरे की झगझगाहट !" (पृ. ४६९-४७०)

फिर, *"आतंकवाद की जय हो।/समाजवाद का लय हो"* (पृ.४७४) के गलत प्रचार, व्यवहार से भी कवि क्षुब्ध है।

परन्तु, कवि निराशावादी नहीं, आशावादी है। वह पराक्रम एवं पौरुष का पक्षधर है। परिश्रम पर पूरा विश्वास है उसे :

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना
सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

हाँ, एक बात की याद दिलाना कवि नहीं भूलता कि लोभ-मोह में पड़कर अपने व्यक्तित्व को कभी नहीं भुला देना चाहिए : *"किन्तु, सुनो !/भूख मिटाने हेतु/सिंह विष्ठा का सेवन नहीं करता"(पृ.१७१)*। विद्यासागर मुनिजी धरती और सन्त की प्रकृति को अपनाने पर बल देते हैं, दूसरों के हित के लिए कष्टसहिष्णु बनने की प्रेरणा देते हैं, पर सदा अपने व्यक्तित्व के अनुरूप आचरण कर ही : *"सर्वसहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में/सन्तों का पथ यही गाता है" (पृ.१९०)*।

आज के जीवन में चारों ओर दिशाहीनता ही दिशाहीनता है— शिक्षा, धर्म, नीति, राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति सब कुछ गलत दिशा की ओर अग्रसर है। अस्तु, आवश्यकता है शास्त्र सम्मत नैतिक मार्गों पर चलने की, जिससे मनुष्य आत्मसंयमी हो और वह भटकाव को छोड़कर अपने सही गन्तव्य तक पहुँच जाए : *"सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है" (पृ. ३५२)*।

निष्कर्षतः, 'मूकमाटी' आध्यात्मिकता की पावन पीठिका पर सन्तुलित भौतिकता का प्रतिष्ठापन, मोक्ष-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में मानव जीवन का शाश्वत स्पन्दन है यह श्रेष्ठ सांस्कृतिक महाकाव्य।

❑

'मूकमाटी': काव्य रूप के बहाने स्फुट विचार

प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी

कवि कर्म पर मेदिनी कोश में 'कवेरिदं कार्यं भावो वा' कहा गया है अर्थात् कवि के द्वारा किया जाने वाला कार्य। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन'में 'कवनीयं काव्यम्' कहा है। काव्य की व्याख्या के लिए जरूरी है कि कवि शब्द के अर्थ को समझा जाए। कवि सर्वज्ञ व द्रष्टा होता है। श्रुति ने भी कवि को "कविर्मनीषी परिभू: स्वयंभू:" कहा है। जब कवि मनीषी है, परिभू है और स्वयंभू है, तो वह क्या करता है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि वह काव्य-कर्म करता है। कवि के इस कर्म को 'काव्य संसार' कहा गया है।

काव्य एक कला है जिसमें अनुभूति अनिवार्य तत्त्व है। क्रोचे स्वीकारता है कि काव्य अभिव्यंजना का एक मात्र अनिवार्य उपादान अनुभूति है। बल्कि यूँ कहना होगा कि अनुभूति ही व्यंजना है। काव्य कला का असली रूप कवि के अन्त:करण का वह सौन्दर्य बोध है, जिसमें वह कलात्मक ऊँचाइयों की ओर निरन्तर अग्रसर होता रहता है। आधुनिक सन्दर्भ में काव्य के बाह्य रूप से सम्बद्ध कौशल को काव्य कला कहा है। काव्यानुभूति के स्थिरीकरण के लिए जिन प्रतीकात्मक उपादानों को प्रयुक्त किया जाता है, वे काव्य कला का निर्माण करते हैं। काव्य कला वह रचनात्मक कौशल है जहाँ कवि के प्रयोजन के अनुरूप कविता यथोचित कल्पनामय, भावनामय और विचारमय होती है। वस्तुत: काव्य कला का व्यंजना व्यापार व्यापक होता है, जहाँ रस पोषण के लिए कवि कई प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करता है।

काव्य कला का अन्य तत्त्व शब्द-चित्र है। काव्य में प्रयुक्त व्यक्ति अथवा प्रसंग के सजीव चित्र श्रेष्ठ काव्य को सौन्दर्य प्रदान करते हैं। इसमें सूक्ष्म मानसिक चित्र भी शामिल हैं। 'मूकमाटी' में ऐसे अनेक मानसिक चित्रों का रचाव है जो जीवन के सूक्ष्म रूप के दर्शन कराने में सक्षम हैं।

काव्य कला का एक और प्रमुख अंग पुनरुक्ति है। यह प्राय: काव्य दोष के अन्तर्गत आता है। 'मूकमाटी' में पुनरुक्ति की व्याप्ति है किन्तु यह किसी एक जगह भी काव्य को दुरूह या अतिरंजित नहीं करती, बल्कि व्यंजित विषय को और अधिक कल्पनामय, और अधिक भावनामय और विचारमय बनाकर मूर्त कर देती है। पुनरुक्ति का ऐसा कौशल शायद ही किसी महाकाव्य में मिले।

काव्य कला के अन्तर्गत हर काल में नई-नई पद्धतियों का निर्माण होता रहा है, जिससे उस काल की काव्य सज्जा विन्यस्त होती रही। काव्य के जो रूप आज तक विश्व साहित्य में उपलब्ध हैं उन्हें प्रबन्ध और मुक्तक काव्य के अन्तर्गत मोटे तौर पर देखा-परखा जाता है। यह भी मान्य होता रहा है कि काव्य कला का सर्वाधिक मर्यादित रूप महाकाव्य और खण्डकाव्य में सुरक्षित है और उसका स्वच्छन्द रूप मुक्तक काव्य में। 'मूकमाटी' में प्रबन्ध की मर्यादित कसावट और भावों का स्वच्छन्द अभिव्यंजना व्यापार एक साथ देखा जा सकता है। बल्कि कुछ और भी, जो प्रबन्ध काव्य और मुक्तक काव्य की सीमाओं को लाँघकर अपना अलग काव्यलोक निर्मित करता है। इसलिए 'मूकमाटी' एक ऐसी काव्यकृति है जिसे महाकाव्य और मुक्तक काव्य के अन्तर्गत हू-ब-हू देखने-परखने पर पाठक कई जगह दचका खा सकता है। इसके बावजूद 'मूकमाटी' की गणना महाकाव्य में ही करना युक्तिसंगत होगा। वैसे जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' का प्रत्येक सर्ग अपने आप में प्रगीत है किन्तु उसमें कथानक का एक ऐसा अन्त:सूत्र है जो आद्योपान्त बारीकी से मनु और श्रद्धा के इर्द-गिर्द अवस्थित होकर प्रत्यभिज्ञानित होता है। वहाँ भी दर्शन प्रमुख है बल्कि वही उदात्त नायक के रूप में मनु के मन:संघर्ष से आकार ग्रहण करता हुआ चरम परिणति तक जाता है। प्रसाद ने आधुनिक युग के बुद्धिवादी दुष्परिणाम पेश करने के लिए शतपथ ब्राह्मण में वर्णित जलप्लावन वाले एक आख्यान का सहारा लिया है। 'मूकमाटी' भी दर्शन पर आधारित महाकाव्य है, जिसका नायक जैन दर्शन है और जो स्याद्वाद की शैली में माटी और कुम्हार के माध्यम से चार खण्डों में पूरे कथानक को प्रस्तुत करता है। मजा यह है कि कथा के मूल पात्र कुम्हार

और माटी कभी आलम्बन और कभी उद्दीपन के रूप में उपस्थित होकर तत्त्व दर्शन के रस का अभिसिंचन करते रहते हैं। मूल नायक तो जिन दर्शन ही है। उसके संवाहक कुम्हार, घट, माटी और इनसे सम्बद्ध अवतरणों का प्रवेश, उन सब की अपने-अपने ढंग से प्रस्तुति और उनके वार्तालाप – ये सब मिलकर जिस वृहत् परिवेश का निर्माण करते हैं, वह महाकाव्य में ही सम्भव है – इसलिए भी 'मूकमाटी' को काव्य के इस रूप में रखकर देखना संगत लगता है। महाकाव्य में कुछ ऐसे गुण और विशेषताएँ होती हैं, जो चाहे शब्दों में व्यक्त न हों किन्तु पाठक समाज अपनी सहज बुद्धि से आत्मसात् कर लेता है। 'मूकमाटी' को महाकाव्य के स्थिर मानदण्डों और बाह्य लक्षणों के द्वारा परखने के बजाय समाज स्वीकृति के आधार पर भी देखना होगा। संकीर्ण मानदण्डों से महाकाव्य के स्वरूप का निर्णय करना बेमानी है। देखा यह जाना चाहिए कि महाकाव्य की रचना की महत्त्वपूर्ण प्रेरणा क्या है, उसमें काव्य प्रतिभा अपने पूरे उन्मेष के साथ किस छोर तक विद्यमान है, उसमें गुरुत्व कितना है, उसका वर्ण्य विषय कहाँ तक युग सापेक्ष है, उसकी शैली का सम्मोहन कितना असरदार है और उसमें कितनी प्राणवत्ता मौजूद है, जिसके बल पर वह एक जीवन्त कथानक का संवर्द्धन करता चलता है। 'हिन्दी साहित्य कोश' (प्रधान सम्पादक – धीरेन्द्र वर्मा) में महाकाव्य पर विचार करते हुए उसकी जो एक परिभाषा हो सकती है, वह इस प्रकार है : "महाकाव्य वह छन्दोबद्ध कथात्मक काव्यरूप है जिसमें क्षिप्र कथा प्रवाह या अलंकृत वर्णन अथवा मनोवैज्ञानिक चित्रण से युक्त ऐसा सुनियोजित सांगोपांग और जीवन्त कथानक हो, जो रसात्मकता प्रभावान्विति उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ हो सके, जिसमें यथार्थ, कल्पना या सम्भावना पर आधारित ऐसे चरित्र या चरित्रों के महत्त्वपूर्ण जीवनवृत्त का पूर्ण या आंशिक रूप में वर्णन हो जो किसी युग के सामाजिक जीवन का किसी न किसी रूप में प्रतिनिधित्व कर सकें, जिसमें किसी महत्प्रेरणा से अनुप्राणित होकर किसी महान् ध्येय के लिए किसी महत्त्वपूर्ण, गम्भीर अथवा रहस्यमय और आश्चर्योत्पादक घटना या युग विशेष के सम्पूर्ण जीवन के विविध रूपों, पक्षों, मानसिक अवस्थाओं और कार्यों का वर्णन और उद्घाटन किया गया हो और जिसकी शैली इतनी गरिमामय एवं उदात्त हो कि युग-युगान्तर तक महाकाव्य को जीवित रहने की शक्ति प्रदान कर सके।" इस रूप में 'मूकमाटी' को महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। बल्कि यह वह महाकाव्य है जिसे पढ़कर महाकाव्य की परिभाषा में कुछ और जोड़ना अपेक्षित लगेगा। यह महाकाव्य की परिभाषा के अन्तर्गत होते हुए भी परिभाषातीत है।

'मूकमाटी' के काव्यरूप पर संक्षिप्त चर्चा के बाद उन अलक्षित स्वरूपों पर स्फुट विचार किया जाना जरूरी है जो इस महाकाव्य के लक्ष्य को उत्कर्ष तक पहुँचाते हैं।

महाकाव्य का बीजमन्त्र एकमात्र अक्षर 'भी' है। 'भी' वाक्य को जोड़ने की क्रिया करता है। अलग से इसका कोई अर्थ नहीं। ऐसे महत्त्वहीन संयोजित अक्षर को महाकाव्य की आत्मा बना देना केवल आचार्य विद्यासागरजी ही कर सकते हैं और वह भी एक द्रष्टा कवि के रूप में। जहाँ न तो आचार्य जैसा गुरुत्व है, न उपदेशक की बोझिल मुद्रा। मैं ज़ोर देकर यह कहना चाहता हूँ कि अकेला 'भी' अक्षर 'मूकमाटी' का सार अंश है, जैसे कि समरस या आनन्द शब्द 'कामायनी' के सार अंश हैं। 'मूकमाटी' महाकाव्य में यह 'भी' बीजाक्षर इतने संयत और सूक्ष्म रूप में गतिमान् है कि लगता है मानों यही इस महाकाव्य का अन्तर्वर्ती नायक हो। केवल एक स्थान पर ही यह प्रकट होता है। जहाँ खण्ड-दो 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' के अन्तर्गत जब कुम्भ पर कछुवा-खरगोश का चित्र साधक को साधना की विधि बताकर सचेत करता है कि कछुवा धीमी चाल चलकर समय के भीतर अपने गन्तव्य तक पहुँचता है, क्योंकि वह लक्ष्य के प्रति सजग है और खरगोश सावधान होकर अविरल गति से न चलकर रास्ते में सो जाता है। यह प्रमाद ही क्षिप्र गति से चलने वाले खरगोश का परम शत्रु हो जाता है। इस हितोपदेशीय लोक प्रचलित कथा से कविवर विद्यासागरजी ने दर्शक को जो परोसा, वह इस प्रकार है :

"अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,

अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।/'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।/हम ही सब कुछ हैं
यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!/और,
'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!
'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय-संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।/यही कारण कि
राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।/'भी' के आस-पास
बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,/किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।
लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा
जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज
'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।/प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७२-१७३)

यह अकेला काव्यांश 'भी' और 'ही' को विश्लेषित करता हुआ विद्यासागरजी के सम्पूर्ण काव्य व्यक्तित्व को भी विश्लेषित करने में सक्षम है, जहाँ वे अपने जीवन दर्शन को आधुनिक युग तक विस्तृत कर देते हैं, जहाँ वे केवल एकान्त-अनेकान्त दर्शन का परिचय ही नहीं कराते बल्कि अनेकान्त की सार्वकालिक और सार्वभौमिक अनिवार्यता की भी प्रतीति कराते हैं, जो वर्तमान विश्व की सामाजिक व्यवस्था के लिए भी अनिवार्य है। जहाँ सभ्यता, संस्कृति, स्वाधीनता और मानवीय मूल्यों का भाग्योदय होता है और जहाँ लोक जीवन अपने तन्त्र, अपने नियमों का निर्माण कर उनके अन्तर्गत सामाजिक व्यवहार करता हुआ परस्पर के साहचर्य भावों का मानवीय उन्मेष करता है। इस रूप में 'मूकमाटी' हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत हमारे समय का प्रतिनिधित्व करने वाला ऐसा महाकाव्य है जो विश्व साहित्य में अपनी पहचान कायम करने में सक्षम है। जैसे-जैसे विश्व की महत्त्वपूर्ण भाषाओं में इसका अनुवाद होकर सामने आने लगेगा, वैसे यह बात प्रमाणित होगी।

अनेकान्त के खम्भों पर विरचित 'मूकमाटी' को महाकाव्य मानने में यदि संकोच करें तो इसके चारों खण्डों को चार खण्डकाव्य तो मान लें। यदि वह भी नहीं तो मूल कथा प्रवाह के अनन्तर बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा दृष्टान्त कथाओं वाले प्रसंगों को मुक्तक काव्य के अन्तर्गत स्वीकार लें। 'भी' की यह छूट कोई महाकाव्य ही दे सकता है। काव्य के अन्य रूपों में वह औदात्त्य और सामर्थ्य नहीं। अलग से आँखें निकाल कर देखने वाला आँखों का डॉक्टर कभी नहीं होगा। उसे सम्पूर्ण शरीर के साथ उनकी जीवन्तता देखनी होती है। इस रूप में 'मूकमाटी' जैन धर्म के एक महान् सन्त, महान् आचार्य और महान् कल्याणक द्वारा रचा जाकर भी जैन धर्म का ही ग्रन्थ नहीं है। जैसे कि 'महाभारत' या 'रामायण' या 'रामचरितमानस' क्रमशः वेदव्यास, वाल्मीकि और तुलसीदास जैसे ऋषियों द्वारा लिखे जाकर भी किसी एक धर्म के ग्रन्थ न होकर पूरी मानव जाति के गौरव ग्रन्थ हैं। 'मूकमाटी' इसी प्रकार की साहित्यिक कृति है। यह बात कहने के पीछे एक कारण भी है। जब नेमावर (देवास) मध्यप्रदेश में पहले-पहल विद्यासागरजी आए तो मैं भी उन्हें देखने-सुनने हरदा से बीच-बीच में जाता रहा। उनके कवि रूप से थोड़ा परिचय था ही, सो यह आकर्षण भी रहा कि एक रचनाकार धर्मनायक होकर कैसा महसूस होता है? वह क्या कहता है? अपने अनुयायियों को कितना मोहित,

सम्मोहित करता है, आदि आदि बातें मन में थीं। एकाध बार विद्यासागरजी से भेंट भी हुई किन्तु भीड़ की भेंट कोई भेंट नहीं होती, सो उनसे कोई साहित्यिक चर्चा नहीं हो सकी। वहीं ऐलक अभयसागरजी से भेंट हुई और इस सन्त के साहित्यिक ज्ञान ने मुझे प्रभावित किया। उन्होंने मुझे विद्यासागरजी का चार खण्डों में प्रकाशित समग्र साहित्य दिया और आग्रह किया कि मैं 'मूकमाटी' पर लिखूँ। 'मूकमाटी' इसके पूर्व सरसरी तौर पर पढ़ चुका था। काफी दिनों तक सोचता रहा कि क्या लिखूँ, तभी मेरे मित्र अनूप बजाज एवं राजेन्द्र जैन ने बताया कि आर्यिका प्रशान्तमतीजी हरदा में चातुर्मास कर रही हैं और प्रतिदिन 'मूकमाटी' की व्याख्या कर रही हैं। मेरे लिए यह प्रेरक सुयोग था। उन्हें लगातार पाँच-सात दिन सुनने गया। फिर नहीं गया, क्योंकि वे 'मूकमाटी' को एक जैन साध्वी के रूप में समझा रही थीं। वहाँ 'ही' ही प्रमुख था और मेरे लिए 'भी', क्योंकि मेरी यह मान्यता तो स्पष्ट थी ही कि 'मूकमाटी' एक आध्यात्मिक ग्रन्थ के साथ एक श्रेष्ठ काव्यकृति भी है और यही श्रेष्ठता मुझे उसके अध्ययन को प्रेरित कर रही थी। यह सब लिखने के पूर्व उसे फिर से पढ़ा और पढ़ते-पढ़ते उसके काव्यरूप तथा उसके काव्यवैभव पर नोट्स लेता रहा। इन्हीं बेतरतीब नोट्स को आबद्ध करने का प्रयास किया है। इस मायने में आप इसे एक पाठक की प्रतिक्रिया ही समझें।

'भी' के काव्य सामर्थ्य पर संक्षिप्त चर्चा के बाद दूसरी बात जो इस महाकाव्य में विलक्षण है, वह है इसकी अभिधामूलक शक्ति। आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में लिखा है : ''स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते'' यानि कि वह साक्षात् सांकेतिक अर्थ जिसे मुख्य अर्थ कहा जाता है, उसका बोध कराने वाले व्यापार को अभिधा व्यापार या शक्ति कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा रूढ़, यौगिक और योगरूढ़ रूप इन तीन शब्दों का अर्थबोध होता है। अभिधा द्वारा पाठक के मन पर शब्द के अर्थ का सीधा प्रक्षेपण होता है। यदि काव्य के रूपों को शब्द शक्ति के आधार पर देखा जाए तो नैरेटिव और कथात्मक होने के कारण महाकाव्य की अभिव्यक्ति अधिकतर अभिधामूलक शक्ति द्वारा सम्पन्न होती है, किन्तु लक्षणा और व्यंजना (शक्ति) जो काव्यदीप्ति प्रदान करती हैं, उसका आनन्द ही कुछ और है। वहाँ एक-एक शब्द और एक-एक वाक्य अपनी अनेकानेक ध्वनियाँ तरंगित करते हुए कई-कई अर्थों तक ले जाने में समर्थ होते हैं। कविवर विद्यासागर ने अभिधा का मार्ग ही अपनाया और इसी शक्ति को जहाँ जरूरत पड़ी वहाँ लक्षणा भी बनाया और व्यंग्यार्थी भी। अभिधा से विद्यासागरजी ने काव्य संवर्द्धन के सभी काम लिए, मानों उसे दीक्षित कर अपने काव्यसंघ में शामिल कर लिया हो। अभिधा शक्ति जन-जन के मन में प्रवेश करती है। चाहे सभा में बोलना हो अथवा सत्संग करना या जटिल से जटिल सूत्र को हरेक के लिए आसान करना – यह सब इसी शक्ति से सम्भव होता है। काव्य में यह शक्ति तीसरे दर्जे की मानी जाती है। इसे पहले दर्जे पर लाकर प्रतिष्ठित करने के लिए कवि में पुरुषार्थ चाहिए। चाहे जो यह नहीं कर सकता है। विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' में अभिधा शक्ति को अपने अभिव्यंजना व्यापार से इस कदर समर्थ बना दिया है कि लक्षणा और व्यंजना शक्ति उसके सामने पानी भरने लगती हैं बल्कि उन्होंने तीनों शक्तियों के त्रैलोक्य को एक लोक में ही परिणत कर दिया। यह है कविवर विद्यासागरजी की अभिव्यंजना का अपनापन।

सहज होना बहुत कठिन है। जो कठिन से कठिनतर प्रयोगों द्वारा सहज की खोज करते हैं, उन्हें आचार्य विद्यासागरजी ने बता दिया कि सहज होना बहुत आसान है। बशर्ते कलात्मक वक्रता न हो। तुलसी ने लिखा है : "चलइ जोंक जल बक्रगति, जद्यपि सलिलु समान।" अरे भाई! जब वस्तु सम्पदा (विषय वस्तु या वर्ण्य वस्तु) समान है तो वहाँ वक्र गति से जोंक चाल चलने की क्या आवश्यकता है ? उनकी अभिधा शक्ति त्रिमुखी है, जहाँ उसके मूल अभिधेयार्थी मुख के साथ लक्ष्यार्थी और व्यंग्यार्थी मुख भी हैं। तीनों मुखों का पोषक वदन एक ही है। अभिधा से लक्षणा और व्यंजना व्यापार का काम विद्यासागरजी किस तरह लेते हैं, उसकी दो-एक बानगी देखें :

- *"कम-से-कम इसे सुन तो लो !/···फिर तोलो !" (पृ. ३७५)*
- *"जीवन का, न यापन ही/नयापन है/और/नैयापन !" (पृ. ३८१)*

यहाँ 'तो' 'लो' एवं 'तोलो' तथा 'न यापन' और 'नयापन' तथा 'नैयापन' जैसे सीधे सांकेतिक अर्थ वाले मुख्यार्थक शब्दों से कमाल की लक्ष्यार्थक और व्यंग्यार्थक अर्थ ध्वनियाँ स्फुटित हुई हैं। इसका अहसास आसानी से हो सकता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं 'मूकमाटी' में, जहाँ कविवर विद्यासागर ने अभिधा से ही अभिव्यंजना के कमाल दिखाए हैं। ऐसा करना असाधारण शिल्पी का ही काम है।

एक बात और। वह यह कि अभिधामूलक काव्य व्यापार में शब्दों की भरमार की गुंजाइश रहती है। फिर वह महाकाव्य की रचना हो, तब तो और भी। किन्तु 'मूकमाटी' महाकाव्य का रचनाकार शब्दाडम्बर को अनर्थकारी मानता है। कम से कम शब्दों से अधिक अर्थवान् कर्म कराना ही तो कवि कर्म का कौशल है। शब्दों की फ़िजूलख़र्ची भी एक प्रकार की हिंसा है, उन्हें बिलावजह उपस्थित कर उनको निष्प्राण बनाना है या थोड़े से काम के लिए अधिक लोगों को इकट्ठा करने की विवेकहीन क्रिया है, या झूठा मस्टर रोल भरने जैसा काम है, जहाँ काम करने वाले नहीं होते उनके नाम होते हैं, जिनके आगे हाज़िरी भरी जाती रहती है और हर हफ्ते उनकी मजदूरी जाली हस्ताक्षर करके मस्टर रोल वाले मुनीम द्वारा हड़प ली जाती है। विद्यासागरजी तो दार्शनिक शब्दावली से मण्डित भाषा को ही काव्यात्मक बनाकर किफ़ायत से प्रयुक्त करते हैं, जैसे :

"हाँ ! हाँ !!/अधूरी दया-करुणा/मोह का अंश नहीं है
अपितु/आंशिक मोह का ध्वंस है।" (पृ. ३९)

कविता रचना के वक्त व्याकरण के नियम काम नहीं आते। मुक्त छन्द में तो और भी नहीं। काव्य रचना में कवि भाषा के क्षेत्र में निरंकुश होने तक की छूट ले लेता है। इसके अनेक कारण हैं। 'मूकमाटी' के कवि में व्याकरण की कोई खोट नज़र नहीं आई। इस महाकाव्य को पढ़कर आश्वस्ति होती है कि पद्य की भाषा को भी व्याकरण सम्मत बनाया जा सकता है और भाषा में प्रयुक्त होने वाले विराम चिह्न भी कविता में अभिव्यक्ति को मुखर करने में सहायक हो सकते हैं। अनेक स्थलों पर तो आचार्य श्री विद्यासागरजी ने पर्यायवाची शब्दों की मूल धातु के आधार पर उनकी यथारूप विवेचना करते हुए विषय को विस्तार दिया, जैसे :

" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं/धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में
पुरुष को कुशल-संयत बनाती है/सो···'स्त्री' कहलाती है।
ओ, सुख चाहनेवालो ! सुनो,/'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :
'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ/और/'ता' प्रत्यय वह
भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है/यानी,/सुख-सुविधाओं का स्रोत ···सो—
'सुता' कहलाती है/यही कहती हैं श्रुत-सूक्तियाँ !/दो हित जिसमें निहित हों
वह 'दुहिता' कहलाती है/अपना हित स्वयं ही कर लेती है,
पतित से पतित पति का जीवन भी/हित सहित होता है, जिससे
वह दुहिता कहलाती है।/...हमें समझना है/'मातृ' शब्द का महत्त्व भी।
प्रमाण का अर्थ होता है ज्ञान/प्रमेय यानी ज्ञेय/और/प्रमातृ को ज्ञाता कहते हैं सन्त।
जानने की शक्ति वह/मातृ-तत्त्व के सिवा/अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होती।
यही कारण है, कि यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है
मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में/ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !

ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ,/सुख-शान्ति मुक्ति वह
किसे मिलेगी, क्यों मिलेगी/किस-विध···?/इसीलिए इस जीवन में
माता का मान-सम्मान हो,/उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!" (पृ. २०५-२०६)

ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ 'मूकमाटी' के रचनाकार का आचार्यत्व गरिमा के साथ प्रकट हुआ है किन्तु दूसरी ओर श्री विद्यासागरजी के कवि का लोकव्यापी व्यक्तित्व भी कम गरिमामय नहीं है, जहाँ वे सधुक्कड़ी भाषा में श्लोक जैसी सूक्तियों की रचना करते जाते हैं। ऐसी पदावलियाँ लोकोक्तियों की शक्ल अख्तियार करके लोक के जीवन में भी आनन्द का संचरण करने में सक्षम होती हैं, जैसे :

- *"आधा भोजन कीजिए/दुगणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव!" (पृ. १३३)
- *"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
  कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

इस तरह की सैकड़ों लोकोक्तियाँ, मुहावरे और सूक्तियाँ 'मूकमाटी' में मौजूद हैं, जो मन पर गहरा प्रभाव छोड़ती हैं। आचार्यत्व और लोकत्व के मोहक सामंजस्य द्वारा 'मूकमाटी' का जो रूप पाठक के सामने निर्मित होता है, उससे वह अपने ज्ञान के अनुरूप जो भी ग्रहण करना चाहे ग्रहण कर सकता है। शब्दों का सटीक इस्तेमाल ऐसा मानों वे रचनाकार के इस्तेमाल के लिए ही निर्मित हुए हों। कहीं-कहीं विद्यासागरजी नए शब्दों का निर्माण कर उसमें अर्थ की ऐसी ऊष्मा भर देते हैं कि वह अपनी उजास से पाठक के मन को मुग्ध कर लेता है। कहीं-कहीं तो उर्दू हिन्दी के संयोग से नया सामासिक शब्द निर्मित कर डालते हैं, जैसे- *"प्रथम-चरण में ग़म-श्रम/निर्मम होता है"* (पृ. २८३)। यहाँ 'ग़म-श्रम' शब्द निर्माण का साहस देखने लायक है।

प्रकृति के उपादानों को जनसमूह के रूप में उपस्थित कर दर्शन की सूक्तियों से कथा को वार्तालाप शैली में सरकाते जाना कोई 'मूकमाटी' में देखे। जहाँ मानवीकरण अलंकार सहज रूप में अवतरित होकर मानवीय वृत्तियों को उजागर करते जाते हैं। इसी तरह काव्य के सभी रसों का एक बृहत् रूपक विद्यासागरजी ने – 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में बाँधा है। इस प्रकार का रसरूपक सम्भवत: पहली बार ही किसी रचनाकार ने रचा है। सभी रसों की प्रकृत दशा का साक्षात्कार कराते हुए आत्मज्ञान के जिस बिन्दु तक विद्यासागरजी ले जाना चाहते हैं, पाठक उनके साथ एकाकार होकर चलता जाता है और अन्त में जब वे यह कहते हैं कि "सब रसों का अन्त होना ही/शान्त रस है" तो पाठक इस रस-समागम की गंगा में स्नान कर शान्ति का अनुभव कर समाधिस्थ हो जाता है। स्थायी रस के रूप में शान्त और सहायक के रूप में करुणा रस 'मूकमाटी' महाकाव्य में आद्योपान्त रसवर्षण करते हुए उस देशना तक ले जाते हैं जहाँ 'मूकमाटी' का यह परम सत्य परिलक्षित होता है कि आत्मोद्धार अपने ही पुरुषार्थ, अपनी ही साधना, अपने ही दर्शन और चिन्तन के प्रेरणास्पद स्फुरणों से होता है, जहाँ :

"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर!/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूक माटी।" (पृ. ४८८)

यहाँ मूकमाटी विराम लेकर अमिट दृश्य के साथ विराम ले लेती है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में चाक्षुष प्रसंगों की भरमार है। माटी, कुम्हार, चाक, घट, कुदाली, काँटा, ऋतु वर्णन, राजा और मुक्ता राशि वाला अंश, अग्नि, मेघ, प्रलय आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें चाक्षुष बिम्बों की अपार छटाएँ हैं। इन सभी को दृश्यांकित करने-कराने का काम

किया जाए तो 'मूकमाटी' का सम्प्रेषण साधारणजन तक आसानी से हो सकता है।

मुक्त छन्द के काव्य रूप में विरचित 'मूकमाटी' में संस्कृत से लेकर अपभ्रंश तक का पद-लालित्य भी कम नहीं है और आधुनिक गीत की लयात्मकता भी। 'मूकमाटी' में अनेक ऐसे स्थल हैं, जो गेय हैं, जिनकी सांगीतिक प्रस्तुतियाँ की जा सकती हैं एवं जो विविध राग-रागिनियों में बाँधे जा सकते हैं। इसमें समूह गीत भी हैं, जैसे :

"जय हो ! जय हो ! जय हो !/अनियत विहारवालों की
नियमित विचारवालों की/सन्तों की, गुणवन्तों की
सौम्य-शान्त-छविवन्तों की/जय हो ! जय हो ! जय हो !" (पृ. ३१४)

पूरे महाकाव्य में एक अन्तर्लय मानों काव्य की सरिता कल-कल की तरह व्याप्त है। हिन्दी में मुक्त छन्द के प्रवर्तक महाकवि निराला माने जाते हैं जो गीत और संगीत के भी उतने ही ज्ञाता रचनाकार रहे। वेदों की ऋचाओं के गान से लेकर मुक्तक काव्य की सांगीतिक संगति तक उनका गहरा ज्ञान था। इसके बाद उन्होंने मुक्त छन्द को स्वीकारा तो उसके कई कारण रहे। मुक्त छन्द भी अपने आप में एक सधा हुआ छन्द है, जिसमें पाठ का कौशल है और जो अभिव्यक्ति में आने वाली उन बाधाओं को पार करता हुआ अबाधित गति से क्रियमाण रहता है जो तुक के बन्धन से बाधित हो जाया करती है। इस कारण मुक्त छन्द को अतुकान्त छन्द भी कहा जाता है। अतुकान्त से तात्पर्य पद्य में आने वाली तुकों का अभाव। तुक के कारण जब वर्ण्य व्यापार सीमित होता लगा तो तुक का मोह छोड़कर काव्य के सटीक रचाव के लिए मुक्त छन्द की आवश्यकता महसूस हुई और इसमें दो राय नहीं कि मुक्त छन्द द्वारा कविता को असीम विस्तार मिला। वह बन्धनमुक्त हुई और उसका स्वाधीन व्यक्तित्व विकसित होने लगा। दर्शन जैसे गूढ़ विषय को काव्य में ढालना एक दुष्कर कर्म है फिर उसे तुकाश्रित होकर प्रेषित करना तो और भी दुर्वह है। अतः कविवर विद्यासागर ने इस छन्द को स्वीकारा और मुझे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि 'मूकमाटी' हिन्दी का अकेला ऐसा महाकाव्य है जो मुक्त छन्द में लिखा गया है और जिसमें वे रूप भी अन्तर्निहित हैं, जो परम्परा प्रणीत हैं। इसके अलावा भवानीप्रसाद मिश्र की सपाट बयानी, अज्ञेय का शब्द विन्यास, निराला की छान्दसिक छटा, पन्त का प्रकृति व्यवहार, महादेवी की मसृण गीतात्मकता—जहाँ करुणा, जीवन का एक मूल्य बनकर आती है, नागार्जुन का लोक स्पन्दन, केदारनाथ अग्रवाल की बतकही वृत्ति, मुक्तिबोध की फैंटेसी-संरचना और धूमिल की तुक संगति आधुनिक काव्य में एक साथ देखनी हो तो वह 'मूकमाटी' में देखी जा सकती है। यह कहते हुए एक बात स्पष्ट कर दूँ कि इनमें से किसी भी कवि का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव 'मूकमाटी' के रचनाकार पर कतई नहीं है।

सन्त प्रकृति में विचरण करते हैं। प्रकृति का स्पर्श करते हैं वे। वह उनमें रच-पच जाती है। वे उसे अपनी ज्ञानेन्द्रियों में संवेदित कर अभिव्यक्त करते हैं। देशाटन से जो अनुभव, लोक-सम्मिलन से जो भाषा, जो प्रतीतियाँ, जो व्यंजना, जो राग-विराग, जो अन्तर्बाह्य संवाद-प्रतिसंवाद होता रहा है वह सन्तों की वाणी द्वारा जन-जन तक प्रवाहित होता रहा है। आचार्य विद्यासागरजी का 'मूकमाटी' महाकाव्य इसी बृहद् अनुभूति की महासृष्टि है। एक वाक्य में कहा जाए तो – 'मूकमाटी' को अनुभूति का महाकाव्य कहा जा सकता है। करुणा, दया, प्रेम, शान्ति, अहिंसा के दुग्ध में उठते झाग जैसी यह अनुभूति पूरे महाकाव्य में प्रच्छन्न रूप में व्याप्त है। बिलोते हुए दही की मथानी में तैरते हुए नवनीत की तरह यह 'अनुभूति' महाकाव्य की अन्तवर्ती नायिका जैसी है। एक जगह इसी आलेख में 'भी' को महाकाव्य का अन्तवर्ती नायक निरूपित किया गया है। यहाँ अनुभूति को अन्तर्वर्ती नायिका। ये दोनों 'ही' रूपी खलनायक को पराभूत कर महावीर का पद प्राप्त करते हैं। अनुभव जब अनुभूति बनता है तो उसका यह रूपान्तरण स्थूल ज्ञानेन्द्रियों से सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों की आभा से होता है और तब अनुभूति सुषुप्तावस्था में जागृति का संचरण कर आत्मा को निरन्तर संस्कारित करती हुई उसे परम आत्मा तक पहुँचाने का सुमार्ग सुझाती रहती है। 'मूकमाटी' महाकाव्य की अनुभूति का

अभ्युदय इसी निर्माण मार्ग को प्रशस्त करता है।

शब्द हमारे सामने यूँ ही बिखरे पड़े होते हैं किन्तु जब कभी वे हमारी अनुभूति का मंगल द्वार खोलकर अपना विराट् अर्थरूप प्रकट करते हैं तो हमारी आँखें खुली की खुली रह जाती हैं। तब ज्ञानचक्षु हमें उनके सही रूप का दर्शन कराते हैं। ऐसा ही एक शब्द है – दिगम्बर। इस शब्द की अर्थानुभूति मुझे तब हुई जब मैंने राजगढ़ (ब्यावरा) म. प्र. के पागल मोड़सींग को उस हालत में देखा जब उसने ठण्ड में ठिठुरते हुए एक भिखारी को अपने शरीर से सारे कपड़े उतारकर उढ़ा दिए। वह दिगम्बर पात्र मेरे मन में अनुभूति के धरातल पर आया तो मैंने कई शब्दों की अर्थध्वनियों को अनुभूत किया, खासकर 'दिगम्बर' शब्द को। 'मोड़सींग' शीर्षक से एक कविता लिखी जिसका एक अंश प्रसंगवश देना मुनासिब लग रहा है :

"तभी एक नंगा गुजरा था।/और तुमने/उतारकर दे दिया
अपना अँगरखा उसे/खुद नंगे हो गए /तब पहली बार जाना था मैंने
दिगम्बर शब्द का अर्थ/दसों दिशाएँ हाथ जोड़े/खड़ी थीं तुम्हारे सामने–
वस्त्र बनकर/उस वक्त तुम/कितने ही दिग्विजयसिंहों से भी
ज्यादा विजयी लग रहे थे मोड़सींग/मैंने पहली बार जाना मोड़सींग !
कि पर पीड़ा के ख्याल से भी/पागल हो सकता है आदमी।"

अपनी कविता 'मोड़सींग' के इस काव्यांश द्वारा मैं अपने कवि की कोई उपस्थिति इस आलेखन में दर्ज नहीं करा रहा हूँ, बल्कि दिगम्बर जैसे एक शब्द के स्वानुभूत संसार को उपस्थित करते हुए यह कहना चाहता हूँ कि 'मूकमाटी' में ऐसे असंख्य शब्द हैं जो अनुभूति की कोख से जन्म लेकर महाकाव्य में अपनी निश्छल किलकारियाँ बिखेर रहे हैं। आप अपने वात्सल्य भाव से उन्हें अपने मन की गोद में बिठा लेंगे तो उनकी अर्थ केलियों का अपार आनन्द ले सकते हैं। साहित्य के बहुविध पक्षों पर शोध करने और करवाने वालों के लिए अखण्ड साधना की जरूरत है। प्रगतिशील दृष्टि से भी इस महाकाव्य पर प्रकाश डाला जा सकता है, जो इसमें है।

अन्त में, 'मूकमाटी' से ही एक सूक्त वाक्यांश लेकर विनम्र भाव से यह कहना चाहूँगा कि 'मूकमाटी' के 'काव्य रूप के बहाने कुछ स्फुट विचार' यहाँ इस शीर्षक से प्रस्तुत किए हैं। इन्हें किसी विधि विधान से रचे निबन्ध के रूप में न देखकर 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्य पर प्रकट स्फुट विचार के रूप में ही लें। मैं भी आप जैसा एक पाठक हूँ जिसने एक महान् कृति को पढ़कर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। 'मूकमाटी' का सूक्त व्याक्यांश है– "खम्मामि खमंतु मे" अर्थात् सबको क्षमा करते हुए सबसे क्षमा चाहता हूँ, उनसे भी जो इसे पढ़कर अपना वक्त जाया कर रहे हैं और उनसे भी जो इन स्फुट विचारों से सहमत या असहमत हो रहे हों।

पृष्ठ 194
स्वर संगीत का प्राण
है।--- हे देहिन्!
हे शिल्पिन्!"

❑

शब्दों की परिभाषाओं के शिल्पी : आचार्य विद्यासागर

डॉ. रमेश चन्द जैन

दर्शन, ज्ञान और चारित्र की साधना के साथ-साथ पूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज शब्दों की परिभाषाओं के अमर शिल्पी भी हैं। उनकी शब्द साधना बेजोड़ है। दैनिक व्यवहार, लोक जीवन और शास्त्रीय व्याख्याओं में जिन शब्दों को हम सहज भाव से लेते हैं उन शब्दों में कितना गम्भीर अर्थ भरा हुआ है, स्वयं वह शब्द अपने अर्थ को विविध रूप में किस भाँति व्यंजित करता है, यह आचार्य विद्यासागरजी महाराज की लेखनी से स्वत: व्यंजित होता दिखाई देता है। उनका जीवन साधना का प्रयोग है। जीवन की साधना के साथ-साथ शब्दों की साधना जैसी उनके काव्यों में प्राप्त होती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने शब्दों को नित नूतन परिभाषाएँ दी हैं। इससे वे शब्द और भी अधिक निखरकर सामने आए हैं, उनमें और भी अधिक रमणीयता आई है। शब्दों में छिपी हुई व्यंजना शक्ति और अधिक गम्भीर हो गई है। शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियाँ अपने मूर्त रूप में 'मूकमाटी' काव्य में अभिव्यक्त हुई हैं। ससीम को असीम रूप देने का उनका प्रयास काव्य रूप में व्यंजित होता हुआ, सहृदयों के मन को आह्लादित करता हुआ, चिन्तन को एक नई गति, नयी सार्थकता और नई अर्थवत्ता प्रदान करता है। धर्म और दर्शन पद-पद पर निगूढ़ होते हुए भी काव्य में कहीं अवरोध उत्पन्न नहीं होता। वह निरन्तर प्रवाहित होता है। घट और पट की उपमाओं से न्यायशास्त्र के ग्रन्थ भरे पड़े हैं, किन्तु जिससे घट का निर्माण होता है, उस मूकमाटी पर क्या गुजरती है, उसे क्या-क्या सहना पड़ता है, अन्त में वह किस प्रकार घटाकार लेकर अपनी सार्थकता को सिद्ध करती है, इस विषय पर किसी की दृष्टि नहीं गई और किसी की दृष्टि गई भी हो तो उसका भौतिक पक्ष ही प्रबल रहा होगा, किन्तु उसमें छिपे हुए आध्यात्मिक रहस्य को खोजकर उजागर करने का काम किया है– शब्दों की परिभाषाओं के शिल्पी आचार्य विद्यासागर ने। वास्तव में इस कार्य के लिए जिस चिन्तन और साधना की अपेक्षा होती है, उस अपेक्षा की पूर्ति कविहृदय सन्त मानस ही कर सकता है। इस रूप में यह कृति एक सन्त हृदय का दर्पण है। चिरकाल की साधना के बाद ही इस प्रकार की कृति कभी-कभी कोई-कोई ही लिख पाता है। ऐसी कृतियाँ अनुपमेय और साकार अनन्वय अलंकार होती हैं।

उनका काव्य निशा के अवसान और उषा की शान से प्रारम्भ होता है। भानु की निद्रा तो टूट गई है, किन्तु टूटी हुई निद्रा वाला कोई शिशु जिस प्रकार माँ की गोद में करवटें लेता है, उसी प्रकार प्राची रूपी माँ की मार्दव गोद में वह करवटें ले रहा है। बच्चे की सुन्दर मूरत देखकर जिस प्रकार माँ के चेहरे पर मन्द मधुरिम मुस्कान बिखरती है, उसी प्रकार प्राची भी प्रमुदित है। वह प्रमुदित क्यों न हो, उसके शिशु के जागने के साथ-साथ प्राचीन भारतीय ऋषियों का सन्देश सार्थक हो रहा है-'तसमो मा ज्योतिर्गमय'।

अधखुली कमलिनी डूबते चाँद की चाँदनी को भी आँखें खोलकर नहीं देखती है, क्योंकि ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना सबके वश की बात नहीं होती, विशेषकर स्त्री पर्याय में।

तरला ताराएँ छाया की भाँति अपने पतिदेव चन्द्रमा के पीछे-पीछे कहीं सुदूर दिगन्त में छिपी जा रही हैं, इस शंका से कि कहीं दिवाकर उन्हें देख न ले। इस प्रकार की काव्य कल्पना के साथ यह काव्य प्रारम्भ होता है। संकोचशीला, लाजवती, लावण्यवती सरिता तट की माटी माँ धरती के सामने अपना हृदय खोलकर रख देती है। कवि के शब्दों में वह अपनी पीड़ा को इस प्रकार व्यंजित करती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दु:ख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !

इसकी पीड़ा अव्यक्ता है/व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !
क्रम-हीना हूँ/पराक्रम से रीता/विपरीता है इसकी भाग्य रेखा।
यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी ···और आगे
कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !/श्वास-श्वास पर
नासिका बन्द कर/आर्त-घुली घूँट/बस/पीती ही आ रही हूँ/और
इस घटना से कहीं/दूसरे दुःखित न हों/मुख पर घूँघट लाती हूँ
घुटन छुपाती-छुपाती/···घूँट पीती ही जा रही हूँ,/केवल कहने को
जीती ही आ रही हूँ।/इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ ···इसे !/इसका जीवन यह
उन्नत होगा, या नहीं/अनगिन गुण पाकर/अवनत होगा, या नहीं
कुछ उपाय करो माँ !/खुद अपाय हरो माँ !/और सुनो, विलम्ब मत करो
पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ४-५)

उपर्युक्त पंक्तियों में एक विधवा भारतीय नारी--जिसे समाज पतिता समझती है, उसे पातित करने का प्रयास करती है– की मर्मान्तिक पीड़ा छिपी हुई है, जिसे वह औरों के सामने खुले रूप में व्यंजित न कर पाने के कारण अपनी माँ के सामने सब कुछ बखान कर उसका मार्गदर्शन और सान्त्वना चाहती है।

ये पंक्तियाँ बन्धन में पड़ी हुई पतित और ठुकराई हुई आत्मा को भी लक्षित कर रही हैं जो सब प्रकार के बन्धनों और पीड़ाओं से छूटने का मार्ग चाहती है। यह काव्य माटी की छटपटाहट, पीड़ा, बन्धन, बन्धन विमुक्ति का मार्ग और बन्धन मुक्ति– सब कुछ बतलाता हुआ समाप्त होता है। बीच में कवि का शब्द बोधन और शोधन चलता है। इसकी कुछ झाँकियाँ यहाँ प्रस्तुत हैं :

अति और इति : *"अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना*
अथ का दर्शन असम्भव !/अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही
पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।" (पृ. ३३)

दया : *"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)*

आजकल कुछ लोग यह कहते हैं कि पर पर दया करना बहिर्दृष्टि है। ऐसे लोगों के प्रति आचार्यश्री का कहना है कि पर पर दया करना बहिर्दृष्टि है– ऐसी एकान्त धारणा से अध्यात्म की विराधना होती है, क्योंकि स्व के साथ पर का और पर के साथ स्व का ज्ञान होता ही है। यह बात दूसरी है कि कभी किसी की मुख्यता हो तो कभी किसी की गौणता हो। उदाहरणार्थ चन्द्रमण्डल को देखते हैं तो नभमण्डल भी दिखाई देता है। पर की दया करने से स्व (निजात्मा) की याद आती है और स्व की याद ही स्व-दया है। दया का विलोम याद होता ही है (पृ. ३७-३८)।

करुणा : अधूरी दया–करुणा मोह का अंश नहीं है अपितु आंशिक मोह का ध्वंस है। वासना की जीवन परिधि अचेतन है–तन है। दया-करुणा की कोई सीमा नहीं है। वह निरवधि है। करुणा का केन्द्र संवेदन धर्मा चेतन है जो कि पीयूष (अमृत) का केतन (घर) है। करुणा की कर्णिका से अविरल (निरन्तर) समता की सुगन्ध झरती है। ऐसी स्थिति में कोई नहीं कह सकता है कि करुणा का वासना से सम्बन्ध है (पृ. ३९)।

मोह और मोक्ष : वासना का विलास मोह है। दया का विकास मोक्ष है (पृ. ३८)। अपने को छोड़कर पर-पदार्थ से

प्रभावित होना ही मोह का परिणाम है और सब को छोड़कर अपने आप में भावित होना ही मोक्ष का धाम है (पृ.१०९-११०)।

गदहा : गदहा भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! मेरा नाम सार्थक हो। गद का अर्थ है रोग, हा का अर्थ है हारक। मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ और कुछ चांछा नहीं है (पृ. ४०)।

वर्ण-वर्णलाभ और वर्णसंकर : सामान्यतया वर्ण का आशय रंग से या अंग से लगाया जाता है किन्तु इस विषय में आचार्य विद्यासागर का दूसरा ही मत है। वे कहते हैं कि वर्ण का आशय न रंग से है, न ही अंग से, वरन् चाल-चरण ढंग से है। यानी जिसे अपनाया है उसे, जिसने अपनाया है, उसके अनुरूप अपने गुण-धर्म, रूप-स्वरूप को परिवर्तित करना अर्थात् संस्कारित करना। यदि यह स्थिति न रही तो वर्ण-संकर दोष हो जाएगा। कोई यह न समझे कि इससे वर्णलाभ का निषेध हुआ है। इसे वे उदाहरण देकर समझाते हैं कि नीर की जाति न्यारी है और क्षीर की जाति न्यारी है। दोनों के स्पर्श, रस, रंग भी परस्पर न्यारे-न्यारे हैं। फिर यह सर्वविदित है कि यथाविधि क्षीर में नीर मिलाते ही नीर क्षीर बन जाता है। केवल वर्ण–रंग की अपेक्षा तो गाय का क्षीर धवल है तथा आक का क्षीर भी धवल है। दोनों ऊपर से स्वच्छ हैं परन्तु उन्हें मिलाते ही विकार उत्पन्न होता है। क्षीर फट जाता है। नीर का क्षीर बन जाना वर्ण-लाभ है, वरदान है और क्षीर का फट जाना ही वर्णसंकर है, अभिशाप है (पृ. ४७-४९)। वर्णसंकर और वर्णलाभ की इससे सुन्दर परिभाषा और स्पष्टीकरण दूसरा नहीं हो सकता। अतः वर्णलाभ में कोई दोष नहीं है। वर्णसंकर दोषपूर्ण है। आचार्यश्री की इस परिभाषा को यदि ध्यान में रखा जाए तो वर्ण सम्बन्धी समस्त मतभेद स्वतः समाप्त हो जाएँगे।

माटी और कंकर : मृदु और कर्कश स्वभाव के प्रतीक माटी और कंकर के प्रसंग में कंकर के प्रति आचार्यश्री कहते हैं कि अरे कंकरो ! तुम्हारा माटी से मिलन तो हुआ किन्तु तुम माटी में नहीं मिले। माटी से स्पर्श तो हुआ किन्तु तुम माटी में घुले नहीं। चलती चक्की में डालकर तुम्हें पीसा जाए तो भी तुम अपने गुणधर्म को नहीं भूलते हो, भले ही तुम्हारी स्थिति चूर्ण या रेत की बन जाए। कर्कश स्वभाववाला व्यक्ति भी चूर्ण-चूर्ण भले ही हो जाए, किन्तु अपनी कर्कशता को नहीं छोड़ता है। वह पाषाण हृदय होता है। दूसरों का दुःख-दर्द देखकर भी उसे पसीना नहीं आता (पृ. ४९-५०)।

शुभ का सृजन : लघुता का त्यजन ही, गुरुता का यजन ही, शुभ का सृजन है (पृ. ५१)। अर्थात् जब तक व्यक्ति लघुता को छोड़कर गुरुता (बड़प्पन) की पूजा नहीं करता, तब तक उसके जीवन में शुभ की निर्मिति नहीं हो सकती है।

स्वभाव और विभाव : स्वभाव और विभाव जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। स्वभाव की विपरीतता विभाव है। इन दोनों में जीवनदाता और मारक जैसा अन्तर है। जैसे जल जीवन देता है और हिम जीवन लेता है। यही कारण है कि दोनों की प्रकृति न्यारी है। जल शीतलता प्रदान करता है तो हिम की डली उष्णता लाती है (पृ. ५४)।

आदमी : संयम के बिना आदमी नहीं होता है। आदमी वही है जो यथायोग्य आ-दमी हो अर्थात् इन्द्रियों का दमन करता हो (पृ. ६४)।

हथियार का प्रयोग : बात का प्रभाव जब बलहीन होता है तब हाथ का प्रयोग कार्य करता है और हाथ का प्रयोग जब बलहीन होता तब हथियार का प्रयोग आर्य करता है (पृ.६०)।

ग्रन्थि : जहाँ गाँठ–ग्रन्थि है, वहाँ निश्चित ही हिंसा छलती है (पृ. ६४)।

निर्ग्रन्थ दशा : निर्ग्रन्थ दशा में ही अहिंसा पलती है (पृ. ६४)।

साहित्य : हित से जो युक्त होता है, वह सहित माना गया है और सहित का भाव ही साहित्य है (पृ. १११)।

दर्शन एवं अध्यात्म : दर्शन का स्रोत मस्तक है। स्वस्तिक से अंकित हृदय से अध्यात्म का झरना झरता है। दर्शन के बिना अध्यात्म जीवन चल सकता है। अध्यात्म के बिना दर्शन का दर्शन नहीं होता है। जैसे लहरों के बिना सरोवर रह

सकता है किन्तु लहर सरोवर के बिना नहीं रह सकती। अध्यात्म स्वाधीन नयन है, दर्शन पराधीन उपनयन है। दर्शन में शुद्ध तत्त्व का दर्शन नहीं होता। दर्शन कभी सत्य रूप का तो कभी असत्य रूप का होता है, जब कि अध्यात्म सदा सत्य, चिद्रूप ही भास्वत होता है। स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है। दर्शन का जीवन अनेक संकल्प-विकल्पों में व्यस्त होता है। बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही दर्शन का पान करती है। अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा निरंजन का गान करती है। दर्शन का आयुध शब्द है विचार। अध्यात्म निरायुध, सर्वथा स्तब्ध–निर्विचार होता है। एक ज्ञान और ज्ञेय दोनों है। दूसरा ध्यान और ध्येय दोनों है (पृ. २८८-२८९)।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य : जैन दर्शन में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त को 'सत्' कहा गया है। सत् ही द्रव्य का लक्षण है (तत्त्वार्थसूत्र, ५/२९-३०)। द्रव्य दो हैं- चेतन और अचेतन। जो अपनी जाति को तो कभी नहीं छोड़ते फिर भी उनमें अन्तरंग और बहिरंग निमित्त के वश से प्रति समय जो नई अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे 'उत्पाद' कहते हैं। जैसे– मिट्टी के पिण्ड की घट पर्याय। पूर्व अवस्था के त्याग को 'व्यय' कहते हैं। जैसे– घट की उत्पत्ति होने पर पिण्ड रूप आकार का त्याग। तथा जो अनादिकालीन पारिणामिक स्वभाव है, उसका व्यय और उदय नहीं होता किन्तु वह ध्रुवति अर्थात् स्थिर रहता है, इसलिए उसे 'ध्रुव' कहते हैं तथा ध्रुव का भाव या कर्म 'ध्रौव्य' कहलाता है। जैसे–मिट्टी के पिण्ड और घटादि अवस्थाओं में मिट्टी का अन्वय (तत्त्वार्थसूत्र, ५-४/३, सर्वार्थसिद्धि टीका)। आचार्यश्री ने उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य एवं सत् को व्यावहारिक भाषा में समझाया है– आना, जाना, लगा हुआ है। आना यानी जनन– उत्पाद है। जाना यानी मरण– व्यय है। लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है। और है यानी चिर–सत्। यही सत्य है यही तथ्य··· (पृ. १८५)।

भवानुगामी पाप : ग्रहण– संग्रहण का भाव भवानुगामी पाप है (पृ. १८९)।

कला : 'क' यानी आत्मा–सुख है। 'ल' यानी लाना–देता है। कोई भी कला हो, कला मात्र से जीवन में सुख, शान्ति, सम्पन्नता आती है। किन्तु आजकल सकल कलाओं का प्रयोजन केवल अर्थ का आकलन-संकलन बना हुआ है। वास्तव में न अर्थ में सुख है और न अर्थ से सुख (पृ. ३९६)।

अपराधी : अपराधी नहीं बनो, अपरा-धी बनो। पराधी नहीं, पराधीन नहीं, अपितु अपराधीन (स्वाधीन) बनो (पृ. ४७७)।

अर्थ और परमार्थ : परमार्थ कभी अर्थ की तुला में तुलता नहीं है। अर्थ को तुला बनाना अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है। अर्थ को तुला बनाने से युग को अनर्थों के गर्त में धकेला जाना है (पृ. १४२)।

संगीत : संगीत वह होता है, जो संगातीत (आसक्ति रहित) होता है (पृ. १४४)।

प्रीति : जो अंगातीत होती है, उसे प्रीति कहते हैं (पृ. १४५)।

संसार : सम् उपसर्ग पूर्वक सृ साधु से संसार बनता है। सृ का अर्थ है - गति। सम् अर्थात् समीचीन और सार यानी सरकना। जो सम्यक् सरकता है, वह संसार कहलाता है (पृ. १६१)।

काल चक्र : काल स्वयं चक्र नहीं है, वह संसार चक्र का चालक होता है। यही कारण है कि उपचार से काल को चक्र कहते हैं (पृ. १६१)। संसार का चक्र वह है जो राग-द्वेष आदि वैभाविक अध्यवसान का कारण है (पृ. १६१)।

कुलाल चक्र : कुलाल चक्र वह सान है, जिस पर चढ़कर जीवन अनुपम पहलुओं से निखर आता है (पृ. १६२)।

श्वान और सिंहवृत्ति : सिंह और श्वान दोनों की जीवनचर्या अलग-अलग है। सिंह कभी, किसी पर पीछे से धावा नहीं बोलता, गरज के बिना गरजता नहीं और बिन गरजे किसी पर बरसता भी नहीं अर्थात् मायाचार से दूर रहता है। परन्तु श्वान सदा पीछे से जा काटता है, बिना प्रयोजन वह कभी भी भौंकने लगता है (पृ. १६९)। जीवन सामग्री की उपलब्धि

हेतु सिंह कभी दीनता की उपासना नहीं करता है, किन्तु श्वान एक टुकड़े के लिए स्वामी के पीछे-पीछे पूँछ हिलाता फिरता है। सिंह के गले में किसी भी कारणवश पट्टा नहीं बँध सकता। बन्धन को प्राप्त सिंह पिंजड़े में भी बिना पट्टा के ही घूमता रहता है। उस समय उसकी पूँछ ऊपर उठी, तनी रहती है। वह अपनी स्वतन्त्रता और स्वाभिमान पर आँच नहीं आने देता। श्वान स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझता। पराधीनता-दीनता श्वान को कभी नहीं चुभती। श्वान के गले में जंजीर भी आभरण का रूप धारण करती है। श्वान को पत्थर मारने से वह पत्थर को खोजता है। सिंह अपने विवेक से मारने वाले पर प्रहार करता है (पृ. १७०)। श्वान अपनी जाति को देख गुर्राता है, अत: उसकी निन्दा होती है। सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है। श्वान पागल भी हो जाता है, सिंह पागल नहीं होता (पृ. १७१)।

वासना का वास : वासना का वास न तन में है, न वसन में वरन् माया प्रभावित मन में है (पृ. १८०)।

रसना : मुख से बाहर निकली रसना कुछ कह रही-सी लगती है कि भौतिक जीवन में रस नहीं है (पृ. १८०)।

उच्च-नीच विषयक विचार : उच्च उच्च ही रहता है, नीच नीच ही रहता है, ऐसी आचार्यश्री की धारणा नहीं है। नीच को ऊपर उठाया जा सकता है। उचितानुचित सम्पर्क से सब में परिवर्तन सम्भव है। केवल शारीरिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि सहयोग से नीच उच्च नहीं बन सकता। इस कार्य का सम्पन्न होना सात्त्विक संस्कार पर आधारित है। मठे को यदि छौंक दिया जाता है तो मठा स्वादिष्ट ही नहीं, अपितु पाचक भी बनता है। दूध में मिश्री का मिश्रण हो तो दूध स्वादिष्ट भी बनता है, बलवर्द्धक भी। इससे विपरीत विधि-प्रयोग से अर्थात् मठे में मिश्री का मिश्रण कदाचित् गुणकारी तो है परन्तु दूध को छौंक देना तो बुद्धि की विकृति सिद्ध करता है (पृ. ३५७-३५८)।

पाणिग्रहण और प्राण-ग्रहण : सन्तों ने पाणिग्रहण संस्कार को धार्मिक संस्कृति का संरक्षक एवं उन्नायक माना है, परन्तु लोभी-पापी मानव पाणिग्रहण को प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं (पृ. ३८६)।

औषधि की आवश्यकता : पथ्य का सही पालन हो तो औषधि की आवश्यकता ही नहीं और यदि पथ्य का पालन नहीं हो तो भी औषधि की आवश्यकता नहीं है (पृ. ३९७)।

औषधियों का सही मूल्य : औषधियों का सही मूल्य रोग का शमन है। कोई भी औषधि हो, वह हीनाधिक मूल्यवाली नहीं होती तथापि श्रीमानों, धीमानों की आस्था इससे विपरीत हुआ करती है (पृ. ४०८)।

रसास्वाद : रस का स्वाद उसी रसना को आता है जो जीने की इच्छा से ही नहीं, मृत्यु की भीति से भी ऊपर उठी है। रसनेन्द्रिय के वशीभूत हुआ व्यक्ति कभी किसी वस्तु के स्वाद से परिचित नहीं हो सकता। भात में दूध मिलाने पर निरा-निरा दूध और भात का नहीं, मिश्रित स्वाद ही आता है फिर मिश्री मिलाने पर तो तीनों का ही सही स्वाद लुट जाता है (पृ. २८१)।

इन्द्रियों को भूख नहीं लगती : इन्द्रियों को भूख नहीं लगती। बाहर से लगता है कि उन्हें भूख लगती है। रसना कब रस को चाहती है ? नासा गन्ध को याद नहीं करती। स्पर्शन स्पर्श की प्रतीक्षा नहीं करती। स्वर के अभाव में श्रवणेन्द्रिय को ज्वर नहीं चढ़ता है। आँखें रूप की, स्वरूप की आरती नहीं उतारती हैं। ये सारी इन्द्रियाँ जड़ हैं। जड़ का उपादान जड़ होता है। जड़ में कोई चाह नहीं होती है। जड़ की कोई राह नहीं होती (पृ. ३२८)।

विषयी को विषयों का ग्रहण बोध : विषयों का ग्रहण बोध इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। इन्द्रियाँ खिड़कियाँ हैं, यह शरीर भवन है। भवन में बैठा पुरुष भिन्न-भिन्न खिड़कियों से झाँकता है, वासना की आँखों से विषयों को ग्रहण करता है (पृ. ३२९)।

सही ज्ञान : स्व को स्व के रूप में और पर को पर के रूप में जानना ही, सही ज्ञान है (पृ. ३७५)।

सही ज्ञान का फल : स्व में रमण करना ही सही ज्ञान का फल है (पृ. ३७५)।

समता : सदा सर्वदा एक-सी दशा का होना समता है (पृ. ३७८)। समता की सखी मुक्ति है। वह सुरों, असुरों, जलचरों और नभश्चरों को ही नहीं, वरन् समता-सेवी भूचरों को वरती है (पृ. ३७८)।

संसार के विषय में मूढ़ता : पुरुष और प्रकृति के खेल का नाम ही संसार है, यह कहना मूढ़ता है, मोह की महिमा मात्र है। खेलने वाला तो पुरुष है और प्रकृति खिलौना मात्र है। स्वयं को खिलौना बनाना कोई खेल नहीं है (पृ. ३९४)।

सल्लेखना : काय और कषाय को कृश करना (पृ. ८७)।

मोक्ष : पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है, सार है (पृ. ९३)।

कम्बल वाले कौन ? : कम बल वाले ही कम्बल वाले होते हैं (पृ. ९२)।

कामदेव और महादेव : लौकिक ख्याति है कि कामदेव का आयुध फूल होता है और महादेव का आयुध शूल। एक में पराग है, सघन राग है, जिसका फल संसार है। एक में विराग है, अनघ त्याग है, जिसका फल है- भव पार। एक औरों का दम लेता है, बदले में मद भर देता है तो एक औरों में दम भर देता है और तत्काल ही निर्मद कर देता है। दम सुख है एवं सुख का स्रोत है। मद दुःख है, सुख की मौत है (पृ. १०१-१०२)।

पश्चिमी सभ्यता और भारतीय संस्कृति : पश्चिमी सभ्यता आक्रमण की निषेधिका नहीं है, अपितु आक्रमण-शीला है। उसकी आँखों में विनाशलीला घूरती रहती है। महामना सब कुछ तज कर जिस ओर अभिनिष्क्रमण कर गए, अपने में मग्न हो गए, उन्हीं की अनुक्रम निर्देशिका भारतीय संस्कृति है (पृ. १०२-१०३)।

दण्ड-संहिता की व्यवस्था : घन-घमण्ड से भरे हुओं की उद्दण्डता दूर करने दण्ड-संहिता की व्यवस्था होती है (पृ. १०४)।

मन और मन्त्र : मन्त्र न ही अच्छा होता है, न ही बुरा। अच्छा-बुरा तो अपना मन होता है। स्थिर मन ही महामन्त्र होता है और अस्थिर मन ही पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है। एक सुख का सोपान है, एक दुःख का सो-पान है (पृ. १०८-१०९)।

सुखमय जीवन : जो जीव अपनी जीभ जीतता है, उसी का दुःख रीतता है। उसी का सुखमय जीवन बीतता है (पृ. ११६)।

प्राण-प्रतिष्ठा : निगूढ़ निष्ठा से निकली, निशिगन्धा की निरी महक-सी बाहरी-भीतरी वातावरण को जो सुरभित करती है, वही निष्ठा की फलवती प्रतिष्ठा प्राणप्रतिष्ठा कहलाती है (पृ. १२०)।

राजा और महाराजा का मरण : राजा का मरण प्रजा की रक्षा करते हुए रण में हुआ करता है। महाराजा का मरण उस ध्वजा की रक्षा करते हुए वन में होता है, जिसकी छाँव में सारी धरती सानन्द, सुखमय श्वास स्वीकारती हुई जीवित है (पृ. १२३)।

परमार्त और परमार्थ : ज्ञान का पदार्थ की ओर ढुलक जाना ही परम आर्त—पीड़ा है और ज्ञान में पदार्थों का झलक आना ही परमार्थ-क्रीड़ा है (पृ. १२४)।

अरूप की आस : तनधारी को सुरूप या कुरूप तन मिलता है। सुरूपवाला रूप में और निखार तथा कुरूपवाला रूप में सुधार लाने का प्रयास करता है। इसके लिए वह आभूषणादि का शृंगार करता है, परन्तु जिसे अरूप की आस लगी हो, उसे शृंगार से क्या प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं (पृ. १३९)।

दवा, दुआ और चेतना : जब हवा काम नहीं करती, तब दवा काम करती है और जब दवा काम नहीं करती, तब दुआ काम करती है। परन्तु जब दुआ भी काम नहीं करती, तब स्वयंभुवा चेतना काम करती है (पृ. २४१-२४२)।

साधना की यात्रा : निरन्तर साधना की यात्रा भेद से अभेद की ओर तथा वेद से अवेद की ओर बढ़ती है, बढ़ना भी

चाहिए। अन्यथा वह यात्रा नाम की है, यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई (पृ. २६७)।

आशा : आशा को पाशा समझो (पृ. १५०)।

स्वप्न : 'स्व' यानी अपना, 'प्' यानी पालन-संरक्षण और 'न' यानी नहीं, अर्थात् जो निजभाव का संरक्षण नहीं कर सकता, वह औरों को क्या सहयोग देगा ? अतीत से जुड़ा तथा भीत से मुड़ा, बहु-उलझनों में उलझा मन ही स्वप्न माना जाता है (पृ. २९५)।

धरणी : धरणी शब्द ही स्वयं विलोम रूप से कह रहा है कि ध···र···णी नी···र···ध। नीर को धारण करे, नीर का पालन करे, सो धरणी है (पृ. ४५२-४५३)।

गुणेषु कृतज्ञता : जैसे मणियों में नीलमणि, कमलों में नीलकमल, सुखों में शील सुख, गिरियों में मेरुगिरि, सागरों में क्षीर-सागर, मरणों में वीरमरण, मुक्ताओं में मत्स्य मुक्ता उत्तम माने जाते हैं, वैसे ही गुणों में कृतज्ञता गुण शोभित होता है (पृ. ४५३-४५४)।

धरती : धरती शब्द का भाव विलोम-रूप से यही निकलता है - ध···र···ती···ती···र···ध। यानी जो तीर को धारण करती है या शरणागत को तीर पर धरती है; वह धरती कहलाती है (पृ. ४५२)।

तीरथ : शरणागत को तारे सो तीरथ है (पृ. ४५२)।

समाजवाद : समाज का अर्थ होता है समूह और समूह यानी सम–समीचीन ऊह–विचार है। समीचीन विचार ही सदाचार की नींव है। प्रचार-प्रसार से दूर प्रशस्त आचार-विचारवालों का जीवन ही समाजवाद है (पृ. ४६१)।

सत्संगति : जैसी संगति होती है, वैसी मति होती है। जैसी मति होती है, वैसी गति होती है। उजली-उजली जल की धारा धरा-धूल में आकर धूमिल हो दलदल बन जाती है। नीम की जड़ों में जाकर वह कटु हो जाती है। सागर में जाकर वह लवणाकर कहलाती है। विषधर के मुख में जाकर विष बन जाती है। उसी प्रकार जैसी संगति मिलती है, व्यक्ति वैसा बनता है (पृ. ८)।

नियति और पुरुषार्थ : 'नि' यानी निज में ही 'यति' यानी यतन–स्थिरता ही 'नियति' है। 'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा, 'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है। आत्मा को छोड़कर सब पुरुषार्थों को विस्मृत करना ही सही 'पुरुषार्थ' है (पृ.३४९)।

[सम्पादक- पार्श्व ज्योति (पाक्षिक), बिजनौर-उत्तरप्रदेश, १ जुलाई, १९९०]

□

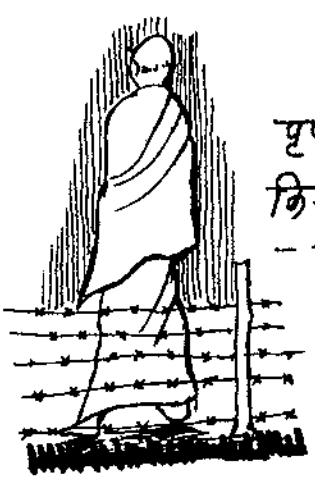

काव्य और अध्यात्म का अनूठा संगम : 'मूकमाटी'

डॉ. उमा पाण्डेय

जैन मुनि आचार्य विद्यासागर का महाकाव्य 'मूकमाटी' दर्शन एवं काव्य का एक रला-मिला रूप है। सम्पूर्ण काव्य का पारायण करने पर पाठक के मन में एक विचित्र-सा प्रश्न सहज ही उठ जाता है – क्या यह कृति मात्र काव्य है या मात्र दर्शन ? इसका कारण यह है कि मुनिवर ने अपनी आध्यात्मानुभूति को काव्य के माध्यम से उपस्थित किया है। जिस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने आदिकाव्य 'रामायण' में भगवान् राम की कथा के व्याज से भारतीय दर्शन के विभिन्न तत्त्वों को काव्यात्मक रूप दिया है, उसी प्रकार आचार्य विद्यासागर ने जैन दर्शन के मूल तत्त्वों को काव्य के माध्यम से दर्शाया है। अध्यात्म और काव्य में अभेद स्थापित कर आचार्य ने उपनिषद् की 'रसो वै सः' की उक्ति को चरितार्थ कर दिया है।

भारतीय काव्य परम्परा से हटकर आचार्य ने माटी जैसी तुच्छ वस्तु को काव्य की नायिका एक विशेष प्रयोजन से चुना है। भारतीय दर्शन के अनुसार जड़ और चेतन का द्वैत असमाहित है। जड़ या भूत पदार्थ कभी चेतन नहीं बन सकता। इसीलिए द्वैतवादी दार्शनिक सम्प्रदाय– न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा जैन- जड़ एवं चेतन तत्त्वों की किसी न किसी रूप में स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करते हैं। जड़वादी चार्वाक जड़ के अतिरिक्त चेतन तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता। उधर अध्यात्मवादी अद्वैत दर्शन तथा विज्ञानवाद एक मात्र चेतन ब्रह्म या विज्ञान को ही परमार्थ सत् मानता है। लेकिन आचार्य ने जड़ माटी को अपने काव्य का विषय बनाकर उसमें आध्यात्मिकता का विकास दिखाकर भारतीय दर्शन की चिरपोषित मान्यता को तिलांजली दी है। साथ ही आज के भौतिकवादी समाज को यह दर्शाया है कि जब जड़ माटी अध्यात्म लाभ कर सकती है तो क्यों भौतिकता में लिप्त मानव अध्यात्म की ओर उन्मुख नहीं हो सकता। भौतिकता तो बाह्य है, अध्यात्म व्यक्ति की मनःस्थिति है। फलतः भौतिक सुखों का भोग करते हुए भी व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टिकोण अपना सकता है। चार्वाक का जीवन व्यतीत करते हुए हम एक वेदान्ती की भाँति क्यों नहीं सोच सकते ? पंक में अवस्थित पद्मपत्र का दृष्टान्त इसी तथ्य का परिचायक है। यही उपनिषद् वर्णित जीवन-मुक्त की अवस्था है जहाँ वह भौतिक जगत् में रहकर भी उसमें लिप्त नहीं होता।

'मूकमाटी' में माटी को प्रधान पात्र या नायिका का स्थान देने के पीछे आचार्य का एक विशेष प्रयोजन छिपा है। प्रायः भारतीय दर्शन में, विशेषकर सांख्य और अद्वैत वेदान्त में जड़ प्रकृति तथा माया को बन्धन का मूल कारण माना गया है। इनके सम्पर्क में आने पर नित्य-मुक्त पुरुष या ब्रह्म कर्म-बन्धन में पड़ जाता है और जन्म-मरण के चक्र में भटकता फिरता है। इसी दार्शनिक तथ्य को काव्य में अभिव्यक्त करते हुए भारतीय दार्शनिकों एवं महाकवियों ने 'नारी' को 'नरक का द्वार' या 'माया' को 'महाठगिनी' तक कह डाला है। इतना ही नहीं, भारतीय समाज की संरचना में उक्त वैचारिक तत्त्व स्पष्ट परिलक्षित होता है। स्त्री और पुरुष समाज के दो समान घटक होने पर भी, स्त्री को भारतीय समाज में द्वितीय कोटि के नागरिक का दर्जा मिला हुआ है। आचार्य शंकर जैसे ज्ञानी महापुरुष, जो एक ओर उपनिषद् को प्रमाण मानने का दम भरते हैं, जिसमें 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' या 'सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' की बात कही गई है, नारी को 'नरक का द्वार' कहने में नहीं हिचकते। यदि स्त्री और पुरुष दोनों में ही एक अद्वय तत्त्व का वास है तो कैसे स्त्री बन्धन का कारण और पुरुष मोक्ष का अधिकारी कहा जा सकता है ? शरीर चाहे स्त्री का हो या पुरुष का मात्र उपाधि है, और उपाधि का नाश ही अद्वैत वेदान्त में मोक्ष कहा गया है। अतः आचार्य शंकर का स्त्री के प्रति दृष्टिकोण समीचीन प्रतीत नहीं होता।

जैन दर्शन में स्त्री को मोक्षत्व लाभ से वंचित रखना संकीर्ण एवं पक्षपात दृष्टि का परिचायक है। यदि जैनधर्म में स्त्री जैन साध्वी बन सकती है तो मोक्ष लाभ क्यों नहीं कर सकती ? आचार्य विद्यासागर ने अपनी कृति में 'माटी' जैसे तुच्छ तत्त्व को नायिका का स्थान देकर जहाँ एक ओर अपनी उदार दृष्टि का परिचय दिया है वहीं दूसरी ओर भारतीय

चिन्तन धारा में व्याप्त स्त्री के प्रति संकीर्ण एवं पक्षपातपूर्ण रवैये का विरोध किया है। उनकी दृष्टि में माटी जैसा जड़ पदार्थ भी 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' कर, 'वर्ण-लाभ' कर श्रेय की प्राप्ति कर सकता है। इतना ही नहीं, नायिका रूप में मिट्टी का चित्रण कर स्त्री को उसका उचित स्थान प्रदान करना है। स्त्री के लिए प्रयुक्त पदों, यथा -- भीरु, अबला, कुमारी, सुता, दुहिता आदि की व्याख्या स्त्री के प्रति आचार्य के दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती है। आचार्य यह मानते हैं कि स्त्री स्वभाव से कुपथगामिनी नहीं होती, बल्कि :

''प्रायः पुरुषों से बाध्य हो कर ही
कुपथ पर चलना पड़ता है स्त्रियों को।'' (पृ. २०१)

स्त्री में विवेक स्वाभाविक है :

''कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।'' (पृ.२०२)

ये तो जीवन में मंगलमय माहौल लाती हैं और पुरुष को सही गन्तव्य का रास्ता बताती हैं, तभी तो 'महिला' कहलाती हैं। गृहस्थ आश्रम में प्रवेशकर पुरुष की काम-वासना को स्त्री संयत कर उसे पाप-पथगामी होने से बचाती हैं। वास्तव में मुनि कहलाने का वही अधिकारी है जिसकी दृष्टि में सभी प्राणी, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान हैं। इस दृष्टि से आचार्य विद्यासागर सच्चे अर्थ में मुनि हैं। माटी रूप जड़ पदार्थ को आध्यात्मिकता का लाभ प्राप्त करा आचार्य ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि जड़ तत्त्व बन्धन का कारण नहीं। बन्धन का कारण व्यक्ति की अपनी जड़ता है। यहाँ एक और बात ध्यान देने की है। जब मिट्टी जैसा भूतपदार्थ श्रेयलाभ कर सकता है तो भोगविलास के भौतिक साधनों से घिरा आज का मनुष्य जैसा चेतन प्राणी आत्मलाभ क्यों नहीं कर सकता ? वास्तव में 'मूकमाटी' का यही मुखर सन्देश है जो आज के सन्दर्भ में ठीक उतरता है। नाना प्रकार के उपभोग के भौतिक साधनों से घिरा आज का मानव दिग्भ्रमित हो रहा है। वह ऐन्द्रिय विषयों में सुख और शान्ति खोज रहा है। ऐसे समय में 'मूकमाटी' को पाठकों के हाथों में सौंप कर मानों परम कृपालु विद्यासागरजी ने उन्हें पतवार थमा दी है। 'मूकमाटी' मात्र काव्य नहीं है। यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है। एक ऐसा सन्त जिसने आध्यात्मिकता को अपने जीवन में जिया है, जिसने साधना के पथ पर सतर्कता के चलते हुए आत्मलाभ किया है। एक ऐसा सन्त जिसने तपस्या से अर्जित जीवन दर्शन को स्वानुभूति में उतारकर महाकरुणा से प्रेरित हो सबके लिए प्रगट किया है।

'मूकमाटी' काव्य और अध्यात्म का अनूठा संगम है। यद्यपि इसे महाकाव्य की परम्परागत परिभाषा से परिभाषित नहीं किया जा सकता, फिर भी परिमाण की दृष्टि से यह महाकाव्य की सीमाओं को स्पर्श करता है। चार खण्डों तथा लगभग पाँच सौ पृष्ठों में निबद्ध यह काव्य कृति अपने अन्दर महाकाव्य के अनेक गुणों को सँजोए हुए है। प्रथम पृष्ठ खोलते ही हमें प्रकृति का बड़ा ही सजीव चित्रण मिलता है :

''सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और'''इधर'''नीचे/निरी नीरवता छाई,
निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।'' (पृ. १)

शरद् वर्णन अपने में सानी नहीं रखता। सर्वत्र हिमपात हो गया है :

''पेड़-पौधों की/डाल-डाल पर/पात-पात पर हिम-पात है।
'''कम्पन के परिचय से/परिचित सब के गात हैं।'' (पृ. ९०)

लता-लतिकाएँ शिशिर छुवन से पीली पड़ गई हैं। इसी प्रकार कुमुदिनी, कमलिनी, चाँद, तारे, सुगन्ध, पवन आदि अनेक प्राकृतिक वर्णनों से यह काव्य ओत-प्रोत है। अवाँ का वर्णन पाठक के सामने मानों अवाँ का चित्र खींच देता है।

जहाँ तक शब्दालंकार और अर्थालंकार के प्रयोग का प्रश्न है, कवि ने एक नितान्त नया दृष्टिकोण अपनाया है जो काव्य जगत् के लिए अनूठा है। अनेक शब्दों का प्रचलित अर्थ में प्रयोग कर आचार्य उनकी संरचना की व्याख्या नैरुक्तिक पद्धति से करते हैं और उनमें छिपे नए-नए अर्थों को उद्‌भावित करते हैं। इस प्रकार शब्द में छिपे अन्तरंग अर्थ को प्रगट कर वह न केवल पाठक को चमत्कृत ही करते हैं बल्कि अर्थ के अछूते आयामों का दर्शन कराते हैं। उदाहरण के तौर पर 'गदहा',' सत्-युग', 'कलियुग', 'जलधी', 'सुधाकर', 'धरती', 'नदी', 'महिला', 'सुता' आदि की व्याख्याओं को देखा जा सकता है। शब्दों की यह नूतन व्याख्या कवि की अर्थान्वेषणी दृष्टि का परिचायक है।

द्वितीय खण्ड में नव रसों की व्याख्या दर्शनीय है। यहाँ कवि ने रसों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उनकी हेय-उपादेयता पर भी विचार किया है। अहिंसावादी मुनि की धारणा है कि वीर और रौद्र जैसे कठोर रसों के सेवन से मानव-स्वभाव में विकृति आ जाती है :

- *"वीर-रस के सेवन करने से/तुरन्त मानव-खून*
  खूब उबलने लगता है/काबू में आता नहीं वह
  दूसरों को शान्त करना तो दूर,/शान्त माहौल भी खौलने लगता है
  ज्वालामुखी-सम।" (पृ. १३१)
- *"रुद्रता विकृति है विकार/समिट-शीला होती है।" (पृ. १३५)*

महाकाव्य की अपेक्षा के अनुरूप कवि ने 'मूकमाटी' में नायिका रूप में माटी और नायक रूप में कुम्भकार को दर्शाया है। यद्यपि यहाँ नायक-नायिका का चुनाव काव्य-परम्परा से हटकर हुआ है फिर भी नायिका माटी में अपने नायक कुम्भकार के प्रति वे सब भाव समाहित हैं जो एक मानवीय नायिका में पाए जाते हैं। माटी का अपनी विरह व्यथा का वर्णन, नायक कुम्भकार के लिए चिर प्रतीक्षा आदि के भावों को माटी में दर्शाकर कवि ने उसे एकदम सजीव बना दिया है। आदि से अन्त तक इस काव्य का पारायण करने पर कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि माटी एक निरा जड़ तत्त्व है। आचार्य ने इतने सुन्दर भावों से माटी को सँजोया है कि वह पाठक के हृदय पटल पर एक सुकुमार विरहणी की भाँति अंकित हो जाती है। काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से 'मूकमाटी' का अधिकांश भाग उद्धरणीय है, जो इस काव्य का अद्‌भुत गुण है।

प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि 'मूकमाटी' एक दार्शनिक काव्य है। जिन दार्शनिक तत्त्वों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है उसने 'मूकमाटी' को सच्चे अर्थों में काव्य के आसन पर आसीन कर दिया है। काव्यशास्त्रियों की दृष्टि में केवल मनोरंजन करना ही काव्य का प्रयोजन नहीं है बल्कि व्यवहार-बोध और कान्ता-सम्मत उपदेश देना भी काव्य का प्रयोजन है। स्वयं आचार्य ने सच्चे साहित्य की परिभाषा दी है :

"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्‌भव—सम्पादन हो/सही साहित्य वही है/अन्यथा,
सुरभि से विरहित पुष्प-सम/सुख का राहित्य है वह
सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

फलतः अधिक अर्थ की चाह, गणतन्त्र, आतंकवाद जैसे प्रासंगिक विषयों पर कवि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनकी दृष्टि में :

"अधिक अर्थ की चाह-दाह में/जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण, अर्थ ही त्राण/यूँ—जान-मान कर,
अर्थ में ही मुग्ध हो गया है/अर्थ-नीति में वह/विदग्ध नहीं है।" (पृ. २१७)

इतना ही नहीं अर्थ को सर्वस्व समझने वाले नर लोक-लाज की परवाह नहीं करते :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

इसीलिए उपनिषद् में वित्तैषणा से ऊपर उठने की बात कही गई है।

आतंकवाद के कारणों का विश्लेषण कर कवि ने इससे बचने का उपदेश दिया है। उनकी दृष्टि में यह निश्चित है :

"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अतिशोषण का भी/यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)

कलिकाल का वर्णन करते समय कवि ने यह स्पष्ट करना चाहा है कि कैसे आज सभी स्टील के बर्तनों को पसन्द कर रहे हैं। प्राकृतिक औषधियों से उपचार को भूल गए हैं। इस कलिकाल में शान्त-भाव-सृजक सात्त्विक भोजन को त्यागकर व्यक्ति राजसिक और तामसिक आहार ग्रहण कर रहा है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक रोग और दरिद्रता समाज में छा गई है।

अणु शक्ति के दुष्परिणामों को उजागर कर कवि ने पाठक की दृष्टि को इस ओर मोड़ने का प्रयास किया है कि अणुशक्ति के प्रयोग में यदि ऊपरवाले का दिमाग चढ़ जाय तो वह विनाश का, पतन का ही पाठ पढ़ा सकता है। कवि की यह उक्ति तृतीय विश्व युद्ध के प्रसंग में कितनी खरी उतर रही है। आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद के श्रीगणेश की कामना संसार की वर्तमान समस्याओं के प्रति आचार्य की जागरूकता को सूचित करती है। इस दृष्टि से आचार्य विद्यासागर की तुलना महाभारत के उस कृष्ण से की जा सकती है जो एक ओर अर्जुन को जीवन के परम पुरुषार्थ का बोध कराते हैं तो दूसरी ओर कर्म करने के लिए प्रेरित करते हैं।

'मूकमाटी' कवि प्रतिभा का अनूठा उदाहरण है। सन्त कवि विद्यासागर में कवित्व बीज रूप संस्कार विशेष के प्रस्फुटन का परिणाम 'मूकमाटी' है। लोकशास्त्र काव्य आदि के अवेक्षण से प्राप्त निपुणता का इस काव्य में यत्र-तत्र दर्शन होता है। उदाहरण के लिए इन्द्र-मेघ युद्ध, विज्ञान से उपमाएँ, प्राकृतिक चिकित्सा शास्त्र, परावाक् का विवेचन आदि ऐसे प्रसंग हैं जो कवि के बहुविध ज्ञान को दर्शाते हैं।

'मूकमाटी' निरा काव्य नहीं है बल्कि एक दार्शनिक कृति भी है। सन्तकवि ने दर्शन के नीरस तत्त्वों को इतने सरस ढंग से प्रतिपादित किया है कि वे सहज ही पाठक के हृदय में घर कर जाते हैं। सच भी है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं।" (पृ. १०६)

फलतः माटी जैसे तुच्छ जड़ तत्त्व को आध्यात्मिकता के स्तर तक उठाकर कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस भौतिक शरीर में ही ज्ञानोदय सम्भव है। शरीर निश्चय से धर्म का साधन है। इस सम्यक् सरकनेवाले संसार से छुटकारा पाना ही जीवन का परम लक्ष्य है। इस संसार में जीव चार गतियों, चौरासी लाख योनियों में भटक रहा है। इस संसरण का स्पष्टीकरण आचार्य ने बड़े ही वैज्ञानिक ढंग से किया है। व्यक्ति की बाह्योन्मुखी दृष्टि ही उसके पतन का, उसके भ्रमित होने का, उसके बन्धन का काव्य है, जबकि आत्मदर्शन उसे संसार चक्र से मुक्त करता है :

"तुम्हारी दृष्टि का अपराध है वह/क्योंकि
परिधि की ओर देखने से/चेतन का पतन होता है
और/परम-केन्द्र की ओर देखने से/चेतन का जतन होता है।
परिधि में भ्रमण होता है/जीवन यूँ ही गुज़र जाता है,
केन्द्र में रमण होता है/जीवन सुखी नज़र आता है।" (पृ. १६२)

उपनिषद् में भी बाह्योन्मुखी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने की बात कही गई है। 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। जब तक स्वभाव की अनभिज्ञता रहेगी, जब तक स्वरूप-बोध नहीं होगा तब तक मोहावरण भंग नहीं हो सकता :

"यह देही मतिमन्द/कभी-कभी/रस्सी को सर्प समझकर
विषयों से हीन होता है···तो···कभी/सर्प को रस्सी समझ कर
विषयों में लीन होता है।/यह सब मोह की महिमा है
इस महिमा का अन्त/तब तक हो नहीं सकता
स्वभाव की अनभिज्ञता/जीवित रहेगी जब तक।" (पृ. ४६२)

मोह एवं मोक्ष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके परिणामों को आचार्य ने बड़े सुन्दर ढंग से स्थान-स्थान पर व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि में :

- *"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है–*
  एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है!
  एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)
- *"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।*
  और/अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है।" (पृ. ९३)
- *"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है*
  और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही
  मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

उक्त पंक्तियों में आचार्य ने जैन दर्शन और उपनिषद् दर्शन के तत्त्वों को गूँथ दिया है।

मोह और मोक्ष की ओर ले जाने वाला यह मन ही है। उपनिषद् में भी मन को ही बन्धन एवं मोक्ष का कारण कहा गया है। स्थिर मन, जिसे योग में समाहित चित्त या समाधि कहा गया है, मोक्ष का कारण माना गया है। जबकि अस्थिर मन बन्धन का कारण है :

"स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और/अस्थिर मन ही
पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,/एक सुख का सोपान है
एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०९)

यह संसार इस मन की ही छलना है। यह माया की खान है। इसी की छाया में 'मान पनपता है'। इसीलिए कवि ने मन की गुलामी से मुक्त होने की बात कही है। न-'मन' स्थिति को प्राप्त कर ही सच्चा 'समण' मानव बन सकता है। यही मन दूषित होने पर अशुभ कर्मों के द्वारा बन्धन का कारण बन जाता है।

इस मन को मोक्ष साधन के अनुरूप बनाने के लिए इसमें सद्गुणों का आधान आवश्यक है। सम्पूर्ण गाँठ प्रसंग में आचार्य ने अहिंसा को सर्वश्रेष्ठ सद्गुण माना है। उनकी दृष्टि में सही आदमी वही है जो वास्तव में 'आ-दमी' है। उनके मत में :

"जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
...ग्रन्थि-हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)

इस अहिंसा को सिद्ध करने के लिए प्रतिशोध भावना का दमन आवश्यक है। बदले की भावना वह अनल है जिसमें तन और मन भव-भव तक जलते रहते हैं। प्रतिशोध की ज्वाला में जलने के कारण ही रावण का बल कम हुआ था और वह रो पड़ा था, जिससे 'रावण' कहलाया। प्रतिशोध के भाव को कम करने के लिए मृदु स्वभाव को धारण करना आवश्यक है। धरती अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी प्रतिकार नहीं करती। इसीलिए वह सर्वसहा कहलाती है। आचार्य के मत में :

"सर्व सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में
सन्तों का पथ यही गाता है।" (पृ. १९०)

मन की स्थिरता, सद्गुणों के आधान तथा मोहभंग के लिए साधक को अध्यात्म पथ का पथिक बनना अनिवार्य है। मात्र दर्शन के पारायण से कोई भी आत्मलाभ नहीं कर सकता। दर्शन और अध्यात्म में भेद बताते हुए आचार्य ने कहा है कि दर्शन बुद्धिपरक होता है, वह तर्कणा प्रधान है। जबकि अध्यात्म स्वस्थ ज्ञान है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/...अध्यात्म स्वाधीन नयन है
दर्शन पराधीन उपनयन/...स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।" (पृ. २८८)

इस अध्यात्म की निरन्तर साधना करनी चाहिए। यह सम्भव है कि इस साधना में व्यवधान आएँ फिर भी साधक को महावीर की भाँति अपने पथ से डिगना नहीं चाहिए। तपस्या की अग्नि में तपकर ही साधक घट की भाँति निर्दोष हो जाता है। दोषों को जैन मत में अजीव तथा जीव से कथंचित् बाह्य माना गया है जबकि अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य आदि गुणों को जीव का स्वभाव माना है। तभी तो कवि यह कामना करता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथंचित् ;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।"(पृ. २७७)

इस साधना की चरम परिणति मोक्ष है जिसमें तन, मन और वचन के बन्धन आमूल मिट जाते हैं। यह वह शुद्ध दशा है जिसमें अविनश्वर सुख मानव को प्राप्त होता है। वह संसरण चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

दर्शन और काव्य के अतिरिक्त बहुत कुछ प्रासंगिक और आनुषंगिक इस महाकाव्य में है। सुन्दर लोकोक्तियाँ एवं मुहावरे, अंकों और बीजाक्षरों के चमत्कार, आधुनिक विज्ञान की नवीन खोजें, जो 'स्टार-वार' तक का संकेत देती हैं, इस काव्य में निहित हैं। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त है कि आद्योपान्त इस काव्य का पारायण कर पाठक बिना साधुवाद के रह नहीं पाता।

□

जैन दर्शन पर आधारित प्रतीकात्मक महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. भानुदेव शुक्ल

आचार्य विद्यासागर का महाकाव्य 'मूकमाटी' जैन दर्शन पर आधारित प्रतीकात्मक महाकाव्य है। किन्तु, इसको संकुचित साम्प्रदायिकता का काव्य समझना भारी भूल होगा, क्योंकि यह मूलत: उस आध्यात्मिक चेतना का उन्नायक है जो प्राणिमात्र के प्रति करुणा सम्पन्न किसी भी धर्म का मूलाधार मानी जा सकती है।

सामान्य माटी को सुपात्र अथवा मंगल घट का रूप धारण करने के पहले न जाने कितनी साधनाओं तथा तपस्या में सभी विकारों का होम करना आवश्यक होता है। इनमें सबसे प्रमुख है 'स्व'–भावना का त्याग, जो परिग्रह का विकास करती है। माटी जब घट बन जाती है तो उसका धर्म हो जाता है धारण किए हुए के कण-कण को बाँट देना। ऐसे जन, जो इस धर्म का पालन करते हैं, सन्तजन कहलाते हैं।

शास्त्रीय परिभाषा में बँधकर 'मूकमाटी' को खण्ड काव्य ही माना जाएगा। किन्तु, महाकाव्य का फलक जितना व्यापक हुआ करता है उसके अनुसार इसको महाकाव्य मानना ही उचित है। यह ऐसा महाकाव्य है जिसमें अध्यात्म का निगूढ़ रहस्य तथा गहन जीवन तत्त्व प्रकट हुआ है। ऐसी रचनाओं में कथा तत्त्व अत्यन्त क्षीण हुआ करता है। 'मूकमाटी' में भी कथानक अत्यल्प है। प्रतीक में होने तथा दर्शन प्रधान होने से निश्चय ही महाकाव्य आम आदमी को जटिल लगेगा। प्रतीक तो सीधा और स्पष्ट है किन्तु उसके साथ अनेक प्रसंग जुड़े हैं जो तत्त्व चिन्तन से भारी हो गए हैं। अर्थात् काव्य पीछे छूट गया है और अध्यात्म विवेचन प्रमुख हो गया है।

प्रतीक में प्रस्तुत (प्रत्यक्ष) के माध्यम से अप्रत्यक्ष की व्यंजना होती है। 'मूकमाटी' में प्रस्तुत है सामान्य माटी, उसके परिशोधन, कुम्भ के आकार देने तथा पक्व बनाने के प्रसंग। अप्रस्तुत है सामान्य का ईश्वर बनने की प्रक्रिया, जिसमें साधना के बल पर 'स्व' की अहंकार मूलकता से मुक्ति पाकर निर्मल चरित्र को पाना। कवि-आचार्य ने इसी को पुरुषार्थ कहा है। शरीर-धर्म में मानव अन्य प्राणियों के समान है किन्तु अध्यात्म की सिद्धि द्वारा वह विशिष्ट बन जाता है। यदि मानव अपने विवेक को सुप्त रहने देता है तो वह किस अर्थ में प्राणियों में श्रेष्ठतम है? सामान्य माटी जब कुम्भकार की कल्पना को सार्थक करती है तब वह मंगल घट बन जाती है। उसमें परमात्मा की अभिव्यक्ति होने लगती है, वह मूकमाटी नहीं रह जाती :

> *"आस्था के तारों पर ही/साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं साधक की,*
> *सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है!" (पृ. ९)*

कवि-आचार्य की शब्दों की व्युत्पत्ति तथा उनमें अन्तर्निहित अर्थों की तलाश में विशेष रुचि दिखाई देती है :

- *" 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य–/यहाँ पर जो*
  भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)
- *"अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,/'पराधी' नहीं*
  पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो!" (पृ. ४७७)
- *"स्वप्न प्राय: निष्फल ही होते हैं/इन पर अधिक विश्वास हानिकारक है।*
  'स्व' यानी अपना/'प्' यानी पालन-संरक्षण/और/'न' यानी नहीं।" (पृ. २९५)

- *"सब तनों में 'वर'-तन" (पृ. ३३२) –(बर्तन)*
- *" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है*
  अपने में लीन होना ही 'नियति' है।" (पृ. ३४९)
- *" 'पुरुष' यानी आत्मा –परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है*
  आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
  सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

इस प्रकार व्युत्पत्तियाँ पुस्तक में भरी पड़ी हैं। इनमें शब्दों के अर्थ देने की जो चेष्टा है वह रचना की अध्यात्मपरक चेष्टा से ही जुड़ी हुई है। तथापि, इनमें चमत्कृत करने से अधिक कुछ की प्राप्ति कदाचित् ही होती है। यह रूपवादी आग्रह एक सोद्देश्यपूर्ण रचना में एक सीमा तक ही सार्थक हो सकता है, उससे आगे बढ़ने पर इसका प्रभाव क्षीण हो सकता है। अवश्य ये व्युत्पत्तियाँ दर्शन-ज्ञान के उद्देश्य से हैं, किन्तु इनके प्रयोग अधिक सावधानी की माँग करते हैं।

'मूकमाटी' में कथानक नाम मात्र का है। इसलिए चारित्रिक विशेषता-सम्पन्न कोई पात्र भी नहीं है। इसका मूल स्वर मानव चरित्र के उत्थान का है। इसमें दार्शनिक चिन्तन का प्राधान्य हैं। कवि के पास सुनिश्चित चिन्तन एवं दर्शन है :

"बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही/दर्शन का पान करती है,
अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा/निरंजन का गान करती है।
दर्शन का आयुध शब्द है–विचार,/अध्यात्म निरायुध होता है
सर्वथा स्तब्ध-निर्विचार !/एक ज्ञान है, ज्ञेय भी
एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८८-२८९)

यह कहते हुए भी कवि ने अभिव्यक्ति के लिए दर्शन को ही ग्रहण किया है।

जटिल दार्शनिक अभिव्यक्तियों के बीच सामान्य जीवन के जाने-पहचाने उदाहरण देकर कवि ने पाठक को दर्शन-भार से यहाँ-वहाँ मुक्त भी किया है :

- *"भूखी गाय के सम्मुख/जब घास-फूस चारा डाला जाता है/ऊपर मुख उठा कर*
  रक्षकों के आभरणों-आभूषणों को/अंगों-उपांगों को नहीं देखती वह।" (पृ. ३३३)
- *"बबूल के ठूँठ की भाँति/मान का मूल कड़ा होता है।" (पृ. १३१)*
- *"पाक-शास्त्री की पहली रोटी/करड़ी क्यों बनती, बेटा !" (पृ. ११)*

इसी प्रकार श्वान और सिंह के चरित्रगत अन्तर की व्याख्या में गूढ़ तथ्य प्रकट किए गए हैं :

"मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो
नवनीत का लाभ अवश्य होता है।" (पृ. १३-१४)

इस जैसी उक्तियों में भी ज्ञान का स्वरूप वैसा ही गम्भीर है जैसा कि निम्न पंक्तियों में है :

"परा-वाक् की परम्परा/पुरा अश्रुता रही, अपरिचिता/लौकिक शास्त्रानुसार
वह योगिगम्या मानी है,/मूलोद्गमा हो, ऊर्ध्वानना

नाभि तक यात्रा होती है उसकी/पवन-संचालिता जो रही!" (पृ. ४०१)

नाड़ी चक्र या कुण्डलिनी आदि के रहस्य को कितने व्यक्ति समझ पाएँगे ? विपश्यना की चर्चा शायद अधिक बोधगम्य रूप में रूपकों के माध्यम से हो सकती थी। सम्भवत: कवि की दृष्टि में विभिन्न बौद्धिक स्तरों से बना सम्पूर्ण समाज रहा होगा।

सामान्यत: काव्य तत्त्व का भली प्रकार निर्वाह हुआ है, यथा :

- *"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति/अपने पतिदेव चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं।" (पृ. २)*
- *"दशा बदल गई है/दशों दिशाओं की/धरा का उदारतर उर/और उरु उदर ये/गुरु-दरारदार बने हैं/जिनमें प्रवेश पाती हैं आग उगलती हवायें ये/अपना परिचय देती-सी रसातल-गत उबलते लावा को।" (पृ. १७७)*
- *"वह राग कहाँ, पराग कहाँ/चेतना की वह जाग कहाँ वह महक नहीं, वह चहक नहीं,/वह ग्राह्य नहीं, वह गहक नहीं।"(पृ. १७९)*

इन प्रसंगों में लय का वह स्वरूप है जिसमें कविता मानों झूमती, इठलाती अग्रसर होती है। दूसरी ओर, एकाध स्थलों पर बड़ी शिथिल पंक्तियाँ भी हैं :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

कविता के विशेषज्ञ ही इस काव्य कृति के शिल्प पक्ष पर साधिकार कुछ कह सकते हैं। हम तो एक अत्यन्त सामान्य कविता प्रेमी तथा साहित्य के विद्यार्थी के रूप में यही अनुभव करते हैं कि काव्य की गति सर्वत्र एक-सी सहज नहीं है। लगता है कि कुछ पंक्तियों को आवश्यक मान कर बेमन से जोड़ा गया है।

हमारी सीमित जानकारी के अनुसार 'मूकमाटी' हिन्दी की अपने ढंग की अनूठी काव्य कृति है जिसमें कथानक तथा चरित्र अत्यन्त गौण हैं। ऐसी रचना को विद्वान् महाकाव्य मानने से इनकार कर सकते हैं। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'हिन्दी साहित्य—बीसवीं शताब्दी' में मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' पर विचार करते हुए महाकाव्य की अपनी परिभाषा दी थी–"महाकाव्य की रचना जातीय संस्कृति के किसी महाप्रवाह; सभ्यता के उद्गम, संगम, प्रलय; किसी महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष अथवा आत्मतत्त्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित करने के लिए की जाती है।" अपने श्रद्धेय गुरुवर की परिभाषा को आधार रूप मानते हुए हम आलोच्य रचना को महाकाव्य मानते हैं, क्योंकि यह 'आत्मतत्त्व के किसी चिर अनुभूत रहस्य को प्रदर्शित' करने वाली रचना है। आत्म तत्त्व का यह अनुभूत रहस्य कम से कम छब्बीस शताब्दियों से हमारे महापुरुष देते रहे हैं। हिन्दी में काव्य रूप में हमको अवश्य 'मूकमाटी' के माध्यम से ही मिला है। यह आत्म तत्त्व केवल जैन मत को मानने वालों की नहीं बल्कि स्वार्थ, हिंसा, विनाशकारी युद्धों से त्रस्त तथा असहाय मानव मात्र की पूँजी है। मानववादी चिन्तन की सीमाओं को हम देखते आ रहे हैं। अब मानवतावादी अवधारणा की प्रतिष्ठा की आवश्यकता है, अन्यथा सम्पूर्ण विश्व के सामने भयावह भविष्य उपस्थित है। इस महाकाव्य का महत्त्व इस पृष्ठभूमि में विशेष हो गया है।

□

'मूकमाटी' में प्रशासनिक एवं न्यायिक दृष्टि

सुरेश जैन

आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण धरोहर है। पारस धाम नैनागिरि की माटी में 'मूकमाटी' महाकाव्य की पूर्णता की जानकारी पूर्णता के कुछ ही क्षणों में प्राप्त कर हमें हार्दिक प्रसन्नता हुई थी। इसके पूर्व वरिष्ठ विद्वानों, साहित्यकारों एवं अपनी पत्नी विमला जैन, जिला एवं सत्र न्यायाधीश के साथ बैठकर इस लेखक ने नैनागिरि की सिद्ध शिला पर विराजमान आचार्य विद्यासागरजी के मधुर कण्ठ से इस महाकाव्य की अनेक पंक्तियाँ सुनने का अनुपम सौभाग्य प्राप्त किया है।

नैनागिरि में जन्मी यह 'मूकमाटी' प्रत्येक मानव में शाश्वत जीवन मूल्यों की स्थापना कर संस्कृति के विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान करती है। यह प्रत्येक व्यक्ति को संजीवनी शक्ति प्रदान करती हुई अपनी उत्कृष्ट वैचारिक क्रान्ति द्वारा युगीन जीवनादर्शों की स्थापना करती है। पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में (बुधवार, २५ अप्रैल, १९८४) को प्रारम्भ हुई तथा पारसनाथ की समवसरण भूमि नैनागिरि, छतरपुर, मध्यप्रदेश में (बुधवार, ११ फरवरी, १९८७) को पूरी हुई यह 'मूकमाटी' विश्व के प्रत्येक प्राणी को विकास के समान एवं समुचित अवसर उपलब्ध कराती है और प्रकाश स्तम्भ की भाँति उसे उत्कर्ष के सर्वोच्च शिखर का पथ प्रशस्त करती है।

मानवीय धर्म के बिना राजनीति, न्यायपालिका और कार्यपालिका पंगु होती है, क्योंकि प्रत्येक व्यवस्था मानव को केन्द्र में रखकर ही निर्मित की जाती है। व्यवस्था का यह त्रिकोण समाज का आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। आज राजनीतिक, न्यायिक एवं प्रशासकीय पंगुता अपने शिखर पर है। हमें अपने राजनीतिज्ञों, न्यायविदों एवं प्रशासकों में मानवीयता के शाश्वत मूल्य स्थापित करना आवश्यक है जिससे ऊँचे पद पर बैठ कर उन्हें अपने बन्धु-बान्धवों एवं सामान्य व्यक्ति के साथ मानवीय व्यवहार करने में हीनता की भावना न हो। यदि राजनीतिज्ञ, न्यायविद् और प्रशासक आचार्यश्री के चारित्रिक-साहित्यिक अवदान का शतांश भी अपने जीवन में उतार लें तो वे और हम लौकिक एवं आध्यात्मिक सम्पन्नता के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच सकते हैं।

प्रत्येक प्रशासनिक इकाई के सर्वांगीण विकास में संलग्न प्रशासकों के उत्थान के लिए अहंकारशून्यता एवं ऐन्द्रियसंयम की अवधारणा 'मूकमाटी' की इन पंक्तियों में साकार हो उठती है :

"विकास के क्रम तब उठते हैं/जब मति साथ देती है
जो मान से विमुख होती है,/और/विनाश के क्रम तब जुटते हैं
जब रति साथ देती है/जो मान में प्रमुख होती है।
उत्थान-पतन का यही आमुख है।" (पृ. १६४)

प्रशासकों एवं न्यायिक अधिकारियों से रचनाकार ने महती अपेक्षा की है कि वे सिंहवृत्ति अपनाएँ। मानवीय हितों के विपरीत सिद्धान्त विमुख होकर कोई समझौता न करें। समाचार एवं कृत्रिम आडम्बरों से स्वयं को अलग रखकर सदैव विवेकपूर्ण निर्णय लेकर समाज में उच्च कोटि के प्रशासनिक एवं न्यायिक मानदण्ड स्थापित करें। सन्त कवि ने इन पंक्तियों में यह भाव अभिव्यक्त किया है :

"पीछे से, कभी किसी पर/धावा नहीं बोलता सिंह,
गरज के बिना गरजता भी नहीं,/और/बिना गरजे

किसी पर बरसता भी नहीं–/यानी/मायाचार से दूर रहता है सिंह।
...सिंह विवेक से काम लेता है/सही कारण की ओर ही
सदा दृष्टि जाती है सिंह की।" (पृ. १६९-१७०)

अधिकांश न्यायिक एवं प्रशासनिक अधिकारी अपने शारीरिक सुख, पदोन्नति एवं वेतन वृद्धि के चिन्तन में अहर्निश संलग्न रहते हैं। उनके लिए निम्नांकित पंक्तियाँ वास्तविक जीवन लक्ष्य निर्धारित करने की प्रेरणा देती हैं :

"भोग पड़े हैं यहीं/भोगी चला गया,/योग पड़े हैं यहीं/योगी चला गया,
कौन किस के लिए–/धन जीवन के लिए/या जीवन धन के लिए ?
मूल्य किसका/तन का या वेतन का,/जड़ का या चेतन का ?" (पृ. १८०)

प्रत्येक अधिकारी को पुरुषार्थ एवं परिश्रम की प्रेरणा देते हुए पुरुषार्थ एवं परिश्रम के जीवन्त शीर्षपुरुष कहते हैं :

"बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है !" (पृ. २१२)

न्यायिक या प्रशासनिक अधिकारी का यह कर्तव्य है कि वह सही व्यक्ति पर अनुग्रह करें एवं समाजविरोधी आचरण को नियन्त्रित करें :

"शिष्टों पर अनुग्रह करना/सहज-प्राप्त शक्ति का/सदुपयोग करना है, धर्म है।
और,/दुष्टों का निग्रह नहीं करना/शक्ति का दुरुपयोग करना है, अधर्म है।"
(पृ. २७६-२७७)

राज्य शासन द्वारा अपने अधीनस्थ अल्प वेतनभोगी कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन एवं सुविधाएँ दी जाएँ और उन्हें विकास के अवसर उपलब्ध कराए जाएँ। इन सिद्धान्तों का चित्रण निम्नांकित पंक्तियों में उत्कृष्ट ढंग से किया गया है :

"थोड़ी-सी/तन की भी चिन्ता होनी चाहिए,/तन के अनुरूप वेतन अनिवार्य है,
मन के अनुरूप विश्राम भी।/मात्र दमन की प्रक्रिया से
कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती है।" (पृ. ३९१)

शासन का महत्त्वपूर्ण कार्यक्रम है अल्प बचत के लिए प्रोत्साहन। आचार्यश्री यह तथ्य इन पंक्तियों में इस प्रकार पुष्ट करते हैं :

"धन का मितव्यय करो, अतिव्यय नहीं
अपव्यय तो कभी नहीं,/भूलकर स्वप्न में भी नहीं।" (पृ. ४१४)

देश तथा प्रदेश में फैलता हुआ आतंक सामान्यजन की सतत उपेक्षा, उपहास, शोषण और अपमान का परिणाम है। यह स्थापित करते हुए आचार्यश्री नीति निर्धारकों को महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन देते हुए कहते हैं :

- *"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।*
  अति-पोषण या अति-शोषण का भी/यही परिणाम होता है,/तब
  जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,/बदले का भाव ···प्रतिशोध !
  जो कि/महा-अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव/पर के लिए नहीं,
  अपने लिए भी घातक !" (पृ. ४१८)
- *"नहीं···नहीं···नहीं···/लौटना नहीं !/अभी नहीं··· कभी भी नहीं···/क्योंकि*
  अभी आतंकवाद गया नहीं,/उससे संघर्ष करना है अभी/वह कृत-संकल्प है
  अपने ध्रुव पर दृढ़।/जब तक जीवित है आतंकवाद
  शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह,/ये आँखें अब
  आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,/ये कान अब
  आतंक का नाम सुन नहीं सकते,/यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
  उसका रहे या इसका/यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" (पृ. ४४१)

आइए, हम आचार्यश्री के दर्शन कर सन्त-संयत बनने की प्रेरणा लें तथा यथा उपलब्ध में सुखानुभूति करते हुए विकास के पथ पर आगे बढ़ें :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।
सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (पृ. ३५२)

दण्ड-संहिता का प्रमुख लक्ष्य अपराधी की उद्दण्डता को दूर करना है, उसे क्रूरता से दण्डित करना नहीं। वे काँटों को काटने की नहीं, बल्कि उनके घावों को सहलाने की हमें शिक्षा देते हैं। वे पापी से नहीं पाप से, पंकज से नहीं पंक से घृणा करने की हमें सीख देते हैं :

"प्राणदण्ड से/औरों को तो शिक्षा मिलती है,/परन्तु
जिसे दण्ड दिया जा रहा है/उसकी उन्नति का अवसर ही समाप्त।
दण्डसंहिता इसको माने या न माने,/क्रूर अपराधी को
क्रूरता से दण्डित करना भी/एक अपराध है,/न्याय-मार्ग से स्खलित होना है।"
(पृ. ४३१)

न्याय-शास्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि चोरी करने वाला तथा चोरी की प्रेरणा देने वाला समान रूप से दोषी है। आचार्यश्री इस सिद्धान्त से भी आगे बढ़कर उद्घोष करते हैं कि चोर को चोरी करने की प्रेरणा देने वाला व्यक्ति चोर से अधिक दोषी है :

"चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।" (पृ. ४६८)

राजनीति, प्रशासन और न्यायपालिका राज्यशक्ति के महत्त्वपूर्ण स्तम्भ हैं। इन शक्ति स्तम्भों के विभिन्न

पदों पर पदस्थ व्यक्तियों को इन पदों पर सदैव बने रहने की तृष्णा घेर लेती है। यह तृष्णा अत्यधिक कष्टदायक होती है। इस पद-लिप्सा एवं प्रशासनिक एवं न्यायिक अधिकारी की अन्तिम आकांक्षा को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :

> *"जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं,/पद-लिप्सा का विषधर वह*
> *भविष्य में भी हमें न सूँघे/बस यही भावना है, विभो !" (पृ. ४३४)*

अरिहन्त और जन-सन्त से हमारी यही याचना है कि वे हमें ऐसा विवेक दें कि हम राष्ट्र के उत्थान में सदैव संलग्न रहकर निम्नांकित पंक्तियों को अपने शेष जीवनकाल में तन-मन से गुनगुनाते रहें :

> *"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और/हम सब की*
> *धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।" (पृ. २६२)*

['सन्मति वाणी' (मासिक), इन्दौर-मध्यप्रदेश, सितम्बर, २०००]

□

'मूकमाटी' : श्रेष्ठ आध्यात्मिक महाकाव्य

डॉ. फ़ैयाज़ अली खाँ

'मूकमाटी' साहित्य के क्षेत्र में एक अनुपम एवं बेजोड़ ग्रन्थ है। इसके द्वारा एक नितान्त नवीन विधा का सृजन हुआ है। इस प्रकार की कोई कृति मेरी दृष्टि में नहीं आई। 'न भूतो' तो मेरा विश्वास बना ही है, 'न भविष्यति' कहने का मैं साहस करता हूँ, यदि स्वयं आचार्यश्री ही इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थ प्रणयन की कृपा न करें।

ग्रन्थ प्रकाशन संस्था भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली के श्री लक्ष्मीचन्द्रजी ने ग्रन्थ के विद्वत्तापूर्ण 'प्रस्तवन' में एक प्रश्न उठाया है कि 'मूकमाटी' को 'महाकाव्य कहा जाय या खण्ड-काव्य या मात्र काव्य ?' ग्रन्थ के सम्बन्ध में ऐसी दुविधा का कोई स्थान ही नहीं हो सकता। एक नई विधा को जन्म देने वाला यह ग्रन्थ महाकाव्य ही सिद्ध होता है, और सोने में सुगन्ध रूप एक परम श्रेष्ठ आध्यात्मिक महाकाव्य। फलतः उसके आकलन के तो मानदण्ड ही नए होंगे। दण्डी के 'काव्यादर्श', विश्वनाथ कविराज के 'साहित्य दर्पण' प्रभृति ग्रन्थों में विवेचित महाकाव्यों के मानदण्ड तो केवल सांसारिक महाकाव्यों पर लागू होते हैं। उनसे इस महाकाव्य का आकलन करना असमीचीन ही नहीं, अनावश्यक भी होगा। कारण, सांसारिक महाकाव्यों का प्रणयन लौकिक रस सृष्टि, पाण्डित्य प्रदर्शन एवं तत्सम्बन्धी प्रतिभा-प्रकटन-प्रयास को ध्यानान्तर्गत रख कर किया जाता है। 'मूकमाटी' ग्रन्थ में तो मात्र आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों को स्थान दिया गया है। सांसारिक महाकाव्यों में बुद्धि व्यायाम की अपेक्षा रहती है, 'मूकमाटी' को समझने के लिए आत्मसाधित अलौकिक अनुभव अनिवार्य है; सांसारिक महाकाव्य भव-पोषक होते हैं, 'मूकमाटी' भवनाशिनी है; सांसारिक महाकाव्य प्रवृत्तिपरक होते हैं, 'मूकमाटी' है निवृत्ति नियामक; एक का उद्देश्य संसार है, 'मूकमाटी' का मोक्ष; एक में क्षणिक सुखों की अनन्त प्रेरणा है, 'मूकमाटी' में आत्म प्राप्ति के सैद्धान्तिक उपाय।

सांसारिक महाकाव्यों के नायक सम्राट् अथवा यदा-कदा प्रसिद्ध व्यक्ति होते हैं, 'मूकमाटी' में ऐसे नायकों के स्थान पर नगण्य वस्तु 'माटी' को प्रतिष्ठित किया गया है। ये क्रमशः भोग एवं विराग के प्रतीक हैं। एक में कर्म लिप्ति है, दूसरे में कर्म नाश। आचार्य समन्तभद्र ने कितनी सुन्दर भावना का वर्णन 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' के इस श्लोक में किया है :

"देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥"

आचार्यों एवं सन्तों का उच्चतम लक्ष्य ही प्रवचनों द्वारा धर्मोद्बोधन है। फलतः प्रवचनों में आत्म तत्त्व विवेचन, उपदेश, हित कथन, मार्गदर्शन आदि उपकरणों का उद्धरण, उदाहरण सहित प्रस्तुतीकरण रहता है। 'मूकमाटी' में उन सब का प्राचुर्य है। अतः मैं तो इसे आध्यात्मिक महाकाव्य के अतिरिक्त एक महान् प्रवचन की संज्ञा भी देना चाहूँगा।

'मूकमाटी' की रूपरेखा एवं कथावस्तु का विशुद्ध विवरण तो उपर्युक्त 'प्रस्तवन' में अत्यन्त सुचारु रूप से दिया जा चुका है। उस ओर किंचित् भी परिवर्धन का प्रयत्न मात्र दुस्साहस ही कहा जाएगा। यहाँ केवल कतिपय अन्य बिन्दुओं का संक्षिप्त वर्णन पर्याप्त होगा।

चिन्तन पद्धति : एक विशाल हृदय ग्रन्थकार का चिन्तन सार्वभौमिक हुआ करता है। उसी के फलस्वरूप अनेक देशों के साहित्यिक महारथियों के चिन्तन में समानता अनायास ही आ जाती है। 'मूकमाटी' के कुछ उदाहरण अवलोकनीय हैं :

जीवन की वास्तविकता एवं तथ्यात्मकता की प्रतीति का एक सटीक कथन :

''अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं
और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !
अर्थ यह हुआ कि/पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और
पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।'' (पृ. ३३)

ठीक ऐसा ही विचार अँग्रेजी साहित्य में उपलब्ध है :

"When the things are at their worst, they must mend."

उर्दू के प्रख्यात शायर 'ग़ालिब' की कविता में भी यही चिन्तन है :

''दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना।''

ग्रन्थ में न्याय सम्बन्धी चला आ रहा एक विश्वास इस प्रकार है :

''आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।'' (पृ. २७२)

यही भाव शेक्सपियर के एक नाटक में है :

"Justice delayed is justice denied."

इसी प्रकार :

''पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से
घृणा करो/अयि आर्य !'' (पृ. ५०-५१)

जबकि अँग्रेजी में सुनते आए हैं :

"Hate the sin, not the sinner.'

आचार्यश्री ने चिन्तन को समाज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में रख कर जाँचा है। ''वसुधैव कुटुम्बकम्'' की इस सम्बन्ध में व्याख्या द्रष्टव्य है :

''''वसुधैव कुटुम्बकम्''/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।'' (पृ. ८२)

शैली : इस शीर्षक में केवल दो बिन्दुओं की ओर संकेत है—मानवीकरण एवं प्रतीक विधान। माटी का मानवीकरण तो ग्रन्थ का वैशिष्ट्य ही है। उसके अतिरिक्त जिन उपकरणों का मानवीकरण हुआ है उनमें से कुछ ये हैं– अवा, अग्नि, कुम्भ, मछली, स्फटिक माला, लेखनी आदि। प्रतीक शैली भाषा सौष्ठवार्थ में अनेक बार अपरिहार्य होती है। वेदों में उसका प्रचुर उपयोग है। प्रतीकों के भाव जाने बिना वेदों का अध्ययन दुष्कर है। विशेषत: साहित्यिक ग्रन्थों में प्रयुक्त प्रतीकों की जानकारी, भावों की थाह लेने के लिए आवश्यक होती है। 'मूकमाटी' के कुछ प्रतीक हैं : बालटी, रजत

कलश, स्फटिक झारी, राख आदि। यह बात यहाँ ध्यान में रखने की है कि अनेक उपकरण प्रतीकात्मकता एवं मानवीकरण दोनों शीर्षकों में परिगणित किए जाने योग्य हैं।

शब्द शक्तियाँ : 'मूकमाटी' में अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना की परिभाषा (पृ. ११०) एक नए ही प्रकार से की गई है, साथ ही 'साहित्य' शब्द की परिभाषा भी इन शब्दों में प्रस्तुत है :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से
सुख का समुद्भव–सम्पादन हो/सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

भाषा : ' मूक माटी' ग्रन्थ अतुकान्त कविता में लिखा गया है। इसकी भाषा शुद्ध हिन्दी है। प्रवाह में सरल, वाग्धारा में स्फीत, शब्दों के संगुम्फन में सुष्ठु, वाक्य विन्यास में विमल। इसमें अनेक स्थानों पर भाषा सौकुमार्य मुहावरों एवं अलंकारों का समुचित प्रयोग है। यदा-कदा लोकोक्तियों को भी देखा जाता है :

लोकोक्ति : ◘ *"दाँत मिले तो चने नहीं,/चने मिले तो दाँत नहीं,*
और दोनों मिले तो···/पचाने को आँत नहीं···!" (पृ. ३१८)

◘ *"पूत का लक्षण पालने में।" (पृ. १४ एवं ४८२)*

प्रथम की प्रारम्भिक दो पंक्तियों में जो मूल लोकोक्तियाँ हैं, उनमें आचार्यश्री ने अपनी ओर से अन्तिम दो पंक्तियों में परिवर्धन कर मानों अपूर्ण लोकोक्तियों को पूर्णता प्रदान की है।

मुहावरे : 'बिना दाग होना' (पृ. २८), ' पकड़ में आना'(पृ. १२१), 'स्मिति का उभर आना' (पृ. १२६), 'लाल हो उठना' (पृ. ३७९)।

कविता : आधुनिक युग में कविता प्रमुखतः पाठ्य हो गई है, किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति, गेयता को पूर्ण रूप से दबाना शक्य नहीं। वह जाने- अनजाने गेय हो ही जाती है। इस प्रवृत्ति के केवल दो-एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत हैं :

"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !" (पृ. ३२५)

यह विशुद्ध 'दोहा' है, अपने कर्म में भाषा को सँवारता-सा।

और तो और, गेयता प्रेरित कुछ पंक्तियाँ अतुकान्त ढाँचे में से चुनी जा सकती हैं। उन्हें सहज ही प्रच्छन्न रूप में विद्यमान पाया गया और एक सुन्दर रुबाई उपलब्ध हुई। देखिए :

"क्रोध-भाव का शमन हो रहा है।—१
...पल - प्रतिपल/पाप-निधि का प्रतिनिधि बना
प्रतिशोध-भाव का वमन हो रहा है।—२
पल - प्रतिपल/पुण्य-निधि का प्रतिनिधि बना
बोध-भाव का आगमन हो रहा है,
और/अनुभूति का प्रतिनिधि बना —३

शोध-भाव को नमन हो रहा है।" —४ (पृ. १०६)

उपर्युक्त रुबाई १, २, ३, ४ – पंक्तियों को एक साथ पढ़ने पर प्राप्त होती है–सभी प्रकार से पूर्ण एवं क़ाफ़िया (.....) रदीफ़ (.....) से सुसज्जित।

सुष्ठु शब्द संगुम्फन एवं विमल वाक्य विन्यास के उदाहरण देना आवश्यक नहीं हैं। वे तो उपवन में फूलों की तरह रंग-बिरंगे रूपों में 'मूकमाटी' में बिखरे हुए हैं।

अलंकार : ग्रन्थ में अलंकार, वस्तुत: भाषा की सौन्दर्य वृद्धि ही करते हैं, उसे बोझिल नहीं बनाते। कुछ प्रमुख शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों की चर्चा ही सम्भव होगी :

अनुप्रास :
- *"जल को जड़त्व से मुक्त कर/... उत्तुंग-उत्थान पर धरना,*
  धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।" (पृ. १९३)

यमक :
- *"यह सन्ध्याकाल है या/अकाल में काल का आगमन!" (पृ. २३८)*
- *"कोई अकेला/कर में ले केला!" (पृ. ३१४)*
- *"आज श्वास-श्वास पर/विश्वास का श्वास घुटता-सा।" (पृ. ७२)*
- *"मर हम मरहम बनें।" (पृ. १७४)*

श्लेष :
- *"यही मेरी कामना है/कि /...काम ना रहे!" (पृ. ७७)*

शब्द 'कामना' एवं 'काम ना' में सभंग श्लेष छटा द्रष्टव्य है, जो वैष्णव कविता से एक तुलनीय उदाहरण रूप भी है :

"जहाँ यमना है, तहाँ यम ना है।"

काव्यलिंग :
- *"अपने साथ दुर्व्यवहार होने पर भी/प्रतिकार नहीं करने का*
  संकल्प लिया है धरती ने,/इसीलिए तो धरती
  सर्व-सहा कहलाती है/सर्व-स्वाहा नहीं···।" (पृ. १९०)

- *"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो!/यानी/'गद' का अर्थ है रोग*
  'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
  ···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा··गदहा··!" (पृ. ४०)

नोट : यह एक विचित्र संयोग (एवं विश्वास) राजस्थान के कुछ भागों में अभी भी प्रचलित है कि गदहे का रेंकना शीतला रोग को मिटाता है। गदहे कुम्भकारों के यहाँ रखे जाते हैं और यहाँ कुम्भकार अनेक स्थानों पर शीतला माता के मन्दिरों में पुजारी होते आए हैं। गदहा शीतला का 'वाहन' भी है।

श्लेष गर्भित काव्यलिंग का एक और सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है :

"कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं
हम हैं कृपाण/हम में कृपा न!" (पृ. ७३)

उत्प्रेक्षा : इस अलंकार का विज्ञान मण्डित रूप इस उदाहरण में प्रस्तुत है :

"लेखनी से हुई इस तुलना में/अपना अवमूल्यन जान कर ही मानो,
निर्दय हो टूट पड़े/भू-कणों के ऊपर अनगिन ओले।

प्रतिकार के रूप में/अपने बल का परिचय देते
मस्तक के बल भू-कणों ने भी/ओलों को टक्कर देकर
उछाल दिया शून्य में/बहुत दूर···धरती के कक्ष के बाहर,
'आर्यभट्ट', 'रोहिणी' आदिक
उपग्रहों को उछाल देता है/यथा प्रक्षेपास्त्र !'' (पृ. २५०)

अलंकार आगे बढ़ता है, प्राकृतिक कोमल छटा का अनुभव कराते हुए :

''इस टकराव से कुछ ओले तो/पल भर में फूट-फूट कर
बहु भागों में बँट गये,/और वह दृश्य/ऐसा प्रतीत हो रहा है, कि
स्वर्गों से बरसाई गई/परिमल-पारिजात पुष्प पाँखुरियाँ ही
मंगल मुस्कान बिखेरतीं/नीचे उतर रही हों, धीरे-धीरे !
देवों से धरती का स्वागत-अभिनन्दन ज्यों।'' (पृ. २५०-२५१)

बढ़ते हुए अलंकार प्रवाह की एक और झाँकी अपने मानस पटल पर अंकन के योग्य है :

''ओलों को कुछ पीड़ा न हो,/यूँ विचार कर ही मानो
उन्हें मस्तक पर लेकर/उड़ रहे हैं भू-कण !
सो···ऐसा लग रहा है, कि/हनूमान अपने सर पर
हिमालय ले उड़ रहा हो !'' (पृ. २५१)

उपमा : इस अलंकार को आचार्यश्री ने विशेष गौरवान्वित किया है। विशेषता यह है कि उपमान छोटे रूप में न होकर विशालता से संवलित हैं, यथा :

''दिनकर तिरोहित हुआ···सो/दिन का अवसान-सा लगता है
दिखने लगा दीन-हीन दिन/दुर्दिन से घिरा दरिद्री गृही-सा।'' (पृ. २३८)

उर्दू कविता के समान-सा उदाहरण :

''शाम से ही कुछ बुझा सा रहता है
दिल हुआ है चिराग़ मुफलिस का।''

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रिय प्रवास' के आरम्भ में सन्ध्या काल का चित्र यों खींचा है :

''दिवस का अवसान समीप था/गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर श्री अब राजती/कमलिनी-कुल-बल्लभ की प्रभा॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा/दश दिशा अनुरंजित हो गईं।
सकल पादप पुंज हरीतिमा/अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई॥''

तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो उपाध्यायजी के उपमान में विस्तार तो है, किन्तु वह सार्वत्रिक उतना अनुभव आधारित नहीं है।

दृष्टान्त :

"पूरा भरा दीपक ही/अपनी गति से चलता है,
तिल-तिल होकर जलता है,/एक साथ तेल को नहीं खाता,
आदर्श गृहस्थ-सम/मितव्ययी है दीपक।" (पृ. ३६९)

ये उदाहरण ग्रन्थ में से बिना प्रयास उठाए गए हैं। वैसे भी यहाँ अलंकारों का अल्प दिग्दर्शन ही अभिप्रेत था, विस्तृत विश्लेषण नहीं। अत: इच्छा रहते हुए भी अलंकारों के कई सुन्दर उदाहरण नहीं दिए जा सके हैं। उनमें से एक का केवल संकेत मात्र ही मैं और देना चाहूँगा। पृष्ठ ३४९ से ३५१ तक 'घर की ओर जा रहा सेठ···' के सम्बन्ध में कहे गए उपमानों की जो झड़ी लगी है, वह मन्त्रमुग्ध की स्थिति उत्पादक है।

'मूक माटी' अनेक अर्थों में मानव मात्र के उद्धार का ग्रन्थ है। किन्तु एक दिगम्बर जैनाचार्य द्वारा लिखे जाने के फलस्वरूप उस धर्म में प्रचलित उपकरणों का विवेचन विशिष्टता लिए हुए है। उसकी कुछ जानकारी यहाँ दिया जाना उचित होगा।

अर्हन्त : नवकार मन्त्र में प्रथम नमन इन्हीं को है। उनके व्यक्तित्व की कुछ झलक ही यहाँ सम्भव है, जो ग्रन्थ के पृष्ठ ३००-३०१ एवं ३२६-३२७ में दिए गए तथ्यों में पाई जा सकती है। वैसे ही वर्णन ग्रन्थ में कुछ अन्य स्थानों पर भी प्राप्त हो सकते हैं, यथा– नवकार मन्त्र का प्रयोग पृष्ठ २७४ पर उपलब्ध है।

धर्म : इसके सम्बन्ध में कहा गया है :

"दया-विसुद्धो धम्मो!" (पृ. ८८); "धम्मं सरणं पव्वज्जामि!" (पृ. ७५)
"धम्मं सरणं गच्छामि!" (पृ. ७०); "धम्मो दया-विसुद्धो!"(पृ. ७०)।

अहिंसा : निर्ग्रन्थ दशा :

"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है
वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,/···बल पाती है।" (पृ. ६४)

भावना : जैन धर्म में बारह भावनाएँ मान्य हैं। विरक्ति विषयक सतत चिन्तन भावनाओं का क्षेत्र है। मोक्ष रूपी सुख, शिव की प्राप्ति की ओर आत्मा को अग्रसर करने के लिए ये मुख्य उपकरणों में से हैं। इनका सन्दर्भ पृष्ठ ३००-३०२ पर है, और है अन्त में निष्कर्ष :

"यूँ! कुम्भ ने भावना भायी/सो, 'भावना भव-नाशिनी'
यह सन्तों की सूक्ति/चरितार्थ होनी ही थी, सो हुई।" (पृ. ३०२)

क्षमा : अहिंसा के प्रमुख साधनों में से एक इसका उद्देश्य है :

"खम्मामि, खमंतु मे–/क्षमा करता हूँ सबको,
क्षमा चाहता हूँ सबसे,/सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी!" (पृ. १०५)

'परस्परोपग्रहो जीवनानाम्'- इस सूत्र सूक्ति का कुशल चरितार्थ पृष्ठ ४१ पर है।

समता : जैन धर्म में समता का अतिविशिष्ट स्थान है। उसे श्रमणों की मुख्य सहायक कहा/माना गया है। 'मूकमाटी'

में उसका सन्दर्भ द्रष्टव्य है :

''मोह और असाता के उदय में/क्षुधा की वेदना होती है
यह क्षुधा-तृषा का सिद्धान्त है।/मात्र इसका ज्ञात होना ही
साधुता नहीं है,/वरन्/ज्ञान के साथ साम्य भी अनिवार्य है
श्रमण का शृंगार ही/समता-साम्य है···!'' (पृ. ३३०)

विषय-कषाय : ये अध्यात्म ज्ञान के बाधक हैं। 'मूकमाटी' के अनुसार :

''विषयों और कषायों का वमन नहीं होना ही
उनके प्रति मन में/अभिरुचि का होना है।'' (पृ. २८०)

ईर्या समिति : जैनाचार विषयक एकाध बिन्दु के रूप में यहाँ देखें। पण्डित दौलतराम जी ने 'छहढाला' में ईर्या समिति के सम्बन्ध में कहा है :

''परमाद तजि चौकर मही लखि, समिति ईर्या तैं चलें।'' (६/२)

अर्थात् आलस्य रहित होकर सामने की चार हाथ जमीन देखते हुए, सूर्य के प्रकाश में, जीव-जन्तुओं को बचा कर, शुद्ध मार्ग से गमन करने का नाम 'ईर्या समिति' है। गोचरी के लिए जाते हुए सन्दर्भ में 'मूकमाटी' में कहा है :

''दाता की इस भावुकता पर/मन्द-मुस्कान-भरी मुद्रा को
मौनी मुनि मोड़ देता है/और/चार हाथ निहारता-निहारता
पथ पर आगे बढ़ जाता है।'' (पृ. ३१८)

पूजा पाठ : इस सम्बन्ध में 'मूकमाटी' में कहा है :

''नसियाजी में जिनबिम्ब है/नयन मनोहर, नेमिनाथ का
बिम्ब का दर्शन हुआ/निज का भान हुआ/तन रोमांचित हुआ
हर्ष का गान हुआ।'' (पृ. ३४६)

अनेकान्तवाद—स्याद्वाद : अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार भित्ति है। विश्व को इसके द्वारा हिंसा निवारण का एक नितान्त मौलिक मार्ग उपलब्ध हुआ है। अनेकान्तवाद मानव मात्र को दुराग्रह की विभीषिका से त्राण देता है। अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद एक ही वस्तु के दो पार्श्व हैं। इनमें प्रथम वस्तुपरक होता है, द्वितीय शब्द परक। भगवान् महावीर ने इसका उपदेश इस प्रकार दिया है कि अनेकान्ताधारित भाव के लिए स्याद्वाद सम्मत भाषा अपेक्षित है। दोनों परस्पर पूरक हैं। आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' में इस समस्या को अत्यन्त सरल रूप में समझाया है :

- *'' 'ही' और 'भी'/...ये दोनों बीजाक्षर हैं,*
  अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
  'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
  'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।'' (पृ. १७२)
- *'' 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को*

'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है
'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ. १७३)

एक अन्य सन्दर्भ में लगे हाथ ही भारतीय एवं पाश्चात्य सभ्यता का तुलनात्मक विवेचन भी 'मूकमाटी' से प्रस्तुत कर दिया जाना उचित होगा :

"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है
अपितु !/आक्रमण-शीला गरीयसी है/जिसकी आँखों में
विनाश की लीला विभीषिका/घूरती रहती है सदा सदोदिता
और/महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये
सब कुछ तज कर, वन गये/नग्न, अपने में मग्न बन गये
उसी ओर···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२-१०३)

वाक्य : कुछ वाक्यों एवं शब्दों पर टिप्पणियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय दार्शनिक क्षेत्र की एक प्रसिद्ध उक्ति है : "संसरति इति संसार:।" आचार्य श्री ने 'मूकमाटी' में इसकी सरल व्याख्या इस प्रकार की है :

"सृ धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन
सार यानी सरकना···/जो सम्यक् सरकता है
वह संसार कहलाता है।" (पृ. १६१)

व्याकरण शास्त्र का एक सूत्र है : "स्वतन्त्र: कर्ता" (जैनेन्द्र व्याकरण, १/२/२४)। इसकी प्रश्नात्मक विकृति देखें :

"प्रति पदार्थ स्वतन्त्र है।/कर्ता स्वतन्त्र होता है–
यह सिद्धान्त सदोष है क्या ?/'होने' रूप क्रिया के साथ-साथ
'करने' रूप क्रिया भी तो···/कोष में है ना !" (पृ.३४८)

शब्द : 'मूकमाटी' में शब्दों के विपरीत अक्षर क्रम द्वारा कुछ स्थानों पर नए शब्दों का प्रयोग किया गया है। यथा : दम –मद, नाली–लीना, नदी–दीन, समता–तामस आदि। यह कोरी, मात्र इच्छा प्रसूत, कल्पनाकारी नहीं अपितु भाषा एवं अर्थ के साभिप्राय, सुचारु आदान-प्रदान की एक मान्य विधा है, जो वेदों में भी उपस्थित है। एक उदाहरण से उसकी पुष्टि होती है :

ऋग्वेद के 'अग्निसूक्त' (१/१/७) में एक मन्त्र है :

"उप त्वाग्ने ! दिवेदिवे, दोषास्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।"

वेद-सविता, अजमेर (मासिक) के फरवरी १९९१ अंक में वेद मर्मज्ञ डॉ. फतह सिंह ने उक्त मन्त्र में प्रयुक्त

'नमः' शब्द और उस के विपरीत अक्षर-क्रम से बने 'मनः' शब्द पर अपनी व्याख्या में कहा है : "हे अग्नि ! प्रतिदिन हम नमः को करते हुए धी द्वारा तुम्हारे निकट पहुँचते हैं, क्योंकि तुम हमारे तम को, अन्धकार को द्योतित कर सकते हो, ज्योति बना सकते हो। 'मनः' जीवात्मा की वह बहिर्मुख चेतना है जो इन्द्रियों के साथ स्थूल विषयों की ओर दौड़ती है। इसके विपरीत चेतना है 'नमः'। यह अन्तर्मुख होकर हमारे सूक्ष्म जगत् में गतिशील होती है।"

नवधा : नवधा शब्द का भक्ति के सन्दर्भ में प्रयोग (पृ. ३२३) आचार्यश्री की विशाल हृदयता का द्योतक है।

उपयोग : जैन धर्म का यह पारिभाषिक शब्द है। इसका मुख्य अर्थ है–ज्ञान एवं दर्शन। अथवा देखने-जानने की शक्ति। 'मूकमाटी' में इसके अनेक प्रयोग हैं, उनमें से दो-तीन प्रयोग देखिए :

- *"माटी को रा···त्रि भी/प्रभात-सी लगती है :*
  दुःख की वेदना में/जब न्यूनता आती है/दुःख भी सुख-सा लगता है।
  और यह/भावना का फल है—/उपयोग की बात···!" (पृ. १८)
- *"उपयोग का अन्तरंग ही/रंगीन ढंग वो/योगों में रंग लाता है।" (पृ. १२६)*
- *"बाहर सो भीतर, भीतर सो बाहर/वपुषा - वचसा - मनसा*
  एक ही व्यवहार, एक ही बस—/बहती यहाँ उपयोग की धार !" (पृ.२७४-७५)
- *"व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी आधि से है/और*
  आधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी उपाधि से।
  इसे उपधि की आवश्यकता है/उपाधि की नहीं, माँ !
  इसे समधी - समाधि मिले, बस !/अवधि - प्रमादी नहीं ।
  उपधि यानी/उपकरण - उपकारक है ना !/उपाधि यानी
  परिग्रह - अपकारक है ना !" (पृ.८६)

कुछ आप्त वाक्य मननीय हैं :

- *"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर*
  जला-जला कर/राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
  तभी कहीं चेतन— आत्मा/खरा उतरेगा।" (पृ. ५७)
- *"प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।" (पृ. १७२)*
- *"जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है।" (पृ. २४१)*
- *"काया में रहने मात्र से/काया की अनुभूति नहीं,*
  माया में रहने मात्र से/माया की प्रसूति नहीं,
  उनके प्रति/लगाव-चाव भी अनिवार्य है।" (पृ. २९८)
- *"पर से स्व की तुलना करना/पराभव का कारण है।" (पृ. ३३९)*
- *"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद दुःख है, सुख की मौत !" (पृ. १०२)*

कबीर ने कभी माटी के मुख में ये शब्द रखे थे :

"माटी कहे कुम्हार सों, तू क्या रूँधे मोय।

इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँधूँगी तोय ॥''

स्पष्टतः इन शब्दों में हिंसा की दुर्गन्धि है। भावों का संसार ही अलग है। वहाँ तर्क को आश्रय नहीं है। मुझे क्षमा किया जाय यदि मैं यह कहने का साहस करूँ कि माटी ने कालान्तर में, उस पर थोपी गयी हिंसा का अनुभव किया और उसके परिहारार्थ अहिंसा के प्रबलतम पोषक आचार्य श्री विद्यासागरजी की सेवा में प्रतिक्रमण के रूप में उक्त अपराध के मिथ्या होने की मानसी प्रार्थना निवेदन की। आचार्यश्री ने उस पर 'तथास्तु' तो कहा ही, उसके अतिरिक्त, माटी के मूकत्व को वाचालता के अभयदान स्वरूप एक ग्रन्थ ही अस्तित्व में ला दिया, जिससे आत्मसाधकों को अपने उद्धारार्थ एक प्रबल सम्बल भी प्राप्त हो गया। धन्य हैं आचार्यश्री की अनुपम उदारता एवं लोक कल्याण की भावना।

'मूकमाटी' सरीखा नितान्त मौलिक ग्रन्थ लिखना कैसे सम्भव हुआ, इस जिज्ञासा का समाधान सहज ही नहीं हो सकता, यदि यह नहीं माना जाय कि उसके प्रणयन में आपके गुरु आचार्यप्रवर श्री ज्ञानसागरजी महाराज का परोक्ष मार्गदर्शन ही निरन्तर आचार्यश्री का सहायक रहा और उनका स्नेहसिक्त आशीर्वाद भी।

आचार्यश्री के गहन मनन, चिन्तन, अनुभवादि का क्षेत्र अत्यन्त विशाल एवं असीम है। आचार्यश्री ने संसार की बहुविध परिस्थितियों को जल-कमलवत् जाँचा, परखा और अनेक को अपने महाकाव्य में सटीक एवं विशुद्ध धर्मनिष्ठ परिप्रेक्ष्य में सँजोया भी है। मानवों के लिए ही नहीं, प्राणिमात्र के लाभार्थ नई-पुरानी कल्याणकारी मान्यताओं को 'नित्य नई, प्राचीन गई' विधा के अनुसार जिस निष्ठा-कौशल से महाकाव्य में स्थान दिया गया, वह महान् आश्चर्य-जनक है।

इस निवेदन का उद्यापन राष्ट्रगान में प्रयुक्त कुछ समान शब्दों से विभूषित आचार्यश्री के आशीर्वादात्मक शब्दों से किया जाय :

''मोक्ष की यात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो
धर्म की विजय हो/कर्म का विलय हो
जय हो, जय हो/जय-जय-जय हो !'' (पृ. ७६-७७)

❑

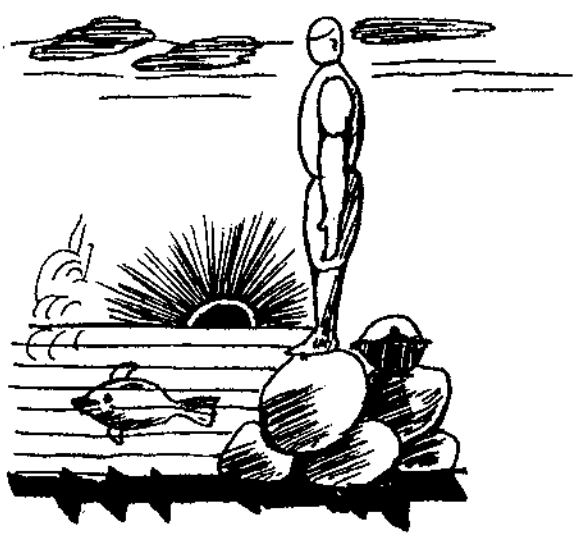

पृष्ठ १९०-१९१
लो! प्रखर प्रखरतर---
---जलधि को बार-बार
भर कर---!

आचार्य विद्यासागर की बहुज्ञता - 'मूकमाटी' काव्य के सन्दर्भ में

डॉ. श्रीचन्द्र जैन

'मूकमाटी' आचार्यप्रवर विद्यासागर की सद्विचार-सागरप्रवाहिका, शान्त रसास्वादिका, धार्मिक भावना से परिव्याप्त आधुनिक युग की अनुपम कृति है। आचार्यप्रवर की दिगम्बर जैन मुनि रूप नग्न मुद्रा, कदाचित्-कथंचित् स्वीकार्य अत्यल्प आहारवृत्ति, शीतोष्ण प्रभृति परिषह-सहनशीलता आदि दु:साध्य परिचर्या आज के सुख-साधन-सम्पन्न वैज्ञानिक युग में भी परिरक्षणीय है-नि:सन्देह आश्चर्यजनक है। क्षुत्-पिपासादि घोर तपश्चरण का अविचल व अवरिल पालन करके भी आपने 'मूकमाटी' जैसी कृति का सृजन किया है, अत्यन्त विस्मयपूर्ण है। यह ग्रन्थ जहाँ आचार्यप्रवर की शालीनता, धर्मज्ञता, अहिंसावादिता, आध्यात्मिकता, गुणज्ञता, काव्यज्ञता व विधायिनी प्रतिभा का प्रतीक है, वहाँ आपके बहुमुखी व्यक्तित्व का भी दर्पणवत् प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रस्तुत रचना में आचार्यप्रवर की धर्म-दर्शन-नीति-संगीत-अलंकार-गणित-वैद्यक-काव्य-व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञान की झलक इस प्रकार दृष्टिगोचर होती है :

१. जैन-धर्म व दर्शन का ज्ञान

आचार्यप्रवर विद्यासागरजी महाराज दिगम्बर जैन आचार्य हैं, अत: स्वाभाविक है कि वे जैनागमों के ज्ञाता हैं। आचार्यप्रवर का यह जैनागम विषयक ज्ञान निम्न रूपों में उभर कर आया है :

(क) जैनागमों से उद्धृत पंक्तियों के रूप में : निम्नलिखित सूत्र व पंक्तियाँ 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि संस्कृत व अन्य प्राकृत जैनागमों से उद्धृत हैं-"परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (पृ. ४१), "धम्मं सरणं पव्वज्जामि"(पृ. ७५), "दयाविसुद्धो धम्मो"(पृ. ८८), "खम्मामि खमंतु मे"(पृ. १०५), "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्"(पृ. १८४)। अन्तिम सूत्र की सुन्दर व्याख्या इस प्रकार की है :

> *"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन-उत्पाद है*
> *जाना यानी मरण-व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर-ध्रौव्य है*
> *और/है यानी चिर-सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)*

इस प्रकार उन्होंने सभी सूत्रों की सुन्दर व्याख्याएँ की हैं।

(ख) जैन धर्मानुसार आचार : जैनधर्मानुसार प्राणियों का आचरण 'अहिंसा परमो धर्म:' के अनुरूप है। ग्रन्थ का नायक कुम्भ स्वयं सदाचारी, परोपकारी व अहिंसावादी है। कुम्भकार स्वयं जैन श्रावकाचार को अपनाता है। मिट्टी में मिलाने के लिए वह छान कर पानी का प्रयोग करता है। पानी को वह कुएँ से जैन विधि के अनुसार निकाल कर, छान कर, शेष जीवाणुयुक्त जल को धीरे से कुएँ में डालता है। यह प्रक्रिया जैनागमानुसार है। द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में आचार्यप्रवर कहते हैं :

> *"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में*
> *मात्रानुकूल मिलाता है/छना निर्मल-जल।" (पृ. ८९)*

कुम्भकार जब 'अवा' में अग्नि प्रज्वलित करता है तो णमोकार मन्त्र पढ़ता है। मुख्यरूप से सेठ जैन श्रावक का नियम पालन करता है। वह प्रतिदिन मन्दिर जाता है, अरिहन्त देव का अभिषेक करके गन्धोदक सिर पर धारण करता है। नित्य नियमपूर्वक अष्ट द्रव्य के द्वारा भक्तिभाव से पूजन करता है। वह जैन मुनि को आहारार्थ आने पर

पड़गाहता (स्वागत करता) है, जिसका सजीव चित्रण विस्तारपूर्वक किया गया है :

"अभ्यागत का स्वागत प्रारम्भ हुआ :/'भो स्वामिन् !
नमोस्तु ! नमोस्तु ! नमोस्तु !/अत्र ! अत्र ! अत्र !/तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !'
यूँ सम्बोधन-स्वागत के स्वर/दो-तीन बार दोहराये गये
... 'मन शुद्ध है/वचन शुद्ध है/तन शुद्ध है/और/अन्न-पान शुद्ध है
आइए स्वामिन् !/भोजनालय में प्रवेश कीजिए'/और
बिना पीठ दिखाये/आगे-आगे होता है पूरा परिवार।
भीतर प्रवेश के बाद/आसन-शुद्धि बताते हुए
उच्चासन पर बैठने की प्रार्थना हुई/पात्र का आसन पर बैठना हुआ।"

(पृ. ३२२-३२४)

आहार विधि के पश्चात् दाता अतिथि के कमण्डलु में प्रासुक जल भरता है, क्योंकि :

"जल···जो कि/अष्ट प्रहर तक ही/उपयोग में लाया जा सकता है,
अनन्तर वह सदोष हो जाता है।" (पृ. ३४४)

ये प्रक्रियाएँ जैनागमानुकूल व श्रावकों के लिए ज्ञेय हैं।

(ग) जैनागम शब्दावली : लेश्याएँ, परिषह, उपसर्ग, अष्ट द्रव्य, अरिहन्त देव का स्वरूप, मोह का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, इन्द्रियों का जड़त्व, मिट्टी का एक इन्द्रियत्व, निर्ग्रन्थ का स्वरूप, चार गतियाँ, तीर्थंकर आदिनाथ आदि शब्दों का प्रयोग जैनागमानुसार है। उदाहरणार्थ 'अष्ट-द्रव्य' के विषय में :

"जल-चन्दन-अक्षत-पुष्पों से/चरु-दीप-धूप-फलों से
पूजन-कार्य पूर्ण हुआ।" (पृ. ३२५)

अरिहन्त भगवान् का स्वरूप इस प्रकार है :

"जो मोह से मुक्त हो जीते हैं/राग-रोष से रीते हैं
जनम-मरण-जरा-जीर्णता/जिन्हें छू नहीं सकते अब
क्षुधा सताती नहीं जिन्हें/जिनके प्राण प्यास से पीड़ित नहीं होते,
...सप्त-भयों से मुक्त/जिन्हें अनन्त सौख्य मिला है...
...अष्टादश दोषों से दूर···।" (पृ. ३२६-३२७)

(घ) दार्शनिकता : प्रसंगानुसार जैन दर्शन का भी उल्लेख है, जैसे :

१. "सत्ता शाश्वत होती है।" (पृ. ७)।
२. "प्रति पदार्थ/अपने प्रति/कारक ही होता है।" (पृ. ३९)
३. आत्मा से कर्मों का संश्लेषण व विश्लेषण प्रकरण (पृ. १५) प्रारम्भ करके छोड़ दिया है, क्योंकि आजकल इसे कोई ध्यान से नहीं सुनता।
४. 'सप्तभंगी' का उल्लेख करके एकान्तवाद व स्याद्वाद के अन्तर को स्पष्ट किया है :

'' 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्तवाद, स्याद्वाद का प्रतीक।'' (पृ. १७२)

इस प्रकार विभिन्न रूपों से ज्ञात होता है कि आचार्यप्रवर को जैनागम व जैनधर्म का समुचित ज्ञान है।

२. जैनेतर ग्रन्थों व दर्शनों का ज्ञान

प्रस्तुत काव्य में जैनेतर ग्रन्थों व दर्शनों का भी उल्लेख है, यथा:

(क) जैनेतर ग्रन्थ : इस प्रकार के ग्रन्थों में विशेषत: 'रामायण' की घटनाओं का उल्लेख है (वैसे ये प्रसंग जैनागम के कथानकों में भी उपलब्ध हैं)। उदाहरणार्थ–प्रथम अध्याय में मृग आता है, जिसकी तुलना- ''बायें हिरण/दायें जाय–/लंका जीत/राम घर आय'' (पृ. २५) इस सूक्ति से की है।

इसी प्रकार बदले की भावना के प्रसंग में बाली से दशानन के बदला लेने की इच्छा (पृ. ९८) का उल्लेख है।

एकान्तवाद व अनेकान्तवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार कहता है :

''रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।'' (पृ. १७३)

एक प्रसंग में लक्ष्मण-रेखा का उल्लेख है :

''लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता
राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !'' (पृ. २१७)

एक स्थान पर उपमार्थ कहा है – ''हनूमान अपने सर पर/हिमालय ले उड़ रहा हो !''(पृ. २५१) एवं एक प्रसंग में सीता की बन्धन-मुक्ति के लिए मन्दोदरी का विफल प्रयास (पृ. ४२१) प्रस्तुत किया है। आतंकवाद के प्रकरण में लक्ष्मण के उबलने (पृ. ४६७) का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त, महादेव के तृतीय नेत्र(पृ. ४२८) का कथन शैवागमानुसार है।

(ख) दार्शनिक शब्दावली : काकतालीय-न्याय(पृ. ३८५), पारिशेष्य-न्याय(पृ. ४३०) दार्शनिक शब्दावली के प्रयोग हैं। कार्य-कारण व्यवस्था का उल्लेख कई स्थानों पर है। बादल-दल के प्रसंग में तो कारण के दो भेदों - निमित्त कारण व उपादान कारण का उल्लेख किया गया है :

''केवल उपादान कारण ही/कार्य का जनक है–
यह मान्यता दोष-पूर्ण लगी,/निमित्त की कृपा भी अनिवार्य है।
हाँ ! हाँ !/उपादान-कारण ही/कार्य में ढलता है
यह अकाट्य नियम है,/किन्तु/उसके ढलने में
निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है।'' (पृ. ४८०-४८१)

(ग) दार्शनिक शैली : कदाचित् दार्शनिक शैली का भी प्रयोग है :

- *''प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है*
  उन्हीं भावों से मिटती भी वह,/वहीं समाहित होती है।'' (पृ. २८२)
- *''प्रति पदार्थ/अपने प्रति/कारक ही होता है/परन्तु*
  पर के प्रति/उपकारक भी हो सकता है।'' (पृ. ३९-४०)

(घ) सांख्य दर्शन : यह दर्शन द्वैतवादी है। यह संसार के विकास में पुरुष (चेतन) एवं प्रकृति (अचेतन) दो तत्त्वों का योग मानता है। इस दर्शन-सम उल्लेख प्रस्तुत कृति में अनेक बार किया गया है। प्रथम अध्याय में कवि कहता है :

"प्रकृति और पुरुष के/सम्मिलन से
विकृति और कलुष के/संकुलन से/भीतर ही भीतर
सूक्ष्म-तम/तीसरी वस्तु की/जो रचना होती है...।" (पृ. १५)

शिल्पी व माटी के प्रसंग में प्रकृति व पुरुष के रमण का उल्लेख है। अन्यत्र पुरुष के पुरुषार्थ, प्रकृति का पुरुष को कुछ न देना आदि का उल्लेख है। सेठ की चिकित्सा के विषय में कहा है :

"पुरुष होता है भोक्ता/और/भोग्या होती प्रकृति।" (पृ. ३९१)

पुरुष प्रकृति के सामने आँखें बन्द कर लेता है। इसी प्रसंग में कहा है :

"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही/संसार है...
खेल खेलने वाला तो पुरुष है/और/प्रकृति खिलौना मात्र !" (पृ. ३९४)

(ङ) वेदान्त दर्शन : इसका संकेत ग्रन्थान्त में है जहाँ संसार का कारण माया या अज्ञान माना है :

"यह देही मतिमन्द/कभी-कभी/रस्सी को सर्प समझ कर
विषयों से हीन होता है...।" (पृ. ४६२)

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार को जैनेतर ग्रन्थों व दर्शनों का ज्ञान है।

३. वैद्यक शास्त्रों का ज्ञान

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्यप्रवर एलोपैथिक व होम्योपैथिक दवाइयों में विश्वास नहीं रखते। उनकी आस्था प्राकृतिक उपचारों में ही है। इसीलिए उनका कथन है :

"माटी, पानी और हवा/सौ रोगों की एक दवा।" (पृ. ३९९)

सेठ के अस्वस्थ होने पर अनेक वैद्यराज बुलाए जाते हैं। सेठ की मूर्च्छा को दूर करने के लिए छनी मिट्टी में शीतल जल मिलाकर एक माटी का लोंदा सेठ के मस्तक पर रखा जाता है, जिससे सेठ का ताप कम होने लगा :

"जल से भरे पात्र में/गिरा तप्त लौह-पिण्ड वह/चारों ओर से
जिस भाँति/जल को सोख लेता है,/उसी भाँति टोप भी
मस्तक में व्याप्त उष्णता को/प्रति-पल पीने लगा।" (पृ. ४००)

कुम्भ मिट्टी के अनेक उपयोगों को बताता हुआ कहता है :

"मात्र हृदय-स्थल को छोड़कर/शरीर के किसी भी अवयव पर
माटी का प्रयोग किया जा सकता है।" (पृ. ४०५)

पका हुआ या बिना पका हुआ घाव हो, भीतरी या बाहरी चोट हो, कितनी ही कानों की पीड़ा हो, तेज से तेज बुखार हो, नकसीर आती हो, ज़ुकाम हो अथवा पूरा या आधा शिरःशूल हो तो भी माटी उपयोगी सिद्ध होती है। यदि

हाथ या पैर की हड्डी टूटी हो तो वह भी माटी के प्रयोग से जुड़ सकती है। यहाँ तक कि आँखों के दर्द में भी माटी का प्रयोग अचूक दवा का कार्य करता है।

तक्र (छाछ) का दिन के पूर्व भाग में सेवन अत्यन्त गुणकारी है। दूध में मिश्री मिला कर पीना गुणकारी है परन्तु दूध को छौंककर पीने से बुद्धि में विकृति पैदा होती है। दाह रोग में ललाट व नाभि पर चन्दन का लेप वरदान है तथा घी में कपूर मिला कर मस्तक व नाभि पर मलना भी गुणकारी है, परन्तु माटी का लेप हृदयस्थल पर दोषप्रद है। बर्फ़ लगता तो ठण्डा है परन्तु उसकी तासीर गर्म होती है। मूलत: पथ्य का पालन जीवन में आवश्यक है :

''पथ्य का सही पालन हो···तो/औषध की आवश्यकता ही नहीं।'' (पृ. ३९७)

४. गणितशास्त्र का ज्ञान

आचार्यप्रवर को गणितशास्त्र का भी विशिष्ट ज्ञान है। इसका संकेत विशेष रूप से उस समय मिलता है जब कुम्भकार परिपक्व कुम्भ पर चित्रकारी करता है। शिल्पी ने घट पर कुछ तत्त्वोद्घाटक संख्याओं का चित्रण किया है। 'नौ' संख्या की विचित्रता को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :

''९९ संख्या को/दो आदि संख्याओं से गुणित करने पर
भले ही संख्या बढ़ती जाती उत्तरोत्तर,/परन्तु
लब्ध-संख्या को परस्पर मिलाने से/९ की संख्या ही शेष रह जाती है। यथा :
९९ X २ = १९८, १ + ९ + ८ = १८, १ + ८ = ९
९९ X ३ = २९७, २ + ९ + ७ = १८, १ + ८ = ९
९९ X ४ = ३९६, ३ + ९ + ६ = १८, १ + ८ = ९'' (पृ. १६६)

इस प्रकार ९ की संख्या में वैचित्र्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में ९९ की संख्या को अशुभ माना है, क्योंकि संसार ९९ का चक्कर है तथा ९ को शुभ माना है, क्योंकि वह 'नव जीवन' का स्रोत है। इसी सन्दर्भ में ३ एवं ६ की संख्या का उल्लेख करके ३६, ६३ तथा ३६३ आदि संख्याओं की नवीन व्याख्याएँ की हैं।

५. संगीत कला

संगीत का प्रारम्भिक सूत्र 'सा रे ग म प ध नि' है। प्रस्तुत रचना में जब सेठ का सेवक कुम्भ लेने कुम्भकार के पास जाता है तो घट की निर्दोषता ज्ञात करने के लिए उसे बजाता है। उससे सप्त ध्वनियाँ निस्सृत होती हैं जिसे 'सरगम' कहते हैं। आचार्यप्रवर ने 'सा रे ग म प ध नि' का अर्थ बोध इस प्रकार कराया है :

''सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दु:ख
प···ध यानी ! पद—स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दु:ख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता,
...सही संगीत में खोना है/सही संगी को पाना है।'' (पृ. ३०५)

इसी प्रसंग में यह स्पष्ट किया गया है कि वाद्य कला में कुशल शिल्पी मृदंग के मुख पर स्याही लगाता है। हाथ की गदिया और मध्यमा के संघर्ष से जो मृदंग स्वर होता है वह ''धा···धिन्··· धिन्···धा···/धा··· धिन्··· धिन्··· धा···''आदि है, जो यही सन्देश देते हैं :

''ता···तिन···तिन···ता···/ता···तिन···तिन···ता...

का तन'' चिन्ता, का तन''चिन्ता ?'' (पृ.३०६)

६. शब्दों का विविधमुखी ज्ञान

आचार्यश्री ने प्रस्तुत कृति में शब्दों की विविधमुखी व्याख्या, व्युत्पत्ति, नवीन निर्वचन व विपरीतार्थक शब्द बोध विभिन्नरूपेण किया है :

(क) व्युत्पत्तिगत व्याख्या : काव्य में भी शब्दों का स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे 'संसार' शब्द : *''सृ धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना''/जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।'' (पृ. १६१)*

(ख) व्याकरण के आधार पर व्याख्या : पाणिनीय व्याकरण के धातु पाठ में तथा जैन परम्परागत व्याकरण ग्रन्थों में भी 'भू' धातु 'भू सत्तायां' (पृ. ३९९) अर्थ में है। इसी प्रकार 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' व्याकरणशास्त्र का सूत्र है जिसका अर्थ है- ''कर्त्ता स्वतन्त्र होता है'' (पृ. ३४८)। इसके अतिरिक्त श-स-ष व्यंजनों को बीजाक्षर (पृ. ३९७) मान कर उनका उच्चारण आदि व्याकरणशास्त्रानुरूप किया है।

(ग) सुन्दर निर्वचन : आचार्य यास्क ने 'निरुक्त' में शब्दों के अर्थों की सार्थकता सिद्ध की है। आचार्यप्रवर के प्रस्तुत ग्रन्थ में उसी शैली में अनेक शब्दों का बहुत सुन्दर निर्वचन है। जैसे– कुम्भकार (पृ. २८), गदहा (पृ. ४०), कृपाण (पृ. ७३), वसुधा (पृ. ८२), कम्बल (पृ. ९२), कायरता (पृ. ९४ एवं २३३), रसना (पृ. १८०), जलधि (पृ. १९९), नारी (पृ. २०२), महिला (पृ. २०२), अबला (पृ. २०३), कुमारी (पृ. २०४), स्त्री (पृ. २०५), सुता (पृ. २०५), दुहिता (पृ. २०५), मातृ (पृ. २०६), अंगना (पृ. २०७), स्वप्न (पृ. २९५), अवसर (पृ. २३१), नियति (पृ. ३४९), पुरुषार्थ (पृ. ३४९), कला (पृ. ३९६), मदद (पृ. ४५९), समाजवाद (पृ. ४६१), अपराधी (पृ. ४७४ एवं ४७७) इत्यादि। कहीं-कहीं तो एक शब्द के दो-दो व तीन-तीन निर्वचन भी किए हैं।

नारी शब्द दो प्रकार से व्याख्यायित है : (अ) न + अरि, (ब) न + आरी :

'' 'न अरि' नारी''/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो''नारी''।''(पृ. २०२)

दुहिता शब्द का निर्वचन इस प्रकार है :

''दो हित जिसमें निहित हों/वह 'दुहिता' कहलाती है
...स्व-पर-हित सम्पादिका/...हित का दोहन करती रहती
सो''दुहिता कहलाती है।'' (पृ. २०५-२०६)

इसी प्रकार महिला (पृ. २०२), दोगला (पृ. १७५), अबला (पृ. २०३) आदि शब्दों की कई-कई व्याख्याएँ हैं। अबला शब्द की व्याख्या 'ब' तथा 'व' में अभेद मान कर की है :

१. अव=ज्ञानज्योति को, ला=लाती है, वह अबला है; २. अब=वर्तमान में, ला=लाती है, वह अबला है;
३. बला=समस्या–संकट, अ=नहीं, अतः अबला है (पृ. २०३)।

इस प्रकार यह निर्वचन शब्द-जगत् में सर्वथा नूतन प्रकाश है।

(घ) शब्दों की विपरीतता : आचार्यप्रवर ने नवीन शब्दों के अर्थों की पद्धति का शोध किया है। शब्दों की शक्तियों व अर्थ को उसकी विपरीतता में भी खोजा है। जैसे - याद>दया (पृ. ३८), राही>हीरा (पृ. ५७), राख>खरा (पृ. ५७), लाभ>भला (पृ. ८७), नदी>दीन (पृ. १७८), नाली>लीना (पृ. १७८), धरती>तीरथ (तीरथ-

तीर्थ) (पृ. ४५२), धरणी>नीरध (पृ. ४५३) आदि की दोनों रूपों में क्षमता प्रस्तुत की है। उदाहरणार्थ :

- *"स्व की याद ही/स्व-दया है।" (पृ. ३८)*
- *"राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५७)*
- *"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)*

(ङ) शब्दों के परस्पर अन्तर : प्रसंगवश वासना-दया(पृ. ३८), दर्शन-अध्यात्म (पृ. २८७-२८९) जैसे शब्दों के अन्तर को भी स्पष्ट किया है।

७. नीति और सूक्तियों का ज्ञान

आचार्यप्रवर ने शास्त्रों में सन्तों द्वारा प्रणीत कतिपय नीतियों, सूक्तियों व लोकोक्तियों का भी यथाप्रसंग निर्देश किया है। कुछ सूक्तियाँ उनकी स्व-रचित हैं। जहाँ कहीं पर अन्य विद्वानों की पंक्तियाँ उद्धृत भी हैं वहाँ स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। ये नीतियाँ या सूक्तियाँ संस्कृत ग्रन्थों, नीति शास्त्रों में व लोक प्रचलित हैं। जैसे- "काँटे से ही काँटा निकाला जाता है" (पृ. २५६)– (द्रष्टव्य-कण्टकेनैव कण्टकम्)।

१. "पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।" (पृ. ५०-५१)

२. "पूरा चल कर विश्राम करो !" (पृ. १२९)

३. "सर्व-सहा होना ही/सर्वस्व को पाना है जीवन में।" (पृ. १९०)

४. "जब फूल से काम चल सकता है/शूल का व्यवहार क्यों ?" (पृ. २५७)

५. संगति के प्रभाव को व्यक्त करते हुए कहा है :

"उजली-उजली जल की धारा/बादलों से झरती है
धरा-धूल में आ धूमिल हो/दल-दल में बदल जाती है।
वही धारा यदि/नीम की जड़ों में जा मिलती/कटुता में ढलती है;
...विषधर मुख में जा/विष-हाला में ढलती है।" (पृ. ८)

६. "मन-वांछित फल मिलना ही/उद्यम की सीमा मानी है।" (पृ. २८४)

७. "जिसकी कर्तव्य निष्ठा वह/काष्ठा को छूती मिलती है/उसकी सर्वमान्य प्रतिष्ठा तो···
काष्ठा को भी पार कर जाती है।" (पृ. २५८)

८. "भावना भव-नाशिनी।" (पृ. ३०२)

९. "पूज्यपादों की पूजा से ही/मनवांछित फल मिलता है।" (पृ. ३३७)

१०. "जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?" (पृ. २५७)

११. एक सूक्ति है :

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का।
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

१२. "गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता
मदन का प्यार कभी/जरा से हो नहीं सकता;
...सुजन का प्यार कभी/सुरा से हो नहीं सकता।

विधवा को अंग-राग/सुहाता नहीं कभी
सधवा को संग-त्याग/सुहाता नहीं कभी,
संसार से विपरीत रीत/विरलों की ही होती है
भगवाँ को रंग-दाग/सुहाता नहीं कभी !'' (पृ. ३५३-३५४)

इस प्रकार अनेक उक्तियाँ ग्रन्थ में बिखरी हुई हैं, जो जगमगाती रहती हैं।

८. प्रकृति का सौन्दर्य बोध

प्रस्तुत ग्रन्थ से स्पष्ट होता है कि आचार्यप्रवर प्रकृति के कवि हैं। माटी या माटी-निर्मित कुम्भ दोनों ही प्रकृति के उपादान हैं। अधिकांश घटनाएँ प्रकृति के प्रांगण में घटित होती हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ प्रकृति के सुन्दर चित्रण से किया गया है। प्रातःकाल का मनोहारी चित्रण ग्रन्थ के श्रीगणेश में चार चाँद लगाता है :

- *''भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है*
  माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।'' (पृ. १)
- *''लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी*
  प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह;
  अपने पराग को—/सराग-मुद्रा को—/पाँखुरियों की ओट देती है।'' (पृ. २)

यह प्रकृति चित्रण छायावादी कवियों की भाँति अत्यन्त मनोहर है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ में शीतकालीन निराली छटा द्रष्टव्य है :

''पेड़-पौधों की/डाल-डाल पर/पात-पात पर/हिम-पात है।
...कल-कोमल-कायाली/लता-लतिकायें ये,
शिशिर-छुवन से पीली पड़ती-सी/पूरी जल-जात है।'' (पृ. ९०)

इस अध्याय के अन्त में ग्रीष्म ऋतु की तपन का भयावह चित्रण है जो ''तपन'''तपन'''तपन'''''(पृ. १७७-१८२) पंक्तियों से प्रस्तुत है। इसी प्रसंग में कवि ग्रीष्म की उष्णता को चित्रित करता हुआ कहता है :

''कभी-कभार भानु भी वह/अनल उगलता हुआ दिखा।
जिस उगलन में/पेड़-पौधे पर्वत-पाषाण
पूरा निखिल पाताल तल तक/पिघलता गलता हुआ दिखा।'' (पृ. १८२)

तृतीय अध्याय के आरम्भ में प्रलय का चित्रण विस्तृत रूप से है :

''धरती को शीतलता का लोभ दे/इसे लूटा है,/इसीलिए आज
यह धरती धरा रह गई/न ही वसुंधरा रही न वसुधा !/और
वह जल रत्नाकर बना है—/बहा-बहा कर
धरती के वैभव को ले गया है।'' (पृ. १८९)

चतुर्थ अध्याय में सेठ परिवार जब वन में जाता है तो वन कितना मनोहारी व आकर्षक है ! कवि इसका चित्र खींचते हुए कहता है :

"उत्तुंग-तम गगन चूमते/तरह-तरह के तरुवर/छत्ता ताने खड़े हैं,
श्रम-हारिणी धरती है/हरी-भरी लसती है/धरती पर छाया ने दरी बिछाई है।
फूल-फलों-पत्रों से लदे/लघु-गुरु गुल्म-गुच्छ/श्रान्त-श्लथ पथिकों को
मुस्कान-दान करते-से।/आपाद-कण्ठ पादपों से लिपटी/ललित-लतिकायें वह
लगती हैं आगतों को बुलाती-लुभाती-सी,/और/अविरल चलते पथिकों को
विश्राम लेने को कह रही हैं।" (पृ. ४२३)

तृतीय अध्याय में तीन बदलियों का यथानुरूप चित्र है। पहली बदली धवला साड़ी पहने हुए है। द्वितीय बदली बनाम बिचली बदली के विषय में कहा है :

"पलाश की हँसी-सी साड़ी पहनी
गुलाब की आभा फीकी पड़ती जिससे।" (पृ. २००)

सबसे पिछली या तृतीय सुवर्ण वर्ण की साड़ी से सुसज्जित है। प्रस्तुत रचना में माटी, धरती, प्रभाकर, कुम्भ, सागर, बादल दल, पवन, नदी आदि का मानवीकरण कर प्रकृति के सौन्दर्य को स्थापित किया गया है।

९. साहित्यिक बोध

इस काव्य में जहाँ खट्टा-मीठा आदि भोज्य पदार्थों के रसों का विवेचन है वहाँ साहित्य के नव रसों का भी वर्णन है। कुम्भकार ने मिट्टी रौंदते समय सभी रसों को मानवीकरण के रूप में प्रस्तुत किया है। वीर रस, हास्य रस, रौद्र रस, विस्मय रस, शृंगार रस, बीभत्स रस, करुण रस, शान्त रस एवं वात्सल्य रस का विवेचन है। करुण के स्थान पर 'करुणा रस' शब्द का उल्लेख है, जो जीवन का प्राण माना है– "करुणा-रस जीवन का प्राण है" (पृ. १५९)। 'शान्त रस' को 'रस-राज' (पृ. १६०) कहा गया है जो आचार्यप्रवर विद्यासागर जैसे तपस्वी के लिए सर्वथा उपयुक्त है।

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं।" (पृ. १०६)

नि:सन्देह साहित्य में शब्दों की सार्थकता अर्थबोध में निहित है। सच्चे साहित्य की व्याख्या इस प्रकार की है :

"हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव हो/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

१०. काव्य अलंकारों का ज्ञान

आचार्यप्रवर ने काव्य में अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग किया है। उनकी पीयूष-वर्णी वाणी भले ही शान्त रसात्मक हो परन्तु अलंकारशून्या नहीं है। वह अनुप्रास, यमक, पुनरुक्ति प्रकाश, वीप्सा, वक्रोक्ति आदि शब्दालंकारों से अलंकृत है। यमक की चमक तो अनेकश: दमकती है, जैसे :

१. "पर पर दया करना।" (पृ. ३७)
२. "कर माँगता है कर/वह भी खुल कर!" (पृ. ११४)
३. "हो अपना, लो, अपनालो उसे!" (पृ. १२४)
४. "आज हीरक-हार की हार!" (पृ. ४६९)

अन्योक्ति, विरोधाभास, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास, सन्देह, अतिशयोक्ति, काव्यलिंग आदि अनेक अर्थालंकार काव्य की महनीयता को बढ़ा रहे हैं। रूपक अलंकार तो आद्यन्त दृष्टिगोचर होता है, जैसे- "आस्था के तार (पृ. ९), साधना की अंगुलियाँ (पृ. ९), विषमता की नागिन (पृ. १२), बोधि की चिड़िया (पृ. १२), क्रोध की बुढ़िया (पृ. १२), आशा के पद (पृ. १३), सफलता-श्री (पृ. २२), भावना के फूल (पृ. ४१), आह की तरंग (पृ. २८४), पक्षपात का सर्प (पृ. ४२०), समता की सीढ़ियाँ (पृ. ४२०), पाप का सागर (पृ. ४२१)" इत्यादि। "अछूता-सा(पृ. १५), हलका-सा (पृ. १४), उपहास करती-सी(पृ. २०), महक-सी (पृ. १२०), घाव-से (पृ. ३१), छेद-से (पृ. ३१), सन्देह-सा (पृ. ३१), प्रकाश डालता-सा (पृ. १२५)" आदि उत्प्रेक्षा अलंकार नगीनों की भाँति जड़े हुए हैं। कहीं-कहीं तो उत्प्रेक्षा की झड़ी-सी लगा दी है। अलंकारों की रानी उपमा का प्रयोग तो अत्यन्त सार्थक है- "छाया की भाँति (पृ. २) खसखस के दाने-सा (पृ. ७), विद्युत्-सम (पृ. २२), मीठे मोदक-सम (पृ. ११९), चन्दन तरु-लिपटी नागिन-सी (पृ. १३०), घृत से भरा घट-सा (पृ. १६५), दूध-सम (पृ. २१९), पारा-सम (पृ. २१९)" आदि। वक्रोक्ति अलंकार का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर है, जैसे :

"रति और विरति के भाव/एक से होते हैं क्या ?" (पृ. ३३)

दृष्टान्त अलंकार का प्रयोग आचार्यप्रवर ने विषय के स्पष्टीकरण के लिए भी किया है, जैसे :

"पल में पलकों में हलचल हुई/मुँदी आँखें खुलती हैं,/जिस भाँति
प्रभाकर के कर-परस पाकर/अधरों पर मन्द-मुस्कान ले
सरवर में सरोजिनी खिलती है।" (पृ. २१५)

विरोधाभास अलंकार में विरोध का आभास रहता है, विरोध नहीं। इसका सुन्दर प्रयोग काव्य में है। उदाहरणार्थ :

"अहित में हित/और/हित में अहित/निहित-सा लगा इसे।" (पृ. १०८)

११. आधुनिकता बोध

आचार्यप्रवर नि:सन्देह आध्यात्मिक जगत् के ज्ञाता व जिन-धर्ममार्ग के सजग प्रहरी हैं। आध्यात्मिकता बाह्य निरपेक्ष होती है। परन्तु आचार्यप्रवर एतावता बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं, क्योंकि जहाँ उन्होंने स्व-पर उत्थान हेतु आत्मकल्याण मार्ग को स्वीकार किया है वहाँ बाह्य जगत् पर भी उनकी पूर्ण दृष्टि है।

आज हमारे देश की प्रमुखतम समस्या आतंकवाद है, जो देश को दो किनारों से पकड़कर तोड़ना चाहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का सेठ धर्मात्मा होकर भी आतंकवाद से पीड़ित है। वह सपरिवार धन-दौलत सम्पन्न महल को छोड़कर वन की शरण लेता है, परन्तु धर्मरूपी माटी का घट उसका साथ देता है और अन्तत: सुरक्षा भी करता है। आचार्यप्रवर ने आतंकवाद के विषय में कहा है :

१. *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)*
२. *"आतंकवाद का दल/आपत्ति की आँधी...।" (पृ. ४१९)*
३. आतंकवाद के जन्म का मूल कारण व्यक्ति के मानस को टीस पहुँचना है :

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।" (पृ. ४१८)

वर्तमान भारतीय समाज की ज्वलन्त समस्या दहेजरूपी दानव है जो रात-दिन न जाने कितनी भोली-भाली

महिलाओं को जीवित निगल जाता है। आचार्यश्री इस पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं :

"परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव
पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

आज के तथाकथित बड़े लोगों में कितनी हीन भावना है अपने आश्रितों के प्रति, उसका चित्रण उनके दुर्व्यवहार से समझ में आ जाता है :

"प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !/महामना मानव !/देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में/पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,/फिर भी
एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता/या देना पड़ता
वह दुर्भावना के साथ ही।" (पृ. ३८६-३८७)

आधुनिक भारतीय प्रजातन्त्र की दोषपूर्ण प्रणाली के विषय में उन्होंने लिखा है :

"प्रायः बहुमत का परिणाम/यही तो होता है,
पात्र भी अपात्र की कोटि में आता है/फिर,
अपात्र की पूजा में पाप नहीं लगता।" (पृ. ३८२)

निःसन्देह चुनाव में कोई भी अपात्र व्यक्ति अन्याय प्रणाली से बहुमत प्राप्त करके नेता बन जाता है। इसी प्रजातन्त्रात्मक शासन के खोखलेपन पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा है :

"आज श्वास-श्वास पर/विश्वास का श्वास घुटता-सा
देखा जा रहा है ···प्रत्यक्ष !/...यहाँ···तो
'मुँह में राम/बगल में छुरी'।" (पृ. ७२)

आचार्यप्रवर ने आधुनिक युग का बोध विशेषरूप से कलिकाल के माध्यम से कराया है। भारतीय सभ्यता तथा उस पर पड़ती हुई पश्चिमी सभ्यता के आलोक में दोनों के अन्तर को स्पष्ट किया है। सत्-युग व कलि-युग के पारस्परिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला है। इस युग में बदलता हुआ लोह–इस्पात का प्रयोग, स्वर्ण–कनक के स्थान पर लोहे के बर्तन आदि का चित्रण आधुनिकता पर क्षोभ है। उन्होंने आज की समाजवाद की सारहीनता को अभिव्यक्त किया है। आधुनिक युग में पर्याप्त विषमता से उनके हृदय में ठेस पहुँचती है। उनका हृदय कराह उठता है। वे कहते हैं :

"हाय रे !/समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह ?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र !" (पृ. २१२)

निःसन्देह संसार दुःखों का सागर है परन्तु मानव अपनी श्रमशीलता से दुःखों से मुक्ति प्राप्त कर सकता है :

"अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले/रावण जैसे शत्रुओं पर
रणांगण में कूदकर/राम जैसे/श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही

कलियुग में सत्-युग ला सकता है,/धरती पर···यहीं पर
स्वर्ग को उतार सकता है ।'' (पृ. ३६२)

'आकाशवाणी' के माध्यम से आचार्यश्री आधुनिक युग को सन्देश देना चाहते हैं :

''परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है !'' (पृ. २११-२१२)

१२. विभिन्न शैलीगत विज्ञता

प्रस्तुत ग्रन्थ में मानक हिन्दी के माध्यम से विभिन्न शैलियाँ प्रयुक्त हैं। भावानुरूप शैली बदलती चली जाती है। कहीं प्रसादगुण सम्पन्न शैली है तो कहीं माधुर्यगुणयुता, तो कदाचित् ओजगुणपरिपूर्णा शैली का भी प्रयोग है। ऐसा लगता है कि शैलियाँ उनके भावों का अनुगमन करती रही हैं। उन शैलियों में कुछ प्रमुख शैलियों का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में पाया गया है, जो इस प्रकार है :

(क) व्याख्यात्मक शैली : आचार्यश्री ज्ञान के अक्षयकोष तथा धर्म के अनुपम भण्डार हैं। जैसे जन-सामान्य तक विषय को समझाने के लिए वे अपने उपदेशों में विषय की व्याख्या करते हुए चलते हैं, उसी प्रकार प्रस्तुत रचना में भी यथास्थान कथ्य को स्पष्ट किया गया है। इसमें, उन्होंने साठ-सत्तर बार 'यानी' शब्द का प्रयोग किया है, बाईस बार 'और सुनो' तथा दस बार 'सुनो' शब्दों का प्रयोग करके अपने कथन की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त 'कारण सुनो,' 'एक बात और', 'परन्तु सुनो,' 'सुनो-सुनो,' तथा 'और यह भी देखो' आदि शब्दावली द्वारा व्याख्यात्मक शैली का प्रयोग ग्रन्थ में दर्शनीय है।

(ख) नाटकीय शैली : आचार्यश्री की द्वितीय शैलीगत विशेषता नाटकीयता है। ग्रन्थ का मूल उद्देश्य सन्मार्गोपदेश तथा जिनधर्मानुरूप सत्कर्म की प्रेरणा है। इस नीरस व धार्मिक विषय में सरसता भरने के लिए नाटकीय शैली सक्षम होती है। आचार्यश्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ में माटी, पृथ्वी, काया की छाया, सागर, पवन, स्वर्णकलश, अनार का रस, केसरिया हलुआ, मच्छर, मत्कुण, नदी आदि सजीव-अजीव प्राणियों का मानवीकरण करके माटी-पृथ्वी, माटी-शिल्पी, कंकर-माटी, दाँत-कुम्भकार, रस्सी-रसना, मछली-मछली, सागर-बादल, फूल-वृक्ष, पवन-फूल, कुम्भकार-बबूल की लकड़ी, अग्नि-कुम्भकार, स्वर्णकलश-कुम्भ, झारी-शिल्पी, झारी-स्वर्णकलश, नदी-कुम्भ, आतंकवाद-माटी आदि का वार्तालाप कराकर नाटकीय शैली द्वारा सम्पूर्ण काव्य में प्राण डाल दिए हैं। पवन और फूल का कथोपकथन कितना मनोरम है :

''पवन के इस आशय पर/उत्तर के रूप में, फूल ने/मुख से कुछ भी नहीं कहा,
मात्र गम्भीर मुद्रा से/धरती की ओर देखता रहा।'' (पृ. २५९)

(ग) चित्रात्मक शैली : इस शैली का प्रयोग प्रस्तुत ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है। प्रारम्भ में कुम्भकार के आगमन पर माटी का जीता जागता चित्र है। कुम्भकार का रस्सी की गाँठ खोलना, रस्सी से बालटी बाँधकर कुएँ से जल खींचना आदि अनेक वर्णन आदि से अन्त तक भावों के चित्र हृदय पर अंकित करते हैं। कुदाली से माटी खोदते समय जब एक काँटा कट जाता है तो उसका चित्र इस प्रकार चित्रित है :

''माटी खोदने के अवसर पर/कुदाली की मार खा कर
जिसका सर अध-फटा है/जिसका कर अध-कटा है/दुबली पतली-सी···

कमर - कटि थी उसकी,/वही अब और कटी है,/जिधर की टाँग टूटी है
उधर की ही आँख फूटी है,/...कहाँ तक कहें/काँटे की कटीली काया
दिखती अब अटपटी-सी है।" (पृ. ९५-९६)

तीन बदलियाँ, बादल-दल, अवा का जलना, आतंकवाद का प्रकरण आदि विशेष रूप से चित्रात्मक शैली के लिए उल्लेखनीय हैं।

(घ) उपदेशात्मक शैली : प्रस्तुत काव्य के लघु कलेवर को जो इतना विस्तृत रूप दिया है, इसका एक मात्र कारण है- इसकी उपदेशात्मकता। आचार्यश्री इसके माध्यम से सुन्दर सन्देश जन-जन तक पहुँचाना चाहते हैं। माटी, कुम्भ, अग्नि, नदी आदि के माध्यम से तो उन्होंने सदुपदेशों को प्रस्तुत किया ही है, साथ ही, जहाँ-कहीं भी उन्हें थोड़ा-सा भी प्रसंग मिला है वहीं वे अपनी सुभावना के आवेश को न रोक सके। उदाहरण के लिए जब कुम्भकार अवा में अग्नि प्रज्वलित करता है तो अग्नि कहती है :

"अपनी कसौटी पर अपने को कसना/बहुत सरल है,...पर
सही-सही निर्णय लेना बहुत कठिन है,/क्योंकि,
अपनी आँखों की लाली/अपने को नहीं दिखती है।" (पृ. २७६)

तभी प्रज्वलित अवा से स्वैर-विहारिणी ध्वनि निस्सृत होती है-"...अरे राही, सुन!" (पृ. २९०)। यह नदी या काल का प्रवाह पथिकों का सच्चा पथ-प्रदर्शक है। सेठ के यहाँ मुनिवर के आहार के पश्चात् जो उपदेश दिया गया है वह श्रावकों को स्व-पर की पहचान कराता है। और तो क्या, आतंकवाद के प्रश्न में भी यह उपदेशात्मकता विद्यमान रहती है :

"सज्जन अपने दोषों को/कभी छुपाते नहीं,
छुपाने का भाव भी नहीं लाते मन में
प्रत्युत उद्घाटित करते हैं उन्हें।" (पृ. ४६८)

सती-साध्वी सीता का सुन्दर उदाहरण देकर उपर्युक्त विषय को स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत कृति में आदि से अन्त तक सभी प्रसंगों में उपदेशात्मकता विद्यमान है। इस आधार पर यदि इसे उपदेशात्मक शैली का महाकाव्य कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

यदि सूक्ष्म रूप से देखा जाए तो इस काव्य में पशु-पक्षी से सम्बन्धित ज्ञान (श्वान, सिंह, कछुवा, खरगोश, घड़ियाल, भ्रमर, मक्षिका, घोड़ा इत्यादि), कृषि ज्ञान (मिट्टी, बीज, खाद इत्यादि), शकुन-अपशकुन ज्ञान की झलक भी यदा-कदा दृष्टिगोचर होती है। आचार्यप्रवर की विविधमुखी ज्ञानशीलता इस बात का प्रतीक है कि उन्हें विविध शास्त्रों का समुचित ज्ञान है। यह ध्यातव्य है कि जिन ग्रन्थों व शास्त्रों के ज्ञान का उल्लेख किया गया है आचार्यश्री ने उनका एतावत् विस्तार से अध्ययन नहीं किया, बल्कि कहना चाहिए कि उन्होंने यहाँ प्रसंगवश उन विषयों का संकेत मात्र दिया गया है, उनकी विस्तृत जानकारी देना लक्ष्य नहीं था।

वस्तुत: कृतिकार के व्यक्तित्व का प्रभाव किसी न किसी रूप में कृति पर अवश्य पड़ता है। इसी कारण उनकी बहुआयामी प्रतिभा की झलक प्रस्तुत ग्रन्थ में आ गई है। अत: कहा जा सकता है कि आचार्यप्रवर को धार्मिक, साहित्यिक, दार्शनिक, वैद्यक, संगीत शास्त्र, गणित शास्त्र, व्याकरण, अलंकार शास्त्र, शब्द शास्त्र आदि का समीचीन ज्ञान है। वे एक धर्मध्याता होकर भी अनेक शास्त्रों से सम्बन्धित विषय के ज्ञाता भी हैं।

❑

'मूकमाटी' : आत्मिक आरोहण की हिरण्यमयता

डॉ. जनार्दन उपाध्याय

प्रस्तुत काव्य की संरचना आधुनिक काव्य धारा की विशिष्ट उपलब्धि है। सन्त पुरुष आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपनी तपश्चर्या से प्राप्त आध्यात्मिक मूल्यों की काव्यात्मक व्यंजना की है। परिणामत: प्रस्तुत काव्य अध्यात्म एवं कविता का अद्वय बोध कराता है। जो भी जीवन दर्शन एवं सत्य व्यंजित है, वह अनुभवैकगम्य है। वे इस काव्य में आरोपित नहीं लगते, अपितु प्रसंग एवं परिवेश से स्वत: निस्सृत हैं। अनुभवैकगम्य संवेदना को विचारों की परिधि में पचा कर ऐसा काव्यात्मक सौन्दर्य प्रस्तुत किया गया है जो जनमानस को सहज ही आन्दोलित, हिल्लोलित एवं उल्लसित करता है।

सर्जनात्मक कल्पना के उन्मेष क्षण में वस्तु का पदार्थगत संवेदन और बोध नहीं होता है। वहाँ वस्तु की पदार्थिकता की जगह उसकी तात्त्विकता प्रतिभासित होती है। मानवीय विकास यात्रा समतल नहीं है, क्योंकि समतलता देश एवं जड़ का गुण है। मनुष्य में देश एवं जड़ के साथ ही काल एवं चेतना का तद्वत् योग है। देश-काल की समन्वित शक्ति ही मानव है। प्रस्तुत काव्य में मंगल घट का सृष्टित्व पदार्थ नहीं है, चेतना है। इस चेतनत्व को चिन्तन से ही अनुभावित किया जा सकता है। मिट्टी का छोटा-सा घट रचनाकार के लिए 'आर्टिफैक्ट' का काम करता है। यह घट उसके संस्पर्श से 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' (The Good, The Beautiful, The Truth) की अनुभूति कराता है। उसके आलोक में रूप से परे 'अरूप,' 'अपरूप,' 'पारस रूप' के शाश्वत सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है। मिट्टी तुच्छ है, पर कुम्भकार के हाथों सज, सँवर, पूर्ण शुद्ध हो मंगल घट बन जाती है। पर रचना तभी सार्थक हो पाती है जब वह नि:शेष भाव से गुरु के पाद प्रक्षालन में लीन हो जाय और अन्तिम चरम उपास्य अर्हन्त देव से तदाकारिता का रागात्मक संवेदन करने लगे। 'मूकमाटी' की संरचना ही कुछ इस प्रकार की है, जो परिशोधन की प्रक्रिया से जड़ अशुद्ध, मिट्टी का शोधन कर उसे शिवयुक्त करती है। मिट्टी का घट 'मंगल घट' बन कर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' को रूपायित करने लगता है।

'मूकमाटी' का सर्जन चेतना की विकास यात्रा है। परिणामत: यहाँ ऐहिक जीवन की कथा वर्णित न होकर मानवीय आत्मा के उद्धार की गाथा व्यंजित है। इससे यह मानव चेतना का महाकाव्य बन जाता है। ऐहिक घटनाओं में जो भौतिक विकास होता है, वह चेतना में घटित घटनाओं में नहीं होता। परम्परित काव्य की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विपरीत इस काव्य में काव्य की सम्पूर्ण प्रवृत्ति के साथ कला एक स्तर तक अन्तर्मुखी हो गई है। अमूर्त भावों को बिम्बाधायक शब्दों से मूर्तरूप दिया गया है। यह नायक का 'अभिधा व्यापार' और आज की 'सम्बद्ध बिम्ब योजना' (आई. ए. रिचर्ड्स) का उत्कर्ष अभिधार्थ ज्ञान में है। इसमें यत्र-तत्र कठिनाई है, क्योंकि कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है जिनकी व्याख्या अपेक्षित है। ये शब्द भी प्राय: दो प्रकार के हैं– सांस्कृतिक एवं दार्शनिक, यथा :

> *"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है*
> *जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है*
> *और/है यानी चिर–सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)*

इन पंक्तियों का सम्यक् अर्थबोध 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' सूत्र के सन्दर्भ में है। ऐसे काव्य में जहाँ वर्णनात्मकता है, वहाँ सम्प्रेषण सार्थक, शब्द निर्मल और अनुभव से अनुरंजित है। उदाहरण द्रष्टव्य है :

- *"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,*

और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई,
निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।" (पृ. १)

- *"प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और*
  सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा—/भाई है, भाई···!" (पृ. १)

इसमें लक्षणा, व्यंजना के चमत्कार से ऐसे अनेक बिम्बों का सर्जन है जो संवेद्य अमूर्त भाव को मूर्त रूप प्रदान करता है। शब्दशक्तियों के चमत्कार से अमूर्त संवेद्य भावों को कल्पना द्वारा मूर्त रूप दिया गया है। सम्पूर्ण काव्य में अनेकश: स्फुट बिम्ब हैं जो इसके समग्र बिम्ब या महाबिम्ब का सर्जन करते हैं। यही इस महाकाव्य की कथावस्तु है। इसके स्फुट बिम्ब संश्लिष्ट हैं। परिणामत: समग्र बिम्ब भी संश्लिष्ट हो गया है।

'मूकमाटी' के महाकाव्य के सन्दर्भ में नायक-नायिका का प्रश्न भी विचारणीय है। इसमें माटी नायिका है और कुम्भकार को नायक माना जा सकता है। पर लौकिक धरातल पर यह सम्भाव्य नहीं है। अत: इसके समूचे रूमानीपन को आध्यात्मिक रोमांस (Spiritual Romance) के स्तर पर ग्रहण करना समीचीन होगा। माटी प्रतीक्षारत है युग-युग से कुम्भकार के सहृदय हाथों के संस्पर्श की। उसका संस्पर्श मिलते ही उसकी अव्यक्त मंगल मूर्ति घट में रूपायित होती है। पर मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है। यह गुरु इस काव्य के भक्त सेठ के श्रद्धा ये आधार हैं। आध्यात्मिक यात्रा एवं विशुद्धीकरण की साधनाक्रम में तो इस काव्य के नायक गुरु ही हैं और अन्तिम रूप से गुरु के नायक अर्हन्त देव हैं।

प्रस्तुत काव्य का प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' परिशोधन की प्रक्रिया का द्योतक है। मंगल घट का पिण्ड रूप मृदु माटी के रूप में शुद्ध दशा की प्राप्ति करता है :

"केवल/वर्ण-रंग की अपेक्षा/गाय का क्षीर भी धवल है
आक का क्षीर भी धवल है/दोनों ऊपर से विमल हैं
परन्तु/परस्पर उन्हें मिलाते ही/विकार उत्पन्न होता है—
क्षीर फट जाता है/पीर बन जाता है वह !
नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।" (पृ. ४८-४९)

दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' साहित्य चेतना के विविध आयामों को छूता है। नव रसों की नई व्याख्या, संगीत की अन्त:प्रकृति का उद्घाटन, ऋतु वर्णन, तत्त्व दर्शन आदि सभी इसमें समाहित हैं। शब्दोच्चारण मात्र 'शब्द' है। सम्पूर्ण अर्थ को समझना 'शब्द बोध' और समूचे बोध को अनुभूतियों में, आचरण में उतारना 'शोध' है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/...बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है,/फूल का रक्षण हो
और/फल का भक्षण हो।" (पृ. १०६-१०७)

आशय स्पष्ट है शब्द का अर्थ अनुभव में खपकर अर्थवान् बनता है। शब्दार्थ बोध, आचरण और अनुभूति में उतरकर ही मूल्यवान् होता है।

तीसरा खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' माटी की विकास कथा के माध्यम से पुण्य कर्म के सम्पादन द्वारा उत्पन्न श्रेयस् उपलब्धि का चित्रण है। यह श्रेयस् तत्त्व है भेद से अभेद की यात्रा, द्वय से अद्वय की मधुमती भूमि में प्रवेश का :

> *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर*
> *बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)*

चौथा खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' घट के मंगल मूर्ति प्राप्ति की कथा है। घट तपता है, पूर्ण तपकर निकलता है और कुम्भकार द्वारा श्रद्धालु नगर सेठ के सेवकों के हाथ आहार दान के लिए आए गुरु के पाद-प्रक्षालन के लिए जल भरने को देता है। इस खण्ड के अन्त में एक दृष्टिकोण उभरता है—वह है साधना से प्राप्त आत्मोपलब्धि। चारों खण्डों में अनेक स्फुट संश्लिष्ट बिम्ब हैं, जो मूल संश्लिष्ट महाबिम्ब या समग्र बिम्ब को भास्वर बनाते हैं। यह अवश्य है कि प्रसंगों का पूर्वापर क्रम बिखरा है, पर काव्य को नई मनःस्थिति से जोड़ने के लिए यह प्रयास प्रशंसनीय है।

भाषिक संरचना का चमत्कार भी प्रभविष्णु है। शब्दों को प्रचलित अर्थ में प्रयुक्त कर उसकी संरचना को व्याकरण के मानदण्ड से प्रस्तुत कर उसे नई अर्थवत्ता दी गई है। शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक प्रस्तुति अन्तरंग अर्थ के साथ ही अर्थों के अछूते आयाम को व्यक्त करती है। शब्दों की ध्वनियाँ अनेक साम्यों की प्रतिध्वनि में अर्थान्तरित होकर एक भास्वर, ताज़ा नादात्मक बिम्ब उपस्थित करती हैं जो शब्दलय एवं अर्थलय की मार्मिक अन्विति की व्यंजक हैं :

- *"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग*
  'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
  और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)
- *"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !*
  'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
  भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

इसमें दार्शनिकता एवं उपदेशात्मकता का क्षण-क्षण इतना आख्यान है कि काव्य 'डायडेक्टिक' लगने लगता है। साथ ही आख्यान शैली प्रवचनात्मक पद्धति अपना लेती है, यथा :

- *"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !" (पृ. ७)*
- *"सत्ता शाश्वत होती है/सत्ता भास्वत होती है बेटा !" (पृ. ७)*
- *"स्वरातीत सरगम झरती है !/समझी बात, बेटा ?" (पृ. ९)*
- *"असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !" (पृ. ९)*

आई. ए. रिचर्ड्स ने काव्यास्वाद के विविध अवस्थानों में एक 'दृष्टिकोण का निर्माण' भी माना है। आशय है कि काव्य चिन्तन से पाठक को कौन-सी दृष्टि मिलती है ? प्रस्तुत काव्य में पाठक को जो दृष्टि उपलब्ध है, वह है सबका महामौन में विलय। मौन और मुखर दोनों महामौन में समाहित हो जाते हैं। कहने का अर्थ है आत्मिक आरोहण

के उत्कर्ष पर एक ऐसा बिन्दु आता है, जहाँ न शब्द है-न अर्थ है, न गति है-न अगति है, न नृत्य है-न अनृत्य है, न अस्ति है-न नास्ति है। अगर है तो केवल 'शान्त बिन्दु' जिसे इलियट ने अपने 'फोर क्वार्ट' में 'स्टिल प्वाइन्ट' (Still-Point) कहा है। इसमें जड़-चेतन, देश-काल, रूप-अरूप, स्थाणु-क्षिप्र सभी विपरीतताएँ रीत जाती हैं और रह जाता है केवल शान्त बिन्दु (Still-Point)।

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

□

आधुनिक हिन्दी काव्य की अप्रतिम उपलब्धि : 'मूकमाटी'

डॉ. ब्रज भूषण शर्मा

'मूकमाटी' की रचना आधुनिक हिन्दी काव्य की एक अप्रतिम उपलब्धि है, जो अन्त:प्रज्ञा की अन्त:सलिला के मन्थन द्वारा आत्मज्ञान पूरित विवेक का भावास्वादन और कृति में निहित महती भावना का अनुभव पाठकों को कराती है। इस रचना में कवि का उद्देश्य सम्भवत: तुच्छतम समझी जाने वाली वस्तु की उपादेयता और उसमें छिपे सौन्दर्य से हमारा परिचय कराना ही नहीं है अपितु इसके माध्यम से इस सृष्टि के प्रपंच में व्याप्त उन पक्षों से भी हमारा परिचय कराना है जो दृष्ट होकर भी अदृष्ट प्रतीत होते हैं। हमारी दृष्टि उन रहस्यों को भेद कर मूल सत्य को नहीं देख सकती :

"रहस्य के घूँघट का उद्घाटन/पुरुषार्थ के हाथ में है
रहस्य को सूँघने की कड़ी प्यास/उसे ही लगती है जो भोक्ता
संवेदन-शील होता है।" (पृ. १६३)

हमारी जीवन तरंगें रहस्य में छिपी हैं। हमें उनको अपने पुरुषार्थ, ज्ञान, विवेक द्वारा उद्घाटित करना है। कवि ने सभी रहस्यों को माटी तथा कुम्भकार में प्रतीक-विधान द्वारा वर्णित किया है। कवि माटी की महिमा का संकेत करता है :

"कहाँ तक कही जाय माटी की महिमा,/तुला कहाँ है वह,
तौलें कैसे ?/किससे तुलना करें माटी की/यहाँ पर ?" (पृ. ४०६)

कुम्भकार का यह कथन भाव,गुण,धर्म की महत्ता उजागर करता है। प्रथम खण्ड में माटी शिल्पी को अपना इतिहास बताती है। और कवि माटी के जीवन, उसके त्याग, सहनशीलता, विनय और पीड़ा से करुण, विगलित हो उठता है। माटी का जीवन ही वास्तविक और सात्त्विक जीवन है। माटी में ही यह गुण है कि वह अव्यक्त भावों को व्यक्त कर सकती है। वह भावों को निकटता देकर तन की दूरी को मिटाती है। कवि माटी के द्वारा ही अध्यात्म की व्याख्या करता है :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)

मृदुल और कठोर की व्यंजना कंकरों और माटी के माध्यम से की गई है :

"कंकरों का दल रो पड़ा।/फिर, प्रार्थना के रूप में–
"ओ मानातीत मार्दव-मूर्ति,/माटी माँ !/एक मन्त्र दो इसे
जिससे कि यह/हीरा बने/और/खरा बने कंचन-सा" !" (पृ. ५६)

हम संसार में यत्र-तत्र बिखरी हुई वस्तुओं के महत्त्व, गरिमा और उनकी उपादेयता से अपरिचित रह जाते हैं। माटी इसी ओर हमारा ध्यान दिलाती है।

एक तो कवि, फिर ज्ञानान्वेषण और विवेक-तृषा में लीन, उस पर दार्शनिक तत्त्ववेत्ता– ये सभी गुण एक ऐसी काव्य रचना करते हैं जो हमें जीवन के शाश्वत, सनातन मूल्यों और सत्यों से परिचित कराने में समर्थ हैं। हम उनका नित्य अनुभव करके भी उनसे विलग रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप हम जीवन की सच्ची संवेदना और आत्मा में निहित सौन्दर्य-तत्त्व से अनभिज्ञ रह जाते हैं। हम इन्हें तभी देख पाते हैं, अनुभव कर पाते हैं जब हम अपनी मिथ्या

अहंता और लिप्सा से मुक्त हो जाएँ।

यह काव्य रचना चार खण्डों-'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन' एवं 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में लिखी गई है। चारों खण्डों का नामकरण दार्शनिक तत्त्व संवेदना पूर्ण है। इन शीर्षकों में एक रहस्य, जीवन तत्त्व, भावयोग स्फूर्तमान, सौन्दर्य मुखरित है। सम्पूर्ण काव्य में रहस्योद्घाटन की भावमयी सरसता छायी हुई है। हृदय की क्लान्ति तिरोहित होकर एक नवचेतना पाठक में भर जाती है। उदात्त, उद्दाम, निर्मल, भव्य भावावेग उस को परिप्लावित कर देता है। जीवन में एक नई दृष्टि का उन्मेष होता है। कवि कहता है :

"फलानुभूति— भोग और उपभोग के लिए/काल और क्षेत्र की
अनुकूलता भी अपेक्षित है/केवल भोग-सामग्री ही नहीं।" (पृ. ४३९-४४०)

जीवन और साहित्य का एक स्वस्थ दृष्टिकोण, एक निर्मल भाव प्रदान करने का कवि ने संकेत किया है। कभी उसका इंगन प्रकृति की ओर होता है तो कभी भक्ति की ओर :

"पा लिया/प्रकृति और पुरुष का परिचय,
वेद मिला, भेद खुला—/'प्रकृति का प्रेम पाये बिना
पुरुष का पुरुषार्थ फलता नहीं"।" (पृ. ३९४-३९५)

प्रकृति खिलौना मात्र नहीं है। माटी मूक है, परन्तु निरर्थक क्रीड़ा द्वारा हमें उसका अपमान नहीं करना चाहिए। कर्म का गुरु महत्त्व है। कर्मशीलता क्या है ?—

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना
सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

कवि ने इस कर्म तत्परता की परिणति भी स्पष्ट की है :

"और, सुनो !/मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो
नवनीत का लाभ अवश्य होता है।" (पृ. १३)

साधना की कठोरता, संयमित जीवन, आत्मज्ञान का तोष एवं जीवन में पुरुषार्थ से फल-प्राप्ति की इतनी सहज और तर्क सम्मत अभिव्यंजना पाठक को आत्मविमुग्ध ही नहीं करती, वह जीवन की सार्थकता और आत्मगरिमा द्वारा हमारे उत्साह को भी बढ़ाती है।

कवि एक सन्त हैं और सन्त नीर-क्षीर-विवेक सम्पन्न परमार्थी आत्मा होता है, जो इस विश्व में भूत मात्र के लिए कुछ करने को व्याकुल रहता है। उसके लिए आत्म-स्वार्थ कुछ नहीं, कुछ काम्य नहीं होता। निस्पृह भाव से दूसरे के उत्थान और कल्याण में उनकी साधना की चरमसिद्धि होती है। वह विरक्त होकर भी, विरागी होकर भी अपने युग और समाज के प्रति उदासीन नहीं होता बल्कि सचेत कर्तव्यपालक महापुरुष होता है :

"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है ?
क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है··· ?" (पृ. ८१)

आज के हिंसा, रक्तपात, अमानवीयता, स्वार्थपरता युक्त जीवन पर कवि ने कितना गहरा व्यंग्य किया है ! सहज भावोद्वेग करुणापूरित होकर फूट पड़ा है। आज के युग में दया और करुणा का कवि को नितान्त अभाव दिखाई

देता है। मानव कल्याण तथा भूत दया (प्राणीमात्र) की आज महती आवश्यकता है। कवि ने मछली के प्रतीक द्वारा, उसकी वेदना के माध्यम से इस तथ्य को सार्थक व्यंजना देने का प्रयास किया है :

"दया की शरण मिली/जिया में किरण खिली।" (पृ. ७६)

मनुष्य के हृदय में छिपी अनुकम्पा अपने को अभिव्यक्त करने के लिए बेचैन रहती है। इसकी परिणति भी कवि बतलाता है :

"मोक्ष की यात्रा/···सफल हो/मोह की मात्रा/···विफल हो
धर्म की विजय हो/कर्म का विलय हो।" (पृ. ७६-७७)

कवि इस सन्दर्भ में व्यंग्य करने से भी नहीं चूका है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

इस प्रकार की मधुरसिक्त उक्तियाँ पुस्तक में काफी मात्रा में देखी जा सकती हैं। कवि का भाषा पर पूरा अधिकार है। शब्दों का सार्थक और शक्तिपूर्ण प्रयोग उसके ज्ञान का परिचायक ही नहीं बल्कि कवि प्रतिभा का परिचय भी देता है। भाषा में समन्वयात्मक सन्तुलन इसी प्रतिभा का परिणाम है। इसीलिए साररूप में ज्ञान और साधना को बता देना उसके लिए सहज और स्वाभाविक बन गया है। कुछ ही शब्दों में अपनी मूल संवेदना को वह प्रकट कर सकने में समर्थ है :

"सदोदिता सदोल्लसा/मेरी भावना हो,/दानव-तन घर
मानव-मन पर/हिंसा का प्रभाव ना हो।" (पृ. ७७)

कवि ने काव्य रचना में निहित अपने तत्त्वदर्शन को अनेक सूक्तिपरक परिभाषाओं के द्वारा प्रस्तुत किया है। कवि की अभिरुचि इस ओर अधिक दिखाई देती है। वह निरन्तर उपदेश-ग्रहणकर्ताओं को प्रबोधित करते रहना चाहता है :

"पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/अज्ञान को बताता है,/और
पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना/मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है।
यह अति निम्न-कोटि का कर्म है/स्व-पर को सताना है,
नीच - नरकों में जा जीवन को बिताना है।" (पृ. १८९)

उचित-अनुचित, नैतिक-अनैतिक का ज्ञान इतने संक्षेप में कह देना सामान्य बुद्धि के व्यक्ति के लिए सहज नहीं है, जब तक कि किसी ने किसी व्यवहार या सिद्धान्त का पूर्ण पर्यवेक्षण, परीक्षण न किया हो। कवि ने कहा है कि परीक्षक बनने से पहले स्वयं परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक ही नहीं, नैतिक दृष्टि से भी अत्यावश्यक है। कवि ने स्पष्ट किया है कि पर-कल्याण कामी, मोहमुक्त कर्मशील व्यक्ति के लिए तो इस पृथ्वी पर, इस जीवन में ही स्वर्ग है, यदि उपर्युक्त कथन के अनुसार आचरण किया जाए।

नारी की महिमा, गौरव एवं मान-सम्मान का भी कवि ने वर्णन किया है। नारी का मातृरूप, महिला रूप, पत्नी रूप आदि सभी पर उसका ध्यान गया है। उसकी वत्सलता को बड़ी कोमल भावनाओं में पिरोकर वह कहता है:

"अपने हों या पराये,/भूखे-प्यासे बच्चों को देख
माँ के हृदय में दूध रुक नहीं सकता।"(पृ. २०१)

वह पुरुष का मार्गदर्शन करने वाली है :

"...पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का--
'महिला' कहलाती वह !" (पृ. २०२)

फिर :

"अबला के अभाव में/सबल पुरुष भी निर्बल बनता है।" (पृ. २०३)

कवि गृहस्थ की गरिमा को पुरुषार्थों से संयुक्त करते हुए कहता है :

"धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।" (पृ. २०४)

कवि की संवेदना और चिन्तन दृष्टि बहुत गहराई तक गई है। भावुकता और कठोर तथ्यपरकता का अनमोल मेल उसकी अभिव्यक्ति में जिस रूप में मिलता है, वह दुर्लभ ही है। तुच्छ से तुच्छ वस्तु में भी कुछ महान् और श्रेष्ठ पा लेने की उसकी भावना निरन्तर बनी हुई है।

जीवन मूल्यों का उद्घाटन, स्थापना, श्रेष्ठ आचरण की भव्य परिस्थिति एवं कुप्रवृत्तियों में दुष्परिणामों की ओर सन्त कवि पाठकों का ध्यान निरन्तर आकृष्ट करता रहता है :

"अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

और फिर :

"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया है ?" (पृ. २०१)

आज के मनुष्य में पनपते हिंसक भाव, सहज भावना के विकराल रूप में परिवर्तित होने, ईर्ष्या, द्वेष तथा आतंकवाद के फैलाव पर भी उसका ध्यान गया है। वह चिन्तित है कि मनुष्य का जीवन उन्नत होगा या नहीं ? क्या वह स्वार्थी मात्र और पराक्रम रहित रह जाएगा ? क्या उसे संयम के आनन्द का ज्ञान नहीं ? या अधम पापियों का उत्थान करने की आकांक्षा उसमें नहीं है ? चेतना रहित होकर क्या वह अपनी सृजनात्मक वृत्ति को त्याग देगा ? क्या परिश्रम न करके ऐसे सुन्दर जीवन को कालुष्यपूर्ण कर देगा ? क्या उसका जीवन श्रद्धा, सेवा रहित होगा ? वह माटी और कुम्भकार के द्वारा अग्रिम स्वर्णिम जीवन की आशा दिखाता है :

"उसी के तत्त्वावधान में/तुम्हारा अग्रिम जीवन
स्वर्णिम बन दमकेगा।" (पृ. १७)

फिर नवस्फूर्ति का आह्वान करता है :

"अपने-अपने कारणों से/सुसुप्त-शक्तियाँ--/लहरों-सी व्यक्तियाँ,
दिन-रात, बस/ज्ञात करना है तुम्हें।" (पृ. १७)

मानव मूल्यों की दार्शनिक, धार्मिक, नैतिक, सामाजिक सन्दर्भों में स्थापना करते हुए कवि ने उनके व्यावहारिक पक्ष की महत्ता बतलाई है। वर्तमान युग के अनुरूप आदर्श की स्थापना करते हुए तथ्यपरकता को भी कवि ने ध्यान में

रखा है। हम जीवन में श्रेय और प्रेय का समन्वय किस प्रकार कर सकते हैं, कवि ने इसका मार्ग बताने का प्रयत्न किया है।

इस काव्य रचना में उपदेशात्मकता की भरमार होते हुए भी, शुष्क तात्त्विक विषयों पर विचार करते हुए भी कहीं भी नीरसता नहीं आने पाई है और न ही पाठक उसे शुष्क उपदेश मानकर छुटकारा पाने का प्रयत्न कर सकता है। भावपूर्ण विचारों का जाल ऐसा बुनकर फेंका गया है कि पाठक अपने लिए कुछ न कुछ खोजना चाहता है, क्योंकि वर्तमान जीवन विषमताओं, कुण्ठा, हीनभावना और समस्याओं से भरा हुआ है। इसलिए पाठक में उससे निरन्तर जुड़े रहने की भावना बनी रहती है। कवि इस बात का स्वयं संकेत करता है :

''इधर, यह लेखनी भी कह उठी/प्रासंगिक साहित्य-विषय पर, कि
लेखनी के धनी लेखक से/और/प्रवचन-कला-कुशल से भी
कई गुना अधिक/साहित्यिक रस को/आत्मसात् करता है
श्रद्धा से अभिभूत श्रोता जो !'' (पृ. ११२-११३)

कवि तो सात्त्विक भावों की प्रेरणा देकर पाठक के अन्तर्मन को छूता रहता है एवं मानव मात्र के प्रति समान प्रीति भाव रखते हुए उसके कल्याण की कामना करता है। सन्त कवि ने आत्मा की मधुर तरंगों पर तैरते हुए लोक-मंगल भावना पूरित होकर यह काव्य रचना की है। जीवन दर्शन का दिव्य पथ प्रदर्शन कवि के शब्द-शब्द से प्रस्फुटित हुआ है, मानों दिव्यज्ञान का सूर्य कमल पंक्ति को प्रस्फुटित करता हुए आगे बढ़ रहा हो। ऐसे काव्य को हम परम्परागत काव्यशास्त्रीय नियमों की कसौटी पर नहीं परख सकते। फिर भी यदि सूक्ष्म और गहन दृष्टि से देखा जाए तो इस रचना में महाकाव्य की गरिमा परिलक्षित होती है। आरम्भ में मंगलाचरण, नायक, नायिका, भाव, रस, अलंकार, छन्द, भावी कथा का संकेत, प्रकृति चित्रण, जीवन के विविध पक्षों का परिचय, अनेक प्रासंगिक घटनाएँ आदि सभी मिलती हैं। किन्तु इन सब बातों को छोड़ कर आधुनिक काल के महाकाव्य की परिभाषा कि यह जीवन की व्याख्या है, इस कथन को यह काव्य सार्थक सिद्ध करता है।

उदात्त विषय, चरित्र, उद्देश्य, उपदेशात्मकता, भाव गरिमा का अनन्त महासागर कवि की आत्मा की भव्य व्यंजना का अपरिमित भण्डार और विराट् धारणा को प्रस्तुत करता है। अत: ऐसे काव्य को निश्चित और सीमित नियमों के आयामों में परिबद्ध करना न तो सम्यक् होगा, न ही उचित। एक महान् काव्य के अनुरूप गुणों और विशेषताओं का अभाव पाठकों को इसमें नहीं मिलेगा। आधुनिक काल में जिस प्रकार महाकाव्य के लक्षण में और आधार भूमि में परिवर्तन आया है, वही लक्षण 'मूकमाटी' में अवश्य मिलेंगे।

वाग्वैदग्ध्य, अनुप्रास अलंकारों का गुम्फन, शब्द प्रयोग का सौन्दर्य, वर्ण दीप्ति माधुर्य, मुक्त छन्द, लयात्मकता के गुण इसमें उपलब्ध होते हैं। कवि ने काव्य रचना के उद्देश्य और साहित्य की परिभाषा बताई है :

''हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!'' (पृ. १११)

कवि ने साहित्य के अर्थ, उद्देश्य, विषय के साथ अभिधा, लक्षणा एवं व्यंजना का भी प्रयोग किया है। कहीं-कहीं प्रहेलिका और गणित ज्ञान का परिचय उसकी बहुज्ञता का परिचय देते हैं। कवि साहित्य की जीवन्तता में विश्वास

करता है। श्रेष्ठ व्यक्ति के द्वारा साहित्यकार के महत्त्व तथा अनासक्ति भाव पर भी प्रकाश डाला है :

"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।" (पृ. २४५)

आपने अपनी कृति में रचना के भाव को भी बताया है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित!" (पृ. २४५)

वास्तव में एक महान् सन्त चरित्र की ही प्रस्तुति 'मूकमाटी' में की गई है। किन्तु वह केवल विरक्ति भावमय उपदेशकर्ता मात्र ही नहीं है, वह जीवन के सत्य, सौन्दर्य और मूल्यों का प्रस्तोता है तथा नव संस्कृति, समाज और मानव का आदर्श अभिव्यंजित करता है :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)

इतना ही नहीं, वह नवयुग का आह्वान भी भरपूर वेग से करता है :

"नया मंगल तो नया सूरज/नया जंगल तो नयी भू-रज
नयी मिति तो नयी मति/नयी चिति तो नयी यति
...नयी पलक में नया पुलक है/नयी ललक में नयी झलक है
नये भवन में नये छुवन हैं/नये छुवन में नये स्फुरण हैं।" (पृ. २६३-२६४)

नई शक्ति, नई ऊर्जा, ओजस्विता तथा नव जीवन की कामना और इन सबसे जीवन में एक नया निखार आए— यही कवि का काम्य है। समग्र दृष्टि से यह काव्य रचना केवल भाव सौन्दर्य और उदात्त विचार निधि से ही पूरित नहीं है, अपितु आज के युग के सन्दर्भ में इसकी प्रासंगिकता अत्यन्त सार्थक है। यदि हमें अपनी वर्तमान और भावी पीढ़ियों को स्वस्थ संस्कार, दृष्टि, विचार, आदर्श तथा कर्मशीलता देनी है, तो हमें ऐसी कृतियों की बहुत आवश्यकता है। नव संस्कारशीलता वर्तमान युग की महानतम आवश्यकता है।

हम पिछली शताब्दी से जिस विषमता और विभीषिका का सामना कर रहे हैं, असंगतियों में जी रहे हैं, जीवन मूल्यों के निरन्तर ह्रास को सहन कर रहे हैं, भविष्य के प्रति शंका और अनिश्चय में जी रहे हैं तो हमें निश्चय ही ऐसे साधक कवियों से प्रेरणा लेनी होगी। जीवन मूल्यों की समग्रता और पूर्णता का प्रबोधक यह महाकाव्य हमारे जीवन में पनपते अनेक विकारों, जड़ताओं और हीनवृत्तियों को दूर करेगा और साथ ही साथ कलाकार की सामाजिक उपादेयता को भी स्थापित करेगा। नैतिक उत्थान और लोक मंगल का समन्वय होने के साथ-साथ यथार्थ का उचित परिबोध भी 'मूकमाटी' द्वारा होता है

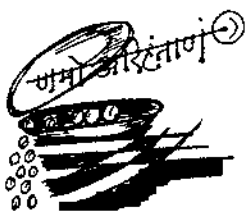

पृष्ठ ११०
जिल-मिल मिला-मिल·····
बहुत कम सुनने को मिला यह।

❑

'मूकमाटी' में युग-बोध का चित्रण

डॉ. भानु कुमार जैन

दिगम्बर जैन समाज में जिन आचार्यों की ख्याति आज सर्वत्र व्याप्त है उन में एक आचार्य विद्यासागर भी हैं। अध्यात्म, दर्शन, श्रमण संस्कृति, साधना, तपश्चर्या, धार्मिक देशना आदि सभी दृष्टियों से वे अपने नाम को सार्थक करते हैं। वास्तव में वे ज्ञान के एवं विद्या के सागर हैं। जितना गहरा सागर होता है निस्सन्देह उतने ही गहरे विद्यासागर हैं। जिस प्रकार सागर अपने भीतर अनन्त मुक्ताराशि को छिपाए रहता है उसी प्रकार विद्यासागर भी अनन्त ज्ञानराशि को अपने भीतर छिपाए हुए हैं। उनकी अमृतोपम और विमल वाणी का श्रवण करके अरिहन्त भक्तों की लालसा शान्त होती है। यही कारण है कि उनके प्रवचनों को सुनने के लिए धर्मानुरागी नर-नारियों की अपार भीड़ उमड़ती रहती है। उनका तपस्वी स्वरूप अनुपम है, उनकी धर्म साधना अनुकरणीय है।

धर्मसाधना के साथ-साथ विद्यासागर जी काव्यसाधना में भी तल्लीन रहते हैं। उनके सहृदय हृदय में एक ऐसा कवि बैठा हुआ है जो उनसे सतत नई-नई काव्यकृतियों का प्रणयन कराता रहता है। 'मूकमाटी' से पूर्व भी उन्होंने कई काव्यकृतियों का सृजन किया है। वे कृतियाँ हैं– (१) 'नर्मदा का नरम कंकर', (२) 'डूबो मत, लगाओ डुबकी', (३) 'तोता क्यों रोता ?' इनके अतिरिक्त उन्होंने पूर्व जैनाचार्य कुन्दकुन्द कृत 'समयसार', 'नियमसार' और 'प्रवचनसार' तथा अन्य आचार्यों द्वारा सृजित ग्रन्थों के लगभग दो दर्जन से भी अधिक पद्यानुवाद किए हैं, जो उनके कविहृदय का पूर्ण परिचय देते हैं। निरन्तर आराधना में लीन और मुनिमुद्रा में विलीन आचार्यश्री ने कब और कैसे समय निकाल कर लगभग पाँच सौ पृष्ठीय मुक्त छन्द के बृहदाकार महाकाव्य 'मूकमाटी' का सृजन किया, यह सब उनकी अद्‌भुत काव्य प्रतिभा का चमत्कार ही समझना चाहिए।

सन्त कवि विद्यासागरजी का यह 'मूकमाटी' काव्य आधुनिक भारतीय साहित्य और विशेषकर हिन्दी-भाषा-साहित्य संसार के लिए तो एक युगान्तरकारी उपलब्धि है, जिसकी नवीनता एवं मौलिकता तो उसके नाम से ही विदित हो जाती है। यह प्रयोग अपने आप में एक नूतन प्रयोग है परन्तु हिन्दी की प्रयोगवादी कविता की तरह का प्रयोग भी नहीं है जिसमें भाव, भाषा, अलंकार, प्रतीक व बिम्ब सभी में नयापन लाने की होड़ लग गई थी और होड़ में सब की हत्या कर दी गई थी। अभी तक साहित्य में माटी, कुम्भ और कुम्भकार की व्यथा-कथा को लेकर सम्भवतः इतना बड़ा काव्य, महाकाव्य के कलेवर का काव्य, लिखा ही नहीं गया। कंकर कणों से अलग हुई मिट्टी, जल-चक्र-दण्ड एवं कुम्भकार के सहयोग से निर्मित कुम्भ, कुम्भ की अग्नि-परीक्षा (अवा में पकना), मिट्टी का पक्व घट बनने के बाद देवता के चरणों में चढ़ने की भावना आने के पूर्व ही स्वर्ण कलश में ईर्ष्याभाव जागरण, और फिर ईर्ष्याभाव के वशीभूत होकर स्वर्ण कलश द्वारा विघ्नों, बाधाओं और उपसर्गों के दलों का आमन्त्रण, कुम्भ को अपने करकमलों में धारण करने वाले सेठ एवं उसके परिवार पर विपदाओं के पहाड़ टूटना तथा अदम्य साहस के साथ उन सब को सहना, गज दल और नाग-नागिनों के द्वारा सेठ एवं उसके परिवार की दल से रक्षा, कुम्भ द्वारा सेठ को समय-समय पर सान्त्वनामय उपदेश, आतंकित हुए बिना स्वर्ण कलश द्वारा आहूत बाधा-दल पर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखना और फिर अन्त में बाधा-दल द्वारा शान्त होकर श्रमण सन्त का प्रवचन सुनना–ये कुछ कथासूत्र हैं, जिनका संयोजन करके कवि विद्यासागर ने पूरा काव्य रचा है। माटी की विकास यात्रा या माटी की विकास कथा को वाणी देने का जो कार्य कवि ने किया है वह सराहनीय तो है ही, वन्दनीय-अभिनन्दनीय भी है।

माटी, कुम्भ, कुम्भकार– ये शब्द साहित्य के लिए नए भी नहीं हैं। तीनों का प्रयोग साहित्य में प्राचीन काल

से होता आया है। हिन्दी के भक्तिकालीन कवि कबीरदास ने कुछ दोहे लिखे हैं जिनमें से एक दोहे में माटी और कुम्भकार के पारस्परिक वार्तालाप द्वारा संसार की असारता का वर्णन किया है :

"माटी कहै कुंभार सों, तू क्यों रूँदै मोहि।
इक दिन ऐसा आयगा, मैं रूँदूँगी तोहि ॥"

इस में कबीरदास ने कुम्भकार को संसारी जन की संज्ञा दी है और माटी के द्वारा उसे चेतावनी भी दी गई है कि आज तू मुझे रूँद रहा है, अपने निर्मम हाथों से लोंदा (पिण्ड) बना रहा है। परन्तु एक दिन हे कुम्भकार ! तेरा भौतिक शरीर मुझ में ही समा जाएगा। तेरा कंचन जैसा शरीर मिट्टी में ही मिल जाएगा। दूसरे दोहे में कबीरदास ने रहस्यवादी कवि की तरह कुम्भ को आत्मा और जल को परमात्मा मानकर जो अभिव्यक्ति की है, वह इस प्रकार है :

"जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है, बाहिर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहि समाना, यहु तत कथो गियानी ॥"

जल (पर ब्रह्म) की सर्वव्यापकता और कुम्भ (आत्मा) की उसमें विलीनता दिखाकर कवि ने दार्शनिकता का संकेत दिया है।

दूसरे भक्तिकालीन कवि सूरदास ने अपने 'सूरसागर' के एक पद में कुम्भ एवं कुम्भकार (कुलाल) के माध्यम से आत्मा-परमात्मा की रूपक योजना को अभिव्यक्त किया है :

"ऊधौ भली करी तुम आये
विधि-कुलाल कीन्हे कांचे घट, ते तुम आनि पकाये
रंग दियौ हो कान्ह साँवरे, अंग-अंग चित्र बनाये
गलन न पाये नयननीर तें, अवधि-अटा जो छाये
ब्रज अरि अवाँ जोग करि ईंधन, सुरति अगनि सुलगाये
फूंक उसांस प्रेम परजारनि, दरसन आस फिराये
भरे संपूरन सकल प्रेमजल, छुअन न काहू पाये
राजकाज तें गए सूर प्रभु, नंदनंदन कर लाये...।"

विरह-वेदना से व्याकुल गोपियों को श्रीकृष्ण के सन्देशवाहक उद्धवजी का ब्रज में आगमन इस दृष्टि से तो शुभ ही लगा कि कच्चे घड़ों के रूपवाली गोपियाँ विरहाग्नि में पक कर पक्के घड़ों के रूप में परिवर्तित हो गईं। उद्धवजी के आते ही सारा ब्रज अवाँ बन गया, योगसाधना का सन्देश ईंधन बन गया, स्मृतियों ने उद्दीप्त होकर अग्नि का काम किया, श्वासों ने फूँकनी का कार्य किया। इस प्रकार जो अग्नि प्रज्वलित हुई उससे श्रीकृष्ण के पुनः दर्शन की आशा ही मिट गई। कोरे घड़े या पक्व कलश बन कर, गोपियाँ श्रीकृष्ण के राज्याभिषेक के समय नीरभरे मंगल कलश बनकर उत्सव की शोभा बढ़ावें, बस यही एक मात्र भावना गोपियों में रह गई है। यह न कोई सन्देश है और न ही कोई उपदेश, यह तो गोपियों के हृदय का आर्तनाद है, आत्म निवेदन है। इस पद में घट की अग्नि परीक्षा एवं उसकी राज्याभिषेक में मंगल कलश के रूप में बैठने की अन्तिम अभिलाषा की मार्मिक अभिव्यक्ति कवि सूरदास ने की है।

साहित्य में ऐसे प्रयोग, पद तथा दोहे विरल हैं। इनको लघु प्रयास की संज्ञा दी जा सकती है। आचार्य श्री विद्यासागरजी ने माटी को अपने महाकाव्य की कथावस्तु बनाकर यह सिद्ध कर दिया है कि माटी में बहुत बड़ी शक्ति

निहित है। जिस प्रकार एक तुच्छ बीज मिट्टी, जल तथा वायु का सहयोग पाकर विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार पददलित मूकमाटी ने 'मूकमाटी' महाकाव्य का रूप धारण कर लिया है। माटी को एक बृहदाकार आयोजन का रूप देना कविश्री की कवित्वशक्ति का सफल और सार्थक निदर्शन है। वास्तव में 'मूकमाटी' महाकाव्य आचार्य श्री विद्यासागरजी की मूक साधना और मूक आराधना की हिन्दी साहित्य को चिरस्मरणीय देन है। निश्चय ही 'मूकमाटी' तपःपूत आत्मा का साहित्य को प्रसाद है।

'मूकमाटी' काव्य को कवि ने चार खण्डों में निबद्ध किया है। खण्डों के नाम भी किसी प्राचीन परिपाटी—सर्ग योजना- पर आधृत न हो कर कवि की अपनी सूझबूझ एवं दूरदृष्टि के परिचायक हैं। केवल विषयवस्तु को आधार बनाकर उनका नामकरण किया गया है। पहला खण्ड है—'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', जो ८८ पृष्ठों में है। दूसरा खण्ड है— 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', जो १०० पृष्ठों का है। तीसरा खण्ड है—'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन', जो ८० पृष्ठों का है और अन्तिम चौथा खण्ड है—'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख', जो २२० पृष्ठों का है और परिमाण की दृष्टि से सबसे बड़ा है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी जहाँ संस्कृत, कन्नड़, मराठी और हिन्दी के ज्ञाता हैं वहाँ वे अँग्रेजी भाषा से भी सुपरिचित हैं। कन्नड़ उनकी मातृभाषा है। प्रखर प्रतिभा के धनी विद्यासागरजी का व्यक्तित्व बहु आयामी है। एक ओर वे वैयक्तिक साधना-आराधना में निरत रहने वाले नग्न मुनि हैं तो दूसरी ओर सन्तों की-सी वाणी में प्रवचन देने में भी पटु हैं। एक ओर वे अलौकिक काव्यकुशलता से मण्डित हैं तो दूसरी ओर वे बहुज्ञता की दृष्टि से पण्डित हैं। एक ओर वे मुनिवर, आर्यिका, ऐलक एवं क्षुल्लकजी आदि को दीक्षा देने वाले मुनिश्रेष्ठ दीक्षागुरु हैं तो दूसरी ओर मुनिसंघ के नियमों का कठोरता से पालन कराने वाले आचार्य हैं। ऐसे सन्त कवि विरले ही होते हैं जिन में एक साथ और एक ही स्थान पर इस प्रकार की विविध विधाएँ विद्यमान रहती हैं। इस अर्थ में उन पर 'यथा नाम तथा गुण' की उक्ति चरितार्थ होती है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के प्राचीन आचार्यों ने महान् कवि में तीन बातों का होना अनिवार्य माना है— प्रतिभा, लोक-शास्त्र ज्ञान या अनुभव, और अभ्यास। इन में प्रतिभा तो प्रथम आवश्यकता है। यह काव्य प्रतिभा ही काव्य के कल्पवृक्ष की जननी है। उसी से इस कल्पवृक्ष पर नवनवोन्मेषशालिनी वल्लरियाँ लगती हैं और समस्त कल्पवृक्ष युगों-युगों तक कवि कीर्ति को चिरस्थायी बनाए रखता है, जिससे कविकृति भी कमनीय, रमणीय और कालातिक्रमणीय बन जाती है। लौकिक ज्ञान की भी महती आवश्यकता है जिसके बिना सम्पूर्ण कवि-कर्म सदोष और कलुषित हो जाता है। लौकिक ज्ञानविहीन कवि अपने वास्तविक कर्म से भ्रष्ट हो जाता है और उसका काव्य अविश्वसनीयता की कोटि में परिगणित किया जाता है। कवि क्योंकि अपनी काव्य प्रतिभा द्वारा एक नए संसार का निर्माण करता है इसलिए उसमें उसका बाह्यज्ञान या लोकज्ञान नैपुण्य बहुत सहायता प्रदान करता है। यही कारण है कि उसका काव्य संसारीजनों का कमनीय कण्ठहार बनता है। अभ्यास की भी आवश्यकता इसलिए है कि कवि इसके द्वारा अपने काव्य में काव्यकला के सभी गुण समाहित करता है। बार-बार अभ्यास करने से उसका काव्य सर्वगुण सम्पन्न बनता है और शब्दों को मौक्तिक लाभ मिलता है। अभ्यास के विषय में कहा भी गया है कि इससे मन्दबुद्धि या जड़मति भी उसी प्रकार ज्ञानवान् बनता है जिस प्रकार बार - बार रस्सी के आने-जाने या स्पर्श से कठोर प्रस्तर शिला पर भी निशान बन जाते हैं :

"करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात से, सिल पर पड़त निशान॥"

वस्तुतः आचार्यश्री ऐसे कवि हैं जो कवियों की हर कसौटी या परिभाषा पर खरे उतरते हैं। ऐसे ही मनीषी

कवियों के लिए कहा गया है :"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः।" (ईशावास्योपनिषत् / ८)

बीसवीं और इक्कीसवीं शती के मिलन बिन्दु पर खड़े सन्त कवि विद्यासागरजी आत्म-परमात्मतत्त्व तक ही सीमित नहीं हैं, वे वर्तमान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और प्राकृतिक परिस्थितियों से पूर्णरूपेण परिचित हैं। बाह्य संसार से आँखें मूँद कर कोई भी कवि सफल नहीं हो सकता। उसे अपने परिवेश का चित्रण तो अवश्य करना पड़ता है। अपने वर्तमान समय, परिवेश, परिस्थितियों से बचकर, अलग रहकर, उन्हें भुलाकर, कोई भी कवि अपना काव्यसृजन नहीं कर सकता। वायवीय वातावरण में विचरण करके कवि अपनी कला में सजीवता नहीं ला सकता। कवि समाज का ही विशिष्ट अंग है, इसलिए वह समाज से विमुख नहीं हो सकता। अपने युग या समय का चित्रण करके ही वह युगद्रष्टा कलाकार कहला सकता है। आचार्यश्री यद्यपि दिनचर्या में आत्मकल्याण की साधना और स्वान्तःसुखाय की भावना को प्रमुखता देते हैं, किन्तु काव्यसृजन में वे समाज-देश-विदेश की ओर भी उन्मुख हो जाते हैं। 'मूकमाटी' में उन्होंने जिस युगबोध का चित्रण किया है, उससे यह विदित हो जाता है कि उनकी अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का ही काव्य में बहिर्मुखीकरण हो गया है।

अब यहाँ उन परिस्थितियों, समस्याओं और विषयों का विवेचन आवश्यक है जो आधुनिक हैं, सामयिक हैं, जिनका हमारे वर्तमान जीवन से सीधा सम्बन्ध है। हम जिन के भुक्तभोगी हैं, जो हमारे चारों ओर हैं और जिनसे हमें हर्ष-विषाद दोनों की प्राप्ति होती है - ऐसे विषयों पर व्यक्त किए विचार कवि के अपने हैं, नितान्त स्पष्ट एवं सर्वग्राह्य हैं।

लोकतन्त्र और समाजवाद में आस्था की अभिव्यक्ति

आज की शासन प्रणालियों में जो प्रणाली सर्वाधिक सफल और सर्वहितकारी मानी जा रही है वह है लोकतान्त्रिक प्रणाली। परतन्त्रता समाप्ति के बाद भारत में यही प्रणाली अपनाई गई है। विश्व में सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश हमारा भारत वर्ष ही है। कुछ लोग इसे भीड़तन्त्र कहकर इसका उपहास करते हैं फिर भी स्वतन्त्र विचारों की पद्धति होने के कारण इसे ही प्रासंगिक माना जा रहा है। साम्यवादी विचारधारा आज समाप्त होती जा रही है। सोवियत संघ का विघटन इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। वहाँ की जनता पुराने ढाँचे को तोड़ कर, पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर आज स्वतन्त्र वातावरण में साँस ले रही है। विश्व के कई अन्य कम्युनिस्ट देश लोकतन्त्र की अवधारणा से प्रभावित हो रहे हैं। स्वतन्त्रता की चाह के कारण चीन जैसे विशाल देश में जागरण का शंखनाद हो चुका है। उस समय वहाँ चाहे विद्यार्थियों की भावनाओं का दमन कर दिया गया हो परन्तु भविष्य में वही आग फिर भड़क सकती है। लोकतन्त्र की राह पर चलने की दुर्दमनीय भावना उन में जाग चुकी है।

'ही' और 'भी' इन दो बीजाक्षरों के द्वारा कवि श्री विद्यासागरजी ने भारतीय सभ्यता और पाश्चात्य सभ्यता, लोकतन्त्र और राजतन्त्र, सदाचार और अनाचार, एकान्तवाद और अनेकान्तवाद, राम और रावण का चित्रण किया है और बहुत संक्षेप में लोकतन्त्र की व्याख्या द्वारा यह अभिमत भी प्रकट कर दिया है कि इस प्रणाली से व्यक्तियों की भावना का परिष्कार होता है और अधिकाधिक व्यक्तियों की हित साधना का लक्ष्य स्वीकार होता है। इसमें 'मैं' की भावना का नाश होता है और समूह की भावना का उदय होता है। कवि का कथन द्रष्टव्य है :

" 'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,/किन्तु भीड़ नहीं,
'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।/लोक में लोकतन्त्र का नीड़
तब तक सुरक्षित रहेगा/जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।

'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है/स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीज/'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

बीजाक्षरों में कितनी शक्ति निहित होती है, कितना सार निहित होता है, यही दिखलाना कवि को अभीष्ट है। नए-नए सन्दर्भों से अक्षरों को जोड़ने की कला में कवि श्री विद्यासागरजी बहुत ही प्रवीण हैं। प्राचीन सूत्रों की नई-नई व्याख्याओं को प्रस्तुत करने में उन्होंने जिस ज्ञाननिधि का परिचय दिया है उससे उनकी ज्ञानगरिमा प्रकट होती है। शब्दों में गहरे पैठ कर और उनके मर्म को समझ कर उन्होंने जो उनका दूरगामी अर्थ निकाला है, जो उन्हें एक नई अर्थवत्ता प्रदान की है, वह उनकी गुरु गम्भीरता को स्पष्ट करती है। यह केवल वाणी का विलास मात्र नहीं है, कवि की अपनी विद्या-पारंगतता की विशेषता है।

सेठ के परिवार का संकोच दूर करने के लिए कुम्भ के मुख से निस्सृत निम्नपंक्तियाँ यही तो बताना चाहती हैं कि स्वतन्त्रता की कामना किसे नहीं होती। बन्धन चाहे सोने का ही क्यों न हो, है तो वह बन्धन ही। पिंजरे में रहने वाला शुक भी क्या मुक्ति की कामना नहीं करता ? जो स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता मानते हैं, कवि उनसे सहमत नहीं है। तभी वह कहता है :

"यहाँ/बन्धन रुचता किसे?/मुझे भी प्रिय है स्वतन्त्रता
तभी···तो···/किसी के भी बन्धन में/बँधना नहीं चाहता मैं,
न ही किसी को/बाँधना चाहता हूँ।/जानते हम,
बाँधना भी तो बन्धन है !/तथापि/स्वच्छन्दता से स्वयं
बचना चाहता हूँ/बचता हूँ यथा-शक्य/और/बचना चाहे हो, न हो
बचाना चाहता हूँ औरों को/बचाता हूँ यथा-शक्य।" (पृ. ४४२-४४३)

स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता दो अलग अलग शब्द हैं। कवि ने स्वच्छन्दता की वकालत न कर स्वतन्त्रता के पक्ष में अपना मत प्रकट किया है, जो उचित ही है। वह नहीं चाहता कि स्वतन्त्रता का दुरुपयोग हो।

इसी प्रकार समाजवाद के विषय में कवि की निर्भ्रान्त धारणा है कि समाजवाद केवल नारा लगाने से नहीं आता। जब तक समानता की स्थापना नहीं होती, वर्गभेद समाप्त नहीं होता, भ्रातृत्व-भावना उत्पन्न नहीं होती, वैयक्तिक स्वार्थों को तिलांजलि नहीं दी जाती तब तक समाजवाद की आधारशिला नहीं रखी जा सकती। कवि ने खोखले समाजवाद की खिल्ली उड़ाई है। 'मैं' सबसे पहले और 'समाज' बाद में। जब तक यह अर्थ समाजवाद का लगाया जाता रहेगा तब तक समाजवाद बहुत दूर रहेगा। कवि का व्यंग्य कितना सटीक है, देखिए :

"फिर भला बता दो हमें,/आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं/समाज बाद में !" (पृ. ४६१)

समाजवाद के सही अर्थ की ओर इंगित करते हुए कवि यह स्थापित करना चाहता है कि सामूहिक भावना से भरा होने के कारण ही वह समाजवाद कहला सकता है, अन्यथा नहीं :

"अरे कम-से-कम/शब्दार्थ की ओर तो देखो !/समाज का अर्थ होता है समूह
और/समूह यानी/सम—समीचीन ऊह—विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार—प्रसार से दूर

प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे !" (पृ. ४६१)

भौतिकवादी दृष्टि पर मदान्धता का आरोप

आज के भौतिकतावादी युग में माया के प्रति मोह इतना बढ़ गया है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के रुधिर का प्यासा बन गया है। 'हाय माया-हाय माया' की पुकार सर्वत्र सुनाई दे रही है। हर क्षेत्र में, हर कार्य में अर्थ की लालसा बलवती होती जा रही है। चारों पुरुषार्थों—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष में से एक ही अर्थ का पुरुषार्थ रह गया है। पैसे की प्यास इतनी बढ़ती जा रही है कि मनुष्य साम, दण्ड और भेद के द्वारा दाम कमाना चाहता है। लोकलाज को तिलांजलि दे दी है, परमार्थ का मार्ग त्याग दिया है। धनोपार्जन एवं धन संवर्धन में लोकाचार, सदाचार, नैतिकता, सदाशयता—इन सब को कोसों पीछे छोड़े जाने का उपक्रम किया जा रहा है। कवि का हृदय उन सब बातों से क्षुब्ध है, तभी तो वह कहता है :

- *"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,*
  अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)
- *"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया ?*
  क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?
  क्या धन-संवर्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?" (पृ. २०१)

कलाओं के विषय में कवि श्री विद्यासागरजी का कथन कितना सत्य है कि कला सुख और शान्ति को लाने वाली है, सुन्दरता की अनुभूति कराने वाली है, आनन्द प्रदान करने वाली है। किन्तु खेद है कि ऐसी कला में भी आज अर्थ का दर्शन किया जा रहा है, उसे भी आजीविका का साधन बनाया जा रहा है, उसे स्वार्थिनी बनाया जा रहा है, उसका विक्रय किया जा रहा है। कवि का कथन यहाँ द्रष्टव्य है :

"सकल-कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल/अर्थ का आकलन-संकलन।
आजीविका से, छी···छी···/जीभिका-सी गन्ध आ रही है,
नासा अभ्यस्त हो चुकी है/और/इस विषय में, खेद है—
आँखें कुछ कहती नहीं।/किस शब्द का क्या अर्थ है,
यह कोई अर्थ नहीं रखता अब !/कला शब्द स्वयं कह रहा कि
'क' यानी आत्मा—सुख है/'ला' यानी लाना—देता है
कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)

इसको पढ़ कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त की वे पंक्तियाँ बरबस स्मरण हो आती हैं जिनमें उन्होंने कला को अर्थ का पर्याय मानने वालों की आलोचना की है :

"मानते हैं जो कला के अर्थ ही/स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही···।"

स्वर्ण (धन) को सवर्ण मानकर कवि ने उसे दिवान्ध बताया है, बन्धन से साक्षात्कार कराने वाला बताया है और जीवन

को परतन्त्र बनाने वाला बताया है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

धनिकों विशेषकर कृपण धनिकों की कृपणता पर कवि ने करारा व्यंग्य किया है। पहले तो वे किसी को देते ही नहीं हैं और यदि देते भी हैं तो उनका देना न देने के बराबर होता है। काकतालीय न्याय से कवि ने इसे सिद्ध किया है। जिस प्रकार ओस कणों से, लवण कणों से प्यास नहीं बुझती उसी प्रकार धनिकों से प्राप्त धन से प्यास नहीं बुझती, द्विगुणित हो जाती है। कृपण धनिकों की कृपा निर्धनों पर नहीं होती, कृपणता पर होती है। इसी बात को लेकर कवि का कथन दर्शनीय है :

"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,
उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से
कुछ मिल भी जाय/वह मिलन लवण-मिश्रित होता है
पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ. ३८५)

आज पाणिग्रहण को प्राण-ग्रहण का पर्याय बताते हुए कवि ने मत्कुण (खटमल) के माध्यम से लोभी आदमियों की प्रकृति–प्रवृत्ति का जो वर्णन किया है वह तो अत्यन्त ही मार्मिक है। लोभी आदमी सेवकों से सेवा तो बहुत लेते हैं परन्तु सेवा के बदले में वेतन भी नहीं देते और देते भी हैं तो बड़ी दुर्भावना के साथ, मनोमालिन्य के साथ। मनु की सन्तान मनुष्य का ऐसा व्यवहार ! ऐसे मनुष्य मानवता पर कलंक हैं जो मानव को मानव न मानकर पशु मानते हैं और उन से बोझा उठवाते हैं। रुधिर पीने वाले मत्कुण द्वारा रुधिर पीने वाले लोभी को दिया गया यह उपदेश-कथन कितना सार्थक है, देखिए :

"लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी/प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।
प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते/और
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !/महामना मानव !/देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में/पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी, एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता
या देना पड़ता/वह दुर्भावना के साथ ही।/जिसे पाने वाले पचा न पाते सही
अन्यथा/हमारा रुधिर लाल होकर भी/इतना दुर्गन्ध क्यों ?" (पृ.३८६-३८७)

श्रम व कर्म को सर्वोच्च प्राथमिकता

कर्मण्य पुरुष की वन्दना सदैव से होती आई है और अकर्मण्यों का अपमान और निरादर होता आया है। अकर्मण्यों को आलसी कहा जाता है और वे कर्मभूमि पर भार कहलाते हैं। कर्मशील मनुष्यों के लिए तो यह वसुन्धरा वसुमती बन जाती है। वसुन्धरा का भोग भी वही कर पाते हैं, जो कर्मशील होते हैं। श्रम को शक्ति कहा जाता है और जो श्रमशील हैं वे ही धरा पर स्वर्ग उतार कर ला सकते हैं। श्रीमद् भगवद् गीता में श्रीकृष्ण ने बहुत पहले कर्म पर बल

दिया था और भारतवासियों को कर्मशील बनने के लिए आह्वान किया था। किन्तु भारतवासी कर्म के स्थान पर फल को महत्त्व देने लगे और कर्म-सन्देश को भूल गए, जो चिन्ता का विषय है। उन्होंने तो कहा था :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतु र्भू र्मा संगस्तुकर्मिणि॥"

कवि श्री विद्यासागरजी ने कर्महीन मनुष्य की भर्त्सना की है और कहा है कि कर्महीन के लाल कपोल का स्पर्श शृगाल भी नहीं करना चाहेगा :

"श्रम करे सो श्रमण !/ऐसे कर्म-हीन कंगाल के/लाल-लाल गाल को
पागल से पागल शृगाल भी/खाने की बात तो दूर रही,
छूना भी नहीं चाहेगा।" (पृ. ३६२)

इस घोर कलिकाल में आज अधिकांश मनुष्य कर्म से पराङ्मुख होकर जघन्य कार्यों में व्यस्त हो गए हैं। हत्या, अपहरण, डकैती, फिरौती, लूटपाट, धोखाधड़ी, रिश्वत, कमीशन आदि में फँस कर आज वे अपने वास्तविक कर्म को छोड़ बैठे हैं। उन्होंने श्रम की महत्ता को भुला दिया है और श्रमशीलों तथा ईमानदारों का उपहास उड़ाना प्रारम्भ कर दिया है। लखपति और करोड़पति बनने की बलवती स्पृहा ने उन्हें अपराधों में लिप्त कर दिया है। नैतिकता नाम की किसी वस्तु का मूल्य रह नहीं गया है। आज वही बड़ा है जो बेईमानी, तस्करी के धन्धों में धन कमा रहा है और आलीशान बंगलों में रह रहा है। कविश्री की मान्यता है कि आज राम जैसे श्रमशीलों की अति आवश्यकता है जो अपहरण, अन्याय और अत्याचार करने-कराने वालों के अधिपति लंकापति रावण जैसों का वध करें और त्राहि-त्राहि करती हुई जनता की रक्षा करें :

"भवभीत हुए बिना/श्रमण का भेष धारण कर,/अभय का हाथ उठा कर,
शरणागत को आशीष देने की अपेक्षा,/अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले
रावण जैसे शत्रुओं पर/रणांगण में कूदकर/राम जैसे
श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही/कलियुग में सत्-युग ला सकता है,
धरती पर···यहीं पर/स्वर्ग को उतार सकता है।" (पृ. ३६१-३६२)

आतंकवादी विचारधारा का घोर विरोध

"अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मः ततो जयः" में विश्वास रखने वाले, अहिंसामयी धर्म की ध्वजा को दिग्दिगन्त में फहराने वाले कवि श्री विद्यासागरजी की दृष्टि से वह भयंकर आतंकवाद भी नहीं बच पाया है जिसने आज भारत वर्ष के जन-जन को आतंकित किया हुआ है। उसने असंख्य माताओं से उनके लाड़ले पुत्र, ललनाओं से उनके सुहाग ही नहीं छीने हैं, निर्दोष लोगों के प्राण भी लिए हैं। पंजाब तो पिछले दूसरे दशक में इस आतंकवाद की भीषण चपेट में था। वहाँ पर प्रतिदिन की जन हत्याओं ने मनुष्य के मानस को उद्वेलित कर रखा था। हिंसा का ताण्डव नृत्य नित्य प्रति होता रहता था और भविष्य में भी इसके समाप्त होने के लक्षण नहीं दिखाई दे रहे थे। देश के अन्य प्रान्तों में भी यह फैलता जा रहा है। असम और जम्मू कश्मीर में आतंकवादी गतिविधियाँ बढ़ रही हैं, जिनसे सर्वत्र समाज में असुरक्षा की भावना फैल रही है।

देश का हर नागरिक व्याकुल और चिन्तित है। इस आतंकवादी प्रवृत्ति को पड़ोसी देश तथा अन्य देश प्रोत्साहन एवं सहायता दे रहे हैं। जो देश भारत की उत्तरोत्तर उन्नति, ज्ञान-विज्ञान एवं कृषि के क्षेत्रों में हुई प्रगति, प्राचीन गौरव गाथा एवं सांस्कृतिक वैभव से ईर्ष्या करते हैं और भारत की एकता तथा अखण्डता को खण्डित होते देखना चाहते हैं, वे ही आतंकवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। कवि श्री विद्यासागर की मान्यता है कि आतंकवाद का अवतार तभी होता है जब किसी के बढ़ते सम्मान को देखकर अन्य को आघात लगता है। आघात फिर प्रतिशोध को जन्म देता है जो दूसरे का अहित ही नहीं करता, अपना भी करता है :

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अति-शोषण का भी
यही परिणाम होता है,/तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,
बदले का भाव''प्रतिशोध !/जो कि/महा अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव
पर के लिए नहीं,/अपने लिए भी घातक !" (पृ. ४१८)

'मूकमाटी' काव्य में इस ईर्ष्या भाव का उदय कवि ने तब दिखलाया है जब अग्नि-परीक्षा के पश्चात् माटी कुम्भ पक्व कुम्भ का रूप धारण कर, किसी सेठ के करकमलों में पहुँच कर पूजा का पात्र (कलश) बनना चाहता है। स्वर्ण कलश के सम्मान को ठेस लगती है कि माटी के कुम्भ को मेरी अपेक्षा महत्त्व अधिक दिया जा रहा है। स्वर्ण कलश को कवि ने विकसित या वैभव सम्पन्न देश, यथा– अमेरिका आदि, का प्रतीक माना है और माटी कुम्भ को विकासशील या निर्धन देश, यथा– भारत आदि का प्रतीक माना है। बस यहीं से स्वर्ण कलश की ईर्ष्या उग्र रूप धारण कर उग्रवाद या आतंकवाद के दल को आहूत करती है। आतंकवादी दल किस प्रकार भयंकर रूप धारण कर तथा तरह - तरह के आग्नेय अस्त्र लेकर आता है, इसका वर्णन कवि की लेखनी बिम्बात्मक शैली में प्रस्तुत करती है :

- *"जिनके हाथों में हथियार हैं,/बार-बार आकाश में वार कर रहे हैं,*
  जिससे ज्वाला वह/बिजली की कौंध-सी उठती, और
  आँखें मुद जातीं साधारण जनता की इधर।" (पृ.४२६)
- *"जिनके ललाट-तल पर/कुंकुम का त्रिकोणी तिलक लगा है,*
  लगता है महादेव का तीसरा नेत्र ही/खुल-कर देख रहा है।
  राहु की राह पर चलनेवाला है दल/आमूल-चूल काली काया ले।
  क्रूर-काल को भी कँपकँपी छूटती है/जिन्हें
  एक झलक लखने मात्र से !" (पृ. ४२८)

सेठ और सेठ के परिवार पर आतंकवादी दल लगातार वार-प्रहार करता है तो फिर सेठ वेगवती नदी की जलधारा में कटि से कुम्भ को बाँधकर कूद पड़ता है। केवल उसका मुख-मस्तक ही दृष्टिगोचर होता है। आतंकवाद फिर भी शान्त नहीं होता और पत्थरों की वर्षा करता है, जिससे आतंकित होकर सेठ आतंक के समक्ष आत्मसमर्पण करना चाहता है परन्तु नदी उसे ऐसा करने से मना करती है। नदी के उद्‌गार दर्शनीय हैं :

"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने ?
हे भगवन् !/यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब ?

क्या सत्य शासित होगा ?/हाय रे जौहरी के हाट में
आज हीरक-हार की हार !/हाय रे, काँच की चकाचौंध में/मरी जा रही-
हीरे की झगझगाहट !/अब/सती अनुचरी हो चलेगी
व्यभिचारिणी के पीछे-पीछे।" (पृ. ४६९-४७०)

कुम्भ की अग्नि परीक्षा या तपस्या से प्रभावित होकर जल देवता ने विक्रिया ऋद्धि से परिवार के चारों ओर रक्षामण्डल (भामण्डल) की सृष्टि कर डाली। इस पर भी आतंकवादी दल न माना और उसने परिवार को समूल नष्ट करने हेतु एक पाश फेंका। किन्तु उस पाश को प्रलय रूपधारी पवन ने उड़ा दिया। इस पर भी उसने अपनी हार नहीं मानी। उपसर्ग, आतंक के बाद भी वह धमकियों और हुँकारों से वातावरण को गुंजायमान करता रहा। यदि प्राकृतिक उपादान सेठ के मनोबल को न बढ़ाते तो कुम्भ के साथ ही सेठ को आतंक दल समाप्त कर देता। कवि की मान्यता है कि जब तक आतंकवाद जीवित है, शान्ति की साँस लेना कठिन है :

"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,/ये कान अब
आतंक का नाम सुन नहीं सकते,/यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका/यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" (पृ. ४४१)

अन्तरिक्ष युद्ध (स्टार वार) की परिकल्पना

कवि श्री विद्यासागरजी केवल आध्यात्मिक जगत् तक ही सीमित नहीं हैं, अत्याधुनिक विज्ञान जगत् से भी उनका परिचय है। आज के आणविक युग में युद्ध की कल्पना ही हमारे मानस को झकझोर देती है। अब तक जो विश्वयुद्ध हुए हैं, उनसे कितना विनाश हुआ है, उसे सभी जानते हैं। ये युद्ध पृथ्वी के युद्ध थे किन्तु अब तो अन्तरिक्ष युद्ध की बातें जब भी यदा-कदा होती हैं तो उनसे सम्पूर्ण मानवता के विनाश का चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। विश्व की दो महाशक्तियाँ अमेरिका और सोवियत संघ न जाने कितने प्रक्षेपास्त्र अन्तरिक्ष में छोड़ चुके हैं। परस्पर की होड़ के कारण दोनों ने अरबों-खरबों रुपए इनके निर्माण पर व्यर्थ ही व्यय कर दिए हैं। सोवियत संघ तो अब विघटित हो चुका है इसलिए अन्तरिक्ष युद्ध की भावना से विश्व एक बार उबर चुका है। अमेरिका तो 'स्टार वार' के स्वप्न देख ही रहा था। कविश्री ने उपल वर्षा का जो बिम्बात्मक वर्णन किया है, उसे देखिए :

" लघु-गुरु अणु-महा/त्रिकोण-चतुष्कोण वाले/तथा पाँच पहलू वाले
भिन्न-भिन्न आकार वाले/भिन्न-भिन्न भार वाले
गोल-गोल सुडौल ओले/क्या कहे, क्या बोले,
जहाँ देखो वहाँ ओले/सौर-मण्डल भर गया !" (पृ. २४८)

जब ऊपर से ओलावृष्टि हुई तो नीचे के भूकणों ने सोचा कि ये तो हमें नष्ट कर देंगे, इसलिए प्रतिकार स्वरूप भूकणों ने ओलों को अपनी पूरी शक्ति से टक्कर देकर उछालना आरम्भ कर दिया, जिस प्रकार प्रक्षेपास्त्र (राकेट) उपग्रहों को अन्तरिक्ष में उछाल देता है। प्रक्षेपास्त्रों और उपग्रहों के विषय में जानकारी हुए बिना ऐसी अभिव्यक्ति कहाँ सम्भव थी :

"प्रतिकार के रूप में/अपने बल का परिचय देते
मस्तक के बल भू-कणों ने भी/ओलों को टक्कर देकर

उछाल दिया शून्य में/बहुत दूर···धरती के कक्ष के बाहर,
'आर्य भट्ट', 'रोहिणी' आदिक/उपग्रहों को उछाल देता है
यथा प्रक्षेपास्त्र ।" (पृ. २५०)

ओलों और भूकणों के परस्पर काल्पनिक टकराव से उत्पन्न दृश्य कवि की दृष्टि में स्टार-वार के दृश्य से कम महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावपूर्ण नहीं। इसीलिए तो वह उसका समापन इन शब्दों में करता है :

"यह घटना-क्रम/घण्टों तक चलता रहा···लगातार,
इसके सामने 'स्टार-वार'/जो इन दिनों चर्चा का विषय बना है
विशेष महत्त्व नहीं रखता।" (पृ. २५१)

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि युगीन परिस्थितियों के विशद चित्रण में कवि श्री विद्यासागरजी को पूर्ण सफलता मिली है। यद्यपि वर्णन कहीं-कहीं बहुत लम्बे हो गए हैं, फिर भी कहीं नीरसता नहीं। निर्जीव पात्रों के मुखों से जो भी बातें कहलवाई गई हैं, वे चित्ताकर्षक हैं। प्रकृति के रमणीय दृश्य पाठकों को रमाने की पूरी क्षमता रखते हैं, क्योंकि कविश्री का वर्णन करने का ढंग अपने आप में अद्वितीय है।

❑

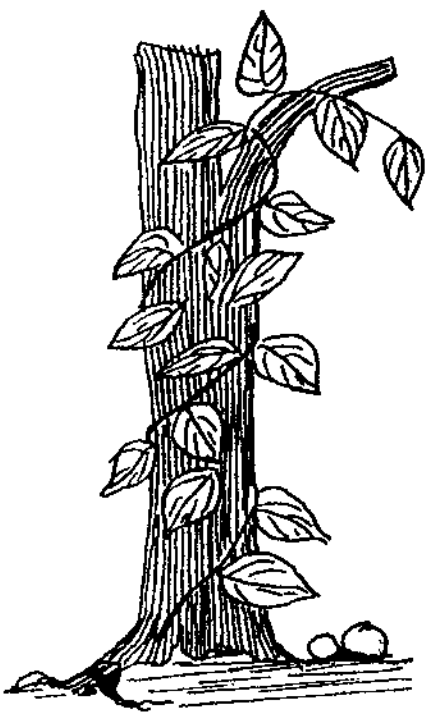

पृष्ठ २३६-२३७
लो, विचारों में समानता ---
---आकुलता कई गुनी
बढ़ी है।

उदात्त भाव-मुक्ताओं का सागर है 'मूकमाटी' काव्य

डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण'

जैन सन्तों की गौरवशाली परम्परा के युग सन्त एवं विचारक आचार्य विद्यासागरजी की विलक्षण काव्य कृति 'मूकमाटी' काव्यत्व, दर्शन तथा नीतिशास्त्र की अद्वितीय एवं महिमामयी त्रिवेणी है, जिसे पढ़कर जीवन की अनेक उलझनों को सुलझाने का सहज-सरल मार्ग पाठक को मिल जाता है। गहन चिन्तन और मनन से प्राप्त अनुभवों को अत्यन्त बोधगम्य शैली में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ने भावानुकूल भाषा के माध्यम से सजीव कर दिया है। 'मूकमाटी' केवल काव्य ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत इसमें आचार्यप्रवर की लोक-कल्याणकारिणी साधना का सार ही अक्षरों में ढल-ढल कर 'अक्षर-अमृत' बन गया है। मेरी दृष्टि में तो 'मूकमाटी' काव्य वस्तुत: उदात्त एवं उद्दाम ज्ञान सिन्धु में अथाह भाव-मुक्ताओं का ऐसा भण्डार है, जिसकी एक-एक 'मुक्ता' जीवन की मुक्ति का साधन बन पाने में पूर्णत: सक्षम और सफल है।

रूपक तत्त्व में गुँथा जीवनानुभव : साहित्यशास्त्रीय दृष्टि से 'मूकमाटी' काव्य में रूपक तत्त्व के माध्यम से कवि ने जीवन-दर्शन को मुखर किया है। चार खण्डों में विभक्त काव्यकृति 'मूकमाटी' का प्रत्येक खण्ड सांकेतिक प्रतीकार्थ से युक्त है। 'माटी' को जब कुशल कुम्भकार 'जल' के संयोग से गूँध कर कुम्भ बनाता है, तो वह 'जलग्रहण' के योग्य नहीं हो पाता। चूँकि 'अग्नि' में तप कर उसका संस्कार हो चुकने पर ही 'कुम्भ' औरों को शीतल जल दे पाने और फिर 'भवसागर' पार करा सकने में सफल हो पाता है। 'कुम्भ' है क्या ? मूलत: 'माटी' ही तो है, जो 'मूक' है, लेकिन जीवन का मूलाधार बनकर मानव की धात्री बनती है।

इस सजीव एवं सार्थक 'रूपक' में साधनाव्रती आचार्यप्रवर श्री विद्यासागरजी ने शब्दों में चिर निवास करने वाले 'ब्रह्म' की साधना करके काव्य की ऐसी दिव्य गंगा बहाई है, जो तन-मन और प्राण को पवित्र करने के साथ ही 'जीवन की सार्थकता' को भी रूपायित करती है। 'मूकमाटी' कहती है :

> *"शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी*
> *अवश्य मिलेगी/मगर/मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ. ४८८)*

'मूकमाटी' हमसे आस्था और विश्वास ही माँगती है, और कुछ नहीं। सन्त-कवि आचार्य श्री विद्यासागर की 'शब्द-ब्रह्म-साधना' से उद्भूत काव्य 'मूकमाटी' में मूल कथा फलक यों तो बहुत छोटा-सा है, किन्तु यत्र-तत्र अनेक मार्मिक कथाओं, उपकथाओं में 'संवाद कौशल' से नाटकीय तत्त्व की सृष्टि करके कवि ने प्रेरक प्रसंगों की अनूठी अवधारणा की है।

'माटी और सरिता' का प्रसंग जीवन के अनेक अबूझ प्रश्नों के समाधान देता है :

> *"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर*
> *सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।/आस्था के तारों पर ही*
> *साधना की अंगुलियाँ/चलती हैं साधक की,/सार्थक जीवन में तब*
> *स्वरातीत सरगम झरती है !" (पृ. ९)*

आचार्यश्री निश्चय ही 'आस्था' को 'साधना' का मूल तत्त्व मान कर कुम्भ की आस्था को वाणी देते हैं

'मूकमाटी' में। यत्र-तत्र कवि सूत्र शैली में जीवन का तत्त्व दे जाता है :

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना
सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

शब्दों की व्याख्या करने में यशस्वी कवि विशेष रुचि लेते हुए लगते हैं, जिससे वे अपने चिन्तन को अभिव्यक्त कर सकें। 'कुम्भकार' शब्द का विश्लेषण दर्शनीय है :

"कुम्भकार !/'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

दया का स्वरूप : जैन-सन्त की साधना का मूल होती है—'अहिंसा', और अहिंसा के मूल में रहती है 'दया'। कविश्रेष्ठ आचार्य विद्यासागर के शब्दों में 'दया' का रूप देखिए :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है—
एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है !
एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ. ३८)

निश्चय ही यहाँ 'विलास-विकास', 'मोह-मोक्ष', 'बुरी तरह-पूरी तरह', 'जलाती है-जिलाती है', 'भयंकर-शुभंकर' तथा 'अंगार है-शृंगार है' जैसे शब्द-युग्मों का प्रयोग करके कवि ने 'वासना' और 'दया' का जो सटीक विश्लेषण सूक्ष्मतम ढंग से किया है, वह बेजोड़ है, अनुपम है।

शुभत्व का स्वरूप : 'माटी और कंकरों' के मार्मिक प्रसंग के माध्यम से कवि समाज की दृष्टि से 'शुभत्व' का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। कवि कहता है :

"अरे कंकरो !/माटी से मिलन तो हुआ/पर/माटी में मिले नहीं तुम !
माटी से छुवन तो हुआ/पर/माटी में घुले नहीं तुम !/इतना ही नहीं,
चलती चक्की में डालकर/तुम्हें पीसने पर भी/अपने गुण-धर्म/भूलते नहीं तुम !
भले ही/चूरण बनते, रेतिल;/माटी नहीं बनते तुम !" (पृ. ४९)

और जब ये कंकर अपनी वेदना 'माटी' से कहते हैं तो उदार माटी उन्हें जीवन में 'शुभत्व' का मर्म बताती है :

"महासत्ता-माँ की गवेषणा/समीचीना एषणा
और/संकीर्ण-सत्ता की विरेचना/अवश्य करनी है तुम्हें !
अर्थ यह हुआ—/लघुता का त्यजन ही
गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है !" (पृ. ५१)

इसी क्रम में कवि दो पंक्तियों में एक ऐसी भाव-मुक्ता दे देता है, जिसे हृदय में धारण करके सारी उलझनों से सहज ही मुक्ति पाई जा सकती है :

"मान का अत्यन्त बौना होना/मान का अवसान-सा लगता है
किन्तु,/भावी बहुमान हेतु/वह मान का

बोना यानी वपन भी हो सकता है।" (पृ. ५५-५६)

शुभत्व के इसी क्रम में 'कंकरों' को मुस्कराती माटी ने जो उद्‌बोधन दिया है, उसमें आचार्यप्रवर श्री विद्यासागरजी के साधक जीवन के अनुभवों की अनन्त शीतलता के साथ-साथ भाषा के प्रति उनकी सहज निष्ठा भी सम्मिलित हो गई है। 'राही' तथा 'राख' शब्दों का जैसा सार्थक और जीवन्त प्रयोग कवि ने किया है, वह देखते ही बनता है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा···
और/इतना कठोर बनना होगा/कि/तन और मन को/तप की आग में
तपा-तपा कर/जला-जला कर/राख करना होगा/यतना घोर करना होगा
तभी कहीं चेतन—आत्मा/खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—/राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?
रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५६-५७)

शुभत्व के प्रसंग में ही 'रस्सी' का वह कथन उद्‌धृत करना चाहूँगा, जहाँ कवि 'संयम' का महत्त्व बताते हुए कहता है :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है/जो यथा-योग्य
सही आ···दमी है/हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और
जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही/अहिंसा पलती है,
पल-पल पनपती,/···बल पाती है।" (पृ. ६४)

'मूकमाटी' काव्य के रचयिता ने अपने जीवन दर्शन को व्यक्त करने के लिए 'कुएँ की मछली' का प्रसंग लेकर अत्यन्त सहज और सरल भाव से 'सत्त्व' का परिचय कराया है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ/सत् को असत् माननेवाली दृष्टि
स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

और जब 'मछली' धात्री माटी से 'सल्लेखना' देने की प्रार्थना करती है, तो 'मूकमाटी'का यशस्वी कवि उसे माध्यम बनाकर जैसे सम्पूर्ण जगत् को ही 'शुभत्व से परिपूर्ण' कल्याणमयी शुभ 'सल्लेखना' देता है :

"सल्लेखना, यानी/काय और कषाय को/कृश करना होता है, बेटा !
काया को कृश करने से/कषाय का दम घुटता है,/···घुटना ही चाहिए।
...वातानुकूलता हो या न हो/बातानुकूलता हो या न हो
सुख या दुःख के लाभ में भी/भला छुपा हुआ रहता है,
देखने से दिखता है समता की आँखों से,/लाभ शब्द ही स्वयं
विलोम-रूप से कह रहा है—/ला···भ···भ···ला।" (पृ. ८७)

आचार्य कवि श्री विद्यासागर के काव्य ग्रन्थ 'मूकमाटी' का प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' रूपक के माध्यम से 'शुभत्व' के स्वरूप का सम्यक् दर्शन हमें कराता है।

जीवन की सार्थकता : 'मूकमाटी' काव्य के द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि सन्त ने रूपकों के माध्यम से 'जीवन की सार्थकता' पर जो सारगर्भित भाव-मुक्ताएँ सर्जित की हैं, वे उनके ज्ञान, अनुभव तथा साधना का परिचय सहज ही देती हैं। 'फूल और काँटे' के प्रसंग में कवि का चिन्तन दर्शनीय है :

> *"दम सुख है, सुख का स्रोत/मद-दुःख है, सुख की मौत !/तथापि*
> *यह कैसी विडम्बना है, कि/सब के मुख से फूलों की ही/प्रशंसा होती है,*
> *और/शूलों की हिंसा !/क्या यह/सत्य पर आक्रमण नहीं है ?" (पृ. १०२)*

इसी क्रम में 'सुख-दुःख' का केन्द्र 'मन' को मानकर कवि अनूठी अनुभूति को अत्यन्त सहज शब्दों में मुखर करता है :

> *"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो*
> *अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और*
> *अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है,*
> *एक सुख का सोपान है/एक दुःख का सो पान है।" (पृ. १०८-१०९)*

साहित्य को आचार्यश्री ने 'जीवन' से जोड़कर ही पूर्ण और सार्थक होते देखा है। आचार्यश्री की दृष्टि दर्शनीय है :

> *"शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही/स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।*
> *इस साहित्य को/आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं*
> *इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना !" (पृ. १११)*

और इसी प्रकार कवि 'वाणी की सार्थकता' को सहज शब्दों में इस प्रकार व्यक्त करता है कि शब्द हृदय को छू लेते हैं :

> *"अनुचित संकेत की अनुचरी/रसना ही/रसातल की राह रही है*
> *यानी ! जो जीव/अपनी जीभ जीतता है/दुःख रीतता है उसी का*
> *सुख-मय जीवन बीतता है/चिरंजीव बनता वही/और*
> *उसी की बनती वचनावली/स्व-पर-दुःख निवारिणी*
> *संजीवनी बटी···!" (पृ. ११६-११७)*

जीवन समस्त उलझनों से बचकर यदि शान्त रस का अनुभव कर सके, तभी जीवन 'सार्थक' है, यह दृष्टि कवि की साधना और तप को ही ध्वनित करती है :

> *"शान्त-रस का क्या कहें,/संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।*
> *जहाँ तक शान्त रस की बात है/वह आत्मसात् करने की ही है/कम शब्दों में*
> *निषेध-मुख से कहूँ/सब रसों का अन्त होना ही--/शान्त-रस है।*
> *यूँ गुनगुनाता रहता/सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।/···धन्य !"*
>
> *(पृ. १५९-१६०)*

अनेकान्त दृष्टि : 'मूकमाटी' काव्य के यशस्वी प्रणेता आचार्य श्री विद्यासागरजी जैन-धर्म एवं दर्शन के गहन अध्येता एवं साधक सन्त हैं, अत: यत्र-तत्र प्रसंगवश जैनत्व के मूलमन्त्र 'अहिंसा', 'संयम' आदि का सारपूर्ण विवेचन उन्होंने इस काव्य कृति में किया है। 'कुम्भ' पर कुम्भकार द्वारा की गई विविधमुखी चित्रकारी के रोचक प्रसंग में कविश्री ने 'अनेकान्त दृष्टि' का सम्यक् विवेचन, बीजाक्षरों 'ही' तथा 'भी' के गहन विश्लेषण के माध्यम से किया है :

"अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।"
(पृ. १७२)

और फिर आचार्यप्रवर इन बीजाक्षरों की सहज व्याख्या भी प्रस्तुत करते हैं :

" 'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को/'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को,
'ही' वस्तु की शक्ल को ही पकड़ता है/'भी' वस्तु के भीतरी-भाग को भी छूता है,
'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी!" (पृ. १७३)

इतना ही नहीं, सांस्कृतिक तथा दार्शनिक सन्दर्भों के बाद कवि जब 'ही' तथा 'भी' का विश्लेषण सामाजिक तथा राजनैतिक सन्दर्भों में करते हैं, तो सुखद आश्चर्य-सा होता है :

" 'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,/किन्तु भीड़ नहीं,
'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।/लोक में लोकतन्त्र का नीड़
तब तक सुरक्षित रहेगा/जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।
'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है/स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीज/'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।" (पृ. १७३)

निश्चय ही 'मूकमाटी' की अनन्त भाव-मुक्ताओं में 'ही' तथा 'भी' का बोध कराने वाली यह 'अनेकान्त' रूपी भावमुक्ता इस काव्य कृति का शृंगार है, जन-मन की पुकार है ! तभी तो कवि कहता है :

"प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" (पृ. १७३)

यह समष्टि-कल्याण-चेतना 'मूकमाटी' का प्राण तत्त्व है।

जीवन का परम लक्ष्य : 'मूकमाटी' काव्य का तृतीय खण्ड है- 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन', जिसके माध्यम से कवि-सन्त आचार्य विद्यासागरजी अनेक रूपकों के माध्यम से जीवन का परम लक्ष्य बताने का उपक्रम करते हैं। सूत्र-शैली में कवि ने सत्य कहा है :

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

जीवन क्या मात्र 'पा लेना' ही है? क्या 'धन-धान्य का अर्जन' ही सुख दे सकता है ? यदि नहीं, तो क्या है जीवन का परम प्राप्य ? कवि की दृष्टि देखिए :

"बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,/कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है !/पर-कामिनी, वह जननी हो,
पर-धन कंचन की गिट्टी भी/मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में !" (पृ. २१२)

निश्चय ही, 'अर्थ' के लिए 'अनर्थ' करके स्वार्थसिद्ध करना जीवन को नष्ट करना है और अर्थ-लिप्सा से परे 'परमार्थ' देखने का प्रयास करना ही जीवन का परम अर्थ है 'मूकमाटी' के कवि की दृष्टि में।

परमार्थ भाव ही परम धर्म : आचार्यप्रवर विद्यासागरजी के इस 'मूकमाटी' काव्य का अन्तिम खण्ड है-'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख', जो स्वयं ही प्रतीकात्मक अर्थ की व्यंजना कराता है। कवि ने दृढ़तम आत्मविश्वास से सूत्रात्मक मन्त्र दिया है :

"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी
अपने घुटने टेक देता है।" (पृ. २६९)

'कुम्भ' की अग्नि-परीक्षा का जो उदात्त रूपक कवि ने बाँधा है, वह प्रतीकात्मक ध्वनि से समग्र सृष्टि के उन्नयन का मार्ग बता रहा है। 'कुम्भ' जब तक अग्नि-परीक्षा से नहीं गुज़रता, तब तब उसमें परिपक्वता नहीं आती, उसे जल को शीतलता प्रदान करने की क्षमता 'जल कर' ही तो मिल पाती है। सन्त भी तो 'कुम्भ' समान इस संसार रूपी 'अवा' में स्वयं को 'संयम' तथा 'साधना' की 'अग्नि' में तपा-तपाकर ही इस योग्य बनाता है कि 'वचनामृत जल' से सब की प्यास बुझा दे। कुम्भ 'अग्नि' से अपने दोषों को जलाने की विनती करता है :

"मैं निर्दोष नहीं हूँ/दोषों का कोष बना हुआ हूँ/मुझ में वे दोष भरे हुए हैं।
....मैं कहाँ कह रहा हूँ/कि मुझे जलाओ ?/हाँ, मेरे दोषों को जलाओ !
मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

अध्यात्म परम प्राप्य है : 'मूकमाटी' के प्रणेता सन्त-कवि ने 'दर्शन' और 'अध्यात्म' का ऐसा विशद तथा विलक्षण विश्लेषण किया है, जो कई ग्रन्थों में भी सहज विश्लेषित न हो सके। दिव्य 'अग्नि' कहती है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ !/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं।
...अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन
...दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,/अध्यात्म निरायुध होता है

सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार !" (पृ. २८८-८९)

कवि ने अनेक प्रसंग लेकर ऐसे रूपकों की सृष्टि की है, जो जीवन के परम पुरुषार्थ 'मोक्ष' की प्राप्ति का साधन 'अध्यात्म साधना' में ही इंगित करते हैं।

इस विलक्षण काव्य कृति 'मूकमाटी' के माध्यम से महान् सन्त, जैनत्व के निष्ठावान् साधक, अहिंसा एवं संयम व्रत के दृढ़व्रती आचार्य श्री विद्यासागरजी ने तत्त्वत: चार खण्डों के रूपक द्वारा चारों पुरुषार्थों — 'अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष' का सरस, सुबोध एवं सहज शैली में अनुपम विवेचन किया है। 'मूकमाटी' काव्य की भाषा तो इतनी समर्थ, सक्षम और अर्थवती बन गई है, मानों वह सन्त कवि के भावों की चिर अनुचरी ही हो। सटीक शब्द चयन, पद मैत्री तथा मानवीकरण अलंकार तथा संवादात्मक शैली ने कवि की भाव-मुक्ताओं को निखार दिया है।

सन्त कवि आचार्य विद्यासागरजी का काव्य ग्रन्थ 'मूकमाटी' उनकी दिव्य साधना का ऐसा अमृत जल है, जो मन और तन को सहज ही दोषमुक्त करके भावालोक प्रदान करता है। कवि निर्विवाद रूप से 'महापुरुष' हैं, जिनका लक्षण उन्हीं के शब्दों में ध्वनित हो रहा है :

"महापुरुष प्रकाश में नहीं आते/आना भी नहीं चाहते,
प्रकाश-प्रदान में ही/उन्हें रस आता है।/यह बात निराली है, कि
प्रकाश सब को प्रकाशित करेगा ही/स्व हो या पर, 'प्रकाश्य' भर को···!
...मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित !" (पृ. २४५)

नि:सन्देह, उदात्त भाव-मुक्ताओं का अथाह सागर बन सकने वाली यह महनीय काव्य-कृति, जो इस राष्ट्र की संजीवनी शक्तिरूपा संस्कृति को समाहित करके जीवन को उपकृत कर रही है, आगामी असीम काल तक 'जागृत···जीवित···अजित' रहेगी; इसलिए नहीं कि यह किसी स्वनाम धन्य कवि की कृति है, प्रत्युत इसलिए कि यह कृति से भी बढ़कर 'संस्कृति' है; एक महान् सन्त की साधना से दीप्त भावों की सतत जाज्वल्यमान मुक्तावली है।

❑

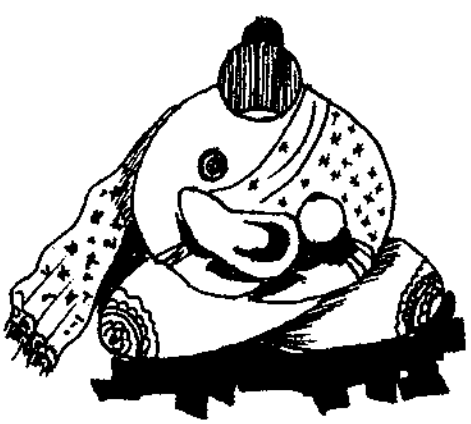

पृष्ठ १५८
माँ की गोद में बालक....
बालक का मुख छिपा लेती है।

'मूकमाटी' : अध्यात्म का एक जीवन्त दस्तावेज़

डॉ. आदित्य प्रसाद तिवारी

आचार्य विद्यासागर प्रणीत 'मूकमाटी' एक ऐसा विचारप्रवण काव्य है, जिसमें कवि ने 'माटी' के अर्थगर्भित प्रतीक के माध्यम से जीवन साधना की सूक्ष्मताओं को विश्लेषित करने का सफल प्रयास किया है। 'मूकमाटी' में भावना, विचारणा और शिल्प सौन्दर्य का त्रित्व देखने को मिलता है। गूढ़ विचारों को सम्प्रेषणीय बनाने में कवि का शब्द-शोध कारगर सिद्ध हुआ है। अनेक शब्दों को परिभाषित करके कवि ने उन्हें नया अर्थोन्मेष किया है।

काव्य का आरम्भ सीमातीत शून्य के प्रभातकालिक 'रंगीन राग की आभा' से पूर्ण प्राकृतिक परिवेश से होता है। मानवीकरण के माध्यम से ऊषा, कुमुदिनी, कमलिनी, तारे, पवन आदि प्राकृतिक उपादानों के मनोरम चित्र प्रस्तुत किए गए हैं। अज्ञातयौवना नायिका के रूप में ऊषा का शृंगार संवलित रूप कितना मोहक बन पड़ा है :

''प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है/और/सिंदूरी धूल उड़ती-सी
रंगीन-राग की आभा--/भाई है, भाई···!'' (पृ. १)

प्रभाकर करों के स्पर्श से अपने को बचाती, लज्जा के घूँघट में अपनी 'सराग मुद्रा को पाँखुरियों की ओट' में छिपाती कुमुदिनी का बिम्ब एक सलज्जा नायिका को हमारे समक्ष प्रस्तुत कर देता है। अधखुली कमलिनी के चित्र के माध्यम से नारी की ईर्ष्या भावना को विवेचित किया गया है :

''अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की/चाँदनी को भी नहीं देखती
आँखें खोल कर।/ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,
और···वह भी···/स्त्री-पर्याय में—/अनहोनी-सी···घटना !'' (पृ.२)

सरिता तट की माटी और माँ धरती के वार्तालाप द्वारा कृतिकार ने जीवन दर्शन को व्यक्त करने की चेष्टा की है। माटी अपनी पतितावस्था से मुक्त होने के लिए धरती माँ से प्रार्थना करती है। माटी की यह छटपटाहट तुच्छता की पीड़ा से व्यथित अनेकानेक अभावग्रस्त दलित व्यक्तियों की छटपटाहट है। दीनता का गहरा एहसास होने पर ही व्यक्ति उन्नति की ओर उन्मुख हो सकता है, क्योंकि 'पतन पाताल का अनुभव ही, उत्थान-ऊँचाई की आरती उतारना है।' आध्यात्मिकता की उन्नति के लिए आस्था के साथ साधना भी आवश्यक है। साधना-संकुल व्यक्ति अनुकूलता-प्रतिकूलता की परवाह किए बिना निरन्तर आगे बढ़ते हुए उद्देश्य की प्राप्ति करता है। कवि ने ठीक ही कहा है :

''मीठे दही से ही नहीं,/खट्टे से भी/समुचित मन्थन हो
नवनीत का लाभ अवश्य होता है।'' (पृ. १३-१४)

चार खण्डों में विभाजित 'मूकमाटी' काव्य का पहला खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' है। इस खण्ड में माटी की संकरता का वर्णन किया गया है। कुम्भकार मिट्टी से कंकर कणों को हटाकर, उसे परिशुद्ध करने के पश्चात् ही मंगल घट निर्मित करने में कृतकार्य होता है। इसी तरह गुरु अपने शिष्य के जीवन में मिश्रित बेमेल अवान्तर तत्त्वों को हटाकर, उसके व्यक्तित्व को लोकमंगलकारी स्वरूप प्रदान करता है। इस प्रकार से संस्कारित शिष्य का 'बेसहारा जीवन सहारा देने वाला बनता है'। अपने जीवन की समस्त वर्णसंकरता, कलुषता का निषेध करता हुआ शिष्य परिशुद्ध आचरण का

वर्णलाभ करता है।

दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कवि ने माटी से मंगल घट बनाने की प्रक्रिया के वर्णन द्वारा अनगढ़ जीवन की सुसंस्कारिकता पर प्रकाश डाला है। कंकर कणों को अलग करके माटी को कुंकुम-सम मसृण बनाकर शिल्पी उसमें मात्रानुकूल निर्मल जल मिलाता है। जिस प्रकार जल से संयुक्त होकर मिट्टी में नवीन प्राणमयता का संचार हो जाता है, उसी तरह करुणा और ज्ञान से संयुक्त होकर मानव की काया चेतना की चिरन्तन ज्योति से आलोकित हो उठती है। ज्योति के प्रवेश होते ही मानव-मन दासत्व से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त हो जाता है। मन की अधीनता से मुक्त होने का सन्देश देता हुआ कवि कहता है :

"मन के गुलाम मानव की/जो कामवृत्ति है/तामसता काय-रता है
वही सही मायने में/भीतरी कायरता है !/सुनो, सही सुनो/मनोयोग से !
अकाय में रत हो जा !/काय और कायरता/ये दोनों
अन्त-काल की गोद में विलीन हों/आगामी अनन्त काल के लिए !" (पृ. ९४)

माटी खोदते समय कुम्भकार की कुदाली से काँटे का सिर आधा फट जाता है। काँटा बदला लेने की ठान लेता है। बदले की भावना वह आग है जो व्यक्ति के तन-मन को अहर्निश अभितप्त करती रहती है। क्षमा ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जो बदले की दुधारी तलवार को काट सकती है। लेकिन क्षमा-याचना का अधिकारी वही है जो निर्वैर हो, दूसरों के अपराधों को क्षमा करने के सहज स्वभाव का स्वामी हो। कुम्भकार काँटे से क्षमा माँगते हुए कहता है :

"खम्मामि, खमंतु मे—/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

क्षमा-याचना के प्रभावस्वरूप काँटे का क्रोध काफूर हो जाता है और उसके प्रतिशोध भाव का पूर्णत: शमन हो जाता है। उसमें मैत्री का भाव जागरित होता है, और यह बोध, फिर शोध में परिणत होकर उसके आचरण का सहज अंग बन जाता है। वस्तुत: बोध और शोध का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
यह भी सत्य है कि/शब्दों के पौधों पर/सुगन्ध मकरन्द-भरे
बोध के फूल कभी महकते नहीं,/...बोध का फूल जब
ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।
बोध में आकुलता पलती है/शोध में निराकुलता फलती है,
फूल से नहीं, फल से/तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०६-१०७)

कण्टक और शिल्पी के वार्तालाप में तत्त्व दर्शन के अनेक आयाम उद्घाटित हुए हैं। स्थिर मन को सुख का और अस्थिर मन को दु:ख का सोपान बताते हुए शिल्पी मोह और मोक्ष के विषय में कण्टक की जिज्ञासा शान्त करता हुआ कहता है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है
और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।"
(पृ. १०९-११०)

इस खण्ड में साहित्य, संगीत, रस आदि की मनोरम विवेचना की गई है। साहित्य की काव्यमय परिभाषा कितनी सटीक और व्यंजक है :

''हित से जो युक्त - समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
अर्थ यह हुआ कि/जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!'' (पृ. १११)

साहित्य चिन्मय आनन्द का स्रष्टा होता है। इसीलिए साहित्य के रसास्वादन से काँटा कान्ता-समागम से भी कई गुना आनन्द का अनुभव करता है। सन्त कवि ने स्थूल दैहिक सुख के माध्यम से ब्रह्मानन्द-सहोदर काव्यानन्द के सूक्ष्म अनुभव को रूपायित करने की चेष्टा की है।

वीर, रौद्र, हास्य, शृंगार, वात्सल्य, करुण, बीभत्स, भय और शान्त रसों को नवीन रूप में व्याख्यायित करते हुए इनकी अनुपयोगिता और कल्मषता को उजागर किया गया है। वीर रस व्यक्ति को उद्दण्ड बनाता है तो रौद्र रस सत्त्व गुणों को समाप्त करके राजसी-तामसी वृत्ति को विकसित करता है। हास्य रस भी त्याज्य है, क्योंकि :

''खेद-भाव के विनाश हेतु/हास्य का राग आवश्यक भले ही हो
किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु/हास्य का त्याग अनिवार्य है
हास्य भी कषाय है ना!'' (पृ. १३३)

भय व्यक्ति को भयातंकित करता है तो शृंगार वासना की उपासना है। करुणा व्यक्ति को बहिर्मुखी बनाती है। वात्सल्य ममतामय होता हुआ भी करुणा के समान 'द्वैतभोजी' होता है। आन्तरिक उपादान से परिपुष्ट होने के कारण शान्त रस व्यक्ति के आत्मोन्नयन में सहायक होता है। यह अलौकिक रस है और बाकी सभी रस लौकिक। शान्त रस की अलौकिक उत्कृष्टता को अभिज्ञापित करता हुआ कवि कहता है :

''शान्त-रस का क्या कहें,/संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्त रस की बात है/वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में/निषेध-मुख से कहूँ/सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है।
यूँ गुनगुनाता रहता/सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।/···धन्य!'' (पृ.१५९-१६०)

अभी तक शृंगार को रस-राज माना जाता रहा है, लेकिन आध्यात्मिक उपादेयता के कारण सन्त कवि ने शान्त का ही रस-राजत्व स्वीकार किया है।

कवि ने संगीत के आभ्यान्तरिक वैशिष्ट्य को भी प्रतिपादित किया है। वस्तुतः संगीत वह है जिसके स्वर-राग अन्तरात्मा को संगातीत आनन्द से पूर्णतः परिप्लावित कर दे। संगीत और प्रीति की यह अपार्थिव विवेचना कितनी सारगर्भित है :

''संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है
और/प्रीति उसे मानता हूँ/जो अंगातीत होती है।'' (पृ. १४४-१४५)

संगीत और रस के तत्त्व विवेचन के साथ माटी की रौंदन क्रिया सम्पन्न होती है। माटी का लोंदा चक्र पर रख दिया जाता है। चक्र पर घूमती हुई माटी शिल्पी से संसार की व्याख्या करती है :

'' 'सृ' धातु गति के अर्थ में आती है,/सं यानी समीचीन/सार यानी सरकना''
जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।/काल स्वयं चक्र नहीं है
संसार-चक्र का चालक होता है वह/यही कारण है कि
उपचार से काल को चक्र कहते हैं/इसी का परिणाम है कि
चार गतियों, चौरासी लाख योनियों में/चक्कर खाती आ रही हूँ।'' (पृ.१६१)

संसार ही चक्र है, काल ही संसार चक्र का चालक दण्ड है और कुम्भकार या शिल्पी स्रष्टा है - जो क्षिति, जलादि पंच तत्त्वों से प्राणी का काय-कलेवर निर्मित करता है। चक्र पर घूमती हुई मिट्टी का माथा जिस तरह घूमता है, उसी प्रकार तेलघानी के कोल्हू के बैलों की तरह सांसारिकता की परिधि में ही घूमते-घूमते मनुष्य अपने बहुमूल्य जीवन की इतिश्री कर देता है, कभी विश्रान्ति का अनुभव नहीं कर पाता। जीवन केन्द्र में रमण के बिना मानव चेतना को विश्रान्ति की अभिप्राप्ति नहीं हो सकती :

''परिधि में भ्रमण होता है/जीवन यूँ ही गुज़र जाता है,
केन्द्र में रमण होता है/जीवन सुखी नज़र आता है।'' (पृ.१६२)

जीवन की परिधि पर सम्पन्न सारी क्रियाएँ अन्ततः दुःख सागर में ही निपतित करती हैं। जीवन की परिधि पर उस चेतना का वास नहीं रहता जो आनन्द का स्रोत है। आनन्दप्रद परम चेतना का प्रभामण्डल तो जीवन केन्द्र पर ही अधिष्ठित रहता है।

कुम्भ बन कर तैयार हो जाता है। चक्र से उतारकर कुम्भ को शिल्पी दो-तीन दिन सुखाता है, फिर ठोक-पीट कर सुधारता है। कुम्भ पर शिल्पी कुछ तत्त्वबोधी संख्याओं के अंकन के साथ विचित्र चित्रों को चित्रित करता है और कविता की कुछ पंक्तियाँ भी उकेरता है। कुम्भ के कर्ण स्थल पर सुशोभित ९९ और ९ की संख्याओं के कर्णफूल क्रम से मोह और मोक्ष को द्योतित करते हैं। ९९ की संख्या को दो, तीन, चार, पाँच, छह आदि संख्याओं से गुणित करके कितना ही बढ़ा लिया जाए, किन्तु उसकी लब्ध-संख्या का योग ९ ही रहता है। जैसे–९९ x २= १९८, १+९+८=१८, १+८=९ इस प्रकार गुणन-क्रम ९ की संख्या तक ले जाने पर भी लब्ध-संख्या का योग ९ ही रहता है। ९९ का संख्यात्मक प्रतीक यह तथ्य व्यक्त करता है कि संसार निन्यानबे का चक्कर है, इसलिए माया है, छलना है, मिथ्या है। और ९ की संख्या अक्षय आत्म-तत्त्व का प्रतीकार्थ व्यक्त करती है। वस्तुतः आत्मसाधना ही ९ यानी नवजीवन का स्रोत है। कुम्भ के कण्ठ पर ६३ की संख्या अंकित है, जो प्रेम का प्रतीक है। तिरसठ की छह और तीन की संख्या की तरह सज्जन भी एक-दूसरे के सुख-दुःख के सहभागी होते हैं। ६३ की विलोम संख्या ३६ है, जो कलह, संघर्ष और बैर का प्रतीक है। दुर्जन एक-दूसरे से छत्तीस का ही रिश्ता रखते हैं। छत्तीस के आगे तीन की संख्या जुड़ जाने पर तीन सौ तिरसठ बनता है। वर्तमान समाज में तीन सौ तिरसठ मतों का ही बोलबाला है, जिसके परिणामस्वरूप आज विश्व में लोग खून के प्यासे हो गए हैं। आतंकवादी और उग्रवादी हिंसा का नंगा नाच कर रहे हैं।

सिंह और श्वान का चित्रांकन भी कुम्भ पर किया जाता है। सिंह स्वाधीनताप्रेमी होता है, जबकि श्वान को पराधीनता से कतई परहेज़ नहीं होता। गुलामी का पट्टा उसके गले का आभूषण बन जाता है। सिंह और श्वान में एक बहुत बड़ा अन्तर यह होता है कि 'सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,' क़ौमी एकता का निदर्शन प्रस्तुत करता है,

इसलिए वह निर्बन्ध होता है। श्वान जाति गुर्राऊ होता है, क़ौमी एकता का विघातक होता है, इसलिए वह दासता का जीवन व्यतीत करता है।

कुम्भ पर अंकित कछुवा और खरगोश के चित्र ज्ञापित करते हैं कि मन्थर गति से चलता हुआ कछुवा नियत समय में गन्तव्य तक पहुँचता है, जबकि तीव्र गति वाला खरगोश पथ में नींद लेने के कारण बहुत पीछे रह जाता है। इसी तरह प्रमाद साधक की आत्मोपलब्धि में व्यवधान उपस्थित करता है। इसलिए साधक को साधना पथ पर प्रमाद रहित होकर निरन्तर चलते रहना चाहिए।

कुम्भ पर 'ही' और 'भी' बीजाक्षर भी अंकित हैं। 'ही' एकान्तवाद का और 'भी' अनेकान्तवाद–स्याद्वाद का प्रतीक है :

''हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!/और,/'भी' का कहना है कि
हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!'' (पृ. १७२-१७३)

अनेकान्तवाद जैन दर्शन का अद्भुत प्रदेय है। अनेकान्तवाद इस विचार पर आधारित है कि सत्य अनन्त है, उसके अनेक आयाम हैं। सामान्यत: कोई भी व्यक्ति सत्य को सम्पूर्ण रूप से जानने का दावा नहीं कर सकता। सत्य के एक पहलू को ही वह जानता है। यदि कोई तत्त्वदर्शी सत्य का सम्यक् साक्षात्कार कर भी लेता है तो उसे पूर्ण रूप से व्यक्त करने में वह अपने को असमर्थ पाता है। इसलिए सत्य के एकपक्षीय दृष्टिकोण का समर्थन और दूसरे दृष्टिकोण का विरोध नहीं करना चाहिए वरन् परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों में सामंजस्य ढूँढ़ने की चेष्टा करनी चाहिए। 'किसी अपेक्षा से मेरा कथन सत्य और किसी अन्य अपेक्षा से आपका कथन भी सत्य' – अनेकान्तवाद–स्याद्वाद का यह दर्शन यदि जन-जन की आत्मा में उतर जाए तो विश्व में अहिंसा, प्रेम और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो जाए। सारे झगड़े की जड़ 'ही' है, एकान्तवाद है। 'ही' के प्रयोग में आंशिक सत्य का आग्रह है। इस प्रकार के दुराग्रह में आंशिक सत्य भी सत्य न रहकर फिर असत्य बन जाता है। इसलिए :

'' 'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है/स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,
सद्विचार सदाचार के बीज/'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।
प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।'' (पृ. १७३)

कुम्भ पर अंकित 'कर पर कर दो' पंक्ति सन्देश देती है कि निरन्तर कर्मनिरत रहने से ही भविष्य उज्ज्वल और जीवन सार्थक होता है। चार शब्दों की कविता 'मर हम मरहम बनें' भी कुम्भ पर अंकित है। इसका आशय है कि पाषाणवत् निष्ठुर व्यक्ति से ठोकर खाकर कितने व्यक्ति लहूलुहान हो जाते हैं, लेकिन यदि संयोगवश उसका हृदय परिवर्तित होकर करुणाप्लावित हो जाता है तो उसे अनुताप होता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अपने हिंसामय निकृष्ट जीवन को परिसंस्कारित करके 'मरहम' स्वरूप लोकमंगलकारी नवजीवन का शुभारम्भ करता है। ईश्वरीय अनुग्रह से घटित व्यक्तित्व में ऐसा क्रान्तिकारी शुभ परिवर्तन व्यक्ति को दस्यु रत्नाकर से परम कारुणिक महर्षि वाल्मीकि बना देता है। तब रोते हुए लोगों को हँसाना और गिरे हुए लोगों को उठाना ही उसकी ज़िन्दगी का मक़सद बन जाता है। ऐसे ऊँचे 'मक़सद' वाले व्यक्ति को लक्ष्य करके एक शायर कहता है :

"हर दिल किसी दिल पर फ़िदा होता है, हर इन्सान के मुहब्बत का तौर जुदा होता है।
जो लड़खड़ाते को बढ़ कर उठा ले, वह इन्सान ख़ुदा होता है।"

शिल्पी ने चार अक्षरों की एक और कविता 'मैं दो गला' को कुम्भ पर उकेरा। तीन अर्थों से अनुप्राणित इस लघु कविता का पहला आशय अन्तर-बाह्य वाचिक विषमता का दिग्दर्शन कराता है। भीतर से कुछ एवं बाहर से कुछ और बोलने वाले लोगों की ही आज भरमार है। 'मैं दोगला' का दूसरा भाव--छली, धूर्त, कपटी और अभिमानी होना है। समाज में ऐसे व्यक्तियों की भी कमी नहीं है। 'मैं दो गला' का तीसरा अर्थ है—दो गला यानी गला दो, निर्मूल कर दो सकल विकारों के जनक अपने 'मैं 'को, अहंकार को, आपा को। आत्मबोध का यही सरल-सुगम उपाय है -- 'आपा मेटि जीवत मरै, सो पावै करतार।'

कुम्भ को शिल्पी ने अंकों, चित्रों और शब्दों की इबारतों से अर्थवान् तो बना दिया, लेकिन उसका कच्चापन अभी शेष है। उसके जलीय अंश को निश्शेष करके ही उसकी अर्थवत्ता को स्थायित्व दिया जा सकता है। इसलिए कुम्भकार कुम्भ को तपी हुई खुली धरती पर रखता है। तप से ही जलत्व का, अज्ञान का विलय हो सकता है। दूसरी ओर जलत्व या वर्षा को प्रादुर्भूत करने का श्रेय भी तपःऊष्मा को ही है। संकल्प-विकल्पों से तप्त अन्तर्मन का सन्ताप भी तपस्या से ही मिट सकता है। क्षणभंगुर भौतिक सुख की नीरसता का एहसास तप द्वारा प्राप्त चिन्मय आनन्द के बाद ही हो सकता है। सांसारिक भोगलिप्त व्यक्ति के प्रतीक के रूप में वसन्त के चित्रण द्वारा सन्त कवि ने भौतिक जीवन की नीरसता का अनावरण किया है :

"वसन्त का भौतिक तन पड़ा है/निरा हो निष्क्रिय, निरावरण,
गन्ध-शून्य शुष्क पुष्प-सा।/मुख उसका थोड़ा-सा खुला है,
मुख से बाहर निकली है रसना/थोड़ी-सी उलटी-पलटी,
कुछ कह रही-सी लगती है—/भौतिक जीवन में रस ना!" (पृ. १८०)

संसार और जीवन को परिभाषित करने वाले सूत्र 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्' का सन्त कवि ने व्यावहारिक भाषा में सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/ आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

उत्पाद-व्यय यानी जन्म-मृत्यु से युक्त यह जगत् ध्रुव है, सत्य है।

तीसरे खण्ड में कवि ने प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से पुण्य की महत्ता प्रतिपादित करते हुए रति, ईर्ष्या, क्रोध आदि मानवीय भावों को रूपायित करने का प्रयत्न किया है। धरती के वैभव को समेट कर जल रत्नाकर बन जाता है। अपने अंश सीप को सागर में प्रेषित कर धरती जलधि को मुक्ताओं का निधान बना देती है :

"जल को मुक्ता के रूप में ढालने में/शुक्तिका—सीप कारण है,
और/सीप स्वयं धरती का अंश है।/स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर
सागर में प्रेषित किया है।" (पृ. १९३)

वंश मुक्ता, सीप मुक्ता, नाग मुक्ता, शूकर मुक्ता, मच्छ मुक्ता, गज मुक्ता, यहाँ तक कि मेघ मुक्ता बनने में भी धरती का हाथ है। रत्नगर्भा धरती की इन उपलब्धियों से चन्द्रमा की चन्द्रिका ईर्ष्यावृद्धि में अभितप्त होने लगती है। चन्द्रमा के निर्देशन में धरती की शान्ति भंग करने के लिए जल तत्त्व सक्रिय हो जाता है :

''धरती को अपमानित - अपवादित/करने हेतु/चन्द्रमा के निर्देशन में
जलतत्त्व वह अति तेजी से/शतरंज की चाल चलने लगा,
यदा-कदा स्वल्प वर्षा कर/दल-दल पैदा करने लगा धरती पर।
धरती की एकता/अखण्डता को/क्षति पहुँचाने हेतु/दल-दल पैदा करने लगा!
दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना!/जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल/हाला घुली जल-ता
क्लान्ति की जननी है ना!'' (पृ.१९६-१९७)

उपरिलिखित पंक्तियों में समसामयिक स्थिति की ओर भी संकेत किया गया है। दल-बहुलता से उपजी वैचारिक विषमता के कारण लोग अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग आलाप रहे हैं, जो राष्ट्रीय एकता का सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। आज व्यक्ति इतना आत्मकेन्द्रित हो गया है कि तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए बड़े से बड़ा अनर्थ करने में भी नहीं हिचकता।

प्रभाकर के प्रवचन से प्रभावित होकर बदलियों का हृदय परिवर्तित हो जाता है। प्रलय के लिए कटिबद्ध बदलियाँ लोकसेवा में तत्पर होकर कुम्भकार के प्रांगण में अपक्व कुम्भों पर मुक्ता की वर्षा करने लगती हैं। मोतियों की वर्षा की बात राजा के कानों तक पहुँचती है। लोभी राजा अपनी मण्डली को मोतियों की राशि को बोरियों में भरने का संकेत करता है। मुक्ता राशि को बोरियों में भरने के लिए ज्योंही मण्डली झुकती है, त्योंही आकाश गुरु-गम्भीर-वाणी के साथ मुखरित हो उठता है :

''अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ!/पाप···पाप···पाप···!/क्या कर रहे आप···?
परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही,/परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,/कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत,/जीवन को खतरा है!/पर-कामिनी,/वह जननी हो,
पर-धन कंचन की गिट्टी भी/मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में
हाय रे! समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र!'' (पृ. २११-२१२)

बिना पसीना बहाए सम्पत्ति-अर्जन चोरी है, और चोरी कापुरुषता का परिचायक है। परिश्रम पुरुषार्थ का पर्याय है। पुरुषार्थी व्यक्ति पर-द्रव्य को मिट्टी समझता हुआ 'श्रम एव जयते' में विश्वास रखता है। 'मातृवत् परदारेसु परद्रव्येषु लोष्ठवत्' के शिष्टाचार की अवहेलना के कारण ही आज विश्व दुश्चरित्रता और दुष्टता के सन्त्रास से पीड़ित है।

हृदयवेधी आकाशवाणी का भी राजमण्डली पर कारगर प्रभाव नहीं पड़ता। मुक्ताराशि को बटोरने के लिए मण्ड़ली हाथ पसारती है, लेकिन मुक्ता के स्पर्श से ही सबको बिच्छू के डंक की वेदना का तीव्र एहसास होने लगता है

और सबकी 'पापड़-सिकती-सी-काया' छटपटाने लगती है। मन्त्र कीलित की भाँति राजा भी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। लेकिन कुम्भकार मुक्ताराशि पर राजा का स्वत्व स्वीकार करते हुए उसे राजा को समर्पित कर देता है, जिससे राजकोष और समृद्ध हो जाता है।

मोतियों की वर्षा से धरती का वर्धित यश सागर के विक्षोभ का कारण बनता है। सूर्य के संकेत से बड़वानल सागर को प्रताड़ित करता है पर पृथ्वी के प्रति सागर के वैमनस्य में कोई कमी नहीं आती। पृथ्वी को प्रलय से पीड़ित करने के लिए बदलियों के स्थान पर वह अब तीन कृष्ण, नील और कपोतवर्णा पुरुष घन-बादलों को नियत करता है। प्रभाकर को जलाने के लिए आमन्त्रित राहु को सागर हीरा, मोती, मूँगा, पुखराज और नीलम की अनगिनत निधियों का उत्कोच देता है। रिश्वत से ही मानों सुकृतक्षीण राहु पाप-शाला के रूप में अत्यधिक काला होकर दुर्दर्श्य हो गया। राहु के इस चित्रण द्वारा सन्त कवि ने वर्तमान समय में घूसखोरी की बढ़ती प्रवृत्ति पर कठोर आघात किया है।

राहु सूर्य को निगलता है। धरती पर अन्धकार छा जाता है। वन, उपवन, पल्लव-पात, फल-फूल सभी क्रन्दन करने लगते हैं। पक्षी जल, भोजन और मनोरंजन का परित्याग कर देते हैं। प्रभाकर के पराभव को देखकर बादल फूले नहीं समाते। प्रलयकारिणी वर्षा प्रारम्भ हो जाती है। गुप्त रूप से अवतरित होकर अमरेश इन्द्र भी तीक्ष्ण बाणों से बादल दलों का बदन विदीर्ण कर देते हैं। सागर बादलों का दूसरा दल भेजता है जो ऐसी बिजली का उत्पादन करता है, जिसकी कौंध से सबकी पलकें झँप जाती हैं। यहाँ तक कि अनिमेष इन्द्र भी निमेषवान् बन जाता है। उसकी आँखें बार-बार पलक मारने लगती हैं। आवेश में आकर इन्द्र बादलों पर वज्राघात करता है। आहत बादलों की चीख से समस्त सौरमण्डल ध्वनित हो जाता है। सागर के संकेत पर बादल लघु-गुरु, अणु-महा विभिन्न आकार-प्रकार के ओलों का उत्पादन प्रारम्भ कर देते हैं। सम्पूर्ण सौरमण्डल उपलमय हो जाता है। मेघ उपलवृष्टि प्रारम्भ कर देते हैं। भूकण ओलों को करारी मात देकर शून्य में उछाल देते हैं। इस टकराव से कुछ ओले छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित होकर गिरते हुए ऐसा दृश्य उपस्थित करते हैं, मानों देवगण धरती का अभिनन्दन करने के लिए स्वर्ग से पारिजात पुष्प की पाँखुरियाँ बिखेर रहे हों। उपलवृष्टि का दृश्य कुम्भ समूह सहज-साक्षीभाव से देख रहा है, इसलिए वह पूर्णतया भयमुक्त है। आश्चर्यपरक बात तो यह है कि बरसाए गए तमाम ओलों में एक भी ओला कुम्भ को क्षत-विक्षत नहीं कर सका :

> *"ऊपर घटती इस घटना का अवलोकन/खुली आँखों से कुम्भ-समूह भी कर रहा।*
> *पर,/कुम्भ के मुख पर/भीति की लहर-वैषम्य नहीं है*
> *सहज-साक्षी भाव से, बस/सब कुछ संवेदित है*
> *सरल-गरल, सकल-शकल सब !/इस पर भी/विस्मय की बात तो यह है*
> *कि,/एक भी ओला नीचे आकर/कुम्भ को भग्न नहीं कर सका !"*
>
> *(पृ. २५१-२५२)*

किसी भी सुखद-दुःखद घटना का सहज-साक्षीभाव से अवलोकन आध्यात्मिक उपलब्धि है, पुण्य का प्रतिफल है। इस वैशिष्ट्य से सन्तुलित होने पर व्यक्ति अनुकूल-प्रतिकूल हर परिस्थिति में एक रस रहता है। कोई भी दुर्घटना उसे विचलित नहीं कर पाती। साधक जल की शीतलता और अनल के ताप को समान भाव से स्वीकार करता है। साधना-यात्रा का महत्त्वांकन करता हुआ कुम्भ कहता भी है :

> *"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं*

साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

बादल दल के साथ ओले सागर में समाहित होकर दु:खद नारकीय जीवन व्यतीत करते हैं। यह उनके पाप-कर्म का परिणाम है। कई दिनों के बाद निरभ्र नीलाकाश के दर्शन और पवन प्रवाह के स्पर्शन को उल्लसित सौरमण्डल शुभकामना के स्वर में कह उठता है :

"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और
हम सब की/धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।" (पृ. २६२)

विजयिनी धरती के वन-उपवन-पवन सब प्रभाकर के आलोक-निमज्जन से निखर जाते हैं। नवीन छवियों से मण्डित पृथ्वी पर सब कुछ नया-ही-नया दृष्टिगत होता है :

"नयी ऊषा तो नयी ऊष्मा/नये उत्सव तो नयी भूषा
...नयी खुशी तो नयी हँसी/नयी-नयी यह गरीयसी।
नया मंगल तो नया सूरज/नया जंगल तो नयी भू-रज।" (पृ. २६३)

'मूकमाटी' का चतुर्थ खण्ड सर्वोत्कृष्ट अंश है। समाज और संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में जीवन के अनेक आयामों को उद्घाटित करने के लिए इस खण्ड में विविध कथा-प्रसंगों की योजना की गई है। अपक्व कुम्भ को पकाने के लिए अवा की तैयारी से खण्ड प्रारम्भ होता है। बबूल, नीम, देवदारु और इमली की लकड़ियों से सुसज्जित अवे में कुम्भों को व्यवस्थित रूप में रखा जाता है। सब लकड़ियों की ओर से बबूल की लकड़ी अपनी अन्तर्व्यथा व्यक्त करती हुई कुम्भकार से कहती है :

"जन्म से ही हमारी प्रकृति कड़ी है/हम लकड़ी जो रहीं
...कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी
अपराधियों की पिटाई के लिए/प्राय: अपराधी-जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते, और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।
इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या/मनमाना 'तन्त्र' है।" (पृ. २७१)

इसमें अपराधियों को प्रश्रय देने वाली और सीधे-सादे निरपराध व्यक्तियों को उत्पीड़ित करने वाली वर्तमान लोकतान्त्रिक व्यवस्था की दयनीय स्थिति को उजागर किया गया है। वस्तुत: जनकल्याणकारी आदर्श से च्युत आज का लोकतन्त्र 'धनतन्त्र' और 'मनमाना तन्त्र' का पर्याय बन चुका है।

नव बार नवकार मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुम्भकार अवा में अग्नि लगा देता है। अवे में अग्नि जलती है, बुझती है। जलन-बुझन की क्रिया कई बार चलती है। हर बार कुम्भकार अग्नि प्रज्वलित करता है। अग्नि कुम्भ को निर्दोष समझती है, इसलिए उसे जलाना नहीं चाहती। अपक्व कुम्भ अग्नि से प्रार्थना करता है :

"मैं कहाँ कह रहा हूँ/कि मुझे जलाओ ?/हाँ, मेरे दोषों को जलाओ !

मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है/स्व-पर दोषों को जलाना
परम-धर्म माना है सन्तों ने।/दोष अजीव हैं/नैमित्तिक हैं,
बाहर से आगत हैं कथंचित्;/गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।
तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,/इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से
मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है/जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
उसकी पूरी अभिव्यक्ति में/तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ. २७७)

सहज क्षमता की विकासगत बाधाएँ ही दोष हैं। जब तक इन दोषों का शमन नहीं किया जाता, तब तक जीवन का कोई अर्थ नहीं है। क्षमतावान् जीवन ही परहित जैसे उत्कृष्ट धर्म के सम्पादन में निरत हो सकता है। इसीलिए अपक्व कुम्भ अपनी जलधारक क्षमता की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए जलना चाहता है, तपना चाहता है, पकना चाहता है। परिपक्व होने पर ही उसका जीवन अर्थवान् बन सकता है।

अवा अग्नि से प्रदीप्त हो उठता है। अनल-स्पर्श से कुम्भ की काया तपने लगती है, पर आत्मा उज्ज्वल होता हुआ शान्ति का अनुभव करता है। साधना पथ पर अविराम चलते रहने के संकल्प से अनुप्राणित हो कुम्भ अपूर्व शान्ति की याचना करते हुए प्रभु से निवेदन करता है :

"भुक्ति की ही नहीं,/मुक्ति की भी/चाह नहीं है इस घट में
वाह-वाह की परवाह नहीं है/प्रशंसा के क्षण में।
दाह के प्रवाह में अवगाह करूँ,/परन्तु,/आह की तरंग भी
कभी नहीं उठे/इस घट में···संकट में।/इसके अंग-अंग में/रग-रग में
विश्व का तामस आ भर जाय/कोई चिन्ता नहीं,/किन्तु, विलोम भाव से
यानी/ता···म···स स···म···ता···!" (पृ. २८४)

कुम्भ की इस वांछा की अभिव्यक्ति द्वारा सन्त कवि ने आध्यात्मिक जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया है। भुक्ति-मुक्ति, सुख-दुःख, राग-द्वेष से अलिप्त व्यक्तित्व ही विश्व के तामस को परिष्कृत करके 'समता' में रूपान्तरित कर सकता है।

कुम्भकार अवे से कुम्भ निकालता है। अग्नि में तपकर कुम्भ काला हो जाता है, मानों उसके भीतरी दोष बाहर आ गए हों और अन्तस्तल पाप रहित होकर निर्मल हो गया हो। भिक्षार्थी महासन्त के स्वागत के लिए नगर का महासेठ कुम्भ लाने के लिए अपना सेवक भेजता है। सेवक कुम्भ को सात बार बजाता है, जिससे क्रमशः सात संगीत स्वर 'सा···रे···ग···म···प···ध···नि' निःसृत होते हैं। कवि इन स्वरों का आशय इस प्रकार स्पष्ट करता है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख,
प···ध यानी ! पद—स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता,
मोह कर्म से प्रभावित आत्मा का
विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

तवे की आँच में तपकर कुम्भ का स्वरूप पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है। वह अपक्व घट से मंगल घट बन जाता

है। साधना में प्रज्वलित साधक को आत्मस्वरूप का अभिज्ञान हो जाता है। उसे यह बोध हो जाता है कि वह शरीर नहीं है वरन् सत्-चित्--आनन्दमय आत्मा है। इस स्थिति में वह सांसारिक दु:खों से पूर्णत: विमुक्त हो जाता है, क्योंकि दु:ख आत्मा का स्वभाव है ही नहीं। उसका सहज स्वरूप तो आनन्दमय है, मंगलमय है। साधक के अंग-प्रत्यंग से, रग-रग से, रोम-रोम से मृदंग की-सी मानों ध्वनि निनादित होती रहती है जो तन और चेतना की भिन्नता का एहसास कराती हुई दैहिक चिन्ता से मुक्त रखती है। मृदंग की श्रुति-सुखद ध्वनि के माध्यम से कवि ने आत्मबोध का सुन्दर निदर्शन प्रस्तुत किया है :

''धा···धिन्···धिन्···धा···/धा···धिन्···धिन्···धा···
चेतन-भिन्ना, चेतन-भिन्ना,/ता···तिन···तिन···ता···
ता···तिन···तिन···ता···/का तन···चिन्ता, का तन···चिन्ता ?'' (पृ. ३०६)

सेवक के हाथ से लेकर कुम्भ को सेठ ताज़े शीतल जल से प्रक्षालित करता है। उस पर स्वस्तिक चिह्न बनाता है। हल्दी-केसर-चन्दन, पान-पत्र और श्रीफल से सुशोभित मांगलिक कुम्भ को सेठ अष्ट पहलूदार चन्दन की चौकी पर स्थापित कर देता है। अतिथि सन्त के आगमन का समय सन्निकट है। अतिथि की प्रतीक्षा में लोग रजत, ताम्र, पीतल-कलश लेकर पंक्तिबद्ध खड़े हैं। सेठ के हाथ में माटी का मंगल कुम्भ है। अतिथि के आहार दान से सभी स्वयं को कृतार्थ करना चाहते हैं। अतिथि के दर्शन होते ही दाता जयकार करने लगते हैं। भोजन-पान पाए बिना सन्त के लौट जाने से दाताओं को मर्मान्तक वेदना होती है। अतिथि सन्त दाता सेठ के यहाँ पधारते हैं। सेठ भक्ति सहित अतिथि की पूजा करता है। प्रासुक जल से आपूरित माटी का कुम्भ हाथ में लेकर अतिथि के चरणों में सेठ के झुकते ही गुरु-पद-नख-दर्पण में कुम्भ अपने स्वरूप का दर्शन करता है। कुम्भ गुरु चरणों में स्वयं को समर्पित कर देता है। आहार-दान स्वीकार कर अतिथि सेठ को कृतकृत्य करते हैं। अतिथि के धर्मोपदेश के बाद सेठ घर लौटता है। इच्छा के विपरीत गुरु-चरणों से अलग होकर सेठ को घर जाना पड़ रहा है, इसलिए वह क्लान्त है। गुरु के सत्संग के प्रभावस्वरूप सेठ विराग और सन्तोष से अनुप्राणित हो जाता है। सांसारिक क्षणभंगुरता का उसे तीव्र एहसास होने लगता है।

सेठ के व्यक्तित्व में सन्त के गुणों का अवतरण होता है। सेठ मृत्तिका पात्रों के उपयोग का संकल्प लेता है। माटी के पात्र के महत्त्व को देखकर स्वर्ण कलश विक्षुब्ध हो जाता है। सन्त पर आक्रोश व्यक्त करता हुआ वह कहने लगता है :

''कौन कहता है यह/कि/आगत सन्त में समता थी
थी पक्ष-पात की मूर्ति वह,/समता का प्रदर्शन भी
दस-प्रतिशत नहीं रहा/समता-दर्शन तो दूर !
जिसकी दृष्टि में अभी/उच्च-नीच भेद-भाव है
स्वर्ण और माटी का पात्र/एक नहीं है अभी
समता का धनी हो नहीं सकता वह !'' (पृ. ३६२-३६३)

सेठ को उपहास दृष्टि से देखता हुआ स्वर्ण कलश पुन: कहता है :

''गृहस्थ अवस्था में-/नाम-धारी सन्त यह/अकाल में पला हुआ हो
अभाव-भूत से घिरा हुआ हो/फिर भला कैसे हो सकता है

बहुमूल्य वस्तुओं का भोक्ता ?/तभी तो···दरिद्र-नारायण-सम
स्वर्णादि पात्रों की उपेक्षा कर/माटी का ही स्वागत किया है।" (पृ. ३६३)

मृत्तिका कुम्भ में भरा पायस स्वर्ण की हीनता बताते हुए माटी का महत्त्व प्रतिपादित करता है :

"तुम स्वर्ण हो/उबलते हो झट से,/माटी स्वर्ण नहीं है
पर/स्वर्ण को उगलती अवश्य,/तुम माटी के उगाल हो !
...माटी में बोया गया बीज/समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित/सहस्र गुणित हो फलता है।" (पृ. ३६५)

पायस का कथन जारी रहता है :

"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य
दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)

स्वर्ण सुख-शान्ति में व्यवधान उत्पन्न करने वाला उपकरण है। वैश्विक स्तर पर आज शोषण और हिंसा का जो नग्न ताण्डव हो रहा है, उसके मूल में स्वर्ण यानी सम्पत्ति-संग्रह की कामना है। भौतिक लिप्सा के अतिरेक ने आज मानव को दुर्दान्त बना दिया है। इसीलिए कवि स्वर्ण को 'परतन्त्र जीवन की आधारशिला' और 'अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला' का मुख्य कारण मानता है। परिग्रहवृत्ति से विजड़ित आज का मानव सम्पत्तिसंग्रह के लिए अनैतिक साधनों के उपयोग से भी परहेज नहीं करता। मनुष्य पर लोभ इतना हावी हो गया है कि लोग दहेज के लिए वधू-हत्या जैसे जघन्य अपराध करने से भी नहीं चूकते, 'लोभी पापी मानव पाणिग्रहण को भी प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं' (पृ. ३८६)।

आतंकवाद पर भी कवि ने दृष्टिपात किया है। अहिंसा को परम धर्म माननेवाला हमारा देश आज आतंकवाद की भीषण ज्वाला में जल रहा है। पंजाब, कश्मीर और असम की भोली-भाली निरपराध जनता आतंकवादियों की हिंसा का शिकार हो रही है। देश के अन्य राज्य भी आतंकवादी गतिविधियों से अछूते नहीं हैं। आतंकवाद की समस्या को अपने ढंग से प्रस्तुत करते हुए कवि ने इसके समाधान का मार्ग भी प्रस्तुत किया है। स्वर्ण कलश के आतंकवादी दल को गज-दल और नाग-नागिनियाँ परास्त कर सेठ के परिवार की रक्षा करते हैं। आतंकवाद का हृदय इतना परिवर्तित हो जाता है कि नीराग साधु से वह अक्षय सुख-प्राप्ति का मार्ग दिखाने का वचन माँगता है ताकि आश्वस्त होकर वह भी नीराग साधु-जैसी साधना का अपने जीवन में अभिनिवेश कर सके। साधु वचन नहीं देता, क्योंकि अक्षय-सुख आत्म-साधना से ही प्राप्त किया जा सकता है। वचन के द्वारा आत्मानन्द की अभिप्राप्ति नहीं कराई जा सकती। इसलिए साधु वचन न देकर प्रवचन देता है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

प्रवचन के बाद सन्त महामौन में डूब जाता है और मूक माटी माहौल को अनिमेष निहारती है।

'मूकमाटी' का शिल्प सौन्दर्य भी आकर्षक है। अनेक आनुषंगिक कथाओं का नियोजन इस कलात्मकता के साथ किया गया है कि काव्य का स्थापत्य कहीं लड़खड़ाता नहीं। अलंकारों के प्रयोग भी सुन्दर बन पड़े हैं। कविता में

ये सहज रूप में ढल गए हैं। इसके लिए कवि को प्रयास नहीं करना पड़ा है। नवीन उपमान योजना में भी कवि की प्रतिभा सक्रिय रही है। बानगी के रूप में कविता की एक पंक्ति देखिए : "पापड़ सिकती-सी काया सब की/छटपटाने लगी" (पृ. २१२)। इसमें 'काया' की छटपटाहट के लिए सिकते हुए पापड़ की ऐंठन और सिकुड़न के अभिनव उपमान का प्रयोग किया गया है, जो कवि के प्रयोगशील शिल्प-वैशिष्ट्य को उजागर करता है। उपमा कवि का प्रिय अलंकार है। इस अलंकार के प्रयोग में कवि ने विशेष तत्परता दिखाई है। यमक अलंकार का भी काव्य में सहज और सुन्दर प्रयोग हुआ है। व्यतिरेक और पुनरुक्ति प्रकाश अलंकारों का भी विरल विनियोग देखने को मिलता है। मुहावरों और लोकोक्तियों का भी काव्यात्मक प्रयोग किया गया है। लोकजीवन की गन्ध से सुवासित कतिपय लोकोक्तियाँ तो पठनीय ही नहीं, स्मरणीय और आचरणीय भी हैं। उदाहरण के रूप में एक लोकोक्ति प्रस्तुत है :

"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का
कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का।" (पृ. १३५)

भाषा पर कवि का अचूक अधिकार है। कवि के इशारों पर भाषा इस तरह नाचती है कि शब्द में गुम्फित अर्थ की परतें अनायास खुलने लगती हैं। अनेक शब्दों का अपने ढंग से व्युत्पत्तिपरक भाष्य करके कवि ने भाषाशास्त्र की बहुआयामी सम्भावनाओं का पथ प्रशस्त किया है और भाषिक अनुसन्धित्सुओं को अदृष्टपूर्व आभा भी दिखलाई है। कुम्भकार, गदहा, कायरता, संसार, मरहम, दोगला, नारी, अबला, कुमारी, स्त्री, दुहिता, मातृ,अंगना जैसे अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों से काव्य भरा पड़ा है। काव्य की शब्द-सम्पदा को देखते हुए मैं सोचता हूँ कि 'मूकमाटी' का भाषाशास्त्रीय अनुशीलन' एक महत्त्वपूर्ण शोधपरक विषय हो सकता है।

❑

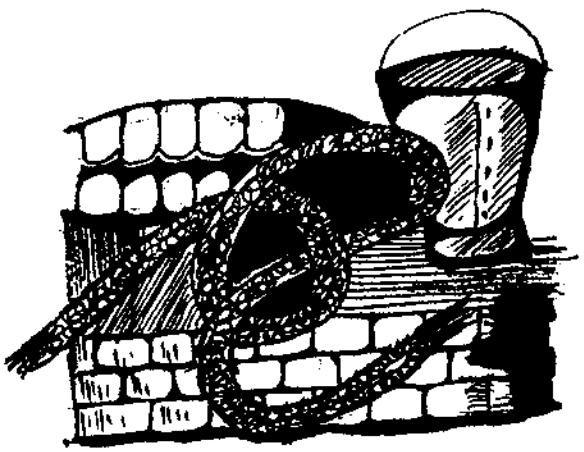

पृष्ठ ६३
गाँठ के सन्धि-स्थान पर
---- तुरन्त गाँठ खोल
देते हैं।

हिन्दी साहित्य का गौरव ग्रन्थ : 'मूकमाटी'

प्रो. शील चन्द्र जैन

कवि अपने युग का प्रतिनिधि होता है। जैसा उसे मानसिक खाद्य मिलता है, वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक आकाश मण्डल में विचरण करती हुई विद्युत् तरंगों को पकड़ कर उसको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि अपने समय के वायुमण्डल में घूमते विचारों को पकड़ कर, उसको भाषित शब्द का आकार देता है। कवि अपने समाज के भावों की मूर्ति एवं मुख होते हैं। कवि के द्वारा निर्मित भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। साहित्य में मानव जाति के समस्त अनुभवों और विचारों का अक्षय भण्डार सुरक्षित है। साहित्य समष्टि और व्यष्टि की गति, गरिमा और प्राण है। समाज का स्वर, जागृति और प्रकाश है साहित्य।

वस्तुत: सत्य का स्वरूप साहित्य और साधना में मिलता है। समाज परिवर्तनशील है। वह गिरगिट की तरह रंग बदलता है किन्तु श्रेष्ठ साहित्य कभी पुराना नहीं पड़ता अपितु शाश्वत और नित नूतन रहता है। साहित्य का सम्बन्ध मूलत: भावों से होता है। साहित्यकार केवल सामाजिक जीवन को ही नहीं चित्रित करता, बल्कि मानवता के व्यापक धरातल पर वह व्यक्ति और समाज के नियमों का सन्तुलन स्थापित करता है और मनुष्य को उसकी भावभूमि से ऊपर उठा कर उदात्ततर बनाता हुआ आनन्द की सृष्टि करता है। इसी व्यापक मानवता से काव्य में स्थायित्व उत्पन्न होता है। यही कारण है कि शताब्दियों पुराने होने पर भी कालिदास, शेक्सपियर, होमर, मिल्टन और तुलसी आदि के काव्य आज भी मनोरम और प्रेरक हैं।

सार्वदेशिक और सार्वकालिक विश्व काव्यों में कुछ समान प्रवृत्तियाँ पाई जातीं हैं। उनका मूल स्वर भिन्न नहीं होता और उसमें जीवन के शाश्वत सत्य का निरूपण होता है। यह सत्य इतिहास से भी महान् बन जाता है। इस तरह का काव्य स्थिति का विश्लेषण करते हुए किसी नवीन दिशा का संचार करता है। इसका आधार कवि की साधना, अनुभूति और जन-जीवन से प्राप्त प्रेरणा होती है। इसमें मानवीय भावों का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। 'मूकमाटी' में कवि ने इन्हीं मूलभूत समस्याओं और विश्व सत्य को अभिव्यक्ति दी है।

'मूकमाटी' सन्त कवि आचार्य विद्यासागरजी की अद्यतन प्रौढ़तम काव्यकृति और सर्वोत्कृष्ट विश्व साहित्य की एक अनुपम कड़ी है। इसे अध्यात्म और रूपक महाकाव्य कहना समीचीन प्रतीत होता है। किस कृति को महाकाव्य कहा जाय और किस को नहीं, यह सर्वथा स्वाभाविक प्रश्न है।

वस्तुत: युग जीवन की चेतना को आत्मसात् करने के कारण ही महाकाव्य युग की देन कहे जाते हैं। प्रत्येक युग के निर्माण में विभिन्न परिस्थितियों का योगदान होता है। इस कारण महाकाव्य के स्वरूप में भी परिवर्तन नज़र आता है। युगीन सन्दर्भों में आधुनिक हिन्दी महाकाव्य किसी भी प्रकार से अतीत के आर्ष महाकाव्यों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

'मूकमाटी' का रचना फलक जहाँ रामायण, महाभारत और रामचरितमानस जैसे युग-प्रवर्तक महाकाव्यों की तरह व्यापक है, वहीं इसके रचयिता वाल्मीकि, व्यास और तुलसीदास जैसे साधक और सन्त भी हैं। इसके अलावा युग-चेतना का उद्घोष, जातीय जीवन का प्रतिनिधित्व, नवीन सामाजिक संरचना के उदात्त संकल्प, आध्यात्मिक निष्ठाओं के परिष्कार, महत् सांस्कृतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा और कलात्मक औदात्त्य के कारण 'मूकमाटी' को हिन्दी साहित्य का गौरव ग्रन्थ कहना उपयुक्त है।

आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्यों के लक्षणों पर सम्यक् विचार करना प्रासंगिक प्रतीत होता है। यद्यपि भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों ने महाकाव्य के जो मानदण्ड निर्धारित किए, वे उनके समय के पूर्व में रचे गए महाकाव्यों

के आधार पर ही निर्धारित किए गए हैं। फिर भी उन पर विचार करना संगत है। आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों पर संस्कृत के महाकाव्य की ही छाप है, फिर भी अनेक लक्षणों की अवहेलना भी नज़र आती है। हिन्दी के प्रमुख समीक्षकों के महाकाव्य विषयक मानदण्ड निम्नानुसार हैं :

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने महाकाव्य के स्वरूप पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। उन्होंने चार तत्त्वों को महत्त्वपूर्ण माना है—इतिवृत्त, वस्तु व्यापार वर्णन, भाव व्यंजना तथा संवाद।

डॉ. श्याम सुन्दर दास के अनुसार महाकाव्य में महत् उद्देश्य, उदात्त आशय और संस्कृति का चित्रण होना चाहिए।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने महाकाव्य के तीन लक्षण माने हैं—रचना का प्रबन्धात्मक या सर्गबद्ध होना, शैली की गम्भीरता और वर्णित विषय की व्यापकता एवं महत्त्व।

डॉ. नगेन्द्र ने महाकाव्य के चार आधारभूत तत्त्व निर्धारित किए हैं— उदात्त कथानक, उदात्त कार्य या उद्देश्य, उदात्त चरित्र और उदात्त भाव-शैली। औदात्त्य ही महाकाव्य का प्राण है।

डॉ. नगेन्द्र द्वारा महाकाव्यालोचन के निर्धारित मानदण्डों के आधार पर किसी भी काव्य कृति के महाकाव्यत्व का आकलन किया जा सकना समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि सर्वथा पूर्ण और सर्वमान्य मानदण्ड निर्धारित करना तो अत्यन्त कठिन है क्योंकि परिस्थितियों, परम्पराओं और मान्यताओं में परिवर्तन होता रहता है। आचार्यों के अनुसार महाकाव्य का आकार इस प्रकार निर्धारित होता है— (१) महाकाव्य का शरीर (२) महाकाव्य की आत्मा।

(१) शरीर— सर्ग रचना, नामकरण, अलंकार, भाषा, छन्द, वस्तुस्थिति एवं पात्र विश्लेषण, वर्ण्य विषय, प्रकृति (ऋतुएँ)- संसार, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्ध आदि।

(२) आत्मा— रस, भाव, नायक का चरित्र, लौकिक-अलौकिक का समन्वय, दैवी और आसुरी प्रवृत्तियों का सम्पर्क।

उपर्युक्त आधारों पर 'मूकमाटी' महाकाव्य का महत् उद्देश्य मानव संस्कृति का संरक्षण और संवर्द्धन है। कृतिकार ने 'मानस-तरंग' में स्वत: व्यक्त किया है : "जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना है और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है···और जिसका नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।"

श्रमण-संस्कृति मानव संस्कृति का वाचक है, क्योंकि कृतिकार युग को ऐसे मानव संस्कारों से संस्कारित करना चाहता है, जो मानव कल्याण के लिए उपयोगी हैं। भौतिकता की चकाचौंध से चकराए मानव को सही दिशा-बोध देना 'मूकमाटी' का लक्ष्य है, जिस प्रकार 'भारत-भारती' में स्व. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तजी का सन्देश है :

"हम कौन थे, क्या हो गये हैं/और क्या होंगे अभी।
आओ विचारें आज मिलकर/यह समस्यायें सभी !!" (भारत-भारती : गुप्त)

इसी प्रकार का भाव जयशंकर प्रसाद की इन पंक्तियों से अभिव्यक्त होता है :

"जगे हम लगे जगाने विश्व/लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम-तम पुंज हुआ तब नष्ट/अखिल संस्कृति हो उठी अशोक ॥"

आज हम अपनी आत्मीयता में सांस्कृतिक मूल्यांकन करने में असमर्थ हैं। ऐसी स्थिति में हमारा भविष्य क्या

होगा ? हम किस प्रकार मानवता की रक्षा कर सकेंगे ? अपनी संस्कृति के प्रति आकर्षण नहीं होगा तो हम मातृ-भूमि (देश की माटी) की गरिमा का जयघोष कैसे कर सकेंगे ? अतएव सांस्कृतिक उन्नयन आवश्यक है जिससे स्नेहपूर्ण जीवन का विकास होता है। 'मूकमाटी'कार ने भारतीय संस्कृति के मूल-मन्त्र को इन पंक्तियों में बाँधा है :

"कृति रहे, संस्कृति रहे/आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित!
सहज प्रकृति का वह/शृंगार-श्रीकार/मनहर आकार ले
जिसमें आकृत होता है।/कर्त्ता न रहे, वह/विश्व के सम्मुख कभी भी
विषम-विकृति का वह/क्षार-दार संसार है/अहंकार का हुँकार ले
जिसमें जागृत होता है।/और/हित स्व-पर का यह
निश्चित निराकृत होता है!" (पृ. २४५-२४६)

x x x

"सर्वे भवन्ति सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥"

भारतीय संस्कृति का यह सन्देश 'मूकमाटी'कार ने इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित, विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस।" (पृ. ४७८)

इस भौतिकतावादी जड़ युग में ऐसे कवि और कृति का अवतरित होना विशेष उपलब्धि है। 'साकेत' महाकाव्य में स्व. गुप्तजी ने ऐसा ही भाव इन पंक्तियों में व्यक्त किया है :

"भव में नव वैभव व्याप्त कराने आया,/नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया!
सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,/इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया॥"
(साकेत : गुप्त)

'कामायनी' महाकाव्य में प्रसादजी ने जहाँ समरसताजन्य आनन्दवाद की प्रतिष्ठा कर मानवता के स्वर फूँके हैं, वहीं सन्त कवि विद्यासागर ने एकान्तवाद, आतंकवाद का अवसान कर एवं अनेकान्तवाद और अनन्तवाद की स्थापना कर मानवता की विजय का सन्देश दिया है, यथा :

"शक्ति के विद्युत्कण, कण जो व्यस्त/विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय।
समन्वय उसका करे समस्त/विजयिनी मानवता हो जाय!" (कामायनी : प्रसाद)

पूँजीवादी, साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों से खोखले इस मानव समाज को संरक्षित करने की मूलभूत चेतना से अनुप्राणित पंक्तियाँ 'मूकमाटी' में इस प्रकार हैं :

- *"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं*

अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

- *"आततायिनी, आर्तदायिनी/दीर्घ गीध-सी/इस धन-गृद्धि के लिए धिक्कार हो, धिक्कार हो।" (पृ. १९७)*
- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,/धन हीनों में चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।" (पृ. ४६७-४६८)*

'साकेत संत' महाकाव्य में पं. बलदेव प्रसाद मिश्र ने मानवता की रक्षा के लिए ऐसा ही भाव व्यक्त किया है:

"मनुजता के जीवन का मर्म, आह की गहराई ले जान।
मनुजता की रक्षा के हेतु, निछावर कर दे अपने प्राण॥"

भौतिक जड़वाद ने मानव को स्वार्थी, लोभी, निर्दय बना दिया है। आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' में इस भौतिकवाद की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है, जिसके विषम परिणाम परिलक्षित होते हैं :

- *"कलि-काल की वैषयिक छाँव में/प्रायः यही सीखा है इस विश्व ने वैश्यवृत्ति के परिवेश में—/वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)*
- *"अन्धकार-मय भविष्य की आभा,/जो/मौलिक वस्तुओं के उपभोग से विमुख हो रहा है संसार!/और/लौकिक वस्तुओं के उपभोग में प्रमुख हो रहा है, धिक्कार!" (पृ. ४११)*

'वैदेही वनवास' में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी भौतिकता की निन्दा की है, जो स्वार्थ भावना के वैषम्य को उत्पन्न करती है :

"भौतिकता में यदि है जड़वादिता/आध्यात्मिकता मध्य चिन्मयी शक्ति है।
आध्यात्मिकता का प्रचार कर्त्तव्य है/जिससे यथासमय भव का हित हो सके॥"
(वैदेही वनवास : हरिऔध)

'मूकमाटी' में सन्त-कवि ने 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को साकार कर दिया है। आत्मानुभूति के लिए सच्ची आस्था की आवश्यकता है। आस्था से साधना में सरलता और जीवन में सार्थकता आती है, यथा :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर
सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।
आस्था के तारों पर ही/साधना की अँगुलियाँ/चलती हैं साधक की,
सार्थक जीवन में तब/स्वरातीत सरगम झरती है!" (पृ. ९)

ऐसा ही अटल आस्थावादी भाव 'साकेत' में गुप्तजी ने इन पंक्तियों में व्यक्त किया है, यथा :

"राम, तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करें;

तुम न रमो तो मन तुममें रमा करे।''

भारतीय संस्कृति–आर्य संस्कृति की विजय स्थापित करना प्रत्येक कवि का कर्म रहा है। असत् पर सत् की विजय ही कवि का अभिप्रेत रहता है। गुप्तजी ने 'साकेत' में आर्य-संस्कृति का आदर्श निम्न पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है :

''मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया।
सुख शान्ति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया।
मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं।''

'मूकमाटी'कार ने सुख-शान्ति की जननी भारतीय संस्कृति की ओर संकेत करते हुए लिखा है :

- *''महामना जिस ओर/अभिनिष्क्रमण कर गये/सब कुछ तज कर, वन गये*
  नग्न, अपने में मग्न बन गये/उसी ओर···
  उन्हीं की अनुक्रम निर्देशिका भारतीय संस्कृति है
  सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।'' (पृ. १०२-१०३)
- *'' 'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता*
  रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
  यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।'' (पृ. १७३)
- *'' 'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,*
  किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।'' (पृ. १७३)

'सत्यमेव जयते' साहित्य का सत्य है। इस सत्य का उद्घाटन एवं सम्पोषण कवि का अभिप्रेत होता है। यही सत्य जीवन का सत्य बनकर, जीवन को सार्थकता प्रदान करता है। महाकाव्यों में सत्य की मीमांसा की गई है :

''सत्य से ही स्थिर है संसार,/सत्य ही सब धर्मों का सार!
राज्य ही नहीं, प्राण-परिवार,/सत्य पर सकता हूँ सब वार।'' (साकेत : गुप्त)

"Truth is God."– सत्य ही ईश्वर है। असत् का ज्ञान और उससे छुटकारा पाना ही सत्य की पहचान और प्राप्ति है। 'मूकमाटी'कार ने इसी सत्य की व्याख्या की है :

- *''असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है।'' (पृ. ९)*
- *''दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।'' (पृ. ३७)*
- *''अधिकार का भाव आना/सम्प्रेषण का दुरुपयोग है।'' (पृ. २३)*
- *''सहकार का भाव आना/सदुपयोग है, सार्थक है।'' (पृ. २३)*
- *''अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।'' (पृ. १३)*

- *''संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से हर्षमय होता है।'' (पृ. १४)*

'अतिथिदेवो भव'–अतिथि सत्कार भारतीय संस्कृति का एक आदर्श है। अतिथि के बिना तिथियों का भी महत्त्व नहीं है। 'मूकमाटी' कार ने कहा है कि अतिथि ही तिथियों को पूज्य बनाते हैं, यथा :

''अतिथि के बिना कभी/तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती
अतिथि तिथियों का सम्पादक है ना!'' (पृ. ३३५)

'साकेत' में गुप्तजी ने स्वयं भगवान् राम द्वारा अतिथि सत्कार का एक चित्रांकन इन शब्दों में अंकित किया है :

''अपना आमंत्रित अतिथि मान कर सबको,
पहले परोस पाई तृप्ति दान कर सबको
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों,
सेवन करता है, मंद पवन उपवन में।'' (साकेत : गुप्त)

'मूकमाटी' सम-सामयिक आधुनिकता, राष्ट्रीय चेतना, युगबोध, नैतिक मूल्य, लोकतन्त्र, समाजवाद, समता, लोक कल्याण, विश्व बन्धुत्व, आधुनिक भौतिकवादी भोगलिप्सा का त्याग, कर्मशील जीवन की प्रेरणा एवं नारी के सम्यक् मूल्यांकन जैसी विशेषताओं से समाविष्ट है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। 'धृति-धारिणी धरती' को 'मूकमाटी' कार ने इस प्रकार अभिव्यंजित किया है :

''धरती शब्द का भी भाव/विलोम रूप से यही निकलता है–
ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
या शरणागत को/तीर पर धरती है/वही धरती कहलाती है।'' (पृ. ४५२)

इस धरती पर सबको समान अधिकार है। यदि प्रत्येक का हित होता है तो यहीं पर लोकतत्त्व को महत्त्व मिलता है। लोक कल्याण की यह पवित्र भावना महाकाव्यों में इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है :

- *''केवल उन्हीं के लिये नहीं यह धरणी,/है औरों की भी भार धारिणी भरणी।*
  जब पद के बन्धन मुक्ति हेतु हैं सबके/यदि नियम न हो उच्छिन्न सभी हों कबके।''
  (साकेत: गुप्त)
- *''धर्मराज, यह भूमि किसी की/नहीं क्रीत है दासी,*
  हैं जन्मना समान परस्पर/इसके सभी निवासी।
  है सब को अधिकार मृत्ति का/पोषक-रस पीने का,
  विविध अभावों से अशंक होकर जग में जीने का।
  सब को मुक्त प्रकाश चाहिये, हो –/सबको मुक्त समीरण,
  बाधा-रहित विकास, मुक्त/आशंकाओं से जीवन।'' (कुरुक्षेत्र : दिनकर)
- *''लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा*
  जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।/'भी' से स्वच्छन्दता-मदान्धता मिटती है
  स्वतन्त्रता के स्वप्न साकार होते हैं,/सद्विचार सदाचार के बीज

'भी' में हैं, 'ही' में नहीं।/प्रभु से प्रार्थना है, कि/'ही' से हीन हो जगत् यह
अभी हो या कभी भी हो/'भी' से भेंट सभी की हो।" ('मूकमाटी', पृ. १७३)

'वसुधैव कुटुम्बकम्', विश्व बन्धुत्व, विश्व शान्ति और सह-अस्तित्व की पवित्र भावना से ओत-प्रोत उपर्युक्त कथन कितना मार्मिक एवं प्रेरक है।

कर्म ही मानव को महान् बनाते हैं। सत्-कर्मों के बल पर ही हम विश्व में गरिमा प्राप्त करते हैं। हमारे श्रेष्ठ कर्म तो इस पृथ्वी पर ही स्वर्ग बना सकते हैं, यथा :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥" (गीता, आ. २/४८)

आंग्ल कवि एच. डब्ल्यू. लांगफेलो ने भी ऐसा ही कर्मशील भाव निम्न पंक्तियों में व्यक्त किया है :

"Let us der be up and doing
With a heart for any faith.
Still achieving still persuing
Learn to labour and to wait."

सन्त कवि गोस्वामी तुलसीदास ने कर्म की विस्तृत मीमांसा करते हुए लिखा है :

- *"करम प्रधान बिस्व करि राखा, जो जस करइ तो तस फलु चाखा।"*
  "सकल पदारथ हैं जगमाँही, कर्महीन नर पावत नाहीं।"
  (रामचरितमानस : तुलसी)
- *"सन्देश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया/इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"*
- *"पर जो मेरा गुण, कर्म, स्वभाव धरेंगे/वे औरों को भी तार, पार उतरेंगे।"*
  (साकेत : गुप्त)
- *"श्रम होता सबसे अमूल्य धन,/सब जन खूब कमाते,*
  सब अशंक रहते अभाव से,/सब इच्छित सुख पाते।"
- *"प्रकृति नहीं डर कर झुकती है/कभी भाग्य के बल से,*
  सदा हारती वह मनुष्य के/उद्यम से, श्रमजल से॥" (कुरुक्षेत्र : दिनकर)

'मूकमाटी' में सन्त कवि ने उद्यमी होना प्रगति का प्रतीक माना है। यथा – 'मनवांछित फल मिलना ही उद्यम की सीमा है।'

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आशा के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं,/मन खिन्न होता है/किन्तु
यह सब आस्थावान् पुरुष को/अभिशाप नहीं है,/वरन्
वरदान ही सिद्ध होते हैं/जो यमी, दमी,/हरदम उद्यमी है।
...संघर्षमय जीवन का/उपसंहार/नियमरूप से/हर्षमय होता है।"
('मूकमाटी', पृ. १३-१४)

संस्कृत साहित्य में भी उल्लेख है कि उद्यमशीलता से ही कार्य की सिद्धि होती है। एतद्विषयक सूक्ति है :

"उद्यमेन हि सिद्धयन्ति, कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः।"

'कला कला के लिए' अथवा 'कला जीवन के लिए' यह प्रश्न आज भी ज्वलन्त है। इसका समाधान साहित्यकारों ने अवश्य किया है, यथा :

- *"केवल मनोरंजन ही न कवि का कर्म होना चाहिये।*
  उसमें उचित उद्देश्य का भी मर्म होना चाहिये॥"
- *"हो रहा है जो जहाँ, सो हो रहा,/यदि वही हमने कहा तो क्या कहा ?*
  किन्तु होना चाहिये कब, क्या, कहाँ ?/व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ।
  मानते हैं जो कला के अर्थ ही,/स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही॥"

  (साकेत : गुप्त)

'मूकमाटी' में साहित्य और कला विषयक अवधारणा निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त की गई है :

- *"कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा—सुख है*
  'ला' यानी लाना—देता है/कोई भी कला हो
  कला मात्र से जीवन में/सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।" (पृ. ३९६)
- *"हित से जो युक्त—समन्वित होता है/वह सहित माना है/और*
  सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
  जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव—सम्पादन हो
  सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
  सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!
  ...शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही/भ्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।
  इस साहित्य को/आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं
  इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना!" (पृ. १११)

भारतीय साहित्य में नारी के आदर्शरूप को अंकित किया गया है :

"यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥"

आर्य संस्कृति का यह आदर्श 'मूकमाटी' में साकार हो उठा है। नारी एक शक्ति है। वह पुरुष की सहचरी है। उसमें सागर जैसी गम्भीरता, आकाश जैसी विशालता और पृथ्वी जैसी क्षमाशीलता समाविष्ट है। वह पूज्या है। 'मूकमाटी' में नारी के अनेक रूपों की नवीन व्याख्या हुई है, जो आदर्श, नितान्त मौलिक और स्तुत्य भी है, यथा :

- *" 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
  धर्म, अर्थ, काम—पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है

सो···'स्त्री' कहलाती है।" (पृ. २०५)

- *"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
  मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।
  यही कारण है कि/इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—
  'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···!" (पृ.२०२)
- *"अवगम'— ज्ञानज्योति लाती है,/तिमिर-तामसता मिटाकर*
  जीवन को जागृत करती है/'अबला' कहलाती है वह!" (पृ. २०३)
- *"अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी*
  आगत—वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह···!" (पृ. २०३)
- *"बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला।" (पृ. २०३)*

अन्य कवियों ने भी नारी महिमा का विशद विवेचन किया है। स्व. राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त आदि के अनुसार नारी का एक रूप :

- *"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—*
  आँचल में है दूध और आँखों में पानी॥"

- *" 'अवश-अबला' तुम? सकल बल वीरता,/विश्व की गम्भीरता, ध्रुव धीरता।*
  बलि तुम्हारी एक बाँकी दृष्टि पर,/मर रही है, जी रही है सृष्टि भर।"

  (साकेत : गुप्त)

x x x

- *"नारी तुम केवल श्रद्धा हो,/विश्वास-रजत-नग-पगतल में—*
  पीयूष-स्रोत-सी बहा करो/जीवन के सुन्दर समतल में॥"
  "भूल गये पुरुषत्व मोह में/कुछ सत्ता है नारी की।
  समरता ही सिद्धान्त बनी/अधिकृत और अधिकारी की॥" (कामायनी : प्रसाद)

x x x

- *"नारी धरती से अम्बर तक/बीज सृजन के बोती।*
  विश्व चुनौती बन जाये यदि/नत नयनों के मोती॥
  कह न सके कोई नारी को/आँख उठाकर अबला।
  हर नारी बन जाये दुर्गा-/वीणा-वादिनी कमला॥
  विश्व शान्ति हो जाये क्षण में/बहे प्रेम की धारा।
  समता का सागर लहराये/चमके भाग्य सितारा॥"

  (नारी धरती से अम्बर तक : जलज)

भाग्य और पुरुषार्थ भौतिक युग के छलावा हैं। क़िस्मत, क़ुदरत और हिकमत—ये तीन शब्द ही जीवन को अपने जाल में फँसाए हैं। जो निर्धन हैं, वे भाग्य को कोसते हैं और जो प्रपंच से संग्रह करते हैं वे पुरुषार्थी कहलाते

हैं,जबकि 'मूकमाटी'कार ने 'नियति' और 'पुरुषार्थ' की सच्ची परिभाषा की है, जो जीवन को सार्थकता प्रदान करती है, यथा :

'' 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन–स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,/और
'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य– प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही/सही पुरुषार्थ है।''
(पृ. ३४९)

किन्तु यहाँ अज्ञानी हो या नवभाग्यवादी, वह भौतिकता तक ही सोचता है, यथा–'कायरता का एक सहारा, दैव-दैव आलसी पुकारा।'

- *''पूछो किसी भाग्यवादी से,/यदि विधि-अंक प्रबल है,*
  पद पर क्यों न देती स्वयं/वसुधा निज रतन उगल है ?''
- *''एक मनुज संचित करता है/अर्थ पाप के बल से,*
  और भोगता उसे दूसरा/भाग्यवाद के छल से ॥''
- *''लोभ-नागिनी ने विष फूँका,/शुरू हो गयी चोरी,*
  लूट, मार, शोषण, प्रहार,/छीना-झपटी, बर जोरी।
  छिन्न-भिन्न हो गयी शृंखला/नर समाज की सारी,
  लगी डूबने कोलाहल के/बीच मही बेचारी।''
- *''एक पन्थ है छोड़ जगत् को/अपने में रम जाओ,*
  खोजो अपनी मुक्ति और/निज को ही सुखी बनाओ।
  अपर पन्थ है, औरों को भी/निज विवेक-बल दे कर,
  पहुँचो स्वर्ग-लोक में जग से/साथ बहुत को ले कर।'' (कुरुक्षेत्र : दिनकर)

इसीलिए 'मूकमाटी'कार ने नया सन्देश दिया है :

''अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,/धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।/चोरी मत करो, चोरी मत करो
यह कहना केवल/धर्म का नाटक है/उपरिल सभ्यता''उपचार !''
(पृ. ४६७-४६८)

'मूकमाटी' अध्यात्म का लहराता सागर है। इसमें मुख्यत: अध्यात्म है। साथ ही दर्शन, धर्म और सिद्धान्त जैसे दुरूह और क्लिष्ट विषयों को भी सरल, सुबोध भाषा में अभिव्यक्त किया है। यथा अध्यात्म और दर्शन दिग्दर्शन :

- *''स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में*
  व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।/बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
  दर्शन का पान करती है,/अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा

निरंजन का गान करती है।/दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है/सर्वथा स्तब्ध-निर्विचार !
एक ज्ञान है, ज्ञेय भी/एक ध्यान है, ध्येय भी।" (पृ. २८८-२८९)

- *"अध्यात्म स्वाधीन नयन है/दर्शन पराधीन उपनयन*
  दर्शन में दर्श नहीं शुद्धतत्त्व का/दर्शन के आस-पास ही घूमती है
  तथता और वितथता/यानी,/कभी सत्य-रूप कभी असत्य-रूप होता है
  दर्शन, जबकि/अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।" (पृ. २८८)

सिद्धान्त :

- *" "उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्"/सन्तों से यह सूत्र मिला है*
  इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है।...
  आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
  जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है/और
  है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८४-१८५)
- *"प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है/उन्हीं भावों से मिटती भी वह,*
  वहीं समाहित होती है।/यह भावों का मिलन-मिटन
  सहज स्वाश्रित है/और/अनादि-अनिधन···!" (पृ. २८२-२८३)

ऐसे ही कर्मशील जगत् की मीमांसा 'कामायनी' एवं 'कुरुक्षेत्र' में भी की गई है, यथा :

- *"यह नीड़ मनोहर कृतियों का/यह विश्व कर्म रंगस्थल है;*
  है परम्परा लग रही यहाँ/ठहरा जिसमें जितना बल है।" (कामायनी : प्रसाद)
- *"कर्मभूमि है निखिल महीतल,/जब तक नर की काया,*
  तब तक है जीवन के अणु-अणु/में कर्तव्य समाया।
  क्रिया-धर्म को छोड़ मनुज/कैसे निज सुख पायेगा ?
  कर्म रहेगा साथ, भाग वह/जहाँ कहीं जायेगा।" (कुरुक्षेत्र : दिनकर)

वैज्ञानिक युग की मानव दृष्टि का यथार्थ चित्र इन शब्दों में व्यक्त कर 'मूकमाटी'कार ने युग बोध कराया है। मार्ग चुनना ही है तो शिवकारी ही चुनना चाहिए, यथा :

"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं—/एक
भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;/और एक/योग-त्याग को
आत्म-ध्यान को/धुनता है।/कुछ ही क्षणों में/दोनों होते
विकल्पों से मुक्त/फिर क्या कहना !/एक शव के समान/निरा पड़ा है,
और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ.२८६)

मानव की सत् और असत् वृत्तियों का ऐसा ही वर्णन निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त हुआ है, यथा :

- *"यह मनुज, जो ज्ञान का आगार !/यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार !*
  सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य/यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य।

छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान/यह मनुष्य मनुष्यता का घोरतम अपमान!''

- *''इससे बढ़कर मनुज-वंश का/और पतन क्या होगा ?*
  मानवीय गौरव का बोलो,/और हनन क्या होगा ?'' (कुरुक्षेत्र : दिनकर)

'मूकमाटी' समकालीन संस्कृति, धर्म, दर्शन, समाज, राजनीति, अर्थनीति का दर्पण बन गया है। मानव समाज में व्याप्त धन-लोलुपता ने पवित्र बन्धनों को भी व्यावसायिक अनुबन्ध बना दिया है। जीवन, आज जीवन ही नहीं, व्यापार बन गया है, यथा :

''...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।/प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते
और/वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !/महामना मानव !/देने का नाम सुनते ही
इनके उदार हाथों में/पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी, एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता
या देना पड़ता/वह दुर्भावना के साथ ही।/जिसे पाने वाले पचा न पाते सही
अन्यथा/हमारा रुधिर लाल होकर भी/इतना दुर्गन्ध क्यों ?'' (पृ. ३८६-३८७)

अनेकान्त दर्शन को स्याद्वादमयी शैली में अपनाने से सम्पूर्ण संसार में लोकतन्त्र की जड़ें मजबूत होगीं और विश्व शान्ति तथा विश्व कल्याण का मार्ग प्रशस्त होगा, जिससे विश्वविजयिनी मानवता की प्रतिष्ठा होगी। सन्त-कवि ने लोकतन्त्रात्मक भावना निम्नांकित पंक्तियों में व्यक्त की है :

- *''लोक में लोकतन्त्र का नीड़/तब तक सुरक्षित रहेगा*
  जब तक 'भी' श्वास लेता रहेगा।'' (पृ. १७३)
- *''हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !''* (पृ. १७२-१७३)

सच्चे लोकतन्त्र का यही प्रतीक है।

'मूकमाटी'कार के अनुसार आज वर्तमान गणतन्त्रीय न्याय-व्यवस्था एक दिखावा बन गई है। न्याय की लम्बी प्रक्रिया, कानून का अन्धा होना, रिश्वतखोरी और अर्थ की प्रभुता के कारण अपराध प्रवृत्ति कम होने के बजाय बढ़ती जा रही है, क्योंकि :

- *''प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,*
  और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।
  इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धन-तन्त्र' है/या
  मनमाना 'तन्त्र' है !'' (पृ. २७१)
- *''आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं*
  न्याय अन्याय-सा लगता ही है।/और यही हुआ
  इस युग में इस के साथ।'' (पृ. २७२)

युग-चेतना को जागृत करने वाली 'मूकमाटी' की ये मार्मिक पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

- *"अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले/रावण जैसे शत्रुओं पर*
  रणांगण में कूदकर/राम जैसे/श्रम-शीलों का हाथ उठना ही
  कलियुग में सत्-युग ला सकता है,/धरती पर···यहीं पर।" (पृ. ३६२)
- *"सत्पुरुषों से मिलने वाला/वचन-व्यापार का प्रयोजन*
  परहित-सम्पादन है/और/पापी-पातकों से मिलने वाला
  वचन-व्यापार का प्रयोजन/परहित-पलायन, पीड़ा है।" (पृ. ४०२)

वर्तमान राजनीति में व्याप्त स्वार्थपरता, पद-लोलुपता और भाई-भतीजावाद ने बहुत दलवाद को जन्म दिया है। लोकतन्त्र में राजनैतिक दलों का होना अनिवार्य है, किन्तु दलों का दल-दल नहीं। स्वतन्त्रता, स्वायत्तता, राष्ट्रीय एकता, धर्म निरपेक्षता, शान्ति, न्याय, नागरिक कल्याण आदि को सुरक्षित करने के लिए तथा देश की निरंकुश सत्ता की मनमानी पर अंकुश लगाने के लिए राजनैतिक दलों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, किन्तु दलगत कुत्सित राजनीति से संचालित दल राष्ट्र को अहितकर ही सिद्ध होते हैं। दल-बहुलता के दुष्परिणाम सन्त-कवि के शब्दों में :

"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना!/जितने विचार, उतने प्रचार
उतनी चाल-ढाल/हाला-घुली जल-ता/क्लान्ति की जननी है ना!
तभी तो/अतिवृष्टि का, अनावृष्टि का/और
अकाल-वर्षा का समर्थन हो रहा यहाँ पर!" (पृ. १९७)

स्वार्थी, दम्भी और लोभी मनुष्यों के मन में जब तक 'सब के उदय' की बात नहीं पनपती, तब तक समाजवाद का सपना साकार नहीं हो सकता। अहंवाद के पोषक समाजवाद का नारा लगाते हैं, जो हास्यास्पद लगता है। 'मूकमाटी' में सन्त-कवि ने बतलाया है कि सही समाजवाद तो यह है :

"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी
सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

'मूकमाटी' महाकाव्य में सामयिक प्रसंगों को पर्याप्त रूप से समेटा गया है। यत्र-तत्र बिखरे उदाहरण मर्म पर चोट करने में तीखे, सशक्त एवं प्रभावी हैं। कतिपय सामयिक एवं मार्मिक व्यंग्य कृत्रिम धर्मान्धता, आधुनिकता, जनसंख्या, महँगाई, बेरोजगारी और अर्थान्धता पर करारी चोट करते हैं, यथा :

- *"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है,/उनकी कृपा कृपणता पर होती है,*
  उनके मिलन से कुछ मिलता नहीं,/काकतालीय-न्याय से/कुछ मिल भी जाय
  वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।" (पृ.३८५)
- *"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया?*
  क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है?

क्या धन-संवर्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?" (पृ. २०१)

- *"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है*
  शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।/और/प्रभु-स्तुति में तत्पर
  सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है
  प्रभु-पथ पर चलनेवालों को/समय की बलिहारी है।" (पृ. ७३)
- *"'"वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है*
  'वसु' यानी -धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
  धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)
- *"अब-धन संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !" (पृ. ४६७)*
- *"प्रायः यही सीखा है विश्व ने/वैश्यवृत्ति के परिवेश में–*
  वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)
- *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,*
  पाप-पाखण्ड करते हैं।" (पृ. ४३४)
- *"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,*
  कपटता की पटुता को/जलांजलि दो !" (पृ. ३८७)
- *"अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,*
  अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

आज सम्पूर्ण जगत् को शान्ति की आवश्यकता है। अहं की प्रवृत्ति ने मानव को पतित कर दिया है। सर्वत्र आतंकवादी प्रवृत्तियाँ मुखर हो रही हैं। बहिर्जगत् तो पूर्णतः आतंकित है ही, अन्तर्जगत् भी विषय-कषाय, भोग-विलास के विकारों से आतंकित है। जब तक हमारे अन्तर्जगत् में सद्विचार, सद्वृत्तियों का स्फुरण नहीं होता और वे आचरण में नहीं आतीं, तब तक सुख-शान्ति की खोज अधूरी ही रहेगी और हम विज्ञान की अन्धेरी दौड़ में दौड़ते रहेंगे-सशंक। अणु-परमाणु की शक्ति का सदुपयोग मानव कल्याण की दिशा में और अपनी आत्म-शान्ति का सदुपयोग आत्म-कल्याण की दिशा में करना होगा, अन्यथा आतंकवाद का प्रबल प्रभाव ही नज़र आएगा, किन्तु संकल्प शक्ति के समक्ष असत् को घुटने टेकने ही पड़ते हैं और सदैव होता है 'सत्यमेव जयते' :

- *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती*
  धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
  ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
  यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि/उसका रहे या इसका
  यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" ('मूकमाटी', पृ. ४४१)
- *"न्यायोचित सुख सुलभ नहीं/जब तक मानव-मानव को,*
  चैन कहाँ धरती पर, तब तक/शान्ति कहाँ इस भव को ?
  जब तक मनुज-मनुज का यह/सुख-भाग नहीं सम होगा,
  शमित न होगा कोलाहल,/संघर्ष नहीं कम होगा।" (कुरुक्षेत्र : दिनकर)

विस्तृत विवेचन के पश्चात् निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'मूकमाटी' के माध्यम से विश्व जीवन को प्रेरित

करने वाला महान् मानवतावादी सन्देश प्रसारित हुआ, जो समग्र मानव जाति की थाती है। इस महाकाव्य के जीवन-दर्शन में ऐसी सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक मानवीय निष्ठाएँ प्रतिफलित हुई हैं, जो अनन्त काल तक मानव जाति की प्रेरणा का अजस्र स्रोत बन कर उसे आप्लावित करती रहेंगी। साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से महाकाव्य काव्य की रूप-रचना में महाकाव्यत्व का जो विकास हुआ है, वह महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक एवं काव्यशास्त्रीय उपलब्धि कही जाएगी।

अन्त में, विद्वान् लेखक लक्ष्मीचन्द्र जैन का यह कथन उद्धृत करना प्रासंगिक कर्तव्य समझता हूँ : "यह कृति अधिक परिमाण में काव्य है या अध्यात्म, कहना कठिन है। लेकिन निश्चय ही यह है आधुनिक जीवन का अभिनव शास्त्र। और, जिस प्रकार शास्त्र का श्रद्धापूर्वक स्वाध्याय करना होता है, गुरु से जिज्ञासाओं का समाधान प्राप्त करना होता है, उसी प्रकार इसका अध्ययन और मनन अद्भुत सुख और सन्तोष देगा, ऐसा विश्वास है।" ('प्रस्तवन,' पृ. XVII)

अन्ततः कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' को उद्देश्य, कथावस्तु, चरित्र तत्त्व, जीवन दर्शन, शिल्प विधान, रस, अलंकार, छन्द, भाषा, शैली, शीर्षक एवं नवीन परिकल्पना आदि के समुचित मानदण्डों की कसौटी पर कसने पर यह सहज ही एक अनुपम आधुनिक महाकाव्य की गरिमा से मण्डित हो जाता है। सन्त-कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी के सम्पूर्ण साहित्य का सिंहावलोकन करने पर यह कहना समीचीन होगा कि सन्त-कवि ने काव्य की विस्तृत पट-भूमि पर अपनी विराट्, सधी तूलिका से जो चित्र आँके हैं, उनके रंग न कभी धुँधले होंगे और न कभी रेखाएँ ही मिटेंगी।

❑

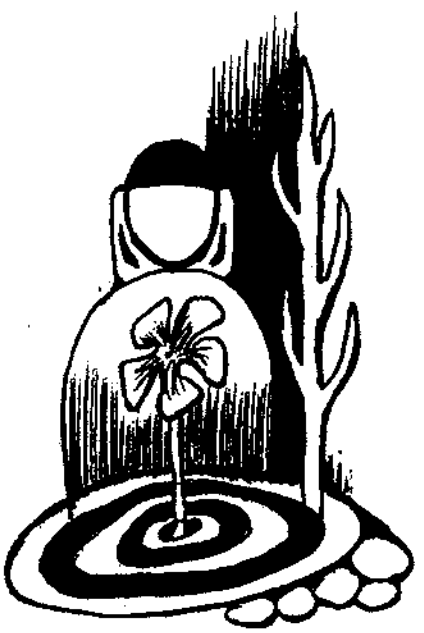

पृष्ठ १००
हमें अपने शील-स्वभाव
से/---- दाग नहीं लगा
पातीं वह।

'मूकमाटी' : स्वानुभूतिमयी रचनाधर्मिता का पर्याय

डॉ. राजमणि शर्मा

"कविता करना अनन्त पुण्य का फल है" – महाकवि दार्शनिक चिन्तक जयशंकर प्रसाद की यह उक्ति अपने आप में एक गम्भीर अर्थ समेटे हुए है। कवि-कर्म साधारण मानवीयता से दूर, बहुत दूर, इस लोक से परे की वस्तु है। इसलिए जब काव्य हेतु और प्रयोजन पर दृष्टि जाती है तो भारतीय समीक्षकों का यह मत भी स्पष्ट उभरता है कि प्रतिभा व्युत्पत्ति और अभ्यास जहाँ कविता की उपज के वैयक्तिक काव्य हेतु बन सकते हैं, वहीं कविता की सार्थकता पुरुषार्थ चतुष्टय–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप में है। तात्पर्य यह कि सभी कविता नहीं कर सकते। यह उन्हीं में अंकुरित होती है जिनमें तदनुकूल प्रतिभा होती है और व्युत्पत्तिपरक मेधा सक्रिय रहती है। निश्चय ही मानव भले ही बाहर से एक से दिखते हैं किन्तु सभी में इनका वैषम्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसका कारण क्या है ? मन सीधे उत्तर देता है– अनन्त पुण्य की कमी-बेसी। पाप और पुण्य को परिभाषित करना कठिन है। किन्तु मानवीय कल्याण-कामना निश्चय ही पुण्य है। यह पुण्य संचित होकर पुंज रूप में मानवता की कल्याण कामना के लिए उजागर होता है। स्वयं को सामाजिक परिवेश के साथ लेकर चलना, समाज को अपनी संवेदनाओं के अनुकूल ढालना, अपनी भावनाओं का उनमें सम्प्रेषण ही साहित्य है। और इसका कारण जहाँ अनन्त पुण्य का फल है, वहीं इसे सम्प्रेषित करने का आधार ज्ञानराशि का संचित कोश है। स्पष्टत: कविता एक तरफ रचनाकार के साधर्म्य का साक्षात् है तो दूसरी तरफ उसकी विद्वत्ता, ज्ञान के कोश का परिचायक भी। तात्पर्य यह है कि अनुभूति की सघनता की साधना कविता की कसौटी है।

आचार्य विद्यासागर मानवता की कल्याण कामना के लिए तपस्यारत वह अक्षुण्ण मानवीय विभूति हैं जो दर्शन एवं लोक का तादात्म्यीकरण करते हैं। वे कार्य और कारण की खोज में प्रयत्नशील हैं। यह खोज संसार की वह चाबी है जो अपने समाधान में संसारी मोहग्रस्त जीव को भ्रमण से मुक्त करती है। मनुष्य को इस मोहग्रस्तता से मुक्ति दिलाने से बड़ा कल्याणकारी कार्य और क्या हो सकता है ? वे यह भी अनुभव करते हैं कि 'चेतन सम्बन्धी कार्य हो या अचेतन सम्बन्धी, बिना किसी कारण से उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं' और तभी वे अपने काव्य का विषय बनाते हैं – माटी को, मूक माटी को। और यह मूक माटी लोक नहीं, लोक से बहुत दूर हमें उस आनन्द रूप परमतत्त्व का साक्षात्कार कराती है जिसमें शृंगार भी वैराग्य का बोध कराता है जो समीक्षकों के दृष्टिपथ का निर्माता है और जिसने 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है; जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है, ऐसी रचना है - 'मूकमाटी'। रचनाकार स्वयं तप रूपी अग्नि की आँच में दग्ध होकर खरा सोना जैसा अपनी रचना के माध्यम से खड़ा है। यह तप, लोक से दूर अलग-थलग रहकर तपस्या प्रतीत नहीं होता अपितु युगीन चेतना, सामयिक युगीन चेतना या यों कहिए सार्वकालिक या सार्वयुगीन चेतना से अनुप्राणित होकर लोक से जुड़ी होती है, ऐसी चेतना जो हर काल के लिए प्रासंगिक बने। कबीर, सूर, तुलसी, प्रेमचन्द, हजारीप्रसाद द्विवेदी, निराला, मुक्तिबोध आदि रचनाकार काल की सीमा के बाहर आकर भी प्रासंगिक बने हुए हैं। कारण स्पष्ट है, उनकी अनुभूति वह भोगी हुई अनुभूति है जो काल की सीमा, बन्धन के परे हर काल के लिए प्रासंगिक बनती है। 'मूकमाटी' के रचनाकार की अनुभूति भी ऐसी ही है जो माटी के आत्मकथन के रूप में उसकी आत्म पीड़ा और शोषण की अनुभूति को अभिव्यक्त कर जाती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
...अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

यह शाश्वत सत्य 'मूकमाटी' की अभिव्यक्ति बनकर उभरा है जो निरन्तर शोषण के शिकंजे में ग्रस्त है, परन्तु शोषित में ही सत्य की, जीवन सत्य की, सम्भावना होती है। तभी तो आचार्यप्रवर ने माटी को माँ धरती के रूप में कहा है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की,/खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह !" (पृ. ७)

इसे पतित जानने के पीछे, अपने शोषण की अनुभूति के पीछे प्रभु के गुरुतम रूप की पहचान है। यह पहचान जीव को ऊँचाई के चरम पर पहुँचा देती है। यह पहचान मनुष्य में आस्था की सर्जक है। आस्था ही जीवन का रहस्य है।

बेटी (माटी) की पीड़ा, माँ (धरती) का 'बेटा' शब्द से सम्बोधित बेटी को उद्‌बोधन, माँ द्वारा कुम्भकार के आने का संकेत और कुम्भकार द्वारा माटी को खोदने की प्रक्रिया, कुम्भकार एवं माटी की वार्ता, गन्ध की पीड़ा से माटी का द्रवित होना आदि प्रसंगों द्वारा 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' खण्ड में जड़ से चेतन रूप में माटी की वह गाथा व्यक्त है, जो आज तक अव्यक्त रही है। और यह गाथा, जीवन की वह गाथा है जिसमें स्वयं नष्ट होकर दूसरे को सुख पहुँचाता है। माटी भी यही कर रही है। पर वह अपने अस्तित्व का संकट भूलकर अपने कारण दूसरे को दुःखी नहीं करना चाहती है।

"बोरी में से माटी/क्षण-क्षण/छन-छन कर
छिलन के छेदों में जा/मृदुतम मरहम/बनी जा रही है।" (पृ. ३५)

'मूकमाटी' में प्रबन्ध काव्य के अवसरानुकूल कहीं कवि प्राकृतिक दृश्यों की योजना में रमा हुआ दिखाई देता है और कहीं परम तत्त्व की खोज की ओर उन्मुख प्रतीत होता है। एक आकर्षक सर्वोपयोगी पात्र के रूप में परिणत होने के लिए 'माटी' को विभिन्न प्रक्रियाओं, परीक्षणों, संघर्षों आदि से गुज़रना होता है, इसका सूक्ष्मतम विवेचन इस खण्ड में द्रष्टव्य है। छोटे-छोटे जीवों, जड़ तत्त्वों से माटी की वार्ता या उनका मानवीकरण कवि के रचनात्मक कौशल का प्रमाण है।

महाकवि आचार्य विद्यासागर का लक्ष्य है–"वसुधैव कुटुम्बकम्", परन्तु भारत आज इसके मूल अर्थ से बहुत हट गया है। वह भौतिकतावादी सुखों की ओर भाग रहा है, यथा :

"इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य
धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

और वे यह भी अनुभव करते हैं :

"दूसरों की पीड़ा-शल्य में/हम निमित्त अवश्य हैं/इसी कारण हम शूल हैं
तथापि/सदा हमें शूल के रूप में ही देखना/बड़ी भूल है,

कभी-कभी शूल भी/अधिक कोमल होते हैं/···फूल से भी।" (पृ.९९)

मनुष्य अपनी असत् भावनाओं के कारण वैयक्तिक अहित करने वाले से बदला लेने की भावना से ग्रस्त जीव है, इस सूक्ष्मतम मनोभाव (द्वेष) को भी कवि ने छोड़ा नहीं। इसकी निरर्थकता इतिहास के पन्नों से वह सिद्ध करता है और कविवर का सन्देश है कि मनुष्य को बदले की भावना से नहीं, परोपकार की भावना से आबद्ध रहना चाहिए।

'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' – इस महाकाव्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, सार्थक (दूसरा) खण्ड है, जिसमें कवि की रचनाधर्मिता मानवीय गुणों की हर महत्ता का परीक्षण करती प्रतीत होती है। यहाँ नवों रसों को परिभाषित किया गया है। वस्तुत: उच्चारण, मात्र 'शब्द' है, शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' है और इस बोध को अनुभूति में, आचरण में उतारना 'शोध' है। निश्चय ही यह खण्ड रचनाकार की रचनाधर्मिता का साक्षी बन गया है :

"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।" (पृ. ८९)

तीसरा खण्ड 'माटी' की विकास यात्रा का प्रतीक बन पड़ा है, जिसके द्वारा पुण्य कर्म का सम्पादन होता है और पुण्य सम्पादन ही मानव की उपलब्धि है। यह उपलब्धि मोतियों की वर्षा के रूप में है। यद्यपि ये मोतियाँ कुम्भकार की थीं, किन्तु कुम्भकार नि:शेष भाव से इन्हें राजा को सौंप देता है :

"कृपापात्र पर कृपा करो/यह निधि स्वीकार कर/इस पर उपकार करो !
इसे उपहार मत समझो/यह आपका ही हार है, शृंगार।" (पृ. २२०)

रचनाकार की दृष्टि पुण्य उपार्जन के माध्यमों की खोज में दर-दर भटकती हुई, अन्तत: लोक मंगल की भावना को इसका आधार बनाती है।

यह लोक मंगल, जो मनुष्य को जड़त्व से मुक्ति दिलाए एवं पतन के गर्त से निकाले, इसी की खोज आचार्य शुक्ल भी कविता में करते हैं और इसी भावना को कविता के परीक्षण का आधार भी बनाते हैं। 'मूकमाटी' के कवि भी इसे और पुष्ट करते प्रतीत होते हैं :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है।" (पृ.१९३)

'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' नामक चौथे खण्ड में कुम्भकार ने घट को आकार दे दिया है और अब उसे अवा में तपाने की तैयारी है। समूची प्रक्रिया काव्यबद्ध है। इन प्रक्रियाओं के बीच बबूल की लकड़ी की व्यथा-गाथा वर्णित है। इसमें लकड़ियों के जलने-बुझने की क्रिया के साथ-साथ कुम्भकार द्वारा उन्हें प्रज्वलित करने की प्रक्रिया साकार हो उठी है। और इस क्रिया में कुम्भ की अग्नि से अभिव्यक्ति परम धार्मिक बन पड़ी है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।
दोष अजीव हैं,/नैमित्तिक हैं,/बाहर से आगत हैं कथंचित्;
गुण जीवगत हैं,/गुण का स्वागत है।

तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से।" (पृ. २७७)

अन्ततः कुम्भ पक, तप उठता है और इसका उपयोग है आहार दान के लिए पधारे गुरु का पाद प्रक्षालन एवं तृषा की तृप्ति। श्रद्धालु नगर सेठ का सेवक कुम्भ ले जाने के पहले सात बार बजाकर उसका परीक्षण करता है और इसमें से निकले सात स्वरों को आचार्यप्रवर ने मनुष्य की चेतना का पथ प्रदर्शक बना दिया है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख
प···ध यानी ! पद–स्वभाव/और/नि यानी नहीं,
दुःख आत्मा का स्वभाव–धर्म नहीं हो सकता।" (पृ. ३०५)

साधु के आहार दान की प्रक्रिया जीव की मुक्ति का मार्ग है और इस मार्ग का माध्यम है सन्तोष :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
...किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।" (पृ. ३५२)

'मूकमाटी' के 'प्रस्तवन' लेखक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार : "प्रसंगों का, बात में से बात की उद्भावना का, तत्त्व-चिन्तन के ऊँचे छोरों को देखने-सुनने का, और लौकिक तथा पारलौकिक जिज्ञासाओं एवं अन्वेषणों का एक विचित्र छवि-घर है यह चतुर्थ खण्ड।"

यह चतुर्थ खण्ड पूजा और उपासना द्वारा जीव मुक्ति का एक माध्यम है। आचार्यप्रवर इसी राह के राही हैं और वे इनके उपकरणों में जीवन्तता का दर्शन पाते हैं। वह जीवन्त वार्तालाप के माध्यम से मानवीय भावनाओं, गुण और अवगुण को अभिव्यक्त करते हैं। निश्चित ही यहाँ प्रसंगों की नाटकीयता, पूर्वापर सम्बन्धों का बिखराव और अतिशयता है, जो रचना को अनावश्यक विस्तार देने की भावना से ग्रस्त प्रतीत होती है। साथ ही समीक्षकों के मानदण्डों पर यह खरा भी नहीं उतरता। किन्तु, जब काव्य की प्रासंगिकता का विचार किया जाता है तो यह स्पष्ट हो उठता है कि ऐसे प्रसंगों की परिकल्पना रचनाकार की साहसिकता का पर्याय तो बनती ही है, साथ ही रचना को सार्थक और आधुनिक परिदृश्य के अनुकूल बनाने का प्रयास भी करती है।

अन्तर्द्वन्द्व और संघर्ष ऐसे सूक्ष्म मनोभाव हैं जिनकी सूक्ष्म से सूक्ष्मतम अभिव्यक्ति आधुनिक रचना की सबसे बड़ी माँग होती है। संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व आगे चलकर आतंकवाद के रूप में परिणत हो जाता है। तब, जब इस राह के राही को कहीं-न-कहीं अपनी उपेक्षा और असफलता के फलस्वरूप अपमान का बोध होता है। यह अपमान और उपेक्षा कालान्तर में भयानक बदले की भावना में परिवर्तित होती है। दो राय नहीं कि रचनाकार आचार्य विद्यासागर संसार में आज व्याप्त इस भावना से परिचित हैं, और वे समकालीन मानवता पर इसे एक अभिशाप मानते हैं :

- *"परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,/पूँजीवाद के अभेद्य*
  दुर्गम किला हो तुम/और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६६)
- *"जब तक जीवित है आतंकवाद*
  शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह।" (पृ. ४४१)

स्वर्णकलश की उद्विग्नता और उत्ताप इसी का परिचायक है जो अपना बदला लेने के लिए आतंकवादी दल को आमन्त्रित करता है। इसके कारनामों तथा विपत्तियों का लेखा-जोखा तो इस खण्ड में है ही, और यह भी है कि सेठ अपने

परिवार की रक्षा स्वयं और सहयोगी प्राकृतिक शक्तियों तथा मनुष्येतर प्राणियों—गजदल और नाग-नागिन की सहायता से किस प्रकार करता है, किस प्रकार सेठ का क्षमाभाव आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन करता है, आदि। यह वर्णन विवेचन कविता के रसास्वाद को चरम पर पहुँचाता है। आज के प्रसंगों के अनुरूप इस समस्या का समाधान आधुनिक समाज व्यवस्था के विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यहाँ अभिधा नहीं, लक्षणा और व्यंजना सहायक बनती हैं, रचनाकार की अनुभूति की अभिव्यक्ति की।

आचार्यप्रवर सामाजिक दायित्व बोध के प्रति भी सजग हैं। वे यह मानते हैं कि यह बोध ही मानवीयता की आधारभित्ति है। तभी तो उसके लिए चुनते हैं एक सामान्य मत्कुण (खटमल) को :

"सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,
कपटता की पटुता को/जलांजलि दो!/...जीवन उदारता का उदाहरण बने!
अकारण ही—/पर के दुःख का सदा हरण हो!" (पृ. ३८७-३८८)

निश्चय ही रचना और रचनाकार उसी मानवता का सन्देश दे रहा है जो युगों-युगों से मनुष्य को मनुष्य बनाए हुए है। आत्मा का उद्धार तो अपने ही पुरुषार्थ से हो सकता है। और यह उद्धार साधना से प्राप्त महती उपलब्धि है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ!" (पृ. ४८६-४८७)

कवि-कर्म के प्रति सजग कवि नव रसों को नए ढंग से प्रतिपादित करता है और इनमें वह शान्त रस की प्रधानता स्थापित करता है। सचमुच शान्त रस ही तो मानवीयता का जनक है :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/...कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है।" (पृ. १५९)

सब रसों का अन्त होना ही शान्त रस है। शान्ति की ही कामना तो मानवता को है, और यह मानव कामना ही 'मूकमाटी' का प्रतिपाद्य है। पर उसके आधार एवं माध्यम अनेक हैं किन्तु सब शृंखलाबद्ध, जैसा 'मूकमाटी' में बन्ध बँधा है।

'मूकमाटी' एक तरफ जहाँ सामयिक समस्याओं का जीवन्त और सार्थक प्रयोग है, वहीं वह ऐतिहासिक सम्बन्ध के प्रति भी जागरूक है। यह जागरूकता जहाँ अतीत के गहन अध्ययन की परिणति है, वहीं वर्तमान को जाग्रत करने का प्रयास भी। वस्तुतः आधुनिकता को 'भारतीय संस्कृति' अथवा 'भारतीय परम्परा' से जोड़ने की अनिवार्यता का अनुभव ही इस अभिव्यक्ति की सार्थकता है। रामकथा आदि के उदाहरण मेरे इस कथन के साक्षी हैं। किन्तु इस आधार ग्रहण का महत्त्वपूर्ण पक्ष है यथार्थ :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।" (पृ. २४५)

इतिहास की पुनरावृत्ति उस घुटन, कुण्ठा, कशमकश, निरुपायता का पर्याय भी बनी है, जो आज के जीवन की अनिवार्यता है :

- *"कई सूक्तियाँ/प्रेरणा देती पंक्तियाँ/कई उदाहरण – दृष्टान्त*
  नयी पुरानी दृष्टियाँ/और वे/दुर्लभतम अनुभूतियाँ।" (पृ. ४७३)
- *"बाली से बदला लेना/ठान लिया था दशानन ने/फिर क्या मिला फल ?*
  ...राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा/तभी उसका नाम/रावण पड़ा।" (पृ. ९८)
- *"यातनायें पीड़ायें ये !/कितनी तरह की वेदनायें/कितनी और···आगे*
  कब तक···पता नहीं/इनका छोर है या नहीं !" (पृ. ४)
- *"कुम्भ के भाग में क्या/विकलता - शून्यता लिखी है*
  कुम्भ के त्याग में क्या/विकलता - न्यूनता रही है ?" (पृ. ४४१)

और इन सबका समाधान है जीवन सम्बन्धी प्रश्नों के उत्तर में :

"दोष के कणों में/त्रास तड़पन - तंग/ह्रास का प्रसंग
और गुणों का/कोष नज़र आ रहा है।" (पृ. २१)

"काव्य सबसे पहले शब्द है। और सबसे अन्त में भी यही बात बच जाती है"–(अज्ञेय), यही सोच तो आचार्यप्रवर की भी है– 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' नामक दूसरे खण्ड में, भले ही प्रक्रिया भिन्न हो। कविता उत्कृष्टतम शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम है। और 'मूकमाटी' में शब्दों का उत्कृष्टतम क्रम दर्शनीय भी है और ग्राह्य भी।

डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के अनुसार : "आधुनिक कविता का मर्म ग्रहण करने के लिए काव्य भाषा का उपादान ही एकमात्र विश्वसनीय माध्यम रह गया है।" किन्तु यह तटस्थ और वस्तुनिष्ठ होनी चाहिए। यह तटस्थता और वस्तुनिष्ठता और कुछ नहीं अपितु सत्य, मानव सत्य की खोज ही भाषा का आधार बनती है। और यह सत्य, अनुभूत सत्य है, जिसकी सहज अभिव्यक्ति ही कविता का सौन्दर्य है। तभी तो यह कहा जाता है कि भाषा कवि के अनुभव और ज्ञान का साधन है। कविवर ने लोक जीवन से बोलचाल के शब्दों को लेकर उन्हें नई अर्थवत्ता से सम्पृक्त किया, शब्दों में नए-नए अर्थ की उद्भावना की है। कुं-भ, गद-हा, नारी, अबला, कुमारी, स्त्री आदि में कविता मूर्त होती है। 'मूकमाटी' में माटी की मूर्त्तता इस कथन का प्रमाण है और इस मूर्त्तता का आधार है - बिम्ब। केदारनाथ सिंह के शब्दों में : "बिम्ब विधान का सम्बन्ध जितना काव्य की विषय-वस्तु से होता है, उतना ही उसके रूप से भी। विषय को वह मूर्त और ग्राह्य बनाता है, रूप को संक्षिप्त और दीप्त।" आधुनिक कवि एवं उसकी समीक्षा का आधार आज है-बिम्ब। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी आदि भी इस आधार की अनिवार्यता पर जोर देते हैं। यह अलग बात है कि सायास बिम्ब कविता के सौन्दर्य पर चोट करते हैं, इसलिए सहज और अनायास स्थान पाए बिम्ब ही कविता की आत्मा होते हैं। यद्यपि रूसी आलोचक बिम्ब की अनिवार्यता नहीं स्वीकारते, किन्तु इसकी अनिवार्यता को नकारा नहीं जा सकता। 'मूकमाटी' में यह बिम्ब प्रक्रिया उपर्युक्त दोनों स्तरों पर सक्रिय है। उदाहरणार्थ माँ का एक बिम्ब :

- *"माँ की उदारता - परोपकारिता/अपने वक्षस्थल पर*
  युगों-युगों से···चिर से/दुग्ध से भरे/दो कलश ले खड़ी है।" (पृ. ४७६)
- *"लज्जा के घूँघट में/डूबती-सी कुमुदिनी*
  प्रभाकर के कर-छुवन से/बचना चाहती है वह।" (पृ. २)

डॉ. नामवर सिंह का आरोप है : "बिम्बों के कारण कविता बोलचाल की भाषा से अक्सर दूर हटी है, बोल-चाल की सहज लय खण्डित हुई है, वाक्य-विन्यास की शक्ति को धक्का लगा है, भाषा के अन्तर्गत क्रियाएँ उपेक्षित हुई हैं, विशेषणों का अनावश्यक भार बढ़ा है, और काव्य कथ्य की ताकत कम हुई है।" किन्तु बिम्ब प्रयोग के बावजूद भी 'मूकमाटी' इन आरोपों से बच निकली है। वस्तुतः यह व्यवधान तभी उत्पन्न होते हैं, जब भाव और भाषा, अनुभूति और अभिव्यक्ति, संवदेना और सम्प्रेषण के धरातल पर सहज सम्बन्ध का अभाव हो। यहाँ तो ऐसी कोई बात नहीं है।

प्रगीतात्मकता और नाटकीयता, काव्य संरचना की प्रमुख आधारभित्ति होती है। काव्य संरचना वह प्रक्रिया है, जिससे होकर कवि गुज़रता है और यह संरचना खण्ड में नहीं, रचना की सम्पूर्णता में परिलक्षित होती है। निराला भी इसे स्वीकार करते हैं। यहाँ भी संरचना प्रक्रिया का पूरा आभास रचना की सम्पूर्णता में परिलक्षित होता है। जहाँ रचनाकार एक तरंग को एक 'स्ट्रक्चर' के रूप में परिवर्तित करता दिखाई देता है। इसमें यहाँ बुद्धि और हृदय का विभाजन नहीं अपितु दोनों का एक मानसिक अन्तर्ग्रथन है। यहाँ भाव और रचना प्रक्रिया का ऐसा तादात्म्यीकरण होता है, जहाँ दोनों एक प्राण - एक शरीर दिखाई देते हैं, और यही मानसिक अन्तर्ग्रथन जो अनुकरणात्मकता, वर्णनात्मकता, कथात्मकता से दूर होता है और प्रगीतात्मकता का जन्मदाता होता है।

'मूकमाटी' में प्रगीतात्मकता काव्य संरचना के गुण के रूप में सर्वत्र उपस्थित है :

- *"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,*
  आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अतिशोषण का भी
  यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)
- *"दो टूक बोलते नहीं हम/भूल-चूक की बात निराली है।" (पृ. ४३५)*

कहना न होगा कि यह लय इस कविता का सबसे समर्थ तत्त्व है जो शुद्ध वक्तृत्व गुण के द्वारा कविता के मूल अर्थ को सम्प्रेषित कर देता है।

अरस्तू के अनुसार नाटकीय कविता 'कार्य का अनुकरण' के सिद्धान्त पर आधारित होती है। वस्तुतः कविता का सामान्य रूपाकार एक सीधी रेखा वाला न होकर टेढ़ा-मेढ़ा होता है, कविता की अनिवार्यता नाटकीयता है, पर यह कार्य के अनुकरण मात्र के रूप में नहीं अपितु बोध (भाव) के धरातल पर भी आनी चाहिए, तभी यह सहज होगी। और यह नाटकीयता प्रसंगवश समाज-व्यवस्था, कल होने वाली घटनाओं के वर्णन, कथन के अर्थ गाम्भीर्य, आत्मस्वीकृति में तो है ही, साथ ही इस काव्य ग्रन्थ में एक प्रभावशाली पट भूमि एवं एक जादुई दुनिया के निर्माण में भी सहायक बनती है। और मेरी दृष्टि में आचार्य विद्यासागरजी का उद्देश्य है - मानव को जाग्रत कर उसे कर्म क्षेत्र की ओर उन्मुख करना, ऐसे कर्म क्षेत्र की ओर, जो मानवीयता के विकास की ओर उन्मुख हो तथा जो जड़ और चेतन को एक रूप में देखने का पक्षपाती हो :

- *"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !*
  हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)
- *"...अभी/आतंकवाद गया नहीं,/उससे संघर्ष करना है अभी।" (पृ. ४४१)*
- *"सारा संसार ही ऋणी है धरणी का/तुम्हें भी ऋण चुकाना है*
  धरणी को उर में धारण कर,/करनी को हृदय से सुधारना है।" (पृ. ४४९)

और अन्त में 'मूकमाटी' के सन्दर्भ में कवि की उक्तियों को ही दुहराना चाहता हूँ :

- *"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।*
  और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
  इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
  आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित !" (पृ.२४५)
- *"श्रम से यदि भीति हो/तो···सुनो !/श्रम से प्रीति करो।"* (पृ.३५५)

अन्त में, मैं यही कहूँगा – "को बड़ छोट, कहत अपराध"–काव्य और कवि में विभेद कर पाना मेरे जैसे अल्पबुद्धि के सामर्थ्य के बाहर है। 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत है। ऐसा संगीत, जिसमें अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध स्थापित है और इस सम्बन्ध स्थापन का माध्यम है सन्त की अपनी साधना। वस्तुत: आचार्य विद्यासागर स्वयमेव साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना वह है जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई लोकमंगल को साधती है। तपस्या से अर्जित जीवन-दर्शन को स्वानुभूति में रचा-पचा कर निर्मल वाणी और सार्थक सम्प्रेषण के माध्यम से सबके हृदय में गुंजरित कर देना इस काव्य और स्वयं सन्तप्रवर का लक्ष्य है। फलस्वरूप काव्यानुभूति की अन्तरंग लय समन्वित कर आचार्यश्री ने अपनी अनुभूति, जो सब जन की अनुभूति बन पड़ी है, को काव्य का बाना पहनाया है।

❑

पृष्ठ ३६९-३९७
कला शब्द स्वयं
कह रहा कि
------ एक ही
मत है, बस—

भारतीय संस्कृति का पर्याय : 'मूकमाटी'

डॉ. दामोदर पाण्डेय

बन्धुवर का अतिस्नेह पत्र प्राप्त हुआ कि मैं परमश्रद्धेय आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा विरचित महाकाव्य 'मूकमाटी' का समकालीन काव्यों/महाकाव्यों के परिप्रेक्ष्य में तुलनात्मक अनुशीलन अथवा इसके किसी विशिष्ट प्रकरण पर समीक्षा लेख प्रस्तुत करूँ। पत्र प्राप्ति के पश्चात् 'महाकाव्य' का आद्योपान्त अध्ययन करने के उपरान्त मन में बार-बार 'कालिदास' की यह उक्ति स्मरण हो आ रही है, जो उन्होंने 'रघुवंश महाकाव्य' लिखने के पूर्व व्यक्त की थी :

"क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥" (१/२)

किन्तु यहाँ तो बहुत ही दयनीय स्थिति है। न तो मेरे पास वाणी है और न तो सबल अभिव्यक्ति, हाँ, यदि कुछ है तो वह 'श्रद्धा', और इसी 'श्रद्धा' के बल पर कुछ प्रस्तुत करने का साहस बटोर रहा हूँ। जहाँ तक 'मूकमाटी' के तुलनात्मक अनुशीलन की बात है तो इसके लिए आचार्य श्री विद्यासागर की यह पंक्ति देखें :

"विकसित या विकास-शील/जीवन भी क्यों न हो,
कितने भी उज्ज्वल-गुण क्यों न हों,/पर से स्व की तुलना करना
पराभव का कारण है/दीनता का प्रतीक भी।
...फिर,/अतुल की तुलना क्यों ?" (पृ. ३३९-३४०)

इसे पढ़ने के पश्चात् मन में बार-बार यह प्रश्न होता था कि 'अतुल की तुलना क्यों' ? क्योंकि मेरे लिए तो यह अतुलनीय महाकाव्य है। यह चार खण्डों में विभाजित है, जिसके प्रत्येक खण्ड, स्वयं एक खण्ड काव्य की प्रतीति कराते हैं, उसकी तुलना महाकाव्य से क्यों ? इसीलिए 'इसके किसी विशिष्ट प्रकरण पर लिखना' ही समीचीन एवं सार्थक प्रतीत हुआ और अनायास शीर्षक 'भारतीय संस्कृति का पर्याय : मूकमाटी' लिख गया। इसके पूर्व अनेक शीर्षक विचार-सरणि पर अंकित हुए– 'भारतीय दर्शनों की सरल अभिव्यक्ति : मूकमाटी', 'सामयिक बोध की सहज प्रतीति : मूकमाटी', अन-आरोपित जीवन दर्शन : मूकमाटी', 'मानवीय मनोभावों का महाकाव्य : मूकमाटी', 'मानवीकरण द्वारा मानवी मनोभावों की सहज अभिव्यक्ति : मूकमाटी', 'दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत : मूकमाटी'–परन्तु इन समस्त शीर्षकों में से कोई भी शीर्षक 'मूकमाटी' के विराट् स्वरूप को व्याख्यायित करने में सक्षम प्रतीत नहीं हुआ। भारतीय संस्कृति के विविध आयामों की इन्द्रधनुषी छटा को विकीर्ण करने वाली इस महान् कृति के लिए 'भारतीय संस्कृति का पर्याय' शीर्षक सुखकर है, क्योंकि :

"लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से/मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।/मात्रानुकूल भले ही
दुग्ध में जल मिला लो/दुग्ध का माधुर्य कम होता है अवश्य !
जल का चातुर्य जम जाता है रसना पर !" (पृ. १०९)

और

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

इस मोक्ष के धाम के लिए भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त मेरी दृष्टि में अन्य कोई भी स्थान नहीं है। भारतीय संस्कृति में 'मनु' से लेकर आधुनिक साहित्य में लगभग या यों कहूँ स्यात् समस्त साहित्य मनीषियों ने नारी के महिमा-मण्डित स्वरूप की ही उपासना की है। सन्त-काव्य की परम्परा में राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त मुनि विद्यासागर जी महाराज भला इससे हटकर कैसे सोच सकते हैं, क्योंकि वे तो स्वयं संस्कृति हैं। आचार्यश्री की इस भावना का सम्यक् दर्शन 'नारी' के समानार्थी शब्दों के ध्वनि-बोध में होता है :

"इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—/'न अरि' नारी···
अथवा/'ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ.२०२)

इसमें नारी के समर्पण की अनुगूँज है, क्योंकि जब कभी नारी प्रतिदान करती है तब अरि यानी शत्रु-भाव से नहीं, मित्र-भाव से। इसी प्रकार 'महिला' यानी मंगलमय माहौल, जो पुरुष के जीवन में लाती है। 'अबला' से अभी तक नारी के 'बलहीन' स्वरूप की ही अभिव्यक्ति होती थी, किन्तु 'मूकमाटी' की 'अबला' बलहीन नहीं, अपितु 'अवगम'—ज्ञानज्योति से ज्योतिर्मान करने वाली, पुरुष-चित्त को अनागत की आशाओं से पूरी तरह हटाकर आगत—वर्तमान में लाने वाली और इतना ही नहीं बल्कि न बला··· सो अबला—समस्या-शून्य समाधान। नारी का 'कुमारी' स्वरूप तो और अधिक सार्थक है, क्योंकि 'कु' यानी पृथ्वी, 'मा' यानी लक्ष्मी और 'री' यानी देने वाली अर्थात् यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना तब तक रहेगी जब तक यहाँ कुमारी रहेगी। इसी प्रकार नारी के 'स्त्री', 'सुता', 'दुहिता' एवं 'मातृ' समानार्थी शब्द भी अपने में भारतीय संस्कृति के उदात्त गुणों को समाहित किए हुए हैं। इतिहास हमारी संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में गवाही देता है कि नारी दया, माया, ममता और अगाध विश्वास की प्रतिभूति पहले है, बाद में कुछ और। सर्वप्रथम 'मूकमाटी' में भारतीय संस्कृति के रूप में 'नारी' की ही समीक्षा प्रस्तुत की गई, क्योंकि वह पुरुष के सुन्दर समतल जीवन में पीयूष स्रोत-सी बहकर अमरत्व प्रदान करती है।

नारी का ध्यान कर पुरुष कर्म पथ में प्रवृत्त होता है और उसके भीतर परिश्रम/संघर्ष के रूप में पुरुषार्थ की भावना जाग्रत होती है अन्यथा पुरुष सुषुप्तावस्था में ही बना रहता। 'आस्था' का जीवन में प्रादुर्भाव तो 'नारी' के प्रेरक वचनों से ही होता है और पुरुष सोचने को विवश हो जाता है कि पर्वत की तलहटी से पर्वत के उत्तुंग शिखरों को केवल देखा ही जा सकता है, उस पर चढ़ने के लिए तो 'चरण' का प्रयोग करना ही पड़ेगा, इसके बिना शिखर का स्पर्शन सम्भव ही नहीं है। इसीलिए हमारी संस्कृति कहती है 'संघर्ष ही जीवन है' और यही 'मूकमाटी' कहती है : "संघर्षमय जीवन का उपसंहार नियमरूप से हर्षमय होता है" (पृ. १४)। पाश्चात्य जगत् यह समझता है कि भारतीय संस्कृति मात्र 'हाथ में हाथ धरकर' बैठने में विश्वास रखती है, किन्तु उसे यह पता नहीं कि संस्कृति उसे 'मूकमाटी' के द्वारा अवगत करा देना चाहती है :

"बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,
परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है!" (पृ. २१२)

और वास्तव में यहाँ हुआ भी, विदेशी पचा नहीं सके। हाँ, इतना अवश्य है कि भारतीय संस्कृति 'कीचड़ से कीचड़ नहीं धोया जा सकता है' के सिद्धान्तों को कार्य रूप देने में सदा से विश्वास रखती चली आ रही है, क्योंकि उसके सामने 'बाली' और 'रावण' जैसे रामायण-पात्र दृष्टान्त के रूप में उपस्थित हैं। दशानन ने प्रतिकार स्वरूप बाली से बदला लेने को ठान लिया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि रावण 'त्राहि मां !, त्राहि मां !!, त्राहि मां !!!' यों चिल्लाता हुआ राक्षस की ध्वनि में रो पड़ा और तभी से 'रावण' नाम से अभिहित है। इतना ही नहीं बल्कि प्रतिशोध की अग्नि में जलने वाले बड़े-बड़े बलशाली गज-दल भी उसकी लपटों से अपने को सुरक्षित नहीं कर पाते। बदले की भावना का ही परिणाम है कि राहु के विकराल गाल में चेतन रूप भासित भास्कर भी अपने अस्तित्व को खो देता है। यहीं पर हम अपने को पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति से पृथक् पाते हैं, क्योंकि :

"पश्चिमी सभ्यता/आक्रमण की निषेधिका नहीं है
अपितु !/आक्रमण-शीला गरीयसी है...
भारतीय संस्कृति है/सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०२-१०३)

इसका समुचित ज्ञान हमें भारतीय संस्कृति के प्राण तत्त्व 'अध्यात्म' और 'दर्शन' से प्राप्त होता है। 'मूक-माटी' के अन्दर भारतीय संस्कृति के अनुरूप ही अध्यात्म और दर्शन का मणि-कांचन संयोग मिलता है। इसको देखते हुए लगता है कि वह जीवन पर आरोपित नहीं है अपितु जीवन से ही निकला है। प्राय: लोग 'अध्यात्म' और 'दर्शन' के सम्बन्ध में इस धारणा से आक्रान्त रहे हैं कि क्या दर्शन और अध्यात्म एक ही जीवन के दो पहलू हैं ? क्या इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध है ? इन सभी प्रश्नों का उत्तर श्रीमान् विद्यासागरजी ने यह कहकर दिया है कि दर्शन का आयुध शब्द है, विचार है और अध्यात्म तो निरायुध है, सर्वथा स्तब्ध, निर्विचार। दर्शन ज्ञान भी, ज्ञेय भी है किन्तु अध्यात्म है ध्यान और ध्येय। दर्शन कभी सत्य, कभी असत्य के झूले पर झटके खाता है जबकि अध्यात्म सदा सत्य ही भासित होता है। इसीलिए भारतीय संस्कृति दर्शन को अध्यात्म के भीतर पचाकर उसके सर्वथा कल्याणकारी और मंगलकारी स्वरूप के प्रतीक रूप में 'सर्व' की ही कामना से ओत-प्रोत रही है। 'ही' और 'भी' दो बीजाक्षरों के द्वारा काव्यकार ने जहाँ एक ओर भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के पार्थक्य को दर्शाया है, वहीं जैन दर्शन के अनेकान्तवाद और स्याद्वाद की सरल व्याख्या जीवन के भीतर से करने में सफलीभूत भी हुआ है। वह व्याख्या देखते ही बनती है :

" 'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।/'ही' एकान्तवाद का समर्थक है
'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।/हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !/और,/'भी' का कहना है कि
हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !/...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है
'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।" (पृ.१७२-१७३)

अत: कवि ईश्वर से प्रार्थना करता है कि इस धरती पर 'ही' का अभाव रहे और 'भी' की सभी से भेंट होती रहे। वैसे तो 'मूक माटी' में समस्त भारतीय दर्शन समाहित हैं किन्तु वह पाठकों पर 'फिलॉसफी' के रूप में नहीं अपितु सचमुच जीवन-दर्शन के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ है। यदि 'विचार और चिन्तन' को दर्शन की संज्ञा दें तो 'मूकमाटी' में भारतीय एवं पाश्चात्य सभी प्रकार के विचार आ गए हैं। समाजवाद, साम्यवाद, लोकतन्त्र, पूँजीवाद, अस्तित्ववाद, भौतिकवाद क्रमश: पृष्ठ सं.-४६१, ३६६, ३८२, ३६६, ३६१, ७२, ८२, ८३, १९२, २१७, ३९६ और ४११ में

अवेक्षणीय हैं। किन्तु एक समीक्षक के रूप में या स्यात् श्रद्धालु पाठक के रूप में कहने के लिए बाध्य हूँ कि पूज्यपाद विद्यासागरजी ने इन विचारों से काव्यात्मा को बोझिल नहीं होने दिया है, यहाँ तक कि 'दुरूहता' तो उसके पास फटकने तक नहीं पाई है। इसका कारण स्यात् स्वामीजी की साहित्य-साधना का परिणाम है, क्योंकि हमारे यहाँ साहित्य-साधक वही होता है जो ब्रह्म-साधक है और इसकी विपरीत स्थिति भी सही मानी गई है। आचार्यवर श्री विद्यासागरजी में तो ब्रह्म, योग और साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है जिसमें मन लालायित हो उठता है, मैल धोने को। तभी तो 'मूकमाटी' को :

"आँखें भी पढ़ सकती हैं/कान भी सुन सकते हैं
इस की सेवा हाथ भी कर सकते हैं/यह साहित्य जीवन्त है ना !" (पृ.१११)

इसकी जीवन्तता बनी रहे, इसके लिए 'ब्रह्मानन्द सहोदर' के रूप में पृष्ठ सं. १३१ से १६० तक सभी रसों का सुन्दर परिपाक किया गया है। भाव अमूर्त होते हुए भी मूर्त प्रतीत होते हैं। शब्द-ध्वनियों की मौलिक व्याख्या पाठकों के ज्ञानवर्द्धन में सहायक तो है ही, चारुता की पराकाष्ठा को भी प्राप्त है, यथा :

"किस शब्द का क्या अर्थ है,/यह कोई अर्थ नहीं रखता अब !
कला शब्द स्वयं कह रहा कि/'क' यानी आत्मा—सुख है
'ला' यानी लाना—देता है/कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है।/न अर्थ में सुख है/न अर्थ से सुख !" (पृ.३९६)

इसी प्रकार श, स, ष—इन तीनों बीजाक्षरों की व्याख्या इस प्रकार है :

" 'श' यानी/कषाय का शमन करने वाला/...शाश्वत शान्ति की शाला"!
'स' यानी/समग्र का साथी/...और/'ष' की लीला तो निराली है।
प के पेट को फाड़ने पर/'ष' का दर्शन होता है—
'प' यानी/पाप और पुण्य।" (पृ.३९८)

इस प्रकार की अनेकानेक शाब्दिक अभिव्यंजनाओं से महाकाव्य भरा पड़ा है।

भारतीय संस्कृति कभी भी निरापद नहीं रही है। समय-समय पर आततायी इसे विकृत एवं विशृंखलित करने का दुष्प्रयास करते रहे हैं। सभी ने अपने-अपने ढंग से इसे नोंचा है, खसौटा है, किन्तु कुछ बात है कि 'हस्ती मिटती नहीं हमारी'। वर्तमान समय में जो आपदा है वह है 'आतंकवाद' की। यद्यपि यह समस्या विश्वस्तरीय है, तथापि भारतीय परिवेश में रहने वालों के लिए अजूबा ही लगती है। 'मूकमाटी' में इस ज्वलन्त समस्या को भी उठाया गया है। यद्यपि यह निश्चित है कि मान को टीस पहुँचने से ही आतंकवाद का अवतार होता है, कभी-कभी अतिपोषण अथवा अति-शोषण से भी आतंकवाद फलित होता है किन्तु यह महा-अज्ञानता है। दूरदर्शिता का अभाव दूसरों के लिए ही नहीं, अपने लिए भी घातक होता है। जब तक इस धरती पर आतंकवाद जीवित रहेगा, धरती शान्ति का श्वास नहीं ले सकती। इसलिए आवश्यक है कि दया, करुणा और उदारता की साकार प्रतिमूर्ति हमारी यह संस्कृति जो आज 'हिंसा के साथ हिंसा करने को भी अहिंसा मानती है' वह कृतसंकल्पित हो :

" ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,/ये कान अब

आतंक का नाम सुन नहीं सकते,/यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि
उसका रहे या इसका/यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।" (पृ.४४१)

भारतीय संस्कृति में बुद्धि का भ्रमित होना ही अनेक अनर्थों की जड़ माना गया है। यह बुद्धि-भ्रम संगति से ही दूर हो सकती है, क्योंकि 'बिन सत्संग विवेक न होई' सत्संगति का ही प्रभाव है कि जल की एक बूँद नीम की जड़ में पहुँचकर कटुता में ढल जाती है, वही बूँद सागर में मिलकर लवण-युक्त हो जाती है, विषधर के मुँह में विष और स्वाति-काल में वही बूँद सागर की सीपी में पड़कर मोती रूप माणिक्य-कान्ति से झिलमिलाने लगती है। स्वभाव और विभाव में यही अन्तर है और यही सन्तों के सन्त विद्यासागर महाराज का कथन है।

जीवन में प्राय: विरोधाभासों को भी लेकर जीना पड़ता है, भारतीय संस्कृति इसका अपवाद नहीं है। इसी प्रकार 'मूक माटी' में भी कई विरोधाभास देखने को मिले। पृष्ठ २९५ में स्वप्न को बहुविध उलझनों का पर्याय एवं जागृति के सूत्र से छूटने की स्थिति बतलाया गया है। इतना ही नहीं बल्कि स्वप्न में आत्म-साक्षात्कार सम्भव ही नहीं है, इसलिए स्वप्न अतीत से जुड़े होने के कारण वर्तमान में निज-भाव का रक्षण नहीं कर सकता है। ठीक इसके विपरीत पृष्ठ ३०२ में नगर के महासेठ के स्वप्न को सत्य किया गया है। यह विरोधाभास क्यों ? समीक्षक की दृष्टि में तो संस्कृति का ही अविभाज्य अंग है, किन्तु इस पर चर्चा आवश्यक है। 'मूकमाटी' में कवि ने 'माटी' को नायिका रूप प्रदान कर अनादिकाल से पद-दलित को उठाकर भारतीय संस्कृति की सहिष्णुता का परिचय तो दिया है, किन्तु वहीं यह कहकर कि :

"नीच बन नहीं सकता उच्च/इस कार्य का सम्पन्न होना
सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।" (पृ.३५७)

संस्कार यदि जन्मजात होते हैं तो नीच नीच ही रहेगा और यदि उचितानुचित सम्पर्क से सबमें परिवर्तन सम्भव है तो क्या वह संस्कारगत परिवर्तन कहा जाएगा अथवा स्वभावगत ? विचारणीय है।

समग्रत: हम देखते हैं कि 'मूकमाटी' भारतीय संस्कृति के समस्त गुणों से गुम्फित है। मैंने इस दृष्टि से देखने का प्रयास किया है, किन्तु बहुत सम्भव है कि इस महासागर से उठने वाली लहरों की बूँदें तो नहीं, उनके कुछ छींटों का संस्पर्शन हो पाया हो। अथवा यूँ कहूँ कि श्रद्धा के भावावेश में प्रवाहित होकर कहीं जूठे बेर ही तो नहीं प्रस्तुत हो गया है। अन्त में 'चरैवेति, चरैवेति, चरैवेति' की पुनरावृत्ति के साथ :

- *"पूरा चल कर विश्राम करो !" (पृ. १२९)*
- *"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !*
  हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !/और···सुनो !
  घातक-घायल डाल पर/रसाल-फल लगता नहीं,/लग भी जाय
  पकता नहीं,/और/काल पाकर/पक भी जाय तो···
  भोक्ता को स्वाद नहीं आयेगा/उस रसाल का !" (पृ.४३२)

□

'मूकमाटी' : एक स्मरणीय महाकाव्य

डॉ. राम प्रसाद मिश्र

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में
और/अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो
...मैं जहाँ पर हूँ/वहाँ आकर देखो मुझे,/शब्दों पर विश्वास लाओ,
हाँ, हाँ !!/विश्वास को अनुभूति मिलेगी/...और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/'''मूकमाटी।" (पृ. ४८७-४८८)

जैन आचार्य विद्यासागर कृत ४८८ डिमाई पृष्ठों के स्फीत अतुकान्त एवं 'नई' शैली के महाकाव्य 'मूकमाटी' का उद्देश्य जैनधर्म एवं जैनदर्शन की सर्वश्रेष्ठता की स्थापना है जैसा कि अन्त से उद्धृत उक्त पंक्तियों से भी स्पष्ट है तथा 'मानस-तरंग' शीर्षक भूमिका के इन शब्दों से भी : "... स्रष्टा कोई असाधारण बलशाली पुरुष है, और वह ईश्वर को छोड़कर और कौन हो सकता है? इस मान्यता का समर्थन प्राय: सब दर्शनकार करते हैं। ये कार्य-कारण व्यवस्था से अपरिचित हैं। ...ईश्वर मुक्तावस्था को छोड़कर पुन: शरीर को धारण कर जागतिक-कार्य कर लेता है, ऐसा कहना भी उचित नहीं। ...शरीर है तो संसार है, संसार में दु:ख के सिवा और क्या है? ...विद्या-विक्रियायें भी पूर्व-कृत पुण्योदय के अनुरूप ही फलती हैं, अन्यथा नहीं। ...कुछ दर्शन, जैन-दर्शन को नास्तिक मानते हैं और प्रचार करते हैं कि जो ईश्वर को नहीं मानते हैं, वे नास्तिक होते हैं। यह मान्यता उनकी दर्शन-विषयक अल्पज्ञता को ही सूचित करती है। ज्ञात रहे, कि श्रमण-संस्कृति के संपोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं। ... ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है, और सही नास्तिकता है, मिथ्या है। यह भाव तेजोबिन्दु उपनिषद् की निम्न कारिका से भली-भाँति स्पष्ट होता है :

"रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम्।"
"संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।" (५/५१-५२)

ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है। ...वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है। ...वीतराग श्रमण संस्कृति को जीवित रखना है...।" स्पष्ट है कि आचार्य विद्यासागर ने ऋग्वेद, यजुर्वेद (पुरुष-सूक्त) के प्रथम अवसर पर ईश्वर को सृष्टि का कर्ता मानने के दर्शन को, जो बाइबिल एवं कुरान में भी प्राप्त होता है, नकारा है। किन्तु वे सृष्टि का कोई सजीव कारण नहीं दे सके। पुनर्जन्म, कर्मवाद, सिद्धशिला इत्यादि के बिन्दु जैन-दर्शनगत हैं और इनकी प्रत्यालोचना भी सरलता से की जा सकती है। कहीं-कहीं आचार्य ने हिन्दूधर्म की मान्यताओं पर प्रहार करते समय शालीनता का ध्यान नहीं रखा।

'मूकमाटी' के चार खण्ड हैं :

१. संकर नहीं : वर्ण-लाभ २. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं

३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन ४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख

माटी प्रतीक है आत्मा या जीव की। वह खोदकर लाई जाते समय कूड़ा-कंकड़ आदि से युक्त होती है। कुम्भकार उसे स्वच्छ, संकर-मुक्त एवं सुन्दर रूप प्रदान करता है। शब्द स्वयं में एक ध्वनि मात्र है, बोध उसका अर्थवान्

रूप है तथा उसका अनुभूतिपुष्ट-आचारपुष्ट बनना शोध। वर्णलाभ या अमिश्रित सहज रूप पाने पर माटी का रस से सम्पर्क होता है। चक्र चलता है। मूकमाटी मंगल घट में विकसित होती है। अन्ततः वह घट रसमय रूप में गुरु के पद-प्रक्षालन एवं तृषा-शान्ति का कारण बनता है। किन्तु साधु गुरु अर्हन्तदेव या भगवान् महावीर के प्रति समर्पित हैं। उनकी 'देशना' (उपदेश) के साथ महाकाव्य समाप्त होता है। माटी आत्मा है, कुम्भकार गुरु, गुरूणांगुरु अर्हन्तदेव परमगुरु। माटी नायिका है, कुम्भकार नायक, गुरु अतिनायक तथा अर्हन्तदेव परमनायक। किन्तु काव्य में नायिका एवं नायक का अधिकतर वर्णन स्वाभाविक है। गुरु अन्त में आते हैं तथा अर्हन्तदेव फलागम-प्रतीक हैं। इस प्रतीक-निष्पन्न कथानक में कवि ने यथास्थान नाना दर्शन निरूपण, रस निरूपण, कल्पित कथानक (सेठ, आतंकवादी), गुरु, आतंकवादीगण, हृदयपरिवर्तन इत्यादि जैसे अनेक तत्त्वों का प्रौढ़ समन्वय किया है, जिसकी क्रमिक प्रोन्नति एवं पराकाष्ठा मननीय भी है। आवरण पृष्ठ पर कुम्भकार का चक्र और उस पर माटी का पिण्ड तथा सुन्दर मंगल घट महाकाव्य की प्रतीक योजना के सर्वतः अनुकूल हैं। समसामयिक सन्दर्भों से ओतप्रोत यह आध्यात्मिक महाकाव्य साहित्य में एक विलक्षण प्रयोग है।

'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में 'लोकायतन' (पन्त) से सर्वाधिक तुलनीय है। दोनों स्फीत। दोनों अधुनातन। 'लोकायतन' के महाकवि ने विश्वव्याप्ति के मध्य समसामयिक सन्दर्भ सँजोए हैं। 'मूकमाटी' के कवि ने भी ऐसा किया है। किन्तु 'लोकायतन' में विश्वव्याप्ति को सादर ग्रहण किया गया है, 'मूकमाटी' में खण्डन-मण्डन बहुत है। 'लोकायतन' विश्वकाव्य है, 'मूकमाटी' जैनकाव्य मात्र। दोनों बौद्धिकरस के महाकाव्य हैं। 'कामायनी' की प्रतीक-योजना एवं काव्यकला अप्रतिम है, किन्तु 'मूकमाटी' का दार्शनिक ऊहापोह निस्सन्देह विशदतर है। 'प्रियप्रवास' की रसवत्ता चिरस्मरणीय है तो 'मूकमाटी' का संस्कार भी निस्सन्देह स्मरणीय है। 'साकेत' में पारिवारिकता एवं सामाजिकता का निर्वाह सुन्दरतर है तो 'मूकमाटी' व्यष्टि एवं समष्टि के सम्बन्ध पर निस्सन्देह प्रशस्य प्रकाश डालती है। डॉ. मुंशीराम शर्मा 'सोम' के महाकाव्य 'विरहिणी' की नायिका भी आत्मा है। 'विरहिणी' एक ललित-गम्भीर किन्तु अत्यधिक पारम्परिक आध्यात्मिक-महाकाव्य है, 'मूकमाटी' ललित न होते हुए भी सफल एवं अभिनव महाकाव्य है– भले ही सार्वभौम न हो। 'उर्वशी' (दिनकर) कामपक्षप्रधान होने के कारण एकांगी-सी रह गई, किन्तु उसकी जीवन्तता चिरस्मरणीय है, 'मूकमाटी' का दर्शन बोझीला लगता है। 'ऊर्मिला' (नवीन) अतिभावुकता में स्मरणीय है, किन्तु 'मूकमाटी' उससे अधिक जीवन सापेक्ष है। 'ओ अहल्या' (रामकुमार वर्मा) चिर एवं युग के नारी-संवेदन की उत्कृष्ट कृति है, किन्तु 'मूकमाटी' में जीवन की व्यापकतर मीमांसा के दर्शन होते हैं। अन्य किसी काव्य की 'मूकमाटी' से तुलना उचित न होगी। 'कामायनी', 'प्रियप्रवास' एवं 'साकेत' अब भी खड़ीबोली-महाकाव्य-कीर्तिमान बने हुए हैं, क्योंकि उनमें जीवनरस एवं कला का स्तर उच्चतर है। 'लोकायतन', 'उर्वशी', 'उर्मिला', 'विरहिणी', 'ओ अहल्या' जैसी चिरस्मरणीय कृतियाँ भी इस त्रयी के जीवनरस, लालित्य एवं कला-गौरव से पिछड़ी लगती हैं। 'मूकमाटी' अपनी स्फीति एवं आध्यात्मिकता में इसी त्रयी के अनन्तर किसी से भी तुलनीय-वितुलनीय कृति अवश्य है। यदि काव्य खण्डनप्रधान न होकर मण्डनप्रधान होता तो लोकायतन से कम महत्त्वपूर्ण न होता। कुछ उत्तम अंश प्रस्तुत हैं जो आकलन-निकष बन सकते हैं :

- *आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन–उत्पाद है*
  जाना यानी मरण–व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर–ध्रौव्य है
  और/है यानी चिर–सत्/ यही सत्य है, यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

- *"ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है/तो इधर···नीचे*
  मनु की शक्ति विद्यमान !/...एक मारक, एक तारक;
  एक विज्ञान है/जिसकी आजीविका तर्कणा है,
  एक आस्था है/जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं।" (पृ. २४९)

- *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर,*
  वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

- *"पुरुष और प्रकृति/इन दोनों के खेल का नाम ही/संसार है, यह कहना*
  मूढ़ता है मोह की महिमा मात्र !/खेल खेलने वाला तो पुरुष है
  और/प्रकृति खिलौना मात्र !" (पृ. ३९४)

- *"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !*
  हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ।" (पृ. ४३२)

पृ. ४३५
~~अपदों के मुख से~~
~~पदों की, पदवालों की~~
~~परिणति-पद्धति सुन कर~~
~~परिवाद स्तंभित हुआ।~~

'मूकमाटी' : काव्य, दर्शन और अध्यात्म की अन्यतम उपलब्धि

डॉ. के. एल. जैन

आचार्य विद्यासागर ने विपुल साहित्य का सृजन किया है, जिसमें जनकल्याण और लोककल्याण की भावना समाहित है। उन्होंने शास्त्रों के अथाह सागर से विशेषत: कविता के मोती चुनने का जो भगीरथ प्रयास किया है, वह काफी अद्‌भुत और विस्मयकारी है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से ऐसा माना गया है कि अनुभूति की घनीभूत तीव्रता ही कविता को जन्म देती है। भावों की यही तीव्रानुभूति आचार्यश्री की कविताओं में भी देखने को मिलती है। यद्यपि वस्तुतत्त्व की दृष्टि से इन कविताओं का मूल स्वर भले ही अध्यात्म रहा हो, लेकिन इन कविताओं में जीवन के जिन उदात्त आदर्शों का निरूपण किया गया है, वास्तव में वही कविता का प्राणतत्त्व माना गया है। क्योंकि कविता के मूल में मानव जीवन और उसके अन्त:करण में उठने वाले भावों को ही कवि शब्द-बद्ध करता है, और यही कार्य आचार्यश्री ने भी किया है।

यहाँ पर हम आचार्यश्री द्वारा विरचित 'मूकमाटी' के सम्बन्ध में कुछ कहें, इसके पूर्व हम आचार्यश्री के उस काव्यात्मक अवदान की संक्षेप में चर्चा करेंगे जिसके कारण 'मूकमाटी' की रचना सम्भव हो सकी। फिर आचार्यश्री की 'मूकमाटी' ही एक ऐसी अनुपम कृति है जो उनकी अक्षयकीर्ति को युगों-युगों तक अक्षुण्ण बनाए रखने में समर्थ होगी। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि 'मूकमाटी' एक ऐसी कालजयी कृति है, जिसे समय की पर्तें उसके जनकल्याणकारी वैभव को कभी भी धूमिल नहीं बना सकेंगी।

कहा गया है कि कविता मन की अतल गहराइयों से उठती हुई अनुभूतियों की तरंग है। यही तरंगें जब शब्दों के माध्यम से व्यक्त होकर जन-जन के हृदय को अनुरंजित करती हुई अतीन्द्रिय आनन्द की अनुभूति कराती हैं तो कविता धन्य हो जाती है। कविता को यह गौरव 'मूकमाटी' के माध्यम से आचार्यश्री ने नानारूपों में प्रदान किया है।

अनेक कवियों ने कविता का जन्म वेदना और पीड़ा से माना है। 'पन्त' ने भी कहा है : "वियोगी होगा पहला कवि, आह से निकला होगा गान। उमड़कर आँखों से चुपचाप, बही होगी कविता अनजान।" यहाँ पर भी कवि के मन में सांसारिक भोगों में लिप्त मानव के अन्तहीन दु:खों के प्रति वेदना की हूक उठी होगी और करुणा के बादल कवि के अन्तर्लोक में घुमड़ने लगे होंगे, आहों की बिजलियाँ चमकी होंगी और अन्तर का कोना-कोना पर्वत की पीर की तरह पिघल-पिघल कर अनजान झरने की तरह कविता के रूप में प्रवाहित हुआ होगा, तभी तो कवि के मन में 'नर्मदा के नरम कंकर' को शंकर बनाने की बात मन में आई होगी। 'तोता' को रोता हुआ देखकर कवि का मन करुणा से भर उठा होगा, यह सोचकर की आँसुओं के जल से अन्तर की मलिनता जाती रहती है और मन प्रभु-भक्ति के लिए निर्मल हो जाता है। वह (कवि) प्रभु के गुणों का गान करता हुआ 'चेतना की गहराइयों में' उतरा होगा, जहाँ केवल समर्पण की सच्ची साधना के मर्म की अनुभूति हुई होगी। परमात्मा की सत्ता में अपने अस्तित्व के विसर्जन का भाव जाग्रत हुआ होगा। ऐसी स्थिति में 'डूब जाने' की आशंका जाती रही होगी। केवल प्रभु के भक्ति रूपी जल में 'डुबकी लगाने' का भाव ही शेष रहा होगा। यहाँ आकर कवि भक्ति के सागर में अवगाहन करता है और इस संसार में भटक रहे प्राणियों को भी आनन्द के सागर में डुबकी लगाने की सलाह देता है। सृष्टि के कण-कण में सुख, शान्ति और समृद्धि फैलने लगे, सृष्टि के सारे सन्ताप दूर हो जाएँ और कण-कण में मुस्कान बिखर जाए। जड़ पदार्थ भी चेतन हो उठें, महकने लगें, उनमें भी स्पन्दन शुरू हो जाय तो मानो कवि का प्रयोजन सिद्धि को प्राप्त कर ले। फिर ऐसा ही हुआ--'मूकमाटी' के रूप में। आचार्यश्री की कवि कलम के स्पर्श से माटी बोल उठी। मूकमाटी तो बोली ही, लगता है असंख्य हृदयों में धर्म

की अनुगूँज के स्वर गुंजायमान होने लगे। 'मूकमाटी' ने साहित्य-जगत् को आन्दोलित कर दिया। एक ऐसी हलचल पैदा कर दी कि विद्वान्, कवि, आलोचक और साहित्य प्रेमी इस 'मूकमाटी' के स्पन्दन को सुनने और समझने के लिए लालायित हो उठे। आज यह कृति साहित्य जगत् में उस स्थान की अधिकारिणी माने जाने लगी जहाँ कवि प्रसाद की 'कामायनी', दिनकर की 'उर्वशी' और पन्त का 'लोकायतन' हुआ था। इसलिए कि महाकाव्य की सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ-साथ इस कृति में आधुनिक युग की उन मूलभूत समस्याओं का उचित समाधान किया गया है, जो कृति के कालजयी होने के लिए आवश्यक है।

जहाँ तक साहित्य जगत् में किसी रचनाकार की पहचान का प्रश्न है तो हम यही कह सकते हैं कि किसी कवि या साहित्यकार की वे कुछ एक रचनाएँ ही हुआ करती हैं जो उसकी पहचान को कायम करती हैं। इस दृष्टि से यदि हम अतीत की ओर झाँकें तो ज्ञात होगा कि जायसी की पहचान के लिए 'पदमावत', तुलसी की पहचान के लिए 'रामचरित-मानस', केशव की पहचान के लिए 'रामचन्द्रिका', प्रेमचन्द की पहचान के लिए 'गोदान', रेणु की पहचान के लिए 'मैला आँचल', प्रसाद की पहचान के लिए 'कामायनी', निराला की पहचान के लिए 'राम की शक्ति-पूजा', दिनकर की पहचान के लिए 'उर्वशी', पन्त की पहचान के लिए 'लोकायतन' है और इसी प्रकार आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य जगत् में पहचान 'मूकमाटी' के द्वारा कायम हुई। 'मूकमाटी' आधुनिक काल का ऐसा महाकाव्य है जिसने जनमानस को आन्दोलित किया है। 'मूकमाटी' आने वाले समय में भारतीय संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एक थाती का कार्य करेगी। यह कृति कवि, मनीषी, सन्त और अध्यात्म के क्षेत्र में शिखर ऊँचाइयों को प्राप्त कर चुके उस महान् कवि का अनुभूतिगम्य निचोड़ है जो कि साधना के उच्चतम सोपानों को प्राप्त करने के पश्चात् प्राप्त होता है। 'मूकमाटी' के अनुपम उपहार को साहित्य जगत् जिस कृतज्ञ भाव से ले रहा है, वह निःसन्देह अत्यन्त शुभ संकेत है।

वास्तव में देखा जाय तो 'मूकमाटी' केवल एक काव्य कृति ही नहीं, वरन् एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें भक्ति, ज्ञान और कविता की त्रिवेणी का संगम सबको पावन बना देता है। आचार्यश्री ने 'मानस-तरंग' (पृ. XXIV) में स्वयं इस महाकाव्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए लिखा है : "जिसने वर्ण-जाति-कुल आदि व्यवस्था-विधान को नकारा नहीं है परन्तु जन्म के बाद आचरण के अनुरूप, उसमें उच्च-नीचता रूप परिवर्तन को स्वीकारा है। इसीलिए 'संकर-दोष' से बचने के साथ-साथ वर्ण-लाभ को मानव जीवन का औदार्य व साफल्य माना है। जिसने शुद्ध-सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है।"

आचार्यश्री का यह महाकाव्य जैन दर्शन के धरातल पर समकालीन परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्र की एक नवीन भाव-भूमि को प्रस्तुत करता है। 'माटी' को आधार बनाकर 'मुक्त छन्द' में भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से आचार्यश्री का यह अनुपम और स्तुत्य प्रयास है जिसमें कवि की दृष्टि पतित से पावन बनाने की ओर दिखाई देती है। आचार्यश्री का यह महाकाव्य मानव सभ्यता के संघर्ष और सांस्कृतिक विकास का दर्पण है। यह कृति मानवता को असत्य से सत्य की ओर, हिंसा से अहिंसा की ओर, अशान्ति से शान्ति की ओर तथा बाह्य से अन्तर् की ओर ले जाने वाली ऐसी अन्यतम रचना है, जो एक साथ अनेक प्रसंगों को लेकर चली है। जिस तरह से वट-बीज से वट का विशाल वृक्ष बनता है, ठीक उसी तरह से नर भी नारायण बनता है और यह सच्ची साधना, उपासना से ही सम्भव है। इसी लक्ष्य को लेकर महाकवि ने इस महत् कार्य को काव्य के रूप में संस्कारित किया है, जिसका औदात्य भाव हम 'मूकमाटी' की निम्न पंक्तियों में देख सकते हैं :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें--/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस !" (पृ. ४७८)

'मूकमाटी' में (का पूरा कथानक) माटी के उद्धार की कथा काव्य रूप में है। यहाँ माटी आत्मा की प्रतीक है, जो भव-भटकन से मुक्ति के लिए सच्चे गुरु की शरण में स्वयं साधनालीन हो सुख-शान्ति के पथ पर चल कर स्वयं परमात्मा बनती है। अर्थात् माटी अपने संकर दोषों से विरत होकर मंगल कलश के रूप में ढलती है। इसके पहले यह नीति-नियमों की रीति से गुज़रकर अग्नि परीक्षा देती है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

अग्नि परीक्षा के बाद पका हुआ कुम्भ अपनी महिमा के यश में अपने आप को नहीं भूलता है। वह तो माँ धरती, धृति-धारणी, भूमा का ही बना रहना चाहता है, जो इस बात का द्योतक है कि हम कितने ही वैभवशाली बनें, मगर अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और माटी को न भूलें :

"धरती की थी, है, रहेगी/माटी यह।/किन्तु/पहले धरती की गोद में थी
आज धरती की छाती पर है/कुम्भ के परिवेष में।" (पृ. २९९)

यहाँ पर 'मूकमाटी' महाकाव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि निर्जीव प्रतीक भी सजीव पात्र बनकर हमारे सामने ऐसे प्रस्तुत होते हैं जैसे कि साक्षात् वार्तालाप हो रहा हो। यहाँ पर महाकवि ने स्वर्ण कलश को आतंकवाद और पूँजीवाद का प्रतीक माना है, जबकि कुम्भ कलश तो दीपक के समान पथ निर्देशन करने वाला है :

"हे स्वर्ण कलश !/तुम तो हो मशाल के समान,
कलुषित आशयशाली/और/माटी का कुम्भ है
पथ-प्रदर्शक दीप-समान/तामस-नाशी
साहस-सहंस स्वभावी !" (पृ. ३७१)

'मूकमाटी' का कवि 'सन्त' और 'साधक' होते हुए जनवादी भी है। कवि ने सामाजिक अव्यवस्थाओं का यथार्थ संकेत करने के साथ-साथ उनका आदर्शपरक समाधान भी सहज रूप में प्रस्तुत किया है :

- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !" (पृ. ४६७)*
- *"बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,*
  परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
  कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है !" (पृ. २१२)

'मूकमाटी' में समकालीन राजनीति, राजनैतिक दलों, न्याय व्यवस्था, भाग्य, पुरुषार्थ, नियति, काल, संस्कार, मोह, स्वप्न, कला, जीव, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि की व्याख्या सामयिक सन्दर्भों में की गई है।

यहाँ तक की कवि ने समकालीन समय में बढ़ते हुए आतंकवाद पर अपनी गहरी चिन्ता व्यक्त की है :

''जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती
धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते,
यह जीवन भी कृत-संकल्पित है कि/उसका रहे या इसका
यहाँ अस्तित्व एक का रहेगा।'' (पृ. ४४१)

हम देखते हैं कि आज यह सम्पूर्ण सृष्टि अनेक संकटों के दौर से गुज़र रही है, जिसमें विश्वास का संकट सबसे बड़ा संकट है। अराजकताओं की जननी एक प्रकार से अविश्वास ही है। आचार्यश्री ने 'विश्वास भाव' को हृदय में भरने के लिए प्रेरित किया है :

''क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से...
इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी
मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !'' (पृ. ४८७-४८८)

इस तरह हम देखते हैं कि आचार्यश्री की यह कृति अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। समकालीन समय में जीवन में उत्पन्न हो रही नानाविध समस्याओं का समाधान कवि ने जिस सरलता से किया है वह अपने आप में एकदम सामयिक और सार्थक है। दूसरी ओर इसमें समकालीन समय के जिन शाश्वत मूल्यों के संकट को उठाकर उनका समाधान किया गया है, वह भी एकदम सामयिक है। आज हम देखते हैं कि चारों ओर जीवन मूल्यों का जिस तीव्रता के साथ ह्रास हो रहा है, उसको रोकने के लिए आचार्यश्री की यह कृति अपने अनूठे उपायों का अनुक्रम करती है। 'मूकमाटी' पाश्चात्य सभ्यता के कारण पनप रहे भौतिकवाद को रोकने का एक सशक्त माध्यम भी है, जो इस बात की ओर संकेत करती है कि जीवन का सार भोग में नहीं अपितु योग में है; आसक्ति में नहीं विरक्ति में है; विराधन में नहीं आराधन में है और यही कारण है कि 'मूकमाटी' साहित्य जगत् में कालजयी होने की सशक्त दावेदार रचना बन गई है।

आचार्यश्री की 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी कविता के क्षेत्र में जिन मान बिन्दुओं को लेकर उपस्थित हुई है, उसने जीवन में हताशा, पराजय और कुण्ठा के स्थान पर जिस आशा, पुरुषार्थ और स्थाई मूल्यों का संचार किया, वह अपने आप में अन्यतम ही माना जाएगा। 'मूकमाटी' हमें आदर्शवादी समाज की संरचना की दृष्टि देती है, सदाचरण की शिक्षा देती है और साथ ही साथ एक ऐसी जीवन दृष्टि भी प्रदान करती है जिससे व्यक्ति साधक की श्रेणी में पहुँच जाता है। डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' की कृति 'मूकमाटी : एक दार्शनिक महाकृति' के अनुसार : ''आधुनिकता की परम्परा से हटकर 'मूकमाटी' महाकाव्य ने सामुदायिक चेतना की पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक अभ्युत्थान को जिस रूप में उन्मेषित किया है, वह वास्तव में बेजोड़ है।'' इस रूप में 'मूकमाटी' नई कविता का एक सशक्त हस्ताक्षर है।

कुल मिलाकर 'मूकमाटी' के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा :

१. 'मूकमाटी' आधुनिक युग का एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें सामयिक समस्याओं का समाधान अत्यन्त सरलता के साथ किया गया है।
२. विज्ञान के इस विनाशकारी युग में इस कृति के माध्यम से ऐसे सूत्रों का सूत्रपात हुआ है जिसे अंगीकार कर इस विश्वव्यापी विनाश को रोका जा सकता है। विश्व शान्ति स्थापित करने में ये सूत्र मूलमन्त्र हैं।

३. 'मूकमाटी' को पढ़ने के उपरान्त विकारयुक्त हृदय भी निर्मल बन जाता है। ऐसी स्थिति में भौतिकता के कीचड़ में फँसी यह सृष्टि इस कृति के द्वारा अपना आत्म कल्याण कर सकती है।

४. 'मूकमाटी' के माध्यम से आचार्यश्री ने सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की विराट् अभिव्यक्ति के मुक्ति द्वार खोलने में जिस कलात्मकता का परिचय दिया है, उससे सरल हृदयों में धर्म, दर्शन, कर्म, संस्कृति और अध्यात्म के पावन पंचामृत की स्वाभाविकता की सहज अनुभूति होने लगती है।

५. इस धरित्री के वे 'सन्त' महान् हैं जो अपनी रचनाधर्मिता के द्वारा इस सांसारिक जगत् को समस्त सन्तापों से मुक्त करने के लिए भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। इस दृष्टि से 'मूकमाटी' के द्वारा जिन-वाणी के प्रसाद को यदि हम सब सम्पूर्ण भारत वर्ष में बाँटने के लिए कृत-संकल्प हो जाएँ तो इस सृष्टि का कल्याण होने में देर नहीं लगेगी।

६. 'मूकमाटी' के माध्यम से 'ज्ञान जागरण' का ऐसा सन्देश द्वार-द्वार तक पहुँचना चाहिए जिससे कि संसार के दिग्भ्रमित प्राणी सही दिशा प्राप्त कर सकें। यदि ऐसा हुआ तो निःसन्देह सदियाँ आचार्यश्री के इस अवदान को कभी विस्मृत नहीं कर पाएँगी।

७. जब एक कुशल रचनाकार जीवन और जगत् की मार्मिक संवेदनाओं की अतल गहराइयों में उतर जाता है तब उसकी रचना फिर किसी 'कोश' का अनुसरण नहीं करती वरन् कोशकारों के लिए एक नई शब्दावली प्रदान करती है। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री की रचनात्मक अतलता को देखकर ऐसा लगता है कि वे विपुल और विस्मयकारी शब्द भण्डार के स्वामी हैं और यही वजह है कि उनके अक्षर-अक्षर में शब्दत्व की अनुगूँज सुनाई पड़ती है। उन्होंने शब्दों को नए अर्थ, नए परिवेश के रंग-बिरंगे परिधान पहनाए हैं। इसीलिए उन्हें 'शब्दों का जादूगर' कहा गया है। 'मूकमाटी' मात्र एक कृति ही नहीं, सम्पूर्ण सृष्टि का वह सारतत्त्व है, जिसे आज तक कोई साहित्यकार किसी एक रचना में संयोजित करने का दुर्लभ प्रयास नहीं कर सका और न कर पाएगा।

अतः हम कह सकते हैं कि 'मूकमाटी' एक ऐसी रचना है जिसने साहित्य जगत् की मनीषा को झंकृत करने के साथ-साथ इस बात पर विचार करने के लिए साहित्यकारों को विवश किया है कि आज तक किसी साहित्यकार की किसी कृति पर इतना विचार-विमर्श नहीं हुआ जितना कि 'मूकमाटी' पर। सच तो यह है कि 'मूकमाटी' ने लोगों को इतना अधिक बोलने पर विवश किया है कि जिसका कोई अन्त नहीं। इसीलिए देश-विदेश के लगभग तीन सौ समीक्षकों के द्वारा 'मूकमाटी' पर समीक्षाएँ लिखे जाने के बावजूद भी विद्वान् यही कहते हैं 'न इति, न इति'- अर्थात् अभी भी काफ़ी कुछ कहना शेष है। बस। ❑

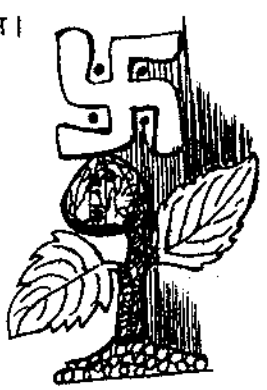

पृ. १८४

~~'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'~~

~~सभी से यह सूत्र मिला है~~

~~इसमें अनन्त की असीमा~~

~~सिमट-सी गई है।~~

'मूकमाटी': भारतीय साहित्य की अनुपम कृति

डॉ. श्रीराम परिहार

पूज्यपाद श्री विद्यासागरजी द्वारा रचित 'मूकमाटी' भारतीय साहित्य की अनुपम कृति है। माटी जैसी सामान्य और सर्वथा उपेक्षित वस्तु को आपने काव्य का विषय बनाया और उसे महाकाव्यात्मक शैली में दर्शन की ऊँचाई दी, यह असाधारण प्रतिभा का कार्य है। यह एक मानवीय काव्य है जो मिट्टी की कहानी के माध्यम से शब्दबद्ध हुआ है। आचार्यश्री की दृष्टि मनुष्य के जीवन खण्ड के उस शिखर पर पहुँचती है, जहाँ मनुष्य के सुख के साथ विश्वकल्याण झिलमिलाता रहता है। मनुष्य के सुखों के सन्दर्भ में उनकी रचना-दृष्टि भौतिक सुखों तक सीमित नहीं रहती है, बल्कि अनेकान्त दर्शन के माध्यम से जीवन जगत् की तलाश करती है।

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।
इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे/प्राप्त होने के बाद,
यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है/तुम ही बताओ!" (पृ. ४८६-४८७)

'मूकमाटी' की कथा माटी के जरिए विश्व-दर्शन के अन्दर छुपे सत्य को पाने की है। कवि प्रकारान्तर से भविष्यद्रष्टा होता है और वह कवि यदि सन्त है तो वह त्रिकालज्ञ होता है। वह चीज़ों को देखते हुए भी नहीं देखता है और कुछ नहीं देखते हुए भी सब कुछ देखता है। यह सब कुछ देखना, सब कुछ जान लेने पर ही सम्भव है। भीतर से पूर्णत: स्पष्ट होने पर ही मुमकिन है। यह स्पष्टता दर्शन के रास्ते और आसान हो जाती है। जैन दर्शन विश्व और उसके उपकरणों को अपने तरीके से देखता है। वह सृष्टि और उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हुए उसके मूल तक पहुँचता है। इसीलिए माटी जैसी साधारण वस्तु को भी आचार्यश्री की कलम उसके निर्माण को सर्वोत्तम निर्दिष्ट करती है :

"कुम्भ के विमल-दर्पण में/सन्त का अवतार हुआ है/और
कुम्भ के निखिल अर्पण में/सन्त का आभार हुआ है।" (पृ. ३५४-३५५)

'मूकमाटी' जीवन के सत्य को क्षणभंगुरता के स्तर पर संकेतित करके अपनी इति नहीं कर लेती, बल्कि जीवन के संघर्ष और उसकी सूझ को भी रेखांकित करती है। इन अर्थों में यह रचना संसार से पलायन का सन्देश नहीं देती, उसे समझने और उसे अधिकाधिक अच्छा बनाने की प्रेरणा देती है। इस कृति में कवि और सन्त की दृष्टि तथा उपदेश दोनों एक साथ काम करते हैं। कवि इसमें जीवन के व्यवहार को व्यवस्थापित करता हुआ उसकी दिशा तय करता है और आचार्यश्री का सन्त उस दिशा का गन्तव्य लक्ष्यित करता है। इस प्रक्रिया में वे जैनमत के सिद्धान्तों को बड़ी कुशलता से गूँथते चलते हैं और मनुष्य के व्यावहारिक धरातल पर रूपायित करते हैं। वे सिद्धान्तों को आचरण की ज़मीन पर उतारकर उनकी महत्ता को और-और पुष्ट करते हैं।

एक यात्रा है जीवन की, सृष्टि की। यह यात्रा जन्म और मोक्ष के दो छोरों के बीच धावित है। इसमें अनेक बिन्दु काम करते हैं। एक बिन्दु का ही वैसे तो सारा पसारा है, परन्तु उन बूँद के छोटे-छोटे कतरे मनुष्य में सर्जन के बीजांकुरों को पोषित और पल्लवित-पुष्पित करते रहते हैं। आस्था को इसी अर्थ में कवि ने व्यापक सन्दर्भ दिए हैं। दरअसल यह काव्य मनुष्य जीवन का नीतिशास्त्र है एवं आस्था, साधना, सत्य, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, अचौर्य की काव्यमय प्रस्तुति करते हुए कवि जीवन के रहस्यों को खोलता चलता है और साधना का मार्ग प्रशस्त करता है :

" "धम्मं सरणं पव्वज्जामि"/इस मन्त्र को भावित करती हुई
आस्था उसकी/और आश्वस्त होती जा रही है।" (पृ. ७५)

दु:ख मनुष्य का सत्य नहीं है। सुख भी उसका सदैव कहाँ साथ देता है। साधना की स्थिति में दु:ख के कारण को जान लेना और उससे उबर जाना ही एक तरह का सत्य मार्ग है। सुख भी तो छलावा है। इसलिए इनसे ऊपर उठकर संसार को स्याद्वाद से समझना ही श्रेयस्कर है। कोशिश यह रहे कि मिट्टी, अपरिमित मिट्टी परिमित आकार पा जाए। सुघड़ स्वरूप पा जाए। यात्रा का चरम उसे प्राप्त हो सके। इसकी सुन्दर ध्वनि 'मूकमाटी' में सुनाई देती है। मिट्टी का सुघड़ घट बनना ही उपेक्षित वस्तु का सर्वोत्तम बन जाना है। जीव को उसका अपेक्षित मिल जाना है। 'मूकमाटी' काव्य साहित्य ही नहीं, जीवन की अमूल्य धरोहर साबित होगा।

आचार्य श्री विद्यासागरजी के श्रीचरणों में शत-शत नमन सहित।

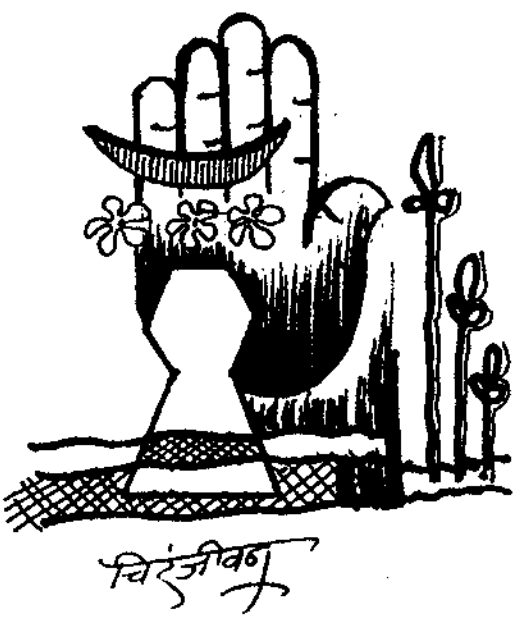

पृ. ४१
'परस्परोपग्रहो जीवानाम्'---
जीवन! चिरंजीवन!! संजीवन!!!

'मूकमाटी' : आधुनिक भारतीय साहित्य परम्परा का अनूठा एवं उल्लेखनीय महाकाव्य

प्रो. (डॉ.) लालचन्द अहिरवाल 'ज्योति'

'मूकमाटी' आधुनिक भारतीय साहित्य परम्परा में एक अनूठी एवं उल्लेखनीय काव्य सृजना है। इसकी सृजना ने भारतीय जीवन दर्शन को एक नए सिरे से सोचने, विचारने एवं मनन करने की प्रक्रिया को एक नयी चिन्तनधारा प्रदान की है। 'मूकमाटी' ने आध्यात्मिक,दार्शनिक, धार्मिक धरातल पर ही नहीं वरन् जीवन-जगत् के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, वैचारिक, मनोविश्लेषणात्मक, व्यावहारिक भाव वीथियों की मानवीय अन्तर्द्वन्द्व की ग्रन्थियों पर भी प्रकाश डाला है। इतना ही नहीं, इसकी सृजना ने युग की प्रासंगिकता एवं सम-सामयिकता पर सोचने को मजबूर किया है। जीवन की पूर्णता गृहस्थ या वैराग्य अथवा प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप एक पक्ष विशेष की पूर्णता से सम्पूर्णता की पर्याय नहीं कही जा सकती है वरन् जीवन की पूर्णता दोनों के समन्वय, सामंजस्य में सन्निहित है। राग और विराग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, गृहस्थ और संन्यास, जीवन और मरण तथा जड़ और चेतन के मध्य सम्यक् दृष्टि का होना ही भारतीय चिन्तनधारा की मूल प्रेरणा रही है। इसीलिए भारतीय जीवन दर्शन संसार के श्रेष्ठतम जीवन दर्शनों में से एक है।

दिगम्बर जैन सन्त आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की लेखनी ने विद्या के अथाह, अगाध सागर में गोता लगाकर भावरूपी मुक्ताओं को चुन-चुनकर मूकमाटी के कलेवर और उसकी आत्मा को सम्हाला है। सन्त आचार्य की लेखनी से प्रसूत 'मूकमाटी' हिन्दी महाकाव्य परम्परा की एक अमूल्य धरोहर है। यह एक ऐसी उत्कृष्ट अमर काव्यकृति है, जिससे माटी का कण-कण स्पन्दनयुक्त हो सजीव, प्राणवान् हो उठा है। यहाँ कहने मात्र को मूकमाटी है, पर मूक यानी जो बोले नहीं या न बोलने वाली, गूँगी। और माटी यानी हीरा, मोती, सोना, रूपा (चाँदी) उगलने वाली मिट्टी। वह लोकहितकारी मंगल घट की सृजनकर्त्री है जो मात्र शोभा का पात्र बनकर नहीं रहती, वरन् वह पिपासात्रस्त, क्षुधात्रस्त, संसार या मानवता की, युग-युग की प्यास तृप्त करती आई है। सन्त आचार्य की लेखनी ने मूकमाटी में प्राण फूँककर, उसकी अमरता को भी अमरत्व प्रदान किया है जो मंगल घट के रूप में संसार के सामने है।

सुरा से भरे स्वर्णकलश और अमृत से भरे मिट्टी के घड़े की पहचान मात्र ऊपरी आवरण या चमक-दमक से नहीं लगाई जाकर, उसमें भरी सुरा और अमृत के आस्वादन से ही जानी जा सकती है। माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित, तुच्छ एवं युग-युग से उपेक्षित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही आचार्य विद्यासागरजी की अपनी मौलिक, अनोखी सूझबूझ की प्रतीक या उद्भावना है, जो मूकमाटी की तुच्छता में जड़त्व व चैतन्य का समन्वय, द्वैत व अद्वैत का एकत्व, भारतीय चिन्तनधारा की नवोन्मेषमयी विचारधारा के रूप में आत्मा के दिव्य दर्शन कराती है। माटी की तुच्छता एवं मूकता में चरम भव्यता के दर्शन कर, सन्त आचार्य ने उसकी विशुद्धता के उपक्रम को मंगल घट के रूप में उपस्थित किया है तथा माटी की मूक वेदना एवं वाणी की आकांक्षा को वाणी प्रदान की है। जड़त्व से चेतनता, मरण से अमरता और पतन से विकास तथा ह्रास से सृजन की सफल यात्रा का दिग्दर्शन कराया है।

सन्त आचार्य ने संसार की निम्न से निम्न, तुच्छ से तुच्छ एवं उपेक्षित से भी उपेक्षित वस्तु की महत्ता को समझा है, और प्रतिपादित किया है इस कहावतानुसार :

"रहिमन देख बड़न को, लघु न दीजै डारि।
जहाँ काम आवै सुई, कहाँ करे तलवारि॥"

अर्थात् हमें बड़े को देखकर छोटों को नहीं त्यागना चाहिए या बड़ों की तुलना में छोटों की उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

भारतीय चिन्तनधारा की इस मूल भावना के दर्शन में सन्त आचार्य की गहरी पैठ है, तब ही तो उन्होंने 'मूकमाटी' जैसे तुच्छ समझे जाने वाले विषय में भव्यता एवं दिव्यता के दर्शन कराए। यही श्रमण संस्कृति के सम्पोषक जैन दर्शन की आधारशिला है। सम्पूर्ण जैन दर्शन अपने मूलभूत सिद्धान्त– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र पर आधारित है। इसके मुख्य अवयव अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, आत्मवाद और कर्मवाद हैं। यही कारण है कि इन्द्रियों, अहम् और आत्मा पर विजय पाने जिन– महावीर संसार में विरले ही हुए हैं। संसार के बाह्य युद्ध पर विजय प्राप्त करने की अपेक्षा आन्तरिक जीवन के द्वन्द्व अथवा अन्तर्द्वन्द्व को जिस वीरता से इन तीर्थंकरों या महावीरों ने जीता है, वही दर्शन, वही सिद्धान्त जैन दर्शन, श्रमण संस्कृति की आधारशिला बना। तेईस तीर्थंकरों की भाँति चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने भी संसार के सामने जिस दर्शन को व्यावहारिक रूप प्रदान किया, वही आज जैन दर्शन के रूप में जाना और माना गया है। यही कारण है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र जैन संस्कृति के मौलिक तत्त्व हैं। जैन आगमों ने जीवन की कलुषता को मिटाने के लिए इन्हीं पर विशेष बल दिया है। 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त के आधार पर हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। जैन दर्शन संसार के प्रमुख दर्शनों में से एक है, जो पूर्णत: आत्मा की शुद्धि पर आधारित है और अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक गहन एवं सूक्ष्म भी है।

जिस प्रकार (कुछ दर्शन) सृष्टि सृजना का दायित्व ब्रह्मा का मानते हैं, उसी प्रकार काव्य सृजना का कर्तव्य कवि का है। कुम्भकार अपने कर्तृत्व-सृजन का ब्रह्मा होता है। उसकी सृजना अपनी निजी, मौलिक एवं अनूठी होती है। कुम्भकार शिल्पी अपने सृजन संसार का कर्त्ता, धर्त्ता एवं स्वामी होता है। कुम्भकार शिल्पी मूकमाटी की ध्रुवता एवं भव्य सत्ता को पहचानकर, कूट-छानकर, वर्ण-संकर कंकर को हटाकर उसे निर्मल मृदुलता का वर्ण-लाभ देता है। उसका घट-सृजन का श्रम वर्णनातीत है। रंग रोगन करना, उसकी कलाकारी प्रवृत्ति, और मृदुलता तथा तृप्ति हेतु सहारा देना उसकी गुरुता है। फिर चाक पर चढ़ाकर, अवा में तपाकर उसे ऐसी मंजिल तक पहुँचाना, जहाँ वह पूजा का मंगल घट बनकर जीवन की सार्थकता प्राप्त करता है। यही उसके जीवन का लक्ष्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार महाकाव्यों के जिन लक्षणों या विशेषताओं की विवेचना की जाती है, चाहे वे इस महाकाव्य के सन्दर्भ में कसौटी पर खरे उतरते हों या नहीं, परन्तु इसमें दो मत नहीं है कि इसे खण्डकाव्य या मात्र काव्य कहना, इसके प्रति घोर अन्याय ही होगा। कारण यह है कि यह काव्य अथवा खण्डकाव्य के उस कलेवर एवं विषय वस्तु की व्यापकता से बहुत आगे का है। अत: इसकी सम्यक् समीक्षा इस बात को स्पष्टत: प्रमाणित कर देती है कि 'मूकमाटी' आधुनिक युग का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है। चूँकि महाकाव्य की परम्परागत परिभाषा के चौखटे में उसे जकड़ना सम्भव नहीं है, फिर भी, यदि विचार करें तो चार खण्डों में विभाजित यह काव्य लगभग ५०० पृष्ठों में समाहित है एवं परिमाण की दृष्टि से महाकाव्य की सीमाओं को छूता है। युगानुसार एवं युगानुकूल परिभाषाएँ भी अपना परिवेश बदलती हैं। 'मूकमाटी' अपने युग की एक ऐसी ही सृजना है जो महाकाव्य के सभी लक्षणों एवं विशेषताओं को अपनी सीमा में समाहित किए हुए है।

'मूकमाटी' आधुनिक भारतीय साहित्य परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है, जिसे सन्त कवि ने चार विभिन्न खण्डों में विभक्त किया है। प्रथम खण्ड का पहला पृष्ठ खोलते ही महाकाव्य के अनुरूप प्राकृतिक परिदृश्य मुखर हो उठता है। 'सीमातीत शून्य की नीलिमा' को सूर्योदय एक नया आकार प्रदान करता है और सारा संसार दृश्यमान हो उठता है, तब माँ 'धरती' और बेटी 'माटी' का परिसंवाद काव्यात्मक रूप में विगत युगों की दास्तान सुनाते हुए प्रारम्भ हो जाता है। बेटी 'माटी' अपनी अन्तर्वेदना इन शब्दों में व्यक्त करती हुई कह रही है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,
"'अधम पापियों से/पद-दलिता हूँ माँ !" (पृ. ४)

इतना ही नहीं :

"सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ/तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !" (पृ. ४)

बेटी 'माटी' अपनी अव्यक्त पीड़ा और अन्तर्वेदना किसके सामने व्यक्त करे, क्योंकि वह घुटन छुपाती-छुपाती घूँट पीती-पीती जीती आ रही है और माँ धरती से बार-बार पूछती है :

"...सुनो,/विलम्ब मत करो
पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

कुछ क्षण के मौन के बाद वे एक-दूसरे को ताकती हैं। माँ धरती और बेटी माटी का यह वार्तालाप काफी लम्बा चलता है और वे अपने बीते युगों की स्मृतियों को पुनः-पुनः ताजा करती हैं। माटी की वेदना, व्यथा इतनी तीव्रता और मार्मिकता से व्यक्त हुई है कि करुणा साकार हो जाती है। माँ-बेटी का यह वार्तालाप क्षण-क्षण में सरिता की धारा के समान अचानक नया मोड़ लेता जाता है और दार्शनिक चिन्तन मुखर हो जाता है। प्रत्येक तथ्य तत्त्व दर्शन की उद्भावना में अपनी सार्थकता पाता है। प्रसंग और परिवेश के अनुरूप मानवीय जीवन दर्शन परिभाषित होता जाता है। सच भी तो है कि 'आस्था के बिना रास्ता नहीं' (पृ. १०), क्योंकि :

"कभी-कभी/गति या प्रगति के अभाव में/आस्था के पद ठण्डे पड़ते हैं,
धृति, साहस, उत्साह भी/आह भरते हैं।" (पृ. १३)

इसलिए आस्थावान् पुरुष को हरदम उद्यमी होकर अपने कर्त्तव्य पथ पर डटे रहना चाहिए। सन्त कवि जीवन प्रसंग के अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उद्यमी पुरुष के रूप में कुम्भकार को अपने कर्त्तव्य पथ पर आरूढ़ दिखाकर माटी के पास लाकर खड़ा कर देता है।

यहाँ कुम्भकार को अपने पास खड़ा देखकर माटी एक पल को पुलकित हो उठती है :

"फूली नहीं समाती,/भोली माटी यह
घाटी की ओर ही/अपलक ताक रही है।" (पृ. २५)

और कुम्भकार :

"वह एक कुशल शिल्पी है !/उसका शिल्प/कण-कण के रूप में
बिखरी माटी को/नाना रूप प्रदान करता है।" (पृ. २७)

युग के आदि में उसका नाम कुम्भकार क्यों पड़ा, सन्त कवि के ही शब्दों में :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

कर्त्तव्यारूढ़ उद्यमी कुम्भकार सर्वप्रथम ओंकार को नमन करता है और क्रूर कुदाली से माटी को खोदता है। क्रूर कुदाली के प्रहार-पर-प्रहार होने पर भी माटी उसकी निर्ममता और अदया से विचलित नहीं होती और उसे निरन्तर सहती जाती है। वह जो आज ही सहन नहीं कर रही, युग-युगों से सहन करती आयी है :

"माटी का इतिहास/माटी के मुख से सुन
शिल्पी सहज कह उठा/कि/वास्तविक जीवन यही है।" (पृ. ३३)

कुम्भकार माटी को बोरे में भरकर, गधे की पीठ पर रखकर अपने घर लाता है और उसे तार वाली चालनी से छानता है। स्वयं शिल्पी चालनी का चालक बनता है। माटी जो अभी तक वर्ण-संकर थी, जिसमें उसकी प्रकृति के विपरीत बेमेल तत्त्व कंकर आदि आ मिले थे, उन्हें छानकर हटा दिया जाता है। और तब वह अपना मौलिक वर्ण-लाभ प्राप्त करती है।

बोझा ढोने वाला गदहा भगवान् से प्रार्थना करता है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

सन्त कवि कहते हैं कि यह गदहा तो युग-युग का राही है। तब ही तो वह राही से हीरा बना एवं हमें तन और मन को तप की आग में तपा-तपाकर, जला-जलाकर, राख करना होगा, तभी यह चेतन आत्मा खरा उतरेगी :

"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ. ५७)

सन्त कवि की शब्द साधना से अनेक आन्तरिक अर्थ जीवन दर्शन को अनेक प्रकार से परिभाषित करते हैं। "वसुधैव कुटुम्बकम्" का अर्थ ही बदल गया है और उसका आधुनिकीकरण होकर अर्थ धन या द्रव्य से जुड़ गया है :

" 'वसु' यानी धन-द्रव्य/'धा' यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

" वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना अब सहज, सुलभ नहीं है। इसका दर्शन–

"...भारत में नहीं,/महा-भारत में देखो !
भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।" (पृ. ८२)

यही कलियुग की सही पहचान है, क्योंकि :

"सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

सन्त कवि आशावादी है। वह निराशा के इस कुहासे में आशा की एक किरण की ताक में है, तभी तो :

"टूटा-फूटा/फटा हुआ यह जीवन
जुड़ जाय बस, किसी तरह/शाश्वत-सत् से।" (पृ. ८५)

महाकाव्य के दूसरे खण्ड का प्रारम्भ शिल्पी कुम्भकार द्वारा माटी को एक नया रूप देने से प्रारम्भ होता है :

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में
करुणामय कण-कण में।" (पृ. ८९)

तभी एक घटना घटित होती है और माटी को खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है और उसका सिर फट जाता है, जिसका प्रतिशोध लेना चाहते हुए भी वह असमर्थ रहता है। तब कुम्भकार अपनी असावधानी पर ग्लानि से भर जाता है और क्षमा माँगता है।

सन्त कवि साहित्यबोध को अनेक आयामों में अंकित करते हैं और नव रसों को युगानुकूल परिभाषित कर संगीत की अन्तरंग प्रकृति का प्रतिपादन करते हैं। जीवन में इन नव रसों की क्या उपादेयता है और इन रसों के अभाव में मानव जीवन क्यों नीरस या मृतप्राय हो जाता है, आदि प्रश्नों का वे समाधान भी करते हैं। मानव जीवन में नव रस की सरिता अपने उद्दाम वेग से उफनती, झलकती, बीभत्स और भयानक रूप धारण करती है। वह कभी हँसती है, तो कभी रुलाती है, कभी शान्त और कभी करुणा की मूर्ति बन जाती है, क्योंकि करुण रस जीवन का प्राण तत्त्व है।

"घूमते चक्र पर/लोंदा रखता है माटी का
लोंदा भी घूमने लगता है—/चक्रवत् तेज-गति से।" (पृ. १६०)

'संसार' शब्द का अर्थ-बोध कराते हुए कवि कहता है :

" 'सृ' धातु गति के अर्थ में आती है,/'सं' यानी समीचीन
सार यानी सरकना"/जो सम्यक् सरकता है/वह संसार कहलाता है।
...इसी का परिणाम है कि/चार गतियों, चौरासी लाख योनियों में
चक्कर खाती आ रही हूँ।" (पृ. १६१)

फिर शिल्पी कुम्भकार चक्र पर से कुम्भ को उतारता है और उसके गीलेपन के सूखने पर सोट से चोट कर, कुम्भ के खोट निकालता है :

"हाथ की ओट की ओर देखने से/दया का दर्शन होता है,
मात्र चोट की ओर देखने से/निर्दयता उफनती-सी लगती है
परन्तु,/चोट खोट पर है ना!/सावधानी बरत रही है;
शिल्पी की आँखें पलकती नहीं हैं/तभी तो"/इसने कुम्भ को सुन्दर रूप दे
घोटम-घोट किया है।" (पृ. १६५)

तब शिल्पी कुम्भकार अपने कुम्भ पर विचित्र प्रकार के चित्रों को उकेरता है, जो बिन बोले ही जीवन सन्देश देने के प्रतीक होते हैं। सिंह का चित्र जहाँ वीरता और मायाचार से दूर रहने का प्रतीक है, वहीं श्वान का चित्र श्वान-संस्कृति का प्रतीक होता है :

"श्वान-सभ्यता—संस्कृति की/इसीलिए निन्दा होती है/कि
वह अपनी जाति को देख कर/धरती खोदता, गुर्राता है।
सिंह अपनी जाति में मिलकर जीता है,/राजा की वृत्ति ऐसी ही होती है,

होनी भी चाहिए।/कोई-कोई श्वान/पागल भी होते हैं/और वे
जिन्हें काटते हैं वे भी पागल हो श्वान-सम/भौंकते हुए नियम से
कुछ ही दिनों में मर जाते हैं,/परन्तु/कभी भी यह नहीं सुना कि
सिंह पागल हुआ हो।" (पृ. १७१)

कछुवा और खरगोश के चित्र भी जीवन में लक्ष्य प्राप्ति के प्रतीक हैं। 'ही' और 'भी' बीजाक्षर रूप में हैं :

"ये दोनों बीजाक्षर हैं,/अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।
रावण था 'ही' का उपासक/राम के भीतर 'भी' बैठा था।
यही कारण कि/राम उपास्य हुए, हैं, रहेंगे आगे भी।" (पृ. १७२-१७३)

तीसरे खण्ड का प्रारम्भ जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त– सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र से होता है। मन, वचन और कर्म की निर्मलता से शुभ कर्मों का सम्पादन होता है तथा लोक-कल्याण की कामना से पुण्य उपार्जित होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया और मत्सर से मन, वाणी अपवित्र होती है और पाप उपजता है। इनके शमन से आत्मा निर्मल और पवित्र होती है। सन्त कवि की वाणी है :

"जल को जड़त्व से मुक्त कर/मुक्ता-फल बनाना,
पतन के गर्त से निकाल कर/उत्तुंग-उत्थान पर धरना,
धृति-धारिणी धरा का ध्येय है।/यही दया-धर्म है/यही जिया-कर्म है।" (पृ.१९३)

सन्तों का यही ध्येय होता है। पुण्य-कर्म के सम्पादन में माटी की विकास कथा से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि के चित्रण में शिल्पी कुम्भकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। शिल्पी कुम्भकार के प्रांगण में अपक्व कुम्भों पर मुक्ताओं का वर्षण होता है और धरती पर मेघ से मेघ-मुक्ता का अवतार होता है। राजा को भी यह समाचार प्राप्त होता है। इन मोतियों की वर्षा का समाचार सुनकर राजा की मण्डली मुक्ता राशि को बोरियों में भरती है, ज्यों ही मण्डली मुक्ताओं को भरती है, त्यों ही गगन में गुरु-गम्भीर गर्जना होती है :

"अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ !/पाप···पाप···पाप !
क्या कर रहे आप···?/परिश्रम करो/पसीना बहाओ
बाहुबल मिला है तुम्हें/करो पुरुषार्थ सही
पुरुष की पहचान करो सही।" (पृ. २११)

इसी बीच कुम्भकार का आना होता है और उसकी आँखों में विस्मय, विषाद और विरति की तीन रेखाएँ खिंच जाती हैं। विशाल जनसमूह को देखकर उसे विस्मय हुआ तो राजा की मण्डली का मूर्च्छित होने पर राजा को अनुभूत हुआ कि किसी मन्त्र शक्ति द्वारा उसे कीलित किया गया जो विषाद का कारण लगा तथा स्त्री और श्री के चंगुल में फँसे रहना उसकी विरति का कारण है। इस दुर्घटना से शिल्पी कुम्भकार दु:खी होता है और प्रभु से प्रार्थना करता है कि इस मंगलमय प्रांगण में यह दंगल क्यों हो रहा है ? वह सोचता है कि क्या यह उसके पुण्य का परिपाक है या पाप का

प्रक्षालन? अन्त में, उसकी पवित्रात्मा की करुण पुकार सुन ली जाती है :

''मण्डली-समेत राज-मुख से/तुरन्त निकलती है ध्वनि–
'सत्य-धर्म की जय हो !/सत्य-धर्म की जय हो' !!'' (पृ. २१६)

शिल्पी कुम्भकार विचार मन्थन कर स्व-विवेक से निर्णय लेता है कि वास्तव में मुक्ता राशि पर राजा का ही अधिकार है, अत: वह उन्हें समर्पित कर देता है। उसका यही त्याग और समर्पण सम्यक् दर्शन के समतुल्य है, जिसकी प्रशंसा करने में सन्त कवि की लेखनी भी नहीं सकुचाती है।

अपनी शब्द साधना के माध्यम से आन्तरिक अर्थ प्रकट करती हुई सन्त कवि की लेखनी समाज निर्माण में नारी की अहं भूमिका की महत्ता का भी प्रतिपादन करती है। वे नारी के शान्त-संयत रूप की, शालीनता की सराहना करते हैं और उसके प्रति आदर और आस्था के भाव प्रकट करते हैं। विभिन्न रूपा नारी, करुणा की कारिका रूप में 'नारी' है तो धर्म, अर्थ पुरुषार्थ में पुरुष को कुशल-संयत बनाने वाली 'स्त्री' है; जीवन में मंगलमय महोत्सव लाने वाली 'महिला' है तो तिमिर तामसता मिटाकर ज्ञान-ज्योति जलाने वाली 'अबला' है; लौकिक सर्व मंगलकारिणी 'कुमारी' है तो सुख-सुविधाओं का स्रोत, भावधर्म, सारभूता 'सुता' है; उभय कुल मंगलवर्धिनी, उभय लोक सुख-सर्जिनी, स्व-पर-हित सम्पादिका 'दुहिता' है तो सबकी आधारशिला, सबकी जननी, मातृतत्त्व से युक्त 'माता' की महिमा का गुणगान कौन कर सकता है ?

कथा प्रवाह के तारतम्य में धरती की गम्भीरता और सहनशीलता की कीर्ति को देख-सुनकर सागर को भी क्षोभ और ईर्ष्या होती है। धरती सब रत्नों की खान है तो सागर क्षारयुक्त लवण का भण्डार। दोनों एक दूसरे की विपरीत प्रकृति और स्वभाव के हैं। सागर के इस क्षोभ का प्रतिपक्षी बड़वानल बनता है। तब सागर उस पर व्यंग्य करता हुआ कहता है :

''कथनी और करनी में बहुत अन्तर है,/जो कहता है वह करता नहीं
और/जो करता है वह कहता नहीं,/यूँ ठहाका लेता हुआ
सागर व्यंग कसता है पुन:/ऊपर से सूरज जल रहा है/नीचे से तुम उबल रहे हो!
और/बीच में रहकर भी यह सागर/कब जला, कब उबला ?
इसका शीतल-शील···यह/कब बदला···?'' (पृ. २२५-२२६)

इसी बीच सागर से तीन घन बादलों की उमड़न होती है, जो कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्याओं के प्रतीक हैं। सागर तब सविता-शत्रु राहु का आह्वान करता है और राहु द्वारा सूर्य को ग्रस्त करने से सूर्यग्रहण होता है। इन्द्र द्वारा मेघों पर वज्र-प्रहार होता है तब ओलों की वर्षा और प्रलयकारी दृश्य उपस्थित हो जाता है :

''ऊपर अणु की शक्ति काम कर रही है
तो इधर···नीचे/मनु की शक्ति विद्यमान !
...एक मारक है/एक तारक ;
एक विज्ञान है/जिसकी आजीविका तर्कणा है;
एक आस्था है/जिसे आजीविका की चिन्ता नहीं।'' (पृ. २४९)

जब साधक शिल्पी उपास्य की उपासना में डूबकर साधनारत होता है, तब उसे अपने लक्ष्य-भेदन की दृष्टि

प्राप्त होती है और वह उस ओर निरन्तर आगे बढ़ता ही जाता है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए।" (पृ. २६७)

चतुर्थ और अन्तिम खण्ड का फलक इतना विस्तृत और अनेक कथा-प्रसंगों को अपने में समाए हुए है कि उसका सार-संक्षेप देना भी कठिन है। इस खण्ड का प्रारम्भ शिल्पी कुम्भकार द्वारा सृजित घट को एक रूपाकार देकर अवे में तपाने की तैयारी करने और उसे अग्नि परीक्षा में खरा उतरने से होता है :

"इधर धरती का दिल/दहल उठा, हिल उठा है,
अधर धरती के कँप उठे हैं/धृति नाम की वस्तु वह
दिखती नहीं कहीं भी।" (पृ. २६९)

अवे के निचले भाग में बबूल की लकड़ियाँ बिछाई जाती हैं और बीच में कुम्भों को क्रमबद्धतानुसार साज-सम्हाल कर रखा जाता है, जिन्हें बबूल, नीम, देवदारु की लकड़ियों से ढँक दिया जाता है और अवे में अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है। अग्नि की लपटों से लकड़ी जलती है, सुलगती है, लपट निकलती है और बुझती है। लकड़ियों के जलने, सुलगने की अन्तर्व्यथा अकथनीय है, अवर्णनीय है। शिल्पी कुम्भकार उन्हें बार-बार प्रज्वलित करता है। वह धूम्र देकर बुझती हैं, जलती हैं। एक ओर अपक्व कुम्भ अपनी अन्तर्व्यथा कहता है तो दूसरी ओर बबूल की लकड़ियों की व्यथा-कथा । यहाँ अन्तर्दर्शन की तरह अन्त:स्रोता सरिता की कथा सदृश निरन्तर प्रवहमान दिखाई देती है। यहाँ करुणा को भी करुणा आ जाती है, यथा :

"पूरा-का-पूरा अवा धूम से भर उठा/तीव्र गति से धूम घूम रहा है अवा में
प्रलयकालीन चक्रवात-सम/और कुछ नहीं,/मात्र धूम···धूम···धूम !
...कुम्भ के मुख में, उदर में/आँखों में, कानों में
और नाक के छेदों में,/धूम ही धूम घुट रहा है
आँखों से अश्रु नहीं, असु/यानी, प्राण निकलने को हैं;
परन्तु/बाहर से भीतर घुसने वाला धूम
प्राणों को बाहर निकलने नहीं देता।" (पृ. २७८-२७९)

सभी को तो इस दाहक अग्नि-परीक्षा के मध्य से गुज़रना पड़ता है :

"लो, जलती अग्नि कहने लगी :/मैं इस बात को मानती हूँ कि
अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

तब अपक्व कुम्भ अग्नि से कहता है :

"मैं निर्दोष नहीं हूँ/दोषों का कोष बना हुआ हूँ

...मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।
...तुम्हें परमार्थ मिलेगा इस कार्य से,/इस जीवन को अर्थ मिलेगा तुम से
मुझ में जल-धारण करने की शक्ति है/जो तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है,
उसकी पूरी अभिव्यक्ति में/तुम्हारा सहयोग अनिवार्य है।" (पृ. २७७)

कुम्भ को अवा की अग्नि में कई दिनों तक तपना पड़ता है, तब कहीं, शिल्पी कुम्भकार को विश्वास हो जाता है कि सभी कुम्भ पक गए होंगे। वह सोल्लास हाथों में फावड़ा लेकर अवा की राख को हटाता है और ज्यों-ज्यों राख हटाई जाती है त्यों-त्यों शिल्पी कुम्भकार का कौतूहल बढ़ता जाता है, अपनी कुशल सृजना कुम्भ के प्रति। तब शिल्पी कुम्भकार पके-तपे कुम्भ को सोल्लास अवा से बाहर निकालता है। इसी बीच वह उसी कुम्भ को श्रद्धालु नगर सेठ के सेवक के हाथों में देता है, जिसे ले जाने के पहले वह उसे सात बार बजाता है। तब घड़े में से जो स्वर ध्वनित होता है, जिसका अर्थ कवि के मन में एक प्रतिध्वनि के रूप में गूँजता है :

"सा···रे ग···म यानी/सभी प्रकार के दुःख/प···ध यानी पद—स्वभाव
और/नि यानी नहीं,/दुःख आत्मा का स्वभाव—धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।" (पृ. ३०५)

मृदंग के रूप में गुंजरित इस आत्मा की आवाज़ भी 'धा···धिन्···धिन्···धा' का स्वर अलापती हुई सुनाई पड़ रही है। इस अन्तरात्मा की आवाज़ कोई निराला सन्त ही सुन रहा है। सारा संसार तो गूँगा और बहरा है। सेठ घड़े को शीतल जल से भरकर आहार-दान के लिए पधारे, गुरु के पाद-प्रक्षालन करता है। भक्तों की भावना, आहार देने या न दे सकने का हर्ष-विषाद, साधु की दृष्टि, धर्मोपदेश का सार और आहार-दान के उपरान्त नगर सेठ का अनमने भाव से घर लौटना सम्भवतः इसलिए हुआ कि सेठ को जीवन का गन्तव्य दिखाई दे गया, किन्तु वह अभी बन्धन मुक्त नहीं हो सका, आदि अनेक प्रसंग सविस्तार विवेचित हुए हैं :

"प्रकाश का सही लक्षण वही है/जो सब को प्रकाशित करे!
...भाग्यशाली भाग्यहीन को/कभी भगाते नहीं, प्रभो!
भाग्यवान् भगवान् बनाते हैं।" (पृ. ३४२)

इस प्रकार यह खण्ड, प्रसंग में से एक नया प्रसंग, बात में से एक नई बात की उद्भावना का, तत्त्व चिन्तन की गहनता का, सूक्ष्म विवेचना का, लौकिक और पारलौकिक जिज्ञासाओं एवं अन्वेषणों का एक विचित्र छवि-घर बन गया है। इस खण्ड में ही नहीं, पूरे महाकाव्य में अनेक ऐसी परिकल्पनाएँ तथा साहसिक, सार्थक और आधुनिक परिदृश्य हैं, जिन पर अच्छे से अच्छे कवियों की दृष्टि नहीं जाती, उनकी कल्पना कुण्ठित पड़ जाती है और लेखनी विराम ले लेती है। पूजा-अर्चना और उपासना के उपकरण भी सजीव वार्तालाप में निमग्न हो जाते हैं, जिनका मानवीकरण नई-नई उद्भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। नए सन्दर्भों के शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा मोहक और आकर्षक बन पड़ी है। कवि अर्थान्वेषिणी दृष्टि से शब्द की ध्वनि को अनेक साम्यों में उपयोग करके, उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नई-नई धार देते हैं तथा नई-नई परतें उघाड़ते हैं। शब्द की व्युत्पत्ति उसके अन्तरंग अर्थ की झाँकी तो देती है, उसके माध्यम से अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों के दर्शन भी होते हैं। चतुर्थ खण्ड तो ऐसे अनेक उद्धरणों से

भरा पड़ा है। जो उद्धरण यहाँ लिए हैं, वे थोड़े हैं और जो छूटे हैं, वे अपेक्षाकृत विशाल हैं, महत्त्वपूर्ण हैं - इस दृष्टि से इसके प्रति लेखक की एक बेबसी है - विस्तारभय की।

नगर सेठ द्वारा बन्धन-मुक्ति हेतु मिट्टी के घड़े को प्रधानता और आदर देने से स्वर्णकलश उद्विग्न और उत्तप्त हो जाता है और वह अपने अपमान का बदला लेने के लिए आतंकवादियों का एक दल आहूत करता है, जो सक्रिय होकर, नगर सेठ के परिवार में त्राहि-त्राहि मचा देता है। स्वर्णकलश और आतंकवाद आज के जीवन के ताज़े सन्दर्भ हैं। महाकवि निराला ने भी शोषक वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में गुलाब को तथा शोषित वर्ग के प्रतीक के रूप में कुकुरमुत्ता, जो सर्वहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, की कल्पना की है। कवि विद्यासागरजी यहाँ उसी परिकल्पना को साकार रूप देते हैं और युग सन्दर्भ में आज के प्रसंगों के अनुरूप आधुनिक समाज व्यवस्था के विश्लेषण द्वारा उसका समाधान प्रस्तुत करते हैं, जो उनकी काव्य लक्षणा और व्यंजना पद्धति से सम्भव हो सकी है।

यदि हम समता के धनी श्रमण का वेश धारण करें तो जीवन में न तो कठिनाई आएगी और न ही विषमता- वरन् धरती पर स्वर्ग का अवतरण होगा :

> *''श्रमण का भेष धारण कर,/अभय का हाथ उठा कर,*
> *शरणागत को आशीष देने की अपेक्षा,/अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले*
> *रावण जैसे शत्रुओं पर/रणांगण में कूदकर/राम जैसे*
> *श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही/कलियुग में सत्-युग ला सकता है,*
> *धरती पर'''यहीं पर/स्वर्ग को उतार सकता है।'' (पृ. ३६१-३६२)*

'मूकमाटी' की कथावस्तु में काव्य की गरिमा, कथ्य में धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म की त्रिवेणी, विचारों, भावों एवं चिन्तन में प्रेरणादायक स्फुरण, मुक्त छन्द की मनोरम काव्य शैली में लोक प्रचलित मुहावरे, बीजाक्षरों का चमत्कार, मन्त्र विद्या की आधार भित्ति, आयुर्वेद का प्रयोग, प्रतीक और मिथकों की योजना, अंकों का चमत्कार एवं आधुनिक जीवन में विज्ञान का व्यावहारिक प्रयोग तथा मानवीय जीवन में उपजी नई-नई अवधारणाओं आदि सभी का समावेश किया गया है। यह आधुनिक जीवन का अभिनवशास्त्र तो है ही, मानव जीवन का महाकाव्य भी है जिसमें मानवीय जीवन की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, धारणाओं, अवधारणाओं आदि का सूक्ष्म विवेचन सहज, सरल, मनोरम काव्य शैली में किया गया है। इसका शिल्प उच्च कोटि का बन पड़ा है।

माटी की महिमा अनन्त है। उसका बखान नहीं किया जा सकता है :

> *''कहाँ तक कही जाय माटी की महिमा,/तुला कहाँ है वह,/तौलें कैसे ?*
> *किससे तुलना करें माटी की/यहाँ पर ?/तोल-मोल का अर्थ*
> *द्रव्य से नहीं,/वरन्/भाव, गुण-धर्म से है।'' (पृ. ४०६)*

मूकमाटी, जो मानव जीवन का पर्याय है, में मानवीय जीवन की सभी धारणाओं, हलचलों, धड़कनों, परिकल्पनाओं, उद्भावनाओं एवं धारणाओं का संगम है। लेखक का यह सन्त कवि विद्यासागरजी के चरणों में श्रद्धा सुमन के एक गुलदस्ते का एक पुष्प है। नमामि।

❑

'मूकमाटी' : एक उदात्त कृति

पं. अक्षय चन्द्र शर्मा

'मूकमाटी' नि:सन्देह एक उदात्त कृति है, चाहे वह परम्परायुक्त भारतीय एवं पाश्चात्य महाकाव्य के लक्षणों से संवलित न हो। आचार्य विद्यासागरजी मूलत: धर्मचेता एक मनीषी हैं -जिन्हें कवित्व सहज ही अनायास प्राप्त है।

काव्य का मूल कथानक छोटा-सा है - मृत्तिका का कुम्भकार के द्वारा घट का निर्माण, घट का यानी एक मंगल घट का निर्माण ! लगता है - जैसे मृण्मय शरीर में चिन्मयी अमृत प्राप्ति की साधना, जीवन की कृतार्थता एवं जीवन की धन्यता !

'मूकमाटी' नाम से यह ध्वनित है कि इस का नायक प्रतीक धर्मा है। माटी मूक है - पर, कवि की कृती कल्पना से सभी मुखर हैं– धरती, माटी, गदहा, सागर, सूरज, बदली, व्यापक प्रकृति का परिवेश, सृष्टि का कण-कण, धर्म की परिभाषाएँ, चतुर्दिक् व्याप्त चिन्तन की शुभ्र आलोक रश्मियाँ, युग के विशिष्ट विसंवादी स्वर, सभी रस और उन रसों के ऊपर प्रशान्त शान्त रस, एक रागहीन विराग का रंग और त्याग, तप का स्वर्णिम परिधान ! जैन दर्शन की विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली– उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्धान्त, अनेकान्त, लेश्या प्रभृति मधुर बन कर रचना में रच-पच गए हैं।

रचना विविध प्रसंगों को लेकर चली है। जिस प्रसंग को कवि ने लिया है, उसे एक स्वतन्त्र पूर्ण गीति का रूप दे दिया है। विभक्त रूप में इसमें शतश: गीत हैं - अपने में पूर्ण - पर, काव्य की शाखा में झूलते-झूमते सुरभित सुमन ! पुष्पों का एक रसमय स्तवक, जो किसी विशाल चतुर्दिक् व्याप्त वट वृक्ष में उग आया है !

यह उदात्त काव्य उस वट वृक्ष की तरह है जिसकी शाखाएँ गगन की ओर ऊपर उठी हैं, पर उस के प्ररोह नीचे की ओर, धरती की ओर भी हैं - पर, जो धरती में मूल रूप में प्रवेश कर भी अपना रस ऊर्ध्वगामी बना रहे हैं। 'मूकमाटी' मूक नहीं, अनन्त के गीत गाती हुई ऊर्ध्व चेतना की अनाहत वाणी है - मौन भी और मुखर भी।

ऐसा लगता है कि हिन्दी की मधुर रसमयी भाषा नए अंदाज़ से संगीतमयी, नृत्यमयी होकर पत्रों पर उभरी है। जिस प्रकार मांगलिक पत्र कुंकुमित होते हैं, उसी प्रकार यह कृति है जो मंगलमयी भावना की चारु अँगुलियों से चर्चित है, अक्षतों से उजली, चन्दन से सुवासित और सूक्तियों से सुरभित भी।

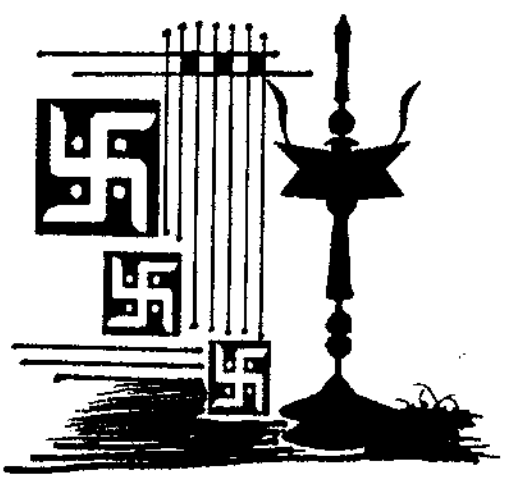

'मूकमाटी' : आगमयुग की अनुयोगविहीन परम्परा का नवलेखन

डॉ. डी. के. जैन

कर्नाटक के मूल निवासी पूर्व विद्याधर नामधारी और वर्तमान आचार्य श्री विद्यासागरजी दिगम्बर जैन परम्परा के इस सदी के लब्धप्रतिष्ठ साधु हैं, जो अपनी तपश्चर्या, साधुचर्या परिपालन, मनोहारी प्रवचन एवं अध्यात्म विद्या के लेखन के क्षेत्र में अद्वितीय यश अर्जित कर रहे हैं। यही कारण है कि इनका मुनिसंघ बहुसंख्य हो गया है और उनके भक्त असंख्य हो गए हैं। अपनी व्यस्त साधुचर्या, संघचर्या एवं समाजचर्या के बावजूद उन्होंने अल्पकाल में ही काव्य, पद्यानुवाद, शतक, स्तुति एवं प्रवचनों के माध्यम से शताधिक कृतियाँ सर्जित की हैं। इससे उनकी अध्यात्मपरक साहित्यिक रुचि का आभास होता है। अनेक लघु ग्रन्थों के प्रणयन के बाद उन्होंने 'मूकमाटी' जैसा प्रौढ़ एवं प्रांजल रूपक महाकाव्य सर्जित किया, इससे उसकी कोटि की उत्तमता का अनुमान सहज ही लग सकता है। इस काव्य को इतनी लोकप्रियता मिली कि इस पर अनेक छात्रों ने शोध उपाधि प्राप्त की हैं और अनेक समालोचकों ने हिन्दी, बंगला, मराठी, कन्नड़ और अँग्रेजी में काव्यशास्त्रीय, दर्शनशास्त्रीय एवं अध्यात्मशास्त्रीय आधार पर इसकी प्रशंसनीय समीक्षाएँ लिखी हैं।

'मूकमाटी' : अद्‌भुत साहित्यिक रूपक महाकाव्य

'मूकमाटी' के प्रारम्भिक अध्ययन पर साहित्यिकजन इसके काव्यत्व की कोटि के विषय में सन्देह कर सकते हैं। पर प्रो. शीलचन्द्र जैन ने 'मूकमाटी : काव्यशास्त्रीय निकष', डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर' ने 'मूकमाटी : एक दार्शनिक महाकृति' एवं 'मूकमाटी : चेतना के स्वर' तथा जयकिशन दास सादानी ने 'Acharya Vidyasagar's : Mookmati (Mute-Mud)' नामक अपनी कृतियों में पूर्व और पश्चिम के समालोचकों की परिभाषाओं के आधार पर इसे प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत रूपक महाकाव्य माना है। अध्यात्मपरक जन-मंगल-देशक होने से इसे आध्यात्मिक महाकाव्य भी माना जा सकता है। इसमें समालोचकों द्वारा मान्य महाकाव्य के सभी लक्षण प्रस्फुटित होते हैं :

१. ***सर्गबद्धता :*** इसमें चार सर्ग हैं, पर वे इतने विस्तृत हैं कि इन्हें आठ से भी अधिक माना जा सकता है।

२. ***कथानक :*** इसका कथानक ख्याति प्राप्त है, सु-संगठित है एवं व्यापक है। इसका आधार कवि कल्पना है, जो व्यापक आध्यात्मिक उद्देश्यों को लोकप्रिय रूपक के माध्यम से प्रस्तुत करती है।

३. ***उदात्त चरित्र :*** इसके प्रमुख नायक और नायिका क्रमशः शिल्पी, कुम्भकार और मूकमाटी हैं। माटी जीवात्मा का प्रतीक है। कुम्भकार गुरु एवं नायक का प्रतीक है। अर्हन्त देव तो इसके परम नायक हैं। ये दोनों ही उदात्त चरित्र के हैं। इनमें नायिका अनेक सहयोगियों के माध्यम से मंगलमय कलश का रूप ग्रहण कर जनकल्याणी रूप को प्राप्त करती है। इसके गौण पात्रों में सेवक, सेठ परिवार, चिकित्सक दल, आतंकवादी दल, स्वर्ण कलश, स्फटिक झारी, गदहा आदि हैं जो अपने विभिन्न रूपों से कथानक में रसत्व, गतिशीलता एवं शिक्षा प्रदान करते हैं।

४. ***रचनाशिल्प :*** इसके दो रूप होते हैं— (१) भावात्मक या रसात्मक और (२) कलात्मक वर्णन, छन्द, अलंकार आदि। 'मूकमाटी' का प्रधान रस शान्त है जो अध्यात्म का प्रतीक है। उपयुक्त अवसरों पर अन्य रसों का भी वर्णन है। यह काव्य वात्सल्य रस का भी सागर है। इसकी भावात्मकता उच्च कोटि की है।

मुख्यतः यह मुक्तक छन्दों का काव्य है। बीच-बीच में इसमें छन्दबद्धता भी है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों की अनुपम छटा दिखती है। अनुप्रास तो पग-पग पर रोचकता देता है। फिर भी, इसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, रूपक, अन्योक्ति, अनुप्रास, लाटानुप्रास, प्रश्न, श्लेष तथा सन्देह अलंकार प्रमुख हैं। इसमें अभिधा,

व्यंजना एवं लक्षणा के माध्यम से अभिव्यक्ति की गई है। इसकी शैली वर्णनात्मक एवं व्याख्यापरक होने के साथ-साथ, तुलनात्मक, प्रश्नात्मक, दृष्टान्तात्मक, सम्बोधनात्मक, मनोवैज्ञानिक, समीक्षात्मक तथा आत्म-विश्लेषणात्मक भी है।

इसका प्रकृति चित्रण, ऋतु वर्णन अत्यन्त रमणीय है। प्रकृति का कहीं-कहीं मानवीकरण भी किया गया है। यह सम्प्रेषक भी बनी है। इसके वार्तालाप भी जीवन दर्शन को प्रकट करते हैं।

यद्यपि काव्य की भाषा खड़ी बोली है, फिर भी इसमें देशज और विदेशी शब्दों का पर्याप्त उपयोग है। इसमें बुन्देली भाषा के अगणित शब्द (मठा, महेरी आदि) हैं। इनसे भाषा में आकर्षण और प्रभावकता आई है।

५. ***समग्र जीवन का चित्रण :*** 'मूकमाटी' में मिट्टी के घट और कलश रूप धारण करने की कथा के माध्यम से कवि ने समग्र मानव जीवन के उत्थान की कथा वर्णित की है जो साधना से शिवत्व की ओर ले जाती है।

६. ***महान् उद्देश्य :*** 'मूकमाटी' का उद्देश्य प्राचीन आचार्यों द्वारा सम्मत मार्ग से जीवात्मा को साधना के द्वारा शाश्वत सुख का धाम बनाना है। इसके माध्यम से अहिंसक जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा, मनुष्य एवं समाज के सांस्कृतिक उत्थान में योगदान, सामयिक जटिलताओं के समाधान के लिए प्रशस्त मार्गनिर्देश, प्राकृतिक चिकित्सा की श्रेष्ठता का उद्घोष, आतंकी मनोविकारों का समुचित आचरण से विदलन, प्राचीन परम्पराओं में विश्वास की पृष्ठभूमि पुष्ट की गई है। इसमें मानवतावादी जीवन दृष्टि एवं जीवन की उन्नति के सोपान बताए गए हैं। फलतः इसका उद्देश्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक महत्त्व का है।

यह एक रूपक महाकाव्य है, यह स्पष्ट है। इसके निर्माण में परिवेश, साधु जीवन की अनुभूति एवं स्वान्तःसुख की धारणा प्रेरक रही है। यह तथ्य भी प्रेरक रहा होगा कि रसमय साहित्य मानव मन पर प्रवचन की तुलना में अधिक स्थायी प्रभाव डालता है। सामान्यतः अब तक के महाकाव्य प्रथमानुयोग की कोटि में आते रहे हैं, पर यह महाकाव्य ऐसा है जिसमें चारों अनुयोगों के वर्णन समाहित हैं। अतः इसकी अनुयोग-कोटि का निरूपण इसके महाकाव्यत्व के प्ररूपण की तुलना में दुरूह कार्य है। अतः ललित कोटि के इस महाकाव्य को 'आगमयुगीन अनुयोगविहीन परम्परा का नवयुगीन ग्रन्थ' कहा जा सकता है।

'मूकमाटी' : रूपक के साथ एक मनोवैज्ञानिक महाकाव्य

आचार्य विद्यासागर के साहित्य में उनकी अन्तर्मुखी दृष्टि अधिक प्रबल है। 'मूकमाटी' के प्रेरक तत्त्व के रूप में उनके गुरु की साहित्य सर्जना एवं उनकी अपूर्व साहित्य निर्माण की धारणा तो प्रमुख रही ही है, पिसनहारी की मढ़िया (जबलपुर) मध्यप्रदेश, नयनागिरि (छतरपुर) मध्यप्रदेश एवं अन्य तीर्थक्षेत्रों के नयनाभिराम परिवेश एवं पाथेय भी इसके प्रेरक रहे हैं। इसीलिए यह लौकिक के माध्यम से लोकोत्तर की ओर ले जाने वाली कृति सिद्ध हुई है। महाकाव्य के अन्तःसमीक्षण से यह स्पष्ट है कि हमारे जीवन का प्रायः बीस प्रतिशत भाग ही धर्म पुरुषार्थ की प्रवृत्तियों में लगता है। जैसे अर्थ का चरमोत्कर्ष काम (इच्छापूर्ति) है, उसी प्रकार धर्म का चरमोत्कर्ष मोक्ष है।

इस काव्य में मनोवैज्ञानिकता के स्वीकृत तत्त्व भी परिपुष्ट हुए हैं। दैनिक जीवन के लोकप्रिय एवं उपयोगी प्रक्रम के माध्यम से लोकोत्तरता की ओर मुड़ने का संकेत स्वयं पाठक पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव छोड़ता है। वस्तुतः साहित्य निर्माण एक उत्कृष्ट मानसिक, ज्ञानात्मक प्रक्रिया है जिसमें बुद्धि, चिन्तन, अनुभव, कल्पना, भाषा, अभिव्यक्ति और दूरदर्शी-लोक-विचरण आदि का गंगा-जमुनी मधुर प्रवाह पाया जाता है। इसके लेखन में :

१. लाभदायक लक्ष्य (साधना के माध्यम से शाश्वत सुख, सर्वजन मंगलमयता) निर्दिष्ट है।

२. लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग (उपसर्ग-सहन, अहिंसक जीवन, तप आदि) भी निर्दिष्ट है।

३. यह लौकिक उपादानों तथा पूर्व साहित्य के ज्ञान, अध्ययन तथा नवीन कल्पनाओं की अपूर्वता पर आधारित है।
४. इसके वर्णन की शैली में अभूतपूर्वता है।
५. इसकी सृजनात्मकता उच्च कोटि की है।
६. इसमें व्यंजकता के सभी मनोहारी तत्त्व हैं। लालित्य और आकर्षण के मानसिक गुण स्थान-स्थान पर आ गए हैं।
७. इसके शब्द चयन (देशी, विदेशी, बुन्देलखण्डी), छन्द (मुक्तक, सम-मात्रिक, अर्ध-सममात्रिक), अलंकार (दस प्रकार), शैली (दस प्रकार), मुहावरे (१२०), कहावतें (२०), लोकोक्तियाँ (१०), सूक्तियाँ (४५), प्रतीक (स्वस्तिक आदि), रस (शान्तप्रधान, अन्य रस भी) आदि के वर्णनों से भाषा एवं लक्ष्यवेधन की मनोहारिता बढ़ी है।

भावात्मकता के आधार पर भी यह काव्य मनोवैज्ञानिक सिद्ध होता है। मनोविज्ञान में भावात्मकता का संवेदन, मनोभाव एवं संवेग की त्रितय मानसिक प्रक्रियाओं के रूप में प्रकाशित किया जाता है। इनमें संवेदनाएँ बाह्य कारकों से उत्पन्न होती हैं और ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती हैं। ये दृष्टि, श्रवण, त्वक् एवं रासायनिक रूप में उत्पन्न होती हैं। ये ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं का सरलतम साधन हैं। ये संवेदनाएँ सरल मनोभावों को जनती हैं जिनकी आकस्मिकता या तीव्रता संवेग में परिणत हो जाती है। 'मूकमाटी' में कुम्भ के निर्माण एवं शुभ उपयोग के समय सागर, नदी, कलश आदि की ईर्ष्या का चित्रण कवि की मनोवैज्ञानिक दृष्टि को स्पष्ट करता है। गुरु या साधुओं के प्रति भक्ति एवं श्रद्धापूर्ण आहारचर्या भक्तिरस की प्रतीक है। ऐसे कितने ही प्रकरण गिनाए जा सकते हैं जिनमें भावात्मक मनोवैज्ञानिकता इस महाकाव्य में अवतरित हुई है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में मानसिकत: अनेक सरल एवं ऐच्छिक क्रियाओं का वर्णन है जिनमें चित्रण की मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। कंकड़ और माटी के वियोजन का विसंवाद, माटी और झारी का संवाद, सागर और कुम्भ की ईर्ष्या, आहार चर्या के समय के मनोभाव, जलचर जीवों की सेठ परिवार से सहानुभूति और नदी तथा आतंकी दल का उपसर्ग आदि के अवसर इस दृष्टि से रोचक लगते हैं।

इस महाकाव्य का पतित के पावन रूप लेने का स्व-कल्याणी एवं जन-कल्याणी मंगलमय उद्देश्य भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रभावी है। इसकी अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर की गई है। संसार में कौन व्यक्ति शाश्वत सुखमयता नहीं चाहता? पूरे महाकाव्य में समुचित अवसरों पर घृणा और अनुराग, असारता और उपयोगिता, ईर्ष्या और स्नेह, श्रद्धा और विश्वास के दृश्य दिखाए गए हैं। इनके आधार पर भोग से योग की ओर ले जाने का ऐच्छिक मार्ग प्रशस्त किया गया है।

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त, महाकाव्य में अनेक प्रकार की नवीनताओं के दर्शन होते हैं जो इसे मनोवैज्ञानिक रूप से अत्यन्त प्रभावी बनाती हैं। इसमें नवीनता के निम्न तत्त्व प्रमुख हैं :

(१) 'मूकमाटी' का रूपाकात्मक एवं अध्यात्मपरक कथानक
(२) निर्जीव चरित्रों का मानवीकरण एवं रोचक तत्त्वदर्शी विवाद-संवाद
(३) अनेक सामान्य शब्दों का व्युत्पत्तिपरक एवं सार्थक पर मनोवैज्ञानिकत: अत्यन्त प्रभावी अर्थ एवं कहीं-कहीं शब्द-विलोम द्वारा नए अर्थों का उद्घाटन।

क्र.	*शब्द*	*सामान्य अर्थ*	*विशिष्ट अर्थ*
१.	कुम्भकार	कुम्हार, शिल्पी	भाग्यविधाता, जीवनदाता

२.	गद-हा	गधा	चिन्ता, कष्ट एवं रोग दूर करने वाला
३.	क-ला	कला	सुख लाने वाली
४.	मैं दो-गला	अविश्वसनीय	'अहं' को गलाओ
५.	सा-रे-ग-म-प-ध-नि	सप्त स्वर	(१) सारे दु:खों को दूर करने वाला संगीत (२) सप्तभंगीय संगीत
६.	नारी	स्त्री	न-अरि (शत्रुताविहीन) न-आरी (बाधकहीनता)
७.	महिला	स्त्री	मंगलमय, आस्था जगाने वाली, पुरुष को मार्ग बताने वाली, मठा-महेरी पिलाने वाली
८.	कुमारी	कुमारी	लक्ष्मी एवं धैर्य देने वाली
९.	अब-ला, अ-बला	स्त्री	ज्ञान ज्योति लाने वाली, संकट शून्य करने वाली, वर्तमान को सुखमय करने वाली
१०.	स्त्री	स्त्री	धर्म, अर्थ, काम में संयत बनाने वाली
११.	सुता	पुत्री	सुख-सुविधाओं का स्रोत
१२.	दु-हिता	लड़की	दो कुलों का हित करने वाली, स्वयं एवं पति का हित करने वाली
१३.	मातृ	माता	जानने की शक्ति देने वाली
१४.	अंग-ना	स्त्री	मात्र बाह्य अंग नहीं अपितु अन्तरंग भी
१५.	भीरु	डरनेवाला	पाप-भीरुता
१६.	नि-यति	भाग्य	निज की उन्नति में यत्न करना
१७.	स्वप्न	स्वप्न	स्वयं के स्वरूप का पालन न करने वाला
१८.	वै-खरी/वै-खली	वाणी का तीसरा रूप	निश्चित रूप से खरी (सुख-सम्पादिका), स्व-पर के लिए वैरी
१९.	पुरुषार्थ	जीवन का उद्देश्य	आत्मा की प्राप्तव्यता
२०.	उरग	सर्प	पद दलितों को उर (प्रेम) से सहलाने वाला
२१.	धर-ती (तीर-थ)	पृथ्वी	शरणागत को तीर पर धारण करने वाली
२२.	धर-णी (नीर-ध)	पृथ्वी	जलधारणी
२३.	राही (हीरा–विलोम रूप)	पथिक	हीरे के समान उत्तम बनना
२४.	राख (खरा–विलोम रूप)	राख	तप द्वारा खरा –उत्तम जीवन प्राप्त करना
२५.	दया (याद–विलोम रूप)	दया	स्व की याद करना
२६.	तामस(समता–विलोम रूप)	तमोगुणा,कालिमा	समता (माटी की)
२७.	वसु–धा	पृथ्वी	रत्न/धन धारण करने वाली
२८.	लाभ(भला–विलोम रूप)	हितकर	भला
२९.	न-मन, नम-न	विनम्रता	निरभिमानी होना, अभिमानी होना
३०.	सं-गीत	संगीत	संगातीत

३१. सं-सार	सरकने वाला	सम्यक् सरकने वाला
३२. जल-धि (जड़-धी)	समुद्र	जड़ बुद्धिवाला
३३. चर-ण (न-रच)	पद	पूज्य चरण को छोड़ अन्यत्र नहीं जाना, अन्यत्र रुचि नहीं रखना
३४. अपरा-धी	दोषी	सद्बुद्धि युक्त
३५. समूह	समाज	समीचीन विचार (ऊह), सदाचारी
३६. श	बीजाक्षर रूप	कषाय शमन
३७. स	बीजाक्षर रूप	समता
३८. ष	बीजाक्षर रूप	पाप-पुण्य निवारक

(४) ९, ९९, ६३, ३६३ संख्याओं की विशेषता का निरूपण, अनेक चित्र व प्रतीकों (पशु चित्र, स्वस्तिक आदि प्रतीक) के आध्यात्मिक महत्त्व का निरूपण।

(५) अनेक जैन सिद्धान्तों (अहिंसा, अनेकान्त, 'ही' और 'भी' का अन्तर और अपरिग्रह, शाकाहार आदि) का प्रकरणवश मनोवैज्ञानिकतः निरूपण।

(६) काव्य की त्रिस्तरीय—अभिधा, लक्षणा और व्यंजनात्मक भाषा और दो प्रकार की अभिव्यक्ति – (१) भावना और अनुभूति भरी तथा (२) तर्कसंगत दार्शनिक मन्तव्यों की अभिव्यक्ति आधुनिक युग की पीढ़ी के लिए आकर्षक है।

(७) काव्य में वर्तमान युग की अनेक सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं पर भी कथोपकथनों में आकर्षक रूप से प्रकाश डाला गया है। लेखक ने इनका आदर्श आध्यात्मिक और दार्शनिक समाधान भी दिया है। उदाहरणार्थ जहाँ एक ओर पाणिग्रहण को प्राण-ग्रहण के रूप में बताकर दहेज प्रथा पर चोट की है, वहीं उन्होंने वर्तमान दण्ड व्यवस्था, विलम्बित न्याय व्यवस्था तथा धन वृद्धि को मनमाना तन्त्र बताया है। उन्होंने कार्य एवं वेतन की विषमता को भी अन्याय बताया है। उन्होंने भोगवाद और उपभोक्तावाद पर भी करारी चोट की है। लोकतन्त्र, जनतन्त्र एवं समाजवाद की प्रशंसा की है। उन्होंने आतंकवाद एवं दल-बहुलता को शान्ति-हननी बताकर निन्दित ही नहीं, पराजित भी कराया है। उन्होंने स्वतन्त्रता के जन्मसिद्ध अधिकार को स्वीकार करते हुए भी परहित में स्वच्छन्दता को नियन्त्रित करने के लिए कभी-कभी बन्धन को व्यावहारिकतः उपयोगी भी बताया है। पाश्चात्य सभ्यता को आक्रमणशीला एवं एकान्तवादी बताकर अनेकान्त संस्कृति की राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय उपयोगिता निदर्शित की है तथा सभी के कल्याण का स्वर मुखरित किया है, जो 'दयाविसुद्धो धम्मो' का व्यावहारिक स्वरूप है।

(८) महाकाव्य में ध्यानकेन्द्री ध्यानी, कोष श्रमण एवं नामधारी श्रमणों को छद्मवेशी बताया है। सच्चे साधु के लक्षणों को इंगित करते हुए उसे स्व-पर-कल्याणी बताया है। वस्तुतः इस महाकाव्य का प्रमुख नायक तो साधु ही है जो कुम्भकार को भी दिशा देता है।

(९) महाकाव्य में आयुर्वेदिक चिकित्सा, प्राकृतिक चिकित्सा एवं सन्तुलित अहिंसक पथ्य की प्राचीन परम्परा को पुष्ट किया है। मणि, मूँगा, मुक्ता आदि की उपचार प्रभावकता इन उपचारों के समक्ष नगण्य मानी गई है।

(१०) स्फटिक की झारी, तीन बदलियाँ, माटी और काँटा और अनेक प्रकरणों में तर्कसंगत संवाद के बाद पात्रों द्वारा अपनी भूल स्वीकार करने एवं क्षमा माँगने की घटनाएँ आज के अहंभावी युग के लिए प्रेरक उदाहरण हैं।

(११) 'मूकमाटी' काव्य की उदात्तता सम्प्रदायातीत एवं मानवतावादी है। यह एकान्तवादी नहीं, अनन्त आनन्दवादी है। मानव जीवन की उदात्तता के लिए सभी धर्मों ने बाह्य एवं अन्तरंग संस्कारों, परिशोधन, गुरु शब्दों में आस्था और आचरण को महत्त्वपूर्ण बताया है।

(१२) धार्मिकता के क्षरणशील युग में भक्ति, आस्था एवं आगमश्रद्धा के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने की कला (सागर के प्रकोप के समय प्रभु स्मरण, चेतना शक्ति जागरण आदि) को प्रभावी ढंग से निदर्शित किया है।

'मूकमाटी' : एक दार्शनिक महाकाव्य

'मूकमाटी' के कवि ने अपने महाकाव्य में जैनों की अनेक लौकिक एवं आध्यात्मिक जगत् से सम्बन्धित दार्शनिक मान्यताओं को रसमय रूप में व्याख्यायित किया है। उन्होंने वर्तमान में वर्षों से चर्चा में चल रहे निमित्त-उपादान की ऐकान्तिक मान्यताओं के विपर्यास में उनकी सापेक्षत: समान महत्ता प्रतिपादित की है। एक ही कारण को कार्य का जनक मानना दोषपूर्ण माना है। किसी एक कारण को अधिक महत्त्व देना दूसरे कारण की शक्ति को अस्वीकार करना है। इसी प्रकार पुद्गल में रूप-रसादि के सह-अस्तित्व को भी कवि ने सोदाहरण सिद्ध किया है। अनेकान्तवाद की दार्शनिक और व्यावहारिक पृष्ठभूमि तो अनेक बार प्रस्फुरित हुई है। कवि ने स्थान-स्थान पर आध्यात्मिक लक्ष्य को इंगित करते हुए, अनेक व्यंग्यों के माध्यम से भी दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र की अविनाभावी त्रिवेणी में स्नान करने की तर्कसंगत चर्चाएँ की हैं और मात्र अर्थवृत्ति को उपेक्षणीय बताया है। अध्यात्म मार्ग में मन का अनुशासन अनिवार्य है। यही ध्यान और कर्म दहन में सहायक होता है। यह लौकिक जीवन की सुखमयता तो बढ़ाता ही है, आध्यात्मिक जीवन के उच्चतम शिखर को प्राप्त कराता है।

'मूकमाटी' में वैज्ञानिक तथ्य

'मूकमाटी' का कवि अपने स्वानुभूतिक अन्तर्निरीक्षणों के साथ प्राकृतिक घटनाओं और प्रक्रियाओं का भी तीक्ष्ण निरीक्षक है। उसके अनेक प्रकरणों से हमें अनेक भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं तथा कृषि, चिकित्सा, ज्योतिष एवं मन्त्र-तन्त्र विज्ञान के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है। इससे कवि की परम्परागत बहुश्रुतता का आभास होता है। सर्वप्रथम तो मिट्टी के घड़े और मंगल कलश के निर्माण की प्रक्रिया के प्राय: नौ चरण हमें सुज्ञात होते हैं :

मिट्टी खोदना, छानना, पानी मिलाना, रौंदना एवं लोंदे बनाना, कुलाल चक्र पर कच्चा घड़ा बनाना, सुखाना और ठोकना-पीटना, अवा में पकाना, घट पर विभिन्न प्रतीक लेखन द्वारा मंगल कलश का रूप देना, गुरु के प्रतिगाहन (पड़गाहन) एवं पाद-प्रक्षालन में उपयोग। इनमें छानने पर विजातीय द्रव्य--कंकड़ आदि पृथक् होते हैं, पानी मिलाने पर मिट्टी में नम्रता आती है। रौंदने पर समरूपता, चिक्कणता एवं विशिष्ट आकार धारण करने की क्षमता आती है। चक्र पर घुमाने पर कुम्भकार आकार देता है। सूखने पर उसमें स्थिरता और ठोकने-पीटने पर एक समान संरचनात्मकता आती है। ये सभी भौतिक प्रक्रियाएँ हैं। कच्चे घड़े को अवा में पकाने पर अनेक प्रकार की रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं जिनमें ऐसे यौगिक बनते हैं जो उपयुक्त रंग (काला या लाल), कठोरता (शक्ति) और सीमित सछिद्रता प्रदान करते हैं। इससे घट में जल (और अन्य द्रव्य भी) की धारण क्षमता आती है। कवि को 'अवा' को तैयार करने की सम्पूर्ण विधि और विवरण प्रत्यक्ष दृष्ट-से लगते हैं। कवि ऐसा मानता है कि इस अग्नि पक्व होने से मिट्टी के घड़े के अनेक दोष उसकी सतह पर आ जाते हैं (इसी से उसका रंग निर्धारित होता है) और वह अन्तरंग से पावन हो जाता है। अग्निपक्व घट की मंगलमयता और उपयोगिता सेठ के समान भक्तों के प्रतीक लेखन, कण्ठ पर श्रीफल रखने एवं गुरु-पद-प्रक्षालन आदि कार्यों से और उसके अन्तरंग भावों से आती है।

'मूकमाटी' में रसायन शास्त्र से सम्बन्धित अनेक निरीक्षणों के माध्यम से अध्यात्म तत्त्व समझाए गए हैं। ये निरीक्षण निम्न हैं :

(१) जल को गरम करने से वाष्प बनती है, ऊपर जाकर वह मेघों का रूप धारण करती है, जो काले, नीले और कबूतरी रंग के होते हैं। जल से भूतल पर दलदल बनता है। जल में विलेयता का गुण होता है। वह जिसे भी विलयित करता है, उसकी प्रकृति तदनुरूप (कटु, मिष्ट, खारी, विषैली) हो जाती है। जल सदैव ही शीतलता देता है।

(२) बर्फ जल पर तैरता है और उसमें जल की तुलना में अनेक विशेषताएँ होती हैं। यह उष्ण प्रकृति का होता है।

(३) जल से मुक्ता बनती है। समुद्र के गर्भ में अनेक प्रकार के रत्न होते हैं। इनकी रक्षा समुद्र की सेना (अनेक प्रकार के जल-जन्तु) करती है। समुद्र की पत्नी 'बदली' है।

(४) दही से नवनीत निकाला जाता है पर वह पुनः दही में परिणत नहीं हो सकता है।

(५) पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—शुद्ध और अशुद्ध (मिश्रण)। मिश्रण की प्रकृति मिले हुए अवयवों पर निर्भर करती है। दूध-भात इसका उदाहरण है। मिश्रण के अवयव अलग किए जा सकते हैं। सरिता तट की मिट्टी, मिट्टी और कंकड़ों का मिश्रण है।

(६) गाय के दूध में आक का दूध मिलाने से वह फट जाता है। मट्ठे को छौंकने से स्वादिष्टता आती है। दूध को छौंकने से विकृति आती है। मठा-महेरी से संग्रहणी रोग दूर होता है।

(७) अग्नि अनेक द्रव्यों से अशुद्धियाँ दूर करती है। धातु के अयस्कों से शुद्ध धातु देती है(और उन्हें शुद्ध करती है)। अग्नि अनेक रासायनिक क्रियाएँ करती है जिससे उत्पन्न वस्तु में अच्छे गुण आते हैं, उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। मूकमाटी से घट निर्माण की प्रक्रिया में अग्निपाक यही काम करता है। अग्निपाक के समय उत्पन्न धुआँ चारों दिशाओं में फैलता है। यह अग्नि में रखे पदार्थों में प्रविष्ट होकर उन्हें सीमित सछिद्रता प्रदान करता है। कवि की अग्नि पुरातन युगीन लकड़ी या कोयले से प्राप्त अग्नि है।

(८) लकड़ी को जलाने पर, हवा की मात्रा के अनुसार कोयला भी बनता है और राख भी मिलती है।

(९) काँटे के समान वस्तुओं ने भी बड़ी प्रगति की है। वे वृक्षों के अतिरिक्त, धातुओं के भी बनने लगे हैं और अनेक यन्त्रों में दिशासूचक सुई के रूप में काम आते हैं।

(१०) कवि ने अणु शक्ति और 'स्टार वार' का उल्लेख भी किया है।

(११) काव्य में चक्षु की अप्राप्यकारिता के भी संकेत हैं।

कृषि विज्ञान के अन्तर्गत दो सामान्य निरीक्षण दिए गए हैं :

(१२) केवल खाद में बीज डालने पर वह जल जाता है, अंकुरित नहीं होता।

(१३) खाद युक्त मिट्टी में बीज डालने पर समुचित जल और वायु मिलने पर वह अंकुरित होकर क्रमशः वटवृक्ष का रूप धारण कर लेता है।

(१४) चिकित्सा के क्षेत्र से सम्बन्धित कुछ उल्लेख (६) भी बताए गए हैं। यह भी बताया गया है कि आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा दाह रोग के लिए उत्तम है। लवणभास्कर चूर्ण और संजीवनी वटी भी रोग निवारक हैं। मठा और कर्नाटक की ज्वार का दलिया दाह रोग के लिए अच्छे पथ्य हैं। उष्ण प्रकृति से पित्त कुपित होता है और दाह उत्पन्न होता है। प्राणायाम और योग भी निरोगता देता है। मोह और असाता कर्म के उदय से भूख लगती है, अचेतन शरीर या इन्द्रियों को भूख नहीं लगती। मिट्टी, पानी और हवा अनेक रोगों की दवा है। अहिंसक आचार और पथ्य जीवन के महान् हितकारी हैं। अन्न पाचन एक दीर्घकालिक क्रिया है।

(१५) ज्योतिष विज्ञान के अन्तर्गत जैनों की परम्परागत मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। सूर्य पृथ्वी ग्रह से पास है और चन्द्रमा दूर है। राहु सूर्य को ग्रसता है।

(१६) मन्त्र-तन्त्र विज्ञान के अन्तर्गत यह बताया गया है कि अनेक मणियाँ और धातुएँ उपचार में फलवती पाई गई हैं। मन्त्रों से कार्यों में निर्बाधता आती है। विद्या बल से देवताओं का आह्वान कर इच्छित कार्य कराए जा सकते हैं। इन सभी के लिए मन की पवित्रता और साधना की श्रेष्ठता आवश्यक है। आजकल इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिकतः प्रभावी ही माना जाता है।

'मूकमाटी' के कथानक की प्रतीकात्मकता

'मूकमाटी' का कथानक मानव जीवन के लिए महान् प्रेरणादायी है। 'मूकमाटी' संसारी कर्मबद्ध जीवात्मा का प्रतीक है। उसे शाश्वत सुख के उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए घट निर्माण की प्रक्रिया के समान अनेक चरणों से पार होना पड़ेगा। इसीलिए महाकवि ने पराजित आतंकी दल को सुझाया है कि इस मार्ग पर विश्वासपूर्वक अग्रसर होने के लिए साधु बन कर, आगम पर श्रद्धा रखकर स्वयं अनुभूति करनी होगी। संक्षेप में, 'मूकमाटी' का कवि जन-जन को सच्चा साधु बनने की प्रेरणा दे रहा है। यह पतित के पावन बनने की प्रक्रिया है। कर्मबद्ध जीवात्मा गुरु के उपदेश से भक्ति और आत्मसमर्पण के जल में डुबकी लगाता है। इससे उसमें दो प्रकार की शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं– (१) उपसर्ग सहने की और (२) परीषह सहने की। परीषह स्वयंकृत होते हैं और उपसर्ग परकृत होते हैं। इनसे प्राणी में मिट्टी के लोंदे के समान मृदुता, क्षमा भाव, व्रतपालन आदि के गुण आते हैं। ये ही साधु जीवन की ओर ले जाते हैं। इस मार्ग में मोह कर्म के उदय से कषायों के अनेक प्रकार के संवेगों का उपसर्ग आता है जो कथानक में सागर, बदली, बादल, राहु, ओलावृष्टि आदि के रूप में वर्णित है। इनमें अनेक प्राकृतिक उपसर्ग होते हैं और अनेक आधिदैविक भी हो सकते हैं। इन उपसर्गों को सहने में सूर्य, इन्द्र, पवन एवं भू-कण आदि अनेक उपकारी, धार्मिक तत्त्व सहायक होते हैं। प्रतिकूलताओं में खरा उतरने पर ही जीवन पावन बनता है। पर यह पावनता का प्रथम चरण है। पावनता की पराकाष्ठा तो तब उत्पन्न होती है जब वह कुम्भ के अग्निपाक के समान बाह्य और अन्तरंग तपश्चर्या का आश्रय ले। इस समय भी अनेक बाधाएँ आती हैं। अहंभाव के कारण अनेक प्रतिद्वन्द्वी उसे भंग करना चाहते हैं। पर तप और ध्यान में इतनी क्षमता होती है कि प्राणी अहंभाव का विसर्जन कर प्रतिद्वन्द्वियों को परास्त कर साधुता के शिखर पर जा बैठता है। इस साधुता का परिज्ञान प्राणी के कार्यों और उद्देश्यों से होता है। इन कार्यों के सम्पादन में भी बाहरी और भीतरी शत्रुओं (आवेग, मनोभाव, मोह, कषाय आदि) का सामना करना पड़ता है जो कथानक में स्वर्णकलश, आतंकी दल आदि के रूप में व्यक्त किए गए हैं। इन मनोभावों की तीव्रता, प्रतिशोध की भावना की तीक्ष्णता और कुटिलता स्पष्ट है। पर उन पर विजय पाना भक्ति, आस्था, सहकारी कारण एवं स्वयं की शक्ति से ही सम्भव है। यह कथानक 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' का अनुपम उदाहरण है। पात्र दान, अतिथि सत्कार, दया और करुणा के समान पवित्र उद्देश्य ही पुण्यार्जन कराते हैं। यह ही साधुता का प्रतीक है। 'मूकमाटी' के लक्ष्यों के उक्त विवरण से हमें महाकाव्य के प्रतीकवाद की निम्न रूपरेखा प्रतीत होती है:

(१)	मूकमाटी	जीवात्मा, संसारी जीव, कर्मबद्ध जीव
(२)	कुम्भकार	जीवन निर्माता, भक्त श्रावक
(३)	पानी	भक्ति, आस्था, आत्मसमर्पण
(४)	मछली	सहयोगी जीवात्मा
(५)	माटी का छानना, रौंदना आदि	बाह्य तपों/व्रतों द्वारा जीवात्मा का शुभ परिणमन
(६)	माटी के लोंदे का चक्र पर	साधु जीवन का प्रथम चरण

	आकार धारण एवं सूखना	
(७)	सागर, बदली, बादल, राहु, ओलावृष्टि, भूकण	विषय-कषायजन्य अशुभ आवेग रूपी उपसर्ग/इच्छाएँ
(८)	सूर्य, तेजोतत्त्व, इन्द्र, पवन	आवेगों के शमन में सहकारी कारण, पाप-प्रक्षालन में सहायक
(९)	अवा की अग्नि में घटपाक, कच्चे घट का रूपान्तरण	तपश्चर्या की अग्नि में संसारी जीव का कर्म-क्षरण प्रक्रम, नव रूपान्तरण, सत् साधुत्व का उदय
(१०)	स्वर्ण कलश, आतंकी दल, विद्या बल, बिजली, नदी आदि	आत्मशक्ति के विकास में प्रतिस्पर्धी मनोवेग और कषाय तत्त्व आदि
(११)	स्फटिक झारी, कुम्भ, गज दल, नाग-नागिन, महामत्स्य, धरणी, नदी जल के जीव-जन्तु, जल देवता, साधु	आत्मोन्नति के मार्ग के मूल और सहकारी गुण, आवेग-शामक तत्त्व, भक्ति एवं आस्था के तत्त्व

इस प्रतीकवाद की परिवर्धित व्याख्या भी सम्भव है।

'मूकमाटी' के किंचित् विचारणीय संकेत

समीक्षकों ने 'मूकमाटी' को उत्कृष्ट कोटि का काव्य कहा है। यह उच्चतर जीवन के लिए लक्ष्य एवं पथ का प्रदर्शन करता है। यह वर्तमान विकराल जगत् में संयत साधु जीवन धारण कर मानवीय उच्चता को प्रेरित करता है। इससे कर्म-बन्धन और अशुभ भावनाएँ दूर होती हैं और जीवन सर्वोदयी बनता है। यह विषम और बहुआयामी जगत् को व्यापक और अनन्त अनेकान्तवादी दृष्टि से समझने का दर्शन देता है। यह मार्ग प्रतिस्पर्धा के बदले सन्तोष को वरीयता देता है। इसमें आस्था, भक्ति, विश्वास, आगम श्रद्धा, परम्परा एवं स्वानुभूति का परम स्थान है। इस काव्य में यह सब ऐसे लोकप्रिय कथानक एवं मानवीकृत पात्रों के माध्यम से उपदेशित है जो रोचक भाषा, भाव, संवाद, परिकथा, उपमान, रूपक, निदर्शन एवं शैली आदि की दृष्टि से अपूर्व है और पाठक के लिए मनोहारी है। इन आधारों पर इस काव्य की तुलना महाकवि ईलियट के 'वेस्ट लैंड' एवं मिल्टन के 'पैराडाइज़ लॉस्ट' से की गई है। वस्तुतः यह काव्य अनुपम ही है। फिर भी, इस काव्य में कुछ बिन्दु ऐसे हैं जिनके विषय में चर्चा अपेक्षित है। इनमें निम्न प्रमुख हैं :

१. बुद्धिवाद की उपेक्षा : काव्यशास्त्रीय कोटि की उत्तमता के बावजूद भी इसके कुछ प्रत्यक्ष या परोक्ष संकेत आज के बौद्धिक जगत् को निश्चित रूप से चकित करते हैं। यह सही है कि आध्यात्मिकता मानवीय एकता का आधार है, पर धार्मिकता के क्रमशः क्षरण के युग में केवल आस्था एवं विश्वास या परम्परागत गुरु-उपदेश कहाँ तक इस दिशा में प्रेरक बन सकते हैं? सुबुद्धिपूर्वक आस्था ही बलवती एवं पथ प्रेरक बनती है। दुर्बुद्धि तो आततायिनी और आर्तदायिनी होती है। इस दृष्टि से अनेक कथोपकथनों में तर्क-वितर्क पद्धति अपनाने के बावजूद, आस्था में बुद्धि के उपयोग को कहीं प्रोत्साहन नहीं दिया गया है। समन्तभद्र और सिद्धसेन के युग से प्रारम्भ हेतुवादी प्रकर्ष के स्वर्ण काल की ऐतिहासिकता के बावजूद इसे उपेक्षित रखना अचरजकारी ही है। क्या आस्था, श्रद्धा, परम्परा एवं स्वानुभूति का हेतुवाद से विरोध है? आध्यात्मिक क्षेत्र में बुद्धिवाद के बहिष्कार से ही भौतिकवाद की प्रगति एवं धार्मिकता का क्षरण हुआ है। वस्तुतः समन्वयी प्रतिस्पर्धा भावना के बिना जीवन में गतिशीलता नहीं आती। इसीलिए संन्यासी जीवन

यथास्थितिवादी माना जाता है। 'मूकमाटी' से इस आरोप का खण्डन अपेक्षित था।

२. साधुत्व की विक्रयकला : जैन इतिहास से यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिकता का प्रभाव दस हजार व्यक्तियों में से प्राय: एक-दो-तीन पर ही विशेष पड़ता है। इसीलिए भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर के युग तक और आज भी साधुओं की संख्या २-३/१०,००० के लगभग रही है। यह अध्यात्मवाद के ऐकान्तिक श्रद्धामूलक व्याख्यान का ही फल है। आज के वैश्वीकरण के युग में योग के समान अध्यात्म की विक्रय कला का भी विकास किया जाना चाहिए। यह स्पष्ट है कि अतीत कला के अध्यात्म गुरु इस कला में प्रवीण नहीं थे, अन्यथा विज्ञान/भौतिकवाद अध्यात्म पर इतना हावी नहीं हो पाता। 'मूकमाटी' भी अनेक कलाओं की तुलना में इस कला में कमज़ोर लगती है।

३. भूतकाल की ओर : इसी प्रकार, अहिंसक आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा एवं कर्नाटकी दलिया को ही श्रेष्ठ बता कर और स्टेनलेस स्टील या इस्पात को अन्य परम्परागत धातुओं की तुलना में सदोष कहकर क्या हमें दो हजार वर्ष पूर्व के सप्तधातुमय ग्रामीण युग में बने रहने का संकेत दिया जा रहा है ? क्या यह सम्भव है ? वैज्ञानिक विकास को इतनी निराशावादी दृष्टि से देखना आज के हेतुवादी जगत् को शायद ही मान्य हो। विज्ञान ने प्राकृतिक वस्तुओं के गुणों में परिवर्धन कर एवं अनुरूपी वस्तुएँ संश्लेषित कर प्रकृति में विद्यमान अपूर्णताओं को दूर कर हमें आशावादी बनाया है। विज्ञान ने हमें समस्याओं के समाधान हेतु साहसी बनाया है। फलत: मौलिक वस्तुओं के उपभोग से विमुखता और अनेक लौकिक वस्तुओं के उपभोग में प्रमुखता को धिक्कारना समुचित प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार, यह कहना भी तथ्य के प्रतिकूल होगा कि बुद्धिवादी विज्ञान के चरण (गतिशीलता) नहीं है और वह केवल विनाशक और पतनकारी है। विज्ञान और धार्मिकता के समन्वय के इस युग में एक महान् अन्तर्मुखी महाकवि से ऐसी उद्घोषणाएँ अपेक्षित नहीं हैं। फिर यह बात किससे छिपी है कि विज्ञान ने वेश-भूषा, संचार माध्यम, विश्वभाषा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के समान संस्थाओं आदि के माध्यम से विश्वजनों के बाह्यत: एकीकरण में महान् योगदान किया है। इसके विपर्यास में, धर्म ने प्राणियों की आत्मिक एकता के उद्घोष के बावजूद भी व्यक्तिवाद को प्रोत्साहित कर मानव के समाजीकरण एवं एकीकरण में व्याघात-सा ही पहुँचाया लगता है। अनेक प्राचीन आचार्यों द्वारा नए सम्प्रदाय और संघों की स्थापनाएँ और उनके परस्पर विरोधों से हमें क्या संकेत मिलते हैं ? फलत: प्राचीनता एवं नवीनता के समन्वय एवं सदुपयोग की चर्चा काव्य को अधिक प्रभावक बना सकती थी।

४. धार्मिक आचार और लौकिक नैतिकता : धार्मिकता के दो पक्ष होते हैं-- आचार और विचार। जैन धर्म ने आचार और त्रि-रत्न पर बड़ा बल दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ आचार का सम्बन्ध भी व्यक्ति से है। समूह के आचार व्यक्ति से भिन्न भी देखे जाते हैं। सामाजिक आचारों को आज का जगत् 'नैतिकता' का नाम देता है। 'आधुनिक सन्दर्भ में जैन आचार मीमांसा' कृति में डॉ. दयानन्द भार्गव ने बताया है कि जैन परम्परा धार्मिक आचार और लौकिक नैतिकता को पृथक्-पृथक् मानती है। सामाजिक नैतिक नियम अपराधियों के लिए दण्ड का विधान करते हैं। उद्देश्य तो अपराधियों के आचार में सुधार ही है पर कभी-कभी यह विद्रोह को भी जन्म देता है। इसके विपर्यास में, धार्मिक आचार्य पाप से घृणा करने को कहता है, पापी से नहीं। फलत: 'मूकमाटी' महाहिंसक अपराधियों के प्राणदण्ड को भी अनुचित मानती है। अनेक अवसरों पर धार्मिकता, नैतिकता के सामने मौन रह जाती है। सामाजिक दृष्टि से यह धार्मिकता अपराधों को प्रेरित करने वाली ही कही जाएगी। भारत में आतंकवाद के प्रति नरम रुख का परिणाम सभी के समक्ष है। अत: व्यक्तिगत आचार और सामाजिक नैतिकता के विषय में किंचित् अधिक संवाद अपेक्षित था, जैसा दर्शन और अध्यात्म या दीपक और मशाल के विषय में दिया गया है। इसी प्रकार धन एवं लौकिक वस्तुओं के धिक्कार

एवं समाजवाद के स्वरूप के निखार के संकेत के बावजूद भी अपरिग्रह के आचार पर कवि का मौन भी किंचित् अधिक विचार चाहता है।

५. ***वैज्ञानिक तथ्यों की उपेक्षा :*** परम्परापोषी आचार्य होने के कारण 'मूकमाटी' के लेखक ने अनेक ऐसी परम्परागत मान्यताओं का काव्य में उल्लेख किया है जो वर्तमान अनुसन्धानिक निष्कर्षों से मेल खाती प्रतीत नहीं होती। इनमें निम्न मान्यताएँ मुख्य हैं :

१. सूर्य पृथ्वी से अधिक समीप है। (१५४३ लाख कि.मी.)।
२. चन्द्र पृथ्वी से सूर्य की अपेक्षा दूर है (५.३ लाख कि. मी.)।
३. सूर्य ग्रहण का कारण राहु ग्रह द्वारा उसका ग्रसन है (सूर्य ग्रहण तब होता है जब सूर्य और पृथ्वी के बीच चन्द्रमा आ जाता है)।
४. चक्षु अप्राप्यकारी हैं (वस्तुतः यह परोक्षतः या ईषत् प्राप्यकारी है)।
५. हमें मोहनीय एवं असाता कर्म के उदय से भूख लगती है (मस्तिष्क में पार्श्विक हाइपो-थैलेमस में भोजन केन्द्र होते हैं। पेट के सिकुड़न की सूचना पहुँचने पर ये केन्द्र सक्रिय होकर भूख का आभास कराते हैं। विज्ञान की दृष्टि से यह जीवित शरीर तन्त्र की सहज क्रिया है)।

इन मान्यताओं के दृश्य कारणों में सूर्य के बृहदाकार एवं चन्द्र के आकार का दिखना है। इसी प्रकार, अन्य मान्यताओं के सम्बन्ध में भी परम्परागत धारणाएँ हैं। ये धारणाएँ वैज्ञानिकतः पुष्ट नहीं हैं। यह बात अलग है कि आकाशीय चन्द्र एवं सूर्य को जैनों का चन्द्र और सूर्य न मानें। भूख लगने के लिए भी कर्मवाद का आधार अमूर्ततः ही सार्थक होगा, मूर्ततः तो उसके कारण सुज्ञात हैं। वैसे कर्मवाद में कर्म की मूर्तता की समकक्षता तक अभी वैज्ञानिक नहीं पहुँचे हैं। इस तरह के वैज्ञानिक प्रकरणों में अनेक विद्वानों का मत है कि इन लौकिक तत्त्वों को धार्मिक मान्यताओं के अंग के रूप में नहीं लेना चाहिए क्योंकि विज्ञान प्रवाहशील है। इस तरह के संकेतों से धार्मिक आस्थाओं में स्खलन की सम्भावना रहती है। इन्हें या तो आधुनिक सन्दर्भ में देना चाहिए था या फिर उपेक्षित ही कर देना चाहिए था। पूर्व वर्णित अन्य अनेक वैज्ञानिक प्रक्रमों की कोटि भी प्राथमिक निरीक्षण के अन्तर्गत आती है। ये विज्ञान द्वारा सव्याख्या अनुमोदित हैं। कथानक के विकास एवं तत्त्वदर्शन के विवरण के लिए इससे अधिक की आवश्यकता भी नहीं थी।

६. ***माटी का शोधन एवं अन्तर्ग्रथन :*** 'मूकमाटी' के रूपक काव्य का मुख्य उद्देश्य पतित(मिट्टी, संसारी जीवात्मा) को पावन (घट-कलश, शाश्वत, सुखी शुद्ध आत्मा) बनाना है। लेकिन मिट्टी जब घट में रूपान्तरित होती है, तब उसकी कुछ अशुद्धियाँ (कंकड़) ही भौतिक माध्यमों से दूर होती हैं। मिट्टी कुछ रासायनिक सिलिकेट यौगिकों का मिश्रण है। इन्हें उत्तापित करने पर ये परस्पर अभिक्रिया कर कठोर यौगिक (सिलिको-ऐल्युमिनेट) बनाते हैं। फलतः माटी से घट बनने की क्रिया पूर्ण शोधन की क्रिया नहीं, पर अन्तर्ग्रथन की क्रिया है। इसे मिट्टी के अधिक उपयोगी रूप में स्थानान्तरण की क्रिया भी कह सकते हैं। क्या हम इसी प्रकार संसारी जीव का भी अन्तर्ग्रथन एवं सामाजीकरण के रूप में विकास चाहते हैं ? फलतः यह रूपक-प्रतीक कर्मबद्ध संसारी जीव के शुद्धात्मा में रूपान्तरण के लिए समुचित नहीं लगता। पर इस विसंगति को इस परम्परा के अनुसार ही मान्यता दी जा सकती है कि दार्ष्टान्ति के सभी धर्म दृष्टान्त में नहीं पाए जाते। यहाँ केवल उपयोगी रूपान्तरण एवं उसके लिए प्रयुक्त प्रक्रिया ही समरूप होती है :

(१) मिट्टी–कच्चा घट–नव रूपान्तरित घट–शुभ उपयोगी घट
(२) कर्मबद्ध जीव–भक्ति/आस्था–बाह्य तप–अन्तरंग तप–रूपान्तरित जीवात्मा

७. ***ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव :*** बीसवीं सदी में सभी विचारक विद्वान् यह अनुभव करते हैं कि अध्यात्म-प्रवीण दिगम्बरों की इतिहास निरपेक्षता ने इस सम्प्रदाय को अनेक कोणों से हानि पहुँचाई है। यह तो अच्छा रहा कि दसवीं सदी के बाद के अनेक आचार्यों ने कम-से-कम अपनी कृतियों में अपना परिचय तो दिया। इसके पूर्व के अनेक आचार्यों ने इस विषय में मौन रखा। फलतः आज भी उनके जीवन चरित अनिर्धारक चर्चा के विषय बने हुए हैं और विचारों के, ज्ञान प्रवाह के विकास की कड़ियों के निर्धारण में कठिनाई पैदा कर रहे हैं। आचार्य श्री ज्ञानसागरजी ने अपने ग्रन्थों में अपने परिचय की परम्परा मान्य की है। उनके पट्टशिष्य 'मूकमाटी' के महाकवि ने इस परम्परा की

अपने काव्य में उपेक्षा कर न केवल गुरु-परम्परा में व्याघात किया है अपितु काव्य की साहित्यिक ऐतिहासिकता की भी उपेक्षा की है। अध्यात्म जगत् में, वस्तुतः ऐतिहासिकता होती ही नहीं, वह तो त्रैकालिक माना जाता है। पर 'मूकमाटी' के समकालिक जगत् में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसे समय के प्रवाह में माटी विभिन्न चरणों में घट-कलश बनती है, वैसे ही संसारी जीव भी समय के प्रवाह में अध्यात्ममुखी हो जाता है, फलतः कवि-परिचय/परम्परा-परिचय आवश्यक लगता है। इसके न होने से महाकाव्य में एक कमी-सी परिलक्षित होती है।

इन बिन्दुओं की ओर समुचित ध्यान दिए जाने पर इस महाकाव्य की महत्ता और प्रभावकता काफी बढ़ सकती थी। इस महाकाव्य के महाकवि का महाभिवन्दन।

'बोलती माटी'

'मूकमाटी' की कुछ विशेषताओं के परिधान में १९९५ में 'बोलती माटी' काव्य प्रकाशित हुआ है। उसके एक परामर्शदाता ने इसके प्रकाशन के पूर्व उसकी पाण्डुलिपि को जलाकर प्रायश्चित करने तक का सुझाव दिया था, पर उसे अमान्य कर दिया गया। फलतः यह काव्य कितना लोकप्रिय हुआ होगा, यह चर्चनीय है। इसमें 'मूकमाटी' में वर्णित तेरह सैद्धान्तिक एवं चर्यात्मक चर्चाओं को विशिष्ट पन्थ की मान्यताओं के आधार पर व्याख्यायित किया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि विभिन्न आचार/चर्याएँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार परिवर्तनीय रही हैं। इन परिवर्तनों में ही जीवन्तता निहित होती है। इनके विषय में मान्यताएँ व्यक्ति, विद्वान् या साधुजन के विवेक पर निर्भर करती हैं। अनेक प्राचीन और अर्वाचीन जैन शास्त्र अनेक प्रकार के सैद्धान्तिक विरोधाभासों से भरे पड़े हैं। उन्हें दूर करने के लिए मात्र केवली को ही समर्थ माना गया है। फलतः महाकाव्य में वर्णित विचारधाराएँ या मन्तव्य अनेकान्त दृष्टि से ही विचारणीय हैं। इस दृष्टि से मुझे लगता है कि 'मूकमाटी' की मूकता में जो सरसता और प्रेरकता है, वह 'बोलती माटी' में दिखाई नहीं देती। फिर भी, इसकी सचित्र एवं अनुकृत काव्य शैली पाठकों को किंचित् आनन्द तो देती ही है।

❑

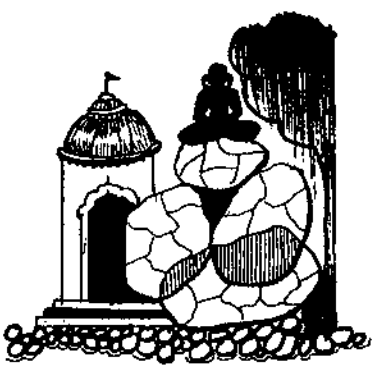

पृ. ४८३
निसर्ग से ही
सुन्-पोधु की भाँति
भिन्न-भिन्न उपमा पा.
तुम ने क्यों को.....
हुआ ?

जीवन और दर्शन की सार्थक अभिव्यक्ति का महाकाव्य– 'मूकमाटी'

डॉ. हुकुमचन्द राजपाल

आचार्य श्री विद्यासागर विरचित महाकाव्य 'मूकमाटी' को जितनी बार समीक्षा के लिए पढ़ा एक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न रचना प्रतीत हुई। कवि ने एक ऐसे विषय को इसमें संयोजित किया है जो अब तक अछूता रहा है। चार प्रमुख खण्डों में विभाजित ४८८ पृष्ठों का यह महान् काव्य, जिसे हम 'महान् काव्य' अथवा 'दर्शन काव्य' कहना चाहेंगे, कवि की महत्त्वपूर्ण काव्योपलब्धि है। कथ्य एवं प्रस्तुति की दृष्टि से यह काव्य सर्वथा नवीन है। माटी, कुम्भ, नदी, झारी, शिल्पी कुम्भकार, स्वर्णकलश, सेठ आदि के माध्यम से दार्शनिक कवि ने अत्यन्त रोचक एवं व्याख्यात्मक ढंग से इस काव्यकृति के कथ्य को प्रस्तुत किया है। सही अर्थों में माटी मूक है, सब कुछ सहती है पर कवि की दृष्टि में वह महान् है, उसकी गरिमा, वर्चस्व से दृष्टि ओझल होना अपने आपसे धोखा है। कवि की विशिष्टता इस बात में है कि वे प्रत्येक पक्ष को एक सम्यक् आधार प्रदान करते हैं - सायास कुछ भी नहीं। अनुभूत सत्य को सपाट एवं संश्लिष्ट दोनों धरातल पर व्यंजित किया गया है। माटी मूक है पर वह है गुणों की खान ही। वे मानते हैं, यदि माटी के स्वभाव धर्म में अत्यल्पकाल के लिए अन्तर आ जाए तो प्रलय आ जाती है। इसे वे 'विश्व के श्वासों का विश्वास ही समाप्त'से प्रस्तुत करते हैं (पृ. ३६५)। कथ्य-प्रस्तुति का अपना अन्दाज है। वे मानते हैं :

''माटी स्वयं भीगती है दया से/और/औरों को भी भिगोती है।
माटी में बोया गया बीज/समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित/सहस्र गुणित हो फलता है।'' (पृ. ३६५)

इसीलिए सभी दृष्टियों से प्रस्तुत काव्य में कवि का मूल प्रतिपाद्य माटी की विशिष्टता प्रतिष्ठापित करना है। माटी से कुम्भ निर्माण की एक लम्बी प्रक्रिया है। माटी को कुम्भ रूप में आते-आते अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं – वह अपना रूप सहज मूक बदलती रहती है तथा उससे निर्मित कुम्भ को पका कर पवित्र कलश की सम्पूर्ण प्रक्रिया को कवि ने सहज भाव विभोरता की स्थिति में मूर्तिमान् किया है। यथास्थान कुम्भ एवं स्वर्ण कलश के वार्तालाप से कुम्भ एवं माटी के महत्त्व को दर्शाया है। यही कारण है कि इसे पढ़ते हुए जहाँ पाठक इससे रसास्वादन करता है, अनुभूति के क्षणों में विचरता है, वहाँ उसे अनेक दार्शनिक व्याख्याओं का बोध होता है। हम इस समस्त पाठन प्रक्रिया को संवेदनात्मक ज्ञान की प्रक्रिया मानते हैं। संवेदना और ज्ञान का मणि-कांचन संयोग है। काव्य के सभी गुणों से युक्त इस कृति में ज्ञान का अद्भुत भण्डार है–संगीत शास्त्र, औषधि विज्ञान, लोकानुभव की सटीक उक्तियाँ, वैज्ञानिकता के धरातल की नवीन अवधारणाएँ, अंक विज्ञान का चमत्कार आदि को इसमें यथास्थान देखा जा सकता है। यही कारण है इसे हम हिन्दी महाकाव्य की परम्परा में नवें दशक की काव्य-परम्परा की विलक्षण कृति मानते हैं। मुक्तछन्द में इतने बड़े फलक पर इसकी रचना अपने आप में एक उपलब्धि है। हाँ, महाकाव्य के स्वीकृत सभी गुणों - तत्त्वों की समाविष्टि का कहीं-कहीं अभाव होना स्वाभाविक है, पाठकीय संवेदना में भी बाधा आनी सहज है। कारण, आम पाठक यहाँ तक कि तथाकथित बुद्धिजीवी वर्ग भी इन समस्त दार्शनिक अवधारणाओं अथवा प्रस्तुतियों से कहाँ परिचित है। इस महाकाव्य को यदि परम्परित तत्त्वों - गुणों से थोड़ा हट कर विवेचित किया जाए तो इसका सही मूल्यांकन हो सकेगा। यहाँ हम कुछ संकेत ही दे रहे हैं।

लक्ष्मीचन्द्र जैन ने अपने 'प्रस्तवन' में इस महाकाव्य की पहचान बड़े मनोयोग एवं सटीक धरातल पर की है।

माटी की वेदना - व्यथा पहले की बीस-तीस पंक्तियों में इतनी तीव्रता और मार्मिकता से व्यक्त हुई है कि करुणा साकार हो जाती है। माँ-बेटी का वार्तालाप क्षण-क्षण में सरिता की धारा के समान अचानक नया मोड़ लेता जाता है और दार्शनिक चिन्तन मुखर हो जाता है। प्रत्येक तथ्य तत्त्व दर्शन की उद्भावना में अपनी सार्थकता पाता है, यथा : '' 'मूकमाटी' की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इस पद्धति से जीवन-दर्शन परिभाषित होता जाता है। दूसरी बात यह कि यह दर्शन आरोपित नहीं लगता, अपने प्रसंग और परिवेश से उद्घाटित होता है" (प्रस्तवन, पृ.VI)। जिन बिन्दुओं की ओर श्री जैन संकेत करते हैं तथा उनका यथासम्भव समाधान प्रस्तुत करते हैं, उनसे हमारी पूर्ण सहमति है। पर पाठकीय संवेदना को इन्होंने अपने रूप में मान लिया है। सचमुच यह महाकाव्य सर्वथा नवीन विषय एवं प्रस्तुति पर आधारित है। इसके आधार पर महाकाव्य के नए मानदण्ड स्थापित होंगे, ऐसा हमारा विश्वास है। इसकी समझ तथा सही पहचान के लिए दार्शनिक अवधारणाओं का बोध अपेक्षित है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

''व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी आधि से है
और/आधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी उपाधि से।
इसे उपधि की आवश्यकता है/उपाधि की नहीं, माँ !
इसे समधी - समाधि मिले, बस !/अवधि - प्रमादी नहीं।
उपधि यानी/उपकरण - उपकारक है ना !
उपाधि यानी/परिग्रह - अपकारक है ना !'' (पृ. ८६)

इस प्रकार के अनेक सन्दर्भ - पक्ष इसे दार्शनिक अथवा व्याख्या काव्य की कोटि में ले जाते हैं तथा पाठकीय संवेदना एवं पैठ की विशिष्टता की माँग करते हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे उदाहरण भी देना चाहते हैं जो पाठकीय दृष्टि से उल्लेख्य हैं। ऐसे संकेत - सन्दर्भ उल्लेख से लोक-मानस भली-भाँति परिचित है, यथा :

- *"लक्ष्मण-रेखा का उल्लंघन/रावण हो या सीता*
  राम ही क्यों न हों/दण्डित करेगा ही !" (पृ. २१७)
- *"अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले/रावण जैसे शत्रुओं पर,*
  रणांगण में कूदकर/राम जैसे/श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही
  कलियुग में सत्-युग ला सकता है।" (पृ. ३६२)
- *"जिस भाँति/लक्ष्मण की मूर्च्छा टूटी*
  अनंग-सरा की मंजुल अंजुलि के/जल-सिंचन से।"(पृ. ४६७)
- *"रावण ने सीता का हरण किया था/तब सीता ने कहा था।" (पृ. ४६८)*
- *"हनूमान अपने सर पर/हिमालय ले उड़ रहा हो !" (पृ. २५१)*

कुछ दार्शनिक व्याख्या - स्थलों के अतिरिक्त सम्पूर्ण काव्य सहज एवं बोधगम्य है। गहन से गहन अनुभव को कवि ने अत्यन्त सरल रूप में प्रस्तुति प्रदान की है, यथा :

- *"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।*

और/अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···!" (पृ. ९३)

- *"पर से स्व की तुलना करना/पराभव का कारण है*
  दीनता का प्रतीक भी ।" (पृ. ३३९)

'मूकमाटी' में रचयिता ने अनेक परिभाषाओं और उक्तियों से अनेक पक्षों को स्पष्ट किया है, यथा :

- *"संप्रेषण वह स्वाद है/जिससे, कि/सद्भावों की पौध/पुष्ट-सम्पुष्ट होती है*
  उल्लास-पाती है;/संप्रेषण वह स्वाद है;/जिससे कि/तत्त्वों का बोध
  तुष्ट-सन्तुष्ट होता है/प्रकाश पाता है।" (पृ. २३)
- *"धरती शब्द का भी भाव/विलोम रूप से यही निकलता है –*
  ध···र···ती ती···र···ध/यानी,/जो तीर को धारण करती है
  या शरणागत को/तीर पर धरती है।/वही 'धरती' कहलाती।" (पृ. ४५२)
- *"सब कुछ तज कर,/वन गये/नग्न, अपने में मग्न बन गये*
  उसी ओर···/उन्हीं की अनुक्रम-निर्देशिका/भारतीय संस्कृति है
  सुख-शान्ति की प्रवेशिका है।" (पृ. १०३)
- *"प्रमाद पथिक का परम शत्रु है।" (पृ. १७२)*
- *"अध्यात्म स्वाधीन नयन है।" (पृ. २८८)*
- *"रोग का शोधन है नीरोगता।" (पृ. ३५३)*

'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता ने इसमें अनेक उक्तियों, सार्थक वक्तव्यों एवं सटीक सारगर्भित परिभाषाओं के द्वारा जहाँ दार्शनिक कवि होने का परिचय दिया है, वहाँ प्रकृति के अनेक स्थल विशेष रमणीय सन्दर्भ इस काव्य की शोभा की श्रीवृद्धि में सहायक रहे हैं। वैसे समस्त काव्य ही प्रकृति का खेल प्रतीत होता है। माटी, कंकर, कुम्भ, नदी, चन्द्रमा, सूर्य, पर्वत, पवन, सभी ऋतुएँ प्रकृति की विविधता के परिचायक हैं। फिर इसमें कवि ने इन्हें मानवीय आधार प्रदान किया है, नाटकीय शैली में अपने अनुभवों को मूर्तिमान् करना चाहा है। माटी के विभिन्न रूप और उसकी महत्ता इसमें द्रष्टव्य है। हमें इस कवि का शिल्प-पक्ष अर्थात् प्रस्तुति विलक्षण एवं नवीन प्रतीत हुई है। शब्द-क्रीड़ा नहीं वरन् शब्द-सार्थकता पर बल रहा है, तभी वे कहते हैं :

"चलना, अनुचित चलना/और कुचलना/ये तीन बातें हैं।
प्रसंग चल रहा है कुचलने का/कुचली जायेगी माँ माटी ···!
फिर भला/क्या कहूँ, क्यों कहूँ/किस विधि कहूँ पदों को?
और, गम्भीर होती है रसना।" (पृ. ११७)

कथा-विकास के प्रचलित सभी साधनों को कवि ने अपनाया है। संवाद तथा नाटकीय शैली के कारण इसमें गति आई है तथा पाठक सहज से आत्मसात् कर पाए हैं। अलंकारों की प्रस्तुति में विशेष भूमिका रही है। कवि शब्द की सार्थकता, महत्ता एवं व्यापकता से भलीभाँति परिचित है। भाषा अधिकार विशेष द्रष्टव्य है :

- *"भवन-भूत-भविष्य-वेत्ता/भगवद्-बोध में बराबर भास्वत है।" (पृ. ११६)*
- *"कुम्भ के व्यंगात्मक वचनों से/राजा का विशाल भाल/एक साथ*
  तीन भावों से भावित हुआ—/लज्जा का अनुरंजन,
  रोष का प्रसारण-आकुंचन,/और/घटना की यथार्थता के विषय में
  चिन्ता-मिश्रित चिन्तन।" (पृ. २१८)
- *"कुम्भ के अंग-अंग से/संगीत की तरंग निकल रही है,/और*
  भूमण्डल और नभमण्डल ये/उस गीत में तैर रहे हैं।
  ...उसके मन में शुभ-भाव का उमड़न/बता रहा है सबको कि,
  अब ना पतन, उत्पतन.../उत्तरोत्तर उन्नयन-उन्नयन/नूतन भविष्य-शस्य
  भाग्य का उघड़न...!" (पृ. २९९)

'वैखरी' की व्याख्या अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। मध्यमा सर्व-साधारण श्रुति का विषय हो वैखरी कहलाना तथा पात्र के अनुसार अर्थ-भेद के साथ शब्द-भेद को स्पष्ट करते हुए कवि कहते हैं :

"सज्जन-मुख से निकली वाणी/'वै' यानी निश्चय से।
'खरी' यानी सच्ची है,/सुख-सम्पदा की सम्पादिका।
मेघ से छूटी जल की धारा/इक्षु का आश्रय पाकर/क्या मिश्री नहीं बनती ?
और/दुर्जन-मुख से निकली वाणी/'वै' यानी निश्चय से
'खली' यानी धूर्ता-पापिनी है,/सारहीना विपदा-प्रदायिनी
वही मेघ से छूटी जल-धारा/नीम की जड़ में जाकर
क्या कटुता नहीं धरती ?" (पृ. ४०३)

इस प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जिनसे इस काव्य को 'व्याख्यात्मक कथा काव्य' अथवा 'दर्शन काव्य' स्वीकारना उचित प्रतीत होता है। कथा-विकास सहज एवं स्वाभाविक ढंग से हुआ है तथा प्रत्येक पात्र माटी, कुम्भ, शिल्पी, स्वर्ण कलश, नदी आदि का सम्यक् परिचय पाठक को मिल जाता है। लक्ष्मीचन्द्र जैन ने भूमिका में इस काव्य के नायक-नायिका का प्रश्न रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है : "माटी तो नायिका है ही, कुम्भकार को नायक मान सकते हैं...किन्तु यह दृष्टि लौकिक अर्थ में घटित नहीं होती। यहाँ रोमांस यदि है तो आध्यात्मिक प्रकार का है। कितनी प्रतीक्षा रही है माटी को कुम्भकार की, युगों-युगों से, कि वह उद्धार करके अव्यक्त सत्ता में से घट की मंगल-मूर्ति उद्घाटित करेगा। मंगल-घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है जो काव्य के पात्र, भक्त सेठ, की श्रद्धा के आधार हैं।...काव्य के नायक तो यही गुरु हैं किन्तु स्वयं गुरु के लिए अन्तिम नायक हैं अर्हन्त देव : "जो मोह से मुक्त हो जीते हैं/राग-रोष से रीते हैं/जनम-मरण जरा-जीर्णता/जिन्हें छू नहीं सकते अब.../... सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं/अष्टादश दोषों से दूर...]" (प्रस्तवन, पृ.VI-VII)।

हमारी दृष्टि में प्रस्तुत काव्य में नायक-नायिका की समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है— ऐसे 'अध्यात्म' 'दर्शन' काव्य में इस प्रकार की चर्चा का कोई अर्थ नहीं होता। सम्पूर्ण काव्य कवि, दार्शनिक कवि, जिन्हें हम संवेदनात्मक ज्ञान का कवि मानते हैं, की अनुभूति, अनुभव, दर्शन तथा अध्यात्म की अवधारणाओं की प्रस्तुति है। जीवन और दर्शन के अनेक प्रश्नों को इस कथा काव्य में सही आधार पर समझाने का सफल प्रयत्न है। कवि की इन

पंक्तियों को जीवन का मूलाधार माना जा सकता है :

- *"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय/अनुकूलता की प्रतीक्षा करना सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)*
- *'पुरुष' यानी आत्मा–परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य–प्रयोजन है आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४६)*

इसमें सेठ के द्वारा किए गए अनेक प्रश्न कवि के सम्मुख रहे हैं, सभी का समाधान वे एक आध्यात्मिक, दार्शनिक व्याख्याता, संवेदनशील कवि की भाँति करते हैं। हम अपनी सीमा से भलीभाँति परिचित हैं तथा इसकी समीक्षा भी अन्य महाकाव्य की भाँति नहीं की जा सकती– इसका सम्यक् बोध हमें है। यही कारण है कि हिन्दी महाकाव्य परम्परा में मुक्त छन्द–प्रस्तुति और नवीन विषय (कथ्य) के कारण इस महाकाव्य को दार्शनिक कवि की एक विलक्षण उपलब्धि मानते हैं। मुक्तछन्द में छन्दबद्धता जैसी लय, प्रवाह है, भीतरी अन्विति से सम्पूर्ण काव्य रोचक बना है। हम कविश्री के सम्मुख नतमस्तक हैं।

❑

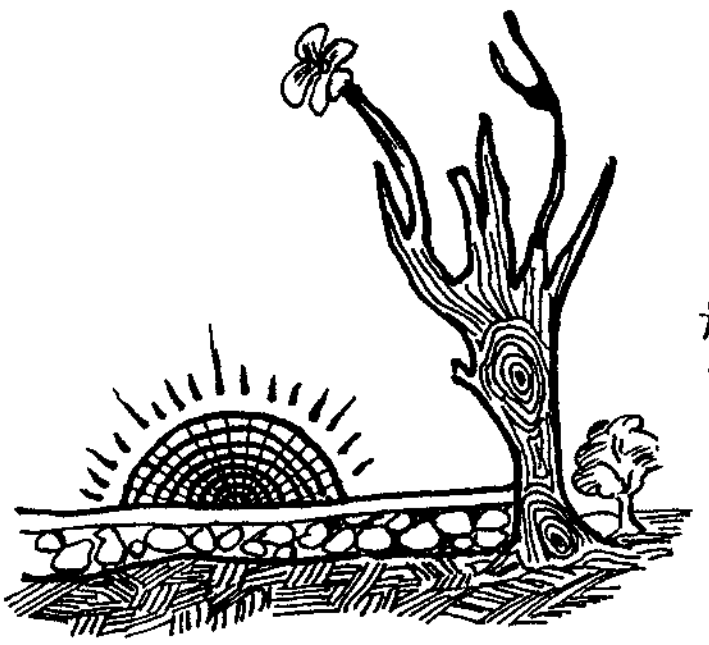

उदात्त साधना का महाकाव्य 'मूकमाटी' : एक दृष्टि

डॉ. उमा शंकर शुक्ल

जैनाचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' उदात्त साधना की विकास यात्रा का मनोरम आख्यान है। इस महाकाव्य में वर्णित साधना लौकिक और अलौकिक दोनों ही धरातलों पर युगपत् अग्रसर दृष्टिगोचर होती है। कर्मशील मनुष्य संयमपूर्वक अपने कर्त्तव्य का परिपालन करके जहाँ पार्थिव समृद्धि की ऊँचाई तक पहुँचता है, वहीं वह अन्त:साधना करके विशिष्ट चेतनाशक्ति से संवलित होकर ऊर्ध्वलोक के आध्यात्मिक शिखरों पर सफलतापूर्वक आरोहण करता है। यही इस चामत्कारिक महाकाव्य 'मूकमाटी' का प्रशस्त और महत् सन्देश है। मूक मिट्टी दुर्बल 'मनुष्य' को सत्कर्म साधना में प्रवृत्त होने की सम्प्रेरणा देकर उसे अध्यात्म के चरम उत्कर्ष पथ अर्थात् शिव सोपान पर अग्रसर होने और पहुँचने को प्रतीकित करती है। इस महाकाव्य की वैचारिक भूमि व्यापक और पुष्ट है। अध्यात्म प्रधान काव्य होने पर भी इसमें नवीन युगबोध है और शिल्प के धरातल पर सपाटबयानी, शब्द क्रीड़ा का कौतुक तथा नव-नव अर्थच्छवियों का आकर्षण भी। इसमें प्रयुक्त मुक्त छन्द में आन्तर लय, अतुकान्तता और सतुकान्तता की अनेक रंग-रेखाएँ यत्र-तत्र सहज ही उभरी हैं। इसकी कथावस्तु अत्यन्त सामान्य है किन्तु कवि की वर्णनाशक्ति ने उसे विशिष्ट, सप्राण और प्रभावकारी बना दिया है। इसके कथासूत्र का मूल उत्स ज्ञानमार्गी सन्त कबीर और लोकनायक रामभक्त कवि तुलसी के निम्नांकित स्वरों में भी झंकृत मिलता है :

- *"गुरु कुम्हार सिष कुम्भ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट।*
  अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट॥"
- *"बिनु गुरु होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।*
  गावहिं बेद पुरान, सुख कि लहिय हरि भगति बिनु॥"

इस महाकाव्य की कथावस्तु चार खण्डों में विभाजित की गई है। इसके प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' में मिट्टी के संस्कार की प्रक्रिया वर्णित है, जिससे उसकी संकरता अर्थात् विकारयुक्त वस्तुओं की मिलावट समाप्त होती है और उसे शुद्ध, मृदुल, सहज वर्ण की उपलब्धि होती है। द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में मिट्टी के उत्खनन की क्रिया का रोचक वर्णन है। कुम्हार अपनी कुदाली से मिट्टी खोदना प्रारम्भ करता है। अकस्मात् उसकी कुदाली का प्रहार एक काँटे पर होता है और वह आहत होकर प्रतिशोध की भावना से भर उठता है। किन्तु बाद में जब कुम्हार को अपनी असावधानी का ध्यान आता है तो उसे पश्चाताप होता है और वह आत्मग्लानि का अनुभव करता है। इस खण्ड में कवि ने साहित्य, संगीत, रस, प्रकृति निरूपण आदि का बहुविध परिचय दिया है। तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' के अन्तर्गत मिट्टी की अथक साधना द्वारा पुण्योपलब्धि की मांगलिक स्थिति की प्राप्ति का आख्यान है। चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में गुरु रूपी कुम्हार द्वारा उसे घट रूप देकर परिपक्व बनाने के सन्दर्भ में कठोर सन्ताप दिए जाने का वर्णन है। यहाँ कथावस्तु बहुआयामी हो उठी है। विविध पार्थिव-अपार्थिव मनोभूमियों पर अगणित भावनाओं-विचारों का आविर्भाव-तिरोभाव यहाँ कवि की विलक्षण कल्पनाशक्ति तथा सूक्ष्म-निगूढ़ तत्त्वचिन्तन को बहुश: रेखांकित करता है। अन्तत: कृतिकार ने अपने उदात्त लक्ष्य का उद्घाटन भी मार्मिक ढंग से इस प्रकार किया है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।/और
मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित ···अजित!" (पृ. २४५)

उक्त 'यथाकार' शब्द में शुद्ध चैतन्य आत्मस्वरूप के बोध का आध्यात्मिक संकेत निहित है। इस महाकाव्य में यथास्थान आधुनिक युगबोध भी झलकता-झाँकता दिखता है। उदाहरणार्थ— चतुर्थ खण्ड में अधिकारासक्ति, धन लिप्सा, आतंकवाद की वर्तमान समस्या और वर्तमान जीवन के अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ भी उकेरे गए हैं और साथ ही उनके समाधान का सूक्ष्म निर्देश भी किया गया है। कवि विविध दलों की राजनीति के घृणित, कुत्सित रूप को उजागर करता हुआ कहता है :

- *"दल-बहुलता शान्ति की हननी है ना!/जितने विचार, उतने प्रचार*
  उतनी चाल-ढाल/हाला घुली जल-ता/क्लान्ति की जननी है ना!" (पृ. १९७)
- *"तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए/कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए*
  सब कुछ अनर्थ घट सकता है!" (पृ. १९७)

आज के ह्रासोन्मुख जीवन मूल्यों की स्थिति बड़ी भयावह होती जा रही है। कवि की दृष्टि उस पर भी पड़ी है:

"हाय रे!/समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र!" (पृ. २१२)

इस काव्य कृति में अनेकानेक जीवनोपयोगी सूक्ति रत्न भी बिखरे पड़े हैं जिनकी दीप्ति से कवित्व जगमगाता दृष्टिगोचर होता है, यथा :

- *"तन का नियन्त्रण सरल है/और/मन का नियन्त्रण असम्भव तो नहीं,*
  तथापि/वह एक उलझन अवश्य है/कटुक-पान गरल है वह···।" (पृ. १९८)
- *"धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों से/गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।" (पृ.२०४)*
- *"तीर मिलता नहीं बिना तैरे।"(पृ. २६७)*
- *"आत्म-साक्षात्कार सम्भव नहीं तब,/सिद्ध-मन्त्र भी मृतक बनता है।"*
  (पृ. २९५)

आज नगरों में अनेक ध्यान केन्द्र भी खुलते सुनाई देते हैं किन्तु मात्र केन्द्र स्थापन से कुछ भी होने का नहीं। सच्ची साधना यात्रा तो विराम और अनन्त होती है :

- *"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना/इन दोनों में बहुत अन्तर है—*
  ध्यान के केन्द्र खोलने-मात्र से/ध्यान में केन्द्रित होना सम्भव नहीं।"(पृ. २८६)
- *"निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर*

बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

'अध्यात्म' के स्वरूप के प्रति कवि की दृष्टि बहुत स्पष्ट है। वह संघर्षी जीवन से ही उदात्त जीवन बोध का मार्ग निकालने का पक्षधर है :

"स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।/बहिर्मुखी या बहुमुखी प्रतिभा ही
दर्शन का पान करती है,/अन्तर्मुखी, बन्दमुखी चिदाभा
निरंजन का गान करती है।" (पृ. २८८)

इस प्रकार यह महाकाव्य विविध जीवनव्यापी तथ्यों और सत्यों का उद्‌घाटन करने में समर्थ है। भाषा, भाव और शिल्प सभी दृष्टियों से इसमें पर्याप्त नवीनता है। हाँ, कहीं-कहीं शाब्दिक खिलवाड़ या चमत्कार सृष्टि की बलवती स्पृहा ने भाव-गाम्भीर्य को क्षति अवश्य पहुँचाई है। समग्रत: कवि का यह प्रयास श्लाघनीय है। वह साधुवाद का अधिकारी है।

❑

पृ. १८
करवटें बदल रही-
.... उपयोगकी बात... !

आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि : 'मूकमाटी'

डॉ. मालती जैन

आचार्य श्री विद्यासागरजी की अनुपम कृति 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी काव्य-साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। इस विशालकाय ग्रन्थ को यदि अध्यात्म, विज्ञान और काव्य की त्रिवेणी की संज्ञा से अभिहित किया जाए तो अतिशयोक्ति न होगी। यह सरस मर्मस्पर्शी काव्यकृति इस परिप्रेक्ष्य में और अधिक विस्मयकारी प्रतीत होती है कि इसके सृजन का उत्स एक सन्त का वीतराग हृदय है, जो इस भौतिक संसार से उदासीन है। राग और विराग, हृदय और मस्तिष्क दोनों का ऐसा विचित्र सम्मिलन दुर्लभ नहीं तो अतिशय प्रयत्नसाध्य अवश्य है। रचनाकार ने जहाँ एक ओर अध्यात्म के अथाह सागर में डुबकियाँ लगाकर गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्तों के मौक्तिक ढूँढ़ निकाले हैं, वहाँ दूसरी ओर एक सहृदय भावुक कवि की आँखों से इस संसार-सागर की उत्ताल तरंगों के नर्तन को भी निहारा है। यह सम्पूर्ण प्रकृति उसे माया प्रतीत नहीं होती अपितु प्रकृति नटी के प्रत्येक क्रियाकलाप में उसे कुछ मौन सन्देश श्रवणगत होता है। कहना न होगा, उसका विरागी मन प्रकृति में खूब रमा है।

इस महाकाव्य की मूल संवेदना का आधार भी प्रकृति ही है। संकोचशीला, लाजवती, लावण्यवती, पददलिता, सुख-मुक्ता, दु:ख-युक्ता सरिता तट की माटी, इस महाकाव्य की नायिका है, जो मुमुक्षु आत्मा का प्रतीक है। माँ धरती के सम्मुख यह मूक माटी मुखर होती है, व्यक्त करती है अपनी अव्यक्त पीड़ा को इन शब्दों में :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?" (पृ. ५)

कितनी करुणा है उसके इस आकुल निवेदन में !

"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

धरती, जो अन्तश्चेतना का प्रतीक है, माटी को आस्था के तारों पर साधना की उँगुलियाँ चलाने का उपदेश देती है और इस तरह रचनाकार बड़े रोचक ढंग से जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग:' का प्रतिपादन कर देता है।

धरती माटी को यह शुभ सन्देश भी देती है कि कल के स्वर्णिम प्रभात में कुम्भकार उसे पतित से पावन बनाने आएगा। उसे समर्पण भाव समेत, उसके सुखद चरणों में प्रणिपात करके अपनी मुक्ति-यात्रा का सूत्रपात करना है। कुम्भकार गुरु का प्रतीक है। वह मिट्टी को साधना मार्ग रूपी गदहे पर लादकर अपनी योगशाला रूप धर्मस्थली में ले आता है। माटी के लोंदे से कुम्भ के रूप में परिणत होने की प्रक्रिया में, माटी को कठिन अग्नि परीक्षा से गुज़रना होता है। इस कष्ट सहन में छिपा है जैन दर्शन का यह त्रैकालिक सत्य :

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी
स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि/न हुई, न होगी।" (पृ. २६६)

माटी का परिपक्व कुम्भ के रूप में परिवर्तित होना परिष्कृत आत्मा का ज्ञान प्राप्त करना है। कथा के अन्त में यह ज्ञानी आत्मा वीतरागी सन्त के चरणों में समर्पित होकर मुक्त हो जाती है :

"महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···/और माहौल को
अनिमेष निहारती-सी/···मूक-माटी।" (पृ. ४८८)

आनन्द की इस चरम स्थिति में महाकाव्य का पर्यवसान पाठक को आत्मविभोर कर देता है। महामौन में सन्त का डूबना और माटी का मूक होकर अनिमेष निहारना कितना मनोवैज्ञानिक है ! इस अतिशय आनन्द को जिह्वा क्यों कर वर्णित कर पाएगी ?

"When the heart is full, the tongue is dumb."

जब शब्द हार जाते हैं, तब मौन मुखर होता है। अलौकिक आनन्द का यह वातावरण हमें अनायास महाकवि जयशंकर प्रसाद के महाकाव्य 'कामायनी' (आनन्द सर्ग) की निम्न पंक्तियों का स्मरण दिला देता है :

"समरस थे जड़ या चेतन/सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती/आनन्द अखण्ड घना था।"

विवेच्य कृति को निस्सन्देह रूपक काव्य कहा जा सकता है जो अँग्रेजी के Allegory का पर्याय है। इस प्रकार की रचना में प्राय: एक द्वयर्थक कथा होती है जिसका एक अर्थ प्रत्यक्ष और दूसरा गूढ़ होता है। सम्पूर्ण महाकाव्य में रूपक तत्त्व के निर्वाह में कवि को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कवि का यह वर्णन कौशल उसे प्रसिद्ध सूफी कवि जायसी के समकक्ष प्रतिष्ठापित करता है, जिनके प्रसिद्ध महाकाव्य 'पदमावत' में रत्नसेन और पदमावती की कथा के माध्यम से सूफी सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। गुरु की महत्ता के प्रतिपादन और साधना पथ के कष्टों की अनिवार्यता के सम्बन्ध में दोनों महाकाव्यों में पर्याप्त साम्य है। 'मूकमाटी' का कुम्भकार और पदमावत का हीरामन तोता दोनों ही सांसारिक आत्मा के परिष्कार में, गुरु की भूमिका का निर्वाह करते हैं। पदमावती रूपी परमात्मा के निवास स्थान सिंघल द्वीप पहुँचने में राजा रत्नसेन का सातों समुद्रों को पार करना साधना पथ के विभिन्न उपसर्ग और परीषहों को सहन करना है।

इस काव्यकृति की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि पाठकों के ऊपर अध्यात्म थोपा नहीं गया है अपितु वह कथा सूत्र के माध्यम से प्रसंगवश अनायास व्याख्यायित होता चला गया है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं। स्फटिक की झारी और माटी के कुम्भ के मध्य होने वाली नोंक-झोंक में, कितनी सहजता और सरलता से जैन दर्शन के अनुसार सम्यग्ज्ञान की व्याख्या कर दी गई है :

" 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,
और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।" (पृ. ३७५)

आज तक उपादान और निमित्त का विवेचन बड़ा विवादास्पद और नीरस रहा है। आचार्यश्री ने रस्सी की सहायता से नदी पार करने वाले सेठ परिवार के संवादों के माध्यम से इस शुष्क एवं क्लिष्ट विषय का कितना स्पष्ट एवं तार्किक विवेचन किया है :

"उपादान-कारण ही/कार्य में ढलता है/यह अकाट्य नियम है,
किन्तु/उसके ढलने में/निमित्त का सहयोग भी आवश्यक है,
इसे यूँ कहें तो और उत्तम होगा कि/उपादान का कोई यहाँ पर
पर-मित्र है"तो वह/निश्चय से निमित्त है।" (पृ. ४८१)

अनेकान्त या स्याद्वाद भारतीय दर्शन को जैन दर्शन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देन है। अनेकान्त के सिद्धान्त को न समझने वाले इसे अनिश्चयवाद की गर्हित संज्ञा प्रदान करते हैं। कवि ने कुम्भ के मुखमण्डल पर अंकित 'ही' और

'भी' इन दो अक्षरों के द्वारा अनेकान्त का कितना बोधगम्य विवेचन किया है, यथा :

''अब दर्शक को दर्शन होता है—/कुम्भ के मुख मण्डल पर
'ही' और 'भी' इन दो अक्षरों का।/ये दोनों बीजाक्षर हैं,
अपने-अपने दर्शन का प्रतिनिधित्व करते हैं।
'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,
तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो !/और,/'भी' का कहना है कि
हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ !/'ही' देखता है हीन दृष्टि से पर को
'भी' देखता है समीचीन दृष्टि से सब को।'' (पृ. १७२-१७३)

कवि का प्रमुख लक्ष्य जैन धर्म के तात्त्विक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का विवेचन करना है। उसे कथा-प्रसंगों के मध्य जहां कहीं भी अवसर मिला है, उसने बड़ी कुशलता से रोचक ढंग से अपनी बात कह दी है। जैन मुनि के आहार-ग्रहण की विधि, जलगालन विधि एवं जैन साधुओं की चर्या से सम्बन्धित अन्य क्रिया-कलाप, सभी के मनोहारी शब्द-चित्र इस कृति में प्राप्त होते हैं। जैन साधु की आहार-विधि का एक चित्र देखें :

'' 'भो स्वामिन् !/नमोस्तु ! नमोस्तु ! नमोस्तु !
अत्र ! अत्र ! अत्र !/तिष्ठ ! तिष्ठ ! तिष्ठ !'
यूँ सम्बोधन-स्वागत के स्वर/दो-तीन बार दोहराये गये।'' (पृ. ३२२)

इस महाकाव्य का एक उल्लेखनीय आकर्षण यह है कि अध्यात्म जैसे गम्भीर विषय से सम्पृक्त होने पर भी यह सामयिक युग-बोध से अछूता नहीं है। निस्सन्देह इसका रचनाकार 'कोलाहल की अवनि से दूर' प्रकृति की सुरम्य गोद में बैठकर आत्मचिन्तन में लीन रहता है किन्तु वह अपने चतुर्दिक् परिवेश से उदासीन नहीं है। अपनी पैनी दृष्टि से वह वर्तमान समाज की विसंगतियों का सूक्ष्म निरीक्षण करता है और गम्भीर चिन्तन के उपरान्त प्रस्तुत करता है ज्वलन्त समस्याओं का स्वीकार्य समाधान। परिणामस्वरूप इस महाकाव्य में वर्तमान युग की सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक आत्मा स्पन्दित होती हुई दृष्टिगत होती है। मत्कुण और सेठ के संवाद में कवि ने बहुओं पर अत्याचार और श्रमिकों का शोषण जैसी घृणित प्रथाओं पर तीखे व्यंग्य किए हैं :

''परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।/प्रायः अनुचित रूप से/सेवकों से सेवा लेते
और/वेतन का वितरण भी अनुचित ही।/ये अपने को बताते
मनु की सन्तान !/महामना मानव !'' (पृ. ३८६-३८७)

आज की सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या आतंकवाद पर भी कवि ने अपने विचार प्रकट किए हैं और कुछ भयानक चित्र भी प्रस्तुत किए हैं, यथा :

- *''जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती*
  धरती यह,/ये आँखें अब/आतंकवाद को देख नहीं सकतीं,
  ये कान अब/आतंक का नाम सुन नहीं सकते।'' (पृ. ४४१)

- *"कठोर कर्कश कर्ण-कटु/शब्दों की मार सुन*
  दशों-दिशायें बधिर हो गईं,/नभ-मण्डल निस्तेज हुआ।" (पृ. २३२)

काव्य के कलापक्ष की कसौटी पर भी यह कृति खरी उतरती है। इसकी भाषा व्याकरणनिष्ठ, खड़ी बोली है, जिसमें यथास्थान संस्कृत के तत्सम, तद्भव और उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। प्रसंगवश बोलचाल के ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी कवि ने किया है जिससे भाषा में सुकुमारता, ध्वन्यात्मकता और संगीतात्मकता का समावेश हुआ है। कतिपय उदाहरण देखें : "सर पर पल्ला नहीं है" (पृ. १); "जो सरपट सरक रही है" (पृ. ३); "उजली-उजली जल की धारा" (पृ. ८); "बोधि की चिड़िया वह/फुर्र क्यों न कर जायेगी ?/क्रोध की बुढ़िया वह/गुर्र क्यों न कर जायेगी" (पृ. १२); हिम की डली खा लेता है" (पृ. ५४)।

भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। लोकोक्तियों को छन्द के साँचे में फिट करने में कवि का कौशल प्रशंसनीय है। "बिन माँगे मोती मिले/माँगे मिले न भीख"(पृ. ४५४); "पूत का लक्षण पालने में" (पृ. १४ एवं ४८२); "गागर में सागर"(पृ. ४५३); "भीति बिना प्रीति नहीं "(पृ. ३९१); "पानी-पानी हो जा"(पृ. ५३) आदि लोकोक्तियों एवं मुहावरों ने भाषा को लाक्षणिक सौन्दर्य प्रदान किया है।

प्रसंगवश अनेक जैन एवं बौद्ध मन्त्रवाक्य भी भाषा में गूँथे गए हैं। "धम्मं सरणं गच्छामि"(पृ. ७०); "परस्परोपग्रहो जीवनाम्"(पृ. ४१); "धम्मो दया-विसुद्धो"(पृ. ७०); "खम्मामि, खमंतु मे"(पृ. १०५) आदि ऐसे ही प्रयोग हैं। कतिपय स्थलों पर कवि के अपने कथन ही गम्भीर अर्थवत्ता के कारण सूक्ति बन गए हैं। जैसे– "बिना सन्तोष, जीवन सदोष है" (पृ. ३३९); "असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है..." (पृ. ९); "पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है" (पृ. ३३); "स्व की उपलब्धि ही सर्वोपलब्धि है" (पृ. ३४०)।

विवेच्य कृति के अभिव्यक्ति कौशल का सबसे बड़ा आकर्षण शब्दों के साथ कवि की खिलवाड़ है। कवि ने शब्दों की परतों को भेदकर उनमें मौलिक अर्थों की प्रतिष्ठापना इस चातुर्य से की है कि कवि के उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना चमत्कार दोनों की दाद देनी पड़ती है। उदाहरणार्थ :

- *"हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७३)*
- *"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।" (पृ. ९२)*
- *"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में*
  बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)
- *"यह निन्द्य कर्म करके/जलधि ने जड़-धी का,*
  बुद्धि-हीनता का, परिचय दिया है।" (पृ. १८९)

इस प्रकार के पचासों उदाहरण गिनाए जा सकते हैं। शब्दों के ये व्युत्पत्तिपरक मौलिक अर्थ मन को चमत्कृत करते हैं। शब्दों के विलोमार्थ भी इतने सटीक हैं कि कवि के बुद्धि चातुर्य का लोहा मानना पड़ता है, यथा :

- *"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही*
  विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५७)
- *"राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?*
  रा···ख···ख···रा !" (पृ. ५७)
- *"स्व की याद हो/स्व-दया है/विलोम-रूप से भी*

यही अर्थ निकलता है/या···द···द···या !'' (पृ. ३८)

शब्दों के साथ कवि की क्रीड़ा सर्जनात्मक है, विध्वंसात्मक नहीं। 'कलशी' शब्द के साथ कवि की क्रीड़ा उसे रीतिकालीन कवियों के समकक्ष ला खड़ा करती है, जिनका भाषा चातुर्य आश्चर्य का विषय है। कवि ने प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'कलशी' शब्द का प्रयोग किया है किंचित् रूप परिवर्तन के साथ और इस रूप परिवर्तन से छोटी-सी कलशी में विभिन्न अर्थों का सागर समा गया है। देखें :

''ओरी कलशी !/कहाँ दिख रही है तू/कल···सी ?
केवल आज कर रही है/कल की नकल-सी !
...अकल के अभाव में/पड़ी है काया अकेली
कला-विहीन विकल-सी।'' (पृ. ४१७)

यद्यपि काव्य की रचना मुक्त छन्द में हुई है किन्तु इसमें गीतात्मकता का अभाव नहीं है। सर्वत्र स्वर, ताल और लय का संगम दृष्टिगत होता है। कहना न होगा लय के मोह में कहीं-कहीं ऐसे ग्रामीण शब्दों का प्रयोग भी किया गया है जो किंचित् खटकते हैं।

कवि अलंकारों का बादशाह है। सभी शब्दालंकार और अर्थालंकार उसके समक्ष हाथ जोड़े खड़े रहते हैं। कहीं अनुप्रास की रुन झुन सुनाई देती है तो कहीं रूपक का वैभव बिखरा पड़ा है; कहीं श्लेष का चमत्कार है तो कहीं उपमा, उत्प्रेक्षाओं की लड़ी गुँथी है। अनेक स्थलों पर कवि ने नितान्त नवीन उपमाओं का प्रयोग किया है। देखें :

- *''लवणभास्कर चूरण-सी/पंक्तियाँ काम कर गईं।'' (पृ. ४४३)*
- *''तरल-तरंगों से रहित/धीर गम्भीर हो बहने लगी,*
  हावों-भावों-विभावों से मुक्त/गत-वयना नत-नयना
  चिर-दीक्षिता आर्या-सी !'' (पृ. ४५५)
- *''कुम्भ के मुख पर प्रसन्नता है/प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण*
  परिश्रमी विनयशील/विलक्षण विद्यार्थी-सम।'' (पृ. ४५५)

ये मौलिक उपमाएँ कवि के सन्त परिवेश की उपज हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों ही दृष्टियों से सन्त कवि की यह काव्यकृति आधुनिक कविता को एक नया आयाम देती है। कवि की अनुभूति जितनी गहरी है, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही प्रभविष्णु है। यह कविता कवि के हृदय से निस्सृत हुई है, इसलिए हृदय तक पहुँचती है। अध्यात्म की गंगा, काव्य की कालिन्दी और शिल्प की सरस्वती को अपने में समेटे यह कृति, कृतिकार के नाम को सार्थकता प्रदान करती हुई स्वयं विद्या का सागर बन गई है। इसमें अवगाहन करने वालों पर कवि बिहारी की निम्न पंक्ति अक्षरशः लागू होती है :

''अनबूड़े बूड़े, तरे जे बूड़े सब अंग।''(९४)

❑

'मूकमाटी' : संग्रहणीय एवं चिन्तन-मनन के योग्य उत्तम काव्य कृति

प्रो. (डॉ.) छबिनाथ तिवारी

जैनाचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' धर्म, दर्शन और अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर रचित एक ऐसी काव्य कृति है जो 'माटी' जैसे सामान्य पदार्थ को महाकाव्यात्मक अभिव्यक्ति का विषय बनाने में समर्थ हुई है ! लगभग ५०० मुद्रित पृष्ठों में फैली हुई रचना साधारण (माटी) की निरीहता, उपेक्षा, सन्त्रास, व्यथा और चिन्ता को इतना महनीय बना देती है कि वह किसी ख्यात इतिहास या पौराणिक चरित की समता में भी श्लाघ्य लगती है।

साधारण किंवा तुच्छ (माटी) की मूक वेदना और स्वातन्त्र्य चेतना को वाणी देना विरक्त या निर्लेप व्यक्तित्व की अथवा साधक की जागरूक साधना की फलश्रुति होती है, क्योंकि उनकी समभाव युक्त सम्यक् दृष्टि साधारण के मर्म को पढ़ लेने में सहज समर्थ होती है। इस निकष पर आलोच्य कृति खरी उतरती है। आचार्य विद्यासागर की ऋषिवत् करुण दृष्टि मिट्टी की अटल सत्ता और भव्यता की सही पहचान इस कृति में करती दिखाई देती है। जिस प्रकार कोई कुम्हार मिट्टी को शुद्ध कर, उसमें यथोचित मीसन (जामन) डालकर, गीला कर, उसे मचाकर, तदनन्तर उसमें श्रम का अर्घ्य चढ़ा कर उसे मृदु बना लेता है, चक्के पर चढ़ा कर आकार देता है फिर आँवे की आँच से श्याम से रक्तिम आभा देकर अर्चना का मंगल-घट बनाकर, मिट्टी को सर्वथा वन्दनीय बना देता है। तद्वत् आचार्य विद्यासागर इस कृति में माटी को न केवल मंगल रूपाकृति देते दिखाई देते हैं अपितु साधारण की जीवन-यात्रा को सार्थक परिणति भी प्रदान करते हैं। ग्रन्थान्त में आई हुई ये पंक्तियाँ सर्वथा अवलोक्य हैं :

"बन्धन-रूप तन, / मन और वचन का / आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है। / इसी की शुद्ध-दशा में / अविनश्वर सुख होता है
जिसे / प्राप्त होने के बाद, / यहाँ / संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ !" (पृ. ४८६-४८७)

वस्तुतः सन्त कवि अपनी चिन्तनधारा के अनुरूप ही जीवन के चरम लक्ष्य को परिभाषित करता है। अन्य जन उसके जीवनानुभवों से समस्वरता स्थापित करें या न करें, कदाचित् सन्त कवि को यह अचिन्त्य ही है।

'मूकमाटी' काव्य चार बृहत् खण्डों में विभक्त किया गया है– खण्ड पहला– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; दूसरा- 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं;' तीसरा– 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन;' चौथा– 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

प्रथम खण्ड में सन्त कवि ने शीर्षक के नामकरण के अनुरूप मिट्टी की वर्ण-संकरता को दूर कर उसे वर्णलाभ अर्थात् शुद्ध दशा में पहुँचाने का यत्न किया है। वह कहता है :

"नीर का क्षीर बनना ही / वर्ण-लाभ है, / वरदान है। / और
क्षीर का फट जाना ही / वर्ण-संकर है / अभिशाप है।" (पृ. ४९)

द्वितीय खण्ड में कवि ने मिट्टी के मार्दव में निर्मल जल के मिलन को नव प्राण पाने का उपक्रम बताया है। जल अज्ञानी है। माटी जैसे महाज्ञानी के चरणों में बैठ कर वह नवज्ञान पा जाता है।

इस खण्ड में सन्त कवि के साहित्यिक परिज्ञान का प्राकट्य भी होता है। उसने नव रसों की अपनी परिभाषाएँ दी हैं। ऋतु वर्णन की परंम्परा का अंदाज़े-बयाँ कुछ भिन्न ही है। द्रष्टव्य है एक दृश्य चित्र :

"जहाँ कहीं भी देखा / महि में महिमा हिम की महकी, / और आज !

घनी अलिगुण-हनी/शनि की खनी-सी···/भय-मद अघ की जनी
दुगुणी हो आई रात है।/आखिर असर रहा है/यह शिशिर सबको।" (पृ. ९१)

इन पंक्तियों में कवि की भाषा का प्रतिनिधि रूप भी दिखाई देता है। एक ओर तो वह महि, महिमा, हिम, अलिगुण, शनि, अघ जैसे तत्सम शब्दों का प्रयोग करता दिखाई देता है, दूसरी ओर वह द्विगुणित का तद्भव रूप 'दुगुणी' का प्रयोग करता है और तीसरी ओर 'आखिर' और 'असर' जैसे अरबी शब्दों का प्रयोग अभीत भाव से कर रहा है। कुल मिलाकर भाषा प्रयोग में कवि को आभिजात्य की नहीं, जन की चिन्ता है, अतएव उसकी भाषा बोलचाल के निकट मिश्रित ही कही जा सकती है जो प्रेषणीयता के निकष पर खरी उतरती है।

इस खण्ड में कवि ने जैन दर्शन के 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' को परिभाषित करते हुए कहा है :

"आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है,
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य···!" (पृ. १८५)

सूत्रों की भाषा को सहज, सरल जनभाषा में अभिव्यक्ति दे पाना कलाकार की रचनात्मक श्रेष्ठता की अभिज्ञापक है।

'मूकमाटी' के तृतीय खण्ड में रचनाकार ने उन आयामों का उल्लेख किया है जिनके अनुपालन से पुण्य का उपार्जन होता है और जिनमें —क्रोध, मान, माया, लोभ आदि में- आसक्ति से पाप संचित होता है। वस्तुतः इस खण्ड में माटी की विकास कथा के फलक पर पुण्य कर्म के सम्पादन से व्युत्पन्न स्पृहणीय उपलब्धि का अंकन किया गया है। चतुर्थ खंण्ड में कुम्भकार द्वारा संस्कारित माटी को घटाकार दिया जाकर आँवे की आँच में दीक्षित करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया को काव्यबद्ध किया गया है।

लघु का विराट् में परिवर्तन का उपक्रम है चतुर्थ खण्ड। फलतः फलक का विस्तार, कथा प्रसंगों का वैविध्य उसकी रोचकता और चिन्तनगत उदात्तता को बढ़ा देते हैं। बात में बात की नूतन उद्भावना, तत्त्व चिन्तन के गिरि-मेरु, जिज्ञासा और शोध के परिणामों की चाकचिक्य, निर्जीव पूजन सामग्री में चेतना का अवतरण और वार्तालाप की प्रक्रिया—कथानक में नाटकीयता का सन्निवेश आदि का अजायबघर है यह खण्ड।

रचनाकार का सन्त हृदय और मस्तिष्क बहुत कुछ कह जाने और समझा देने के प्रयास में पूर्वापर तालमेल बनाए रखने में गड़बड़ा जाता है। समीक्षक के लिए यह स्थिति दुर्लंघ्य नहीं तो असुविधाकर तो है ही और पाठक के लिए कदाचित् अबूझ।

'मूकमाटी' में अध्यात्म, दर्शन, सन्त आचरण आदि ही व्याख्यायित नहीं हुए हैं अपितु अधुना जीवन की आतंकवाद जैसी समस्या को भी उठाया गया है, जिसका निदान हृदय परिवर्तन जैसी पारम्परिक विधि से सुझाया गया है। हाँ, इतना अवश्य है कि अभिधा शैली में निदान नहीं हैं, वे हैं लाक्षणिकता और व्यंग्यार्थ के फलक पर!

विद्यासागरजी की इस कृति में ज्ञान मार्ग, योग मार्ग प्रभृति की शब्दावली का तो पदे-पदे प्रयोग है— अष्टादश दोष, नासाग्र दृष्टि, कायोत्सर्ग, सप्तभय आदि। किन्तु इच्छानुसार शब्द रचना का आग्रह भी उनमें दिखाई देता है— 'मूकमाटी' के पृष्ठ ३२८ पर प्रयुक्त 'वैकारिक' शब्द (विकारग्रस्त) के लिए, पृष्ठ ३२९ पर सुरभि (सुगन्ध) के बल पर दुरभि (कदाचित् दुर्गन्ध) शब्दों के प्रयोग कहाँ तक स्वीकरणीय होंगे, विचार्य हैं।

वैसे 'मूकमाटी' सर्वथा संग्रहणीय और सतत चिन्तन-मनन के योग्य उत्तम काव्य कृति है।

□

'मूकमाटी' : एक जीवनदर्शी काव्य

डॉ. र. वा. बिवलकर

आचार्य विद्यासागर द्वारा विरचित 'मूकमाटी' एक प्रबन्ध काव्य है। एक धर्मचेता साधक, जब सर्जनशील साहित्यिक के रूप में साहित्य कृति की सर्जना करता है तो यह स्वाभाविक ही हो जाता है कि रचना उसके धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म चिन्तन के प्रभाव को भी सहज अभिव्यक्ति दे जाय। 'मूकमाटी' प्रबन्ध काव्य में यही तथ्य उजागर होता है।

'मूकमाटी' काव्य एक जीवनदर्शी काव्य है। जीवन वह नहीं, जो हम जी रहे हैं वरन् वह, जो हमें जीना चाहिए। मानव जीवन की यात्रा इस काव्य में कवि ने अन्यान्य प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत की है। मनुष्य की जीवन यात्रा का आरम्भ मृण्मय शरीर धारण से है। उसमें विद्यमान चेतन जीवन्तता का संस्कार है और जीवन की कृतार्थता का अनुभव करने पर जीवन का अन्त - मिट्टी में मिलने में ही है। कवि ने जीवन यात्रा की इन अवस्थाओं का संकेत इस काव्य में किया है। काव्य के अन्त में धरती के द्वारा कुम्भ के लिए सम्बोधन कराया गया है :

''माँ सत्ता को प्रसन्नता है, बेटा/तुम्हारी उन्नति देख कर
मान-हारिणी प्रणति देखकर।/'पूत का लक्षण पालने में"
कहा था न बेटा, हमने/उस समय, जिस समय''
तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया/जो/कुम्भकार का संसर्ग किया
सो/सृजनशील जीवन का/आदिम सर्ग हुआ।
जिसका संसर्ग किया जाता है/उसके प्रति समर्पण भाव हो,
उसके चरणों में तुमने/जो/अहं का उत्सर्ग किया/सो
सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ।
समर्पण के बाद समर्पित की/बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं
और''सुनो !/खरी-खरी समीक्षायें होती हैं,/तुमने अग्नि-परीक्षा दी
उत्साह साहस के साथ/जो/सहन उपसर्ग किया,/सो
सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।
परीक्षा के बाद/परिणाम निकलता ही है/पराश्रित-अनुस्वार, यानी
बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को/तुमने ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वमुखी/जो
स्वाश्रित विसर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।
निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।'' (पृ. ४८२-४८३)

समग्र काव्य में एक विशेष जीवन दृष्टि हमारे सामने प्रस्तुत है। जीवन की घटना में, संस्कार में संगति तथा संगति दोषों का अपना महत्त्व होता है। वे गीली मिट्टी के समान संस्कार-क्षम मानव चेतना को मोड़ देते हैं, परिवर्तित कर देते हैं तो बिगाड़ भी देते हैं। पानी की एक बूँद सागर जल में मिलकर खारी बनती है तो विषधर के मुँह में विष-हलाहल बनती है तथा सागरीय शुक्तिका में अगर स्वाति नक्षत्र का काल है तो मोती बनती है। एक ही जलीय सत्ता के

त्रिविध रूप बन जाते हैं :

''जैसी संगति मिलती है/वैसी मति होती है/मति जैसी, अग्रिम गति
मिलती जाती···मिलती जाती···/और यही हुआ है/युगों-युगों से
भवों-भवों से !'' (पृ. ८)

इस क्रम में कोई परिवर्तन न तो आया है और न ही आने की सम्भावना है।

जल तत्त्व का एक स्वभाव होता है कि वह फैलता जाता है किन्तु माटी की संगति उसमें बदलाव प्रस्तुत कर ही देती है :

''अलगाव से लगाव की ओर/एकीकरण का आविर्भाव
...जलतत्त्व का स्वभाव था—/वह बहाव
इस समय अनुभव कर रहा है ठहराव।/...अस्थिर को स्थिरता मिली
अचिर को चिरता मिली/नव-नूतन परिवर्तन···!'' (पृ. ८९)

हिंसा-अहिंसा पर भी एक सुन्दर विवेचना कवि ने प्रस्तुत की है :

''हिंसा की हिंसा करना ही/अहिंसा की पूजा है···प्रशंसा,/और
हिंसक की हिंसा या पूजा/नियम से/अहिंसा की हत्या है···नृशंसा।''(पृ. २३३)

जीवन में विकास—उन्नति सहज नहीं है :

''परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !'' (पृ. २६६)

जीवन में अग्नि परीक्षा देने पर भी दुनिया बिना परखे स्वीकार नहीं करती :

''यह सच है कि/तुमने अग्नि-परीक्षा दी है,/परन्तु
अग्नि ने जो परीक्षा ली है तुम्हारी/वह कहाँ तक सही है,
यह निर्णय/तुम्हारी परीक्षा के बिना सम्भव नहीं।/यानी,
तुम्हें निमित्त बनाकर/अग्नि की अग्नि-परीक्षा ले रहा हूँ।'' (पृ.३०३-३०४)

जीवन में परीक्षक की परीक्षा भी अनिवार्य हो जाती है।

एक कुशल शिल्पी, कण-कण के रूप में बिखरी माटी को नाना रूप प्रदान करता है। यह उसका शिल्प ही है जो बिना अर्थ की बात को सार्थक बनाता है, अर्थवान् बना देता है। यही उसका कर्म है। उसने अपनी संस्कृति को विकृत नहीं बनाया है। वह शिल्पी से कुम्भकार बना :

''युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।'' (पृ. २८)

जाति विषयक चिन्तन भी इस काव्य में दृष्टिगोचर होता है। सहधर्मी और सजाति में वैर-वैमनस्य का भाव सदैव देखा जाता है :

> *"सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !*
> *श्वान, श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ*
> *गुर्राता है बुरी तरह।" (पृ. ७१)*

किन्तु यह भी सत्य है कि अपनी जाति, वर्ग के लोग ही अन्त में काम आते हैं :

> *"अन्त समय में/अपनी ही जाति काम आती है*
> *शेष सब दर्शक रहते हैं/दार्शनिक बन कर !" (पृ. ७२)*

आज लोक व्यवहार में भी दोहरापन सर्वत्र दिखाई देता है :

> *" 'मुँह में राम/बगल में छुरी'/बगुलाई छलती है।*
> *दया का कथन निरा है/और/दया का वतन निरा है*
> *एक में जीवन है/एक में जीवन का अभिनय।/अब तो···*
> *अस्त्रों, शस्त्रों, वस्त्रों/और कृपाणों पर भी/'दया-धर्म का मूल है'*
> *लिखा मिलता है।/किन्तु,/कृपाण कृपालु नहीं हैं/वे स्वयं कहते हैं*
> *हम हैं कृपाण/हम में कृपा न !" (पृ. ७२-७३)*

गुणों का सम्मान और दोषों के साथ द्वेष करना एक लोक व्यवहार है। कवि इससे सहमत नहीं है। इसी से उनका कथन है :

> *"गुणों के साथ/अत्यन्त आवश्यक है/दोषों का बोध होना भी,/किन्तु*
> *दोषों से द्वेष रखना/दोषों का विकसन है/और/गुणों का विनशन है;*
> *काँटों से द्वेष रख कर/फूल की गन्ध-मकरन्द से/वंचित रहना*
> *अज्ञता ही मानी है,/और/काँटों से अपना बचाव कर*
> *सुरभि-सौरभ का सेवन करना/विज्ञता की निशानी है/सो···*
> *विरलों में ही मिलती है !" (पृ. ७४)*

युगीन परिवेश के विषय में भी कवि ने अपने विचार 'मूकमाटी' में व्यक्त किए हैं, जो द्रष्टव्य हैं :

- *"क्या इस समय मानवता/पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता*
  आ उभरी है···?/लग रहा है कि/मानवता से दानवत्ता/कहीं चली गई है ?
  और फिर/दानवता में दानवत्ता/पली ही कब थी वह ?" (पृ. ८१-८२)
- *" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इस व्यक्तित्व का दर्शन--/स्वाद - महसूस*
  इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब···!/यदि वह सुलभ भी है
  तो भारत में नहीं,/महा-भारत में देखो !

भारत में दर्शन स्वारथ का होता है।" (पृ. ८२)

समकालिक जीवन पर एक सटीक व्यंग्य यहाँ प्रस्तुत है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है/'वसु'यानी धन-द्रव्य
'धा' यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

सत्युग एवं कलियुग की व्याख्या करते हुए कवि ने अपने चिन्तन की तथा अभिव्यक्ति की नपी-तुली कुशलता भी प्रदर्शित की है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/ और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् मानने वाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

इसी दृष्टि को अधिक स्पष्ट करते हुए कवि का प्रतिपादन है :

"एक की दृष्टि/व्यष्टि की ओर/भाग रही है,/एक की दृष्टि/समष्टि की ओर
जाग रही है,/एक की सृष्टि/चला-चपला है/एक की सृष्टि/कला-अचला है।
एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,/एक का जीवन
अमृत-सा लगता है/कान्ति युक्त शिव है।/शव में आग लगाना होगा,
और/शिव में राग जगाना होगा।" (पृ. ८४)

'मूकमाटी' के आरम्भ में प्रकृति का मनोरम वर्णन कवि ने प्रस्तुत किया है, जो प्रतिपाद्य के पार्श्वभूमि के यथायोग्य ही है। द्रष्टव्य है :

"निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है
भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है
माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।
प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है
सर पर पल्ला नहीं है/और/सिंदूरी धूल उड़ती-सी
रंगीन राग की आभा—/भाई है, भाई···!" (पृ. १)

निशा का अवसान, उषा की शान, सूरज की नींद का टूटना, उसका करवटें लेना, प्राची के अधरों की मुस्कान, मुग्धा नायिका का मनोरम रूप—प्रभातकालीन प्रकृति का मूर्तीकरण अतीव सुन्दर बन पड़ा है।

काव्य में कवि ने संवाद शैली, वार्तालाप शैली का ही मुख्यत: प्रयोग किया जिससे मुक्त छन्द में होते हुए भी एक प्रवाहात्मकता विद्यमान है। श्लेष, उपमा, रूपक तथा प्रतीकों के सफल प्रयोग को काव्य में सर्वत्र देखा जा सकता है। शब्दों का विलोम प्रयोग और उससे निर्मित भिन्न, विपरीत अर्थ छटाएँ कवि की रचना शैली की विशिष्टता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ
···बस,/और कुछ वांछा नहीं/गद-हा··गदहा···!" (पृ. ४०)

गदहा की अर्थगत तुच्छता गद-हा यानी रोगहारक, रोग निवारक के रूप में उन्नत हो गई है।

"यही मेरी कामना है/कि/आगामी छोरहीन काल में
बस इस घट में/काम ना रहे !" (पृ. ७७)

कामना और काम ना का यह एक सार्थक प्रयोग है।

विलोम रूप प्रयोग : (१) लाभ–भला (पृ.८७) (२) नाली–लीना (पृ.१७८) (३) नदी–दीन (पृ.१७८) (४) राही–हीरा (पृ.५७) (५) राख–खरा (पृ.५७)।

'मूकमाटी' के काव्य रूप के सम्बन्ध में भी यहाँ कुछ कहना चाहिए। इसमें दो मत नहीं हो सकते हैं कि यह एक प्रबन्ध काव्य है। महाकाव्य, खण्डकाव्य आदि प्रबन्ध काव्य के भेदों का विचार करते हुए यह भी स्पष्ट है कि यह महाकाव्य की श्रेणी में रखने योग्य है। आपत्ति उठाई जा सकती है कि महाकाव्य के जो लक्षण आचार्यों ने प्रतिपादित किए हैं उसमें से कतिपय लक्षण इस काव्य में उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, जैसे– सर्ग संख्या, छन्द योजना आदि। कुछ लक्षण नहीं मिलते तो इसके लिए किसी रचना को विशिष्ट काव्य रूप से बहिष्कृत करना तर्कसंगत नहीं है। प्रतिभा की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता का वह अपमान है।

काव्य समीक्षण के मापदण्ड भी परिवर्तनीय हैं। परिवर्तन सृष्टि का नियम है, अत: काव्य समीक्षण के मापदण्ड उसके लिए अपवाद नहीं हो सकते। सर्जनशील रचना के स्तर निर्धारण में मापदण्ड सहायक है। सहायक प्रमुख पद के दावेदार कैसे हो सकेंगे। 'महाकाव्य' की धारणा में मुझे लगता है मुख्यत: 'महत्' तत्त्व का विचार किया जाना चाहिए। वही उसकी आत्मा है। शेष तत्त्व अपनी जगह ठीक हो सकते हैं किन्तु वे आंशिक हैं। यह महत् तत्त्व किसी एक आयाम में हो तो महाकाव्य की मान्यता उस काव्य को प्राप्त होनी चाहिए। वस्तु, पात्र, प्रतिपाद्य, शैली तो आयाम हैं किसी प्रबन्ध काव्य के। और क्या हम कवि प्रतिभा से भी यह कांक्षा रख सकते हैं कि वह नियम के दायरों में अपना प्रस्फुटन करे।

'मूकमाटी' की महानता उसके प्रतिपाद्य के साथ, चिन्तन के साथ, जीवन दर्शन के साथ जुड़ी है और नि:शंक रूप से यह एक सफल महाकाव्य है।

❑

पृ. ७.
सेना ग्राह्यता होती है ....
... वट के रूप में अवतार लेता है,
यही इसकी महत्ता है।

हिन्दी का गौरव ग्रन्थ : 'मूकमाटी'

प्राध्या. डॉ. (श्रीमती) मुक्ता सिंघेल

आचार्य विद्यासागरजी कई वर्षों से साहित्य-साधना में रत हैं और उन्होंने अनेक कृतियों की रचना की है। उनके कृतित्व पर शोध कार्य भी हुआ है। 'मूकमाटी' का प्रकाशन सन् १९८८ में भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली से हुआ है। ४८८ पृष्ठों के इस बृहदाकार काव्य ग्रन्थ को महाकाव्य कहना समीचीन होगा। यदि हम साहित्य शास्त्र के आधार पर महाकाव्य को कसौटी पर कसना चाहें तो महाकाव्य के सभी तत्त्वों की दृष्टि से खरा उतरेगा। चार खण्डों में विभक्त 'मूकमाटी'का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है।

'मूकमाटी' का प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' शीर्षक से सज्जित है। इस खण्ड में घट को मंगल-घट बनाने की प्रक्रिया के माध्यम से जीवन घट को परम पुनीत सात्त्विक जीवन बनाने की ओर इंगित किया है। मंगल घट बनाने की प्रक्रिया में माटी की प्रारम्भिक दशा का चित्रण है, जिसमें कंकर-कणों से युक्त दशा है। इन बेमेल तत्त्वों की युक्तता के कारण इसका स्वरूप वर्ण-संकर है। जीवन विकारों के प्रभाव से दूषित रहता है तथा साधना के माध्यम से विकारों को नष्टकर उसी तरह शुद्ध होता है जैसे माटी कंकरों से रहित होकर शुद्ध होती और कल्याणकारी घट बनता है। इसमें अध्यात्म के धरातल पर शरीर के गठन और जीवन को साधना के माध्यम से लोक-मंगल लक्ष्य में तल्लीन एवं पूर्ण करने की प्रक्रिया को व्यक्त किया है। जिस तरह जब तक माटी में से कंकरों को अलग कर माटी शुद्ध नहीं कर लेता तब तक कुम्भकार मंगल घट तैयार नहीं कर सकता, उसी प्रकार बड़ी ही सहजता से यहाँ जीवन का दृष्टिकोण निरूपित हुआ है। जब तक हम दुर्बलताओं और दूषित भावनाओं को नष्ट नहीं कर लेते तब तक अपने जीवन रूपी घट का मंगलरूप निर्माण नहीं कर सकते। कुम्भकार द्वारा कूप से पानी निकालते समय मन में उठने वाली भावनाओं की ओर बड़ी ही कुशलता और सजीवता से ध्यान आकृष्ट किया है। हिंसा से बचने के लिए पूर्ण सतर्कता का चित्रण करते हुए माटी की पावनता व्यक्त की है। बालटी में पानी के साथ मछली आ जाती है। हिंसा से बचने के लिए पूर्ण सतर्कता दिखाते हुए मछली और माटी का वार्तालाप उल्लेखनीय है। कवि का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है :

''यहाँ पर इस युग से/यह लेखनी पूछती है/कि/क्या इस समय मानवता
पूर्णतः मरी है ?/क्या यहाँ पर दानवता/आ उभरी है···?
लग रहा है कि/मानवता से दानवत्ता/कहीं चली गई है ?
और फिर/दानवता में दानवत्ता/पली ही कब थी वह ?'' (पृ. ८१-८२)

आज आत्मा का हनन, मानवता का पतन और मानवीय मूल्यों में जो अवमूल्यन लक्षित हो रहा है, उसे बड़े ही सरल और स्पष्ट रूप से कवि ने कह दिया है।

'मूकमाटी' में दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' शीर्षक से बद्ध है। यह निर्विवाद रूप से प्रतीकात्मक ही है। कवि ने स्पष्ट करना चाहा है कि उच्चारण मात्र 'शब्द' है और शब्द का सम्पूर्ण अर्थ समझना 'बोध' है। इस बोध को पूर्ण रूप से ग्रहण करना 'शोध' है। अक्षर-ज्ञान और अर्थ-ज्ञान जीवन के सही अर्थ को उजागर नहीं करते। इनके आधार पर प्राप्त ज्ञान को जीवन की गहराई से जोड़कर जब हम जीवन में कल्याणमार्गी विचारों और आचरण को सात्त्विकता और उदात्तता की परिधि में उतारते हैं, साधारण और असाधारण के अन्तर को समझकर अध्यात्म के मार्ग पर मानवता की प्रधानता स्थापित करते हैं, तब बोध का शोध पूर्ण होता है। कुम्भकार की कुदाली

मिट्टी खोदते समय एक काँटे के माथे पर लग जाती है और उसका सिर फट जाने के कारण वह प्रतिशोध लेना चाहता है। तब कुम्भकार को अपनी असावधानी पर अत्यधिक ग्लानि होती है तथा उस समय उसके मन में भावधारा उमड़ पड़ती है। उदाहरणार्थ :

" बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी/लहलहाते नहीं।
...बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें/वह पक्व फल ही तो
शोध कहलाता है।/...फूल से नहीं, फल से
तृप्ति का अनुभव होता है।" (पृ. १०६-१०७)

आचार्यजी ने तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में स्पष्ट किया है कि मन, वचन एवं शरीर की निर्मलता, लोककल्याण-कामना और शुभ कार्यों के सम्पादन से पुण्य प्राप्त होता है किन्तु क्रोध, मान, माया, मोह एवं लोभ से पाप फलित होता है। मनुष्य विकारों को त्याग कर, मन पर अधिकार रख कर जब निःस्वार्थ भाव को प्राप्त करता है, स्व को भूलकर पर के लिए जीवन समर्पित करता हैं, तब ही वह पुण्य प्राप्त करता है। परमार्थ के लिए त्याग-भाव से लिप्त अर्जन सार्थक होता है तथा पुण्य के घट को भरता है। मोहवश संग्रह और लालसा ही पाप का आधार है। कवि ने संकेत किया है कि जब मेघमण्डल ने मुक्ता वृष्टि की तब राजा ने अपने सेवकों को मुक्ताराशि को बोरियों में भरने का आदेश दिया। किन्तु गगन में गुरु गम्भीर-गर्जना हुई- 'अनर्थ···अनर्थ···अनर्थ···। पाप···पाप।' राजा उस मुक्ता-राशि का अधिकारी नहीं बन सका। कुम्भकार ने वह मुक्ता-राशि राजा को समर्पित की। यहाँ कुम्भकार राजा से भी महान् है अपनी मोह-त्याग और परमार्थ की भावना के कारण। इस खण्ड में भाव-गाम्भीर्य के साथ-साथ अलंकृत शब्दावली के भी दर्शन होते हैं, उदाहरणार्थ :

"सुकृत की सुषमा-सुरभि को/सूँघना नहीं चाहते भूलकर भी,
विषयों के रसिक बने हैं/कषाय-कृषि के कृषक बने हैं
जल-धर नाम इनका सार्थक है।" (पृ.२२९)

अन्तिम चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' नामक है। इसका फलक अत्यन्त विस्तृत है तथा इसमें कथा-प्रसंग भी अधिक हैं। तत्त्वचिन्तन की दृष्टि से इस सर्ग का महत्त्व अधिक है। जीवन के सभी अंग को समेटते हुए प्राणियों को अमूल्य शिक्षा की गागर इस सर्ग में है। कथा के कारण रोचकता, तत्त्व-चिन्तन के कारण गम्भीरता, शब्द-चयन और काव्यकौशल से सरसता का निर्माण हुआ है। कुम्भकार ने घट तैयार कर उसे अवा में तपाना चाहा, तब अपरिपक्व कुम्भ ने अग्नि से अनुरोध किया कि वह उसके दोषों को ही जलाए किन्तु उसे जीवित रखे। आचार्यजी की इस सूझ में कितना बड़ा सत्य और सन्देश है कि शक्तिवान्, प्रबल की शक्ति की महानता इसमें है कि वह दुर्बल या विकारी के अस्तित्व को नहीं, दुर्बलता और विकारों को मिटा कर एक मंगलकारी अस्तित्व को प्रस्तुत करे। व्यक्ति को नहीं, उसके दोषों को मिटा कर धरा पर एक सज्जन की संख्या बढ़ाए। अवा में कई दिनों तक तपने के बाद उस कुम्भ को बाहर निकाल कर कुम्भकार ने हर्षपूर्वक श्रद्धालु नगर सेठ के सेवक को कुम्भ देकर अनुरोध किया कि इसमें भरे जल से गुरु का पाद-प्रक्षालन हो। इस खण्ड में लघु को बड़े से महत्त्वपूर्ण दर्शाते हुए स्पष्ट किया गया है साधु और मच्छर के माध्यम से। आहारदान की प्रक्रिया का विवरण देते हुए स्पष्ट किया है कि सेठ बन्धन मुक्त नहीं हो सका और उसे एक मच्छर के माध्यम से सामाजिक दायित्व का बोध हुआ तथा सेठ पुनः गुरु की शरण में गया। गुरु ज्ञान ही जीवन-उद्धार करता है। गुरु की कृपा से ज्ञात हुआ कि पुरुषार्थ से ही आत्मा का उद्धार सम्भव है। साधना आस्थापूर्वक हो तब

आत्मोपलब्धि होगी :

"इसीलिए इन/शब्दों पर विश्वास लाओ,/हाँ, हाँ !!
विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !" (पृ.४८८)

इस प्रकार 'मूकमाटी' महाकाव्य में काव्य एवं दर्शन का सहज समन्वय दृष्टिगोचर होता है। दल-बहुलता को दर्शाते हुए वर्तमान राजनीति और स्वार्थभाव का दूषित मानस संकेतित है। नायक-नायिका मांसल स्वरूपी या परिवेशवासी नहीं हैं अपितु प्रकृतिवादी हैं। अध्यात्म की गहनता से कुम्भकार नायक और माटी नायिका तो है परन्तु जीवनरूपी घट के निर्माण में साधनारत कर्मयोगी सदृश्य। महाकाव्य का नाम सार्थक, आकर्षक और आध्यात्मिकता की परतों में लिपटा हुआ है।

मूकमाटी को आधार बनाकर लिखी गई यह काव्यकृति हिन्दी के गौरव ग्रन्थों में निर्विवाद रूप से शीर्षस्थ स्थान प्राप्त करने योग्य है। मूकमाटी, जिससे मनुष्य का अस्तित्व निर्मित होता है, पोषित होता है और सँवर कर उसी में लीन होता है, उसी मूकमाटी का कुम्भ और कुम्भकार के माध्यम से जीवन सात्त्विक, कल्याणकारी दिशा प्राप्त कर सकता है।

'मूकमाटी' का मूक सन्देश आत्मिक बल से ग्रहण कर, त्याग व परमार्थ के आचरण से सार्थक कर, मानव-जीवन को सफल बनाया जा सकता है। माटी के दीया के सदृश्य उर में स्नेह भर जलन और कष्टों को पीकर अन्यों का मार्ग प्रशस्त कर गौरवशाली जीवन को धन्य किया जा सकता है।

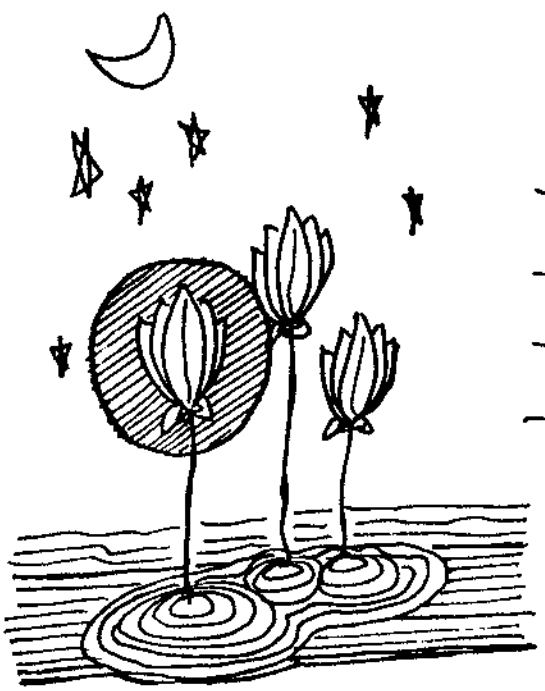

'मूकमाटी' में अभिव्यक्त समाजवादी विचार एवं दलितोत्थान के स्वर

डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'

श्रमण सन्त परम्परा के जाज्वल्यमान नक्षत्र १०८ आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज कृत 'मूकमाटी' महाकाव्य एक महाकृति ही नहीं, बल्कि धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक विचारों का ऐसा बीजक है जिसे वर्तमान में जिया जा सकता है, भविष्य में परखा जा सकता है और अतीत से जोड़ा जा सकता है। सन्त सहज होते हैं और उनका जीवन होता है सहजता का प्रतिबिम्ब। वे न तो कानों सुनी कहते हैं, न आँखों देखी बल्कि जिसे भोगा है, अनुभव किया है तथा शास्त्र और तर्क की कसौटी पर कस कर देखा है, उसे ही कहते हैं, इसीलिए उनके विचारों में गंगा जैसी ही नहीं वरन् गंगोत्री जैसी पावनता भी होती है। 'मूकमाटी' में माटी मूक नहीं होती बल्कि सम्पूर्ण रूप से मुखरित होती है। वह जन के मन को छूती है और तन को पावनता के चरम तक ले जाने की प्रेरक बन जाती है। व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि की कल्पना को सार्थक आयाम देती है। 'मूकमाटी' में समाजवादी विचार यत्र-तत्र प्रसंगवश बिखरे हुए हैं जिनकी सुरभि से आप भी सुरभित हो सकते हैं। 'मूकमाटी' में व्यक्त समाजवादी विचारों पर दृष्टि डालने से पूर्व हमें उसके शब्दगत यथार्थ को समझना चाहिए। 'समाजवाद' दो शब्दों से मिलकर बना है– 'समाज' एवं 'वाद'। 'वाद' से तात्पर्य है विचार या विचारधारा अर्थात् ऐसी विचारधारा जिसका लक्ष्य समाज-हित हो। 'समाजवाद' के लिए अँग्रेजी भाषा में 'सोशलिज़्म' शब्द का प्रयोग किया जाता है, जिसकी उत्पत्ति 'सोशियस' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ 'समाज' होता है अर्थात् इसका लक्ष्य भी समाज ही है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ सोशियॉलोजी' (पृ.२७) में सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री एफ. एच. गिडिंग्स का कथन है : ''समाज स्वयं एक संघ है, संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का एक ऐसा योग है जिसमें सहयोग देने वाले व्यक्ति परस्पर सम्बन्धों द्वारा जुड़े रहते हैं।''

'डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी' (पृ.३००) में उल्लिखित एच. पी. फेअर-चाइल्ड के अनुसार : ''समाज मनुष्यों का एक समूह है जो अपने कई हितों की पूर्ति के लिए परस्पर सहयोग करते हैं, अनिवार्य रूप से स्वयं को बनाए रखने व स्वयं की निरन्तरता के लिए।''

समाजवादी विचार उक्त समाज के लिए जन्मा, जिसे समाज हित में सर्वोपरि माना। सन् १८२७ ई. में प्रारम्भ हुआ यह शब्द आज एक विचारधारा बन चुका है और इसे व्यक्तिवाद, वर्गवाद के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाता है। लोकनायक जयप्रकाश नारायण (द्रष्टव्य : 'आधुनिक राजनीतिक विचारधाराएँ' : पुखराज जैन, पृ.११५) के अनुसार : ''समाजवादी समाज एक ऐसा वर्गहीन समाज होगा जिसमें सब श्रमजीवी होंगे। इस समाज में वैयक्तिक सम्पत्ति के हित के लिए मनुष्य के श्रम का शोषण नहीं होगा। इस समाज की सारी सम्पत्ति सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति होगी तथा अनर्जित आय और आय सम्बन्धी भीषण असमानताएँ सदैव के लिए समाप्त हो जाएँगी। ऐसे समाज में मानव जीवन तथा उसकी प्रगति योजनाबद्ध होगी और सब लोग सबके हित के लिए जीएँगे।''

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज 'समाजवाद' को विभिन्न दृष्टिकोणों से 'मूकमाटी' में रखते हैं। उनकी दृष्टि में यह :

> *''अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;*
> *कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।'' (पृ. ३२)*

अमीरी-गरीबी की खाई को चौड़ा करना समाजवाद नहीं बल्कि समाजवाद तो इस खाई को पाटने में है। पीड़ा के अन्त से ही सुख का प्रारम्भ हो सकता है :

> *''पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है।'' (पृ. ३३)*

चार वर्णों में समाज विभक्त है, यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रारम्भ में यह व्यवस्था कर्मणा थी। 'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा गया है :

"कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइस्सो कम्मुणा होइ सुद्दो होइ कम्मुणा॥" (२५-३१)

अर्थात् मनुष्य कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से ही शूद्र होता है।

किन्तु आज वर्ण व्यवस्था जन्मत: मान लेने से श्रेष्ठता के मायने भी बदल गए हैं। दलित-सवर्ण संघर्ष तथा भेदभाव के मूल में यही भावना है। आचार्यश्री 'वर्ण' को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं :

"वर्ण का आशय/न रंग से है/न अंग से/वरन्
चाल-चरण, ढंग से है।" (पृ. ४७)

कर्मणा जीवन पद्धति को स्वीकारने वाला व्यक्ति दु:खों से दूर रहता है। आचार्यश्री के अनुसार यदि गम (दु:ख) से डर हो तो श्रम से प्रेम करो :

"गम से यदि भीति हो/तो···सुनो !/श्रम से प्रीति करो।" (पृ. ३५५)

श्रमशील व्यक्ति न तो किसी पर बोझ बनता है और न ही किसी पर अन्याय करता है। वह व्यष्टि के सुख में सुख नहीं बल्कि समष्टि के सुख में सुख मानता है। 'वाद' के पीछे मान होता है जो व्यक्ति को व्यक्ति से अलग कर देता है। आचार्यश्री का मानना है :

"पृथक्-वाद का आविर्भाव होना/मान का ही फलदान है।" (पृ. ५५)

यह सही है। मनुष्य बनने के लिए संयमी होना आवश्यक है :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है
जो यथा-योग्य/सही आ···दमी है।" (पृ. ६४)

आज व्यक्ति की प्रवृत्तियाँ बदल गई हैं, उसके लक्ष्य बदल गए हैं, उसके सोच में परिवर्तन हुआ है। स्थिति यहाँ तक आ गई है कि उसे दूसरों के दु:ख देखकर करुणा तो दूर, दर्द भी नहीं उभरता। ऐसे लोगों को पाषाण हृदय की संज्ञा देते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

"मैं तुम्हें/हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा/परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,/दूसरों का दु:ख-दर्द
देखकर भी/नहीं आ सकता कभी/जिसे पसीना
है ऐसा तुम्हारा/···सीना !" (पृ. ५०)

भारतीय संस्कृति का आदर्श और कामना सूत्र रहा है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्॥"

यानी सभी सुखी हों, सभी आलस्य (प्रमाद) से रहित हों, सभी कल्याण को देखें, किसी को भी दुःख नहीं हो। इसी कामना के साथ सद्गृहस्थ देव पूजन के समापन पर विश्व-शान्ति की कामना करता हुआ कहता है :

''सम्पूजकों को प्रतिपालकों को, यतीन को यतिनायकों को।
राजा प्रजा राष्ट्र सुदेश को ले, कीजे सुखी हे जिन शान्ति को दे॥
होवे सारी प्रजा को सुख, बलयुत हो धर्मधारी नरेशा।
होवे वर्षा समय पै तिलभर न रहे व्याधियों का अंदेशा॥
होवे चोरी न जारी, सुसमय वरतै, हो न दुष्काल मारी।
सारे ही देश धारें, जिनवर-वृष को, जो सदा सौख्यकारी।''(शान्ति-पाठ, ६-७)

इतना ही नहीं भारतीय संस्कृति में विश्वशान्ति की कामना के साथ-साथ 'विश्व-बन्धुत्व' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना भी भायी गई है। किन्तु आज के इस विषम दौर में धन आधारित व्यवस्था के कारण इन भावनाओं ने या तो अपने अर्थ खो दिए हैं या अपने अर्थ बदल लिए हैं। 'धन' जो कभी साधन था, आज साध्य बन गया है। इस चिन्ता से प्रेरित 'मूकमाटी' का रचनाकार लिखता है :

'' ''वसुधैव कुटुम्बकम्''/इस व्यक्तित्व का दर्शन—/स्वाद - महसूस
इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब···!/यदि वह सुलभ भी है
तो भारत में नहीं,/महा-भारत में देखो !/भारत में दर्शन स्वारथ का होता है
हाँ-हाँ !/इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है/कि/''वसुधैव कुटुम्बकम्''
इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना
आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।'' (पृ.८२)

इस सोच के परिणामस्वरूप हमारी आध्यात्मिकता को ही नहीं बल्कि समाजवादी स्वरूप को भी ठेस पहुँची है। धनलिप्सा की दौड़ में व्यक्ति ने अपने सुख-चैन को तो खोया ही है, दूसरों के सुख-चैन को भी नष्ट कर दिया है। स्वयं के संचय के लिए वह दूसरों के मुँह का निवाला भी छीनने से नहीं डरता। आज व्यक्ति को सामाजिक बनाने के लिए धन के पीछे दौड़ने वाले पूँजीवादी दिमाग़ को परे करना पड़ेगा, क्योंकि संसार में रहकर हमें संसार से मैत्री का भाव ही रखना चाहिए। आखिर हम वैर करें भी तो किससे ? यहाँ हमारा वैरी है ही कौन? वैर पशु प्रवृत्ति है, मानवीय नहीं। मानव तो मैत्री भावना से बनता है। रचनाकार की कामना है :

''सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !'' (पृ. १०५)

असामाजिकता, अन्याय, उत्पीड़न और वैर-भाव का बहुत बड़ा कारण हमारे नेतागण हैं, जिन्हें स्वार्थ ने अन्धा बना दिया है। वे 'पद' पर बैठकर पद के विरुद्ध आचरण करते हैं। अब राजा, प्रजा का अनुरंजन न कर, प्रजा का दोहन और शोषण करता है। वह बातें तो बड़ी-बड़ी करता है किन्तु स्वयं वैसा आचरण नहीं करता। 'कथनी और करनी' की इस भिन्नता ने नेतृत्व के प्रति आस्था को ही कमज़ोर नहीं किया बल्कि कहीं-कहीं तो नेता को नायक से खलनायक की स्थिति में पहुँचा दिया है। आज सच्चे नेता कम और तथाकथित नेता अनगिनत हैं। स्वयं का आचरण पवित्र नहीं होने तथा पवित्र दिखने के कारण 'समाज' के बीच विश्वास कम हुआ है। इसीलिए आचार्यश्री कामना करते

हैं :

"आज पथ दिखाने वालों को/पथ दिख नहीं रहा है, माँ !
कारण विदित ही है--/जिसे पथ दिखाया जा रहा है
वह स्वयं पथ पर चलना चाहता नहीं,/औरों को चलाना चाहता है
और/इन चालाक, चालकों की संख्या अनगिन है।" (पृ. १५२)

'समाजवाद' के लिए आवश्यक है कि समाज में समता ही नहीं बल्कि समरसता भी हो, किन्तु देखने में आता है समाज में 'श्वान सभ्यता' ने अपना घर बना लिया है। आज व्यक्ति कुत्ते की तरह अपनी ही जाति पर गुर्राता है। सिंह वृत्ति समाप्त हो गई है जबकि राजा की वृत्ति पहले सिंह वृत्ति मानी जाती थी और आज भी उसकी आवश्यकता है ।

कोई भी विचारधारा जनभावनाओं पर अवलम्बित होती है। जन भावना को दो रूपों में देखा जाता है। एक सज्जनता के रूप में और दूसरी दुर्जनता के रूप में। यह सज्जनता और दुर्जनता क्या है, इस विषय में आचार्यश्री का मत है :

"एक-दूसरे के सुख-दुःख में/परस्पर भाग लेना/सज्जनता की पहचान है,
और/औरों के सुख को देख, जलना/औरों के दुःख को देख, खिलना
दुर्जनता का सही लक्षण है।" (पृ. १६८)

इसी भाव की अभिव्यक्ति 'कामायनी' में श्री जयशंकर प्रसादजी करते हैं :

"औरों को हँसते देखो मनु/हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो/सब को सुखी बनाओ।"

'समाजवाद' शोषण के विरुद्ध विचारधारा का नाम है। जब किसी विचारधारा में दृष्टिभेद समाहित होता है तो वैचारिक संघर्ष भी जन्मते हैं। समाजवाद की सही प्रतिष्ठा न होने का कारण है - वर्गभेद, वर्णभेद तथा जाति भेद। एक तरफ किसी का अधिक पोषण किया जा रहा होता है तो दूसरी ओर अत्यन्त शोषण होता है, जिसकी परिणति आतंकवाद में होती है :

"यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अति-शोषण का भी
यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१८)

'आतंक' जब किसी 'वाद' से अभिव्यक्त होने लगे तो समझना चाहिए कि समाज में कुछ लोग इसके समर्थक भी हैं, भले ही हम इन्हें 'भ्रमित जन' की संज्ञा दें। 'वाद' वही श्रेष्ठ है जिसमें हिंसा, असत्य और चोरी आदि के लिए कोई अवकाश नहीं हो। यही कारण है कि नक्सलवादी भी अपने आपको अमीर-गरीब का भेद मिटाने वाला कहते हैं, किन्तु उनके हिंसक और चौर्य रूप के कारण समाज उन्हें मान्यता नहीं देता।

समाजवाद को फलने-फूलने के अवसर लोकतन्त्र में अधिक होते हैं किन्तु आज लोकतन्त्र भी नाम के रह गए हैं। जिस तन्त्र को 'जन' का सेवक होना चाहिए था वह 'जन' से अपने पैर पुजवा रहा है। 'जनतन्त्र' के पर्याय रूप में आज 'धनतन्त्र', 'मनमाना तन्त्र' या 'भीड़ तन्त्र' जैसे नाम प्रचलित हो गए हैं। लोक पीछे छूट गया है और तन्त्र लोक

को हाँक रहा है। फिर भी हम हैं कि जाग नहीं रहे हैं। यहाँ तक कि गणतन्त्र के स्वरूप को लेकर भी प्रश्न उभरने लगे हैं :

''कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी
अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते
निरपराध ही पिट जाते/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।
इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या/मनमाना 'तन्त्र' है!'' (पृ. २७१)

जहाँ अपराधी की जगह निरपराधी सजा पाने लगें, रक्षक ही भक्षक बन जाएँ, राजा अपने धर्म से विमुख हो जाएँ, मन्त्री चाटुकार और पदलिप्सु हो जाएँ, सेवक अवज्ञाकारी हों, वहाँ समाजवाद तो क्या सामाजिक स्वरूप की कल्पना ही बेकार हो जाती है। किसी भी तन्त्र की सफलता उसके प्रति जन-आस्था से प्रमाणित होती है किन्तु यदि उसी 'जन' का विश्वास न्याय पर नहीं रहे तो 'तन्त्र' की सफलता खतरे में ही मानना चाहिए। आज के दौर में न्याय की प्राप्ति चाँद-तारे तोड़ने जैसा प्रतीत होने लगा है, क्योंकि न्याय लम्बित ही नहीं बल्कि विलम्बित भी हो गया है। परिणामस्वरूप न्याय और अन्याय के बीच की विभाजक रेखा समाप्त-सी हो गई है। 'मूकमाटी' में इसी भाव की अभिव्यक्ति प्रसंगवश हुई है :

'' 'आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं
न्याय अन्याय-सा लगता ही है।'/और यही हुआ
इस युग में इसके साथ।'' (पृ. २७२)

समाजवाद का एक लक्ष्य है सामाजिक असमानता को समाप्त कर विभेदक रेखाओं को समाप्त करना। तथाकथित पद-दलितों के उत्थान हेतु अनेकानेक सहयोगी योजनाएँ चल रही हैं, किन्तु अपेक्षित परिणाम सामने नहीं आ रहा है। कारण स्पष्ट है कि शरीर, अर्थ और शिक्षा की उन्नति से ही कोई व्यक्ति उन्नत नहीं बन सकता, जब तक कि उसके संस्कार सात्त्विक नहीं हों।

समाजवाद की प्रबल विरोधी विचारधारा 'पूँजीवाद' है। जब पूँजी कुछ-एक लोगों तक सीमित हो जाती है तो अनेक लोगों को रोटी-कपड़ा-मकान जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से वंचित रहना पड़ता है। एक बार गाँधीजी से एक मारवाड़ी सेठ ने पूछा : ''आप सबसे टोपी लगाने के लिए कहते हैं, यहाँ तक कि टोपी के साथ आपका नाम जुड़ गया है और लोक उसे 'गाँधी टोपी' कहने लगे हैं, फिर आप स्वयं टोपी न लगाकर नंगे सिर क्यों रहते हैं?''

गाँधीजी ने मारवाड़ी सेठ के प्रश्न को सुनकर उनसे उत्तर के स्थान पर प्रश्न किया : ''आपने जो यह पगड़ी पहन रखी है इससे कितनी टोपी बन सकती हैं?''

मारवाड़ी सेठ ने उत्तर दिया : 'बीस'।

गाँधीजी ने कहा : ''जब आप जैसा एक व्यक्ति बीस लोगों की टोपी अपने सिर पर रख लेता है तो उन्नीस लोगों को नंगे सिर रहना पड़ता है। उन्हीं उन्नीस लोगों में से मैं एक हूँ।''

गाँधीजी का उत्तर सुनकर मारवाड़ी सेठ निरुत्तर हो गया। बस पूँजीवाद में यही बुराई है। वह दूसरों के अधिकार को हस्तगत कर लेता है। जैन धर्म में इसीलिए 'अपरिग्रह' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है ताकि पूँजीपति अपनी सम्पदा का स्वयमेव त्याग कर सकें। यहाँ गृहस्थ के लिए दान करना नित्यकर्म माना गया है। पूँजीवाद

को अशान्ति का अन्तहीन सिलसिला बताते हुए आचार्य श्री विद्यासागरजी कहते हैं :

"हे स्वर्ण-कलश !.../परतन्त्र जीवन की आधार-शिला हो तुम,
पूँजीवाद के अभेद्य/दुर्गम किला हो तुम/और
अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला !" (पृ. ३६५-३६६)

समाजवाद की प्रतिष्ठापना हेतु सामाजिक जनों को संघर्ष करना होगा। लेकिन यह ध्यान रहे कि यह संघर्ष 'संहार' में नहीं बदल जाए। पराजय का तात्पर्य मात्र हार मानकर बैठ जाना नहीं है बल्कि जीतने के लिए पुनः प्रयत्न करना है। निरन्तर जीवनोत्कर्ष से ही 'उच्च' लक्ष्यों की प्राप्ति सम्भव होगी। कवि के ये शब्द प्रेरणा के द्योतक हैं :

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)

जब व्यक्ति समष्टि में अपनी पहचान खोजता है तब समाजवाद का जन्म होता है और जब अपने में समष्टि की पहचान खोजता है तो व्यक्तिवाद होता है। व्यक्तिवाद का लक्ष्य वैयक्तिक भोग-साधनों की प्राप्ति करना है। उसका विश्वास स्वयं के उत्थान पर आधारित है। वह सोचता है :

"स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें/मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ–
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी,
फिर भला बता दो हमें,/आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?
सबसे आगे मैं/समाज बाद में !" (पृ. ४६०-४६१)

नितान्त वैयक्तिक धारणा तामसता है, जिसके रहते 'समाजवाद' के प्रति आस्था सम्भव ही नहीं है। समाजवाद सामाजिक विचारधारा से आएगा। जहाँ यह सोच होगा कि मैं सबसे आगे और बाद में समाज, वहाँ समाजवाद कैसे सम्भव होगा ?

'समाजवाद' में निहित धारणा को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं :

"अरे कम-से-कम/शब्दार्थ की ओर तो देखो !/समाज का अर्थ होता है समूह
और/समूह यानी/सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।
कुल मिला कर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर
प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।
समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।" (पृ. ४६१)

जैसा कि समाजवाद शब्द से ही अर्थ ध्वनित होता है कि समाज यानी समूह, जिसके विचार सम्यक् हैं और जो सदाचार की नींव पर आधारित है। प्रचार-प्रसार से दूर, श्रेष्ठ आचार-विचार वालों का जीवन ही समाजवाद है। तात्पर्य यह है कि समाजवादी बनने के लिए अपने आचार-विचार को श्रेष्ठ बनाना होगा, मात्र समाजवाद-समाजवाद चिल्लाने से कोई समाजवादी नहीं बनेगा।

आज देखने में यही आ रहा है कि जो अपने लिए समाजवादी कहते हैं, वे समाजवाद के निहितार्थ का स्पर्श भी नहीं करते। इस स्थिति पर समकालीन विचारधारा के कवि 'धूमिल' ('संसद से सड़क तक', पृ. १२६-१२७) का

मन्तव्य है :

''भूख और भूख की आड़ में/चबायी गयी चीजों का अक्स
उनके दाँतों पर ढूँढ़ना/बेकार है/समाजवाद उनकी जुबान पर
अपनी सुरक्षा का/एक आधुनिक मुहावरा है।/मगर मैं जानता हूँ कि
मेरे देश का समाजवाद/मालगोदाम में लटकती हुई
उन बाल्टियों की तरह है जिस पर 'आग' लिखा है
और उनमें बालू और पानी भरा है।''

तात्पर्य स्पष्ट है कि आज समाजवाद का नारा पूँजीपतियों, भ्रष्ट राजनेताओं ने अपने सुरक्षा-कवच के रूप में अपना लिया है। वे गरीबों की भूख का सौदा करते हैं और वह भी उस शातिर बदमाश की तरह जो दुष्कृत्य तो करता है किन्तु कोई सबूत नहीं छोड़ता। हमारे देश में समाजवाद उसी तरह खोखला हो गया है जिस तरह मालगोदाम में लटकी हुई बाल्टियाँ, जिनके ऊपर आग लिखा होता है किन्तु अन्दर बालू और पानी भरा होता है। कथन से ही स्पष्ट है कि जो बाहर प्रदर्शित किया जाता है वह अन्दर नहीं होता और समाजवाद स्पष्टत: बाह्य और अन्तर की एकात्म व्यवस्था है। यदि भेद है तो समाजवाद हो ही नहीं सकता। यदि समाजवाद के लक्ष्यों को यथार्थ में पाना है तो आचार्यश्री के इन वचनों का समादर करना होगा :

''अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,
धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।/चोरी मत करो, चोरी मत करो
यह कहना केवल/धर्म का नाटक है/उपरिल सभ्यता''उपचार !
चोर इतने पापी नहीं होते/जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।
तुम स्वयं चोर हो/चोरों को पालते हो/और
चोरों के जनक भी।'' (पृ. ४६७-४६८)

अर्थात् अब धन-संग्रह के स्थान पर जन-संग्रह करो जिससे कि जनहित हो सके, ऐसे कार्य करो। लोभ के वशीभूत होकर जो तुमने अँधाधुन्ध सम्पदा एकत्र की है, उसका समुचित वितरण करो। ऐसा नहीं होने पर धनहीनों (गरीबों) में चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं। चोरी मत करो - चोरी मत करो, यह कहना केवल धर्म का नाटक, बाह्य सभ्यता मात्र बनकर रह गया है, क्योंकि हमारा आचरण चोर बनने के लिए व्यक्तियों को प्रेरणा देता है। वास्तव में चोर इतने पापी नहीं होते जितने कि चोरों को पैदा करने वाले। जो संचयी हैं वे स्वयं चोर हैं। चोरों को वे ही पालते हैं और चोरों को उत्पन्न भी वे ही करते हैं। इसलिए आवश्यक है कि हम अपने सोच-विचार को बदलें। किसी शायर ने ठीक ही लिखा है :

''कोठियों से मत आँकिए मुल्क की मैयार
असली हिन्दुस्तान तो फुटपाथ पर आबाद है॥''

'समाजवाद' में क्रान्ति को कोई स्थान नहीं है। यह तो पूरी तरह स्वैच्छिक शान्ति की व्यवस्था है जो ''महाजनो येन गत: स पन्था:'' की नीति पर चलती है। इसीलिए सच्चा समाजवादी भावना करता है :

''यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठे/···बस !'' (पृ. ४७८)

इस प्रकार 'मूकमाटी' में आचार्य श्री विद्यासागरजी ने समाजवाद के उन रूपों, पक्षों का उद्घाटन किया है जिनके स्तम्भ और भित्तियों पर समाजवाद का महल खड़ा हो सकता है। सच्चे सामाजिक और समाजवादी बनने के लक्ष्य को सामने रखते हुए हमें विवेक-बुद्धि को जाग्रत करना चाहिए तथा भेदभाव समाप्त करना चाहिए, यही कवि की धारणा 'मूकमाटी' में मूक नहीं बल्कि मुखरित होती है :

''भेद-भाव का अन्त हो/वेद-भाव जयवन्त हो।'' (पृ. ४७४)

'मूकमाटी' में दलितोत्थान के स्वर

नाम, दाम और चाम के प्रलोभन से परे अध्यात्म के परम रसिक श्रमणोत्तम आचार्य विद्यासागरजी नाम से 'यथा नाम तथा गुण' हैं, काम से 'सत्य काम' हैं, काया से जिनवर-सम और वाणी से सत्यवादी हैं। उनके वचन 'प्रवचन' और साधना अनुकरणीय है। उनके द्वारा रचित/कथित साहित्य 'साहित्य' के हितकारी भावों से समन्वित है। वे जो कहते हैं वह उनका अनुभव है, उनकी भावना है, इसीलिए वे प्राणीमात्र के शुभचिन्तन एवं उद्धार के प्रेरक हैं। महाकवि श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'साहित्य' ('बंगला', पृ. ८) में साहित्य के सम्बन्ध में कहा था : ''सहित शब्द से साहित्य की उत्पत्ति हुई है। अतएव धातुगत अर्थ करने पर साहित्य शब्द में मिलन का एक भाव दृष्टिगोचर होता है। वह केवल भाव का भाव के साथ, भाषा का भाषा के साथ, ग्रन्थ का ग्रन्थ के साथ मिलन है, यही नहीं वरन् यह बतलाता है कि मनुष्य के साथ मनुष्य का अतीत के साथ निकट का मिलन कैसे होता है।'' आचार्य श्री विद्यासागरजी तो प्राणीमात्र के हितैषी हैं, अत: उनकी कृतियों में भी प्राणी-हित सर्वत्र परिलक्षित होता है। डॉ. जी. शान्ताकुमारी, अर्नाकुलम् (कोच्ची) केरल के विचार 'परछाइयाँ मौन साधक की' में द्रष्टव्य हैं : ''प्रतिभावान् तपस्वी कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी ने आध्यात्मिक जीवन की अजस्र-धारा का निर्बाध प्रवाह कर ऐसा साहित्य प्रस्तुत किया है, जो भारतीय/हिन्दी साहित्य की अक्षयनिधि बन गया है। उन्होंने प्राचीनता-अर्वाचीनता, आध्यात्मिकता-आधिभौतिकता, परम्परागत दार्शनिक चिन्तन की गहराई के साथ ही कार्ल मार्क्स के प्रत्ययशास्त्र की गम्भीरता का ऐसा वैचारिक सामंजस्य उपस्थापित किया है, जिसके कारण सन्त हो कर भी वे इस सदी के नए मानव के प्रतिनिधि बन गए हैं।''

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाकवि हैं। कवि मात्र सर्जक ही नहीं होता अपितु यथार्थ के धरातल पर खड़े हो कर भविष्य की कल्पना के चित्र अपनी कृति में उकेरता है। राजनाथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'साहित्यिक निबन्ध' (पृ. ३७१) में अवलोकनीय है बाबू गुलाबराय की दृष्टि : ''...कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसी खाद मिल जाती है, वैसी ही उसकी कृति होती है। वह अपने समय के वायु मण्डल में घूमते हुए विचारों को मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है, जिसका सब लोग अनुभव करते हैं, किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव शक्ति जोरों से बढ़ी-चढ़ी रहती है।''

''सम्पूर्ण प्राणियों में मनुष्य ही एक मात्र प्राणी ऐसा है जो अपने कर्मों को ही नहीं, अपने आप को भी अपने चिन्तन की वस्तु बना सकता है। मनुष्य की यह क्षमता उसे पशुओं से भिन्न बनाती है''—'उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र' (अनुवाद-रमेश उपाध्याय) में पाओलो फ्रेरे का यह कथन परम सत्य है। फिर जो मनुष्यों में उत्तम श्रमण हैं उनके मन में तो प्राणी मात्र के उत्थान की भावना होती ही है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी का सम्पूर्ण साहित्य मानवीय उत्थान की परम गाथा है। वे इस युग को दो रूपों में, दो मनुष्यों को आधार मान कर शव और शिव रूप की कल्पना करते हैं। अपनी सुप्रसिद्ध कृति 'मूकमाटी' में वे लिखते हैं :

> *"इस युग के/दो मानव/अपने आप को/खोना चाहते हैं--*
> *एक/भोग-राग को/मद्य-पान को/चुनता है;/और एक*
> *योग-त्याग को/आत्म-ध्यान को/धुनता है।/कुछ ही क्षणों में*
> *दोनों होते/विकल्पों से मुक्त।/फिर क्या कहना!/एक शव के समान*
> *निरा पड़ा है,/और एक/शिव के समान/खरा उतरा है।" (पृ. २८६)*

इससे स्पष्ट है कि मद्यपानादि व्यसन-भोगों में रत शव-परिणामी मनुष्य आचार्यश्री को इष्ट नहीं हैं, उन्हें तो योगी, त्यागी और आत्मध्यानी शिव-परिणामी ही इष्ट हैं। और यही वह स्तर है जिनसे उनके मन एवं उनकी कृतियों में छिपे दलितोत्थान के स्वर स्पष्ट सुनाई देते हैं। हम यहाँ आचार्य श्री विद्यासागर की 'मूकमाटी' में आगत दलितोत्थान के स्वरों की अनुगूँज सुनें, इसके पूर्व हमें 'दलित' शब्द के अर्थ/भाव को जान लेना आवश्यक है।

'दलित' शब्द की व्युत्पत्ति 'पाइअ सद्दमहण्णओ' (प्राकृत शब्द कोश--सं. पं. हरगोविन्ददास टी. सेठ) के अनुसार संस्कृत शब्द 'दल' से हुई है, जिसका अर्थ है-- विकसना, फटना, खण्डित होना, द्विधा होना, चूर्ण करना, टुकड़े करना, विदारना, सैन्य, लश्कर, पत्र, पन्ती आदि। संस्कृत में ही 'दलित' शब्द का प्रयोग 'विनष्ट' करने या 'विनाश किया हुआ' के अर्थ में मिलता है, यथा-"दलितं हृदयं गाढोद्वेगं द्विधा तु न विद्यते"– अर्थात् वेदनाओं के कारण हृदय के टुकड़े होते हैं, नाश नहीं। 'वृहद् हिन्दी कोश' के अनुसार 'दलित' का अर्थ रौंदा, कुचला, दबाया हुआ पदाक्रान्त है। 'हिन्दी साहित्य में दलित चेतना' (पृ. १८) में डॉ. आनन्द वास्कर ने उल्लेख किया है कि यह ध्वनित होता है कि जो अपने पद से च्युत है, वह दलित है। यद्यपि संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं में यह शब्द इसी रूप में प्रचलित होता रहा किन्तु सन् १९३३ के दरम्यान उस समय की सरकार ने जो 'जातीय निर्णय' ले लिया उसमें 'डिप्रेस्ड क्लासेस' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है 'पद दलित'। वास्तव में 'पद दलित' शब्द 'दलित' शब्द के लिए ही पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसी समय भारत में समाजवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ और इस विचारधारा के अन्तर्गत आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से जो वर्ग दबा हुआ, कुचला हुआ एवं शोषित है, ऐसे वर्ग को महत्त्व प्राप्त हुआ और उस वर्ग को ही 'दलित वर्ग' के रूप में देखा गया। कालान्तर में यह शब्द शूद्रों, अस्पृश्य, अन्त्यज एवं महार जाति विशेष के लिए भी प्रयोग में आने लगा तथा इस समुदाय के उत्थान की बात करने वालों को 'दलित नेता,' इस वर्ग से सम्बन्धित साहित्य सर्जकों को 'दलित कवि' या 'दलित लेखक' तथा सम्बन्धित साहित्य को 'दलित साहित्य' कहा जाने लगा। वर्तमान भारतीय राजनीति में अब 'दलित' शब्द स्थायी भाव की तरह जम गया है तथा इस वर्ग के उत्थान के लिए शासन-प्रशासन पूरी तरह से सक्रिय है। किन्तु जब हम आचार्य श्री विद्यासागरजी के सोच एवं साहित्य को देखते हैं तो पाते हैं कि वे 'दलित' शब्द को व्यापक सन्दर्भों एवं अर्थों में देखते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति के द्वारा प्रताड़ित व्यक्ति दलित है, समाज द्वारा उपेक्षित प्राणी दलित है, धर्म मार्ग से च्युत व्यक्ति दलित है, परमात्म पद से च्युत आत्मा दलित है, आतंकित मानसिकता रखने वाला व्यक्ति दलित है, अपराधी दलित है, पराधीन दलित है, हीनभावना से ग्रस्त व्यक्ति दलित है। इन सब दलितों के उत्थान की प्रेरणा, दिशा दर्शन, मार्गदर्शन उनकी 'डूबो मत, लगाओ डुबकी,' 'पूर्णोदय शतक,' 'प्रवचन प्रदीप,' 'प्रवचनामृत,' 'सर्वोदय शतक,' 'प्रवचन प्रमेय,' 'प्रवचनिका,' 'गुणोदय,' 'पावन प्रवचन'तथा 'निजानुभव शतक' इत्यादि कृतियों में प्रचुर मात्रा में मिलता है। वे तो 'नर्मदा का नरम कंकर' कृति में कंकर को भी शंकर बनाने की बात करते हैं। इस प्रकार हम उन्हें वास्तविक अर्थों में

'दलितों का मसीहा' कह सकते हैं।

आचार्य श्री विद्यासागरजी की दृष्टि में संसार सम्पूर्ण रूप से त्रस्त है, पीड़ित है और आकुल-व्याकुलताओं से ग्रस्त है। इस पीड़ा का कारण है प्राणियों में परस्पर वैर भाव। यह वैर भाव विजातियों में ही नहीं बल्कि सजातियों में भी देखा जाता है। छोटा बड़े के द्वारा, बड़ा और बड़े के द्वारा पद दलित किया जाता है, यहाँ तक कि मृत्यु को भी प्राप्त कराया जाता है। 'मछली' का यह कथन कितना सटीक है :

"क्या पता नहीं तुझको !/छोटी को बड़ी मछली/साबुत निगलती है यहाँ
और/सहधर्मी सजाति में ही/वैर-वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान, श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।" (पृ. ७१)

आचार्यश्री का चिन्तन है कि सभी जीवों पर संकट आते हैं और सभी अपनी शक्ति के अनुसार उसका निवारण करते हैं पर फिर भी मनुष्य एक ऐसा विवेकशील प्राणी है जो अपने तथा दूसरों के संकटों को आसानी से दूर करने में समर्थ है। मनुष्य चाहे तो अपनी बुद्धि और शारीरिक सामर्थ्य से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। जीव रक्षा उसका कर्त्तव्य है, उसका धर्म भी है। किन्तु आज यह रक्षा उपेक्षित है। हम चाहते हैं सुरक्षा मात्र अपनी और अपनी भौतिक सम्पदा की। आज यह स्वार्थपूर्ण संकीर्णता ही सब अनर्थों की जड़ बन गई है। मैं दूसरों के लिए क्यों चिन्ता करूँ, मुझे बस मेरे जीवन की चिन्ता है। 'मैं' और 'मेरा' आज का सारा व्यवहार यहीं तक सीमित हो गया है।

'दि हार्ट ऑफ मैन' कृति में फ्रॉम ने लिखा है : "दूसरे व्यक्ति (या दूसरे किसी सजीव प्राणी) पर अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने में मिलने वाला आनन्द ही परपीड़न-वृत्ति का सार है। इसी बात को दूसरी तरह से यों कहा जा सकता है कि पर-पीड़न का उद्देश्य मनुष्य को एक चीज़ के रूप में बदलना है, सजीव को निर्जीव में बदलना है, क्योंकि पूर्ण और परम नियन्त्रण से सजीव प्राणी जीवन का एक सारभूत गुण खो देता है - स्वतन्त्रता।" किन्तु हमने तो स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भी लड़ना नहीं छोड़ा।

हीन भावना पददलित होने और उच्च भावना पद दलित करने में कारण बनती है। यहाँ उच्च भावना को स्वयं को बड़ा मानने के अहंकार से समझें, अन्यथा न लें। आचार्य श्री विद्यासागरजी का भी यही मानना है कि उच्च पद पर बैठे जन या उच्च पदाभिलाषी जन दूसरों को पद दलित करते हैं तथा इस हेतु पापाचरण भी करते हैं। वे नागराज के कथन के माध्यम से भावना भाते हैं कि हम पदहीन ही बने रहें, क्योंकि जितने भी पद हैं वे सब विपत्तियों के स्थान हैं। पद-लिप्सा का यह विषधर हमें न सूँघे। आचार्यश्री के ही शब्दों में :

"एक बात और कहनी है हमें/कि/पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु
पर को पद-दलित करते हैं,/पाप-पाखण्ड करते हैं।
प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम !
जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं,
पद-लिप्सा का विषधर वह/भविष्य में भी हमें न सूँघे
बस यही भावना है, विभो !" (पृ. ४३४)

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने शिल्पी के एक पद द्वारा कहलाया है कि मैं पदाभिलाषी बनकर दूसरों पर पैर न रखूँ, किसी प्रकार का उत्पात न करूँ और कभी भी किसी को पद-दलित नहीं करूँ :

"पदाभिलाषी बनकर/पर पर पद-पात न करूँ,/उत्पात न करूँ,

कभी भी किसी जीवन को/पद-दलित नहीं करूँ, हे प्रभो !'' (पृ. ११५)

जो जीव अपने जैसा जीव दूसरों में मानते हैं वे कभी भी दूसरों को नीचा गिराने की नहीं सोचते। आचार्यश्री तो प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखते हुए सोचते हैं कि ये भी मेरे जैसे दुखी हैं, अतः इनको भी रास्ता मिल जाए। इसी करुणा के वशीभूत होकर आचार्यों/सन्तों ने प्राणियों के कल्याण के लिए मार्ग सुझाया है।

'लेनिन' का कथन था : ''क्रान्तिकारी सिद्धान्त के बिना कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन सम्भव नहीं।'' आचार्यश्री दलितोत्थान के दो मूल मन्त्र समाज को देना चाहते हैं :

(१) शक्तिशाली पद पर रहते हुए भी मैं किसी को उसके पद से नहीं गिराऊँगा।

(२) जो किसी कारण से या स्वयं पद-दलित हैं, उनका उत्थान करूँगा।

जो ऐसा नहीं करता उसे वे करुणाहीन मानते हैं। 'मूकमाटी' में नाग-नागिन के इस संवाद में उनके ये मूलमन्त्र इस रूप में सामने आते हैं :

''हमें नाग और नागिन/ना गिन, हे वरभागिन !/युगों-युगों का इतिहास
इस बात का साक्षी है कि/इस वंश-परम्परा ने/आज तक किसी कारणवश
किसी जीवन पर भी/पद नहीं रखा, कुचला नहीं···/अपद जो रहे हम !
यही कारण है कि सन्तों ने/बहुत सोच-समझ कर/हमारा सार्थक नामकरण किया है
'उरग'/हाँ ! हाँ !/हम पर कोई पद रखते/हमें छेड़ते···तो···
हम छोड़ते नहीं उन्हें।/जघन्य स्वार्थसिद्धि के लिए
किसी को पद-दलित नहीं किया हमने,/प्रत्युत, जो/पद-दलित हुए हैं
किसी भाँति,/उर से सरकते-सरकते/उन तक पहुँच कर/उन्हें उर से चिपकाया है,
प्रेम से उन्हें पुचकारा है,/उनके घावों को सहलाया है।'' (पृ. ४३२-४३३)

आचार्यश्री तो यहाँ तक लिखते हैं कि दीन-दुखी जीवों को देखकर आँखों में करुणा का जल छलक आए, अन्यथा छिद्र तो नारियल में भी हुआ करते हैं। दयाहीन आँखें नारियल के छिद्र के समान हैं। जिस ज्ञान के माध्यम से प्राणीमात्र के प्रति संवेदना जाग्रत नहीं होती, उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। और वे आँखें किसी काम की नहीं, जिनमें देखने-जानने के बाद भी संवेदना की दो-तीन बूँदें नहीं छलकतीं।

कुछ राजनीतिज्ञ दलितों के दमन को दलितों से मुक्ति का उपाय मानते हैं किन्तु आचार्यश्री इस के पक्षधर नहीं हैं। वे चिकित्सकों के मुख से कहलवाते हैं :

''मात्र दमन की प्रक्रिया से/कोई भी क्रिया/फलवती नहीं होती है।'' (पृ. ३९१)

माँ का विश्वास पालन में होता है, सताने या मारने में नहीं। सच्ची माता दूसरों के पुत्रों को भी अपने ही पुत्रवत् मानती है। आचार्यश्री बड़े ही उदारदृष्टि वाले हैं। वे आतंकवादियों को भी इसी भारत माता की सन्तान मानते हुए उनकी समस्याओं का समाधान करने तथा उनकी रक्षा करने का सन्देश देते हैं। 'आतंक' का यह कथन इस भाव की प्रेरणा देता है :

''सन्तान हो या सन्तानेतर/यातना देना, सताना
माँ की सत्ता को स्वीकार कब था/···हमें बताना !'' (पृ. ४७५)

वास्तव में हमें असहायों में भी स्वयं को देखना चाहिए। जब हम ऐसा करेंगे तो कोई भी दलित या घृणित

नज़र नहीं आएगा। किसी शायर ने ठीक ही लिखा है :

"जब किसी से कोई गिला रखना
अपने सामने आईना रखना।"

आज विश्व की सबसे ज्वलन्त समस्या आतंकवाद है। आचार्यश्री की दृष्टि में इसका कारण अति-पोषण या अति-शोषण है। इसमें प्रतिशोध की भावना जन्मती है, जो दूसरों के लिए ही नहीं बल्कि स्वयं के लिए भी घातक बनती है। इस विषय में 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने स्पष्टत: लिखा है, द्रष्टव्य है पृ. ४१८।

इस विषय में पाओलो फ्रेरे का विचार है : "हिंसा का आरम्भ वे करते हैं, जो उत्पीड़न करते हैं, शोषण करते हैं जो दूसरों को मनुष्य नहीं मानते। इसका आरम्भ वे नहीं करते जो उत्पीड़ित हैं, शोषित हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं माना जाता। मनमुटाव वे नहीं फैलाते हैं जो प्रेम से वंचित हैं बल्कि वे फैलाते हैं जो प्रेम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि वे स्वयं से ही प्रेम करते हैं। असहाय और आतंकित लोग आतंक शुरू नहीं करते। आतंक की शुरूआत वे करते हैं जो हिंसक होते हैं और अपनी शक्ति के सहारे ज़िंदगी से ख़ारिज लोगों को पैदा करने वाली ठोस स्थिति उत्पन्न करते हैं। निरंकुशता का स्रोत वे नहीं होते जो अत्याचारों के शिकार होते हैं, उसके स्रोत होते हैं–निरंकुश अत्याचारी। घृणा तिरस्कृत लोग नहीं, तिरस्कार करने वाले फैलाते हैं। मनुष्य का निषेध वे नहीं करते जो मनुष्यता से वंचित कर दिए गए हैं, बल्कि वे करते हैं जिन्होंने उनकी (और साथ ही अपनी भी) मनुष्यता का निषेध किया है। बल प्रयोग वे नहीं करते जो बलशालियों की प्रबलता के अधीन निर्बल बना दिए गए हैं अपितु उन्हें निर्बल बनाने वाले बलशाली करते हैं।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज व्यक्ति को सामाजिक बनने, लोभ छोड़ने तथा धन के समुचित वितरण की पक्षधरता दिखाते हैं। जब बहुत अधिक धन एक जगह एकत्रित हो जाता है तब समाज में निर्धनता, विषमता, असन्तोष, चौर्यभाव एवं अधार्मिकता सिर उठाने लगते हैं। वास्तव में चोरों को जन्म देने वाला परिग्रही समाज ही होता है। आचार्यश्री पूरी तरह सामाजिक अवधारणा को जीते/जानते हुए धर्म और धर्मात्मा के सही भाव को सामने रखते हैं। वे विषमता रहित समाज की पुरजोर हिमायत करते हैं। 'मूकमाटी' में आतंक का यह कथन समाज की मानसिकता एवं सर्वोदय की भावना को ही प्रकट करता है, इस हेतु पृ. ४६७-४६८ अवलोकनीय हैं।

आचार्यश्री का विचार है कि सब सन्तों का, धर्मात्मा पुरुषों का उद्देश्य यही होता है कि जगत् के सभी जीव सुख-शान्ति का अनुभव करें। एक साथ सभी जीवों के प्रति अभय देने की भावना हर धर्मात्मा के अन्दर होती है, होनी भी चाहिए। इस बात का प्रयास सभी को करना चाहिए। जितनी सामग्री आवश्यक है उतनी ही रखें, उससे अधिक न रखें। इस प्रकार परिमाण कर लेने से आप अपव्यय से बचेंगे, साथ ही सामग्री का वितरण सभी के लिए सही ढंग से होगा। सभी का जीवन सुखद होगा। देश में मानवता कायम रहेगी, देश की संस्कृति की रक्षा होगी एवं आत्मकल्याण होगा। जैन धर्म में तो 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' की बातें आती हैं। अत: साम्प्रदायिकता के नाम पर अपने-अपने घर भरना, अपना स्वार्थसिद्ध करना और अहं को पुष्ट करना ठीक नहीं है। आज अहंवृत्ति नहीं, सेवावृत्ति को फैलाना चाहिए। जीवन भले ही चार दिन का क्यों न हो, लेकिन अहिंसामय हो तो मूल्यवान् है। जो जैन धर्म के साथ क्षण भर भी जीता है, वह धन्य है।

जो प्यासे की प्यास नहीं बुझाता, आचार्यश्री की दृष्टि में वह पापी है :

"पापी वह/प्यासे प्राणी को/पानी पिलाता भी कब ?" (पृ. २९८)

न्याय में विलम्ब होने के कारण दलितों में असन्तोष फैलता है। यदि समय पर न्याय मिले तो समाज में पतनोन्मुख प्रवृत्तियों तथा बलपूर्वक दलित बनाए जाने की प्रक्रिया को रोका जा सकता है। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री

के ये विचार (पृ. २७२) देखे जा सकते हैं।

निर्बलों को सताने, हानि पहुँचाने में बल की सार्थकता नहीं है। बल की सार्थकता तो निर्बलों को बल का सम्बल देकर बचाने में ही है। इस बात को लकड़ी के द्वारा आचार्यश्री ने कहलवाया है :

"लड़खड़ाती लकड़ी की रसना/रुकती-रुकती फिर कहती है–
'निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-सम्बल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है'।" (पृ. २७२)

अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि निर्बल को सम्बल दिए जाने पर भी निर्बल को कष्ट होता है। इसमें उठाने वाले का कोई दोष नहीं होता अपितु निर्बल की शक्तिहीनता ही कारण बनती है। 'मूकमाटी' में शिल्पी निमित्त को स्वीकार करते हुए कहता है :

"नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय/उसके हाथ में पीड़ा हो सकती है,
उसमें उठाने वाले का दोष नहीं,/उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है
हाँ, हाँ ! /उस पीड़ा में निमित्त पड़ता है उठानेवाला।" (पृ. २७२-२७३)

हाँ, इतना तय है कि यदि आप दूसरों की पीड़ा दूर करने का प्रयत्न करते हैं तो तुम्हारे दिल में शान्ति मिलेगी। कुंवर बेचैन की ये दो पंक्तियाँ आचार्यश्री के कथन को ही मानों स्पष्ट करती हैं :

"तुम्हारे दिल की चुभन भी ज़रूर कम होगी
किसी के पाँव से काँटा निकालकर देखो।"

आचार्यश्री को तो ऐसा जीवन कष्ट-साध्य ही लगता है जिसमें दूसरे के दुखों को मिटाने का भाव नहीं हो। वे जिनमूर्ति की ओर इंगित करते हुए कहते हैं कि जिनवर की नासाग्र दृष्टि इसीलिए है, क्योंकि वे एक पल के लिए भी दूसरों के दु:ख नहीं देख सकते।

आचार्यश्री धर्म पर किसी जाति विशेष का आधिपत्य स्वीकारने के पक्ष में नहीं हैं। वे तो धर्म को गंगा की निर्मल धारा की तरह सबके अन्तस् में प्रवाहित देखना चाहते हैं। आज के दलित वर्ग को सबसे अधिक पीड़ा धर्म/धर्मीजनों (तथाकथित) के द्वारा ही पहुँचाई गई है। फलस्वरूप डॉ. भीमराव अम्बेडकर के नेतृत्व में लाखों दलितों ने हिन्दू धर्म त्याग कर बौद्ध धर्म स्वीकार किया था। आचार्यश्री धर्म को व्यक्ति, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग विशेष के चंगुल से मुक्त कर प्राणी मात्र का धर्म बनाना चाहते हैं ताकि किसी को धर्म के नाम पर पद-दलित नहीं किया जा सके। वे कहते हैं कि गंगा नदी हिमालय से प्रारम्भ होकर निर्बाध गति से समुद्र की ओर प्रवाहित होती है। उसके जल में अगणित प्राणी किलोलें करते हैं, उसके जल से आचमन करते हैं, उसमें स्नान करते हैं, उसका जल पीकर जीवन रक्षा करते हैं, अपने पेड़-पौधों को पानी देते हैं, खेतों को हरियाली से सजा लेते हैं। इस प्रकार गंगा नदी किसी एक प्राणी, जाति अथवा सम्प्रदाय की नहीं है। वह सभी की है। यदि कोई उसे अपना बतावे तो गंगा का इसमें क्या दोष ? ऐसे ही भगवान् वृषभदेव अथवा भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित धर्म पर किसी जाति विशेष का आधिपत्य सम्भव नहीं है। यदि कोई आधिपत्य रखता है तो यह उसकी अज्ञानता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ऐसे व्यक्तियों को हृदयशून्य मानते हैं जिनमें दूसरों के दु:ख-दर्द देखकर संवेदना जागृत नहीं होती। मनुष्यता का प्रथम लक्षण पर-दु:ख-कातरता ही है। जिसमें करुणा नहीं, उसमें मनुष्यता हो ही नहीं सकती। 'मूकमाटी' में शिल्पी कंकरों को हृदयशून्य कहता है जिनमें करुणा प्रवाहित नहीं होती। शिल्पी

कहता है :

"अरे कंकरो !.../तुम में कहाँ है वह/जल-धारण करने की क्षमता ?
जलाशय में रह कर भी/युगों-युगों तक/नहीं बन सकते
जलाशय तुम !/मैं तुम्हें/हृदय-शून्य तो नहीं कहूँगा/परन्तु
पाषाण-हृदय अवश्य है तुम्हारा,/दूसरों का दुःख-दर्द/देखकर भी
नहीं आ सकता कभी/जिसे पसीना/है ऐसा तुम्हारा/...सीना !" (पृ. ४९-५०)

किन्तु ऋषि-सन्तों का उपदेश है कि किसी भी व्यक्ति से घृणा मत करो, भले ही वह पतित-पापी ही क्यों न हो। पापी से नहीं बल्कि पाप से घृणा करो ताकि सम्यक् आचरण का पालन करते हुए स्वयं को परमात्मा बना सको। आचार्यश्री का कथन है :

"ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि
पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो।/अयि आर्य !
नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५०-५१)

धर्म हमें यही सिखाता है कि पतित से पावन बनो। आचार्यश्री के अनुसार विश्व में अनेक धर्म प्रचलित हैं। इन सभी धर्मों में एक धर्म वह भी है जो प्राणीमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है। उस धर्म का नाम है-- 'जैन धर्म'। जैन धर्म प्राणीमात्र के कल्याण की भावना रखने वाला धर्म है। हमारा प्रथम कर्त्तव्य है कि हम स्वयं पाप से ऊपर उठें, स्वयं पतित से पावन होने का प्रयत्न करें। कोई व्यक्ति पतित से पावन कैसे बने ? यह बात विचारणीय है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि जो व्यक्ति अपने आपको प्रारम्भ से ही पावन मानता है, उसके पावन बनने की कोई गुंजाइश ही नहीं है। पावन से पावन बनने का प्रयास भी कौन करेगा ? पहले हमें जानना होगा कि हम पतित हैं और पतित होने का कारण हमारे स्वयं के बुरे कर्म हैं। संसार में भटकाने वाले भी यही कर्म हैं। पापी से नहीं बल्कि पाप से बचो। यही उच्च बनने का रास्ता है। यदि पापी से घृणा करोगे तो वह कभी पुण्यात्मा नहीं बन सकेगा और घृणा करने वाला स्वयं भी पतित हो जाएगा।

रत्नत्रय के पवित्र संस्कारों के द्वारा पाप के संस्कारों से मुक्त होकर आत्मा शुद्ध बन सकती है। पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठ पाता है। यह मात्र कल्पना नहीं है। यह सत्य है। यही सच्चा विज्ञान है।

जैसे मिट्टी ऊपर उठना चाहती है, अपना उद्धार करना चाहती है तो एक दिन धरती माँ से पूछती है कि माँ मुझे लोग पद-दलित करते हैं, मुझे खोदते, रौंदते और तरह-तरह की यातनाएँ देते हैं। क्या मेरे जीवन में कभी ऐसा अवसर आएगा कि मैं भी सभी की प्रेम-भाजन बनूँ ? क्या ऐसा विकास मेरा भी सम्भव है ? तब धरती माँ समझाती है कि हाँ, सम्भव है, लेकिन इसमें बड़ी साधना और सहनशीलता की आवश्यकता है। इसके लिए त्याग, तपस्या और विश्वास की आवश्यकता है। जो प्रक्रिया बताई जाएगी उस प्रक्रिया को अपनाना होगा। तब एक समय ऐसा आएगा जब सभी तुझे प्यार से सम्भालकर ऊपर रखेंगे।

यदि पतित से पावन बनने का विचार तेरे मन में आया है तो जब भी कोई कुम्हार यहाँ पर आए, उसके हाथों में अपने को समर्पित कर देना। रोना, चिल्लाना नहीं। उसके प्रति द्वेषभाव भी मत करना। वह जो प्रक्रिया बताए उसे ग्रहण करना। वह जैसा करे, करने देना। कुछ भी प्रतिक्रिया मत करना। यही पतित से पावन बनने का सूत्रपात होगा।

परिश्रम के बिना हम कुछ प्राप्त नहीं कर सकते।

जो एक-एक कदम उठाता हुआ आगे रखता चलता है विकास की ओर, वही सफल होता है। लक्ष्यवान् साधक सभी बाधाओं को पार करता हुआ आगे बढ़ता है।

जो व्यक्ति स्व-पर को दुःख देता है, वह नरक गति का पात्र बनता है। आचार्यश्री कहते हैं :

"स्व-पर को सताना है,/नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।" (पृ. १८९)

दया को धर्म कहा जाता है। आचार्यश्री की दृष्टि में जो व्यक्ति दयावान् होकर दयारहितों–दलितों पर दया करता है, भयशीलों को भयमुक्त करता है, सदा सदाशयी दृष्टि रखता है, वही समष्टि के हित-साधन में सहायक बन सकता है। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने पाकिस्तान के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल जिया-उल-हक को प्रकारान्तर से यही सन्देश दिया है :

"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा सदा सदाशय दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो।" (पृ. १४९)

आचार्यश्री की दृष्टि में द्रव्य की सार्थकता दीन-दुखियों के प्रति द्रवीभूत होने में ही है। जो द्रव्य दया के निमित्त नहीं है, उसे दरिद्रता का प्रतीक ही मानना चाहिए। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री कहते हैं :

"हे स्वर्ण-कलश !/दुखी-दरिद्र जीवन को देखकर/जो द्रवीभूत होता है
वही द्रव्य अनमोल माना है।/दया से दरिद्र द्रव्य किस काम का ?" (पृ. ३६५)

मत्कुण सेठ से भी यही कहता है :

"जीवन उदारता का उदाहरण बने !/अकारण ही–
पर के दुःख का सदा हरण हो !" (पृ. ३८८)

दुःखों से मुक्ति चिन्ता से नहीं बल्कि चिन्तन से मिलती है। आचार्यश्री सम्यक् विचार देकर दलितों/पतितों के लिए चिन्तन का मार्ग प्रशस्त करना चाहते हैं। सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पाओलो फ्रेरे का मत है : "उत्पीड़ित लोग स्वयं पर भरोसा करना तभी शुरू करते हैं, जब वे उत्पीड़क को खोज लेते हैं और अपनी मुक्ति के लिए संगठित संघर्ष करने लगते हैं। यह खोज नितान्त बौद्धिक खोज नहीं हो सकती। इसके लिए कर्म भी आवश्यक है। लेकिन यह खोज निरे कर्मवाद तक भी सीमित नहीं होगी। इसमें चिन्तन भी अवश्य शामिल रहना चाहिए। तभी यह खोज 'आचरण' कहलाएगी।"

दलित भाव से मुक्ति अपनी वास्तविक (वर्तमान) स्थिति के बोध से ही होती है। दुःख के कारण जान लेने पर उन कारणों को हटाना सम्भव होता है। 'मूकमाटी' में दलित 'मिट्टी' अपनी माँ धरती से अपनी स्थिति का बखान इस रूप में करती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ।" (पृ. ४)

इस प्रकार यहाँ दलित प्राणी की सही पहचान आचार्यश्री ने मिट्टी के रूप में कराई है। दलित दो कारणों से होते

हैं– एक स्वयं, दूसरे औरों (दूसरों) के द्वारा पतित किए जाने पर। परिणामस्वरूप स्व-पद से दलित होना पड़ता है। स्व-पद से दलित होने की स्थिति में सुखों का अभाव तथा दु:खों से जुड़ाव हो जाता है तथा सामाजिक तिरस्कार का पात्र भी बनना पड़ता है। जो इन तथ्यों से अवगत हो जाता है वह अविलम्ब उन कारणों से मुक्ति की चाह एवं प्रयत्न करता है। 'मूकमाटी' में मिट्टी धरती माँ से यही कहती है :

"और सुनो,/विलम्ब मत करो/पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

जब स्वयं के दलित होने का भान हो जाता है, गुरुत्व की पहचान हो जाती है तभी पावनता/उत्थान का मार्ग प्रशस्त होता है। ठीक वैसे ही जैसे कि असत्य की पहचान होते ही सत्य की खोज प्रारम्भ हो जाती है। आचार्यश्री की दृष्टि में :

"और/तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है
यह अपूर्व घटना/इसलिए है कि/तूने/निश्चित-रूप से/प्रभु को,
गुरु-तम को/पहचाना है !/तेरी दूर-दृष्टि में/पावन-पूत का बिम्ब
बिम्बित हुआ अवश्य !/असत्य की सही पहचान ही/सत्य का अवधान है, बेटा !
पतन पाताल का अनुभव ही/उत्थान-ऊँचाई की/आरती उतारना है !"(पृ.९-१०)

मिट्टी का यह कथन भी अवलोकन योग्य है :

"लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।" (पृ. ५१)

यही परम सत्य प्रतीत होता है, क्योंकि जिसे लघुता का बोध हो जाता है, वही गुरुता की ओर बढ़ता है।

कुछ लोगों की ऐसी मान्यता है कि जो दलित हैं उनका उद्धार सम्भव नहीं है। जो उच्च हैं, वे उच्च ही रहेंगे और जो निम्न हैं, वे निम्न ही रहेंगे। किन्तु आचार्यश्री इसका खण्डन करते हैं। उनका मानना है कि सभी जीवों में परिवर्तन सम्भव है। जो निम्न (नीच) हैं उन्हें उठाया भी जा सकता है। नीच व्यक्ति को ऊपर उठाना सभ्यता की निशानी है तथा प्राणी मात्र का धर्म है। किन्तु दलितोत्थान की यह प्रक्रिया शारीरिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक सहयोग मात्र से पूरी नहीं होगी। इस कार्य के लिए तो दलितों को सात्त्विक संस्कारों में ढलना होगा। तभी वे उच्च पद, उच्च सत्ता का स्पर्श कर सकेंगे। 'मूकमाटी' में यह धारणा इस रूप में व्यक्त हुई है :

"अपनाना–/अपनत्व प्रदान करना/और/अपने से भी प्रथम समझना पर को
यह सभ्यता है,प्राणी-मात्र का धर्म;/परन्तु यह कार्य/यथाक्रम यथाविधि हो
इस आशय को और खोलूँ–/उच्च उच्च ही रहता/नीच नीच ही रहता
ऐसी मेरी धारणा नहीं है,/नीच को ऊपर उठाया जा सकता है,
उचितानुचित सम्पर्क से/सब में परिवर्तन सम्भव है।/परन्तु ! यह ध्यान रहे–
शारीरिक, आर्थिक, शैक्षणिक आदि/सहयोग-मात्र से/नीच बन नहीं सकता उच्च
इस कार्य का सम्पन्न होना/सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।" (पृ. ३५७)

अपने दुर्गुणों/दोषों को जलाने वाला उच्च अवस्था को प्राप्त कर लेता है। 'मूकमाटी' में 'कुम्भ' का यह कथन सही कदम एवं सही धर्म का पोषण करता है :

"...मेरे दोषों को जलाओ !/मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है

स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।'' (पृ. २७७)

निरन्तर परिश्रम करने, पर-स्त्री को माता तुल्य समझने तथा दूसरे के धन को मिट्टी-समान समझने वाला ही उच्च जीवन को प्राप्त करता है। 'मूकमाटी' में 'आकाशवाणी' के माध्यम से यह प्रेरक विचार प्रत्यक्ष होता है :

''परिश्रम करो/पसीना बहाओ/बाहुबल मिला है तुम्हें
करो पुरुषार्थ सही/पुरुष की पहचान करो सही,/परिश्रम के बिना तुम
नवनीत का गोला निगलो भले ही,/कभी पचेगा नहीं वह
प्रत्युत, जीवन को खतरा है!/पर-कामिनी, वह जननी हो,
पर-धन कंचन की गिट्टी भी/मिट्टी हो सज्जन की दृष्टि में!''(पृ.२११-२१२)

पराधीनता और दूसरों की बुद्धि पर आधारित क्रियाएँ भी दलित बनाने में कारण बनती हैं। स्वाधीनता से पदोन्नति सुनिश्चित होती है। आचार्यश्री की प्रेरणा है :

''अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,/'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो!'' (पृ. ४७७)

आचार्यश्री आश्वस्त हैं कि दलितों की स्थिति में बदलाव आएगा। अज्ञान, वैषम्य, प्रमाद, अशान्ति, सांसारिक दुःखमयता एवं अनास्था की काली रात अवसान की ओर है तथा स्व-जीवनोत्थान की उषा का उदय हो रहा है। 'मूकमाटी' के प्रारम्भ में आचार्यश्री ने लिखा है :

''निशा का अवसान हो रहा है/उषा की अब शान हो रही है।'' (पृ. १)

वास्तव में जिसमें सह-अस्तित्त्व की भावना है, स्व-जीवनोत्थान की ललक है, जो ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' की भावना के प्रति आस्था रखता है तथा प्राणीमात्र की सुरक्षा के प्रति सजग है, ऐसा अहिंसक प्राणी न तो स्वयं दलित होता है और न दूसरों को पद-दलित करता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी एक प्रबुद्ध श्रमण साधक सन्त हैं जिनके मन-हृदय में करुणा का सागर हिलोरें लेता रहा है। वे निरीह प्राणी भी उनके पद से आक्रान्त न हो पाएँ, इसलिए ईर्यापथ शुद्धिपूर्वक गमन करते हैं। उनकी क्रियायें, आचरण, व्यवहार एवं विचार स्वावलम्बन के जीवन्त प्रमाण हैं। वे स्वयं स्वाधीनता के मार्ग पर चल रहे हैं तथा अपने उपदेशों से प्राणी मात्र को स्वाधीन बनाने का उपक्रम अनायास करते हैं। ऐसे महान् श्रमण के विचार 'मूकमाटी' में 'दलितोत्थान के स्वर' रूप में सहज ही प्रकट/प्रस्फुटित हुए हैं। वे दलितों के प्रति मानवीय दृष्टि रखते हैं। उनके बताए संस्कारित/कंटक रहित मार्ग का अवलम्बन लेने पर दलितों का उत्थान अवश्यंभावी है। उनकी सद्भावना 'मूकमाटी' में कुम्भ के मुख से जिस रूप में निस्सृत हुई है, उससे यह बात सिद्ध होती है कि वे सम्पूर्ण प्राणियों/चराचर जगत् के सच्चे हितसाधक हैं।

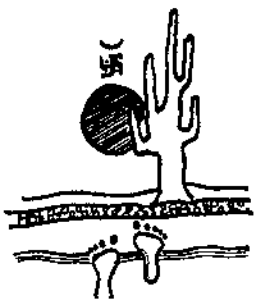

पृ. ३.
पथ पर चलता है....
------ मन से भी!

□

'मूकमाटी' : हिन्दी का नवीनतम महाकाव्य

डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल

हिन्दी महाकाव्य लिखने की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। जबसे महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने महाकवि स्वयम्भू के 'पउम चरिउ' को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य घोषित किया, हिन्दी में महाकाव्य लिखने की परम्परा आठवीं-नवमीं शताब्दी तक पहुँच गई। महाकवि स्वयम्भू के पश्चात् अपभ्रंश में, जिसे प्राचीन हिन्दी कहा जाता है, जैन कवियों ने बीसों काव्य लिखे, जिनमें ग्यारहवीं शताब्दी में महाकवि वीर द्वारा वीर-शृंगार रस प्रधान 'जंबूसामी चरिउ', धनपाल द्वारा निबद्ध 'भविसयत्त कहा', यश:कीर्ति द्वारा 'चंदप्पह चरिउ' एवं जयमित्र हल का 'बड्ढमाण चरिउ' के नाम विशेषत: उल्लेखनीय हैं। महाकवि रइधू ने अपभ्रंश में बीसों काव्य लिखकर एक कीर्तिमान् स्थापित किया। अपभ्रंश भाषा के अतिरिक्त हिन्दी में जायसी ने 'पदमावत' काव्य लिखा, ब्रह्म जिनदास ने 'रामरास' जैसा महाकाव्य हिन्दी में लिखकर इस काव्य परम्परा को आगे बढ़ाया। महाकवि तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' जैसा लोकप्रिय महाकाव्य हिन्दी जगत् को उपलब्ध कराया।

विगत पचास वर्षों में पचास से भी अधिक प्रबन्ध काव्य लिखे गए जिनमें 'प्रियप्रवास', 'कामायनी', 'वर्धमान' जैसे महाकाव्यों के नाम उल्लेखनीय हैं। भगवान महावीर के पच्चीस सौवें परिनिर्वाण महोत्सव पर महावीर के जीवन पर आधारित पाँच-छह महाकाव्य लिखे गए। अभी कुछ वर्ष पूर्व ही प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की जीवन कथा पर आधारित 'ऋषभायन' महाकाव्य लिखकर डॉ. छोटेलाल शर्मा 'नागेन्द्र' ने महाकाव्यों की परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। इसी तरह सन् १९८८ में आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने हिन्दी में एक महाकाव्य लिखने का गौरव प्राप्त किया।

परमपूज्य आचार्य विद्यासागरजी अपने चिन्तन, मनन, तपश्चरण एवं सतत लेखन के लिए प्रसिद्ध युवा आचार्य हैं। उनकी वाणी में आकर्षण है तथा लेखनी में जादू है। सतत तपश्चर्या में लीन रहने पर भी 'मूकमाटी' जैसे महाकाव्य की रचना उनकी अद्‌भुत लेखनशक्ति का परिचायक है। कन्नड़भाषी होने पर भी संस्कृत एवं हिन्दी आदि में उनकी लेखनी अनवरत रूप से चलती रहती है। अब तक संस्कृत में पाँच शतक तथा हिन्दी में आपकी चार काव्य कृतियाँ, विभिन्न ग्रन्थों के पद्यानुवाद, अनेक शतक एवं प्रवचन संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। वे राष्ट्रीय जैन सन्त हैं और ग्राम, नगर एवं तीर्थ क्षेत्रों में विहार करते हुए जन-जन को सम्यक् मार्ग पर चलने के लिए अपने वचनामृत पिलाते रहते हैं।

'कामायनी' महाकाव्य को छोड़कर अब तक जितने भी महाकाव्य लिखे गए हैं, वे सब पौराणिक कथानकों के आधार पर निबद्ध महाकाव्य हैं। 'कामायनी' का आधार शतपथ ब्राह्मण, वेद एवं पुराणों में लिखित सामग्री है।

'मूकमाटी' हिन्दी का ऐसा नवीनतम महाकाव्य है जिसका नायक न तो त्रेसठ शलाका महापुरुषों में से है, न कोई पुण्यशील महापुरुष है, न ही राजपुरुष है और न कोई श्रेष्ठिवर्ग में से है। किन्तु, अब तक की महाकाव्यों की परम्पराओं से हटकर आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' काव्य की नायिका माटी को बनाया है। काव्य में नायक का स्थान किसी एक को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह काव्य के अन्तिम अध्याय तक नायिका के साथ नहीं रह पाता। यद्यपि काव्य में शिल्पी कुम्भकार तीन सर्ग तक नायक की भूमिका निभाता है तथा चतुर्थ सर्ग में नायक का स्थान सेठ ले लेता है। इन तीन पात्रों के अतिरिक्त और भी बहुत से पात्र बीच में आकर अपनी भूमिका निभाकर चले जाते हैं।

इस महाकाव्य में धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के सार को मुक्त छन्दों में निबद्ध करके काव्यरचना को नया स्वरूप प्रदान किया गया है। इसके वर्णन घटना प्रधान न होकर भाव प्रधान हैं। महाकवि की चिन्तनशील विचारों पर आधारित कथावस्तु पाठक को एक नई दृष्टि प्रदान करती है।

प्रस्तुत महाकाव्य केवल चार सर्गों में विभक्त है। ये सर्ग सर्ग ही हैं खण्ड नहीं, जैसा कि महाकाव्य की प्रस्तावना

में श्री लक्ष्मीचन्द जैन ने लिखा है, क्योंकि स्वयं महाकवि ने काव्य के अन्त में सर्गों का विभाजन निम्न प्रकार किया है :

"...कुम्भकार का संसर्ग किया सो/सृजनशील जीवन का आदिम सर्ग हुआ।
...अहं का उत्सर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ।
...तुमने अग्नि-परीक्षा दी/उत्साह साहस के साथ/जो/सहन उपसर्ग किया
सो/सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ। /बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को
तुमने ऊर्ध्वगामी ऊर्ध्वमुखी/जो/स्वाश्रित विसर्ग किया,/सो
सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२-४८३)

इस प्रकार स्वयं महाकवि ने अपने महाकाव्य को सर्गों में बाँटकर खण्ड, अध्याय जैसे नामों को कोई स्थान नहीं दिया है।

कथावस्तु : 'मूकमाटी' महाकाव्य का प्रारम्भ बिना मंगलाचरण के हुआ है। यद्यपि मंगलाचरण करने की बहुत प्राचीन परम्परा रही है तथा बड़े-बड़े जैनाचार्यों ने इस परम्परा का निर्वाह किया है, लेकिन महाकवि स्वयं ही पंच-परमेष्ठियों में आचार्य परमेष्ठी हैं, जो मंगलस्वरूप हैं। अत: स्वयं मंगलस्वरूप होने पर मंगलाचरण का विशेष औचित्य नहीं रहता, सम्भवत: इसीलिए मंगलाचरण करने की परम्परा का निर्वाह नहीं हुआ है। कथा का प्रारम्भ होता है प्रात:काल की बेला से, धरती और माटी के वार्तालाप से। धरती माँ है और माटी उसकी बेटी है। माँ-बेटी का यह सम्बन्ध काव्य में अन्त तक चलता है। सरिता तट की माटी धरती माँ के सामने अपना हृदय खोल कर रखती है और अपने दु:खों का रोना रो देती है। और पूछ बैठती है अपनी माँ से कि उसकी - माटी की पर्याय से इति कब होगी :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

और वह माँ से तीन वस्तुएँ देने को कहती है :

"और सुनो,/विलम्ब मत करो
पद दो, पथ दो/पाथेय भी दो माँ !" (पृ. ५)

कुछ देर मौन रहकर धरा माटी को समझाती है। उसे दुलारवश बेटी नहीं 'बेटा' कहकर सम्बोधित करती है, कुछ दृष्टान्त देती है। इससे माटी को कुछ सान्त्वना मिलती है। धरती माटी का उत्तर सुनकर प्रसन्न होती है और वह कह उठती है :

"कल के प्रभात से/अपनी यात्रा का/सूत्र-पात करना है तुम्हें !
प्रभात में कुम्भकार आयेगा/पतित से पावन बनने,
समर्पण-भाव-समेत/उसके सुखद चरणों में/प्रणिपात करना है तुम्हें,
अपनी यात्रा का/सूत्रपात करना है तुम्हें।" (पृ. १७)

माँ और बेटी के मध्य दार्शनिक चर्चा होती है। थोड़ी ही देर में एक शिल्पी आता दिखाई देता है। वह शिल्पी कुम्भकार ही है। महाकवि ने उसी का नया नाम शिल्पी दिया है। कुम्भकार का नामकरण कैसे हुआ है, इसकी कवि ने बहुत सुन्दर खोज की है :

" 'कुं' यानी धरती /और /'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो

भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

उस शिल्पी ने ओंकार (पंच परमेष्ठी) को नमन करके कुदाली से मिट्टी को खोदकर बोरी में भर लिया। कवि ने लिखा है कि कुदाली की मार खाने पर भी बोरी में भरी मिट्टी लज्जावश नवविवाहिता तनूदरा के समान कुछ नहीं बोलती। और बोरी के ऊपर के छेदों में से ही झाँकने लगती है। लेकिन शिल्पी से माटी की वेदना नहीं सही जाती और उसे वह चारुशीले कहकर कुछ पूछ ही लेता है। माटी को अपना इतिहास बताने में प्रसन्नता होती है। माटी की बात कवि के शब्दों में देखें :

"अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है;
कोठी की नहीं/कुटिया की बात है।" (पृ. ३२)

शिल्पी बोरी में भरी हुई माटी को गधे की पीठ पर लाद देता है। लेकिन गदहा की पीड़ा को माटी अपनी पीड़ा समझ बैठती है। उसके नेत्र सजल हो जाते हैं। शिल्पी माटी के दया के भावों को समझ लेता है और कह उठता है :

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)

क्योंकि पर की दया से ही स्व की (दया का विलोम रूप करने से) याद आती है। इन अल्प शब्दों में कवि ने कितनी सच्चाई भर दी है। 'दया' और 'वासना' के भेद को कवि ने कितनी अच्छी तरह समझाया है :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है–
एक जीवन को बुरी तरह/जलाती है···/भयंकर है, अंगार है!
एक जीवन को पूरी तरह/जिलाती है···/शुभंकर है, शृंगार है।" (पृ.३८)

शिल्पी अपने घर पहुँचकर गदहे की पीठ से माटी की बोरी को उतार लेता है और फिर चालनी लेकर माटी को छानने लगता है। माटी अलग एवं कंकर अलग हो गए। माटी से बिछुड़ने पर कंकरों को बहुत दु:ख होता है और वे शिल्पी से अपने वियोगीकरण का कारण पूछ बैठते हैं। साथ ही, अपने और माटी के सम्बन्धों पर विस्तार से साम्यता बतलाते हैं। शिल्पी कह उठता है कि माटी से उसका शिल्प निखर जाता है और कंकरों से वह शिल्प बिखर जाता है :

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और
खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

वह शिल्पी फिर कहने लगता है :

"संकर-दोष का/वारण करना था मुझे/सो
कंकर-कोष का/वारण किया।" (पृ. ४६)

शिल्पी की बात कंकरों से सही नहीं जाती और वे माटी से अपने लम्बे इतिहास पर प्रकाश डालने लगते हैं और वे शिल्पी से उसके आँखों एवं कानों के दोषपूर्ण होने की बात भी पूछ बैठते हैं :

"गात की हो या जात की/एक ही बात है –/हममें और माटी में
समता-सदृशता है/विसदृशता तो दिखती नहीं!" (पृ. ४६)

फिर शिल्पी और कंकरों में वर्ण संकर की चर्चा चल पड़ती है। शिल्पी क्षीर और नीर, नीर और क्षीर के सम्बन्धों

को स्पष्ट करने लग जाता है :

"नीर का क्षीर बनना ही/वर्ण-लाभ है,/वरदान है।
और/क्षीर का फट जाना ही/वर्ण-संकर है/अभिशाप है
इससे यही फलित हुआ,/अलं विस्तरेण !" (पृ. ४९)

शिल्पी ने कंकरों को जब उनका वास्तविक स्वरूप बतला दिया तो कंकर रो पड़े और कहने लगे :

"ओ मानातीत मार्दव-मूर्ति,/माटी माँ !/एक मन्त्र दो इसे
जिससे कि यह/हीरा बने/और खरा बने कंचन-सा !" (पृ. ५६)

इस पर माटी ने कंकरों को निम्न प्रकार मार्ग बतलाया :

"कंकरों की प्रार्थना सुनकर/माटी की मुस्कान मुखरित हुई
संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है।" (पृ. ५६-५७)

इसके पश्चात् शिल्पी कंकरों से रहित माटी को पानी में भिगोने की प्रक्रिया प्रारम्भ करता है। कुएँ में से पानी निकालने के लिए बालटी को रस्सी से बाँध दी है, लेकिन रस्सी में लगी हुई एक गाँठ नहीं खुलती। बहुत प्रयास किया जाता है लेकिन सफलता नहीं मिलती। शिल्पी को दाँतों ने आकर सहयोग देने की प्रार्थना की और कहा :

"बात का प्रभाव जब/बल-हीन होता है/हाथ का प्रयोग तब
कार्य करता है।/और/हाथ का प्रयोग जब
बल-हीन होता है/हथियार का प्रयोग तब/आर्य करता है।" (पृ. ६०)

लेकिन दाँतों से गाँठ नहीं खुली। तब रसना इन्द्रिय ने आकर उसे भला-बुरा कहा और जैसे ही उसने अपनी लार गाँठ पर छोड़ी, वह हिल उठी और फिर दाँतों ने मिलकर उस गाँठ को खोल दिया। गाँठ तो ग्रन्थि का रूप है। जहाँ ग्रन्थि है, वहाँ निश्चय ही हिंसा झलकती है। ग्रन्थि तो हिंसा की सम्पादिका है, क्योंकि जब गाँठयुक्त रस्सी गिर्री पर गिरेगी तो निश्चित रूप से बालटी का सन्तुलन बिगड़ जाएगा। उसका जल उछल कर कुएँ में जा गिरेगा, जिसके कारण बहुत से जीव कुएँ में पीड़ित हो सकते हैं। शिल्पी के शरीर की छाया कुएँ में मछली पर पड़ी। कुएँ में मछली तड़प गई और अपनी दीन स्थिति पर रोने लगी। उसे अन्ध कूप में से निकालने के लिए प्रार्थना करने लगी। ये सब रूपक हैं जिनके सहारे महाकवि ने संसार की यथार्थता का वर्णन किया है। यह जीव भी पता नहीं कितने समय से अन्धकूप में पड़ा हुआ है, जहाँ उसे ज्ञान की एक किरण भी नहीं दिखाई देती। वह अन्धकूप में से निकलने का प्रयत्न करता है और यदि कभी वह ऊपर आ भी जाता है तो अपने अज्ञान के कारण फिर अन्ध कूप में गिर जाता है। आने और गिरने की प्रक्रिया लगी ही रहती है।

महाकवि ने इस सर्ग में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का आधुनिक अर्थ, सत्युग और कलियुग का यथार्थ अन्तर, व्याधि- आधि और उपाधि का लक्षण एवं सल्लेखना का जो अर्थ समझाया है, वह निश्चित ही महाकवि की प्रभावक काव्यत्व शक्ति का परिचायक है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का कवि ने नवीनीकरण करते हुए लिखा है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८१)

इसी तरह सत्युग और कलियुग को समझाते हुए महाकवि ने लिखा है :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत् युग है, बेटा !/और
असत्-विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् मानने वाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ. ८३)

दूसरे सर्ग का शीर्षक है 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं ।' स्वयं महाकवि ने इस सर्ग का - *"अहं का उत्सर्ग किया/सो/ सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ" (पृ. ४८२)* इन शब्दों में सारांश अथवा शीर्षक दिया है। इस सर्ग में रूपकों की भरमार है। कथा भाग तो इतना-सा है कि शिल्पी द्वारा माटी में पानी मिलाकर तथा उसे पैरों से खूब रौंद करके लोंदा बना दिया जाता है और चाक पर रखकर उसे घट का रूप दे दिया जाता है।

प्रारम्भ में महाकवि ने तन में होने वाले चेतन के निरन्तर नर्तन को देख पाना क्या सम्भव है, इसी को शब्दों में निम्न प्रकार उतारा है :

"तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है य ह/वह कौन-सी आँखें हैं
किस की, कहाँ हैं/जिन्हें सम्भव है/इस नर्तन का दर्शन यह ?" (पृ. ९०)

शिशिर की रात्रि है। शीत से सभी पेड़-पौधों पर हिमपात हो रहा है। वर्षा भी होने लगती है। भयंकर शीत से शरीर में कँपकँपी दौड़ने लगती है, लेकिन उस शिल्पी की ऐसी रात भी सहज रूप में कट जाती है। और पतली-सी चादर ओढ़ कर ही वह सारी रात निकाल देता है। जब माटी शिल्पी से कम्बल ओढ़ने के लिए कहती है तो वह उसका करारा उत्तर देता है, जिसको सुनकर उसे चुप होना पड़ता है :

"पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।
और/अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है···!" (पृ. ९३)

घट निर्माण की इस प्रक्रिया में माटी के साथ एक काँटा आ जाता है। कंकरों को निकालने के पश्चात् भी वह मिट्टी के बीच में बच जाता है। शिल्पी ने माटी के सिर पर कुदाली से प्रहार किए तब उसके सिर पर अनेक चोटें पड़ीं। वह क्षत-विक्षत भी हो गया। उसके प्राण कण्ठगत हो जाते हैं। फिर वह शिल्पी से बदला लेने की सोचता है–"शिल्पी को शल्य-पीड़ा देकर ही/इस मन को चैन मिलेगा"(पृ. ९७)। कवि ने इस प्रसंग का सुन्दर वर्णन किया है। शूल और फूल, फूल और शूल की तुलना होने लगती है। और जब वह माटी से कहता है : "शिल्पी कम-से-कम/इस भूल के लिए/ शूल से क्षमा-याचना तो करे, माँ !" (पृ.१०४-१०५)। तो माटी कुम्भकार को क्षमा की मूर्ति कहती है। लेकिन शिल्पी माटी की बात सुन लेता है और सहज कह उठता है :

"खम्मामि, खमंतु मे–/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

शिल्पी के क्षमा-याचना करने से शूल भी पश्चाताप करने लगा और अपनी विगत भूलों के कारण उसे अपने आप पर ग्लानि होने लगी। और अन्त में शूल ने शिल्पी से सहज भाव से जानना चाहा कि यह 'मोह क्या बला है और मोक्ष क्या कला है ?' इसका शिल्पी ने बहुत संक्षिप्त, किन्तु अर्थपूर्ण निम्न प्रकार उत्तर दिया :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ. १०९-११०)

काव्य में रसों के दर्शन के प्रसंग में वीर रस, हास्य रस, रौद्र रस, बीभत्स रस, करुण रस, शृंगार रस आदि नव रसों को सुन्दर रीति से परिभाषित किया गया है।

इसी सर्ग में महाकवि ने ९ की संख्या का महत्त्व, ३ व ६ की संख्या का एक-दूसरे से विषमता का भी अच्छा चित्रण किया है। कुम्भ पर सिंह और श्वान के चित्रण के प्रसंग में महाकवि ने सिंह और श्वान की चर्चा कर उनके स्वभाव पर तीखा व्यंग्य किया है। सर्ग के अन्त में दार्शनिक तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की व्याख्या भी सीधी-सादी भाषा में निम्न प्रकार हुई है:

"व्यावहारिक भाषा में सूत्र का भावानुवाद प्रस्तुत है :
आना, जाना, लगा हुआ है/आना यानी जनन—उत्पाद है
जाना यानी मरण—व्यय है/लगा हुआ यानी स्थिर—ध्रौव्य है
और/है यानी चिर—सत्/यही सत्य है यही तथ्य''।" (पृ. १८५)

तीसरे सर्ग का नाम है 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।' लेकिन सन्त कवि ने इस सर्ग का सार निम्न शब्दों में दिया है :

"तुमने अग्नि-परीक्षा दी/उत्साह साहस के साथ/जो/उपसर्ग सहन किया,
सो/सृजन-शील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।" (पृ. ४८२-४८३)

इस सर्ग में कुम्भ निर्माण की कथा किंचित् भी आगे नहीं बढ़ पाई है। किन्तु पूरे सर्ग में धरा के उद्भव और विकास, सूर्य, चन्द्रमा एवं सागर की भूमिका तथा पुण्य कर्म से उत्पन्न फल प्राप्ति का सुन्दर चित्रण हुआ है। इसी प्रसंग में महाकवि द्वारा नारी, महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता एवं दुहिता आदि शब्दों की आकर्षक व्याख्या प्रस्तुत की है।

कुम्भकार की अनुपस्थिति में उसके आँगन में मुक्ताओं की वर्षा होती है। वर्षा के समाचार राजा तक पहुँच जाते हैं। उसके सेवक उन्हें बोरियों में भरने को जैसे ही हाथ बढ़ाते हैं वैसे ही आकाश से अनर्थ- अनर्थ, पाप-पाप की ध्वनि होती है और परिश्रम करने को कहा जाता है :

"परिश्रम के बिना तुम/नवनीत का गोला निगलो भले ही,
कभी पचेगा नहीं वह/प्रत्युत, जीवन को खतरा है।" (पृ. २१२)

सभी मुक्ता उठानेवालों की स्वयमेव बुरी दशा हो गई। यहाँ तक कि राजा को अनुभूत हुआ कि उसे किसी मन्त्रशक्ति ने कील दिया है। इतने में वहाँ कुम्भकार भी आ गया। उसके मुख पर विस्मय, विषाद और विरक्ति की रेखाएँ खिंच गईं। वह भगवान् से प्रार्थना करने लगा :

"जीवन का मुण्डन न हो/सुख-शान्ति का मण्डन हो/इन की मूर्च्छा दूर हो
बाहरी भी, भीतरी भी/इन में ऊर्जा का पूर हो।" (पृ. २१४)

इसके साथ ही वह मूर्च्छित मन्त्रिमण्डल के मुख पर मन्त्रित जल का सिंचन करता है। जल के प्रभाव से मूर्च्छा

समाप्त हो जाती है और वे सभी पापभीरु बन जातेहैं लेकिन कुम्भकार विनयावनत हो राजा से कह उठता है : "अपराध क्षम्य हो स्वामिन्" तथा स्वयं अपने हाथों से मुक्ताओं को बोरियों में भरने लगता है। तभी सभी के मुख से ध्वनि निकलती है : "सत्य धर्म की जय हो,'सत्य धर्म की जय हो।" सन्त महाकवि ने बिना पुरुषार्थ से धन संग्रह करने का बहुत अच्छा रूपक लिखा है। महाकवि कहते हैं :

"अधिक अर्थ की चाह-दाह में/जो दग्ध हो गया है
अर्थ ही प्राण, अर्थ ही त्राण यूँ—जान-मान कर,
अर्थ में ही मुग्ध हो गया है,/अर्थ-नीति में वह
विदग्ध नहीं है।/कलि-काल की वैषयिक छाँव में
प्राय: यही सीखा है इस विश्व ने/वैश्यवृत्ति के परिवेश में—
वेश्यावृत्ति की वैयावृत्य···!" (पृ. २१७)

चतुर्थ सर्ग - यह महाकाव्य का अन्तिम सर्ग है। इस सर्ग का शीर्षक है—'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।' यह सर्ग सबसे बड़ा सर्ग है। इसके दो सर्ग भी किए जा सकते थे। वैसे यह सर्ग कथा प्रधान है तथा बीच-बीच में इतनी अवान्तर कथाएँ आ गई हैं जिससे यह सर्ग अकेला सर्ग न रहकर एक छोटा काव्य बन गया।

पूर्व कथा से आगे शिल्पी अपने कच्चे घड़े को अग्नि में रख देता है। घट को अग्नि परीक्षा देने के पश्चात् कलश का रूप मिलता है। कुम्भकार स्वयं अग्नि-परीक्षा देने को तैयार होता है। इसलिए अग्नि कह उठती है :

"मैं इस बात को मानती हूँ कि/अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं/न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

स्वयं कुम्भ भी अग्नि से उसके दोषों को जलाने के लिए कहता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है
स्व-पर दोषों को जलाना/परम-धर्म माना है सन्तों ने।" (पृ. २७७)

जलते हुए अवाँ में कुम्भ पूरा दार्शनिक बन जाता है। तत्त्व चिन्तन बनकर अध्यात्म और दर्शन की गहराइयों में उतर जाता है और दोनों में कार्य कौन और कारण कौन – इसकी मीमांसा अग्नि देवता से निम्न प्रकार सुनने को मिलती है :

"दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से
अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन
चल सकता है, चलता ही है/पर, हाँ!/बिना अध्यात्म, दर्शन का दर्शन नहीं
लहरों के बिना सरवर वह/रह सकता है, रहता ही है/पर हाँ!
बिना सरवर लहर नहीं।/अध्यात्म स्वाधीन नयन है
दर्शन पराधीन उपनयन।" (पृ. २८८)

आज अवाँ से कुम्भ सकुशल बाहर आया है। उसके मुख पर प्रसन्नता है मुक्तात्मा-सी। अब वह कलश कहलाने लगा - मंगल कलश।

इसके पश्चात् कथा का नया मोड़ प्रारम्भ होता है। कलश को खरीदने के लिए नगर सेठ का सेवक शिल्पी के पास आता है, जिसको देखकर कुम्भ और कुम्भकार दोनों प्रसन्न होते हैं। सेठ का सेवक जब कुम्भ का मूल्य कुम्भकार

को देने लगता है तो कुम्भकार बोल पड़ा :

"आज दान का दिन है/आदान-प्रदान लेन-देन का नहीं,
समस्त दुर्दिनों का निवारक है यह/प्रशस्त दिनों का प्रवेश-द्वार।" (पृ. ३०७)

इससे यह भाव निकलता है कि दान की प्रवृत्ति सभी में समान रूप से विद्यमान रहती है। शिल्पी के पास देने को कलश ही था, सो उसने मोल के बिना ही दे दिया। सेठ का सेवक कुम्भ को लेकर चला जाता है। सेठ के घर उस पर स्वस्तिक अंकित किया जाता है। हाथ में लेकर उसके ऊपर श्रीफल रखकर उसे अष्ट पहलूदार चन्दन की चौकी पर सेठ मंगल कलश के रूप में रख देता है। इसके पश्चात् मुनिश्री के आहार विधि की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। महाकवि स्वयं सन्त हैं, आचार्य हैं, अतः आहार की विधि का बहुत विस्तृत वर्णन करते हैं। एक-एक विधि को काव्य रूप प्रदान कर उसे सहज गम्य बना देते हैं। इसके पश्चात् और भी उपकथाएँ आती हैं। कुम्भ से स्वर्ण कलश एवं रजत की थाली की ईर्ष्या, कुम्भ पर लांछन लगाते हुए संवाद, आतंकवाद द्वारा सेठ को परिवार सहित समाप्त करने की योजना, सेठ का वहाँ से परिवार सहित कुम्भ को लेकर निकल जाना, मार्ग में हाथियों द्वारा रक्षा एवं उनकी भयंकर गर्जना, गर्जना का जंगल के अन्य विषैले जीवों पर प्रभाव, प्रलयकारी वर्षा, नदी का वेग, नदी को पार करने के लिए कुम्भ का सहारा, भँवर का प्रकोप, नदी से सेठ के परिवार को डुबोने की प्रार्थना, और भी विभिन्न उपसर्ग, सेठ को छोड़कर परिवार के सदस्यों का आतंकवाद के सामने समर्पण की इच्छा, लेकिन नदी द्वारा आत्म-समर्पण का विरोध द्रष्टव्य है :

"नदी ने कहा तुरन्त,/उतावली मत करो !/सत्य का आत्म-समर्पण
और वह भी/असत्य के सामने ?/हे भगवन् !/यह कैसा काल आ गया,
क्या असत्य शासक बनेगा अब ?/क्या सत्य शासित होगा ?" (पृ. ४६९)

इसी तरह और भी कथानक हैं। अन्त में आतंकवाद का अन्त होता है और होता है अनन्तवाद का श्रीगणेश। अन्त में नदी के उसी तट पर कुम्भ का आगमन होता है। सेठ का परिवार भी नदी पार उतर जाता है। फिर उस कुम्भ ने कुम्भकार का अभिवादन उसी स्थान पर किया जहाँ वह कुम्भकार माटी लेने आया था। इस तरह मूक माटी की महायात्रा पूरी होती है। और महाकाव्य की सुखान्त समाप्ति हुई।

समीक्षा : वर्तमान शती में 'मूकमाटी' किसी जैनाचार्य द्वारा निबद्ध हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। आचार्य विद्यासागरजी महाराज इस काव्य के निर्माता हैं, जो परम सन्त हैं तथा सर्वाधिक समादृत दिगम्बर जैनाचार्य हैं। इसीलिए यह काव्य ऐसी लेखनी से निबद्ध है जो स्वयं पावन है तथा चिन्तन-मनन के विचारों से ओतप्रोत है। कुछ समीक्षक कह सकते हैं कि यद्यपि संस्कृत काव्य ग्रन्थों में महाकाव्य होने के जो लक्षण लिखे हैं, उनमें से बहुत कम लक्षण 'मूकमाटी' में मिलते हैं। सर्ग भी केवल चार हैं तथा छन्द परिवर्तन भी प्रस्तुत महाकाव्य में नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त रस एवं अलंकारों की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' उतना सफल काव्य नहीं बन सका है।

लेकिन 'मूकमाटी' तो एक आध्यात्मिक महाकाव्य है, अतः उसमें संस्कृत एवं हिन्दी के महाकाव्यों के लक्षण कहाँ से मिल सकते हैं ? महाकाव्य की नायिका मूक माटी है, जिसको शिल्पी द्वारा नया जन्म प्राप्त होता है। उसकी अग्नि-परीक्षा होती है, जिसमें वह खरी उतरती है। महाकाव्य की कथावस्तु तो बहुत संक्षिप्त है लेकिन दार्शनिक विषयों का वर्णन-प्रतिपादन इतने सहज ढंग से हुआ है कि दर्शन भी कथा के रूप में हो गया है। वैसे यह कोई राजा अथवा श्रेष्ठी के जीवन को प्रतिपादित करने वाला काव्य नहीं है। यह तो पूरे जैन तत्त्व दर्शन को उजागर करने वाला महाकाव्य है जिसकी एक-एक पंक्ति स्मरण करने योग्य है, मनन करने योग्य है तथा जीवन में उतारने योग्य भी है। इस प्रकार के महाकाव्य कोई महासन्त ही लिख सकते हैं जिन्होंने अपने जीवन में अध्यात्म को आत्मसात् कर लिया है।

महाकाव्य की भाषा शुद्ध हिन्दी है तथा वह इतनी सरल एवं प्रवाहमय है कि महाकाव्य को यदि मनन पूर्वक पढ़ा जाए तो फिर छोड़ने का मन नहीं मानता। प्रारम्भ में कुछ अटपटा अवश्य लगता है कि महाकवि क्या कहना चाहता है, लेकिन जैसे-जैसे उसे हम पढ़ते जाते हैं महाकाव्य का सार समझ में आने लगता है। मुझे स्वयं महाकाव्य को तीन बार पढ़ना पड़ा।

महाकाव्य में सुभाषितों का खुलकर प्रयोग हुआ है। वे जीवन की वास्तविकता को उजागर करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त आचार्यश्री ने विलोम शब्दों के अर्थों पर विशेष प्रकाश डाला है। उससे यह महाकाव्य के साथ-साथ कोश ग्रन्थ भी बन गया है।

मूलत: कन्नड़भाषी होते हुए भी हिन्दी साहित्य को ऐसा अपूर्व महाकाव्य देने के लिए सारा देश एवं विशेषत: हिन्दी भाषाभाषी करोड़ों जन आचार्यश्री के सैकड़ों वर्षों तक कृतज्ञ रहेंगे। आचार्यश्री इसी तरह काव्य सृजन करते रहें, इसी मंगल भावना के साथ उनका हम शत-शत अभिनन्दन करते हैं।

पृ. २३१
लो, अतिथि की
अंजुलि खुल पड़ती है...
---- रसदार या
सूखा-सूखा
सब समान!

'मूकमाटी' : युग चेतना के स्वर

-- *अज्ञात*

विषमताओं से आक्रान्त समय में महाकाव्य का लिखा जाना अति दुष्कर कार्य है, साथ ही अभिनन्दनीय भी। कारण, महाकाव्य में समस्त जीवन बोध को रूपायित किया जाता है, जिसमें अनेक समस्याओं का समाधान सहज ही प्राप्त हो जाता है। 'मूकमाटी' में जीवन के विभिन्न पक्षों का यथायोग्य एवं सुन्दर समायोजन हुआ है जिनके द्वारा कवि ने युग स्वरूप को सम्बोधित किया है। 'मूकमाटी' युग चेतना के स्वर की प्राण शक्ति है। इसमें लौकिक और अलौकिक पक्षों का सुन्दर वर्णन कर कवि ने मानवता को प्रतिष्ठित किया है। इसी उद्देश्य, सन्देश, प्रयोजन में कवि की महत्ता, कवि की दृष्टि और युग की तस्वीर निरूपित हुई है।

'मूकमाटी' में लौकिक पक्ष : लौकिक पक्ष के अन्तर्गत कर्मकाण्ड, पूजा पद्धति, ईश्वर आराधना, व्रत, नियम, परिवार, समाज, राजनीति, धर्म आदि की व्याख्या कर उनके आदर्श स्वरूप को चित्रित किया गया है।

अलौकिक पक्ष : अलौकिक पक्ष में शुद्धि, सात्त्विकता, आचारवाद, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, संयम और तप आदि की आवश्यकता पर बल देकर उनके स्वरूपों को व्याख्यायित किया गया है।

कर्म मानव का आभूषण है, इन्हीं कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य अपने विकास रूप को प्राप्त होता है। सत्कर्मों में निरत रहना ही सच्चा कर्म है। आज इसके विपरीत परिणामों के कारण लोग सत्कर्मों से विमुख होकर मात्र कर्मकाण्ड में ही लीन रहते हैं। ऐसी स्थिति में उन्हें विकृति ही हाथ लगती और मनुष्य पतित रूप/दशा को प्राप्त होता जाता है। आचार्य विद्यासागरजी ने कर्मकाण्ड के इसी स्वरूप को वर्णित किया है :

"उस पावन पथ पर/दूब उग आई है खूब !/वर्षा के कारण नहीं,
चारित्र से दूर रह कर/केवल कथनी में करुणा रस घोल
धर्मामृत-वर्षा करने वालों की/भीड़ के कारण !" (पृ. १५१-१५२)

सत्पथ पर चलता हुआ मनुष्य कभी भी पीछे मुड़ कर नहीं देखता। वह अपने लक्ष्य/उद्देश्य की प्राप्ति में निरन्तर साधना करता हुआ आगे बढ़ता रहता है -- सरिता के समान, साथ में संकल्प-नियम लेकर। तभी वह उत्तुंग शिखर का स्पर्श कर पाता है। आज आदमी व्रत और नियमों की अवहेलना कर लक्ष्य को 'शार्टकट' के रूप में प्राप्त करना चाह रहा है। यही शार्टकट उसकी समस्याओं का मूल कारण है। विद्यासागरजी ने व्रत-नियमों की अवहेलना करने वाले आस्थाविहीन मानव का चित्र खींचा है :

"ये अग्नि-परीक्षा नहीं दे सकते अब,/कोई प्रतिज्ञा छोटी-सी भी
मेरु-सी लग रही है इन्हें,/आस्था अस्त-व्यस्त-सी हो गई,
भावी जीवन के प्रति उत्सुकता नहीं-सी रही।" (पृ. २९२)

धर्म मानव जीवन को जोड़ता है। ईश्वर की आराधना सतत एकाग्रता और श्रद्धा, समर्पण से होती है। ऐसी ही पूजा-भक्ति श्रेयस् देने वाली होती है। सात्त्विक और सत्कर्मों से पूरित आस्था और विश्वास से की गई प्रार्थना ही सार्थक होती है। आज की पूजा-पद्धति में सिर्फ स्वार्थता, लोलुपता और संकीर्णता आ गई है। आचार्य विद्यासागरजी ने पथ भ्रमित पूजा-पद्धति का प्रचार करने वालों का चित्र चित्रित किया है :

"आज श्वास-श्वास पर/विश्वास का श्वास घुटता-सा

देखा जा रहा है···प्रत्यक्ष !/और सुनो !/बाहरी लिखावट-सी
भीतरी लिखावट/मात मिल जाये,/फिर कहना ही क्या !/यहाँ··· तो···
'मुँह में राम/बगल में छुरी'/बगुलाई छलती है।" (पृ. ७२)

आज विकृतियाँ जीवन के हर क्षेत्र में प्रविष्ट हो गई हैं। उसका मूलभूत कारण धर्म का वास्तविक रूप छोड़ देने, न समझने से है। मानव की अवनति का कारण धर्म की अवज्ञा करना है तथा कथनी और करनी में अन्तर का होना भी है। धर्म के नाम पर सम्प्रदायवाद की नींव तैयार करने वालों के कारण ही अराजकता बढ़ती चली जा रही है। आचार्यश्री ने कविता के माध्यम से धर्म की विकृत दशा का खेदमय वर्णन प्रस्तुत किया है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र, शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।/और/प्रभु-स्तुति में तत्पर
सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है/प्रभु-पथ पर चलने वालों को।
समय की बलिहारी है !" (पृ. ७३)

धर्म, मानव जीवन के उन्नयन का आधार है। लेकिन भौतिकता की चकाचौंध में धर्म को 'अफीम' कहने वालों तथा धर्म की आड़ में चोट करने वालों की वजह से ही जीवन के विभिन्न स्तरों में गिरावट आई है। आज धर्म मात्र प्रदर्शन की वस्तु रह गया/जाता है और सांस्कृतिक मूल्य खोते चले जा रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में समाज का स्वरूप क्या होगा ? आचार्यश्री ने उसी रूप को हमारे सम्मुख रखा है :

"हाय रे !/समग्र संसार-सृष्टि में/अब शिष्टता कहाँ है वह ?
अवशिष्टता दुष्टता की रही मात्र !" (पृ. २१२)

इस दुष्टता का कारण मानव की मोही और लोभी प्रवृत्तियाँ ही हैं, जो उसे सत्कार्य करने से दूर हटाती हैं। फलस्वरूप इसी धन-संग्रह की घृणित लालसा ने मानव को मानव से दूर कर दिया है और सभी रिश्ते-नाते, संवेदनाएँ भी खोखली-सी हो चुकी हैं। आचार्यश्री ने धन-लोलुपता नष्ट कर आत्मीय और जन-कल्याण के लिए सतत प्रयत्नशील रहने का मार्ग बतलाया है। साथ ही जन-संग्रह के लिए धन नीति का विरोध किया है :

"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो
अँधाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)

यह वितरण का सिद्धान्त ही मानव को पूर्ण स्वायत्तता और विकास दे सकता है। आचार्य विद्यासागरजी ने राजनीतिगत सन्दर्भों में राजसत्ता को काँटों की शैया कहा है। वह मात्र फूलों की सेज नहीं है। शासक तभी उन घोषित नारों को यथार्थ रूप दे सकते हैं, जब वे स्वयं उनका उसी रूप में ही उपयोग करें। प्रचार-प्रसार के चक्करों से दूर प्रशस्त आचार-विचारों वाला जीवन ही समाजवाद की परिधि में आता है। लेकिन आज ऐसा कहाँ दृष्टिगोचर होता/हो पा रहा है ? भोग-विलास और सत्ता मद में डूबे शासक समाजवाद के नाम पर क्या कर रहे हैं - उसी तथ्य की स्पष्ट विवेचना विद्यासागरजी ने की है :

"स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें/मुझे मिलें अच्छी वस्तुएँ–
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी,/फिर भला बता दो हमें,

आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी ?/सबसे आगे मैं/समाज बाद में !''
(पृ. ४६०)

इन विकृतियों, समस्याओं के कारण ही सारे मानव समुदाय में दु:ख और क्लान्ति,विनाश और विध्वंस के बादल मँडरा रहे हैं। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का दुश्मन हो रहा है। आचार-विचार, आहार-विहार सभी कुछ दूषित होता जा रहा है। इन विद्रूपताओं से निपटने के लिए मानव मात्र ही उत्तरदायी होगा। वह जैसा करेगा, वैसा ही भरेगा। अतएव जीवनोत्थान के लिए, सुख-शान्ति के लिए आचार्य श्री विद्यासागर ने उन आदर्शों पर बल दिया है जो समस्त मानव जाति में संजीवनी की तरह अमरत्व लाते हैं।

आचारवादिता - 'मूकमाटी' में आध्यात्मिक पक्ष : मोह-माया का प्रपंच बड़ा ही प्रबल होता है। इसके प्रभाव से प्रभावित हुए बगैर कोई भी नहीं रह सकता। फिर भी मानव को चाहिए कि वह सात्त्विक जीवन व्यतीत करे, क्योंकि प्रपंचमय जीवन कभी भी शान्ति प्रदान नहीं कर सकता। विषय और कषायें जीवन का सर्वनाश कर देती हैं। उनका बहाव इतना तीव्रतम होता है कि अपने आपको रोक पाना अत्यधिक कठिन है। आचार्यश्री ने मानव जगत् को इस बहाव में न बहने की बात बतलाई है :

''अपने जीवन-काल में/छली मछलियों-सी/छली नहीं बनना
विषयों की लहरों में/भूल कर भी/मत चली बनना !'' (पृ. ८७)

परिग्रह का प्रभाव समकालीन समय में दिनोंदिन बढ़ता ही चला जा रहा है। संग्रह की यह प्रवृत्ति अन्तहीन है। दूसरे शब्दों में इसे हम लोभ की प्रवृत्ति भी कह सकते हैं। यह प्रवृत्ति मानव जाति में ही ज्यादातर देखने को मिलती है, इतर प्राणियों में नहीं। इसका मूल कारण मानव का मन ही है जो उसे इस ओर प्रवृत्त कर रहा है। इसीलिए इस धरित्री के प्राणियों में सर्वाधिक खतरनाक प्राणी भी मानव ही है।

ईश्वरीय, प्रभु, भगवत् सत्ता सर्वमान्य सत्य है। इस सत्य को कदापि नहीं झुठलाया जा सकता। हाँ, बहलाया अवश्य जा सकता है। अत: मानव को चाहिए कि वह इस सत्ता के अनुसार ही जीवन को स्वतन्त्र रूप से चलने दें, उसमें किसी भी प्रकार की टोका-टाकी न करे, क्योंकि अनेक प्रकार के प्रलोभन जहाँ जीवन को दुराग्रही बनाते हैं, वहीं उसकी वास्तविकता भी लगभग समाप्तप्राय हो जाती है :

- *''मानव के सिवा/इतर प्राणि-गण/अपने जीवन-काल में*
  परिग्रह का संग्रह करते भी कब ?'' (पृ. ३८६)
- *''सूखा प्रलोभन मत दिया करो/स्वाश्रित जीवन जिया करो,*
  कपटता की पटुता को/जलांजलि दो !'' (पृ. ३८७)

समकालीन समय में एकता की आवश्यकता है, साथ ही संगठित होने की आवश्यकता भी है। तभी हम प्रत्येक चुनौतियों का डटकर मुकाबला कर सकेंगे। राजनैतिक स्थितियाँ दिनोंदिन भयावह होती जा रही हैं। स्वार्थ के कारण मदान्ध पड़ौसी देश, हमारे देश के भू-भाग को हड़पने का दुस्साहस करने का विचार कर रहे हैं। यह अशुभ संकेत है। इससे बचने के लिए धन-संग्रह कम, किन्तु जन-संग्रह की मूलभूत आवश्यकता है। अब समय आ गया है जब हमें धन के लोभ का परित्याग करना चाहिए। धन को बाँटकर ऐसी चीज अर्जित करना चाहिए जो हमें और हमारे राष्ट्र दोनों के लिए शुभप्रद हो।

मानवीय स्वभाव अहं के परित्याग का नहीं है। वह प्रत्येक स्थिति में इसे सम्पोषित कर रखना ही चाहता है। यही वजह है कि जब इस अहं को कभी भी जाने-अनजाने चोट पहुँचती है तो फिर इससे जो चिनगारी उत्पन्न होती है उसका स्वरूप प्रतिशोधात्मक हुआ करता है। प्रतिशोध निरन्तर अशान्ति को बढ़ाकर जीवन के अमन-चैन को समाप्त कर देता है। हमें चाहिए कि हम इसे (अहं को) त्याग दें, नहीं तो शुभ/सुख की प्राप्ति सम्भव नहीं :

"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है।
अति-पोषण या अति-शोषण का भी/यही परिणाम होता है,
तब/जीवन का लक्ष्य बनता है, शोध नहीं,/बदले का भाव···प्रतिशोध !
जो कि/महा-अज्ञानता है, दूरदर्शिता का अभाव
पर के लिए नहीं,/अपने लिए भी घातक !" (पृ. ४१८)

सम-सामयिक समय कृतज्ञता की अपेक्षा कृतघ्नता का ज्यादा है। स्वार्थ में व्यक्ति इतना लिप्त हो गया है कि व्यक्ति का ध्येय केवल कार्यसिद्धि पर ही टिका रहता है। इसीलिए कार्यसिद्धि के उपरान्त सिद्धि के साधन के प्रति कृतज्ञता को ज्ञापित करना व्यक्ति उचित ही नहीं समझता। जबकि यही उसका सबसे बड़ा दुर्गुण है जो उसे जीवन में पग-पग पर अनेक कठिनाइयों का सामना करने के लिए बाध्य करता है। यह प्रवृत्ति पाश्चात्य देशों में प्राय: कम ही देखने को मिलती है। यही वजह है कि वहाँ पर 'थैंक्स' (Thanks) का प्रचलन सर्वाधिक है। इस छोटे से शब्द में भावना की जो निष्ठा विद्यमान है वह नि:सन्देह प्रबल है और जो किसी भी कार्यसिद्धि की पूरक बन सकती है :

"गुणों में गुण कृतज्ञता है,/...जिस सज्जन को यह मिलती है
वह अगाध जल में भी/अबाध पथ पा जाता है।" (पृ. ४५४)

इस नश्वर संसार में प्राणीमात्र को नश्वरता का एहसास होना नितान्त आवश्यक है। तभी मोह का त्याग सम्भव है, अन्यथा नहीं। मोह का प्राबल्य इतना अधिक होता है कि प्राणियों की जागृति/होश भी हवा में गुम हो जाता है। होश का गुम हो जाना व्यक्ति के पतन की निशानी है। इससे व्यक्ति प्राय: अनभिज्ञ ही रहना चाहता है। परन्तु इस अनभिज्ञता का परिणाम अशुभ है, अतएव समय से पूर्व ही चेत जाना आवश्यक है :

"रस्सी को सर्प समझ कर/विषयों से हीन होता है···तो···कभी
सर्प को रस्सी समझ कर/विषयों में लीन होता है।
यह सब मोह की महिमा है/इस महिमा का अन्त/तब तक हो नहीं सकता
स्वभाव की अनभिज्ञता/जीवित रहेगी जब तक।" (पृ. ४६२)

कवि सर्वाधिक संवेदनशील प्राणी होता है। वह संसार के प्रत्येक प्राणी की मंगल कामना करता है। इस कामना में परिवार, समाज और देश सभी का हित छिपा रहता है। वह (कवि) हिंसा के स्थान पर अहिंसा, पाप के स्थान पर पुण्य/प्रशस्तता, विषाद के स्थान पर हर्ष और दु:ख के स्थान पर सुख की कामना सदैव ही करता है। यही भाव उसके 'उदार हृदय' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रवृत्ति की ओर इंगित करते हैं :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव।" (पृ. ४७८)

सांसारिक बन्धन ही मानव मात्र को कष्ट दिलाने के लिए सबसे जटिल/प्रबल कारण हैं। बन्धनों की शिथिलता जीवन के सुख का पर्याय है और इनका टूट जाना ही मुक्ति का उपाय है। इनके टूटने की प्रेरणा प्रदान करना ही 'मूकमाटी' का सन्देश है और जीवन को सुखमय बनाने की प्रेरणा देना ही इस कृति का प्रयोजन है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है।" (पृ.४८६)

उद्देश्य : 'मूकमाटी' में लौकिक एवं अलौकिक पक्षों का वर्णन करते हुए कवि ने महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए स्वयं ही 'मानस तरङ्ग' में उद्घोषित किया है : "जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना तथा युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है...तथा नूतन-शोध-प्रणाली को आलोचन के मिष लोचन देना है।" इसके साथ ही साथ विश्वबन्धुत्व-भावना का विकास, दया और अहिंसा की स्थापना, जीवन को गौरवान्वित करने वाली भावनाओं का उदात्तीकरण भी इस 'मूकमाटी' में हुआ है। इस पर आरूढ़ हो, उन्हें धारण कर मानव, महामानव जैसे पद को धारण/प्राप्त कर सकता है। 'मूकमाटी' का उद्देश्य शुष्क और नीरस हृदयों में शुद्ध एवं सात्त्विक कर्म-धर्म की प्रवृत्तियों का प्रवाह करना है। जो सतत आस्था, विश्वास, अनुशासन, समर्पण, समता और शील आदि के धारण-पालन से ही सम्भव है। अत: निश्चित ही 'मूकमाटी' भारतीय पुरुषार्थों– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का निरूपण करती हुई मोक्ष प्राप्ति का लक्ष्य साधती है तथा उसी की प्राप्ति में सतत निरत रहती, रहने का सन्देश देती है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कृतिकार सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति अपने उद्देश्य की भावना भाते हैं :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें–/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल/विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस !" (पृ.४७८)

सन्देश और प्रयोजन : प्राणीमात्र के जीवन में महत् उद्देश्यों की प्राप्ति, पूर्ति हेतु 'मूकमाटी'कार ने मानवतावादी जीवन मूल्यों की मनोरम व्याख्या प्रस्तुत की है तथा वेदना को चिर सुख में बदलने की प्रभु से प्रार्थना भी की है। वह सम्पूर्ण विश्व के तामस को अपने में भर लेना चाहते हैं और प्रतिफलस्वरूप सृष्टि में समता प्रवाहित कर देना चाहते हैं। विश्व प्रेम को स्थापित करते हुए उन्होंने अपना सन्देश मुखरित किया है :

"सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !" (पृ. १०५)

और सम्पूर्ण सृष्टि में मानव धर्म की स्थापना करने हेतु उन्होंने स्पष्ट किया है :

"दिवि में, भू में/भूगर्भों में/जिया-धर्म की
दया-धर्म की/प्रभावना हो···! (पृ. ७७-७८)

कवि का सन्देश पीड़ित और व्याकुल संसार में सुख और समृद्धि की सरिता प्रवाहित करता है। इसके लिए उन्होंने 'स्व' और 'पर' को समझने का अनोखा सन्देश दिया है।

□

'मूकमाटी' में व्यंग्य-विनोद

डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी

शैली और वचन भंगिमा के रूप में व्यंग्य की चर्चा हर कालखण्ड की, हर विधा की, हर रचना के सन्दर्भ में होती रही है। सृजन के स्तर पर अनुभव को साकार करने के विभिन्न प्रतिरूपों में से एक व्यंग्यशैली भी है, जिसमें जीवन की विसंगतियों तथा मिथ्याचारों को एक विशिष्ट अंदाज़ में प्रस्तुत किया जाता है। व्यंग्य का यह विशिष्ट अंदाज़ अनुभव, शिल्प, भाषा, सम्प्रेषण सभी स्तरों पर सामान्य सृजन से भिन्न होता है। व्यंग्यशैली अनुभव और अध्ययन, प्रहार और निरीक्षण, अभिव्यक्ति और प्रयोग आदि की सावधान और बेपरवाह, लाक्षणिक और बोधगम्य, आकर्षक और प्रभावशाली अभिव्यंजना है। व्यंग्य सर्जना के समानान्तर रचनाकार हास्य-विनोद की प्रस्तुति की दिशा में भी सतत सक्रिय रहे हैं। हास्य का व्यावहारिक और साहित्यिक अनुभव सहज ही आनन्दमय होता है। अपनी मनोरंजनधर्मी विनोदवृत्ति के कारण हास्य की सार्वभौम और व्यापक प्रासंगिकता से भला किसे इनकार हो सकता है। समस्त रागद्वेषों से असम्पृक्त हास्यविनोद की भावना कोमल और निपट मनोरंजनकारी होती है। यही कारण है कि व्यंग्य-विनोद का प्रसार गरीब की झोपड़ी से लेकर राजप्रासादों तक, शृंगार से लेकर भक्ति तक है। संसार की हर भाषा का साहित्यिक फलक हास्य और व्यंग्य के सहज संयोजन से अनुप्राणित है। घोर दार्शनिक और वैचारिक रचनाएँ भी इसके प्रभाव क्षेत्र में हैं, जैसे आचार्य विद्यासागर की काव्यकृति 'मूकमाटी'।

इस श्रेष्ठ महाकाव्य की सघन आध्यात्मिक-दार्शनिक विचार-सम्पदा के बीच व्यंग्य और विनोद के कतिपय प्रसंगों और फुहारों ने इस काव्यकृति को अतिरिक्त आकर्षण प्रदान किया है। हास्य और व्यंग्य का अपारम्पिक समायोजन कवि आचार्य विद्यासागर की शब्दसृष्टि की एक विलक्षणता है। भले ही हास्य और व्यंग्य के बारे में उनकी निजी स्थापनाएँ चिन्तन की दार्शनिक गम्भीरता से आवृत्त हैं पर उनके महाकाव्य में आए व्यंग्य-विनोद के अवसर प्रहार और सरसता के संकल्प की ही सिद्धि करते हैं। आचार्यप्रवर ने हास्य का निषेध उन सारे लोगों के लिए किया है जो अपने भीतर आध्यात्मिक वेद-भाव का विकास करना चाहते हैं और स्थितप्रज्ञ होते हैं। अपनी इस हास्यधारणा को उन्होंने शिल्पी के माध्यम से व्यक्त किया है :

"खेद-भाव के विनाश हेतु/हास्य का राग आवश्यक भले ही हो
किन्तु वेद-भाव के विकास हेतु,/हास्य का त्याग अनिवार्य है
हास्य भी कषाय है ना !/हँसन-शील/प्रायः उतावला होता है
कार्याकार्य का विवेक/गम्भीरता धीरता कहाँ उसमें ?
बालक-सम बावला होता है वह/तभी तो···!/स्थित-प्रज्ञ हँसते कहाँ ?"
मोह-माया के जाल में/आत्म-विज्ञ फँसते कहाँ ?" (पृ. १३३-१३४)

अपनी इस उच्च दार्शनिक चिन्तन शिला पर अवस्थित वैचारिकता के कारण ही उन्होंने हास्यकवियों के सबसे पुराने और प्रिय अवलम्बन की भी नई व्याख्या की है। अमीर खुसरो से लेकर आज तक की हिन्दी कविता में गदहा हास्य रस का लोकप्रिय आलम्बन है। 'मूकमाटी' का 'गदहा' भगवान् से प्रार्थना करता है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग

हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस
और कुछ वांछा नहीं/गद···हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

गदहे का यह दार्शनिक शब्द अन्वय कहीं से उसकी परम्परागत हास्य व्याख्या के मेल में नहीं है। लेकिन, जहाँ आचार्य विद्यासागर उसकी कार्यसक्रियता का ज़िक्र करते हैं, वहाँ हास्य अनायास ही आहूत हो गया है :

"उसका अपना साथी-सहयोगी/आहूत हुआ/अवैतनिक 'गदहा'।" (पृ. ३४)

यहाँ गदहे के साथ जुड़ा विशेषण 'अवैतनिक' हास्य की स्मित रेखा उभारने के लिए पर्याप्त है। यह ठीक वैसा ही विशेषण विधान है, जैसा कभी अज्ञेय ने इन पंक्तियों में किया था :

"मूत्रसिंचित मृत्तिका के वृत्त में/तीन टांगों पर खड़ा नतग्रीव
धैर्यधन गदहा।" (इत्यलम्, पृ. १६६)

इस धैर्यधन गदहे से 'मूकमाटी' में आए 'अवैतनिक गदहे' की व्यंजना विनोद के स्तर पर कम प्रभावशाली नहीं है। लेकिन, ऐसे हास्य की अपेक्षा सुधाराकांक्षी व्यंग्य आचार्य विद्यासागर के अधिक अनुकूल है। इसका कारण यही है कि धर्म, चिन्तन और उपासना के क्षेत्र में अपनी विशिष्टता प्रमाणित करते हुए भी उन्होंने परिवेश के सच के प्रति अपनी आँखों को लगातार खुला रखा है। परिणामत: समाज, संस्कृति, राजनीति और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आए विभिन्न स्खलनों से वे अपरिचित नहीं हैं। उनकी स्वाभाविक चिन्ता है कि सारे सनातन और शाश्वत मूल्य अपना अर्थ खोने लगे हैं। धर्म की अधोगति के सन्दर्भ में आचार्य विद्यासागर ने कालचक्र की इस विसंगति पर सीधा प्रहार किया है :

"कहाँ तक कहें अब !/धर्म का झण्डा भी/डण्डा बन जाता है
शास्त्र शस्त्र बन जाता है/अवसर पाकर।/और/प्रभु-स्तुति में तत्पर
सुरीली बाँसुरी भी/बाँस बन पीट सकती है/प्रभु-पथ पर चलनेवालों को
समय की बलिहारी है !" (पृ. ७३)

समय इतना बदल गया है कि कथनी और करनी, लिखित और कथित, दृष्टि और कर्म में पर्याप्त अन्तराल है। दानवत्ता अब दानवता में बदल गई है, भारत पूरी तरह महाभारत बन गया है। परिवर्तन की इस प्रवृत्ति के सन्दर्भ में आचार्य विद्यासागर ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सूत्र की नई, युगानुरूप व्याख्या की है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८१)

भौतिकता के प्रसार के कारण ही समाज के सारे आदर्श और मूल्य बदल गए हैं। कवि ने मौजूदा गणतन्त्र का नया मूल्यांकन इसी आलोक में किया है :

"इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है
या/मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

परिवेश की अनगिनत असंगतियों और स्खलनों पर आचार्य विद्यासागर की निगाह गई है। उन लोगों पर व्यंग्य उन्होंने किया है, जो सदा कलह-व्यस्त रहते हैं :

> *''रह-रह कर कलह/करते ही रहते हैं ये,*
> *बिना कलह भोजन पचता ही नहीं इन्हें!'' (पृ. २२८)*

वस्तुतः 'मूकमाटी' का फलक इतना विस्तृत है कि इस महाकाव्य में अनायास ही हमारे वातावरण की असंख्य खूबियाँ और ख़ामियाँ साकार हो गई हैं। व्यंग्याश्रित संवाद इस महाकाव्य में कई हैं, लेकिन कवि की व्यंग्यभाषा शब्द चमत्कार में अधिक भास्वर हुई है। वस्तुतः बोध के सिंचन से आचार्य विद्यासागर की काव्यभाषा में शब्दों के पौधे लहलहाते हैं। शब्दों की गहन साधना उन्होंने की है, परिणामतः व्यंग्य भाषा के अनुरूप शब्दवक्रता उनमें लगातार उपलब्ध है। वीर और अवीर, मरहम और मर-हम जैसे शब्दयुग्म तो समूचे महाकाव्य में बिखरे हुए हैं। शब्दचमत्कार से उपजी अर्थछवि और व्यंग्यात्मकता एक साथ प्रभावित करती है, जैसे :

- *''कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं।'' (पृ. ९२)*
- *''वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं।'' (पृ. १२३)*
- *''बुरा भी/बूरा-सा लगा है सदा।'' (पृ. ८३)*
- *''चरण को छोड़कर/कहीं अन्यत्र कभी भी*
  चर न! चर न!! चर न!!!''(पृ. ३५९)

'मूकमाटी' में आनुप्रासिक तथा शब्द-अर्थ विच्छित्ति के अगणित प्रयोग बिखरे हुए हैं। इन सबने मिलकर कवि आचार्य विद्यासागर की व्यंग्य-विनोदी काव्यदृष्टि को रेखांकित ही किया है। भले ही हास्य और व्यंग्य उनकी उदात्त और विराट् दार्शनिक-आध्यात्मिक चिन्तनधारा के मेल में नहीं है, लेकिन 'मूकमाटी' में अवसर पाते ही उनकी कविसुलभ चेतना ने व्यंग्य-विनोद का आयोजन कर ही डाला है।

❑

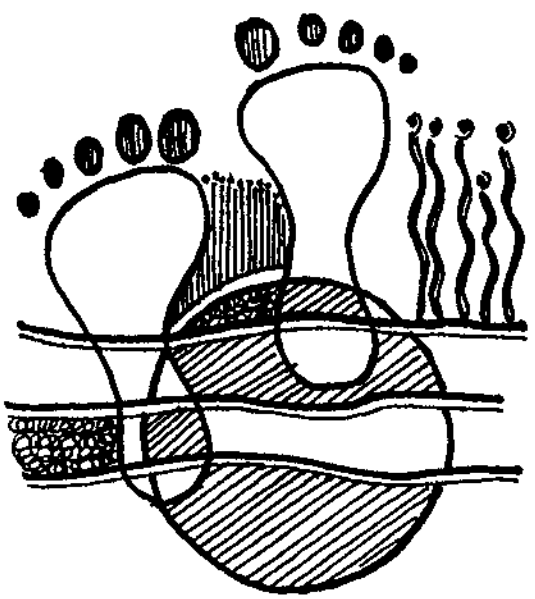

पृ. 11

इतना ही नहीं,
निरंतर अभ्यास के
बाद भी
स्खलन सम्भव है.

हिन्दी साहित्य में एक नई कड़ी जोड़ने वाला महाकाव्य : 'मूकमाटी'

डॉ. राम किशोर शर्मा

भारतीय संस्कृति और वाङ्मय में जैन धर्म, दर्शन तथा साहित्य का अप्रतिम स्थान है। जब धर्म के क्षेत्र में बलि की वेदी पर पशुओं के रक्त की फुहारें ही आग की लपटों की तरह फूटने लगीं तथा प्रकृति और मानव जीवन का सन्तुलन टूटने लगा तो जैन धर्म ने अहिंसा और करुणा का पक्ष लेकर प्राणि मात्र को अभयदान करने वाले प्राणी धर्म की प्रतिष्ठा की पहल की। इस धर्म ने युगीन परिप्रेक्ष्य में जनाकांक्षा के अनुकूल धर्म को नया सन्दर्भ तथा नया अर्थ दिया। जैन तीर्थंकरों, मुनियों तथा चिन्तकों ने अपने मतों, विचारों और सिद्धान्तों को जनभाषा में अभिव्यक्ति देकर जनभाषा को संस्कृति की संवाहिका बनाने का यत्न किया। भाषा तथा बोलियों के परिवर्तन को स्वीकार करते हुए समय-समय पर प्राचीन सिद्धान्तों को नई तथा विकसित भाषा में सजाया गया। अनेक लोक काव्य रूपों तथा छन्दों में धर्म के निगूढ़ भावों को ढालकर जनमानस में उसे सरसता से सम्प्रेषित करने की कला भी उनके पास थी। प्राकृत, अपभ्रंश, पुरानी हिन्दी, ब्रज आदि से होती हुई जैन काव्यधारा खड़ी बोली में भी शुष्क नहीं हुई है। यद्यपि इधर लगभग एक शताब्दी से जनभाषाओं में निबद्ध जैन साहित्य की खोज, अनुशीलन तथा मूल्यांकन का ही दौर चला है किन्तु पूज्यपाद आचार्य विद्यासागरजी के महाकाव्य 'मूकमाटी' के प्रकाशन के बाद यह निर्विवाद रूप से साबित हो गया कि जैन रचनाकारों की मौलिक सृजनशीलता अब भी जीवन्त और सशक्त है।

जिस युग में काव्य की संवेदना मानवीय भावों या मानव के सुख-दुःख के संघर्षों तक सीमित थी, उसी युग में जैन कवियों ने मानवेतर जगत् के कार्य व्यापारों तथा अन्य प्राणियों की संवेदनाओं को भी अपने काव्य में उजागर करने का सफल प्रयास किया। आधुनिक जीवन में अनेक ऐसी समस्याएँ पैदा हो गई हैं जिनकी गिरफ़्त में आकर मानव जीवन ही संकटग्रस्त हो गया है। उमड़ती हुई विशाल जनसंख्या के भरण-पोषण के लिए प्रकृति का शोषण ही नहीं, विनाश किया जा रहा है। पर्यावरण की घनघोर समस्या उत्पन्न हो गई है। संघर्ष, तनाव, कुण्ठा से ग्रस्त मानव एक दूसरे के खून का प्यासा बना हुआ है। मानव की रक्त-पिपासा के मूल में उसकी घोर अहंकार वृत्ति है। सारे संघर्षों के बीच में मुख्य रूप से 'मैं बड़ा कि तू' का ही प्रश्न प्रेत की छाया की तरह व्याप्त है। विनय की पराकाष्ठा, जिसमें व्यक्ति अपनी महानता में लघुता का बोध करता है, आधुनिक समाज में पूरी तरह से लुप्त हो गई है। ईश्वरीय गुरुता का बोध तभी हो सकता है जब मनुष्य को अपनी लघुता का बोध हो। यह लघुता बोध उसे सम्पूर्ण प्रकृति जीवन से जुड़ने तथा अपनी शक्ति के उन्नयन तथा दोषों के परिष्कार की प्रेरणा देता है। उसे अहंकारशून्य भी बनाता है। माटी के माध्यम से कवि कहता है :

"तूने जो/अपने आपको/पतित जाना है/लघु-तम माना है
....तूने/निश्चित-रूप से/प्रभु को,/गुरु-तम को/पहचाना है!" (पृ. ९)

आधुनिक जीवन की अनेक समस्याओं पर दिव्यदृष्टि से विचार प्रस्तुत करने की दिशा में एक मौलिक महाकाव्यात्मक परिणति है 'मूकमाटी', जो कथानक चयन एवं नियोजन के क्षेत्र में क्रान्तिकारी कदम है। किसी प्रचलित कथा के आधार पर महाकाव्य लिखने की परिपाटी को नकार कर एक अकिंचन, निरीह, पद दलित 'माटी' को महाकाव्योचित गरिमा से सम्पृक्त करने का साहस विद्यासागर जैसा साधक कवि ही कर सकता है। वर्तमान युग पद दलितों के जागने एवं उठने का युग है। उन्हें दबाने एवं उनके शोषण से शासन तन्त्र का सुख भोगने का युग समाप्त हो

गया है। पद दलितों की संघर्ष चेतना एवं स्फूर्ति को पहचानना तथा प्रतिष्ठित करना ही समकालीन कविता की यथार्थ दृष्टि है। इस यथार्थबोध से रहित कविता युगबोध से कटकर समाप्त हो सकती है। मुनिजी ने समकालीन कविता के मूल धर्म को युग आकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में पहचाना और परखा है। इसलिए उन्होंने 'माटी' को महाकाव्य की नायिका बना दिया है, जो अपनी गहन एवं विस्तृत अर्थ व्यंजना में सम्पूर्ण पद दलित, उपेक्षित जनसमाज की महत्ता बोध का प्रतीक बन गई है। महापुरुषों का चरित स्वयं ही महाकाव्य होता है, इसलिए उस पर महाकाव्य रचना सहज सम्भाव्य है। मुनि विद्यासागरजी ने सहज सम्भाव्यता का परित्याग करके कल्पना प्रसूत कथा को महाकाव्य का विषय बनाया है। सरिता तट की मिट्टी को कुम्भकार खोदकर उसे उसकी वर्ण संकरता से मुक्त करके कुएँ से जल खींचकर, मिट्टी को जल मिश्रित करके घड़े का आकार देता है। कवि ने धरती और सागर के सम्बन्धों को भी नए ढंग से समझने और समझाने का प्रयास किया है।

महाकाव्य को चार खण्डों में विभाजित किया गया है। पहले खण्ड का नामकरण 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' किया गया है। प्रकृति चित्रण के साथ ही महाकाव्य के प्रथम खण्ड का उद्घाटन होता है :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···/इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

सूर्योदय के जागरण काल में संकोचशीला, लाजवती सरिता तट की माटी, धरती माँ के आगे अपना हृदय खोलती है और अपने पतित जीवन से मुक्त होने की आकांक्षा व्यक्त करती है। धरती माँ उसे शाश्वत सत्ता का रहस्य समझाती एवं संगति तथा सत्य-असत्य का बोध कराती है। वह कहती है पतित जीवन से मुक्त होने के लिए :

"साधना के साँचे में/स्वयं को ढालना होगा सहर्ष!" (पृ. १०)

साधना का यह मूल मन्त्र आधुनिक पीढ़ी से जुड़े उन तमाम नवजवानों के लिए है, जो साधना मार्ग पर प्रवृत्त होते हैं किन्तु थोड़ी-सी फिसलन से घबड़ा जाते हैं :

"प्राथमिक दशा में/साधना के क्षेत्र में
स्खलन की सम्भावना/पूरी बनी रहती है, बेटा!/...इसीलिए सुनो!
आयास से डरना नहीं/आलस्य करना नहीं!" (पृ. ११)

दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में कुंकुम-सम मृदु माटी में शिल्पी के द्वारा छना हुआ निर्मल जल मिलाने का चित्रण है। मनीषी कवि ने इसी खण्ड में बोध और शोध की सूक्ष्म मीमांसा की है। उसकी दृढ़ धारणा है :

"बोध के सिंचन बिना/शब्दों के पौधे ये कभी लहलहाते नहीं,
.....बोध का फूल जब/ढलता-बदलता, जिसमें
वह पक्व फल ही तो/शोध कहलाता है।" (पृ. १०६-१०७)

दूसरे खण्ड में ही संगीत, साहित्य, शब्द शक्ति तथा रसों के विषय में नूतन विचार प्रस्तुत किए गए हैं। कवि का कथन है :

"संगीत उसे मानता हूँ/जो संगातीत होता है/और/प्रीति उसे मानता हूँ

जो अंगातीत होती है/मेरा संगी संगीत है/सप्त-स्वरों से अतीत···!"

(पृ. १४४-१४५)

शृंगार रस के निरूपण में कवि की सन्त दृष्टि प्रधान हो उठी है। इसीलिए तो उसे प्रतीत होता है :

"शृंगार के रंग-रंग ये/अंगार-शील हैं,/युग जलता जा रहा है।" (पृ.१४५)

नारी के कामिनी रूप की निन्दा मध्यकालीन हिन्दी के भक्त कवियों में भी मिलती है। ऐहिक काव्य में शृंगार के दैहिक आलम्बन की व्याप्ति को मुनिजी ने अस्वीकार किया है। विशुद्ध प्रेम तो देहातीत होता है, वही साध्य भी है। करुणा और शान्त रस की भी विवेचना बड़ी सार्थक तथा विचारोत्तेजक है। करुणा नहर की तरह है और शान्त रस नदी की तरह। नहर खेत में जाती है, दाह मिटाकर सूख जाती है किन्तु नदी, सागर में जाकर राह को मिटाकर सुख पाती है। आगे कवि कहता है :

"करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती झट-सी।
शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी
जमाना पलटने पर भी/जमा रहता है अपने स्थान पर।" (पृ. १५६-१५७)

करुण रस जीवन का प्राण है, वात्सल्य जीवन का त्राण है और शान्त रस जीवन का गान है। जैन साहित्य में शान्त रस की प्रधानता क्यों है, इसका समुचित उत्तर पाने के लिए 'मूकमाटी' का पारायण अपेक्षित है।

आचार्य कवि एक-एक स्थिति, एक-एक प्रक्रिया, एक-एक यन्त्र को जाँचते, परखते हुए और उसमें निहित जीवन के सन्देश को उद्घाटित और व्याख्यायित करते हुए आगे बढ़ता है। कुलाल चक्र के विषय में उसकी उक्ति अनुपम एवं अनूठी है :

"कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़कर
अनुपम पहलुओं से निखर आता है।" (पृ.१६२)

अन्ततः शिल्पी उसकी खोट को चोट देकर कुम्भ के आकार में उसे उत्थापित कर देता है। फिर उस कुम्भ पर कुछ संख्याओं, चित्रों और कविताओं का सृजन किया गया, जिसका अभिप्राय विस्तार से अंकित होता है। इसी क्रम में तथाकथित साम्यवादी उद्घोषणाओं से अलग तत्त्वान्वेषी दृष्टि से कवि मानव मात्र की एकता एवं समता का बीज मन्त्र अंकित करता है :

"हम ही सब कुछ हैं/यूँ कहता है 'ही' सदा,/तुम तो तुच्छ, कुछ नहीं हो!
और,/'भी' का कहना है कि/हम भी हैं/तुम भी हो/सब कुछ!"

(पृ. १७२-१७३)

'ही' पश्चिमी सभ्यता है। लोकतन्त्र की सुरक्षा 'भी' में है।

महाकाव्य के तीसरे खण्ड का नामांकन किया गया है 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'। इस खण्ड के आरम्भ में धरा और समुद्र के सम्बन्धों के आधार पर शोषण की जड़ता को निरूपित किया गया है। न्याय, रिश्वतखोरी, स्वार्थ-प्रियता, संघर्ष आदि समस्याओं का इस खण्ड में विचार किया गया है। कवि ने 'नारी' की एकदम नई व्याख्या दी है :

" 'न अरि' नारी···।" (पृ. २०२)

जैन आगम ग्रन्थों में नारी के प्रति प्राय: नकारात्मक दृष्टि ही मिलती है। प्राचीन सामन्ती व्यवस्था में चूँकि नारी की देह मात्र को भोग दृष्टि से स्वीकार करने वाले समाज के लिए वही व्याख्या आवश्यक भी थी। 'नारी' को पुरुष का सबसे बड़ा शत्रु माना गया था। मुनिजी आधुनिक जीवन में नारी की महत्ता को समझाते हुए जैन धर्म को युग परिप्रेक्ष्य में गतिशील बनाते हैं। वे महिला को जीवन में महोत्सव लाने वाली तथा पुरुष को रास्ता दिखाने वाली मानते हैं। नारी स्वयं कहती है :

"अनंग के संग से अंगारित होने वालो,/सुनो जरा सुनो तो···!
स्वीकार करती हूँ कि/मैं अंगना हूँ/परन्तु,/मात्र अंग ना हूँ···।" (पृ. २०७)

प्रभाकर और बदली के वाद-विवाद में नारी का उदात्त पक्ष प्रस्तुत करने के बाद सात्त्विक जीवन के कणों की कुम्भकार की अनुपस्थिति में प्रांगण में मुक्ता रूप में वर्षा हो गई। धरती की कीर्ति देखकर सागर को क्षोभ होता है। सागर के क्षोभ का प्रतिपक्षी बड़वानल, तीन घन बादलों की उमड़न, सागर द्वारा राहु का आह्वान, सूर्यग्रहण, इन्द्र द्वारा मेघों पर वज्र प्रहार, ओलों की वर्षा तथा प्रलय का दृश्य आदि का चित्रण इस खण्ड में अत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया गया है।

चतुर्थ खण्ड का नाम है 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। इसमें तैयार घट के पकने की प्रक्रिया का काव्यात्मक प्रस्तुतीकरण है। यह खण्ड अपने विस्तार में स्वतन्त्र खण्ड काव्य की परिमिति ग्रहण करता है। इस सर्ग में लकड़ी की व्यथा का चित्रण करते हुए कवि जनतन्त्र की समस्या पर भी चुभता व्यंग्य करता है :

"प्राय: अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते,
और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/ मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)

न्यायव्यवस्था और सबल तथा निर्बल के सम्बन्धों का भी यथार्थ चित्रण इसी प्रसंग में किया गया है। आशातीत विलम्ब के कारण न्याय ही, अन्याय-सा प्रतीत होने लगता है। अग्नि परीक्षा के वाद-विवाद में कवि धर्म को परिभाषित करता है। सहज प्राप्त शक्ति का सदुपयोग करना ही धर्म है। दूसरे के दोषों को जलाना पाप नहीं है। ध्यान के सन्दर्भ में आधुनिक मानव के द्वारा चयनित जीवन की दो दिशाओं तथा उनकी परिणतियों की ओर संकेत करते हुए कवि कहता है कि जो मानव मद्यपान, भोग विलास को चुनता है वह शव बन जाता है और जो त्याग का रास्ता चुनता है वह शिव बन जाता है। इसी क्रम में दर्शन का भी दर्शन प्रस्तुत किया गया है। जैन दर्शन को जीवन के सन्दर्भ में नए ढंग से प्रस्तुत करने की काव्यात्मक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप वह पाठक या श्रोता के हृदय में उतरता चला जाता है। अवा में पककर कुम्भ तैयार हो जाता है। उसे बजाते ही उसमें जो राग फूटता है, वह जीवन का अर्थ खोल देता है। सेवक उसे धन न देकर धन्यवाद देकर प्राप्त कर लेता है। यहाँ कवि धन के अनावश्यक संग्रह की भर्त्सना करता है। इसमें साधु के आहार दान का भी विस्तृत वर्णन है। स्वर्ण कलश को ईर्ष्याजनित उद्विग्नता है कि मिट्टी के कलश को इतना सम्मान दिया गया और उसकी उपेक्षा की गई। स्वर्ण कलश आतंकवादी दल आहूत कर देता है जो परिवार में त्राहि-त्राहि मचा देता है। अर्थ का लोभ ही बेकार नवयुवकों को आतंकवाद की ओर प्रेरित करता है। इस राष्ट्रीय समस्या की छाया भी मुनि के मन में गहरे बसी हुई है, इसीलिए वह प्रसंगानुसार शब्दबद्ध हो जाती है। सेठ अपने परिवार की रक्षा मनुष्येतर शक्तियों से करता है। क्षमादान द्वारा आतंकवादियों का हृदय परिवर्तन हो जाता है। कवि ने यहीं पर विवाह की समस्या को उठाया है :

"...खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी
प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

धन, वैभव तथा सांसारिक समृद्धि का झूठा वादा करने वाले आधुनिक गुरुओं को भी कवि सावधान कर देता है कि गुरु वचन नहीं, प्रवचन देता है। मुनि की वाणी जैसे अन्ततः आमन्त्रण देती हुई ध्वनित होती है :

"क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान।" (पृ. ४८७)

इस महाकाव्य की भाषा में अद्‌भुत शक्ति है। वह कवि के भावों और विचारों के अनुसार नया अर्थ संकेत ग्रहण करती चलती है। कवि ने स्वयं प्रचलित शब्दों को उनके मूल एवं नए अर्थ से जोड़ने का यत्न किया है। ज्ञान, विज्ञान, अध्यात्म, दर्शन, समाज, परिवार, व्यक्ति आदि समस्याओं को यथासम्भव व्यंजित करने की क्षमता भाषा प्रयोग के कौशल से सम्भव हुई है। यह मात्र दर्शन का काव्यात्मक रूपान्तरण नहीं है बल्कि जैन दर्शन की आधुनिक जीवन और जगत् के परिप्रेक्ष्य में सार्थकता की नूतन तलाश है। कवि ने निर्जीव एवं जड़ पदार्थों में जीवन्तता पैदा की है, उन्हें पात्रता प्रदान की है और जीवन के महान् सन्देश को मुखरित किया है। सरिता, धरती, मिट्टी, लकड़ी, आग, पानी, नाग, हाथी, कुम्भकार, सेठ अर्थात् चेतन-अचेतन सभी का पारस्परिक संवाद महाकाव्य के मंच पर घटित होता है। महाकवि की कल्पना का कमाल है कि उसने जड़ता में भी प्राण फूँककर स्फूर्ति पैदा कर दी। संवेदना, पात्र कल्पना एवं शिल्प की दृष्टि से यह हिन्दी साहित्य में एक नई कड़ी जोड़ने वाली काव्य कृति है।

❑

पृ. ८
और यह भी देख---
--- दल-दल में बदल जाती है!

'मूकमाटी' का मुखर सन्देश

डॉ. सुरेश चन्द्र त्यागी

काव्य की गुणवत्ता उसके बृहदाकार से नहीं, उसके द्वारा व्यंजित उस सन्देश से निश्चित होती है जो युग-युग तक प्रेरक तथा नवीन बना रहता है। काव्य के भेदोपभेद करके उनका लक्षण निर्धारण अनेक आचार्यों द्वारा होता आया है। इन लक्षणों में मतैक्य नहीं है। वस्तुत: काव्य समीक्षा के स्थायी मानदण्ड निश्चित करना सम्भव नहीं है। युग के साथ काव्य का स्वरूप परिवर्तित होता है और समीक्षा के मूल्य भी बदलते हैं। जीवन की गतिशीलता ही काव्य और समीक्षा को गतिहीनता से मुक्त रखती है। बृहदाकार 'मूकमाटी' को शास्त्रीय सिद्धान्तों के अनुसार समीक्षा करके महाकाव्य सिद्ध करना आवश्यक नहीं है। हठपूर्वक की गई ऐसी खींचतान से कवि के उस सन्देश की उपेक्षा हो सकती है जो 'मूकमाटी' के मूल में है। महाकाव्य संज्ञा से इस काव्य का मूल्य नहीं बढ़ता। इसका मूल्य तो उस सन्देश में निहित है जो मनुष्य को उच्चतर सत्य की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा देता है।

आचार्य विद्यासागर जैन दर्शन के अधिकारी विद्वान् और साधक के रूप में तो प्रतिष्ठित हैं ही, कवि के रूप में भी उन्होंने सहृदयों के मध्य प्रशंसा अर्जित की है। वस्तुत: उनकी काव्य यात्रा ('नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत, लगाओ डुबकी,' 'तोता क्यों रोता ?', 'चेतना के गहराव में' से लेकर 'मूकमाटी'तक) उनकी साधना का ही एक आयाम है। काव्य एक उच्चस्तरीय कला है और उसकी प्रभावात्मकता असन्दिग्ध है। कवि अपनी कल्पना और संवेदना से मार्मिक अनुभूतियों को मार्मिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। कवि-कर्म वहाँ और भी कठिन हो जाता है जहाँ दार्शनिक सिद्धान्तों और आध्यात्मिक अनुभूतियों को काव्य के लिए आवश्यक मार्मिकता से संयुक्त करके काव्यबद्ध किया जाता है। 'मूकमाटी' के माध्यम से कवि ने वैचारिक वैभव और मार्मिक सरसता के समन्वय का प्रयास किया है।

आचार्य विद्यासागर साधक हैं और साधक की रचना निरुद्देश्य नहीं हो सकती। साहित्य के व्युत्पत्तिपरक अर्थ की व्याख्या करता हुआ कवि अपने साहित्यादर्श को इस तरह स्पष्ट करता है :

> *''जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव–सम्पादन हो*
> *सही साहित्य वही है/अन्यथा सुरभि से विरहित पुष्प-सम*
> *सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड !'' (पृ. १११)*

इससे भी अधिक स्पष्ट रूप में कवि ने अपना एवं अपनी काव्य-सृष्टि का लक्ष्य इन शब्दों में व्यक्त किया है :

> *''मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।*
> *और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।*
> *इस लेखनी की यही भावना है–/कृति रहे, संस्कृति रहे*
> *आगामी असीम काल तक/जागृत''जीवित''अजित।'' (पृ. २४५)*

संस्कृति-विहीन कृति कालजयी नहीं हो सकती, कवि की यह मान्यता अन्य रचनाकारों के लिए भी दिशाबोधक है।

'मूकमाटी' की रचना के प्रयोजन का संकेत कवि ने 'मानस-तरंग'(पृ.XXIV) भूमिका में विस्तार से दिया है : "...सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है।" अपने

युग के प्रति सचेतन दृष्टि रखने वाला कवि ही युग-युग का कवि हो सकता है, यह उपर्युक्त प्रयोजन से सिद्ध है। परन्तु युग में उलझ जाना, उसके भुलावों में लक्ष्यच्युत हो जाना, भोगग्रस्त हो जाना ही यदि साधक का लक्ष्य हो जाए तो संस्कृति के उन सनातन तत्त्वों की उपेक्षा हो जाएगी जो उच्चतर जीवन मूल्यों की ओर निरन्तर अंगुलि निर्देश करते रहते हैं। 'मूकमाटी' में उन सनातन तत्त्वों को बहुविध स्पष्ट किया गया है।

उस मुखर सन्देश को रेखांकित करने से पूर्व एक बात और। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर को न मानने वाले नास्तिक हैं और जैन दर्शन नास्तिक है, कवि की दृष्टि में वे अल्पज्ञ हैं। 'मानस तरंग' में ही कवि का विचार है कि "...जैन-दर्शन नास्तिक दर्शनों को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है। यथार्थ में ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता के रूप में स्वीकारना ही उसे नकारना है, और यही नास्तिकता है, मिथ्या है। ...ब्रह्मा को सृष्टि का कर्त्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है।"

कवि ने 'ऐसे ही कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन' किया है। यह समझना तो अन्याय होगा कि जैन सिद्धान्तों के ही प्रचार-प्रसार के लिए 'मूकमाटी' की रचना हुई है। वस्तुतः व्यापक मानवीय दृष्टि और गम्भीर करुणा - संवेदना कहीं अधिक वांछित लक्ष्य हैं, जो 'मूकमाटी' के मूल में हैं।

माटी के सृजनशील जीवन की यात्रा मूल रूप में साधक की यात्रा है। माटी का मानवीकरण कवि की उस व्यापक दृष्टि का प्रमाण है जो चेतन-अचेतन के प्रति करुणा से ओतप्रोत है। प्रारम्भ में माटी धरती माँ की 'संकोचशीला, लाजवती, लावण्यवती' बेटी के रूप में दिखाई देती है जो 'अधम पापियों से पद-दलिता, सुख-मुक्ता और दुःख-युक्ता, तिरस्कृत, त्यक्ता' है। वह धरती माँ के सामने अपनी पीड़ा व्यक्त करती है। धरती का उद्बोधन सभी के लिए प्रेरक है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की।" (पृ. ७)

धरती माँ माटी को हताशा छोड़कर साधना के साँचे में ढलने की प्रेरणा देती है, आस्था का मार्ग दिखलाती है। साधना का सन्देश माटी के माध्यम से उन मनुष्यों के लिए है जो शरीर से आगे नहीं देख पाते, उसे ही लक्ष्य समझते हैं और जो मानव जीवन में निहित अनन्त सम्भावनाओं से अपरिचित हैं। जीवन संघर्षों से निराश न होने, पुरुषार्थ के पथ पर अग्रसर होने का धरती माँ का सन्देश माटी के सोच को बदल देता है। कुम्भकार की सत्संगति माटी के सृजनशील जीवन का प्रथम सर्ग है। शिल्पी कुम्भकार माटी के कंकर निकालकर उसे मृदु, स्वच्छ बनाता है, दोषरहित करता है। कंकर दल की प्रार्थना सुनकर माटी का उद्बोधन साधना का मन्त्र है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है,
स्वयं राही शब्द ही/विलोम रूप से कह रहा है –
रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५६-५७)

कुम्भकार के चरणों में अहंकार रहित समर्पण माटी के सृजनशील जीवन का दूसरा सर्ग है। यह मानों गुरु चरणों में साधक का समर्पण है। माटी और काँटे का संवाद बदले की भावना से ग्रस्त व्यक्तियों के लिए बहुत उपयोगी और सार्थक है। माटी का कहना है :

"बदले का भाव वह अनल है/जो/जलाता है तन को भी, चेतन को भी
भव-भव तक !" (पृ. ९८)

कुम्भकार माटी की दृष्टि में क्षमा की मूर्त्ति और क्षमा का अवतार है। क्षमा करने वाला ही क्षमा माँगने की उदारता दिखला सकता है। कुम्भकार का यह आदर्श जीवन की काम्य अवस्था का संकेत देता है :

"खम्मामि, खमंतु मे—/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !/वैर किससे/क्यों और कब करूँ?
यहाँ कोई भी तो नहीं है/संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

माटी ही कुम्भ का आकार ग्रहण करती है। कुम्भकार उसे चाक पर चढ़ाता है। गुरु का स्पर्श पाकर ही साधक का रूपान्तर सम्भव है। यह रूपान्तर सरल शब्दों में इस तरह अभिव्यक्त हुआ है :

"मान-घमण्ड से अछूती माटी/पिण्ड से पिण्ड छुड़ाती हुई,
कुम्भ के रूप में ढलती है/कुम्भाकार धरती है
धृति के साथ धरती के ऊपर उठ रही है।" (पृ. १६४)

धरती से ऊपर उठना भौतिकता से ऊपर उठना है, आध्यात्मिकता की ओर प्रयाण है। कुम्भकार कुम्भ की खोट का परिमार्जन करके विविध संख्याओं और चित्रों से उसे सजाता है। लेकिन साधना के मार्ग में इतना ही तो पर्याप्त नहीं। अनेक प्रकार की परीक्षाएँ और समीक्षाएँ निरन्तर होती हैं। कुम्भ की अग्नि परीक्षा माटी के सृजनशील जीवन का तृतीय सर्ग है।

कुम्भकार को कुम्भ की साधना प्रगति को देखकर आश्चर्य होता है, क्योंकि समर्पण और आस्था के ही सहारे अत्यल्प काल में ऐसी सफलता साधकों को मिलती है। आध्यात्मिक ऊँचाई की दृष्टि से कुम्भ के ये शब्द अत्यन्त परिपक्व अनुभूति की ओर संकेत करते हैं :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर
बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है
यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

अग्नि परीक्षा दोषों को भस्मीभूत करने की क्रिया है। सच्चा साधक ऐसी परीक्षाओं से भयभीत नहीं होता। इसीलिए कुम्भ अग्नि से कहता है कि 'मेरे दोषों को जलाना ही मुझे जिलाना है'। अग्नि परीक्षा से खरी हुई चेतना ऊर्ध्वमुखी होकर अपना तो कल्याण करती ही है, दूसरों का भी मंगल करती है। कुम्भ का मंगल घट बनकर श्रेष्ठ पूजन कार्य में लगना माटी के सृजनशील जीवन का अन्तिम सर्ग है। कुम्भ का सेठ को प्रबोधन जीवन की राह पर एक सम्बल की भाँति है :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,
समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने
इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।" (पृ. ३५२)

कुम्भ के माध्यम से ही कवि ने श्रमण की बहुत तर्कसंगत व्याख्या की है। काव्य का नाम 'मूकमाटी' भले ही हो, काव्य में माटी सर्वत्र मुखर है। पहले माटी, फिर रूपान्तरित होकर कुम्भ और मंगल घट– सभी रूपों में जीवनोपयोगी सन्देश कवि ने प्रस्तुत किए हैं। श्रमण के बारे में कुम्भ कहता है :

''कोष के श्रमण बहुत बार मिले हैं/होश के श्रमण होते विरले ही,
...श्रमण का भेष धारण कर,/अभय का हाथ उठा कर,
शरणागत को आशीष देने की अपेक्षा,/अन्याय मार्ग का अनुसरण करने वाले
रावण जैसे शत्रुओं पर/रणांगण में कूदकर/राम जैसे
श्रम-शीलों का हाथ उठाना ही/कलियुग में सत्-युग ला सकता है,
धरती पर···यहीं पर/स्वर्ग को उतार सकता है।
श्रम करे···सो श्रमण।'' (पृ. ३६१-३६२)

कर्म का यह सन्देश क्या कभी अप्रासंगिक हो सकता है ? कुम्भ ही समता का भी सन्देश देता है– 'सबमें साम्य हो'। 'मूकमाटी' काव्य अनेक सन्देशों से भरा पड़ा है। माटी ने अपनी जीवन साधना में जो कुछ पाया है, उसे व्यक्त किया है। यहाँ मैंने कुछ संकेत दिए हैं। कवि का यह कथन विस्तारमयी व्याख्या से रोकता है :

''लम्बी, गगन चूमती व्याख्या से/मूल का मूल्य कम होता है
सही मूल्यांकन गुम होता है।'' (पृ. १०९)

❑

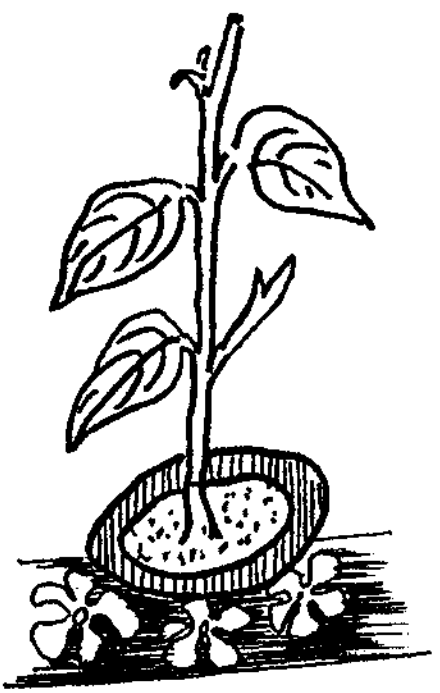

पृ. ३९७

इन से ही फूलता-फलता है वह
आरोग्य का विशाल-काय वृक्ष !

'मूकमाटी' : राष्ट्रीय चेतना का अन्त:स्वर

डॉ. आर. एल. एस. यादव

'मूकमाटी' एक ऐसा महाकाव्य है जो आज के उद्वेलित समाज के जीवन मूल्य, भौतिक तथा वैचारिक परिवेश को दार्शनिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करता है। यद्यपि इस काव्य में सुस्पष्ट कथानक नहीं है लेकिन यह एक दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित है जिसमें राष्ट्रीय चेतना के अन्त:स्वर एवं मानवीय जीवन दर्शन को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

माटी के माध्यम से प्रकृति के विभिन्न अवयवों का सुमधुर वर्णन 'मूकमाटी' की अपनी विशेषता है। विभिन्न परिवेश में प्रकृति का उदात्त वर्णन उस नन्हें बालक के उद्‌गार के समान है जो प्रकृति के चमत्कार एवं लावण्य को देखकर चमत्कृत होता है पर उसे अभिव्यक्त करने के लिए शब्दों की खोज में व्याकुल रहता है। 'मूकमाटी' की माटी निरीह है। वह अपने को पतिता, दलिता माने हुए है। उसकी व्यथा एवं वेदना मुखर है। इस माटी में इस धारा के करोड़ों अकिंचन लोग अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। माटी की पीड़ा उनकी पीड़ा है। वे भी अपने नारकीय जीवन से माटी की भाँति मुक्ति को व्याकुल हैं।

इस महाकाव्य के कथानक का केन्द्र बिन्दु मूकमाटी है। मूकमाटी का सम्पर्क कुम्हार से होता है। अनेक उपमानों द्वारा मूकमाटी अपनी संवेदना प्रकट करती है। दूसरा अध्याय 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में माटी के सृजनशील जीवन का प्रारम्भ होता है। कुम्हार माटी में पानी मिलाता है, उसमें प्राण का संचार करता है। शिल्पी गरीब है। उसके पास कम्बल नहीं है। सूती चादर है। शीतकाल में फिर भी उसे ठण्ड से कष्ट नहीं होता, क्योंकि :

"कम बलवाले ही/कम्बलवाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।
हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं/और/राम के पास सोते हैं।" (पृ.९२)

इसमें पुरुष प्रकृति के सान्निध्य से मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने का संकेत है। तृतीय अध्याय 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' से स्पष्ट है कि किन-किन पुण्य कार्यों से पाप का विनाश हो सकता है। धरती के वैभव को प्रलय के समय जल ने लूटा, इसलिए धरती धरा रह गई और जल सागर बन गया। उसने पृथ्वी की सम्पदा का हरण किया। वह निन्द्य कार्य था। कवि के अनुसार जलधि जड़ बन गया और सब कुछ सहते हुए धरती सर्वंसहा बनी। चौथे अध्याय 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कुम्भ को आग में पकाना, नगर सेठ के सेवक द्वारा कुम्भ की परीक्षा करने का और उसे अपने साथ ले जाने आदि का विवरण है।

यह एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमें अनेक स्थानों पर अनेकान्तवाद तथा स्याद्वाद का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। इसमें सुख और शान्ति को बाह्य नहीं बल्कि आन्तरिक वस्तु कहा गया है। यह अनुभूति से ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रवंचना का जीवन अर्थहीन है और संयम, समन्वय तथा समता से ही आन्तरिक सुख प्राप्त हो सकता है। पूरा महाकाव्य आध्यात्मिकता के विभिन्न उपादानों से परिपूर्ण है। इस कथानक के माध्यम से कवि ने जैन धर्म का, जिसे हम इस देश का मूल धर्म मानते हैं और जिसके सिद्धान्त आध्यात्मिकता, हिन्दू धर्म एवं अन्य अनेक धर्मों का मूल आधार हैं, का आध्यात्मिक विवरण इस महाकाव्य में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होता है। इस महाकाव्य के सभी वर्णित विषय किसी न किसी तत्त्वदर्शन की मीमांसा करते हैं। इसी तरह जैन धर्म के तीन प्रमुख सोपान—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र का स्पष्ट प्रभाव इस महाकाव्य में परिलक्षित है। वैदिक मान्यताओं से अलग श्रमण संस्कृति का भी

प्रभाव इस महाकाव्य पर है।

वैराग्य का इससे अच्छा उदाहरण क्या मिलेगा :

"गगन का प्यार कभी/धरा से हो नहीं सकता/मदन का प्यार कभी
जरा से हो नहीं सकता;/यह भी एक नियोग है कि/सुजन का प्यार कभी
सुरा से हो नहीं सकता।/विधवा को अंग-राग/सुहाता नहीं कभी
सधवा को संग-त्याग/सुहाता नहीं कभी,/संसार से विपरीत रीत
विरलों की ही होती है/भगवाँ को रंग-दाग/सुहाता नहीं कभी !"

(पृ. ३५३-३५४)

इस महाकाव्य में सभी रसों का बड़ा ही अद्भुत वर्णन है। वीर, हास्य, अद्भुत, शृंगार, बीभत्स, करुणा, वात्सल्य और शान्त रस का भरपूर वर्णन किया गया है। पर अन्त में प्रतिष्ठापित है– शान्त रस। इसीलिए तो उन्होंने कहा :

"करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक/चमत्कार की बात हुई,/शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।"(पृ. १५९-१६०)

'मूकमाटी' एक ऐसा महाकाव्य है जो प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं से बँधा हुआ नहीं है। यह सम्पूर्ण समाज का प्रतिबिम्ब है जिसमें आनन्द का प्रभाव एवं शान्त रस की स्थापना कवि का अन्तिम उद्देश्य है। यह एक ओर जहाँ व्यावहारिक प्रतिमानों से ओतप्रोत काव्य है, वहीं इसमें रूपक के माध्यम से माटी के विभिन्न रूपी पदार्थों की मानवीय प्रतिमानों से तुलना की गई है। यहाँ प्रतीकों के माध्यम से अनेक सामाजिक बातें कह दी गई हैं। इसकी भाषा शैली सामान्य एवं सर्वगम्य है।

मुझे विश्वास है, यह महाकाव्य भारत की सांस्कृतिक विरासत को अक्षुण्ण रखते हुए वर्तमान परिवेश में आध्यात्मिक चेतना के उन्मेष में पथप्रदर्शक का कार्य करेगा।

❑

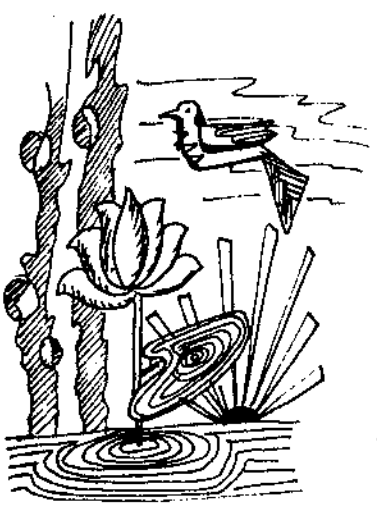

नारी और जैनाचार्य श्री विद्यासागर

डॉ. निज़ामुद्दीन

डॉ. बड़थ्वाल ने अपनी पुस्तक 'दि निर्गुण स्कूल ऑफ़ हिन्दी पोइट्री' में कहा है कि सभी युगों व देशों के निवृत्ति-मार्गियों का यह एक नियम रहा है कि वे स्त्री तथा धन की निन्दा करते आए हैं और इस प्रकार वैराग्य की उस भावना को जागृत करते रहे हैं जो कबीर को भी स्वीकार है। कबीर ने स्त्रियों को 'नरक का कुण्ड' बताया है। उन्हें स्त्री पर विश्वास नहीं है, यह बात खटकती है। यह दु:ख की बात है कि उन्हें स्त्री में यौवन भावना ही दिखाई दी है। उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से आँखें मूँद ली हैं, जिसे उन्होंने उस शाश्वत प्रेमी की भार्या बनकर अपनाने का विचार किया है। मध्ययुगीन कवियों ने नारी की पग-पग पर निन्दा की है। कबीर भी उससे अपना दामन नहीं बचा सके, उन्होंने भी नारी को 'विष की बेल', 'काली नागिन' कहा है। 'कनक' और 'कामिनी' को उन्होंने साधना मार्ग में बाधक माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर सिद्धों की नारी विषयक भावना से काफी प्रभावित थे, तभी तो उन्हें भी नारी विकृतियों का पुंज दिखलाई पड़ी, लेकिन जब हम कबीर काव्य में प्रयुक्त 'राम-की-बहुरिया' या 'बालक-की-जननी' के सन्दर्भ में नारी के व्यक्तित्व को देखते हैं तो वह निन्दनीय न होकर वन्दनीय बन जाता है। तुलसी ने भी नारी की निन्दा कम नहीं की, लेकिन जब उन्होंने उसका व्यक्तित्व राम-भक्ति से जोड़ दिया तो वह त्याज्य-निन्द्य न होकर वन्द्य हो गई। राम का जिससे नाता हो गया वह तुलसी की नज़रों में चढ़ गया।

कबीर की नारी विषयक अवधारणा अपने युग का, तथा उनकी वैष्णव प्रकृति का प्रतिबिम्ब है। उनके मुख से यह भी निकला है-''जेती औरति मरदाँ कहियै, सब में रूप तुम्हारा।'' कबीर ने जिह्वा-आस्वादन के समान नारी का संग त्याज्य माना है और नारी को 'विष फल' के समान कहा है :

''एक कनक अरु कामनी विषफल की ए उपाइ।
देखै ही थैं विष चढ़ै, खाए सूँ मरि जाइ॥''

इसी प्रकार गुरु नानकदेव ने नारी को माया का प्रतीक घोषित किया है-''कंचन नारी मयि जीउ लुभतु है, मोहु मीठा माइआ।'' लेकिन गुरु नानकदेव की दाम्पत्य विषयक उक्तियों में नारी को जीवात्मा का प्रतीक भी माना गया है। ये प्रसंग अध्यात्म के रंग में डूबे हैं।

आचार्य विद्यासागरजी ने नारी के विभिन्न रूपों को नवीन अर्थवत्ता प्रदान की है और उसकी अनेकविध विशेषताओं को शब्दायित किया है। जैनधर्म में नारी को काम तथा विषय के सन्दर्भ में अवश्य अधिक सम्मानित नहीं समझा गया। स्त्री पर आसक्त होने वाला पुरुष अस्थिरात्मा होता है, उसे चित्त-समाधि प्राप्त नहीं हो सकती (उत्तरा. २२/४४), ऐसा भगवान् महावीर ने कहा है। आचार्य विद्यासागर एक शिल्पधर्मी, प्रयोगधर्मी कवि हैं। उन्होंने अपने प्रतीकात्मक महाकाव्य 'मूकमाटी' में नारी को कई रूपों में रेखांकित किया है और उनकी नारी विषयक अवधारणा पूर्णत: नूतन है, मौलिक है तथा पूर्वाग्रह/दुराग्रह से भी विमुक्त है। यहाँ नारी का उल्लेख अनेक रूपों में किया गया है: (१) नारी (२) महिला (३) अबला (४) कुमारी (५) स्त्री (६) सुता (७) दुहिता (८) माता (९) अंगना।

नारी की विविध विशेषताओं में सबसे पहले 'भीरु स्वभाव वाली' है, लेकिन इस 'भीरुता' में आचार्य शुक्ल के अनुसार कामासक्त रसिकों को प्रिय लगने वाली नारी की भीरुता नहीं है, वह 'पाप-भीरुता' है। नारी पुरुष की अपेक्षा अधिक पाप-भीरु होती है, दूसरे शब्दों में हम उसे 'धर्म-भीरु' कह सकते हैं। पाप के भय से नारी कुमार्ग पर कदम

रखने से डरती है। वह स्वभाव से धर्मपरायण होती है। यह तो पुरुष की काम-पिपासा है जो नारी को कुमार्ग पर चलने के लिए बाध्य करती है तो दोष स्त्री का नहीं, पुरुष का है। पुरुष ने ही उसे 'परिग्रह' के रूप में अंगीकार किया है। द्रौपदी को जुए में लगाना इसका स्पष्ट दृष्टान्त है। आचार्य विद्यासागर ने नारी की जो विभिन्न छवियाँ यहाँ दर्शाई हैं उनमें जहाँ नारी के गुणों/विशेषताओं का इन्द्रधनुषी रंग मोहक लगता है, वहाँ उनका शब्द-विधान भी अत्यन्त ललित है। कवि जैसे भाषावेत्ता/भाषा वैज्ञानिक का रूप धारण कर लेता है। नारी को इसलिए उन्होंने 'नारी' कहा है चूँकि वह करुणा का आकर है, मैत्री का भण्डार है। उसमें किसी के प्रति कोई शत्रुता नहीं, न+अरि = नारी; दूसरा अर्थ यह भी है- *''ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···''(पृ.२०२)* – यानी ये काटने वाली नहीं, जोड़ने वाली हैं और एक-दूसरे को जोड़ती हैं अपनी करुणा से, अपनी मिलनसारिता से, सहृदयता से, स्नेह से।

जब नारी को 'महिला' कहते हैं तो इसका अर्थ है आधार/अवलम्बन देने वाली। वह निराश, उत्साहहीन मनुष्य में नया उत्साह संचरित करने वाली है। वह *''धृति-धारणी जननी के प्रति/अपूर्व आस्था जगाती है'' (पृ. २०२)*। चूँकि पुरुष की रहनुमाई करती है, उसका मार्ग प्रशस्त करती है, उसे साध्य की प्राप्ति में सहायक होती है, इसलिए 'महिला' है वह। एक और अर्थ 'महिला' द्वारा आचार्यश्री ने व्यंजित किया है। जिस व्यक्ति में संग्रह-परिग्रह प्रवृत्ति अत्यधिक घर कर गई है, जिसमें असंयम है और संग्रह-व्याधि का रोग लग गया है, संयम की भूख मन्द पड़ गई है, उसकी भूख को बढ़ाने का काम करने वाली है 'महिला' :

''मही यानी/मठा-महेरी पिलाती है,/महिला कहलाती है वह···!''(पृ.२०३)

मनुष्य की काम भावना को संयत करने वाली, उसे संयम में रखने वाली महिला ही होती है। वही गृहस्थी को भी यानी विवाहित पुरुष को भी संयमाचरण की ओर प्रेरित करती है।

नारी को 'अबला' भी कहा जाता है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त (१८८६-१९६४ ई.) की प्रसिद्ध पंक्तियाँ हैं :

''अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी–
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।''

गुप्तजी ने ममतामयी, स्नेहसिक्त, करुणार्द्र नारी का यह अद्भुत चित्र खींचा है, जिसमें भारतीय नारी का व्यक्तित्व अभिमुखरित है। आचार्य श्री विद्यासागरजी जब नारी को 'अबला' रूप में निहारते हैं तो कह उठते हैं :

''जो अव यानी/'अवगम'—ज्ञानज्योति लाती है,
तिमिर-तामसता मिटाकर/जीवन को जागृत करती है
'अबला' कहलाती है वह!'' (पृ. २०३)

वे ज्ञानालोक विकीर्ण करने वाली नारी को 'अबला' कहते हैं। यही नहीं, अबला में और भी गुण हैं। नारी-अबला मनुष्य को दिवास्वप्नों से मुक्त करती है, भविष्य की रंगीन कल्पनाओं में भटकने से बचाती है तथा विगत–अतीत के मोह से भी मुक्त करती है। उसे वर्तमान में जीना सिखाती है, उसे वर्तमान की ओर दृष्टयुन्मुखी बनाती है, यथार्थ से टक्कर लेने की सामर्थ्य प्रदान करती है, उसे सामने आई परिस्थितियों को समझने, उनसे जूझने की शक्ति देती है तथा वर्तमान समस्याओं का समाधान खोजने का बल जुटाती है। आज हमारे सामने समस्याओं का जो व्यूह मौजूद है क्या उसे मनुष्य अकेला, बिना नारी के सहयोग के भेद सकता है ? हम पर्यावरण से जूझ रहे हैं, भ्रष्टाचार के गर्त में

गिर रहे हैं, नैतिकता के ह्रास से अभिशप्त हैं, जमाखोरी/संग्रहवृत्ति से पीड़ित हैं तथा जीवन मूल्यों के स्खलन से आहत हैं। आचार्यश्री ठीक कहते हैं कि 'अबला' मनुष्य को संकटों/समस्याओं से बचाती है (अ+बला=अबला), इसलिए उसका नाम *''अबला के अभाव में/सबल पुरुष भी निर्बल बनता है''(पृ.२०३)*, तो इसे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में/सामाजिक परिवेश में परखिए, देखिए, सर्वत्र नारी की एक विलक्षण भूमिका मिलेगी। मुमताज़ महल, नूरजहाँ प्रेम और सौन्दर्य को अमरत्व प्रदान करने वाली नारियाँ हैं। झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, बेगम हज़रत महल वीरत्व तथा साहस की प्रतिमाएँ हैं।

इन्दिरा गाँधी भारत को एकता-अखण्डता प्रदान कर उसे एक विश्व शक्ति का ओज एवं प्रताप देने वाली हैं। मदर टेरेसा मानव सेवा का सिम्बल हैं। श्री माँ अध्यात्म शक्ति की पुंज हैं। आर्यारत्न ज्ञानमती, विचक्षणश्री, साध्वीलाभा हैं। इनसे हमारा जीवन भरा-पूरा है, सम्पन्न है। इन्हें ज़रा जीवन से पृथक् कर के देखिए, वह रिक्तता आ जाएगी जिसे पुरुष कभी भर नहीं सकेगा और उसे लगेगा जैसे कहीं वह रेगिस्तान में अकेला भटक रहा है।

जब आचार्य श्री विद्यासागर ने नारी के 'कुमारी' रूप (पृ.२०४) पर दृष्टिपात किया तब उसे धरती को सम्पदा-सम्पन्न बनाने वाली कहा यानी वह लक्ष्मी-स्वरूपा है, इसीलिए सन्तों ने उसका रूप मांगलिक माना है, उसे मंगल-मौर कहा है। नारी 'स्त्री' रूप में पुरुष की काम-वासना को अभिसंयत रखती है तथा गर्भधारण करती है, इसलिए वह स्त्री है। स्त्री होने के कारण वह मनुष्य को फ़िजूलख़र्ची से बचाती है, उसे संग्रहवृत्ति से विरक्त रखती है। धनार्जन के साथ उसे पुण्यार्जन की दृष्टि प्रदान करती है, समाज के कल्याणार्थ कर्म करने के लिए उत्प्रेरित करती है तथा धर्म-परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिए पुरुष को धर्मोन्मुख बनाती है, इसलिए वह 'स्त्री' का अभिधान धारण करती है। कविवर ने 'स्त्री' शब्द का विश्लेषण किस कौशल से किया है, देखिए :

'' 'स्' यानी सम-शील संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं
धर्म, अर्थ, काम--पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो''' 'स्त्री' कहलाती है।'' (पृ. २०५)

जीवन में संयम की अवतारणा स्त्री द्वारा ही सम्भव है, वरना समाज का शीराज़ा बिखर जाए, वह विशृंखलित हो जाए।

जब नारी को 'सुता' तथा 'दुहिता' कहा है तो श्री विद्यासागरजी का आशय यह है कि सुख-सुविधाओं का जो स्रोत बहाती है वह 'सुता' है और जिसमें दो हित हों, वह 'दुहिता' (दु=दो, हिता=हित करने वाली) है। वह अपने जीवन का हित तो करती है, साथ में पति के पतित जीवन का भी हित करती है। दूसरे, दुहिता होने का मतलब यह है कि स्त्री दो कुलों का हित करती है– पिता का, पति का। मानों दो प्रकार से हितों का, कल्याण का, सुख-सम्पत्ति का वह दोहन करती है, इसलिए उसका 'दुहिता' होना अर्थवत्ता-पूर्ण है।

नारी को 'अंगना' (पृ.२०७) इसलिए कहा जाता है कि वह पुरुष का ही एक अंग है, उसके बिना पुरुष अधूरा है, अपूर्ण है। पुरुष का एक अंग होने पर वह 'अर्धांगिनी' कहलाती है। कामाग्नि में अंगारित होने वाले लोगों को नारी बताना चाहती है कि वह 'अंगना' जरूर है, लेकिन उसके अंगों के भीतर भी तो झाँककर देखना चाहिए। उसके अंगों के सौन्दर्य के पीछे आत्मा का सौन्दर्य भी विद्यमान है जो शाश्वत है तथा 'निरंजन भास्वत' है। वह 'स्व' का परिज्ञान कराना चाहती है ताकि सब अपने को जानें, पहचानें। जो अपने को पहचान लेता है वह सब कुछ पहचान लेता है, जान लेता है :

"जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ।" (आयारो – आचारांग, ३/७४)

अर्थात् जो एक को जानता है वह सब को जानता है, जो सब को जानता है वह एक को जानता है। कश्मीर की विख्यात सन्त कवयित्री लल्लेश्वरी (१४ वीं शताब्दी) कहती है कि शिव स्थल-स्थल पर, सर्वत्र विराजमान है, हिन्दू-मुसलमान में कोई भेद न कर। यदि तू बुद्धिमान् है तो अपने आपको–आत्मतत्त्व को पहचान ! वही वास्तव में शिव (परमात्मा) के साथ तेरी जानकारी है :

"शिव छुय् थलि थलि रोज़ान/मो ज़ान होन्द त मुसलमान।
तुख अय छुख त पान् पर्ज़नाव/स्वय छै साहिबस सूति ज़ानी ज़ान।"

बाहर से भीतर जाने का वर्णन लल्लेश्वरी ने निम्न 'बाख' में इस प्रकार किया है कि गुरु ने उसे एक बात कही। उन्होंने कहा कि बाहर से भीतर चली जा। उस लली ने वही आदेश/उपदेश माना और दिगम्बरावस्था में नाचने लगी :

"ग्वरन वोननम कुतुय वचुन/न्यबर दोयनम अंद्रिय अचुन।
सुय गौ ललि म्य वाख़ त-वचुन/तवै म्य होतुम नंग नचुन।"

यहाँ यह विचारणीय है कि निर्गुण भगवान् की उपासिका लल्लेश्वरी ने अपने एक 'बाख' में महावीर स्वामी को 'जिन' रूप में स्मरण किया है :

"शिव वा केशव वा जिन वा/कमलज़नाथ नामधारिन युह्।
म्य अबलि कासितन भव-रुज़/सु वा सु वा सुह् ॥"

अर्थात् शिव हो, या जिन (महावीर स्वामी) हो अथवा कमलनाथ (गौतम बुद्ध) हो, उसका कुछ भी नाम हो, मुझ अबला को भव-रुज (संसार की व्याधि) से मुक्त कर दे।

आचार्य विद्यानन्द ने नारी को 'जाया,' 'पत्नी' का अभिधान देते हुए कहा है: "नारी नर की जन्मदायिनी है, इसलिए उसे 'जाया' कहते हैं। वह पति की अर्धांगिनी होने पर 'पत्नी' कहलाती है। अर्धांगिनी का अर्थ है पति के सुख-दुःख की समभागी।" कुल-स्त्रियाँ व्यसनों में फँसे हुए पति को उत्थान की ओर ले जाती हैं। वह एक ऐसा मित्र है जिस पर विश्वास रखकर जीवन शान्ति से बिताया जा सकता है। नारी का इतिहास तप, त्याग और सेवा का पाठ सिखाता है। आचार्य श्री विद्यासागर ने 'जाया,' 'पत्नी' शब्दों की भले ही यहाँ व्याख्या न की हो, उन्होंने दूसरे शब्दों में उनका समाहार कर दिया है। उन्होंने 'मूकमाटी' में 'अंगना' को अन्त में व्याख्यायित किया है, और 'माता' या 'मातृ' की व्याख्या पहले की है, जबकि 'अंगना' के उपरान्त 'मातृ' शब्द की व्याख्या करनी चाहिए थी। 'मातृ' पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा है कि प्रमाण का अर्थ है ज्ञान और प्रमेय का अर्थ है ज्ञेय। सन्तों ने प्रमातृ को ज्ञाता कहा है। वस्तुतः मातृ-तत्त्व में ही जानने की शक्ति है और वह माता-पिता, पुरुष-महापुरुष सब को जन्म देने वाली है, वह सब की जननी है, यही उसका मातृतत्त्व है :

"...यहाँ/कोई पिता-पितामह, पुरुष नहीं है
जो सब की आधार-शिला हो,/सब की जननी/मात्र मातृतत्त्व है।" (पृ. २०६)

'भक्तामर स्तोत्र' में भी इसी भाव को प्रदर्शित किया गया है :

''स्त्रीणां शतानि शतशो जनयन्ति पुत्रान्, नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वा दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं, प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम् ॥२२॥''

यहाँ तीर्थंकर भगवान् की माता का गुणगान करते हुए मातृत्व की ही प्रशंसा की है। माँ शब्द में अजीब ममतामय आकर्षण निहित है। आचार्य विद्यासागरजी कहते हैं कि हम मातृ-तत्त्व के महत्त्व को भूल रहे हैं, इसी कारण सम्बन्धों में-- ज्ञेय-ज्ञायक के सम्बन्धों में फ़ासला आ गया है। जीवन में सुख-शान्ति पुनः लाने के लिए मातृ-तत्त्व को महिमान्वित करना होगा, मातृत्व को उचित सम्मान प्रदान करना होगा :

''मातृ-तत्त्व की अनुपलब्धि में/ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ठप् !
ऐसी स्थिति में तुम ही बताओ,/सुख-शान्ति मुक्ति वह
किसे मिलेगी, क्यों मिलेगी/किस-विध···?/इसीलिए इस जीवन में
माता का मान-सम्मान हो,/उसी का जय-गान हो सदा,/धन्य···!'' (पृ. २०६)

❑

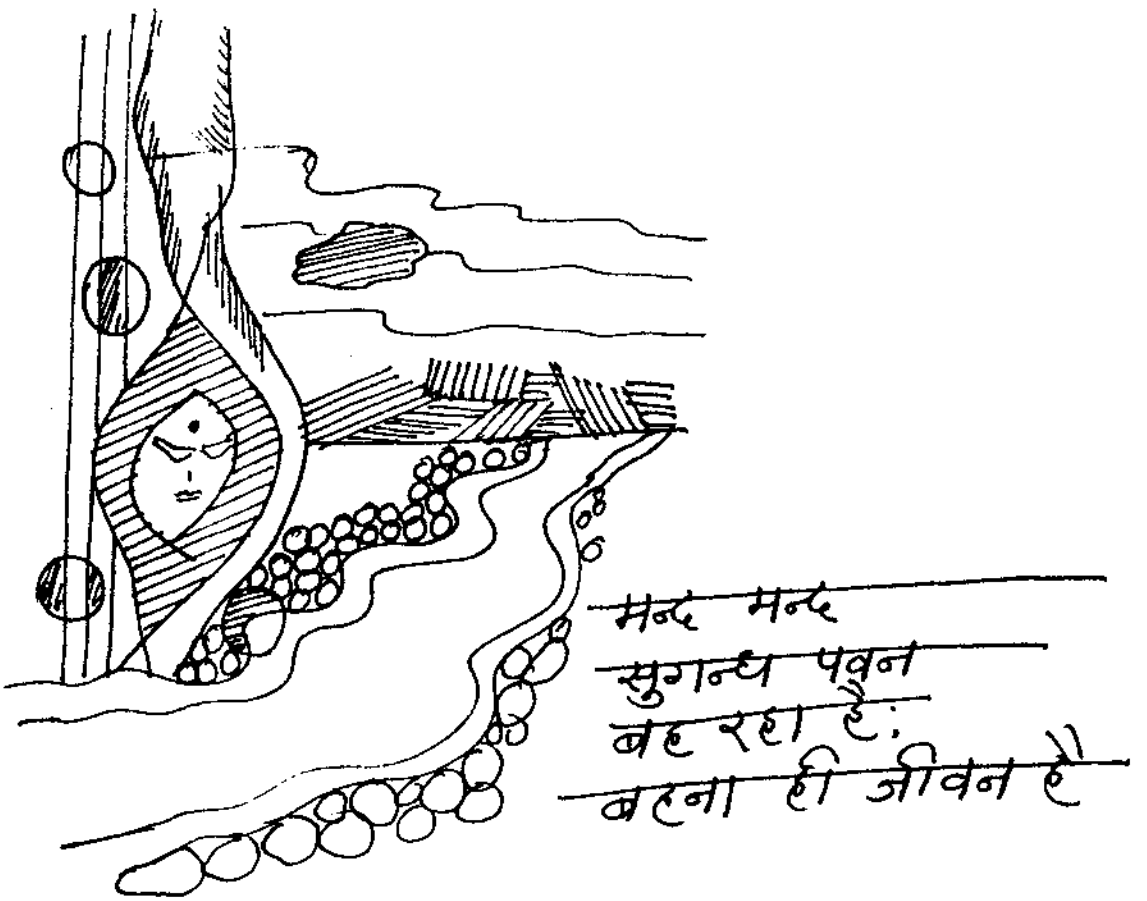

'मूकमाटी' की शब्द-साधना

डॉ. सुरेश चन्द्र जैन

'मूकमाटी' आचार्यप्रवर मुनि विद्यासागरजी का काव्य ग्रन्थ है। अनेक विद्वानों ने इस ग्रन्थ को महाकाव्य मानते हुए भारतीय साहित्य की एक उल्लेखनीय उपलब्धि कहा है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने 'प्रस्तवन' में लिखा है कि इसमें सन्देह नहीं कि " 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है।"

सन्त की साधना और एक सच्चे कवि की काव्य साधना में विशेष अन्तर नहीं होता है। दृष्टि भेद अवश्य होता है। जैन सन्त की साधना, जैनेतर सन्तों की साधना से भिन्न होती है। लोक मंगल और लोक हित की भावना तो दोनों में विद्यमान होती है, परन्तु दोनों में साध्य-साधन का अन्तर सर्वविदित है।

यह अन्तर 'मूकमाटी' में आदि से अन्त तक परिलक्षित होता है। जैन कवि और उनका काव्य रास-रंग का या ऐन्द्रिय इच्छाओं-भावनाओं की पूर्ति का स्रोत नहीं होता बल्कि संसार की असारता में राग-द्वेष से ग्रसित जन की आत्मा के उन्नयन का संगीत होता है, जिससे स्व-पर की पहचान प्राप्त कर, मनुष्य वस्तुस्वरूप की वास्तविकता तक पहुँचने का पुरुषार्थ करता है।

'मूकमाटी' में उसी 'पुरुषार्थ'की महत्ता प्रकट की गई और तदनुसार शब्दावली का प्रयोग भी किया गया है। काव्य की आत्मा रस माना गया है। काव्य की परिभाषाओं में "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य होता है। प्राचीन आचार्यों के मत से दोषरहित, गुण-अलंकार सहित शब्द और अर्थ काव्य है। शब्द और अर्थ का सहभाव सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। राजशेखर ने इस 'सहभाव' को 'यथावत्' विशेषण से युक्त किया है। उनके मत से काव्य में यह सहभाव यथावत् अर्थात् सन्तुलित हो। इसलिए आचार्य की यह उक्ति "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि"—अर्थात् शब्द और अर्थ दोष रहित हो, गुण युक्त हो, चाहे अलंकार कहीं-कहीं स्पष्ट न भी हों। प्रायः सभी आचार्यों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष इसे स्वीकार किया है। आधुनिक समीक्षक आचार्य शुक्ल ने हृदय की मुक्तावस्था को रस दशा निरूपित करते हुए कहा है कि इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।

निष्कर्ष यह है कि यह शब्द-विधान ही कवि की शब्द-साधना कहलाती है। हर श्रेष्ठ कवि का अपना शब्द-विधान होता है। शब्द-भाषा और शैली से कवि अपनी अलग पहचान बनाता है। 'मूकमाटी' के कवि ने जैसा शब्द प्रयोग किया है, वैसा प्रयोग बहुत कम कवियों ने किया है। यद्यपि इस प्रकार के प्रयोग से अधिकतर शब्द के व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ प्रकट करके, कवि ने चमत्कार की सृष्टि करने का प्रयत्न तो किया है, परन्तु इससे रस भंग भी कम नहीं हुआ है।

वास्तव में 'अर्थबोध' ही शब्द शक्ति है। इसी शक्ति से शब्द और अर्थ एक विलक्षण सम्बन्ध से जुड़ते हैं। आचार्यश्री के शब्द प्रयोग का यदि वर्गीकरण किया जाए तो इस प्रकार से कर सकते हैं :

१. शब्द का व्युत्पत्त्यात्मक प्रयोग— गदहा, रावण, कुम्भकार, साहित्य आदि।

२. शब्द का लक्ष्यार्थक प्रयोग— माटी, शूल, कंकर, वेतन आदि।

३. शब्द का विलोमार्थक प्रयोग— राख, नदी, दया, नाली, तामस आदि।

४. शब्द का सम्प्रदायार्थक प्रयोग— निमित्त, कषाय, बन्ध, हेय, उपादेय, मोह, मोक्ष, एषणा, देशना आदि।

५. शब्द का प्रतीकार्थक प्रयोग— पात्र, कुम्भकार, माटी, पराग आदि।

६. शब्द का विखण्डनात्मक प्रयोग— किसलय, धोखा, वेतन।

इन्हीं षष्ठविध प्रयोगों के माध्यम से सन्त कवि ने शब्द और अर्थ के विलक्षण सम्बन्ध अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। शब्द के इन प्रयोगों में आचार्यश्री ने विलोमार्थक प्रयोग के माध्यम से अपनी अभिप्रेत अर्थाभिव्यक्ति पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। विलोमार्थक शब्द प्रयोग 'मूकमाटी' के चारों खण्डों में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। शब्द के विखण्डन प्रयोगों की भी प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति प्रचुर रूप से की गई। परन्तु, शब्द प्रयोगों में कतिपय दोष भी आ गए हैं- यथा :

शब्द का अनावश्यक प्रयोग– ही, और, बेटा, समझी बात।
शब्द का अनुपयुक्त प्रयोग- सर्वनामों रूप– इसको, इसे आदि।
शब्द का व्याकरण सम्मत प्रयोग न होना– लिंग, वचन, कर्त्ता, क्रिया सम्बन्धी दोष।
शब्द का यथोचित सह-प्रयोग न होना– तत्सम, देशज, विदेशी।
शब्द का बलात् प्रयोग– यशा।
शब्द का अनुपयुक्त प्रयोग– समझी बात।

इस कारण रस भंग तो हुआ ही है, काव्य धारा के प्रवाह में बाधा भी खड़ी हुई है। कुछ प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य हैं :

"सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।" (पृ. १)

उपर्युक्त उदाहरण में 'बिछाई' क्रिया भूतकालिक है। यदि बिछाई की जगह 'बिछी हुई है' एवं 'और इधर नीचे/निरी नीरवता छाई' के साथ 'है' इस सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता तो अधिक उपयुक्त होता।

इसी पृष्ठ पर 'अवसान'का विपर्यय 'शान' का प्रयोग उपयुक्त नहीं है। 'शान' के स्थान पर 'अभ्युत्थान' या 'वरदान' शब्द के प्रयोग से 'हो रहा है' इसमें क्रिया की 'तुक' भी मिल जाती, यथा– 'निशा का अवसान हो रहा है/उषा का अभ्युत्थान हो रहा है।' इसी तरह 'मुख पर अंचल ले कर' (पृ. १) की जगह 'अंचल में मुख छिपाये' कहीं अधिक उपयुक्त है। 'अपनी पराग' (पृ.२) के स्थान पर 'अपने पराग को' होना चाहिए। 'इसकी पीड़ा अव्यक्ता है' (पृ. ४) में 'इसकी' की जगह 'मम' या 'मेरी' सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिए। इसी पृष्ठ पर 'पराक्रम से रीता/विपरीता है इसकी भाग्य रेखा' में 'रीता' क्रिया के स्थान 'रिक्ता' रखा जाता। 'रीता' की तुक में 'विपरीता' विशेषण 'भाग्य रेखा' के साथ सही नहीं बैठता, क्योंकि भाग्य रेखा स्त्रीलिंग है, अतएव स्त्रीलिंग में ही क्रिया आएगी। यहाँ पर भी 'इसकी' के स्थान पर 'मेरी' का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि माँ धरती के सम्मुख सरिता तट की माटी स्वयं ही कथन कर रही है, इसलिए प्रथम पुरुष सर्वनाम ही आएँगे, यथा :

"मेरी पीड़ा अव्यक्ता है/व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !
क्रम हीना हूँ/पराक्रम से रिक्ता/विपरीत है मेरी भाग्यरेखा।"

'इसे'-'इसको' की जगह 'मुझे'-'मेरा' सर्वनाम प्रयुक्त होना चाहिए। इसी प्रकार 'अनगित' (पृ.५) नहीं, 'अनगिनत' शब्द सही है। सम्बोधन 'बेटा' (पृ. ७) की जगह 'बेटी' होना चाहिए। 'समझी बात' (पृ. ८) अनावश्यक है।

इसी पृष्ठ पर संगति का प्रभाव दर्शाने वाली पंक्तियों, क्रियाओं का प्रयोग गड़बड़ा गया है–जैसे 'गिरती' के स्थान पर 'गिरकर' प्रयोग होना चाहिए था। 'बेटा' का अधिक प्रयोग काव्य के सहज प्रवाह में बाधा पहुँचाता है। एकाध बार प्रयोग ही ठीक होता। फिर 'इससे यही फलित हुआ' (पृ.१४) ऐसी समझाइश और निष्कर्षात्मक शैली के

कारण भी काव्य के कथा प्रवाह में रुकावटें आ गई हैं। लेकिन पृ. १४ पर 'पालने' का सुन्दर प्रयोग किया है।

शब्द की ध्वनिलय के आधार पर अन्य सार्थक-निरर्थक शब्दों के प्रयोगों की अधिकता है, जैसे मुड़न-जुड़न(पृ. २९), कुम्भकार-स्वयंकार-उपचार (पृ. २८), सावरणा-साभरणा (पृ. ३०), किया-जिया (पृ. ३०), नमन-वमन (पृ. २८) आदि। इससे कहीं-कहीं अर्थ संगति नहीं बनती। लगता है कि अमुक शब्द की ध्वनि-लय के लिए दूसरा शब्द बलात् सार्थक बनाकर रखा गया है। जैसे कुम्भकार (शिल्पी) ने ओंकार को 'नमन' किया और उसने पहले से ही अहंकार का 'वमन' किया है। यहाँ 'नमन' की तुक-ताल मिलाने के लिए 'वमन' बिल्कुल ही असंगत है। 'वमन' के स्थान पर 'शमन' अथवा 'दमन' का प्रयोग उचित होता। ऐसे प्रयोगों से काव्य की सरसता भंग होती है।

जहाँ-जहाँ शब्दों की यह तुकात्मकता सहज, स्वाभाविक और प्रसंगानुकूल प्रस्तुत की गई है, वहाँ-वहाँ अर्थ के नए आयाम प्रकट हुए हैं। कवि की प्रतिभा का चमत्कार और शब्द के छिपे अर्थों का भी सुन्दर उद्घाटन हुआ है। जैसे-चेतन की 'सृजन-शीलता'के साथ 'द्रवण-शीलता' का प्रयोग (पृ.१६) और आज के जीवन सोच पर-'आस्था से रीता जीवन/यह चार्मिक वतन है' (पृ. १६) कहकर कवि ने आज की भौतिक और भोग्यवादी सभ्यता की वास्तविक पहचान स्थापित कर दी है। इसी प्रकार ग़ालिब का यह कथन कि 'दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना' और सन्त कवि का यह कथन- *''अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं/और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव !/ ...पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है/और/पीड़ा की इति ही/सुख का अथ है''* (पृ.३३) सुन्दर प्रयोग बन पड़ा है। ऐसे ही ''वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है''(पृ. ३८) में 'विलास' के साथ 'विकास' शब्द का प्रयोग अपनी पूरी अर्थवत्ता प्रकट करने में सफल है। इसी तरह 'बोल की काया-ढोल की माया-पोल की छाया'(पृ. ११८-११९) के प्रयोगों में नई अर्थ संगति प्रकट होती है। सरिता और सागर के सम्बन्ध प्रसंग में 'समिति' और 'प्रमिति' का (पृ. ११९-१२०) सुन्दर शास्त्रीय प्रयोग किया गया है, साथ ही नए अर्थ का सन्धान भी होता है। देखिए- सरिता चंचला है और सागर स्थिर गम्भीर। सरिता की (चंचल जीवन का) सागर की ओर सरकन ही सरिता की 'समिति' है अर्थात् स्थायित्व से मिलन का संकेत है और 'निरखन' ही सरिता की 'प्रमिति' है अर्थात् जो स्थाई है, उस की ओर देखना (निरखन) 'प्रमिति' यानी यथार्थ सत्य ज्ञान है। यही 'प्रमिति'आस्था है। आस्था वाली 'सक्रियता' ही 'निष्ठा' है। निष्ठा की महक ही 'प्रतिष्ठा' है। यही प्रतिष्ठा 'प्राणप्रतिष्ठा'कहलाती है। बहते-बहते प्रतिष्ठा का स्थिर हो जाना 'संस्था' और यही संस्था सच्चिदानन्द संस्था 'अव्यय अवस्था' (अर्थात् कभी क्षीण न होने वाली) है। यही 'आस्था'जीवन की नींव है। यही आस्था (सच्ची श्रद्धा) धर्म दृष्टि है, मोक्ष पथ है।

इस प्रकार शब्दों के सुन्दर प्रयोग कवि की अपनी प्रातिभ शक्ति का परिचय तो देते ही हैं, साथ ही कवि की कल्पना और अभिव्यक्ति कौशल को भी रेखांकित करते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि शब्दों के ऐसे प्रयोगों ने काव्य की कथाधारा को अविच्छिन्न भले ही न रहने दिया हो परन्तु आचार्य कवि अपना ईप्सित प्रकट करने में सफल हो जाते हैं। वास्तव में अध्यात्म में आकण्ठ डूबे कवि की काव्य साधना, हितोपदेश प्रधान होती है। स्व-चिन्तन और अपने मत की पुष्टि के लिए ही शब्द दोहन सन्त कवि किया करते हैं। इसलिए शास्त्रीय दृष्टि से भाषा सौन्दर्य आ नहीं पाता। यद्यपि 'मूकमाटी' के कथा प्रवाह के मध्य इसी प्रकार की उपदेशात्मकता प्राय: मुख्य पात्रों के द्वारा और कहीं-कहीं स्वयं कवि द्वारा प्रकट की गई है, फिर भी कवि ने अपने शब्द विधान द्वारा भाषा सौन्दर्य की रक्षा करने का भी भरसक प्रयत्न किया है।

'मूकमाटी' : मानव जीवन का कल्पवृक्ष

डॉ. एस. पी. मिश्र

यह काव्य तप:पूत सन्त कवि विद्यासागर द्वारा विरचित है। इस काव्य को कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है। काव्य के ये चार अध्याय कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं – १. प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', २. द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', ३. तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और ४. चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

पहला खण्ड माटी की प्राथमिक अवस्था का चित्रण करता है। माटी को शुद्ध करने की प्रक्रिया यहाँ शुरू होती है। माटी प्रथमत: संकरित होती है। वह पिण्ड रूप में कंकरों से मिली हुई प्राथमिक दशा का परिचय देती है। यहाँ कुम्भकार की कल्पना कार्य करती है। माटी को मंगल घट का रूप देने के लिए कुम्भकार को उसे परिष्कृत करना होता है और एक लम्बी प्रक्रिया के माध्यम से उसे परिपक्व करना होता है। इन परिस्थितियों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण रचनाकार ने किया है। कुम्भकार की कल्पना रचनाकार की कल्पना है। संकरतामय माटी को रचनात्मक और सार्थक रूप देने के लिए सन्त कवि की सार्थक दृष्टि परिलक्षित होती है। वर्णलाभ देकर उसे सार्थकता प्रदान करना और मंगल घट के रूप में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया रचनाकार की सुन्दर अभिव्यंजनात्मक शैली का परिचय देती है। रचनाकार कुम्भकार की सार्थकता इसी में है कि माटी से कंकड़ों को निकालकर मौलिक रूप प्रदान करे। शुद्ध माटी ही शुद्ध मंगल घट का रूप ग्रहण कर सकती है। कुम्भकार को, माटी को मंगल घट का रूप देने के लिए अथक परिश्रम करना पड़ता है। बेमेल माटी को शुद्ध और सुडौल रूप देना पड़ता है, तभी माटी घट का रूप प्राप्त कर पाती है। रचनाकार ने यह कहना चाहा है कि तुच्छ माटी को स्वच्छ रूप देने के लिए कुम्भकार को स्वयं कितना तपना होता है। अग्नि रूपी तप में तपकर घट परिपक्व कंचन रूप धारण कर पाता है। कृती की कृति उसके रचना कौशल का ही परिणाम होती है। यही कवि का उद्देश्य है :

"स्वयं शिल्पी/चालनी का चालक है।/वह/अपनी दयावती आँखों से
नीचे उतरी/निरी माटी का/दरश करता है/भाव-सहित हो।
शुभ हाथों से/खरी माटी का/परस करता है/चाव-सहित हो।
और/तन से, मन से/हरष करता है/घाव-रहित हो।
अनायास फिर/वचन-विलास होता है/उसके मुख से, कि
"ऋजुता की यह/परम दशा है/और/मृदुता की यह/चरम यशा है/···धन्य!"
माटी का संशोधन हुआ,/माटी को सम्बोधन हुआ।" (पृ. ४४-४५)

मृदु माटी से कुम्भकार का शिल्प निखर उठता है। शिल्पी कुम्भकार मृदु माटी को संशोधित रूप प्रदान कर उसे मृदुता के चरम उत्कर्ष पर पहुँचा देता है। माटी की भव्यता उसकी मृदुता है। कुम्भकार माटी को जो शालीनता और वैभव देता है वही उसका सृजन है। मृदु शब्दों में शिल्पी कह उठता है :

"मृदु माटी से/लघु जाति से/मेरा यह शिल्प/निखरता है/और
खर-काठी से/गुरु जाति से/वह अविलम्ब/बिखरता है।" (पृ. ४५)

शिल्पी ने संकर दोष का वारण करके कंकर-कोष को हटा दिया। शिल्पी ने कंकरों को उनकी अस्थिरता का बोध

कराया। माटी स्वयं कंकरों को अपनी स्थिति का आभास देती है। माटी की शालीनता स्वयंसिद्ध है :

"माटी की शालीनता/कुछ देशना देती-सी···!
महासत्ता-माँ की गवेषणा/समीचीना एषणा/और
संकीर्ण-सत्ता की विरेचना/अवश्य करनी है तुम्हें!/अर्थ यह हुआ—
लघुता का त्यजन ही/गुरुता का यजन ही/शुभ का सृजन है।
अपार सागर का पार/पा जाती है नाव/हो उसमें
छेद का अभाव भर!" (पृ. ५१)

इस खण्ड में मछली का प्रसंग भी वर्णित है। मछली माटी से अलग होकर कुछ प्रश्न करती है जिसको माँ माटी समझाती है। माँ कहती है :

"समझने का प्रयास करो, बेटा!/सत्-युग हो या कलियुग
बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह/सत् की खोज में लगी दृष्टि ही
सत्-युग है, बेटा!/और/असत् विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा!" (पृ. ८३)

माटी माँ पुत्री-सम मछली को सारी परिस्थितियाँ समझाती है और विषयों की लहरों से बचकर रहने का उपदेश देती है। वह कहती है :

"यही कहना है बेटा!/कि/अपने जीवन-काल में/छली मछलियों-सी
छली नहीं बनना/विषयों की लहरों में/भूल कर भी/मत चली बनना?
और सुनो, बेटा/मासूम मछली रहना,/यही समाधि की जनी है।"
(पृ. ८७-८८)

इस खण्ड का समापन 'दयाविसुद्धो धम्मो' की ध्वनि गूँजने के साथ होता है। इस में रचनाकार ने माटी की रचना की पृष्ठभूमि दी है।

इस पूरे खण्ड में रचनाकार ने माटी की रचना प्रक्रिया से सम्बन्धित सभी पक्षों का उद्घाटन किया है। शिल्पी कुम्भकार माटी के सारे दोषों का निवारण कर उसे शालीन रूप देता है। माटी की शालीनता में उसके शुद्धीकरण की प्रक्रिया आच्छन्न है। अन्तरकथा के रूप में कंकर और मछली के प्रसंग को जल के साथ वर्णित करना कवि की विशेष दृष्टि है। इस प्रक्रिया में कवि ने अपने दर्शन और चिन्तन को आधार बनाया है जिससे वर्णन में गम्भीरता और भव्यता आई है। कवि की अन्तर्भेदी दृष्टि माटी को वर्णलाभ दिलाने में सार्थक प्रतीत होती है। सराहनीय यह है कि चिन्तनपरक दृष्टि होते हुए भी काव्य की सहजता और सरलता पर कोई आँच नहीं आई है। माटी को वर्णलाभ देने तक कवि की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट और सुलझी हुई दिखाई देती है। भावाभिव्यंजना सरल और सम्प्रेषणीय है। पाठक को माटी की इस यात्रा से एक दृष्टि मिलती है और यह चेतना ही मनुष्य की अपनी थाती है।

दूसरा खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं: बोध सो शोध नहीं' शीर्षक से अभिहित है। इस खण्ड में स्पष्ट रूप से शब्द के बोध को स्पष्ट करते हुए कवि ने बोध से शोध तक की यात्रा तय की है। मूकमाटी की यात्रा का अगला चरण प्रारम्भ होता है। जल माटी के साथ मिलकर नव प्राण पाता है। माटी ज्ञान का और पानी अज्ञान का प्रतीक है। माटी चिर और

स्थिरप्रज्ञ है तथा जल अस्थिर, चंचल, अचिर। ज्ञानी माटी से मिल कर अज्ञानी जल ने प्राणवत्ता पाई है। अस्थिर तथा अचिर को स्थिरता और चिरता मिली है। यही उसका नया कायाकल्प है, नूतन परिवर्तन है। कवि अपनी दर्शनपरक दृष्टि का परिचय देते हुए चेतना के चिरन्तन नर्तन की बात कहता है :

"माटी के प्राणों में जा,/पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,
ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली/नव-नूतन परिवर्तन···!
तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है यह/वह कौन-सी आँखें हैं,
किस की, कहाँ हैं/जिन्हें सम्भव है/इस नर्तन का दर्शन यह ?" (पृ. ८९-९०)

इस दूसरे खण्ड में कवि ने अनेक चरणों तथा आयामों में अपना मन्तव्य अंकित किया है। पूरे काव्य में कवि ने प्रकृति की छवि का भी चित्रण किया है। प्रकृति का परिवेश किस प्रकार वातावरण को प्रभावित करता है, ऋतुएँ प्रकृति में क्या परिवर्तन लाती हैं, आदि तथ्यों का चित्रण कवि ने बड़े मनोयोग से किया है। बीच-बीच में माटी और शिल्पी के बीच वार्तालाप होता रहता है। इस कथोपकथन से कथा का प्रसंग तो आगे बढ़ता ही है, साथ ही कथ्य और तथ्य दोनों स्पष्ट होते हैं तथा पाठक को काव्य की मूलचेतना को समझने में सरलता होती है। कवि ने यहाँ अपनी दार्शनिक और चिन्तनमय दृष्टि का परिचय दिया है। माटी का सम्बोधन कितना चिन्तनमय और दर्शनमय है :

"अरे सुनो !/कुम्भकार का स्वभाव-शील/कहाँ ज्ञात है तुम्हें ?
जो अपार अपरम्पार/क्षमा-सागर के उस पार को/पा चुका है
क्षमा की मूर्ति/क्षमा का अवतार है वह।" (पृ. १०५)

इस खण्ड में शृंगार, वीर आदि नव रसों की व्याख्या तथा आकलन किया गया है। शृंगार और वीर आदि रसों की मौलिक व्याख्या भी मिलती है। माटी की यात्रा-व्याख्या में गणितीय संयोग भी कवि ने किया है जो मौलिक अवधारणा है। शब्दों का मार्जन– परिष्करण इस खण्ड में अधिक दिखाई देता है। बोध जब आचरण में उतर जाता है तब शोध का रूप धारण कर लेता है। इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या कवि ने अपनी लेखनी से की है। इस खण्ड में तपःपूत कवि ने तपस्या के प्रभुत्व को भी स्थापित किया है। कंचन तपकर ही कुन्दन बन जाता है। बिना तपस्या के परिष्कार सम्भव नहीं और बिना परिष्कार तथा मार्जन के सार्थकता प्राप्त नहीं हो सकती। कवि कहता है :

"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता/और
बिना तप के जलत्व का, वर्षा का,/उदय हो नहीं सकता
तप के अभाव में ही/तपता रहा है अन्तर्मन यह
अनल्प संकल्प-विकल्पों से, कल्प-कालों से।" (पृ. १७६)

अनल्प संकल्प-विकल्पों से कल्प कालों से माटी की कथा अब तीसरे चरण में पहुँचती है। कवि ने इस खण्ड का शीर्षक 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' दिया है। कवि ने माटी की इस विकास कथा को अर्जन तथा उपलब्धि के धरातल पर चित्रांकित किया है। शीर्षक की स्पष्ट अभिव्यक्ति है कि पुण्य के पालन से ही पाप का प्रक्षालन होता है। प्रकृति का नियम है कि महासागर के जल से मेघ का सृजन होता है। जल ही मुक्ता और मुक्ता ही जल है। इन्हीं मुक्ताओं का वर्षण कुम्भकार के प्रांगण में होता है। वसुधा इन मुक्ताओं को पा कर सार्थक हो जाती है, लहलहा जाती

है और शस्य श्यामला बन जाती है। इन्हीं मुक्ताओं को प्राप्त करने का अधिकार उस कुम्भकार को है जिसने एक लम्बी साधना और तपस्या के बाद संकर वर्ण माटी को शुद्ध रूप देकर मंगल घट का रूप दिया है। जो साधनाहीन, तपस्याहीन प्रभुत्व है वह मुक्ताओं को बटोर लेना चाहता है। उसे यह नहीं मालूम कि पुरुषार्थ के बिना, तपस्या और साधना के बिना मुक्ताओं को प्राप्त करना अधर्म है, पाप है। जो साधना में जलता है, जिसे जल और ज्वलन में अन्तर अनुभव नहीं होता वही इस मुक्ता को प्राप्त करने को अधिकारी है। कुम्भ की तपस्या स्वयं बोल उठती है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा/भेद से अभेद की ओर
वेद से अवेद की ओर/बढ़ती है, बढ़नी ही चाहिए/अन्यथा,
वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

लोकहित साधक शीतलता और ज्वाला में अन्तर अनुभव नहीं करता है। निरन्तर साधना से शेष अशेष हो जाता है, भेद से अभेद हो जाता है। साधक-कवि की अन्तर्भेदी दृष्टि ने इस खण्ड को अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है। माटी को निर्मल दृष्टि और सुदृढ़ आस्था का आधार मिला है। कवि की आस्था ही रचना को परिपक्वता देती है, कंचन रूपी परिपक्वता देती है। परिपक्व साधना ही लोक मंगल करती है। लोक मंगल ही जीवन का अभीष्ट है। लोक मंगल की ओर मनुष्य को प्रेरित करना ही सन्त कवि का चरम लक्ष्य है। प्रकृति का चिरनूतन प्रसंग सदैव काव्य के साथ प्रवाहित होता है जिससे कविता में सौन्दर्य बढ़ जाता है। इस खण्ड की भाषा बड़ी परिष्कृत तथा प्रांजल है और भावाभिव्यंजना बड़ी सशक्त है।

इस काव्य का चौथा और अन्तिम खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक से अभिहित है। इस खण्ड का कथा-फलक बहुत विस्तृत और व्यापक है। अन्तरप्रसंग भी अधिक हैं। एक लम्बी यात्रा और साधना के बाद इस सोपान पर आकर अपरिपक्व कुम्भ पककर मंगल घट का रूप धारण करता है। जब तक कुम्भ पक नहीं जाता है तब तक कुम्भकार अपनी तपस्या और साधना में सतत लीन रहता है। अग्नि में प्रवेश दिलाकर कुम्भकार उसे सतत जलते रहने देना चाहता है। चाँदी-सी राख मंगल घट की शुभ्रता, शुद्धता और परिपक्वता की द्योतक है। कुम्भकार की कला और उसके साधना घट को मंगलमय बनाती है जिसमें जल रूपी मुक्ता भरी जाएँगी और वह लोकहित में संसार की तृष्णा को, तृषा को तृप्त करेगा। कवि का यह कहना निःसन्देह अनुभवगम्य है कि अपने को जलाना ही शुद्धता का परिचायक है। वही दूसरे के दोषों को भी जला सकता है जो जलकर स्वयं परिष्कृत, सुसंस्कृत एवं सन्त-प्रकृति का हो गया हो। अवा में सतत जलना, तपना ही कुम्भ का जीवन धर्म है। कुम्भकार स्वयं अपने कौशल से, अपनी तपस्या से कुम्भ को कंचन रूप देकर उसके स्वागत के लिए तैयार होता है। कृति और कृती दोनों धन्य हो जाते हैं। कुम्भकार सोल्लास चाँदी-सी राख को फावड़े से हटाकर तपे हुए कुम्भ को बाहर निकालता है। कुम्भकार ने इसे मंगल रूप देने के लिए कठिन साधना की है। आज कुम्भकार की साधना का ही सुफल है कि मूकमाटी मुखर तथा प्राणवान् हो गई है। वह मंगल गान करती है। आनन्द और मंगल की संरचना ही माटी का अन्तिम लक्ष्य है और कवि जीवन का भी। कितने सोपानों को पार कर माटी ने आज कंचनमय खरा रूप धारण किया है। मूकमाटी को शब्दायमान् करने का, साकार रूप देने का जो अथक प्रयास सन्त कवि की रचना तपस्या ने किया है, वह नितान्त स्तुत्य है।

अन्ततः मंगल घट का निर्माण एक हित है तो दूसरा हित, जो अपने चर्मोत्कर्ष पर है, वह है, प्यासे की तृषा को बुझा देना। माटी की शुद्धता की साक्षी तो अग्नि ही है। अग्नि सृजनशीला है। वह दोषों का परिहार करती है।

कुम्भकार की श्रेष्ठता इसी में सिद्ध होती है कि वह इतनी बड़ी रचना करके भी, इतना बड़ा सृजक होकर भी विनम्रता की मुद्रा में कह उठता है :

"यह सब/ऋषि-सन्तों की कृपा है,/उनकी ही सेवा में रत
एक जघन्य सेवक हूँ मात्र,/और कुछ नहीं।" (पृ. ४८४)

कवि मोक्ष की परिभाषा भी देता है। वह कहता है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही
मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है
जिसे/प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ!" (पृ. ४८६-४८७)

कवि कुम्भकार ने माटी को गेय तो बनाया ही है, साथ ही वही माटी हेममयी हो गई है। हेम-आभा से उसका मुखमण्डल प्रदीप्त हो उठा है। मंगल घट के भरे जल से आज गुरु का पाद प्रक्षालन हो सकेगा। श्रमण-साधना का चर्मोत्कर्ष उपस्थित हो सकेगा और परमानन्द अक्षय सुख का विश्वास जागेगा। मनुष्य की भव्यता तथा मूल्यवत्ता इसी में है कि वह भोले-भाले, भूले-भटके, विनीत भाव से भरे हुए सहज, सरल तथा अकिंचन की सहायता करे। उसे हित-मित-मिष्ट वचनों से आप्लावित कर दे। साधना की सार्थकता वही है जिसे जीवन में उतारा जा सके तथा अपनाया जा सके और जीवन में आश्वस्त बनाया जा सके। राग में ही विराग है और विराग में राग। सन्त इन दोनों से ऊपर उठता है। तब न उसमें राग होता है और न ही विराग। वह तो ऋषि है, गुणातीत है, आर्ष परम्परा का प्रतीक है। उसका प्रसाद आराधक को बड़ी साधना के बाद ही मिलता है। मुदित मुख गुरु का प्रसाद ही अभय का हाथ है जो भावों से भरा हुआ है, शाश्वत सुख का दाता है। अभय का हाथ उठ जाने पर साधक का परम कल्याण होता है।

आचार्य विद्यासागर द्वारा रचित यह 'मूकमाटी' काव्य हिन्दी साहित्य की नहीं अपितु भारतीय साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। हमें आशा है कि काव्यमयी आध्यात्मिक चिन्तन और दर्शन की परिचर्चा जहाँ होगी, वहाँ इसका सन्दर्भ अवश्य दिया जाएगा। आध्यात्मिक अन्तश्चेतना को माटी में सानकर यशस्वी सन्त कवि ने मानव समाज तथा सुधी पाठकों के लिए मंगलमय घट का निर्माण किया है। अपने कवि जीवन के अनुभवों के रस से सिंचित कर कवि ने काव्य को भव्यता और सरलता प्रदान की है। कवि का यह सन्देश है कि मनुष्य अपनी आत्मा का उद्धार अपने पुरुषार्थ से ही कर सकता है और तभी उसे अविनश्वर सुख प्राप्त हो सकता है। कवि की लेखनी ने मूक माटी को अबाधित जलधारा का रूप दिया है। कविता धाराप्रवाह, अबाधित सरिता के रूप में प्रवहमान है। 'मूकमाटी' में कवि ने सरलता, आध्यात्मिकता, दर्शन एवं चिन्तन तथा प्रेरणादायक अनुभवगम्य स्रोतों से काव्य को कल्पवृक्ष के समान जीवन्त और प्राणवान् बना दिया है। यदि इसे मानव जीवन का कल्पवृक्ष कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह रचना कवि की परिपक्वता का द्योतक है तथा महाकाव्योचित औदात्य को धारण करने वाला एक अभिनव काव्य है।

तप:पूत सन्त कवि की काव्य प्रतिभा से सम्पन्न एवं प्रशस्त शैली का यह काव्य सम्पूर्ण मानव समाज का हित साधक है। इस काव्य की सफलता यह है कि रचनाकार ने अपनी साधना से, कर्मठता और आत्मविश्वास से तुच्छ माटी को भी हेममय कुम्भ बना दिया है। यह नग्निका काया मूलत: मूकमाटी ही है। रचनाकार इसे सुन्दर पक्व घट का रूप देकर हमें प्रेरणा देता है कि हम जीवन घट को भी पकाएँ और भव्य मंगल घट का रूप दें। मनुष्य अपनी साधना से संरचनाकार की साधना के माध्यम रूप गुरु को प्रसन्न करे और उसका अविनश्वर प्रसाद ग्रहण करे। कवि-कर्म, दर्शन

और अध्यात्म की त्रिवेणी इस काव्य में प्रवाहित हो रही है। इस काव्य सरिता की त्रिवेणी ने इसे पवित्र संगम तीर्थराज का रूप दिया है, जिसमें अवगाहन कर हृदय और बुद्धि निर्मल हो जाती है। सुन्दर भावाभिव्यंजना, सरस काव्य शैली और सरल भाषा में निबद्धकर यह अनूठी रचना प्रस्तुत की गई है। दर्शन का सुधारस पिला देने के कारण इस काव्य में पुष्टता, परिपक्वता और सौष्ठव का गुण आया है। इससे काव्य में गुरुता भी आई है। कवि अपने भावों को चित्रवत् अखण्ड रूप में व्यक्त करने में समर्थ है। आस्था, आशा और विश्वास के स्वर यत्र-तत्र-सर्वत्र कृति में गूँज रहे हैं। माटी जैसी अकिंचन परन्तु मूल्यवान् वस्तु को इतने सुन्दर और भव्य रूप में प्रस्तुत कर देना और उसकी छिपी हुई मूक वेदना को पहचान कर मुखरित कर देना एवं साकार रूप प्रदान कर देना, रचनाकार की अभूतपूर्व सफलता है। मूकमाटी को मंगल घट रूप में परिवर्तित कर देना कुम्भकार की, इस रचनाकार की सफल साधना है। अनवरत, अथक परिश्रम का यह सुफल है। आज के सामयिक सन्दर्भ में भी यह काव्य अधिक मूल्यवान्, जीवन्त एवं प्राणवान् सिद्ध होता है। मूकमाटी के समान विश्व में न जाने कितने लोग निरीह, पद दलित और व्यथित हैं। उनकी मूक वेदना को पहचान कर उसे प्राणवान् बना देना बहुत कठिन किन्तु आवश्यक है। सभी में किसी न किसी रूप में मूकमाटी जैसी वेदना अन्तर्निहित है और गुरु का प्रसाद ग्रहण कर मुक्ति की आकांक्षा सभी करते हैं। मूकमाटी की वेदना और उसे कंचन रूप देने की चेतना विश्व भावना से ओतप्रोत और परिव्याप्त है। जीवन के उन्नयन, आत्म शुद्धि और दर्शन लाभ में इसकी परिणति हुई है। सफल रचनाकार के रूप में और दार्शनिक दृष्टि से विश्व को पहचानने की शक्ति और अन्तर्दृष्टि सन्त कवि में दिखाई देती है। कवि स्वयं शिल्पी कुम्भकार एवं रचनाकार है जिसने मानव जीवन की ध्रुवसत्ता को पहचाना है। रचनाकार और रचना की साधना की चरम उपलब्धि यही है :

"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी/मगर
मार्ग में नहीं, मंजिल पर !/और/महा-मौन में/डूबते हुए सन्त···
और माहौल को/अनिमेष निहारती-सी/···मूकमाटी।" (पृ. ४८८)

यह काव्य मानव जीवन का अध्यात्म चिन्तनपरक काव्य है। महाकाव्योचित औदात्य होने के कारण इसे स्वच्छन्द एवं स्वतन्त्र दृष्टि से महाकाव्य कहा जा सकता है। लगभग पाँच सौ पृष्ठों का महाविशालकाय काव्य मानव जीवन को प्रेरणा देने वाला अनुपम काव्य है। महाकाव्य के शास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर, भले ही यह महाकाव्य के रूप में न स्वीकार्य हो परन्तु उदात्तता, गरिमा, अन्तर्दृष्टि और अनुभव की गहराई को देखते हुए इसे महाकाव्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। यह काव्य मानव जीवन का अनमोल रत्न है।

❑

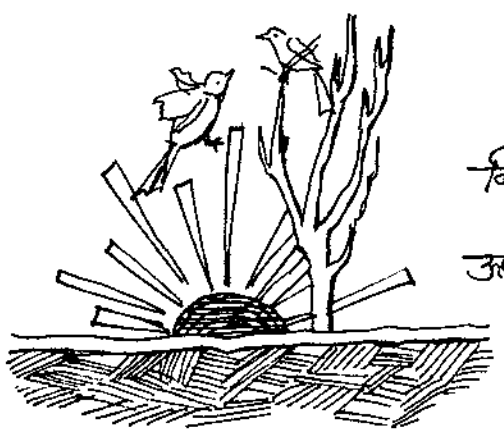

निशा का अवसान हो रहा है
उषा की अब शान हो रही है।

जैन धर्म-दर्शन और साहित्य का अमर कोश : 'मूकमाटी'

डॉ. राजकुमार पाण्डेय एवं डॉ. गणेश शुक्ल

'मूकमाटी' जैन धर्म-दर्शन के प्रख्यात विद्वान् एवं महान् साधक आचार्य विद्यासागर की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण काव्य-रचना है। वास्तव में इस कृति को महाकाव्य न कहकर जैन धर्म-दर्शन और साहित्य का अमर कोश कहना अधिक उपयुक्त है। आचार्यवर ने जहाँ एक ओर साहित्य की सम्पूर्ण सम्भावनाओं को सँजो कर रस-छन्द-अलंकारों से सुसज्जित करके आख्यानों और उपाख्यानों का समावेश करते हुए लगभग पाँच सौ पृष्ठों में फैले हुए तथा चार खण्डों में विभक्त इस महाकाव्य का विशाल स्वरूप संगठित किया है, वहीं दूसरी ओर अध्यात्म, तत्त्व दर्शन एवं योग साधना के विविध सोपानों, आत्मशुद्धि की अनेक मंज़िलों, जीवन की अनुभूतियों तथा लोक मंगल-कामना से जुड़ी हुई आत्मा के संगीत को भी इस काव्य में मुखरित किया है। इस कृति में मुक्त छन्द का जीवन्त प्रवाह और काव्य के रसास्वादन की अन्तरंग अनुभूति तो है ही, पिण्ड और ब्रह्माण्ड, जीवन और जगत्, व्यष्टि और समष्टि के समन्वय का इसमें सार्थक प्रयास भी है।

सम्पूर्ण महाकाव्य अपने मौलिक रूप में एक सार्थक प्रतीकात्मक काव्य है और यही कारण है कि साधना और दर्शन के समावेश के कारण प्रतीक योजना कहीं-कहीं दुरूह एवं उलझी हुई भी हमें प्रतीत होती है। मध्ययुगीन सन्त कवियों की तरह वे सान्ध्य भाषा में अपनी भावनाओं, अनुभूतियों और विचारों की अभिव्यक्ति करते हैं जिसे जैन धर्म-दर्शन एवं साधना के विविध स्तरों की वैयक्तिक अनुभूति के बिना पूरी तरह समझ पाना कठिन है। यद्यपि वे माटी जैसी क्षुद्र, पद दलित एवं निरीह वस्तु को अपने काव्य का विषय बनाते हैं किन्तु माटी के शोधन की वह प्रक्रिया, जिसका विश्लेषण साधक कवि ने किया है, ऊपर से जितनी सरल, सुगम और व्यवस्थित दिखाई पड़ती है पर वह वास्तव में वैसी नहीं है, क्योंकि आत्मशोधन की सम्पूर्ण प्रक्रियाएँ साधना की दृष्टि से अत्यन्त कठिन, जटिल एवं श्रम साध्य हैं।

यहाँ सबसे पहले इस महाकाव्य की प्रतीक योजना पर विचार करना उपयुक्त होगा। इसमें 'माटी' रूपी आत्मा को प्रतीक बनाया गया है। इस महाकाव्य के आरम्भ में 'माटी' के परिशोधन की प्रक्रिया का विश्लेषण किया गया है। उसका परिष्करण इसलिए आवश्यक है कि अपनी अज्ञानता के कारण वह कंकड़-पत्थर जैसे निरर्थक सांसारिक पदार्थों से जुड़ी हुई है। कूटना, छानना, कंकड़ों को हटाना आदि साधना की प्रारम्भिक स्थितियाँ हैं, जिनको पार कर ही कोई मंगल घट बनने के योग्य हो सकता है।

सबसे पहले इस 'माटी' के भीतर स्वतः स्फूर्त कामना प्रस्फुटित होती है और उसे अपनी वास्तविक सत्ता का बोध होने लगता है। उसके साथ धृति-धारणी धरा, उस माटी को उसकी सत्ता के वास्तविक, शाश्वत स्वरूप का स्मरण दिलाती है कि उसमें विकास की असंख्य सम्भावनाएँ निहित हैं किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि वह अपने जीवन में आस्था की अनुभूति करे और उसे आत्मसात् कर ले। फिर वह समय आ जाता है जब कुम्भकार अपनी क्रूर, कठोर कुदाली से उस मिट्टी को खोदता है, उसे बोरी में भरता है और गदहे की पीठ पर लाद देता है। इसके बाद साधना द्वारा शोधन-परिशोधन की प्रक्रिया आरम्भ होती है। उससे कंकड़-पत्थर आदि वस्तुएँ अलग की जाती हैं, क्योंकि वे कंकड़ पूरी तरह न तो माटी से मिल पाते हैं और न ही उनमें जलधारण की क्षमता ही है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में निबद्ध इस रूपक का तात्पर्य यह है कि कोई भी जीव तभी साधना के लिए प्रस्तुत हो सकता है जब उसके अन्दर स्वतः साधना की भावना जाग्रत हो। गुरु उसमें यह क्षमता पैदा कर देता है। फिर उसके लिए आवश्यक होता है कि वह सांसारिकता से अपने को पूरी तरह अलग कर ले, क्योंकि सांसारिक वस्तुओं में उनकी

कृपा रूपी जलधारण की क्षमता नहीं होती और न तो उनकी कठोरता ही विनम्रता में बदलती है।

साधना की यह प्रक्रिया केवल माटी या चेतन इकाई तक ही सीमित नहीं रहती, अन्य में भी होती है। इसमें उसका उपादान कारक रूप वह स्वयं तो है ही, साथ ही निमित्त रूप सम्पूर्ण प्रकृति और अन्य चेतन शक्ति भी गतिशील हो जाती हैं। इस प्रकार यह प्रक्रिया एक ही समय दो स्तरों पर चलती है जिससे तमाम ग्रन्थियाँ निर्ग्रन्थ हो जाती हैं। यह ग्रन्थि ही मूलत: हिंसा की सम्पादिका है और निर्ग्रन्थ स्थिति में अहिंसा का विकास होता है।

इस महाकाव्य के दूसरे खण्ड — 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में साधना के विभिन्न सोपानों और उनकी जटिलताओं का वर्णन किया गया है। इसके प्रभाव से अचेतन माटी मात्रानुकूल निर्मल जल से भींगकर कोमल हो जाती है। उसके करुणामय कण-कण में 'नव नूतन परिवर्तन' होता है और उसके तन में चेतना का निरन्तर नर्त्तन होने लगता है, क्योंकि पुरुष--आत्मा का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है। साधना के इस क्रम में समाज के कण्टक विखण्डित होते हैं, टूट जाते हैं। शिल्पी माटी का मान, दर्प, अहंकार आदि विभावों को कुचल कर, रौंद कर उसे स्निग्ध बना देता है जिससे कि वह साधना की उच्चतर क्रियाओं के योग्य बन जाती है। वह माटी पावन घट के रूप में परिवर्तित हो निखर उठती है। साधना के इस कठिन सोपान पर भी माटी में कुछ न कुछ अज्ञानता का जल शेष रह जाता है, जिसके कारण उसे फिर प्रचण्ड अनल की ज्वाला में दग्ध होना पड़ता है।

तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' में इस घट की अगली विकास कथा को व्यंजित किया गया है। वास्तव में पुण्य कर्म के उपरान्त ही श्रेयस्कर उपलब्धियाँ मिलती हैं। यहाँ मेघ से 'मेघ मुक्ता' का अवतरण साधना के बाद भौतिक एवं आध्यात्मिक उपलब्धि एवं अलौकिक आनन्द की अनुभूति का परिचायक है। कुम्भकार का प्रांगण अर्थात् यह सम्पूर्ण सृष्टि आनन्द रूपी मुक्ता की वर्षा से परिपूर्ण हो जाता है। यदि इस उपलब्धि को उचित पात्र के अतिरिक्त कोई शक्तिशाली व्यक्ति, जैसे राजा आदि बलपूर्वक प्राप्त करने की चेष्टा करता है तो प्राकृतिक शक्तियाँ क्षुब्ध अथवा कुपित हो जाती हैं और ऐसे व्यक्ति को विनाश की ओर अग्रसर करा देती हैं।

चौथा खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' है जिसमें साधना की चरम परिणति के रूप में घट को प्रज्वलित अवा में तपने का चित्रण किया गया है। अनल का स्पर्श पाकर घट की काया कान्ति जल उठती है किन्तु दूसरी ओर उसकी आत्मा उज्ज्वल होकर सहज शान्ति और आनन्द से परिपूर्ण भी हो जाती है। कुम्भकार इस पके हुए पूर्ण घट को श्रद्धालु नगर सेठ को समर्पित कर देता है जिससे कि इसमें पावन जल भर कर गुरु का पाद-प्रक्षालन किया जा सके। और इसी के साथ साधु के आहार दान की प्रक्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। दूसरी ओर स्वर्ण-कलश को इस मिट्टी के घट से ईर्ष्या होने लगती है, क्योंकि यह मिट्टी का घट अपनी साधना के कारण अधिक सम्मानित हो गया है। स्वर्ण कलश अपने आतंकवादी दल के द्वारा गृहस्थ सेठ परिवार में विप्लव मचा देता है। घट के आश्रय से गृहस्थ परिवार वहाँ से निकल कर नदी के उस पार चला जाता है, जबकि आतंकवादी दल नदी की धारा में डूबने-उतराने लगता है। उसे भी कुम्भ की प्रेरणा पर सेठ परिवार आश्रय देता है। और अन्त में सन्त के द्वारा देशना या उपदेश दिया जाता है। तन, मन और वचन -- ये सब बन्धन हैं। इनसे छूट जाना ही मोक्ष है। फलश्रुति के रूप में इस महाकाव्य का प्रमुख लक्ष्य जैन धर्म-दर्शन और उसके मूल सिद्धान्तों एवं साधना के विविध सोपानों की पुनर्व्याख्या करना है। आरम्भ में ही माटी को सम्बोधित करती हुई धरती कहती है कि जल की बूँदें विषधर के मुख में पड़ कर विष और सीप में गिरकर मोती बन जाती हैं, क्योंकि संगति के अनुरूप ही जीव के मन और बुद्धि का विकास होता है। और जब जीवन आस्था से पूरी तरह जुड़ जाता है तो उसका मार्ग स्वयं प्रशस्त होने लगता है :

"...जीवन का/आस्था से वास्ता होने पर/रास्ता स्वयं शास्ता होकर

सम्बोधित करता साधक को/साथी बन साथ देता है।" (पृ. ९)

इस आस्था को आत्मसात् करने के लिए साधना के साँचे में स्वयं को ढालना पड़ता है। उसे प्रतिकार की पारणा छोड़नी पड़ती है। कर्मों का संश्लेषण होना और उसका विश्लेषण होना आत्मा की इसी परिणति पर आधारित है।

कवि के अनुसार प्रकृति का यह शाश्वत नियम है कि 'अति' के बिना 'इति' से साक्षात्कार सम्भव ही नहीं है। और 'इति' के बिना 'अथ' का दर्शन भी असम्भव है। जब पीड़ा की अति हो जाती है तो वहाँ से सुख आरम्भ हो जाता है। कवि ने आगे चल कर वासना के विभिन्न रूपों पर भी प्रकाश डाला है। इस वासना का विलास मोह है और दया का विकास मोक्ष है। इसलिए 'पापी से नहीं, पाप से ; पंकज से नहीं, पंक से घृणा करनी चाहिए'- यही इस महाकाव्य की जगमगाती जीवन दृष्टि है ।

संयम और अहिंसा के बिना मानव जीवन की कोई सार्थकता नहीं होती। यह अहिंसा निर्ग्रन्थ दशा में ही विकसित होती है। कवि के अनुसार :

"सत्-युग हो या कलियुग/बाहरी नहीं/भीतरी घटना है वह
सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !" (पृ. ८३)

कवि, माटी को माध्यम बनाकर 'सल्लेखना' की व्याख्या भी करता है। काय और कषाय को कृश करना ही सल्लेखना है । जब मनुष्य को ज्ञान की उपलब्धि हो जाती है तो उसका चित्त स्थिर हो जाता है और तन में चेतना का निरन्तर नर्तन होने लगता है। आगे चल कर शिल्पी के माध्यम से कवि ने जैन धर्म के महाभाव की व्याख्या भी की है :

"खम्मामि, खमंतु मे-/क्षमा करता हूँ सबको,/क्षमा चाहता हूँ सबसे,
सबसे सदा-सहज बस/मैत्री रहे मेरी !" (पृ. १०५)

कवि ने कण्टक और शिल्पी के वार्ताक्रम में मोह और मोक्ष की व्याख्या भी की है। वास्तव में यह सन्त के द्वारा प्रवक्त एक प्रकार की लक्षणा है । शिल्पी के अनुसार :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही/मोह का परिणाम है
और/सब को छोड़कर/अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।"
(पृ. १०९-११०)

जैन धर्म में मौन का विशेष महत्त्व है। कथा प्रसंगों के बीच शिल्पी और माटी दोनों उसे निहारते हैं। इस मौन की भी अपनी भाषा होती है। उसे जो सुन सकता है, वह मौन से बड़ा होता है । आगे चल कर कवि प्रकृति और पुरुष के सम्बन्धों की भी व्याख्या करता है और मानव मात्र को दया और अभय का उपदेश देता है :

"सदय बनो !/अदय पर दया करो/अभय बनो !
सभय पर किया करो अभय की/अमृत-मय वृष्टि
सदा-सदा सदाशय-दृष्टि/रे जिया, समष्टि जिया करो !" (पृ. १४९)

साधक कवि सृष्टि के वास्तविक सत्य की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट कराता है। इस सृष्टि में जीव का जन्म और मरण दोनों ही अटल हैं। यह आना यानी जनन-उत्पाद है और जाना यानी मरण-व्यय है। कवि के शब्दों में :

" 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्'/सन्तों से यह सूत्र मिला है
इसमें अनन्त की अस्तिमा/सिमट-सी गई है।
यह वह दर्पण है,/जिसमें/भूत, भावित और सम्भावित
सब कुछ झिलमिला रहा है।" (पृ. १८४)

साधक कवि ने इस महाकाव्य के चौथे खण्ड में नियम-संयम के महत्त्व का प्रतिपादन किया है और उसके बाद दर्शन शब्द की विशद व्याख्या की है। इस दर्शन का स्रोत मस्तक है तथा स्वस्तिक से अंकित हृदय से अध्यात्म का झरना झरता है :

"स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।/अनेक संकल्प-विकल्पों में
व्यस्त जीवन दर्शन का होता है।/...दर्शन का आयुध शब्द है—विचार,
अध्यात्म निरायुध होता है/सर्वथा स्तब्ध-निर्विचार!" (पृ. २८८-२८९)

अन्त में अतिथि साधु की अभिवन्दना, पाद-अभिषेक, पूजन और आहार दान की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण दिया गया है। अतिथि साधु अपने शिष्य सेठ की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करता है और नियति तथा पुरुषार्थ के सम्बन्धों की व्याख्या करता है :

" 'नि' यानी निज में ही/'यति' यानी यतन—स्थिरता है
अपने में लीन होना ही नियति है/निश्चय से यही यति है,/और
'पुरुष' यानी आत्मा परमात्मा है/'अर्थ' यानी प्राप्तव्य प्रयोजन है
आत्मा को छोड़कर/सब पदार्थों को विस्मृत करना ही
सही पुरुषार्थ है।" (पृ. ३४९)

वास्तव में 'मूकमाटी' महाकाव्य साधक सन्त की साधना की एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें जैन धर्म-दर्शन एवं साधना के अत्यन्त सूक्ष्म, गूढ़ एवं रहस्यमय तत्त्वों की पूर्ण व्याख्या हुई है।

साहित्य की दृष्टि से भी इस महाकाव्य की अनेक मौलिक उपलब्धियों को रेखांकित किया जा सकता है। कवि ने स्वयं 'साहित्य' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है :

"हित से जो युक्त-समन्वित होता है/वह सहित माना है/और
सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,/अर्थ यह हुआ कि
जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव-सम्पादन हो
सही साहित्य वही है।" (पृ. १११)

साहित्य के भाव पक्ष का जहाँ तक प्रश्न है इस कृति में कवि ने आद्यन्त अपनी कोमल भावनाओं एवं साधना-गत अनुभूतियों का युगपत् व्यापक चित्रण किया है। प्रकृति के सुरम्य, मादक, मोहक रूपों की अभिव्यंजना में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। इस अभिव्यंजना में सीमातीत शून्य में नीलिमा बिछी हुई है, प्राची के अधरों पर मन्द मधुरिम मुस्कान खेल रही है। कहीं सिन्दूरी धूल उठ रही है तो कहीं लज्जा के घूँघट में डूबती हुई कुमुदिनी है। अस्ताचल में जाते हुए सूर्य का वर्णन कवि इन शब्दों में करता है :

"अविलम्ब उदयाचल पर चढ़ कर भी/विलम्ब से अस्ताचल को छू पाते
दिनकर को/अपनी यात्रा पूर्ण करने में/अधिक समय लग रहा है।" (पृ. १७८)

जैसे-जैसे ऋतुएँ बदलती हैं प्रकृति का स्वरूप भी बदलने लगता है। ग्रीष्म की तपन आरम्भ होते ही लचकती लतिका की मृदुता, पक्व फलों की मधुता, मन्द पवन का झोंका, पल-पल पत्रों की करतल ध्वनियाँ सब कुछ खो जाती हैं। फिर तपन के बाद आकाश में बादल छाने लगते हैं :

"सागर से गागर भर-भर/अपार जल के निकेत हुई हैं
गजगामिनी, भ्रम-भामिनी/दुबली-पतली कटि वाली
गगन की गली में अबला-सी/तीन बदली निकल पड़ी हैं।" (पृ. १९९)

कवि ने इस महाकाव्य में प्राय: सभी रसों का समावेश किया है किन्तु उसका प्रिय रस शृंगार, शान्त और करुण है। शिल्पी के माध्यम से वह शृंगार को सम्बोधित करता है :

"हे शृंगार !/स्वीकार करो या न करो
यह तथ्य है कि,/हर प्राणी सुख का प्यासा है।" (पृ. १४१)

एक महान् साधक सन्त होने के कारण कवि करुण रस और करुणा का पूर्ण चित्रण एवं सम्यक् विश्लेषण करते हैं। किन्तु वे करुण रस में शान्त रस के अन्तर्भाव को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार करुण रस एक नदी की तरह है जो दाह को मिटाता है :

"करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती है झट -सी।
शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी।" (पृ.१५६-१५७)

काव्य की दृष्टि से इस कृति में अलंकारों की छटा तो देखते ही बनती है। प्राय: सभी अलंकारों का प्रयोग इस कृति में किया गया है। इसके अतिरिक्त स्थान-स्थान पर मुहावरों का भी सुष्ठु प्रयोग हुआ है।

कवि के लिए सबसे अधिक आकर्षण का केन्द्र शब्दों की साधना है। वह शब्दों का प्रचलित अर्थों में प्रयोग करते हुए भी उसकी पुनर्व्याख्या करता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से शब्दों के अन्तरंग अर्थों को भी व्यक्त किया गया है, यथा :

- *"जो/मह यानी मंगलमय माहौल/महोत्सव जीवन में लाती है*
  'महिला' कहलाती वह।"(पृ. २०२)
- *"जो अव यानी/'अवगम'—ज्ञानज्योति लाती है,*
  तिमिर-तामसता मिटाकर/जीवन को जागृत करती है
  अबला कहलाती है वह !" (पृ. २०३)

इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य में बीजाक्षरों, मन्त्र साधना, आयुर्वेद के प्रयोग एवं अंक विद्या के चमत्कारों की अनेक रूपता भी दिखाई पड़ती है जो साधक सन्त कवि के विपुल ज्ञान और उसकी बहुज्ञता का परिचायक है।

निष्कर्ष रूप में यह महाकाव्य मानवीय बुद्धि का एक ऐसा अद्भुत चमत्कार है जिसमें काव्य, साहित्य, अध्यात्म साधना के सभी रूप समाहित हो गए हैं। प्रज्ञा और काव्य प्रतिभा के अद्भुत संयोग से ही इस तरह की कालजयी कृति की रचना होती है।

❑

'मूकमाटी' : आध्यात्मिक चिन्तन का रस परिपाक

डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी

जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' और रांगेय राघव का 'मेधावी' महाकाव्य पढ़ने के बाद आज उसी चिन्तन स्तर के महान् कर्तृत्व को 'मूकमाटी' के रूप में देख रहा हूँ। 'मूकमाटी' पर समीक्षा लिखने बैठूँ तो पूरी किताब लिखी जा सकती है। रिसर्चस्कालर इस पर थीसिस कर सकते हैं, क्योंकि इसके प्रत्येक पृष्ठ पर मानव जीवन के रहस्य सूत्र सूक्ति के रूप में पिरोए हुए हैं। माटी बोलती है, लकड़ी बोलती है, कलश बोलता है, कुम्भकार बोलता है और बोलते-बोलते पाठक को वे भारत की उस चिरन्तन आध्यात्मिक परम्परा से जोड़ देते हैं, जो निरन्तर बदलती है और उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर होती जाती है। यही परिवर्तन की निरन्तरता है और यही वह तत्त्व है जिसे 'मूकमाटी' के महाकवि ने शाश्वत कहा है। सच बात तो यह है कि स्वयं मूकमाटी हजारों-हजारों वर्षों के भारत के आध्यात्मिक चिन्तन के महा बोधिवृक्ष का एक रस परिपाक (फल) है। योगशास्त्र, दर्शन शास्त्र, न्याय, व्याकरण, भाषाविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र का जो गहरा ज्ञान कवि को है, वह क़दम-क़दम पर पाठक से परिचय पूछता है और अपना भी परिचय बतलाता है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि मनुष्य का जीवन मूल प्रवृत्तियों (Stincts) से परिचालित होता है। वे मूल प्रवृत्तियों तक पहुँच सके हैं परन्तु 'मूकमाटी' उस चिन्तन परम्परा को आगे बढ़ाने वाला काव्य है, जो मानती है कि आत्मा शुभ और निर्दोष है, निर्लिप्त है तथा दोषों का कारण वे कषाय हैं। 'मूकमाटी' का चिन्तन मन का स्वामी बनने, इन्द्रियों पर प्रभुता स्थापित करने, वीर, महावीर तथा जिन बनने का मार्ग प्रदर्शित करता है ताकि यह धरती युद्धों से शून्य हो सके, इसके दु:खों का निवारण हो सके और सुख का साम्राज्य प्रतिष्ठित हो सके। इस काव्य को किसी की सम्मति या समीक्षा की क्या आवश्यकता ? यह तो खरा सोना है, स्वयं ही अपने खरेपन का प्रमाण है।

यह तो सन्तों की वाणी है, इसमें से जितना हम ले सकें, ग्रहण करें परन्तु कागज पर लिखने के लिए नहीं, आचरण की लिपि से जीवन पट पर उतारने के लिए है। चिन्तन का प्रवाह ही इस का छन्द है, चिन्तन प्रवाह में आने वाले जीवन के सत्य ही इसके अलंकार हैं और जीवन का सनातनत्व ही इसका रस है। इस काव्य को काव्यशास्त्र के प्रचलित मापदण्डों के आधार पर देखना चाहें तो देखें भले ही, परन्तु यह काव्य लीक से हटकर लिखा गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, परिवेश शास्त्रीय दृष्टि से, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से तथा जैन दर्शन की दृष्टि से इस पर समीक्षाएँ की जा सकती हैं और जैसे-जैसे समय व्यतीत होता जायगा इस काव्य पर आगे चलकर ऐसी समीक्षाएँ लिखी भी जाएँगी परन्तु फिलहाल तो मैं यही चाहता हूँ कि कोई शोधक विद्वान् अपनी शोध परियोजना के लिए 'मूकमाटी' को चुन ले तथा विभिन्न शास्त्रों के आधार पर इस के समीक्षात्मक अध्ययन को प्रस्तुत करे, सम्भव हो तो कवि के समग्र कर्तृत्व को भी लिया जा सकता है। ❑

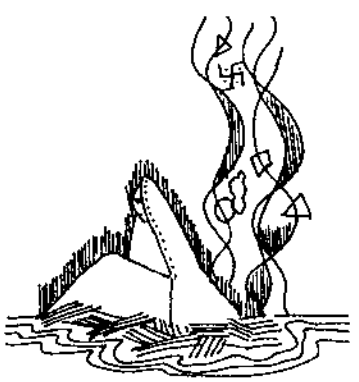

ईर्ष्या पर विजय आप करना
सब के वश की बात नहीं.
और... वह भी...
स्त्री-पर्याय में
अनहोनी-सी... घटना।

'मूकमाटी' : जीवन दर्शन की अनुभूति

डॉ. नरेश भट्ट

पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी दिगम्बर जैन समाज के अग्रणी विद्वान् आचार्य हैं। मनुष्य के मुख से ही मनुष्य में कितना दैवत्व है, यह मालूम होता है, यह हम आचार्यश्री की मुखमुद्रा से ही कह सकते हैं। आचार्य श्री विद्यासागर की हिन्दी, प्राकृत, संस्कृत और अँग्रेजी में बहुत रचनाएँ हैं परन्तु 'मूकमाटी' महाकाव्य में आचार्यश्री ने माटी का सहारा लेकर सब कुछ कह दिया है।

संस्कृत में महाकाव्य का लक्षण सुनिश्चित किया है लेकिन 'मूकमाटी' विशिष्ट प्रकार का महाकाव्य है। मिट्टी जैसी क्षुल्लक— क्षुद्र चीज़ को केन्द्र में रखकर आचार्यजी ने जीवन लक्ष्य स्पष्ट किया है। 'प्रस्तवन' में श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने बहुत अच्छा बताया है : "ये कुछ संकेत हैं 'मूकमाटी' की कथावस्तु के, काव्य की गरिमा-कथ्य के, आध्यात्मिक आयामों, दर्शन और चिन्तन के प्रेरणादायक स्फुरणों के।"

यहाँ जीवन दर्शन की अनुभूति होती है। यहाँ केवल आध्यात्मिकता भी नहीं है, अगर ऐसा हुआ होता तो यह महाकाव्य नहीं बन सकता था परन्तु यहाँ शब्दालंकार वा अर्थालंकार के साथ जीवन की भव्यता भी प्रगट हुई है। यह महाकाव्य चार खण्डों में प्रगट हुआ है। हम दृष्टि करेंगे तो यह प्रतीति होगी कि आचार्यजी को कितने विषय का ज्ञान है। यहाँ ऋतु वर्णन है, आध्यात्मिकता है, जीवन क्षणिक है फिर भी उसे सारपूर्ण हम ही बना सकते हैं इसका दर्शन है, योगदर्शन भी है, शास्त्रीय संगीत तथा नृत्य कला का भी आचार्यश्री को परिचय है, यह हम 'मूकमाटी' पढ़कर देख सकते हैं।

साहित्य में दो धाराएँ होती हैं--बोधलक्ष्यी साहित्य और ललित वाङ्मय। अँग्रेज विवेचक डी क्विन्सी ने लिखा है : "The function of the first is to teach and the function of the second is to move." लेकिन यहाँ तो आचार्यश्री ने बोध के साथ ललित भावना दोनों दिए हैं। ड्रॉयडन ने बहुत अच्छी बात बताई है कि कलाकार प्रकृति का अनुकरण नहीं करता किन्तु प्रकृति में से कुछ उठाकर अपनी सर्जनात्मकता से कृति में ताकत भरता है। ड्रॉयडन की बात हम यहाँ सच देख सकते हैं, क्योंकि आचार्यश्री ने माटी में ही यह कर बताया है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने यह ठीक कहा भी है : "माटी जैसी अकिंचन, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाने की कल्पना ही नितान्त अनोखी है।" यहाँ केवल कविता नहीं है परन्तु आत्मा की आवाज़ है। हम देख सकते हैं :

"हाँ ! अब शिल्पी ने/कार्य की शुरूआत में/ओंकार को नमन किया
और उसने/पहले से ही/अहंकार का वमन किया है।" (पृ. २८)

और देख सकते हैं :

"अरे कंकरो !/...भले ही /चूरण बनते, रेतिल;
माटी नहीं बनते तुम !" (पृ. ४९)

यहाँ हम जीवन दर्शन कर सकते हैं।

सेम्युअल बेकेट ने कहा कि आज कल्पना की मृत्यु हो रही है परन्तु आचार्यश्री ने यहाँ जो कल्पना दी है, वह तो देखें :

"यद्यपि इनका नाम पयोधर भी है,/तथापि
विष ही वर्षति हैं वर्षाऋतु में ये।/अन्यथा,/भ्रमर-सम काले क्यों हैं ?
यह बात निराली है कि/वसुधा का समागम होते ही
'विष' सुधा बन जाता है/और यह भी एक शंका होती है, कि
वर्षा-ऋतु के अनन्तर शरद्-ऋतु में/हीरक-सम शुभ्र क्यों होते···?"(पृ. २३०)

जीवन का विष भी कब अमृत बन जाता है, यह हम इससे देख सकते हैं। आचार्यश्री संस्कृत के पण्डित हैं फिर भी 'गर यक़ीन' (पृष्ठ १५५) जैसे शब्दों का प्रयोग कितनी कुशलता से किया है, यह वहाँ पर देखा जा सकता है। ये शब्द संस्कृत भाषा के नहीं हैं फिर भी उनका उपयोग सुचारु भाव से किया है। वर्ड्सवर्थ ने बताया है : "All good poetry is the spontaneous over flow of powerful feeling."- का दर्शन यहाँ होता है न ?

आचार्य श्री विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' द्वारा समग्र जीवन का दर्शन कराया है। जिस कृति में जीवन दर्शन होता है उस कृति में महाकाव्य की ताक़त होती है। मेथ्यु आर्नल्ड ने बताया है कि सृजन में केवल प्रेरणा आवश्यक नहीं है परन्तु विद्वत्ता, अभ्यास तथा कल्पना की भी ज़रूरत होती है, इस दृष्टि से 'मूकमाटी' पूर्णकक्षा का महाकाव्य है।

❑

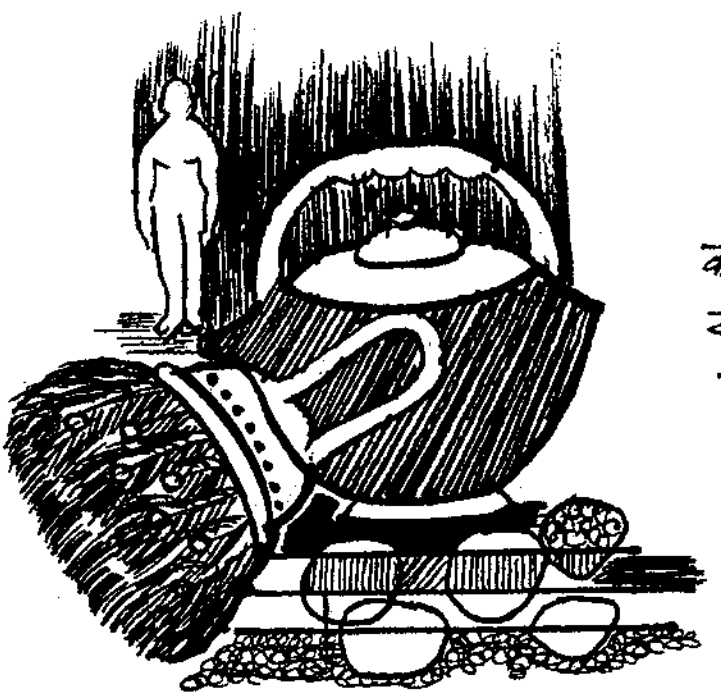

पृ. ३४३
कायोत्सर्ग का विसर्जन...
ग्रंथमोपकरण दिया
मयूर-पंखों का, जो
मृदुल कोमल लघु झुंड है।

'मूकमाटी' की मुखर चेतना

केशव रावत

निमित्त-नैमित्तिक संयोग से सृष्टि की रचना में आश्वस्त जैन दर्शन, वह चिन्तन धारा है जो ईश्वर के अस्तित्व में आस्था रखती है, किन्तु वैदिक दर्शन की मान्यता के अनुसार वह ईश्वर को जगत् - गति का कर्त्ता और संचालक नहीं मानती है। ईश्वर सृष्टि का जनक, पालक और संहारक है – इस वैदिक मान्यता से जैन दर्शन सहमत नहीं है। इससे उसे नास्तिक दर्शन कहा जाता है। आरम्भ में ज्ञानदाता के कर-कमलों में अपनी इस कृति को सन्त ने परोक्ष रूप से समर्पण किया है।

आगे आत्मकथ्य के तौर पर 'मानस-तरंग' नाम के छोटा-से किन्तु गूढ़ और सारगर्भित वक्तव्य के बाद 'मूकमाटी' का कथानक आरम्भ होता है।

'मूकमाटी' : महाकाव्य की कसौटी पर

महाकाव्य सर्गबद्ध हो और कम से कम आठ सर्गों वाला हो। सर्ग न तो छोटे हों और न अत्यन्त बड़े। प्रत्येक सर्ग का छन्द अलग हो जो अन्त में बदले। एक सर्ग में विविध छन्द भी हो सकते हैं। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगे आने वाले सर्ग की कथा सूचना हो। शान्त, वीर, शृंगार में से किसी एक रस की प्रधानता हो। अन्य रस सहायक हों। कथावस्तु नाट्य सन्धियों-सी गठित हो। कथानक ऐतिहासिक अथवा किसी सज्जन से सम्बद्ध हो। चतुर्वर्ग यानी चारों पुरुषार्थ– अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति महाकाव्य का उद्देश्य होना चाहिए। आरम्भ में मंगलाचरण, सज्जन प्रशंसा, खल वन्दना आदि आवश्यक रूप से होना चाहिए। उचित अवसरों पर निम्न वर्णनों का समावेश हो, जैसे–सूर्य, चन्द्र, सन्ध्या, रजनी, दिन, अन्धकार, प्रभात, मध्याह्न, मृगया, नदी, पर्वत, वन, सागर, ऋतु, संयोग, विप्रलम्भ, स्वर्ग, यज्ञ, नगर, युद्ध, विवाह, कुमार, जन्म आदि। महाकाव्य का नामकरण कवि, नायक, अन्य पात्रों या कथावस्तु के नाम पर होना चाहिए। सर्गों का नामकरण वर्ण्य विषय के आधार पर होना चाहिए। आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' को अगर इन परम्परागत लक्षणों के आधार पर परखा जाय तो महाकाव्य कहने में थोड़ा संकोच हो सकता है। वैसे इन परम्परागत मान्यताओं का अनेक पूर्ववर्ती महाकाव्यों में निर्वाह नहीं हो सका। 'मूकमाटी' की सर्ग संख्या आठ सर्गों से कम है। सभी सर्ग एक ही छन्द में वर्णित हैं और छन्द विधान नई कविता में है। कथानक की सूचना सर्गों के अन्त में प्रतिभासित नहीं होती है। नायक परम्परागत लक्षणों पर धीरोदात्त नहीं है। पुरुषार्थों में अर्थ और काम का यथोचित रूप मुखरित नहीं होता है। मंगलाचरण का अभाव है। 'मूकमाटी' का कथानक नितान्त ऐतिहासिक नहीं है। हिन्दी काव्य में महाकाव्य के इन परम्परागत लक्षणों के आधार पर अनेक काव्य इस परिधि के बाहर ठहर जाते हैं। किन्तु उपरोक्त परम्परागत लक्षणों पर भी परवर्ती आचार्यों में मतभेद हुआ और कुछ अनिवार्य लक्षण निर्धारित किए गए :

१. नायक धीरोदात्त, २. कथानक ऐतिहासिक, ३. रसों की उपस्थिति और ४. पुरुषार्थ की प्राप्ति।

निम्नलिखित लक्षणों पर अब भी कोई ठोस निर्णय नहीं हो सका है। इन पर अभी भी विवाद है :

१. सर्गबद्धता : कुछ आचार्य सर्ग संख्या अधिक और कुछ कम मानते हैं। सभी आचार्य सर्ग संख्या पर एक मत नहीं हैं।

२. नामकरण : महाकाव्य के नामकरण पर भी मतभेद है।

३. आचार्य विश्वनाथ के अनुसार वर्ण्य विषय भी विवादग्रस्त है।

कुछ आचार्यों ने महाकाव्य की प्रवृत्तियों पर जोर दिया और परिणामस्वरूप महाकाव्य की मुख्य प्रवृत्ति 'रस' मानी जाने लगी। कुछ विद्वानों ने आस्तिकता को महाकाव्य की प्रवृत्ति माना। तीसरी महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति महाकाव्य में

आनन्द की मानी गई। इन प्रतिबन्धों के परिप्रेक्ष्य में हमें 'मूकमाटी' के सम्बन्ध में विचार करना है।

'मूकमाटी' मूलत: अध्यात्म और दर्शन का काव्य है। इस ग्रन्थ में अधिकांश पात्र अमूर्त और जड़ हैं। दो ही पात्र मूर्त और जीवन्त हैं। माँ धरती, माटी, कुम्भ और अन्य पात्र कथानक में प्रतीक हैं।

'मूकमाटी' का नायक : शिल्पी अर्थात् कुम्भ का रचनाकार कथानक का नायक है। शिल्पी का चरित्र उसके शिल्प से ही स्पष्ट हो जाता है। आज के सन्दर्भ में शिल्पी जाति का अभिजात्य होने पर विचार करना समीचीन नहीं। आचार्य विद्यासागर की यह मान्यता है कि कलाकार, शिल्पी, साधु, अभिनेता, गुणवान्, विद्वान्, कवि, चितेरे की भी भला कोई जाति होती है ? वह तो गुणवान् होता है। अपनी कला, गुण, सृजनशीलता या रचनाधर्मिता के कारण शिल्पी का चरित्र चित्रण किसी धीरोदात्त से कम नहीं है। अत: 'मूकमाटी' का नायक भले ही धीरोदात्त नहीं है, किन्तु परम्परागत ढंग से तो धीरोदात्त कोटि का अवश्य है। ग्रन्थ के दार्शनिक रचनाविधान से उसमें से सभी मानवीय गुण समय-समय पर दिखाई देते रहते हैं। मोक्षदायक मंगल कलश की रचना, ऐसा मंगल कलश जो आतंकवाद को चारों खाने चित्त कर पछाड़ देता है, माटी में गुणवत्ता लाकर उसे जीवन्त कर देती है, यानी जड़ता में चेतना का समावेशी है 'मूकमाटी' का नायक। इसे कविवर विद्यासागर ने स्वयं 'भाग्यवान्' और 'भाग्य विधाता' कहा है :

> *'' 'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—/यहाँ पर जो*
> *भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।'' (पृ. २८)*

ओंकार को नमन करने वाला अहंकार से दूर शिल्पी युगद्रष्टा है। वह प्राणियों में वर्ण मैत्री का समर्थक है। वर्ण संकरता उसे रुचती नहीं है तथा वह किसी से वैर भाव भी नहीं रखता है। दोषों के प्रति लोगों को चैतन्य करना चाहता है। अत: 'मूकमाटी' का नायक धीरोदात्त से किसी भी प्रकार कम नहीं है। शिल्पी नरश्रेष्ठ सज्जन भी है।

कथानक ऐतिहासिक : शुभाशुभ कर्मों का पूर्वाभास मनुष्य को होता है, ऐसी अनेक कथाएँ इतिहास में हैं। महावीर स्वामी (वर्द्धमान) के जन्म का पूर्वाभास महारानी त्रिशला को स्वप्न में ही हुआ था। सोलह स्वप्नों का वृत्तान्त सुनते ही ज्ञानी पिता को आभास हो गया था कि मेरी रानी की कोख में किसी यशस्वी पुत्र का जन्म/आगमन हो रहा है। महारानी त्रिशला को सोलह स्वप्नों में एक मंगल कलश का स्वप्न भी था।

'मूकमाटी' के कथानक में भी जो कथा है, वह स्वप्न पर आधारित है। नगर के श्रद्धालु सेठ, जिसकी परमात्मा के प्रति आसक्ति है, वह अपने गुरु को आहार दान के लिए लालायित है। इसी बीच उसे स्वप्न आता है कि माटी के घट में पवित्र जल से गुरु को आहार दान रूप जलदान करो। शिल्पी द्वारा तैयार किया गया माटी का घट मंगल कलश के रूप में सपरिवार सेठ के लिए सामाजिक आतताइयों से मोक्षदाता सिद्ध होता है, तमाम भव बाधाओं को हरता हुआ। अत: 'मूकमाटी' का कथानक ऐतिहासिक है।

कलश का स्वच्छ जल आत्म शुद्धि का प्रतीक है। इसी कलश के जल से गुरु को जलदान और जलदान की परिणति मोक्षमूलक होने की एक और कथा भी ग्रन्थों में पाई जाती है। 'मूकमाटी' का कथानक ऐहलौकिकता से पारलौकिकता की ओर ले जाने की कहानी दुहराता है। षड्द्रव्यों के सार तत्त्व में झाँक कर देखा जाए तो लौकिक और पारलौकिकता का सन्देश देने वाले अनेक कथानक हमारे ग्रन्थों में समाहित हैं। 'मूकमाटी' का कथानक पूर्णतया परमात्मा में आस्था रखने वाले तथा गुरु के प्रति श्रद्धावान् व अत्यन्त सज्जन एक भक्त का है।

मूल कथा के साथ-साथ जो कथाएँ चलती हैं, उन्हें प्रासंगिक कथाएँ कहा जा सकता है। 'मूकमाटी' में श्रद्धालु सेठ की कथा और मुक्ता वर्षा के उपरान्त राज मण्डली द्वारा बलात् मोती बटोरने की कथाएँ भी हैं। प्रासंगिक कथा के दो भेद होते हैं—पताका और प्रकरी।

पताका- जो मूल कथा के साथ चलती है। श्रद्धालु सेठ की कथा पताका है।
प्रकरी- मोती बटोरने की कथा।

मूल कथा के तीन प्रकार माने जाते हैं :

(१) *प्रख्यात* : इतिहास, पुराण या परम्परागत प्रसिद्ध कथा। 'मूकमाटी' की कथा ऐतिहासिक नहीं है।

(२) *उत्पाद्य* : नाटककार की कल्पना से गढ़ी गई कथा। 'मूकमाटी' में मोती बटोरने की कथा कवि की कल्पना की उपज है।

(३) *मिश्र* : जिसमें प्रख्यात कथा और कल्पना द्वारा गढ़ी कथा का मिश्रण हो। महाकाव्य 'मूकमाटी' के कथानक में ऐसी कोई प्रासंगिक कथा नहीं है।

'मूकमाटी' में रस परिपाक कितना सार्थक और प्रभावपूर्ण है, इस बिन्दु पर विचार करना इस अंश का प्रतिपाद्य है। वीतरागी सन्त, जो दुनियाँ के राग-रंग से परे हैं किन्तु रस की सच्ची अनुभूति से दूर नहीं, 'मूकमाटी' में काव्य की भाषा में वे रसों को परिभाषित करते हुए उन्हें पाठकों के सामने साक्षात् खड़ा करते जाते हैं। फिर भी अवसरानुकूल वे रस की उपस्थिति छन्दों में व्यक्त करते हैं तो शृंगार (भक्ति/वात्सल्य या संयोग/विप्रलम्भ रूप दोनों पक्ष), वीर एवं शान्त रसों के परिपाक में भले कैसे चूक सकते हैं।

शृंगार रस : शृंगार रस काम, रति, वासना के स्थायी भाव से जन्मता है। कवि के ही शब्दों में :

> *"तन मिलता है तन-धारी को/सरूप या कुरूप,*
> *सुरूप वाला रूप में और निखार/कुरूप वाला रूप में सुधार*
> *लाने का प्रयास करता है/आभरण-आभूषणों शृंगारों से।" (पृ. १३९)*

आगे रस विवेचन देखिए :

> *"रस-रसायन की यह/ललक और चखन/पर-परायन की यह*
> *परख और लखन/कब से चल रही है/यह उपासना वासना की ?" (पृ. १३९)*

शृंगार की एक और प्रस्तुति :

> *"कितनी तपन है यह !/बाहर और भीतर/ज्वालामुखी हवायें ये !*
> *जल-सी गई मेरी/काया चाहती है/स्पर्श में बदलाहट,*
> *घाम नहीं अब,/···घाम मिले !" (पृ. १४०)*

जहाँ तक रस परिपाक की बात है वह बराबर होता है, किन्तु दूसरे ही क्षण जब पाठक आगे बढ़ता है तो कवि की ओर से एक नई उद्‌बोधना मिलती है और शृंगार शरीरी न होकर मनस्वी होकर रह जाता है अर्थात् संयोग से विप्रलम्भ और फिर चिरन्तन वियोग की दशा :

> *"जिन आँखों में/काजल-काली/करुणाई वह/छलक आई है,*
> *...जिन-अधरों में/प्रांजल लाली/अरुणाई वह/झलक आई है,*
> *...जिन गालों में/मांसल वाली/तरुणाई वह/ढुलक आई है,*
> *कुछ बता रही है—/समुचित बल का/बलिदान करो···!" (पृ. १२८)*

शृंगार मूर्तिमान् होकर सामने उपस्थित होता है और पलक मारते ही दूसरे क्षण में अन्तर्धान हो जाती-सी जादूगरी इस शृंगार वर्णन में है। कविता के इस आयन में रस है, रसायन भी है।

वात्सल्य : इस को शृंगार का ही भेद माना है। इसमें वात्सल्य का एक बड़ा ही प्यारा उदाहरण है जो कदाचित् ही अन्यत्र कहीं ढूँढ़ने से मिले :

> *"माँ की गोद में बालक हो/माँ उसे दूध पिला रही हो*
> *बालक दूध पीता हुआ/ऊपर माँ की ओर निहारता अवश्य,*
> *अधरों पर, नयनों में/और/कपोल-युगल पर/क्रिया-प्रतिक्रिया की परिस्थिति*
> *...बालक का मुख छिपा लेती है।" (पृ. १५८)*

भक्ति रस : शृंगार का दूसरा भेद, जिसमें धरती की वन्दना, अर्चना की गई है :

- *"भूत की माँ भू है,/भविष्य की माँ भी भू।*
  भाव की माँ भू है,/प्रभाव की माँ भी भू।
  भावना की माँ भू है,/सम्भावना की माँ भी भू।
  ...यत्र-तत्र-सर्वत्र···भू /'भू सत्तायां' कहा है ना।" (पृ. ३९९)
- *"जय, जय, गुरुदेव की !/जय, जय, इस घड़ी की !*
  ...'शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
  भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !'
  ...पूजन-कार्य पूर्ण हुआ/पंचांग प्रणामपूर्वक !" (पृ. ३२५)

शिल्पी की माटी से प्रीति है तो कहीं कुम्भ से। कहीं माटी का वात्सल्य शिल्पी से, माटी से या कुम्भ से भी है। रसों के अनगिन उद्धरण भरे पड़े हैं इस दर्शन ग्रन्थ 'मूकमाटी' में।

इसी प्रकार वीर रस, रौद्र रस, बीभत्स रस के सविस्तार उदाहरण 'मूकमाटी' में विद्यमान हैं।

अलंकार योजना : अलंकारवादियों की मान्यता है काव्य की शोभा अलंकार होता है। यह चमत्कार दो प्रकार से होता है – कहीं शब्द के माध्यम से तो कहीं अर्थ के द्वारा और कहीं दोनों के द्वारा। कहने का अर्थ है शब्द से चमत्कार हो तो शब्दालंकार, अर्थ से हो तो अर्थालंकार और दोनों से हो तो उभयालंकार।

शब्दों का आलोड़न, विलोड़न, उसका तोड़-मरोड़ और फिर नया गठजोड़ कर, खिलवाड़ और फिर अर्थ की बाढ़ खड़ी कर देना पहली बार आचार्यश्री की लेखनी में पढ़ा है। धरणी, तीरथ, मदद, धरती, कम्बल, दया, नदी, नाली, मरहम, चरण, राख, हीरा, लाभ, दोगला, नारी जैसे शब्दों में अक्षरों की हेराफेरी कर नए सार्थक अर्थ को गढ़ लेना आचार्यश्री का चमत्कार है। तभी तो 'विषमता की नागिन,' 'बोध की चिड़िया,' 'क्रोध की गुड़िया' आदि के रूपक बड़े प्रभाव पूर्ण बन पड़े हैं।

कथासन्धि : कथानक में अवस्थाओं और प्रासंगिक कथाओं की सन्धि का स्थल 'कथासन्धि' कहलाता है। वहाँ दो कथाएँ आपस में आकर मिलती हैं। कथा बहुलता के अभाव में नाट्य सन्धियों का समुचित समन्वय 'मूकमाटी' में किया गया है, जिसके स्थल प्रत्येक सर्ग में साफ़-साफ़ दृष्टिगोचर होते जाते हैं।

पुरुषार्थ की उपलब्धि : महाकाव्य का एक लक्षण यह भी है कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष– इन चार में से कम से कम किसी एक वर्ग की प्राप्ति अवश्य ही होना चाहिए। आचार्यश्री की 'मूकमाटी' में धर्म और मोक्ष रूप दो पुरुषार्थों

की उपलब्धि होती है।

सर्गबद्धता : सर्गों की संख्या केवल चार है। छन्द की एकरूपता है। सर्गों की संख्या के बन्धन में शिथिलता माने जाने पर यह कृति महाकाव्य की कोटि में आ ही जाती है। अन्तिम खण्ड का फलक यदि गम्भीरता पूर्वक देखा जाय तो अपने आप में वह एक खण्ड काव्य है। लगभग ५०० पृष्ठों के इस ग्रन्थ को परिमाण की दृष्टि से देखा जाय तो महाकाव्य कहना अनुचित प्रतीत नहीं होता है।

'मूकमाटी' के नामकरण पर कोई चर्चा करने की आवश्यकता इसलिए नहीं है कि कथानक में माटी की महत्ता प्रतिपादित की गई है। और माटी जड़ है अत: 'मूकमाटी' नामकरण सर्वथा उचित है।

'मूकमाटी' में जीवन दर्शन

आचार्यश्री विद्यासागरजी के व्यक्तित्व के दो रूप हैं-- एक तो वे वीतरागी सन्त हैं और दूसरे अत्यन्त संवेदनशील हृदय एवं सूक्ष्म अन्वेषी। काव्य सृजन उनके संवेदनशील होने की परिणति है।

व्यक्ति, समाज, देश, जाति, धर्म, दर्शन, साहित्य, विज्ञान, कला और संस्कृति आदि के निमित्त से मनुष्य का सृजन यदि सोद्देश्य हो, तो सृजन सार्थक होता है और सम्पूर्ण मानव जाति उस कृतित्व से उपकृत हो जाती है तथा कृतिकार का जीवन भी सार्थक हो जाता है।

आचार्यश्री की 'मूकमाटी' एक ऐसा ही सोद्देश्य अक्षयदीप है। चार पुरुषार्थ-- अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति में ही जीवन के उद्देश्य निर्धारित किए गए हैं। मनुष्य को जन्म से मृत्यु पर्यन्त जीवन की इस यात्रा में जिन पड़ावों से गुज़रना पड़ता है, वे अर्थ, धर्म, काम और फिर मोक्ष के ही तो चार पड़ाव हैं। जीविकोपार्जन के लिए अर्थ की प्राप्ति, अर्थ से धर्म, धर्म से काम और धर्मसाधक काम से ही मोक्ष की प्राप्ति का उल्लेख हमारे ग्रन्थों में है। सामाजिक जनों के लिए अर्थ उपलब्धि अनिवार्य है। इसके अभाव में उसे परावलम्बी, पराश्रित रहना होगा। परिणामस्वरूप वह गृहस्थ धर्म का भी निर्वाह नहीं कर पाएगा। अर्थ सांसारिकता के निर्वाह के लिए साधन तो होता ही है, वह धर्म के संवाहन में भी बड़ा सहयोगी होता है।

वैदिक वाङ्मय में गार्हस्थ धर्म में पितृ ऋण से मुक्ति के लिए काम की अनिवार्यता पर बल दिया गया है। काया और मन के समाज सम्मत आचार को वैवाहिक जीवन की संज्ञा भी दी गई है। किन्तु काम का विस्तृत अर्थ सृजन से ही माना गया है। काम की यह वृत्ति अत्यन्त ही परिष्कृत और उद्दाम होती है, यदि वह धर्म साधक है तो। धर्म साधक काम भाव की प्राप्ति के पश्चात् ही मनुष्य मोक्ष की ओर प्रवृत्त हो पाता है। पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष प्राप्त करने वाला मनुष्य फिर साधारण मनुष्य नहीं रह जाता है। वह परम आत्मा हो जाता है। 'मूकमाटी' में इन चारों पुरुषार्थों को पाने की प्रेरणा है किन्तु आनुपातिक दृष्टि से धर्म और मोक्ष की बात प्रधान है।

आचार्यश्री का अर्थ परमार्थ है, और है समाज के लोगों को सद् व्यवहार पर चलने की प्रेरणा। धर्म का निर्वाह सामाजिकों के जीवन की चरम गति है। काव्य एवं सृजन, दर्शन, चिन्तन, मनन ही उनका धर्म साधक और काम का परिष्कार है। मनुष्य की ऐसी भाव दशा में निरन्तर स्थिति रहने से, मोक्ष-लाभ से भला उसे कौन रोक सकता है ? सन्त-शिरोमणि की काव्य साधना, साहित्यिक सृजन, आध्यात्मिक चिन्तन ही उनका ऐसा पुरुषार्थ है, जिसमें मोक्ष की दिशा है, दशा है, धर्म है और दर्शन भी है।

'मूकमाटी' का दूसरा पक्ष आनन्दवादी भावभूमि पर आधारित है। धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिए रची जाने वाली इस काव्यकृति में लीन होकर पाठक को ऐसी अवस्था में ले जाने की क्षमता है जो विरल और असाधारण है।

लौकिकता से पारलौकिकता की ओर उन्मुख 'मूकमाटी' के सारे पात्र लौकिक हैं। कुछ चेतन और कुछ

अचेतन। शिल्पी सृजनहार है। श्रद्धालु सेठ ईश आराधक, उपासक है। राजा और राज मण्डली धरती के जीवन्त और साक्षात् पात्र हैं। माटी, कलश, धरती, स्वर्ण एवं रजत पात्र आदि जड़ होकर भी वे सभी इसी जगत् के पात्र हैं। कुछ मौन तो कुछ मुखर होकर अपनी-अपनी भूमिका का निर्वाह करते हैं। आचार्य श्री विद्यासागर की वाणी से कथानक का सारा ताना-बाना मूर्त और अमूर्त प्रतीकों के समानान्तर चलता-चलता अन्ततः पारलौकिक हो जाता है। कथोपकथन, संवाद पात्रों के कार्य व्यापारों पर आधारित रहकर भी सम्प्रेषणीय और मर्मभेदी हैं, जो धीरे-धीरे गम्भीर और अर्थयुक्त होकर पारलौकिक चिन्तन के क्षितिज की ओर ले जाते हैं।

राष्ट्रीय चेतना : सजातीय, समवर्गीय और समान कुल के लोगों की कषाय वृत्ति—लोभ, मोह, क्रोध आदि के कारण मान-अपमान, ऊँच-नीच और छोटे-बड़े की भावना एक-दूसरे को आपस में अलग कर देती है। मनुष्य से घर, घर से परिवार, परिवार से मुहल्ला, फिर अड़ोस-पड़ोस, आस-पास, गाँव और फिर समूचा समाज विकारयुक्त होता चला जाता है। कालान्तर में यही भावना जब सारे देश में फैलती है तो राष्ट्रीय स्तर पर एक सर्वव्यापी अलगाव घर कर जाता है। धीरे-धीरे समाज में मानवीय जीवन मूल्यों की कमी होती है, नैतिक मूल्य चकनाचूर होकर धराशायी हो जाते हैं और राष्ट्रीयता चरमराने लगती है।

आज के सन्दर्भ में आतंकवाद हमारे देश में इसी प्रकार से उत्पन्न एक राष्ट्रीय समस्या है। 'मूकमाटी' के कथानक में स्वर्ण कलश और मंगल घट का परस्पर वैर है। दो समान सजातीय कुल परस्पर वैर के कारण किन-किन परिस्थितियों में विपरीत हो जाते हैं, इसका सटीक, सतर्क और दो टूक उत्तर 'मूकमाटी' के कथानक से मिलता है। 'मूकमाटी' के आतंकवाद की परिस्थितियों और हमारे देश में जन्मे आतंकवाद की परिस्थितियों में कोई अन्तर नहीं है।

राजनीति से वीतरागी आचार्य विद्यासागर को क्या सरोकार ! किन्तु राष्ट्रीयता के लिए चिन्तित रहने वाले आचार्य आदरणीय हैं समूचे देश की दृष्टि में। राष्ट्रीयता की इस भावना में वे जाति, धर्म, सम्प्रदाय के बन्धनों से दूर हटकर मानवता के लिए समर्पित हैं। 'मूकमाटी' में उनकी आत्मा में राष्ट्रीय हित का भाव मुखर हो जाता है। हमारे-आपके बीच भी एक आतंकवाद आखिर पनपता कैसे है, इसे देखें :

- *"अपने को उपहास का पात्र,/मूल्य-हीन, उपेक्षित देख*
  बदले के भाव-भरा/भीतर से जलता-घुटता स्वर्ण-कलश !
  ...यह बात निश्चित है कि/मान को टीस पहुँचने से ही,
  आतंकवाद का अवतार होता है।/अति-पोषण या अतिशोषण का भी
  यही परिणाम होता है।" (पृ. ४१७-४१८)
- *"आज आयेगा आतंकवाद का दल,/आपत्ति की आँधी ले आधी रात में।" (पृ.४१९)*
- *"अड़ोस-पड़ोस की निरपराध जनता/इस चक्रवात के चक्कर में आकर,*
  कहीं फँस न जाय।" (पृ. ४२२)
- *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती*
  धरती यह।" (पृ. ४४१)

आचार्यश्री आतंकवाद को केवल पंजाब में ही सीमित नहीं मानते हैं। वह तो जहाँ मनुष्य हैं, वहाँ कहीं भी उभर कर आ सकता है। उनकी मान्यता है कि आतंकवाद समाज में, हम-आप में सर्वव्यापी है। घर-परिवार में, मुहल्ला-पड़ोस में, आस-पास, गाँव, नगर, शहर, महानगर, द्वीप, महाद्वीप में हर तरफ बढ़ते राग-द्वेष, छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष और कलुषित चित्तवृत्ति मनुष्य को कहीं का नहीं रहने देती है।

शुचिता को धारण कर स्वयं साधारण होकर इन वृत्तियों को विरेचित कर साधारणीकरण की यही चिन्ता, दशा मनुष्य को पारलौकिता की ओर ले जा सकती है। माटी का मंगल कलश शुचिता का प्रतीक है। शुचिता को धारण करते ही मनुष्यों में असाधारण विपत्तियों का सामना करने की क्षमता आ जाती है। अन्ततः एक न एक दिन आखिर आतंकवाद घुटने टेकता ही है, जो मनुष्य की दृढ़ इच्छाशक्ति और संकल्प निष्ठा पर अवश्य निर्भर करता है, तब सारे विरोधी भी हाथ मलते रह जाते हैं एक न एक दिन।

लोक चेतनाएँ : आतंकवादी दुष्प्रवृत्तियों के जनक हमारे समाज में ही होते हैं। उनके पोषकों की कमी नहीं है। ऐसे ही चरित्रों के लिए आचार्यश्री प्रजापालक का उपालम्भ देकर सम्बोधित करते हैं :

> *"पदवाले ही पदोपलब्धि हेतु/पर को पद-दलित करते हैं,*
> *पाप-पाखण्ड करते हैं।/प्रभु से प्रार्थना है कि/अपद ही बने रहें हम !*
> *जितने भी पद हैं/वह विपदाओं के आस्पद हैं।" (पृ. ४३४)*

'मूकमाटी' के कथानक में बड़े पदवालों के प्रतीक हैं हाथी, और बिना पदवाले होकर भी शक्तिशाली हैं साँप। पदवाले और बिना पदवाले दोनों ही प्रभावशाली हैं दमन और शमन में। पद और चरण जैसे शब्दों की व्याख्या ऐसे लोगों पर बड़ी सटीक और युक्तियुक्त बैठती है। वर्ण से शब्द, फिर शब्द की भी अभिधार्थ शक्ति का विश्लेषण एवं स्वतः लक्ष्यार्थ को और प्रतिपादित करना आचार्यश्री की अपनी विशेषता है। संयम की शक्ति के सम्बन्ध में एक और उद्धरण :

> *"नियम-संयम के सम्मुख/असंयम ही नहीं, यम भी/अपने घुटने टेक देता है,*
> *हार स्वीकारना होती है/नभश्चरों सुरासुरों को !" (पृ. २६९)*

लकड़ी की छड़ी के माध्यम से एक और करारी चोट हमारे प्रजातन्त्र की दण्ड प्रक्रिया पर देखिए :

> *"कभी-कभी हम बनाई जातीं/कड़ी से और कड़ी छड़ी*
> *अपराधियों की पिटाई के लिए।/प्रायः अपराधी-जन बच जाते*
> *निरपराध ही पिट जाते,/और उन्हें/पीटते-पीटते टूटतीं हम।*
> *इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?/यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है /या*
> *मनमाना 'तन्त्र' है !" (पृ. २७१)*

अधर में लटका देने वाली न्यायप्रक्रिया के प्रति संवेदनशील कवि की व्यथा देखें :

> *" 'आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं*
> *न्याय अन्याय-सा लगता ही है।'/और यही हुआ*
> *इस युग में इस के साथ।" (पृ.२७२)*

शक्ति का प्रयोग रक्षा के निमित्त किए जाने के सर्वथा औचित्य पर आचार्यश्री के उद्‌गार बड़े ही प्रेरक हैं :

> *"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही*
> *बलवानों का बल सार्थक होता है।/...नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय*
> *उसके हाथ में पीड़ा हो सकती है,/उसमें उठानेवाले का दोष नहीं,*
> *उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है/हाँ, हाँ !*
> *उस पीड़ा में निमित्त पड़ता है उठानेवाला।" (पृ. २७२-२७३)*

युवाशक्ति की दिशाहीनता पर एक दिशाबोध का अंश उसकी चेतना को सजग करता है :

> *"युवा-युवतियों के हाथों में भी/इस्पात के ही कड़े मिलते हैं।*
> *क्या यही विज्ञान है?/क्या यही विकास है?/बस/सोना सो गया अब*
> *लोहा से लोहा लो···हा !" (पृ. ४१३)*

समाजवाद के लिए असंग्रह की अनिवार्यता पर कवि की टिप्पणी और सीताहरण की विवेचना लोक चेतना के सन्दर्भ में देखें :

- *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो !/और/लोभ के वशीभूत हो*
  अन्धाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो।" (पृ. ४६७)
- *"रावण ने सीता का हरण किया था/तब सीता ने कहा था :*
  यदि मैं/इतनी रूपवती नहीं होती/रावण का मन कलुषित नहीं होता
  और इस/रूप-लावण्य के लाभ में/मेरा ही कर्मोदय कारण है,
  यह जो/कर्म-बन्धन हुआ है/मेरे ही शुभाशुभ परिणामों से !
  ऐसी दशा में रावण को ही/दोषी घोषित करना/अपने भविष्य-भाल को
  और दूषित करना है।" (पृ. ४६८-४६९)

निर्जीव और सजीव पात्रों के बहाने अनगिन ऐसे प्रेरक और मर्मस्पर्शी संवाद इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिन्हें पढ़कर मन में उत्प्रेरणाएँ होती हैं और उन्हें आचरण में उतारने की लालसा भी होती है तथा मन उन्हें आत्मसात् करने के लिए लालायित भी होता है। इन उद्धरणों की कितनी ही व्याख्या करूँ, कितने ही सन्दर्भ दूँ किन्तु ये कागज के बड़े-बड़े टुकड़े हमेशा ओछे ही पड़ते जाएँगे। 'मूकमाटी' की प्रांजलता, विचार-गाम्भीर्य हमारी लोक चेतना को उकसाने में, उसे बलवती बनाने में आचार्यश्री के ये विचार बिन्दु अमृत संजीवनी के पर्याय बन पड़ते हैं अनायास ही।

जिनागम और आचार्य विद्यासागर : सन्तशिरोमणि कविवर श्री विद्यासागर जैन आचार्य-प्रणीत जिनागम के आध्यात्मिक चिन्तक और मनीषी हैं। सम्पूर्ण जैन दर्शन की आत्मीय आस्था 'परमात्मा' में है। वैदिक दर्शन का ब्रह्मा या ईश्वर भी यही परमात्मा है। अतः जैन उपास्य के रूप में ईश्वर में पूर्ण विश्वास करते हैं किन्तु जगत्-नियन्ता के रूप में नहीं। यही कारण है कि आचार्य श्री विद्यासागर को जैन दर्शन को नास्तिक दर्शन कहे जाने पर घोर आपत्ति होती है। जैन दर्शन नास्तिक दर्शन नहीं है, इसे उन्होंने सप्रमाण अपनी कृति 'मूकमाटी' में स्पष्ट किया है।

सम्पूर्ण जिनागम में, जिन शासन के सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विवेचन है तो परमात्मा के रूप में ईश्वर के प्रति श्रद्धा भी प्रतिपादित है। ईश्वर के प्रति श्रद्धाभाव ही तो मोक्षमार्ग का पथ प्रशस्त करता है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' -- श्रद्धा के कारण सही दर्शन होता है, सत्य दर्शन से सत्य ज्ञान तथा सत्य आचरण होता है। मनुष्य का यही आचरण मोक्षदायक माना गया है।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के साथ श्रमण संस्कृति का स्वरूप, श्रमण चर्या, जीव-अजीव तत्त्वों का विश्लेषण, पुण्य-पाप, संवर-निर्जरा तत्त्व, गुरु और मोक्ष के स्वरूप को अभिव्यंजित किया है अपनी काव्य वाणी में।

आचरण की शुचिता के आधार पर राग-द्वेष से मुक्त होकर संसारी मनुष्य भी ईश्वर बन सकता है साधना के बल पर, सांसारिक बन्धनों को तोड़कर। जैन दर्शन के अनुसार आचार्यश्री की एक और मान्यता है कि ईश्वर को

सांसारिक क्रियाकलापों से कोई सरोकार नहीं रहता है और न ही जगत्-गति से किसी प्रकार को कोई लेना-देना ईश्वर के वश की बात है। मनुष्य मुक्तावस्था में ईश्वरत्व पा लेता है और परम पद पाकर भला वह संसार से वास्ता ही क्या और क्यों रखेगा ? जिसे वह त्याग कर आया है, उसे फिर पाने का औचित्य ही क्या ? वह तो निराकार, निर्विकार होकर इस लोक से परे हो जाता है।

जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्यश्री का कहना है वह चाहे चेतन हो या अचेतन, बिना किसी कारण के उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। एक उपादान और दूसरा निमित्त अर्थात् निमित्त एवं उपादान का संयोग ही सृष्टि का नियामक है। जगत् का प्रत्येक कार्य व्यापार भी इन्हीं दो कारणों से संचालित होता है।

माटी अगर अपावन है तो उसे पावन और उपयोगी बना कर नए रूप में गढ़ने को यानी जगत् रचना ही सांख्य-दर्शन का विपर्यय है। चार्वाक दर्शन से आचार्यश्री की कोई विशेष पटरी नहीं बैठती है। चार्वाक दर्शन कार्य-कारण को मान्यता नहीं देता। ज्ञान प्राप्ति के सम्बन्ध में चार्वाक दर्शन का विश्वास है केवल प्रत्यक्ष प्रमाण। वह अनुमान का बहिष्कार करता है। अत: ज्ञानेन्द्रियों और विषय ज्ञान आधार पर ज्ञान प्राप्त करना सम्भव है।

'मूकमाटी' में संशय ज्ञान और यथार्थ ज्ञान का विवेचन कर आचार्यश्री ने स्मृति ज्ञान और अनुभव ज्ञान की उपादेयता भी स्थान-स्थान पर की है। आचार्यश्री की विचारणा में सांख्य दर्शन भी प्रतिबिम्बित-सा होता है। सांख्य दर्शन के आधार पर जगत् की रचना प्रकृति से होती है, पुरुष निर्लेप रहता है। यही प्रकृति और पुरुष का संयोग जड़-चेतन संयोग है। दूसरे अर्थ में यही एकात्मक है। आचार्यश्री के शब्दों में :

> *"प्रकृति और पुरुष के/सम्मिलन से/विकृति और कलुष के/संकुलन से*
> *भीतर ही भीतर/सूक्ष्म-तम/तीसरी वस्तु की/जो रचना होती है,*
> *दूरदर्शक यन्त्र से/दृष्ट नहीं होती वह,/समीचीन दूर-दृष्टि में*
> *उतर कर आती है।" (पृ. १५)*

पृथिवी के भीतर या बाहर की सत्ता को पुरुष की ज्ञानेन्द्रियों—बुद्धि और चैतन्य के अध्ययन से प्रकृति के रूप को परिवर्तित कर उसे पावन तो बनाया जा सकता है :

> *"तपकर जो कर्म खपावे,/सोई शिव-सुख दर्शावे।" (छहढाला, पाँचवीं ढाल/११)*

तप के बाह्य रूप हैं— अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन और काय क्लेश, तथा अन्तरंग रूप हैं— प्रायश्चित्त, विनय, वैय्यावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इनका यथोचित समायोजन माटी के घट में कर दिया है शिल्पी ने।

'तत्त्वार्थ सूत्र' अध्याय ९ के सूत्र ३ में- 'तपसा निर्जरा च' और 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के सातवें अधिकार में 'इच्छानिरोधस्तप:' कहा गया है। 'समयसार' ग्रन्थ (गाथा १४) में 'स्वरूपविश्रान्तनिहतरंग-चैतन्यप्रतपनात् तप:' कहा गया है।

तप के उपरान्त सम्यक्त्व का बोध ही मनुष्य को मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाता है। यही कारण है कि जैन दर्शन एक यथार्थवादी चिन्तन है।

कर्म को पुद्गल रूप मानना तथा उसके आस्रव से ही आत्मा का बन्धन, फिर इस बन्धन से मुक्ति के लिए तप, निर्वाण और मोक्ष की आवश्यकता होती है। जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के घटने-बढ़ने बावत आकार-प्रकार की कल्पना जैन दर्शन में एक यथार्थवादी दृष्टिकोण है।

स्व-पर्याय और पर-पर्याय में भी वस्तु की सत्ता विद्यमान होती है। वस्तुओं के ऐसे रूप को जानने के लिए उनके पारस्परिक सम्बन्ध को जानना जरूरी होता है। देश, काल, परिस्थितियों में अनुशासित धर्म गुण तथा पर्याय से सुयुक्त वस्तु को 'द्रव्य' कहते हैं। चेतनाशक्ति सम्पन्न द्रव्य को 'जीव' कहते हैं। जीव कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता होता है। जीव ही वस्तुओं को जानता और प्रकाशित करता है। श्रेष्ठ देव परम इष्ट परमात्मा, भगवान् अथवा ईश्वर ही जैन दर्शन की परम सत्ता है किन्तु जगत् गति से इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। वे सब जगत् से वीतरागी हो जाते हैं परे होकर।

यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि 'मूकमाटी' के निमित्त आचार्यश्री ने जिन-जिन दर्शनों का समावेश अपनी काव्य चिन्तनधारा में किया है, उसमें न्याय, वैशैषिक और वैदिक दर्शन की झलक भी यहाँ देखी जा सकती है। जैन सम्मत परमात्मा/अर्हत् परमेष्ठी का स्वरूप अवलोकनीय है :

"जो मोह से मुक्त हो जीते हैं/राग-रोष से रीते हैं/जनम-मरण-जरा-जीर्णता
जिन्हें छू नहीं सकते अब/क्षुधा सताती नहीं जिन्हें
जिनके प्राण प्यास से पीड़ित नहीं होते,/जिनमें स्मय-विस्मय के लिए
पल-भर भी प्रश्रय नहीं,/जिन्हें देख कर/भय ही भयभीत हो भाग जाता है
सप्त-भयों से मुक्त, अभय-निधान वे,/निन्द्रा-तन्द्रा जिन्हें घेरती नहीं,
सदा-सर्वथा जागृत-मुद्रा/स्वेद से लथ-पथ हो/वह गात्र नहीं,
खेद-श्रम की/वह बात नहीं;/जिन में अनन्त बल प्रकट हुआ है,
परिणामस्वरूप/जिन के निकट कोई भी आतंक आ नहीं सकता
जिन्हें अनन्त सौख्य मिला है···सो/शोक से शून्य, सदा अशोक हैं
जिनका जीवन ही विरति है/तभी···तो···/उनसे दूर···फिरती रहती रति वह;
जिनके पास संग है न संघ,/जो एकाकी हैं,/फिर चिन्ता किसकी उन्हें ?
सदा-सर्वथा निश्चिन्त हैं,/अष्टादश दोषों से दूर···!" (पृ. ३२६-३२७)

सत्य, शिव और सुन्दर तथा सत्-चित्-आनन्द की यही दशा वैदिक दर्शन के आधार पर मोक्ष की स्थिति है। मनुष्य की ऐसी मुक्तावस्था उसे पारब्रह्म परमेश्वर, परम सन्त बनाकर ईश्वर में लीन कर देती है। ऐसे में सन्त समागम से जीवन धन्य और सार्थक हो जाता है और फिर उसे संसार असार लगने लगता है।

गुरु, उपदेशक, आचार्य, पादरी, शेख, मौलवी या ग्रन्थी को उस परम सत्ता से परिचित कराने का एक सूत्र माना है। गुरु के बिना ज्ञान की असम्भाव्यता को आचार्यश्री ने स्वयं ही स्वीकारा है :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है।" (पृ. ३५२)

मुहावरे और सूक्तियाँ : भाषा में मुहावरे जहाँ कथ्य की सम्प्रेषणीयता को आसान और हृदयग्राही बनाते हैं, वहीं भाषा को असरदार भी बनाते हैं। मुहावरों का लक्ष्यार्थ एक अनूठा अर्थ देकर पाठक को आनन्दित करता है। 'मूकमाटी' में कुछ मुहावरे और सूक्तियों का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयोग किया है कवि ने, जिससे कवि की लोकदृष्टि की व्यापकता तो प्रमाणित होती ही है, उसे लोक के अधिकाधिक निकट भी ले जाती है, जैसे :

- *"टालने में नहीं/सती-सन्तों की/आज्ञा पालने में ही*

'पूत का लक्षण पालने में"/यह सूक्ति/चरितार्थ होती है, बेटा !" (पृ. १४)

- *"बायें हिरण/दायें जाय--/लंका जीत/राम घर आय।" (पृ. २५)*
- *"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्।" (पृ. १८४)*
- *"परस्परोपग्रहो जीवानाम्।" (पृ. ४१)*
- *"धम्मो दया-विसुद्धो।" (पृ. ७१)*
- *"धम्मं सरणं गच्छामि।" (पृ. ७०)*
- *"मुँह में राम/बगल में छुरी।" (पृ. ७२)*
- *"दया-धर्म का मूल है।" (पृ. ७३)*
- *"धम्मं सरणं पव्वज्जामि।" (पृ. ७५)*
- *"वसुधैव कुटुम्बकम्।" (पृ. ८२)*

लोकोक्तियों और मुहावरों की सही पकड़ और फिर उस अर्थ को और अधिक धारदार बनाकर अर्थ की प्रभावपूर्ण प्रयोगधर्मिता से 'मूकमाटी' का अध्ययन रोचक और सरस हो जाता है।

नवोपलब्धि : हिन्दी काव्य साहित्य में विविध आयामी लेखन की कमी नहीं है। आए दिन अनेक कविता संग्रह धड़ाधड़ प्रकाशित होकर पाठकों के सामने आ रहे हैं किन्तु सारगर्भित और सार्थक कृतियाँ बहुत कम पढ़ने में आती हैं। लेखन की इस भीड़भाड़ को चीर कर एकदम नई आभा, ओजस्विता और आस्था लेकर आई है 'मूकमाटी'।

धर्म, दर्शन, अध्यात्म के सार तत्त्व को आज की सरस, सरल, लोकग्राह्य भाषा तथा मुक्त छन्द की मनोरम शैली में निबद्धकर आचार्य विद्यासागर ने काव्य रचना को एक नया आयाम दिया। यह कहना कठिन है कि अधिक परिमाण में यह कृति काव्य है या अध्यात्म। जहाँ कविता का आनन्द आता है, वहीं एकदम अध्यात्म, दर्शन अथवा कोई न कोई तत्त्वनिरूपण पाठक के सामने साकार होने लगता है। यह स्थिति भी अधिक देर तक सामने नहीं ठहर पाती और कविता, दर्शन, अध्यात्म के इस स्वरूप निरूपण-विश्लेषण में तत्काल कथानक आकर जुड़ जाता है। फिर सम्पूर्ण रचना-फलक एक शृंखला की भाँति साकार हो जाता है।

आश्चर्य की ही बात है कि माटी जैसी निरीह और पद दलित वस्तु को कवि ने अपनी काव्यकृति का विषय चुना और उसके स्वरूप निरूपण, विश्लेषण को इतनी भव्यता प्रदान कर दी, वहीं माटी पूजा का मंगल कलश बन कर आराध्य के, अपने इष्ट के साक्षात्कार का पर्याय बन जाती है। अतः अध्यात्म, दर्शन और काव्य की त्रिवेणी 'मूकमाटी' के पारायण से मन में पावन भावना की उद्भावना सहज रूप में हो जाती है और मनस दीक्षित होकर स्नातक-सा हो जाता है।

'मूकमाटी' का कथानक क्रमबद्ध होकर प्रत्येक खण्ड में विभाजित है। साथ ही साथ तत्त्वचिन्तन, दर्शन प्रत्येक खण्ड में विद्यमान होकर उसमें प्राणवायु का संचार करता जाता है। ग्रन्थ में खण्ड विभाजन है भिन्न-भिन्न शीर्षकों से किन्तु कथानक के प्रवाह में कहीं, तनिक भी गति-अवरोध नहीं मिलता है वरन् उसका नैरन्तर्य कहीं कम नहीं हो पाता। बड़े ही सहज, सरल और आसान भाव से पाठक इस काव्यकृति के अध्याय विभाजन में भी मानसिक रूप से

अविभाज्य ही बना रहता है। अन्ततः वह एकाकार हो जाता है इस कृति के कथानक, चिन्तन, दर्शन और अध्यात्म से।

'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' अध्याय में प्ररूपित शब्द से बोध और बोध से शोध होना एक वैज्ञानिक नियम की भाँति होनेवाली प्रक्रिया है। मनुष्य की चेतना पर उसी भाँति 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' की सात्त्विक क्रिया है। दोनों की क्रियाएँ अलग-अलग होकर परस्पर पूरक हैं। 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' और 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' नामक ये चारों अध्याय हमारी सोच, अर्थवत्ता को शाश्वत निर्झरणी की भाँति अविरल गतिशीलता देकर मानवीय चेतना को मन्दाकिनी के जल के समान पावन करते हैं।

'मूकमाटी' को महाकाव्य मानने में तनिक भी कोई संकोच की बात नहीं है। महाकाव्य के निर्धारित सर्वमान्य लक्षणों के आधार पर जितनी बार भी बाँचा, जाँचा या परखा जाए पर कभी भी, कहीं भी, किसी भी दशा में उसके महाकाव्यत्व पर कोई सन्देह नहीं हो सकता किंचित् अंश में भी।

नायक धीरोदात्त है - चाहे शिल्पी हो या आचार्यश्री की वाणी से मुखर होती गुरु की संचेतना में प्रतिष्ठापित करते स्वयं आचार्य विद्यासागर। कथानक एकदम अकल्पित, ऐतिहासिक और कथा भी प्रख्यात है। 'मूकमाटी' में जहाँ तक रस उत्पत्ति की बात है तो कहीं भी, किसी भी विधि में रसों की कमी नहीं है।

महाकाव्य में श्रेष्ठ तत्त्व पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति मानी गई है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के लिए 'मूकमाटी' में जो सन्देश है उसमें पूरी-पूरी व्यावहारिकता है, यथार्थ है, कल्पना और कोरा आदर्श नहीं। इस सन्देश को हृदयंगम कर आचरण में उतारने में काफी सुगमता हो जाती है, मात्र आवश्यकता है शब्द से बोध लेने की।

नारी का सम्मान : स्त्री से नारी, अबला, सुता, माँ, पत्नी, दुहिता, कुमारी आदि विभिन्न रूपों में उसके गुणों की सराहना करते हुए उसके शील और शालीनता को उसका आभूषण मानकर नारी की प्रकृति, स्वभाव और नारीत्व को व्यक्त किया गया है। "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः" की व्याख्या को साकार कर दिया है 'मूकमाटी' में।

'मूकमाटी' के जीवन दर्शन पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इस काव्य कृति का जीवन दर्शन, लोक व्यवहार आचार-विचार से जुड़ा हुआ है। हमारे नित्य का जीवन, कार्य व्यापार, क्रिया कलाप और सोच-विचार भी 'मूकमाटी' में विवेचित है। मच्छर के माध्यम से किया गया विवेचन बड़ा ही रोचक, मनोरंजक, मार्मिक और गम्भीर है। घर के भीतर से लेकर बाहर तक के समाज के अनेक सरोकारों पर कहीं तीखे प्रहार हैं तो कहीं बड़ी सादगी से वे अपनी बात कह जाते हैं। सामाजिक समस्याओं पर वे केवल फबती ही नहीं कसते, अपितु वे अपनी दृष्टि से उसका व्यावहारिक निदान और समाधान भी देते हैं। चाहे हमारी न्याय प्रक्रिया हो या कोई सामाजिक परम्परा अथवा निजी, घरेलू और सामाजिक जीवन की समस्याएँ ही क्यों न हों, उन सब के लिए भी उनका दिशा दर्शन बड़े काम का है। उसे गाँठ में बाँधकर उस पर अमल करने की आवश्यकता है। आम आदमी के जीवन से जुड़ा होकर यह ग्रन्थ सामाजिक है, राष्ट्रीयता का पोषक है तथा आध्यात्मिक चिन्तन का उन्नायक और मुक्तिदाता भी है।

'मूकमाटी' के तत्त्व चिन्तन में जो सहज दार्शनिकता है वह केवल जैन दर्शन तक ही सीमित नहीं है। उसमें वैदिक दर्शन है, न्याय, मीमांसक और वैशेषिक दर्शन भी समाहित है। कुम्भ की रचना से लेकर श्रद्धालु नगर सेठ के गुरु दर्शन और फिर आतंकवादियों को ठिकाने लगा कर पुनः मंगल घट उसी ठिकाने पर आते-आते अपना जीवन पथ पूरा कर लेता है। घट की इस अनन्त यात्रा में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें जीवन है और जीवन दर्शन भी। भारतीय दर्शन का सम्पूर्ण समावेश इस कृति में किया गया है। 'मूकमाटी' की कथा जैन दर्शन के दृष्टिकोण से भी सम्यक् है, जो जैन ग्रन्थों में भी वर्णित है।

❑

'मूकमाटी' के शब्द साधक प्रत्ययों का मूल्यांकन

श्रीमती मिथिलेश कुमारी

'मूकमाटी' जैन मुनि श्री विद्यासागर द्वारा रचित मौलिक महाकाव्य है। इस कृति की भाषा में प्रयोग स्थान की दृष्टि से निम्नलिखित दो प्रकार के शब्द साधक प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं :

१. पूर्व प्रत्यय २. परप्रत्यय

शब्द से पहले लगने वाले शब्दांश 'पूर्व प्रत्यय' कहलाते हैं। पूर्व प्रत्ययों के दो प्रकार के प्रकार्य हैं :

१. शब्द के मूल अर्थ को बदल देना २. शब्द कोटियों का निर्माण तथा निर्धारण करना।

इस काव्यकृति में प्रयुक्त पूर्व प्रत्यय उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रकार्यों को स्पष्ट करते हैं। कृति में रचनास्तर पर निम्नलिखित दो प्रकार के पूर्व प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं :

१. एकल पूर्व प्रत्यय २. दोहरे पूर्व प्रत्यय

'मूकमाटी' में दोहरे पूर्व प्रत्यय बहुत कम संख्या में प्रयुक्त हुए हैं। जो एकल पूर्व प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं, वे प्राय: संस्कृत मूल के हैं। एक से अधिक पूर्व प्रत्ययों का सह-प्रयोग 'दोहरे पूर्व प्रत्यय' कहलाता है। 'मूकमाटी' में प्रयुक्त कुछ दोहरे पूर्व प्रत्यय हैं – अविचल (पृ. १७), अविलम्ब (पृ. ४५), आविर्माण (पृ. ३२०)।

उपर्युक्त शब्दों में 'अवि' तथा 'आवि' दोहरे पूर्व प्रत्यय हैं। इनकी रचना-प्रक्रिया निम्नलिखित है :

अ + वि = अवि, आ + वि = आवि

'मूकमाटी' में निम्नलिखित दो प्रकार के एकल पूर्व प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं :

१. एक अर्थ को व्यक्त करने वाला एक पूर्व प्रत्यय।

२. एकाधिक अर्थों को व्यक्त करने वाला एक पूर्व प्रत्यय।

३. एक अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक पूर्व प्रत्यय।

उक्त रचना में एकार्थी पूर्व प्रत्ययों का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से आदर्श अथवा मानक भाषा की यही स्थिति होती है। एकार्थी पूर्व प्रत्यय मानक हिन्दी के हैं। संस्कृत में भी इनका प्रयोग हुआ है। 'मूकमाटी' में प्रयुक्त प्रमुख एकल पूर्व प्रत्यय निम्नलिखित हैं :

अ-आ, स-सु, प्र-परि, अप-उप, प्रति-अभि, अधि-उद्-उत्-उ, नि-नी, सम-अनु, अन-ना।

उपर्युक्त एकल पूर्व प्रत्यय एकार्थी हैं। सपूत तथा सुयश जैसे शब्दों में 'स' तथा 'सु' एकार्थी हैं। सपूत, सफल एवं सरस आदि शब्दों में प्रयुक्त 'स' पूर्व प्रत्यय अलग-अलग अर्थों को व्यक्त कर रहा है। 'सपूत' शब्द में प्रयुक्त 'स' पूर्व प्रत्यय का अर्थ शोभन या सुन्दर है जबकि सफल तथा सरस शब्दों में प्रयुक्त 'स' पूर्व प्रत्यय सहित का अर्थ दे रहा है। उपर्युक्त एकल पूर्व प्रत्यय मूल शब्द के अर्थ को बदल देते हैं। 'अ-अन-ना' पूर्व प्रत्यय निषेधार्थक हैं। इनमें 'ना' अरबी-फारसी का पूर्व प्रत्यय है।

'मूकमाटी' रचना में कुछ पूर्व प्रत्यय ऐसे भी प्रयुक्त हुए हैं जो एकाधिक अर्थों को व्यक्त करते हैं। 'निर्-नि-वि' आदि पूर्व प्रत्यय निम्नलिखित शब्दों में एक से अधिक अर्थों को व्यक्त कर रहे हैं। 'निहारती' (पृ. ४२), 'विराजती' (पृ. ४२), 'विमल' (पृ. ४८), 'निवेदन' (पृ.४५), 'निरन्तर' (पृ. ११), 'नियोग' (पृ. ६), 'नीराग' (पृ. ४८४), जीवन का 'निर्वाह' नहीं/'निर्माण' होता है (पृ. ४३), 'निर्देशिका' (पृ. १०३), 'निरभिमान' (पृ. ३२०), 'निर्ग्रन्थ' (पृ. ६४), 'विराधना' (पृ. ३७)।

'विराजती' शब्द में प्रयुक्त 'वि' पूर्व प्रत्यय तथा 'विराधना' में प्रयुक्त पूर्व प्रत्यय पृथक्-पृथक् अर्थों को व्यक्त कर रहे हैं। पहला 'वि' पूर्व प्रत्यय विशेषार्थी है तथा दूसरा 'वि' पूर्व प्रत्यय निषेधार्थी। नियोग या नीराग में प्रयुक्त

'नि-नी' पूर्व प्रत्यय तथा 'निहारती' में प्रयुक्त 'नि' पूर्व प्रत्यय अलग-अलग अर्थों के बोधक हैं। पहला 'नि' निषेधार्थी है तो दूसरा 'नि' निश्चयार्थी।

'निर्माण' शब्द में प्रयुक्त 'निर्' पूर्व प्रत्यय तथा 'निरभिमान' शब्द में प्रयुक्त पूर्व प्रत्यय 'निर्' अलग-अलग अर्थों के परिचायक हैं। पहला 'निर्' निश्चयार्थी है तथा दूसरा 'निर्' निषेधार्थी है। निश्चयार्थी पूर्व प्रत्यय 'निर्' निरन्तरता बोधक भी है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में एकाधिक पूर्व प्रत्यय एक ही अर्थ को व्यक्त तथा स्पष्ट करते हैं। 'निर्, निश् तथा निः' पूर्व प्रत्यय रचना स्तर पर पृथक् पृथक् हैं। परन्तु तीनों ही निषेधवाची हैं। तीनों पूर्व प्रत्ययों का प्रयोग अपने बाद आने वाली ध्वनियों की प्रकृति से अनुशासित तथा नियन्त्रित होता है। एक ही अर्थ के बोधक एकाधिक पूर्व प्रत्यय एकाधिक भाषाओं अथवा बोलियों से सम्बद्ध माने जाएँगे। एक ही अर्थ के बोधक उक्त तीनों पूर्व प्रत्यय यह सिद्ध करते हैं कि संस्कृत के निर्माण की प्रक्रिया में अनेक लोकबोलियाँ क्रियाशील थीं। 'निर्' पूर्व प्रत्यय एक ओर निरन्तरता का बोधक है तो दूसरी ओर निषेधात्मकता का परिचायक भी। दो स्वतन्त्र अर्थों का द्योतक होने के कारण यह व्युत्पत्ति स्तर पर दो अलग-अलग शब्द मूलों से व्युत्पन्न माना जाएगा।

'मूकमाटी' महाकाव्य की भाषा में निम्नांकित प्रकार के शब्द साधक प्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं :

१. संज्ञा बनाने वाले परप्रत्यय
२. विशेषण बनाने वाले परप्रत्यय
३. क्रिया बनाने वाले परप्रत्यय
४. क्रिया विशेषण बनाने वाले पर प्रत्यय

संज्ञा बनाने वाले शब्द साधक प्रत्यय या परप्रत्यय निम्नांकित प्रकार के हैं :

१. संज्ञा से संज्ञा बनाने वाले शब्द साधक प्रत्यय या परप्रत्यय हैं – मानवता (पृ. ८१), लहराई (पृ. ५२), करुणाई (पृ. १५१), लड़कपन (पृ.), बगुलाई (पृ. ७२), हरिता (पृ. १७९), पथिक (पृ. १७२), तामसता (पृ.९४), मित्रता (पृ. २९)।

उपर्युक्त शब्दों में परप्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं– ता, आई, ई, पन, इक। उपर्युक्त परप्रत्यय जातिवाचक तथा व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्दों के अन्त में प्रयुक्त होकर भाववाचक संज्ञा शब्दों का निर्माण करते हैं।

'अहमियत', 'ममता', 'ममत्व', 'अपनापन' या 'अपनत्व' आदि शब्दों में ये परप्रत्यय प्रयुक्त हुए है– 'इयत, ता, त्व, पन'। ये परप्रत्यय सर्वनाम शब्दों के अन्त में प्रयुक्त होकर भाववाचक संज्ञा शब्दों का निर्माण कर रहे हैं। उपर्युक्त चारों परप्रत्यय एक ही शब्द-कोटि का निर्माण करने के कारण ऐतिहासिक स्तर पर अलग-अलग भाषा अथवा बोली भेदों से सम्बद्ध कहे जाएँगे।

'नरमाई (पृ. ६३), कटुता (पृ. ८), नीलिमा (पृ. १), नूतनपन (पृ. ५८), खुरदरापन (पृ. २४), गीलापन' (पृ. १६५) आदि शब्दों में 'आई, ता, इमा तथा पन' परप्रत्यय भाववाचक संज्ञा बना रहे हैं। उक्त परप्रत्यय विशेषण शब्द वर्ग से भाववाचक संज्ञा शब्द वर्ग का निर्माण कर रहे हैं।

'बहाव (पृ. ११४), ठहराव (पृ. ८९), लहराई (पृ. ५२), मुड़न (पृ. २९), जुड़न (पृ. २९), क्रुधन (पृ.३०), सृजन' (पृ. १६) इत्यादि क्रिया शब्दों में प्रयुक्त 'आव, आई, अन, न' आदि परप्रत्यय भाववाचक संज्ञा शब्दों का निर्माण कर रहे हैं।

विभिन्न शब्द वर्गों से भाववाचक संज्ञा शब्दों की रचना में समान-असमान दो प्रकार के परप्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी परप्रत्यय रचना तथा प्रयोग प्रक्रिया में ऐतिहासिक तथा सांकालिक स्तर पर अनेक स्वतन्त्र बोली प्रयोगों को सिद्ध करते हैं, साथ ही भाववाचक संज्ञा शब्दों के निर्माण की प्रक्रिया को भी प्रशस्त करते हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य में विशेषण शब्द वर्ग का निर्माण करने वाले निम्नलिखित परप्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं :

१. संज्ञा से विशेषण बनाने वाले परप्रत्यय
२. विशेषण से विशेषण बनाने वाले परप्रत्यय

३. सर्वनाम से विशेषण बनाने वाले परप्रत्यय ४. क्रिया से विशेषण बनाने वाले परप्रत्यय

'रंगीन (पृ. १५९), लौकिक (पृ. ४११), धूमिल (पृ. १८७), रेतिल (पृ. ४९), अंकुरित (पृ. ७), क्षेत्रीय (पृ. ३५), मलिन (पृ. ९०), करुणामय' (पृ. ८९) आदि शब्दों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है— रंग+ईन = रंगीन; लोक+इक = लौकिक; धूम+इल = धूमिल; रेत+इल = रेतिल; अंकुर+इत = अंकुरित; क्षेत्र+ईय = क्षेत्रीय।

उक्त संज्ञा शब्दों में 'ईन, इक, इल, इत तथा ईय' परप्रत्यय प्रयुक्त हुए हैं, जो विशेषण शब्दों की रचना कर रहे हैं। उक्त एक शब्दवर्गीय परप्रत्यय अलग-अलग भाषा तथा बोली-भेदों के परिचायक हैं।

'मधुरिम (पृ. १), घनिष्ठ (पृ. २९), प्राथमिक (पृ. ११), मृदुतम' (पृ. ३५) आदि शब्दों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है—मधुर+इम = मधुरिम; घना+इष्ठ = घनिष्ठ; प्रथम+इक = प्राथमिक; मृदु+तम = मृदुतम।

उपर्युक्त विशेषण शब्दों में 'इम, इष्ठ, इक तथा तम' परप्रत्यय प्रयुक्त होकर विशेषण शब्दों का निर्माण कर रहे हैं। उक्त सभी परप्रत्यय संस्कृत शब्द मूल के हैं तथा मानक हिन्दी में यथावत् प्रयुक्त हो रहे हैं। एक शब्दवर्गीय होने के कारण उक्त परप्रत्यय एकाधिक स्वतन्त्र बोलियों के बोधक हैं। अत: इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संस्कृत के निर्माण में अनेक बोलियों की भूमिका रही है।

'इस (पृ.५), उस (पृ. ३२), किस' (पृ. २९) आदि शब्दों की रचना-प्रक्रिया इस प्रकार है—'इ+स; उ+स; कि+स या क+इस'। सर्वनाम शब्दों के अन्त में 'स' विशेषण बनाने वाला परप्रत्यय प्रयुक्त हुआ है।

'चलती (पृ. ४९), चलता (पृ. १६३), चलते' (पृ. ३१६) आदि विशेषण शब्दों की रचना में 'त' परप्रत्यय प्रयुक्त हुआ है। क्रिया से विशेषणों की रचना कम होती है।

'बतिआना, दुखिआना, लठिआना, सठिआना' आदि संज्ञा तथा विशेषण शब्दों में 'आ' परप्रत्यय प्रयुक्त होकर क्रिया शब्द वर्ग का निर्माण कर रहा है।

कहीं-कहीं रचनाकार ने पूर्व प्रत्यय द्वारा अभिनव शब्दों की रचना प्रक्रिया का संकेत किया है, 'जैसे अच्छा-अतुच्छा' (पृ. ४०८)।

कहीं-कहीं दोहरे परप्रत्ययों का प्रयोग करके शब्द रचना के मार्ग को प्रशस्त किया है, जैसे 'देहिलता' (पृ.२०९)। 'देह+इल+ता' रचना-प्रक्रिया से 'देहिलता' भाववाचक संज्ञा शब्द बना है। देह संज्ञा से 'देहिल' विशेषण बना तथा 'देहिलता' भाववाचक संज्ञा बनी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'मूकमाटी' काव्य रचना में परप्रत्ययों के प्रयोग की प्रक्रिया दो प्रकार की प्रयुक्त हुई है :

१. अनेक परप्रत्ययों के योग से एक शब्द वर्ग का निर्माण होना।

२. एक ही परप्रत्यय के प्रयोग से एकाधिक शब्द वर्गों का निर्माण।

उपर्युक्त परप्रत्यय निम्नलिखित भाषा-भेदों के परिचायक हैं :

१. मानक हिन्दी के परप्रत्यय २. लोक बोलियों के परप्रत्यय

'मूकमाटी' रचना में मानक हिन्दी के प्रत्ययों की संख्या अधिक है, लोक बोलियों के प्रत्ययों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। प्रत्ययों के प्रयोगानुपात की दृष्टि से 'मूकमाटी' की भाषा मानक हिन्दी मानी जाएगी। विभिन्न शब्द वर्गों में सम्बद्ध होकर भाववाचक संज्ञा शब्दों की रचना उक्त काव्यकृति में सबसे अधिक हुई है। वस्तुत: 'मूकमाटी' भाव तथा विचार प्रधान रचना है। यही कारण है कि इसमें भाववाचक संज्ञा बनाने वाले परप्रत्यय अधिक प्रयुक्त हुए हैं। भाववाचक संज्ञा बनाने वाले परप्रत्यय बहुस्तरीय हैं। यही कारण है कि उक्त काव्यकृति के भाव बहुआयामी तथा बहुस्तरीय हैं।

❑

'मूकमाटी' : मानव जीवन के अन्तर्बाह्य द्वन्द्वों का सटीक चित्रण

डॉ. परमेश्वर सोलंकी

जैसलमेरी (माडवी) भाषा में मनुष्य को माटी कहते हैं। ''माटी केत?'' = हे मनुष्य तूँ कहाँ जा रहा है। और ''माटी चेत?'' = हे मनुष्य तूँ चेता कर, सावधान हो-- ये दो वाक्य छोटे होने पर भी अर्थ-गौरव भरे हैं। बेकळू = बालू = रेत=धूल को वहाँ माटी या मिट्टी नहीं कहते। दूसरे शब्दों में वहाँ माटी चैतन्य है। सुसंस्कारित है।

कवि के शब्दों में भी : ''सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है··· और जिसका नामकरण हुआ है मूकमाटी।''

''···मढ़िया जी (जबलपुर) में/द्वितीय वाचना का काल था/सृजन का अथ हुआ और/नयनाभिराम-नयनागिरि में/पूर्ण पथ हुआ/समवसरण मन्दिर बना/जब गजरथ हुआ।'' अर्थात् श्री पिसनहारी मढ़िया जी (जबलपुर, मध्यप्रदेश) और नयनागिरि जी (छतरपुर, मध्यप्रदेश) की पुण्यभूमि को सम्बोधित करके यह काव्य रचा गया और दूध में घी की तरह 'मूकमाटी' से काव्य तत्त्व प्रकट हुआ है जो श्रमण संस्कृति के शाश्वत सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना करता है।

'मूकमाटी' में चार खण्ड हैं-- १. 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' २. 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' ३. 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और ४. 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। इन चारों खण्डों का विधान और सम्पूर्ण काव्य का वितान लगभग ५०० पृष्ठों में है, जो परिमाण की दृष्टि से महाकाव्य की सीमाओं को छूता है। हालाँकि महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुरूप शास्त्रीय समीक्षा में 'मूकमाटी' खरा नहीं उतरता किन्तु उसमें माटी नायिका है, कुम्भकार नायक है, आध्यात्मिक रोमांस है, प्राकृतिक परिवेश है, शब्दालंकार, अर्थालंकारों के मोहक सन्दर्भ हैं और शब्द का, व्याकरण की सान पर तराशा नया-नया अर्थ है, जैसे :

''युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य--/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।'' (पृ. २८)

भावना भाता हुआ गदहा (गधा) भगवान् से प्रार्थना करता है :

''मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/गद का अर्थ है रोग
हा का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!'' (पृ. ४०)

आधि, व्याधि, उपाधि की व्याख्या देखिए :

''व्याधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी आधि से है/और
आधि से इतनी भीति नहीं इसे/जितनी उपाधि से।
इसे उपधि की आवश्यकता है/उपाधि की नहीं, माँ !
इसे समधी - समाधि मिले, बस !/अवधि - प्रमादी नहीं।/उपधि यानी

उपकरण-उपकारक है ना!/उपाधि यानी/परिग्रह-अपकारक है ना!'' (पृ.८६)

नारी के विविध रूपों के लिए कवि कहता है :

नारी : *''इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें*
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।
यही कारण है कि/इनका सार्थक नाम है 'नारी'
यानी--/'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं
सो··· नारी···।'' (पृ. २०२)

कुमारी : *'' 'कु' यानी पृथिवी/'मा' यानी लक्ष्मी/और*
'री' यानी देनेवाली···/इससे यह भाव निकलता है कि
यह धरा सम्पदा-सम्पन्ना/तब तक रहेगी
जब तक यहाँ 'कुमारी' रहेगी।'' (पृ. २०४)

अबला : *''...जो/पुरुष-चित्त की वृत्ति को/विगत की दशाओं/और*
अनागत की आशाओं से/पूरी तरह हटाकर/'अब' यानी
आगत - वर्तमान में लाती है/अबला कहलाती है वह···!
बला यानी समस्या संकट है/न बला···सो अबला
समस्या-शून्य-समाधान!/अबला के अभाव में
सबल पुरुष भी निर्बल बनता है/समस्त संसार ही, फिर,
समस्या-समूह सिद्ध होता है,/इसलिए स्त्रियों का यह
'अबला' नाम सार्थक है!'' (पृ. २०३)

स्त्री : *'' 'स्' यानी सम-शील-संयम/'त्री' यानी तीन अर्थ हैं*
धर्म, अर्थ, काम--पुरुषार्थों में/पुरुष को कुशल-संयत बनाती है
सो···'स्त्री' कहलाती है।'' (पृ.२०५)

सुता : *'' 'सुता' शब्द स्वयं सुना रहा है :/'सु' यानी सुहावनी अच्छाइयाँ*
और/'ता' प्रत्यय वह/भाव-धर्म, सार के अर्थ में होता है
यानी,/सुख-सुविधाओं का स्रोत···सो-/'सुता' कहलाती है।'' (पृ. २०५)

दुहिता : *''उभय-कुल मंगल-वर्धिनी/उभय-लोक-सुख सर्जिनी*
स्व-पर-हित सम्पादिका/कहीं रहकर किसी तरह भी
हित का दोहन करती रहती/सो···'दुहिता' कहलाती है।'' (पृ. २०६)

इसी प्रकार अन्य वाक्य अथवा उक्तियाँ भी सबल, सार्थक ढंग से व्यक्त हुई हैं :

- *''अति के बिना/इति से साक्षात्कार सम्भव नहीं*

और/इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव।" (पृ. ३३)

- *" 'भी' के आस-पास/बढ़ती-सी भीड़ लगती अवश्य,*
  किन्तु भीड़ नहीं,/'भी' लोकतन्त्र की रीढ़ है।" (पृ. १७३)
- *"धरती की प्रतिष्ठा बनी रहे, और/हम सब की*
  धरती में निष्ठा घनी रहे, बस।" (पृ. २६२)
- *"योग के काल में भोग का होना/रोग का कारण है,*
  और/भोग के काल में रोग का होना/शोक का कारण है।" (पृ. ४०७)
- *"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ!*
  हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ!" (पृ. ४३२)
- *"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।*
  और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।" (पृ. २४५)
- *"हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और/जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है*
  वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।/अर्थ यह हुआ कि
  ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
  अहिंसा पलती है।" (पृ. ६४)

सर्वांश में 'मूकमाटी' की तुलना किसी दूसरी कृति से अथवा शास्त्रीय मापदण्डों से उसकी विवेचना की जानी ठीक नहीं है। युगचेतना के रूप में नैतिक मूल्य और श्रमण संस्कृति के परिवेश की अवधारणा इस काव्य में है, जो एक वीतरागी, नंग-धड़ंग महात्मा का सृजन होने से मानव जीवन के अन्तर्बाह्य द्वन्द्वों का सटीक चित्रण करता है। सन्त कवि ने मूक माटी को मातृ रूप में देखा है और उसी के अनुरूप सबके लिए मंगल कामना की है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सबके सब टलें—/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों
नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस!" (पृ. ४७८)

ऐसे श्रेष्ठ, उदात्त और दिशाबोधकारक काव्य सृजन और प्रकाशन के लिए उसमें निमित्त बने सभी लोग साधुवाद के पात्र हैं। ग्रन्थ सभी ग्रन्थालय और वाचनालयों में पहुँचना चाहिए। आधुनिक युग के युवक, युवतियाँ इसे जरूर पढ़ें, ऐसे प्रबन्ध होने चाहिए।

[सम्पादक-'तुलसी प्रज्ञा'(त्रैमासिक), लाडनूँ (नागौर) राजस्थान, अक्टूबर-दिसम्बर, १९९१]

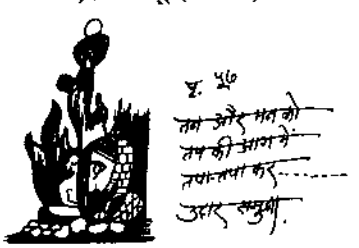

'मूकमाटी' : लीक से हटकर प्रतिभा का परिचय देने वाली रचना

डॉ. ओम प्रकाश गुप्त

जब कभी साहित्यकारों ने लीक से हटकर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है, आलोचक के लिए नई चुनौतियाँ बनी हैं। वर्तमान युग में महाकाव्य उस शास्त्रीय चौखटे से बहुत बाहर निकल आया है जिसका निर्माण आचार्यों ने शताब्दियों पूर्व किया था। आचार्य विद्यासागर कृत महाकाव्य 'मूकमाटी' ऐसी ही कृति है।

लेखक जैन धर्माचार्य हैं और स्वाभाविक है कि उनकी स्थापनाएँ उक्त धर्म के सिद्धान्तों से प्रभावित हुई हैं। अपने ग्रन्थ की भूमिका 'मानस तरंग' में लेखक ने इन्हीं सिद्धान्तों पर आधारित कुछ प्रश्न प्रस्तुत किए हैं। ये प्रश्न वस्तुतः ऐसे लोगों के समक्ष रखे गए हैं जो 'निमित्त' कारणों के प्रति आस्था नहीं रखते। आगे बढ़ने से पूर्व इनमें से कुछ प्रश्नों पर दृष्टि डालना उचित होगा : "क्या आलोक के अभाव में कुशल कुम्भकार भी कुम्भ का निर्माण कर सकता है ?" अथवा "...क्या कुम्भ बनाने की इच्छा निरुद्देश्य होती है ?"

निराकार ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना के तर्क को झुठलाते हुए आचार्यप्रवर लिखते हैं : "अशरीरी होकर असीम सृष्टि की रचना करना तो दूर, सांसारिक छोटी-छोटी क्रिया भी नहीं की जा सकतीं।" किन्तु आगे चलकर जब वे लिखते हैं :"हाँ, संसारी ईश्वर बन सकता है, साधना के बल पर, सांसारिक बन्धनों को तोड़कर", तो वह स्वतः एक धार्मिक उपदेष्टा से साहित्य सर्जक की भूमिका ग्रहण करने लगते हैं। काव्य मर्मज्ञों ने काव्य को भावयोग के क्षेत्र की साधना कहकर काव्य और शास्त्र का विभेद स्पष्ट करने का यत्न किया है।

'मूकमाटी' का लेखक साधना को सृजन से अलग नहीं मानता और यह सृजन सृष्टि में सतत चलने वाली प्रक्रिया का पर्याय है। धरती माटी से कहती है :

"आस्था के विषय को/आत्मसात् करना हो
उसे अनुभूत करना हो/तो/साधना के साँचे में
स्वयं को ढालना होगा सहर्ष !" (पृ. १०)

सृजन की इस यात्रा में एक निमित्त कुम्भकार भी है। मिट्टी स्वयं परिश्रम नहीं करती, परिश्रम तो कुम्भकार करता है।

'मूकमाटी' का लेखक कुम्भकार की जिस सृजन साधना को काव्य का विषय बनाता है, वह 'अज्ञेय' की 'असाध्य वीणा' के केशकम्बली की साधना के बहुत निकट है। उसका मानना है :

"केवल क्षेत्रीय ही नहीं/भावों की/निकटता भी/अत्यन्त अनिवार्य है
इस प्रतीति के लिए।" (पृ. ३५)

इस भागवत प्रतीति के लिए करुणा एवं दया की अनिवार्यता स्वीकार की गई है, क्योंकि :

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ. ३७)

मिट्टी से कुम्भ बनने की पूरी प्रक्रिया सामान्य मनुष्य के उदात्तीकरण की प्रक्रिया है। मिट्टी जिन-जिन दशाओं से गुज़रती है, वे साधना पथ की विभिन्न स्थितियाँ हैं। इनमें सबसे प्रमुख है विनम्रता, क्योंकि :

"खरा शब्द भी स्वयं/विलोमरूप से कह रहा है–
रास बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?" (पृ. ५७)

यह विनम्रता ही अहिंसा पथ की पहली शर्त है तथा क्षमा भाव के साथ संयुक्त होकर समस्त विश्व के कल्याण की कामना करती है :

"खम्मामि, खमंतु मे—/...यहाँ कोई भी तो नहीं है
संसार-भर में मेरा वैरी !" (पृ. १०५)

कवि ने शान्त रस को सभी रसों से श्रेष्ठ माना है और यही इस महाकाव्य का मुख्य रस है। कवि की मान्यता इन शब्दों में व्यक्त हुई है :

"करुणा-रस जीवन का प्राण है/...वात्सल्य जीवन का त्राण है
...शान्त-रस जीवन का गान है/...संयम-रत धीमान को ही
'ओम्' बना देता है।" (पृ. १५९-१६०)

कुम्भ पर उत्कीर्ण चिह्नों की विशद व्याख्या करता हुआ कवि कुम्भ के पकाने की समूची प्रक्रिया को साधक की तपस्या, मनुष्य के उदात्तीकरण की यात्रा बना देता है। अवा की अग्नि का कहना है :

"अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक/किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,
न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ. २७५)

कुम्भ का अग्नि के प्रति समर्पण भी इसी साधना पथ का संकेतक है :

"...मेरे दोषों को जलाओ !/मेरे दोषों को जलाना ही
मुझे जिलाना है।" (पृ. २७७)

मिट्टी के कुम्भ के पकने के साथ ही आचार्य अपने महाकाव्य को समाप्त नहीं करते। कथा को अधिक स्पष्ट करते हुए वह इसे एक सेठ की कथा बना देते हैं। नगर सेठ अपने निवास पर महासन्त का स्वागत करते हैं। स्वर्णादि बहुमूल्य धातुओं से निर्मित कलशों की अपेक्षा मिट्टी के कलश का महत्त्व स्थापित होता है तथा यही कलश सेठ को सपरिवार लक्ष्य की प्राप्ति करवाता है। सेठ और कुम्भ की यह यात्रा कहीं 'पिलग्रिम्ज प्रॉग्रेस' की याद दिलाती है तो कहीं कामायनी और मनु के कैलाश-शिखर पहुँचने की दशा के चित्रण का आभास होने लगता है, पुनः कहीं श्री नरेश मेहता के 'महाप्रस्थान' में पाण्डवों की अन्तिम यात्रा की अनुभूति पाठक को घेरने लगती है :

"सबसे आगे कुम्भ है/मान-दम्भ से मुक्त,...
छा जावे सुख-छाँव,/सबके सब टलें—/अमंगल-भाव।" (पृ. ४७८)

कवि प्रायः काव्य जगत् से दर्शन और चिन्तन की वीथियों में चला जाता है किन्तु चिन्तक मन भाव का स्पर्श नहीं छोड़ पाता और यही विशेषता इस ग्रन्थ को धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थ की अपेक्षा एक काव्य ग्रन्थ बनाती है। चिन्तन और दर्शन को कलात्मक सौन्दर्य से युक्त करना ही काव्य का उच्चतम उद्देश्य है और इस उद्देश्य में 'मूकमाटी' का कवि पूर्णतः सफल हुआ है।

['प्रकर' (मासिक), नई दिल्ली, जनवरी, १९९२]

❑

'मूकमाटी' महाकाव्य : एक समीक्षात्मक अवलोकन

प्रो. (डॉ.) आशा गुप्ता

परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' प्राप्त हुआ। जितना सुन्दर बहिरंग, उससे भी श्रेष्ठ अन्तरंग देखकर हर्ष हुआ, सन्तोष हुआ। चार सौ अट्ठासी पृष्ठ का वृहत्काय ग्रन्थ घर बैठे उपलब्ध हुआ। ग्रन्थियों का विमोचन करने वाला यह सद्ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा के जैनी महात्मा विद्यासागरजी द्वारा रचा गया है, यह देख कर आश्चर्य हुआ। अधुनातन कविता की परिपाटी का वल्कल पहना कर दर्शन, अध्यात्म, सदुपदेश को प्रस्तुत करने का यह एक रूपकमय प्रयास निश्चित ही स्तुत्य है।

माटी निर्मित यह देहकुम्भ, हम सभी का है। कबीरदास की इन पंक्तियों से हम लोग परिचित रहे हैं :

"माटी कहे कुम्हार से, तू क्या रूँधे मोय।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँधूँगी तोय॥"

'छिति-जल-पावक-गगन-समीरा' के द्वारा निर्मित देह के साथ हम सभी रह रहे हैं। क्षिति, मिट्टी, पृथ्वी तत्त्व की स्थूलता की बात तो की जाती है, किन्तु उसे इस दृष्टि से देखना कि वही गुरु बनकर उपदेश दे - कर्तृत्वभाव ग्रस्त जीव रूपी कुम्हार को, यह आचार्य विद्यासागरजी जैसे दिव्यदृष्टि सम्पन्न महात्मा के लिए ही सम्भव था।

मैंने दो बार ग्रन्थ को ध्यान से पढ़ने की चेष्टा की है। नाटकीय संवादों से युक्त प्रसंग बहुत जीवन्त हैं। यह रचना सांसारिक यशकामी लेखक की नहीं है, सन्त की है, अतः इसमें भिन्न प्रकार की विशेषताएँ स्वाभाविक रूप से समाविष्ट हैं।

जो असाधारण तत्त्व मुझे इस 'मूकमाटी' के लगे, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

१. इसमें निश्चित रूप से कवि-आचार्य-सन्त-लेखक का आध्यात्मिक उद्देश्य है। काव्य को अध्यात्म का माध्यम बनाया गया है।
२. जैन दर्शन के सिद्धान्तों का समायोजन काव्य में बड़े स्वाभाविक रूप से किया गया है।
३. अनेक स्थल कविता की दृष्टि से भी सुन्दर बन पड़े हैं।
४. यथार्थ का खूब अच्छा परिचय लेखक को है, यह अनेक स्थलों पर प्रकट है। यथार्थ पर निस्संकोच प्रहार यत्किंचित् है।
५. अनेक सिद्धान्त वाक्यों, सूत्र वाक्यों से ग्रन्थ धनी है।
६. ग्रन्थ उपदेशात्मक है। उपदेश को संवाद के रूप में, वात्सल्य, प्रेम, मधुर भावनाओं से समावेष्टित कर मधुरता के साथ प्रस्तुत किया गया है।
७. उपदेश ग्रन्थ होते हुए भी मनोरंजन के स्थल इसमें हैं। नीरसता नहीं है।
८. सबसे मुख्य बात है इसकी भाषा।

लेखक का भाषा पर अधिकार है। वह भाषा से खेलना जानता है। अनेक स्तरों पर यह खेल लम्बा खिंचा है। अनेक स्तरों पर भाषा सम्बन्धी नवीन प्रयोग, नवीन अर्थान्वेषण रोचक हैं तथा नई सूचनाएँ देने वाले हैं। लेखक को शब्द को उलट कर देखने में विशेष प्रकार की रुचि है, और यह रुचि बड़ी विचित्र महिमा - भाषा को प्रकट करने वाली सिद्ध हुई है।

संक्षेप में उपर्युक्त विशेषताओं को कहूँ तो यह कि आध्यात्मिक उपदेश को लेखक ने भाषा पर हर प्रकार के अधिकार के साथ प्रस्तुत किया है। 'मूकमाटी' एक रूपक गाथा है, सांगरूपक।

इसमें निस्सन्देह दो मत नहीं हो सकते कि आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' अनेक दृष्टियों से स्तुत्य है। धर्म और दर्शन आज के युग में मनोरंजन का रूप ले चुके हैं। गम्भीर अध्यात्मपरायण जो भी आचार्य हैं, महात्मा हैं, वे चिन्तित हैं युग की इस विकृत प्रवृत्ति से। किसी न किसी आश्रय से, माध्यम से, जनता का, विशेषकर समझ सम्पन्न लोगों का मार्गदर्शन करने के लिए ऐसे घोर कलिकाल में भी कुछ गिने-चुने सन्त कृपापूर्वक लगे हुए हैं।

इस सम्बन्ध में आचार्यजी के शब्द हैं :

''सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और !
असत् विषयों में डूबी/आ-पाद-कण्ठ
सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है बेटा !'' (पृ. ८३)

सन्त कविता के लिए कविता नहीं लिखते। कबीरदासजी का लक्ष्य काव्य नहीं था। कथ्य ही सन्तों के लिए प्रमुख होता है। अभिव्यक्ति स्वयमेव काव्य बन जाय, ये दूसरी बात है। मूकमाटी भी महाकाव्य के रूप में सचेतन हो उठी है, किन्तु मूल कथ्य इस का वह सन्देश है जो अध्यात्मपरक लक्ष्य रूप से निश्चित रूप से समन्वित है।

मुक्त छन्द में लिखा गया यह महाकाव्य अलंकार, नाटकीय संवाद एवं शब्दों के चमत्कारपूर्ण स्थलों से भरपूर है। मनोरंजन के लिए भी अनेक स्थल हैं। ज्ञानवर्द्धक सूचना देने वाली अनेक बातें हैं, लेकिन ये सब मेरी दृष्टि से गौण हैं।

वर्णनों में भावुकता का भी पर्याप्त समावेश है। अनेक प्रकार की सांसारिक व्यवहार की बातों के भी उपदेश हैं। कई जगह आचार्यजी ने अर्थों की अपने ढंग से उद्भावना की है। शब्दों को उलट कर अनेक जगह रखा गया है, यथा: नदी-दीन, राही-हीरा, राख-खरा आदि।

आचार्यजी का मुख्य सन्देश ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उद्घोषित है :

''तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/तभी कहीं चेतन—आत्मा/खरा उतरेगा।'' (पृ. ५७)

'मानस तरंग'- भूमिका में कवि ने स्वयं इस काव्य सृजन का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है : ''...जिसने शुद्ध सात्त्विक भावों से सम्बन्धित जीवन को धर्म कहा है; जिसका प्रयोजन सामाजिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल करना और युग को शुभ-संस्कारों से संस्कारित कर भोग से योग की ओर मोड़ देकर वीतराग श्रमण-संस्कृति को जीवित रखना है।''

आचार्य विद्यासागरजी के अनुसार : ''...श्रमण-संस्कृति के सम्पोषक जैन-दर्शन ने बड़ी आस्था के साथ ईश्वर को परम श्रद्धेय-पूज्य के रूप में स्वीकारा है, सृष्टि-कर्ता के रूप में नहीं। इसीलिए जैन-दर्शन, नास्तिक दर्शनों को सही दिशाबोध देनेवाला एक आदर्श आस्तिक दर्शन है।'' आचार्यजी के द्वारा उद्धृत 'तेजोविन्दु-उपनिषद्' (५/५१-५२) के अनुसार : ''...ईश्वर को सृष्टि-कर्ता के रूप में स्वीकारना ही, उसे नकारना है, और यही नास्तिकता है, मिथ्या है। ...ब्रह्मा को सृष्टि का कर्ता, विष्णु को सृष्टि का संरक्षक और महेश को सृष्टि का विनाशक मानना मिथ्या है, इस मान्यता को छोड़ना ही आस्तिकता है।''

ग्रन्थ के 'प्रस्तवन' लेखक लक्ष्मीचन्द्र जैन के अनुसार : "...आचार्य श्री विद्यासागर की कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि-कर्म नहीं है, यह एक दार्शनिक सन्त की आत्मा का संगीत है - सन्त जो साधना के जीवन्त प्रतिरूप हैं और साधना जो आत्म-विशुद्धि की मंज़िलों पर सावधानी से पग धरती हुई, लोकमंगल को साधती है।" अनुभूति की अन्तरंग लय पूरे काव्य में व्याप्त है। माटी जैसी तुच्छ अकिंचन, पददलित वस्तु महाकाव्य का विषय बने, यह नितान्त अनोखी कल्पना, निर्मल वाणी और सार्थक सम्प्रेषण के योग से, मुक्त छन्द में निर्बाध साकार प्रवाहित हुई है।

आधुनिक जीवन के अभिनव शास्त्र को माटी रूपी नायिका, कुम्भकार रूपी नायक के साथ विचार विमर्श का विषय बनाती है। वार्ता दोनों के मध्य कहीं काव्य की ओर झुक जाती है, कहीं अध्यात्म की ओर। फलस्वरूप काव्य-सृजन और आध्यात्मिक मौलिक सिद्धान्त– दोनों ही दृष्टियों से अनेक महत्त्वपूर्ण पक्ष अपना सौन्दर्य बिखेरते चलते हैं।

पूरा ग्रन्थ चार खण्डों में विभाजित है :

१. संकर नहीं : वर्ण-लाभ २. शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं
३. पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन ४. अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख

आचार्यजी के हृदय में पीड़ा है :

"हे स्वामिन् !/समग्र संसार ही/दुःख से भरपूर है
यहाँ सुख है, पर वैषयिक/और वह भी क्षणिक !" (पृ. ४८४-४८५)

और उनकी निश्चित आस्था है :

"बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का
आमूल मिट जाना ही/मोक्ष है।" (पृ. ४८६)

दोषों के जल जाने पर ही वास्तविक जीवन जीने का सामर्थ्य मनुष्य हासिल करता है :

"मेरे दोषों को जलाना ही/मुझे जिलाना है।" (पृ. २७७)

और यह सब ज्ञान उपलब्ध होता है सन्तों के नैकट्य से :

"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है
संसार का अन्त दिखने लगता है।" (पृ. ३५२)

क्षमा, मैत्री, बोध का विकास, क्रोध का शमन–ये सब ही जीवन को जीने योग्य बनाते हैं। इसलिए :

"पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से/घृणा करो !"(पृ. ५०-५१)

तन और मन को तप की आग में जो जलाता है, समयोचित कार्य जो करता है उसको ही शान्ति, सुख, आनन्द, दिव्य-भाव प्राप्त होता है :

- *"नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।" (पृ. ५१)*
- *"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर*
  जला-जला कर/राख करना होगा।" (पृ. ५७)

आस्था ही वह मूल है जो आचरण को पुष्पित, पल्लवित, सफल बनाती है। उसको ही सींचना है :

- *"आस्था के बिना आचरण में/आनन्द आता नहीं, आ सकता नहीं।*
  फिर, आस्थावाली सक्रियता ही/निष्ठा कहलाती है।" (पृ. १२०)
- *"आघात मूल पर हो/द्रुम सूख जाता है,*
  दो मूल में सलिल तो''/पूरण फूलता है।" (पृ. १२५)

आचार्यजी की करुणा से भरपूर कोमल दृष्टि गरीबों की टपकती कुटिया से लेकर जीवन के सभी पक्षों पर गई है। कहीं- कहीं पर जीवन में काम आने वाली बड़ी ही साधारण बातों का उल्लेख है :

- *" आधा भोजन कीजिए/दुगुणा पानी पीव।*
  तिगुणा श्रम चउगुणी हँसी/वर्ष सवा सौ जीव !" (पृ. १३३)
- *"आमद कम खर्चा ज्यादा/लक्षण है मिट जाने का*
  कूबत कम गुस्सा ज्यादा/लक्षण है पिट जाने का !" (पृ. १३५)

जीवन के कटु सत्य का उल्लेख बड़ी ही सीधी भाषा में एक स्थल पर किया गया है :

"भोग पड़े हैं यहीं/भोगी चला गया,
योग पड़े हैं यहीं/योगी चला गया।" (पृ. १८०)

मन्त्र के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की बातें कही जाती हैं। आचार्यजी ने इस सम्बन्ध में बड़े पते की बात कही है :

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है।" (पृ. १०८-१०९)

मोक्ष से सम्बन्धित स्थापना भी बड़ी सहज, सटीक है :

"अपने को छोड़कर/पर-पदार्थ से प्रभावित होना ही
मोह का परिणाम है/और/सब को छोड़कर
अपने आप में भावित होना ही/मोक्ष का धाम है।" (पृ.१०९-११०)

मन का अस्तित्व ही मनुष्य को अनेक प्रकार की विकृतियों से जकड़ता है। अहंवादी बनाता है। विनय से दूर रखता है। 'मूकमाटी' में बड़ी सूझ-बूझ से कहा गया है :

"मन की छाँव में ही/मान पनपता है
मन का माथा नमता नहीं/न-'मन' हो, तब कहीं
नमन हो 'समण' को/इसलिए मन यही कहता है सदा–
नम न ! नम न !! नम न !!!" (पृ. ९७)

जन-मानस में प्रचलित अनेक कहावतों और सूक्तियों का भी आकर्षक प्रयोग इस ग्रन्थ में मिलता है :

- *" बायें हिरण/दायें जाय--/लंका-जीत/राम घर आय।" (पृ. २५)*
- *"जब दवा काम नहीं करती/तब दुआ काम करती है।" (पृ. २४१)*
- *" काँटे से ही काँटा निकाला जाता है।" (पृ. २५६)*

कहीं-कहीं ऐसी कहावतों पर सुन्दर भाषा का, कथन शैली की मौलिक भंगिमा का आवरण भी दीखता है :

" जब सुई से काम चल सकता है/तलवार का प्रहार क्यों ?
जब फूल से काम चल सकता है/शूल का व्यवहार क्यों ?" (पृ. २५७)

उर्दू की प्रसिद्ध उक्ति 'दर्द का हद से गुज़र जाना ही है दवा हो जाना' को आचार्यजी ने इस प्रकार कहा है:

" पीड़ा की अति ही/पीड़ा की इति है।" (पृ. ३३)

आचार्यजी यों तो साहित्य से भिन्न नितान्त अलग प्रकार की परम्परा के महापुरुष हैं, किन्तु साहित्य के मर्म से वे भली भाँति परिचित हैं। वास्तविकता यह है कि जितना भी श्रेष्ठ साहित्य लिखा गया है, वह साहित्यकारों द्वारा नहीं, सन्तों द्वारा ही लिखा गया है। हिन्दी साहित्य का भक्ति युग इसका साक्षात् प्रमाण है। अत: आचार्य विद्यासागरजी का यह हित की भावना से सम्प्रेषित सद्ग्रन्थ 'मूकमाटी' निश्चय ही उनकी साहित्य सम्बन्धी स्वयं की उक्ति के मानदण्ड से, साहित्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

साहित्य के सम्बन्ध में आचार्यजी के शब्द हैं :

" हित से जो युक्त--समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है,
सुख का समुद्भव--सम्पादन हो/सही साहित्य वही है
अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड"
इसे, यूँ भी कहा जा सकता है/कि
शान्ति का श्वास लेता/सार्थक जीवन ही
स्रष्टा है शाश्वत साहित्य का।" (पृ. १११)

आचार्यजी के 'मूकमाटी' ग्रन्थ की आधुनिक आलोचक भले ही प्रशंसा न करें, किन्तु आचार्यजी ने जिस भाव से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ को मूर्तिमान् किया है, उस तक आज के साहित्यिक आलोचकों की पहुँच बहुत कम सम्भव है। अध्यात्म की दृष्टि, परहित समन्वित तप, सृष्टि के कण-कण को गुरु स्वरूप जानना-पहचानना-- इन सब बातों के लिए, आधुनिकतम मनोरंजनों के पीछे भागता मानव समाज अभी मानसिक रूप से तैयार नहीं है। फिर भी सन्त जन कृपा करके अपनी वाणी-समभाव से सभी तक पहुँचाने के सत् प्रयत्न में कभी भी श्रम का अनुभव नहीं करते। 'मूकमाटी' इसी सत्य का एक सुन्दर प्रतिमान है। ❑

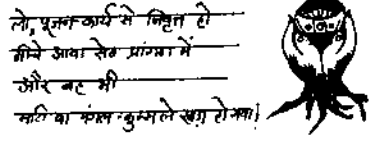

'मूकमाटी' और भारतीय अध्यात्म के चरण : सिंहावलोकन

डॉ. (श्रीमती) मंजु अवस्थी

जिस माटी से जीवन नि:सृत हुआ, उसी माटी में वह समा जाएगा, किन्तु माटी कितनी हमारे जीवन का अहं हिस्सा है, ये समझना आज हमारे लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। माटी, जिसे चरणों तले रौंदा जाता है, उसी माटी का एक सूक्ष्म कण यदि नेत्र में पड़ जाए तो नेत्र पीड़ा से कराह उठते हैं। 'मूकमाटी' के कथ्य को उन तमाम भक्त कवियों के दायरे में रखा जा सकता है, जिनके श्रेष्ठ विचारों से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है।

माटी को कथा नायिका के रूप में चित्रित कर आचार्यश्री ने अपनी भाव प्रवणता के साथ-साथ जैन धर्म-दर्शन को रूपायित किया है। आचार्यश्री वचन पर नहीं, प्रवचन में विश्वास करते हैं। प्रवचन की सारगर्भिता इस बात से प्रेय होती है कि हम उसके कथ्य को आत्मसात् कर सकें। माटी, जो पैरों तले रौंदी जाती है, उसकी व्यथा को कौन समझेगा ? जैनेन्द्रजी ने 'तत्सत्' कथा में जिस तरह सामान्य घास को और अज्ञेय ने 'हरी घास पर क्षण भर' में मूक घास को वाणी दी, उसी प्रकार सदियों से पीड़ित, दमित, दलित माटी को मुखरित किया है आचार्यश्री ने।

माटी का बना ये शरीर माटी में ही मिल जाता है, तब आज माटी के महत्त्व को पहचानने की सर्वाधिक आवश्यकता है। नश्वर है यह शरीर। इसे शाश्वत बनाया जा सकता है - कैसे ? अपने श्रेष्ठ कर्मों के द्वारा। जिस तरह माटी का कुम्भ विभिन्न परीक्षाओं से गुज़रता हुआ एक ऐसा कलश बन जाता है, जिसमें जल भरकर अतिथि का स्वागत किया जाता है, जो दूसरों के हित के लिए, तृषित की तृषा बुझाने के काम में समर्पित होता है, उसी तरह यह माटी का शरीर भी परहित में तत्पर होना चाहिए। देहधारण करने का अर्थ ही होता है कि पर-कल्याण हेतु मानव धर्म में दीक्षित होना, किन्तु कितने लोग इस तथ्य को ग्रहण कर पाए हैं। जैन धर्म तो 'करतल भिक्षा-तरुतल वास' में विश्वास रखता है, और वास्तव में ऐसे ही व्यक्ति परोपकार में निरत हो सकते हैं।

'मूकमाटी' के कथ्य को चार सोपानों में विभाजित कर अनेक उद्धरणों के माध्यम से कवि ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। प्रथम सोपान के आरम्भिक अंश को पढ़ते ही महाकाव्य के आरम्भिक प्रकृति चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। माटी की मूक पीड़ा, चरणों तले निरन्तर कुचली जाती माटी की कसकन, किसी से कह न पाने की पीड़ा को अभिव्यक्ति दी है आचार्यश्री ने। वास्तव में माटी की व्यथा कवि की व्यथा बन गई है। जननी की क्रोड़ में बैठी अबोध बालिका-सी माटी प्रश्न-पर-प्रश्न करती है, जिज्ञासाओं का अन्त नहीं है। धृति धारणी माँ धरा उसकी माँ है। अपने निश्छल वात्सल्य से सम्पूर्ण सृष्टि को आप्लावित करती है माँ। भोली जिज्ञासाओं को उसी माँ के समक्ष रखती है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दु:ख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !/इसकी पीड़ा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !" (पृ. ४)

माटी की पीड़ा, आत्महीनता की भावना उसे पीड़ित कर रही है। वह आर्तभावना से पूछ बैठती है :

"इस पर्याय की /इति कब होगी ?/इस काया की
च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ५)

ये माटी कबीर की वाचाल माटी नहीं है, जो चीख-चीखकर शिल्पी से कहती है : "इक दिन ऐसा आयगा, जब मैं रौंदूँ तोह।" किन्तु यह माटी निरीह भी नहीं है, क्योंकि उसे समाधान मिल जाता है :

"सत्ता शाश्वत होती है, बेटा !/प्रति-सत्ता में होती हैं
अनगिन सम्भावनायें/उत्थान-पतन की।" (पृ. ७)

उदाहरण दिया है कवि ने बरगद का बीज खसखस के दाने-सा सूक्ष्म होता है, किन्तु उचित समय में खाद, वायु एवं जल के संसर्ग से विशाल वटवृक्ष बन खड़ा हो, अनेक खग-कुलों को तथा श्रान्त/पथिक को आश्रय देता है और अनायास वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

संगति के प्रभाव का परिणाम कवि की दृष्टि में प्रत्येक प्राणी पर पड़ता है । यहाँ कवि पर कबीर की विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वर्षा के जल की एक बूँद सागर में गिरती है तो लवणयुक्त हो जाती है, सीपी में गिरती है तो श्वेताभ मुक्ता बन जाती है, विषधर के मुख में विष तथा चातक के मुख में सुधा-सम हो जाती है और कदली पल्लव पर गिरने पर कर्पूर बन जाती है। कबीर भी यही कहते हैं :

"मूरिष संग न कीजिए, लोहा जाति न तिराई।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बुँद तिहुँ भाई॥"

आचार्यश्री ने जिस पुरुषार्थ की चर्चा की है, वह हमें 'गीता' (२/४७) में कृष्ण के द्वारा और दिनकर रचित 'कुरुक्षेत्र' में भीष्मपितामह द्वारा दिए गए उपदेशों में भी मिलती है। अपने ही बन्धु-बान्धवों को युद्धरत देख वैराग्यकामना करने वाले अर्जुन और मृतक बन्धु-बान्धवों को देख हताश युधिष्ठिर को पुरुषार्थ का महत्त्व बताते हुए यही तो कहा गया था :

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।"

आचार्यश्री के शब्दों में :

"किसी कार्य को सम्पन्न करते समय
अनुकूलता की प्रतीक्षा करना/सही पुरुषार्थ नहीं है।" (पृ. १३)

इन पंक्तियों ने कवि को हठयोग के माध्यम से ब्रह्म ज्ञानमार्गी भक्त कवि कबीर, प्रेममार्गी कवि जायसी, सूर, तुलसी आदि भक्त कवियों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। बैर, द्वेष का त्याग मनुष्य को निश्चय ही श्रेष्ठ व्यक्ति बना देता है।

माटी को नया रूप, नया आकार देने का काम करेगा शिल्पी, जिसकी उसे प्रतीक्षा है। भक्त को भगवान् तब तक नहीं मिलते जब तक पूर्ण समर्पण का भाव भक्त में नहीं होता। जब द्रौपदी ने दोनों हाथ उठा अपने 'स्व' को समर्पित कर आर्तकण्ठ से प्रभु को पुकारा तो प्रभु दौड़े आए। माटी को नए जीवन का आरम्भ करना है, लक्ष्य प्राप्ति करनी है। प्रतीक्षा के लम्बे क्षणों की आतुरता में प्रकृति का कण-कण, ओस कण, निर्झर का कल-कल निनाद, अन्धकार आदि उसे आज एक नए उल्लास का भान कराते हुए अपनी ओर खींच रहे हैं, और तभी प्रभात की प्रथम किरण जाग उठी, माटी की दृष्टि अपने शिल्पी पर पड़ी।

आज माटी अपना 'स्व' उसी शिल्पी के हाथों सौंपने को उत्सुक है। शिल्पी कुदाली से माटी के माथे पर आघात कर रहा है किन्तु माटी समर्पण की आशा में प्रसन्न है, क्योंकि वह अब समझ गई है :

"बाहरी क्रिया से/भीतरी जिया से/सही-सही साक्षात्कार
किया नहीं जा सकता।/और/गलत निर्णय दे
जिया नहीं जा सकता।" (पृ. ३०)

बोरी में भरी हुई माटी की तुलना नववधू की लजीली चितवन से कर एक नई दृष्टि दी है।

गदहे की पीठ पर लदी माटी की बोरी की रगड़ से आहत पीठ की कल्पना मात्र से सिहरती हुई माटी स्वयं को दोषी मान बैठती है और द्रवित हो उसकी पीड़ा से सहभागी बनने की भावना भाती है, जो भारतीय संस्कृति की सौहार्द्र और करुणा की अजस्र धारा से जुड़ी हुई है। जैन धर्म अहिंसा और प्रेम तथा विश्व बन्धुत्व की जिस महान् धारा से आज के मनुष्य को जोड़ता है, वही मानव धर्म है। दया और करुणा दोनों ही विपरीत मनोविकार हैं। आचार्य शुक्ल ने करुणा को परिचित-अपरिचितों की सीमा के परे नि:स्वार्थ भाव से पर-दु:खकातर हो कर, दु:ख दूर करने की प्रवृत्ति कहा है, जबकि दया के साथ ही स्वार्थ भाव जुड़ जाता है। वासना और दया में कवि ने भेद किया है :

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ. ३८)

इसी करुणा भाव से आप्लावित है 'गदहा', जिसकी बौद्धिक सोच को कवि ने अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रित किया है :

"मेरा नाम सार्थक हो प्रभो !/यानी/'गद' का अर्थ है रोग
'हा' का अर्थ है हारक/मैं सबके रोगों का हन्ता बनूँ/···बस,
और कुछ वांछा नहीं/गद-हा···गदहा···!" (पृ. ४०)

माटी का मानसिक तादात्म्य गदहा के अन्त:करण से हो जाता है, तब "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" की सूक्ति चरितार्थ होती है। उपाश्रम की कवि कल्पना अद्‌भुत है :

"जीवन का 'निर्वाह' नहीं/'निर्माण' होता है।" (पृ. ४३)

माटी को चालनी से चालने की क्रिया अध्यात्म का वह सोपान है, जहाँ भक्त अपने समस्त अहंकार का त्याग कर सद्‌गुणी, मृदुभाषी, मितभाषी हो जाता है। जो दूसरों के दु:ख से दु:खी न हो, ऐसा व्यक्ति हृदयशून्य कहलाता है। ऐसा व्यक्ति मानव धर्म की महत्ता नहीं समझ सकता। गाँधीजी ने कहा था : "पापी से नहीं, पाप से घृणा करो"। कवि नर से नारायण बनने की कल्पना करते हुए कहता है :

"संयम की राह चलो/राही बनना ही तो/हीरा बनना है/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही··ही··रा।" (पृ. ५६-५७)

संयम, अहिंसा, भारतीय धर्म साधना की ऐसी देन है, जिसे कवि भी नकार नहीं सका है। भौतिक सुख-सुविधाएँ व्यक्ति को असंयमित बना देती हैं, इसके बारे में आचार्यश्री ने अपने विचार इस रूप में प्रस्तुत किए हैं :

"संयम के बिना आदमी नहीं/यानी/आदमी वही है/जो यथा-योग्य
सही आ···दमी है/हमारी उपास्य-देवता/अहिंसा है/और
जहाँ गाँठ-ग्रन्थि है/वहाँ निश्चित ही/हिंसा छलती है।
अर्थ यह हुआ कि/ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है।" (पृ. ६४)

बौद्ध धर्म की करुणा तथा जैन धर्म की अहिंसा ही उनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है, जिसे 'धम्मो दया-विसुद्धो' तथा 'धम्मं सरणं गच्छामि' के द्वारा जाना जाता है। दैहिक सुख इस नश्वर देह को कुछ देर के लिए आकर्षित अवश्य करता है, किन्तु सभी यह जानते हैं कि यह संसार ही मिथ्या है, नश्वर है, फिर अपना बहुमूल्य जीवन क्यों व्यर्थ किया जाए ? कबीर ने इस धारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है :

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानुस की जाति।
देखत ही छिप जाँहिंगे, ज्यूँ तारा परभाति॥"

सूर और तुलसी ने भी जीवन की क्षणभंगुरता को दृष्टि में रख, व्यक्ति को इस जीवन में मानव धर्म का निर्वाह करने की बात कही है।

छायावादी कवयित्री महादेवी भी इस क्षणभंगुरता को ध्यान में रख कर कहती हैं :

"विस्तृत नभ का कोई कोना,/मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही/उमड़ी कल थी मिट आज चली!"

प्रेम की जो अजस्र धारा सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों से प्रवाहित होती है, जिसमें "वसुधैव कुटुम्बकम्" की भावना दृष्टिगोचर होती है, उसे आज भी जीवन की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता माना जाता है। यह प्रेम का वह उच्च स्वरूप है, जिसके कारण आज मानव 'मानव' कहलाने योग्य है। सन्दर्भ बदलते हैं, किन्तु अर्थ वही रहता है। कवि ने इसे एक नवीन अभिव्यक्ति दी है :

" "वसुधैव कुटुम्बकम्"/इसका आधुनिकीकरण हुआ है
वसु यानी धन-द्रव्य/धा यानी धारण करना/आज
धन ही कुटुम्ब बन गया है/धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।" (पृ. ८२)

और आज जो भाई के रक्त का प्यासा भाई हो रहा है, पिता-पुत्र, सगे-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव भी परस्पर ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा और प्रतिशोध की अग्नि में दग्ध हो रहे हैं, आपाद-मस्तक असत्, बेईमानी, काला बाजारी, भ्रष्टाचार में अवगाहन कर रहे हैं तो क्या आज भी इन बदले हुए सन्दर्भों में यह उक्ति चरितार्थ हो सकती है? आचार्यश्री इसी की आवश्यकता को अभिव्यक्ति देने के लिए माटी और मछली के संवाद द्वारा दया, धर्म, प्रेम, अहिंसा जैसे मानव धर्म की ओर सामान्य जन को खींचकर लाना चाहते हैं।

माटी में निर्मल जल मिला, उसे आकार देना भी एक अध्यात्म की प्रक्रिया है। जब तक निर्मल जल रूपी ब्रह्म का निर्मल ज्ञान व्यक्ति को नहीं मिलता, तब तक वह न तो स्वयं को पहचानता है और न ब्रह्म को। निर्मल ज्ञान की प्रतीति शिल्पी गुरु द्वारा होती है, जो अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहता है। इस गुरुज्ञानी की संगति मात्र से ही हृदय का समस्त कालुष्य का परिक्षालन हो जाता है और जीव को एक नए परिवर्तन का आभास होता है :

"ज्ञानी के पदों में जा/अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।
अस्थिर को स्थिरता मिली/अचिर को चिरता मिली
नव-नूतन परिवर्तन···!" (पृ. ८९)

और यही परिवर्तन उसे प्रेम और श्रेय के मार्ग में प्रविष्ट करा उसे ही मानव का स्वभाव बना देता है।

पुरुष और प्रकृति का मिलन ही इस सृष्टि का सार है। पुरुष का निवास ब्रह्माण्ड में है। शक्तिरूपिणी प्रकृति जब षट्चक्रों से ऊर्ध्वगति को प्राप्त कर पुरुष से जा मिलती है तो मानव साधना के जिस सर्वोच्च शिखर पर जा पहुँचता है, तब वहाँ सांसारिक विषय-वासनाएँ, इन्द्रिय सुख, मोह, लोभ, क्रोध और मद आदि सब अपना अर्थ खो चुकते हैं, किन्तु सभी तो उस उच्च स्थिति तक नहीं पहुँच पाते। जो अज्ञानी हैं, वे अपनी स्थिति को विस्मृत कर प्रतिशोध, ईर्ष्या की अग्नि में जलते हैं। वर्तमान समाज में काँटे का उद्धरण दे कवि ने जो चित्र अंकित किया है, उसे चित्रित करने का अर्थ ही यह है कि कवि व्यक्ति को समझा सके कि उसके जीवन का उद्देश्य यह नहीं है :

"बदले का भाव वह राहु है/जिसके/सुदीर्घ विकराल गाल में
छोटा-सा कवल बन/चेतनरूप भास्वत भानु भी
अपने अस्तित्व को खो देता है।" (पृ. ९८)

इसलिए व्यक्ति को प्रतिशोध भाव से बचना चाहिए। भारतीय संस्कृति में वर्णित आर्येतर संस्कृति में गन्धर्वों के देवता के रूप में कामदेव की स्थापना है, जो मनसिज है। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में 'मार विजय' के अनेक प्रसंग वर्णित हैं। पौराणिक गाथाओं में भी 'मदन संहार' का अनेक स्थलों पर चित्रण मिलता है। शिव के प्रभाव से अनंग बन जाने वाले कामदेव की तुलना कवि ने शिव से की है :

"कामदेव का आयुध फूल होता है/और/महादेव का आयुध शूल।
एक में पराग है/सघन राग है/जिस का फल संसार है
एक में विराग है/अनघ त्याग है/जिसका फल भव-पार है।" (पृ. १०१)

पश्चिमी सभ्यता की ओर लोलुप दृष्टि से देखने वाले, और उसका अन्ध अनुसरण करने वाले व्यक्तियों के लिए कवि ने जो दृष्टिकोण रखे हैं, उन्हें नकारा नहीं जा सकता । एक ओर है भौतिक जगत् का, दैहिक सुख का, धन के दर्प का क्षणिक आनन्द तो दूसरी ओर है मन की शान्ति तथा सुख; एक ओर है मानवीयता की विनाश लीला की विभीषिका का ताण्डव नर्तन तो दूसरी ओर है मानव मूल्यों के प्रति आस्था एवं विश्वास; एक ओर है वैभव एवं आडम्बर का कुण्ठित जीवन तो दूसरी ओर है सर्वस्व त्याग कर दिशाओं को ही अम्बर मान कर लोक कल्याण के पथ पर अग्रसित होने वाला जीवन। कवि का यह तुलनात्मक दृष्टिकोण पौर्वात्य और पाश्चात्य सभ्यताओं का एक इतना महत्त्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट करता है, जिसके द्वारा हम अपनी संस्कृति और सभ्यता के गौरव को गहनता से स्वीकार करने को उद्यत हों।

कवि ने लोक कल्याण को प्रमुखता दी है। बौद्ध धर्म के जनक स्वयं बुद्ध ने कहा था :"चरथ भिक्खवे बहुजन-हिताय परिजन-सुखाय"। यह परिजन सुख ही मानव धर्म है और यही वास्तविक मानसिक सुख-शान्ति का प्रवेश द्वार है। व्यक्ति इहलोक के सुख की तुलना में पारलौकिक सुख की चिन्ता नहीं करता, किन्तु आचार्यप्रवर का कहना है कि सामान्यत: पारलौकिक सुख ही अभीष्ट होना चाहिए और यह ऐहलौकिक कर्मों द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् कर्म के महत्त्व पर कवि की दृष्टि है। जो कर्म 'स्वान्त:सुखाय' न हो, 'बहुजन-सुखाय' हो वही कर्म श्रेष्ठ होते हैं और ऐसे ही कर्मयोगी पारलौकिक सुख भोग कर पाते हैं, मोक्ष के अधिकारी होते हैं। भक्तिकालीन सभी भक्त कवियों ने इस आवागमन के चक्र से बचने का एक मात्र उपाय ऐहलौकिक सुख का त्याग बताया है। कवि ने इसी को अभिव्यक्ति दी है :

"हे काया ! जल-जल कर अग्नि से,/कई बार राख, खाक हो कर भी
अभी भी जलाती रहती है आतम को/बार-बार जनम ले-ले कर !" (पृ. ११२)

शिल्पी माटी को पैरों तले रौंदता है। चरण श्रम के प्रतीक होते हैं। हाथ तो माँगते हैं, अत: कायर होते हैं। किसी के समक्ष हाथ फैलाना हीन होना है, स्वाभिमान का त्याग करना है, जो मृत्यु तुल्य होता है। इसी प्रकार वाचा पर वश रखने से दु:खों का अन्त तथा सुख की सम्भावना बढ़ जाती है और चेतना के नए आयाम सामने आ जाते हैं :

"तन शासित ही हो/किसी का भी वह शासक–नियन्ता न हो।" (पृ. १२५)

कवि ने कुछ पारिभाषिक शब्दों की भी सुन्दर व्याख्या की हैं :

" 'सं' यानी समीचीन/'सार' यानी सरकना···
जो सम्यक् सरकता है/वह 'संसार' कहलाता है।" (पृ. १६१)

साहित्य शब्द को नए अर्थबोध के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है :

"हित से जो युक्त–समन्वित होता है/वह सहित माना है
और/सहित का भाव ही/साहित्य बाना है।" (पृ. १११)

इस 'साहित्य' में नव रसों की स्थापना की जाती है, जो सीधे व्यक्ति के हृदय पक्ष को स्पन्दित करते हैं। 'करुणा का रुदन' कवि हृदय की भावुकता को तो स्पष्ट करता ही है किन्तु साथ ही उसकी विस्तृत मीमांसा भी कवि करता है :

"करुणा की दो स्थितियाँ होती हैं–/एक विषय लोलुपिनी
दूसरी विषय-लोपिनी, दिशा-बोधिनी।" (पृ. १५५)

जल और बर्फ के उदाहरण से कवि ने जो रस परिपाक स्पष्ट किया है, वह अत्यन्त दुर्लभ है :

"करुणा तरल है, बहती है/पर से प्रभावित होती झट-सी।
शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी/जमाना पलटने पर भी
जमा रहता है अपने स्थान पर।" (पृ. १५६-१५७)

कला ही जीवन का सत्य है और सुख की राशि है। कवि कहता है :

"स्वर संगीत का प्राण है/संगीत सुख की रीढ़ है
और/सुख पाना ही सब का ध्येय।" (पृ. १४३)

शिल्पी के द्वारा कुम्भ पर कुत्ते और सिंह की नक्काशी भी प्रतीक रूप में है। कुत्ता कुत्ते को देख कर गुर्राता है, किन्तु सिंह सिंह को देख कर साथ रहने की कामना करता है। हमारी संस्कृति सिंह की संस्कृति है। कुत्ते को यदि पत्थर मारो तो वह पत्थर को काटता है, किन्तु सिंह को पत्थर मारो तो वह कारण तलाशता है। कवि ने पाश्चात्य सभ्यता के प्रेमीजनों को 'श्वान संस्कृति' का उपासक मान, हीन दृष्टि से देखा है। आज जो परिवार विघटित हो रहे हैं, स्त्री-पुरुष के अटूट सम्बन्धों में दरार आ रही है, उसका एकमात्र कारण कवि की दृष्टि में व्यक्ति का श्वान-संस्कृति पर अनुरक्त होना ही है।

इस सुन्दर सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, सागर, जल, वायु आदि का अपना अलग महत्त्व है। बाँस के साथ मुक्ता निर्माण की सुन्दर कल्पना है। बाँस की बंसी और कण्ठ में मुक्तामाल ने कवि को नवीन दृष्टि दी है। साथ ही 'नारी' शब्द को नई अभिव्यक्ति दी है :

"कुपथ-सुपथ की परख करने में/प्रतिष्ठा पाई है स्त्री-समाज ने।
इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।/यही कारण है कि
इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी–/'न अरि' नारी···
अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···!" (पृ.२०२)

इसी प्रकार महिला, अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता, मातृ आदि सभी नारी पर्यायों की सुन्दर व्याख्या की

है। शिल्पी के गृह में मुक्ता वर्षा भी एक प्रतीक है। 'मुक्ता' शब्द का अध्यात्म के क्षेत्र में अर्थ समस्त वासनाओं से मुक्त होने की स्थिति मानी जाती है। कबीर ने इसका सुन्दर चित्रण किया है :

"मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगै, अब उड़ि अनत न जाहिं॥"

जायसी ने भी इस मुक्तावस्था का चित्रण किया है :

"रबि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥"

ये वे मोती हैं, जो चाहे वह इसे प्राप्त कर सकता है, किन्तु इसे प्राप्त करने में साधना रूपी श्रम अभीष्ट है। बिना साधना के हाथ कुछ भी नहीं लगता। केवल सांसारिक विषय-वासनाओं की पीड़ा ही झेलनी पड़ती है। साधना पथ की कठिनाई का चित्रण कबीर ने इस प्रकार किया है :

"यह तो घरु है प्रेम का, खाला का घरु नाहिं।
सीस उतारै भुँह धरै, सो पैठे इह माहिं॥"

जायसी ने भी जोगी वेषधारी रत्नसेन के समक्ष साधना मार्ग की अनेक कठिनाइयों का चित्रण कठिन समुद्रों और गहन वनों के माध्यम से किया है। छायावादी कवियों ने भी ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को कठिनाई-भरा माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि ईश प्राप्ति पथ पर बढ़ने के लिए आवश्यक मुक्तावस्था साधक को अत्यन्त कठिन प्रयास के पश्चात् ही कुछ पल के लिए मिलती है, तब इस दौर से गुज़रने के बाद कहीं भक्तिरूपी मुक्ता प्राप्त होती है। जो व्यक्ति सहज ही, बिना प्रयास इस मुक्ता को प्राप्त करना चाहता है, जायसी के अनुसार उसके हाथ में 'घोंघा' ही लगता है।

शिल्पी के मन में आए हुए तीन मनोविकारों के वर्णन के माध्यम से एक ओर तो कवि 'पृथ्वीराज रासो' काव्य के रचनाकार चन्द बरदाई की श्रेणी में आ खड़े होते हैं, जिन्होंने शशिव्रता विवाह प्रसंग में दो रसों का परिपाक अत्यन्त सुन्दरता से किया है कि पृथ्वीराज घोड़े की पीठ पर शशिव्रता का हरण करके बैठा है - दोनों हाथों से युद्धरत हो तलवार चला रहा है, आँखों में शशिव्रता के लिए अथाह प्रेम है। वीर और शृंगार का यह अद्भुत समन्वय रासो काव्य में अनेक स्थलों में मिलता है। जयशंकर प्रसाद ने भी घृणा और शृंगार का अद्भुत समन्वय अपनी 'पुरस्कार', 'आकाशदीप' आदि कहानियों में प्रस्तुत किया है। दूसरी ओर कवि ने राजा के मन में उदित भावों के माध्यम से जैन धर्म के अनुकूल सत्य और धर्म की जय की प्रतीति प्रस्तुत की है। यह कवि कर्म का कौशल है जो 'मूकमाटी' के कथ्य शिल्प के रूप में सामने आया है।

भारतीय धर्मग्रन्थों में महत्त्वाकांक्षा को तथा 'संचय' की प्रवृत्ति को हीन माना गया है। देखिए :

"साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥"

आज जैन धर्म बड़े-बड़े धनपतियों के हाथों में सीमित हो रहा है। कवि ने इसे 'सेठ के दान' के माध्यम से व्यक्त किया है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में कवि ने सागर और राहु के प्रसंग का चित्रण कर कालाबाज़ारी, भ्रष्टाचार, रिश्वत आदि सम-सामयिक समस्याओं पर प्रकाश डाला है। आचार्यश्री अपने आस-पास (समाज) की अनैतिकताओं से अनभिज्ञ नहीं हैं। वे वचन पर नहीं, प्रवचन पर विश्वास करते हैं। वे पापपूर्ण कर्म को ही अपराधी बनाने की प्रक्रिया मानते हैं,

क्रोध पाप का मूल है, वह विवेक का नाश कर दुर्बुद्धि को जन्म देता है :

"वराह-राह का राही राहु/हिताहित-विवेक-वंचित।" (पृ. २३८)

आज हमारी सर्वाधिक आवश्यकता आत्मशक्ति संचय की है। जब दवा, दया, दुआ सब परास्त हो जाएँ, तब आत्मशक्ति का ही आधार ले व्यक्ति जय प्राप्त करता है। इन्द्र का व्रज प्रहार, भीषण वर्षा, प्रलय का दृश्य, उपलवृष्टि आदि के पश्चात् सूर्योदय का प्रतीक ले कवि ने अनेक कष्टों के पश्चात् प्राप्त ईश सान्निध्य के सुखद पलों की, अज्ञान की घटाओं को विदार्ण कर उदित होते ज्ञान के प्रकाश की कल्पना की है। इन सबके बाद भी कुम्भ का निखरना भी हमें एक नवीन दृष्टि देता है कि अनेक विपदाओं के पश्चात् संघर्ष करते हुए जब व्यक्ति मुक्त होता है, परीक्षा में सफल होता है तब उसके हाथ जो एक नया स्वयम्भू व्यक्तित्व आता है, वह अद्वितीय होता है। व्यक्ति की यही जिजीविषा उसे संघर्षरत कर जीना सिखाती है।

लकड़ी की व्यथा को भी कवि ने एक नया अर्थ दिया है। जब तक कोई एक अपने को समाप्त नहीं करेगा, दूसरा स्थापित कैसा होगा ? लकड़ी जलेगी नहीं तो कुम्भ पकेगा कैसे ? लकड़ी का सम्बन्ध अग्नि के दाह से है, जिसके बिना व्यक्ति को अस्तित्व बोध हो नहीं सकता। स्वयं सीता माँ को भी अग्नि परीक्षा से गुज़रना पड़ा फिर यह तो सामान्य व्यक्ति रूपी कुम्भ है, जिसे इस कठिन परीक्षा से निकलकर अपने व्यक्तित्व का परिचय कराना है।

बिना उद्यम के कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता। कुम्भ को ऊपर उठाने वाले हाथ महान् हैं और इसके लिए उद्यम करना होगा। कहा भी है :

"उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥"

कवि ने ध्यान की महत्ता पर भी विचार रखे हैं :

"ध्यान की बात करना/और/ध्यान से बात करना
इन दोनों में बहुत अन्तर है।" (पृ. २८६)

'मूकमाटी' के अन्तिम सोपान में कवि अनेक ऐसे वर्णन करता है जो उसे अत्यन्त उच्चादर्शी व्यक्तित्व प्रदान करता है। अध्यात्म का शाब्दिक अर्थ ब्रह्मविचार या आत्मज्ञान से होता है। कवि ने इसे इस प्रकार वर्णित किया है :

"अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।
स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है।" (पृ. २८८)

इसी प्रकार श्रमण की सुन्दर व्याख्या कवि ने की है। वास्तव में 'श्रमण' शब्द बौद्ध भिक्षु या जैन साधुओं के लिए रूढ़ हो गया है, किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ 'श्रम करके संचरण करने वाला' है। कवि के शब्दों में देखिए - जो भिक्षा वृत्ति पर जीवित रहे, वह श्रमण है। अब भिक्षा वृत्ति जिसकी होगी, उसके लिए जिह्वा का स्वाद का प्रश्न नहीं रह जाएगा, क्योंकि जठराग्नि की शान्ति हेतु ही वह भोजन करेगा, इसे कवि ने साधु की 'गोचरी वृत्ति' कहा है। 'भ्रामरी वृत्ति' की व्याख्या करते हुए कवि ने भ्रमर से साधु की तुलना की है जो व्यक्ति संसार से ज्ञान ले और पवित्र भाव से संसार को सौंप देता है, वह श्रमण होता है। 'पात्र' शब्द का भी दो अर्थों में कवि ने प्रयोग किया है :

"पात्र से पानी पीने वाला/उत्तम पात्र हो नहीं सकता
पाणि-पात्र ही परमोत्तम माना है।" (पृ. ३३५)

इसी प्रकार 'अतिथि' शब्द के लिए उन्होंने उसकी महत्ता बताते हुए कहा है :

"अतिथि के बिना कभी/तिथियों में पूज्यता आ नहीं सकती
अतिथि तिथियों का सम्पादक है ना !" (पृ. ३३५)

सज्जनों के साथ मित्रता करना श्रेयस्कर है। कवि ने दुर्जन की संगत और सज्जनों की संगत से पड़ने वाले प्रभाव का चित्रण किया है। यह चित्रण 'नीति शतकम्' में भी इस रूप में हमें प्राप्त होता है :

"आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण, लघ्वी पुरा वृद्धिमुपैती च पश्चात्।
दिनस्य पूर्वार्द्धपरार्द्धभिन्ना, छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥" ५० ॥

सन्त की पहचान के सम्बन्ध में कवि ने सुन्दर वर्णन किया है :

"सदा-सर्वथा चरणों लखते/विनीत-दृष्टि हो चलते हैं।" (पृ. ३६०)

'श-ष-स' वर्णों को नए अर्थ में कवि ने प्रतिपादित किया है :

" 'श' यानी/कषाय का शमन करने वाला,/शंकर का द्योतक, शंकातीत,
शाश्वत शान्ति की शाला···!/'स' यानी/समग्र का साथी
जिसमें समष्टि समाती,/संसार का विलोम-रूप/सहज सुख का साधन
समता का अजस्र स्रोत···!/और/'ष' की लीला निराली है।
'ष' के पेट को फाड़ने पर/'ष' का दर्शन होता है—
'ष' यानी/पाप और पुण्य।" (पृ. ३९८)

काव्य के अन्त में कवि ने "सर्वे सुखिनः भवन्तु" के आधार पर कुछ तथ्य हमें सौंपे हैं :

"संहार की बात मत करो,/संघर्ष करते जाओ !
हार की बात मत करो,/उत्कर्ष करते जाओ !" (पृ. ४३२)

इसी से मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। कवि ने महाकाव्य के अन्त में कामना की है :

"यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय
छा जावे सुख-छाँव,/सबके सब टलें—/अमंगल-भाव।" (पृ. ४७८)

यही 'मूकमाटी' का कथ्य है, जिसे कवि ने प्रतीक कथा के रूप में प्रस्तुत किया है। अनेक प्रासंगिक कथाओं का आधार लेकर अध्यात्म की जिस उच्चभूमि में पहुँच कर व्यक्ति, अपनत्व को विस्मृत कर 'परम' में लीन हो जाता है, वर्तमान में श्वास-प्रश्वास लेता कवि, भक्ति की दिव्यभूमि में पदार्पण कर 'सन्त' के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

'मूकमाटी' न केवल काव्य ग्रन्थ है वरन् यह आध्यात्मिकता की परमपूज्य भावनाओं से युक्त श्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें रासो काल का रस संगम है तो कबीर का ज्ञान योग भी; जायसी का पुरुष-प्रकृति प्रेम है तो सूर का वात्सल्य वर्णन भी; तुलसी का दर्शन है तो छायावादी कवियों का भाव सौन्दर्य भी; रीतिकाल का अलंकार चमत्कार है तो सम-सामयिक काव्य की बेबाक स्पष्टोक्ति भी। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'मूकमाटी' एक श्रेष्ठ अध्यात्म रस पूर्ण महाकाव्य है।

□

'मूकमाटी' में मानवीय बोध

डॉ. ब्रजेश कुमार द्विवेदी

कविता जीवन का भावपूर्ण चिन्तन होती है। कवि की संवेदनशीलता अपनी चेतना और चुनौतियों का संवहन करती हुई मानव जाति के रागात्मक अर्थों की प्रभावी प्रतीति को प्रकट करती है। कविता साधारण-जन की असाधारण क्षमता और संकल्प तथा सामर्थ्य की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति है।

कवि को ऋषि की संज्ञा से अभिहित किया गया है। वह शरीर और मन से भी बहुत परे, बहुत गहरे संवेदनों और सरोकारों से जुड़ा होता है। इसीलिए जो शब्द सहज होते हैं, सरल होते हैं, वे कविता में बहुत गहरे अर्थ पकड़े हुए सारे समाज को झँकृत करते हैं। कवि शब्दों की शुभ्र स्निग्धता से समूची जड़ता में चैतन्य का प्रसार कर देते हैं। साधु-सन्त, ऋषि और मुनि भी जीवन और जगत् के रहस्य को सुलझाने हेतु ज्ञान के विविध अनुषंगों को पाने की कामना करते हैं। आचार्य श्री विद्यासागरजी ने अपनी कृति 'कुन्दकुन्द का कुन्दन'('समयसार' का काव्यानुवाद) में गुरु से कामना की है:

"दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझ को सुविद्या।
विद्यादि-सागर बनूँ, तज दूँ अविद्या ॥"

आचार्यश्री का समग्र रचना-संसार ज्ञान और विराग की सृजनात्मक कशमकश एवं अन्तःप्रज्ञा से प्रदीप्त भव्याचरण, प्रेम की अनन्त परिव्याप्ति और राष्ट्रीय संस्कृति के ताने-बाने से बुना है।

'मूकमाटी' रचनात्मक अर्थ में प्रेम-करुणा आदि की अजस्र तरलता से स्निग्ध, साधना की प्रखरता से मण्डित, संस्कृति की साँसों से चित्रांकित, मंगल घट की स्पृहणीय, पड़ाव-दर-पड़ाव अन्तर्यात्रा है। आध्यात्मिक पिपासा की तृप्ति का मंगल विधान है। आध्यात्मिकता के हजारों प्रश्नों के उत्तर खोजने की सात्त्विक एवं साहित्यिक यात्रा है।

माटी की विराटता और आन्तरिक भावबोध आत्म-कथात्मक शैली में अपने अस्तित्व व कृतित्व में गरिमामय अग्नितत्त्व को ढूँढ़ते हैं। यहाँ प्रेम की उन्मुक्त चेतना और उसकी महीनता के भीतर छिपी चिनगारियों को संयोजित कर युग-बोध और साधना की भूमि पर जीवन की सच्चाई को कवि ने समझा और परखा है।

अन्तर्दृष्टि की कसौटी पर कसकर, साधक की प्रखर बौद्धिकता को उदात्त मानवीय सरोकारों से सम्बद्ध कर उनकी आत्मनिष्ठता को काव्य में रूपायित किया है। कवि अपने व्यक्तित्व का संस्पर्श देकर साधक में ज़्यादा से ज़्यादा अपने भीतर की तलाश की शक्ति प्रदान करता है।

सम्पूर्णता के संकल्प से पुष्ट साधक आत्म-संघर्ष को प्रभावमय बनाता है। उसकी अनुभूति का विस्तार और चेतना का प्रवाह चारों दिशाओं को छू पाता है। कविता की अर्थवत्ता जगद्बोध और आत्मबोध की सूक्ष्म व्याख्या से जुड़कर विकसित होती है। यहाँ माटी की बाहरी दुनिया विविधता से परिपूर्ण है। सुन्दर और कलुष, कोमल और कठोर तत्त्वों से युक्त माटी प्रकृति के परिवेश का कलात्मक विधान बन कर वह कुम्हार के वैशिष्ट्य के रूप में कवि के भावबोध और विचारबोध को प्रकट करती है।

मूकमाटी गाँव-समाज के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा और जीवन दर्शन आदि के समूचे सौन्दर्य में एवं प्रेम की कोमलतम अनुभूतियों में प्रसार पाती है। और यह माटी ही शिल्पी की मानवीय प्रतिबद्धता तथा प्रेम की परिपक्वता, आत्म-परिष्कार के सूत्रों से जुड़कर धर्म के खाँचे में बैठकर भावशक्ति का व्यापक आधार बनती है। माटी की यह

वस्तुवत्ता ही श्रम, साधना, प्रेम तथा करुणा के गहरे संस्कार से ढल कर मंगल घट की संज्ञा पाती है। शिल्पी घट को अपनी निजता, श्रम-साधना एवं सांस्कृतिक चेतना से सम्पन्न कर भ्राँतियों से मुक्त करता है। घट सर्वमय-भाव से अपने प्रयोजन का विस्तार दूसरों में भी पाता है। यहाँ घट साधक की तपश्चर्या का मूर्तरूप है। साधक के आचार-विचार और क्षमता को शिल्पी अपने विराट् चिन्तन से अभिनव ज्ञान प्रदान करता है। घट में सत्त्व संशुद्धि और अभयभाव की प्रतिष्ठा कर उसे दृढ़ से दृढ़तर बनाता है। घट विधि रूप जीवन प्राप्त कर सर्वथा नित नव-ज्ञान का संवाहक बन जाता है। आचार्यश्री का कथन है :

"लो, अब शिल्पी/कुंकुम-सम मृदु माटी में/मात्रानुकूल मिलाता है
छना निर्मल-जल।/नूतन प्राण फूँक रहा है/माटी के जीवन में
करुणामय कण-कण में,/...माटी के प्राणों में जा,
पानी ने वहाँ/नव-प्राण पाया है,/ज्ञानी के पदों में जा
अज्ञानी ने जहाँ/नव-ज्ञान पाया है।" (पृ. ८९)

जैनाचार्य देवनन्दी पूज्यपाद स्वामी ने 'भक्ति' की व्याख्या करते हुए 'सर्वार्थसिद्धि' (६/२४/६५६) ग्रन्थ में लिखा है :"अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः।" अर्थात् अर्हत्, आचार्य, बहुश्रुत एवं आगम के प्रति भावविशुद्धि पूर्ण अनुराग 'भक्ति' है। यहाँ भक्ति का अर्थ विह्वलता एवं आस्तिकता नहीं अपितु ज्ञान की सम्पन्नता, आचार की शालीनता और जीवन में शुचिता है। मन की यह शुद्धता आराधना का संकल्प है, भक्ति का सघन आयाम है।

'मूकमाटी' में अन्तस्साधना की टेक से मुखरित प्रेम कई प्रकार से प्रकट हुआ है। आत्मनिष्ठा की मोदमयी संवेदना तात्कालिक सन्दर्भों का स्पर्श करती हुई जानी-पहचानी दुनिया को चित्रित करती है। आचार्यश्री का सौन्दर्यबोध आस्था के निरन्तर पुनराविष्कार एवं प्रखरतर साधना के संकल्प का आह्वान करता है। वे जीवन के निहित खतरों से सावधान करते हुए आत्मबोध एवं इस भाव के कार्य-कारण सम्बन्ध की खोज करते दिखाई पड़ते हैं। प्रेम और निर्वाण के पथ पर आगे कदम बढ़ाने के लिए कृतसंकल्प साधकों में बड़ी गम्भीरता से जीवन के सूक्ष्म विश्लेषण की चेतना जगाते हैं। साधक के द्वैत को समाप्त कर उसे भगवत्ता की अनुभूति कराते हैं। यही भगवत्ता की निशिवासर अनुभूति ही शिल्पी की आध्यात्मिक अवधारणा है। यही शिल्पी के ज्ञान का शिखर और प्रेम का सच्चा स्वरूप है, जिसकी कृति, श्रम और पसीने के सौन्दर्य से 'मंगल घट' आकार पाता है, परिपक्व होता है।

मनुष्य की नश्वरता के अतिक्रमण, आत्मज्ञान एवं वीतराग भाव से पुष्ट जैन धर्म के मूल तत्त्वों का वैचारिक निरूपण 'मूकमाटी' के प्रीतिकर सन्दर्भ हैं। कल्पनाप्रसूत प्रसंगों के माध्यम से मानवीय संवेदना की निहित सच्चाई और आर्द्र माटी की उज्ज्वल छवि का दर्शन कवि ने आधुनिकता के सन्दर्भ में भी किया है। वर्तमान सन्दर्भों को उकेरते, अनेक पदों में पतनशील मूल्यों के खोट से झाँकते अवबोध का वर्णन कम नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक शक्ति, स्रोतों एवं उनकी विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन एवं सामाजिक सन्दर्भ में विकास का भावप्रवण वर्णन है।

उच्चवर्गीय जनों की असहिष्णुता, गरीबों का सौहार्द, प्रेम, आत्मीयता और संवेदना के मानदण्डों का वर्णन 'मूकमाटी' में मिलता है। उदाहरणार्थ :

"क्या सदय-हृदय भी आज/प्रलय का प्यासा बन गया ?
क्या तन-संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?

क्या धन-संवर्द्धन हेतु/शर्म ही बेची जा रही है ?'' (पृ. २०१)

इस निर्मम सचाई में सामाजिक सरोकारों की तरफ इशारा तो है ही, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के तमाम सवालों पर भी चिन्तन है। संस्कृति और समाज को लेकर यह चिन्ता सम्पूर्ण मानव समाज के कल्याण के परिप्रेक्ष्य में आदमियत की परख और उसकी नियति को सजग चुनौती है जो सब कुछ मूक भाव से सहन कर रहा है। तपोनिष्ठ सन्त, समर्पित रचनाकार और उदार दृष्टि से सम्पन्न मनीषी के समाजकल्याण से अभिप्रेत मानव के आचरण का विस्तार और आत्मबोध की साधना है। शुद्धतम भाव से सत्य का मंगल-विधान कोरी भावुकता नहीं, ऋषि की मनीषा का उल्लास और मानवीय चेतना का प्रशस्त मार्ग है।

मिट्टी की आत्मकथा को आधार बनाकर धर्म, समाज एवं संस्कृति आदि के प्रसंगों की उद्भावना और लोक जीवन के ताने-बाने में दार्शनिकता से जुड़े सवालों पर विमर्श एक वृहत्तर रचनात्मक मूल्य का रेखांकन है। यहाँ वे सवाल हैं जो अस्तित्वगत अर्थों से विकसित होते हुए मानवीय सम्बन्धों को नकारते हैं। यह प्रश्न अबूझ पहेली बनकर बार-बार व्यक्ति और समाज के दो ध्रुवों पर खड़े व्यक्ति की जिजीविषा का अभिषेक आँसुओं से करता है।

'मूकमाटी' की शब्द साधना में कवि माया के कुहासे और बादलों की घटाटोप में छिपी उस जीवन की सच्चाई को ढूँढ़ता है जो कड़वी है पर शाश्वत एवं अन्तर्विरोधों से अलहदा है। यह सवाल ही कवि और पाठक की जागरूकता को आश्वस्ति देता है। स्वप्निल कामना से मुक्त सत्य की साधना और उसकी सम्भावनाशील ऊँचाई प्राप्त करने की ललक पैदा करता है। व्यक्ति व समाज के व्यावहारिक जीवन पर केन्द्रित मूल्यों को भी आध्यात्मिक उत्कर्ष प्रदान कर कवि उनकी महत्ता अनन्तगुना बढ़ा देता है।

उल्लेखनीय है कि आचार्यश्री ने मानव जीवन का ज़िक्र बहुत सहज तरीके से करते हुए उनके अन्तर्विरोध का निरूपण एक जागरूक समाजशास्त्री के रूप में किया है। ऐसा करते हुए व्यक्ति व समाज के अन्दर के ज़ख्म को भी कुरेदने की भरपूर कोशिश 'मूकमाटी' में है। उदाहरणार्थ :

''सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।'' (पृ. ७१)

भारतीय समाज संस्कृति की उज्ज्वल धारा से निर्मल होता है। उसकी छवि को संवेदना की सचाई निरन्तर परखती है। देश-काल की बाधाओं का अतिक्रमण कर ऋषि-मुनियों की प्रखर मनीषा व्यक्ति और समाज को आरोग्य और बोधि की शक्ति से प्राणवान् बनाती है। ऐसा करते हुए जीवन और जगत् की व्यापक तस्वीर उनके सामने होती है। करुणा-कामना से प्रदीप्त आचार्यश्री का कथन द्रष्टव्य है :

'' 'वसुधैव कुटुम्बकम्'/इस व्यक्तित्व का दर्शन-/स्वाद - महसूस
इन आँखों को/सुलभ नहीं रहा अब''!...
...हाँ-हाँ !/इतना अवश्य परिवर्तन हुआ है/कि/''वसुधैव कुटुम्बकम्''
इसका आधुनिकीकरण हुआ है/वसु यानी धन-द्रव्य
धा यानी धारण करना/आज/धन ही कुटुम्ब बन गया है
धन ही मुकुट बन गया है जीवन का।'' (पृ. ८२)

'मूकमाटी' काव्य चार खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ', द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं', तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' और चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' शीर्षक में विभक्त है।

'मूकमाटी' में भारतीय समाज, संस्कृति और उसके सौन्दर्य का जैन धर्म के सन्दर्भ में भी वर्णन है। उसका मूल भाव है—समग्र जीवन प्रणाली का परिष्कार। निशा का अवसान और उषा की शान।

पूरे प्रसंग के भावात्मक विवेचन में सैद्धान्तिक नियति और उसके प्रत्यक्षीकरण की कामना परिलक्षित होती है। इसीलिए गहरे भावान्तरों में विद्यमान जनजीवन की छवि और उससे उमड़ता करुणा का भाव रचना-यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु है। इन भावों के प्रत्यक्षीकरण हेतु कवि जिन बिम्बों की तलाश करता है, उसमें जीवन और प्रकृति के सत्य एक साथ खुलते हैं। प्रकृति का कमनीय सौन्दर्य प्रेम के निःस्पृह अलंकरण से विभूषित होकर ऋषि की महिमा का पर्याय बन जाता है। उषा की चिन्मय लाली विराट् परिप्रेक्ष्य में मानवीय कामना की दीप्ति बन माटी के अर्थ की गहनता को बढ़ाती है।

प्रथम खण्ड में वर्णित प्रकृति का सौन्दर्य विभिन्न सन्दर्भों में, बहुआयामी अर्थ में, लोकजीवन के सामूहिक अवचेतन की सम्यक् एवं व्यापक तलाश प्रतीत होता है। सूर्य की प्रथम अरुणिम किरण का संस्पर्श माँ की गोद में मचलते शिशु की भाँति सारे जगत् को मृदुल किलकारियों से भर देता है। रागात्मक सम्भावनाओं के विपुल उल्लास में डूबी कुमुदनी और कमलिनी के प्रेम की परिव्याप्ति एक चुनौती बन जाती है। ठीक नारी जीवन के स्वाभाविक एवं द्वन्द्वात्मक रिश्तों की भाँति प्रकृति का प्रेम भी परिभाषित होता है।

आचार्यश्री ने प्रकृति के माध्यम से नारी हृदय की व्याकुल वेदना को प्रत्यक्ष कर, स्वकीयता के भीतर छिपी दयनीयता को अंकित किया है :

"अबला बालायें सब/तरला तारायें अब/छाया की भाँति
अपने पतिदेव/चन्द्रमा के पीछे-पीछे हो/छुपी जा रहीं
कहीं···सुदूर···दिगन्त में···/दिवाकर उन्हें
देख न ले, इस शंका से।" (पृ. २)

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि मानव जीवन की संवेदना और निहित सचाई को आत्मसात् कर आचार्यश्री ने मानवीय प्रश्नों को अपने चिन्तन का अनिवार्य हिस्सा माना है। इसीलिए माटी दार्शनिक विवेक के साथ नारी के संघर्ष की कथा का बयान कर समाज में उसकी उज्ज्वल छवि की कामना करती है।

नारी संघर्ष पर आधारित यह समाज-चिन्तन आचार्यश्री की मानवीय चेतना का परिणाम है। 'मूकमाटी' के प्रथम खण्ड में मानव जीवन के मूल्यों और उसकी छुअन की पवित्रता एवं अम्लानता का सर्वोपरि महत्त्व है। जैन धर्माचार्य इसे ही 'सम्यक्-ज्ञान' का अंग मानते हैं। कलियुग और सत्-युग की व्याख्या में दार्शनिक वैशिष्ट्य के साथ जीवन की स्थूल संवेदनाओं में आस्था और विश्वास की अनिवार्यता के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ :

"एक का जीवन/मृतक-सा लगता है/कान्तिमुक्त शव है,
एक का जीवन/अमृत-सा लगता है/कान्ति-युक्त शिव है।
शव में आग लगाना होगा,/और/शिव में राग जगाना होगा।
समझी बात, बेटा!" (पृ. ८४)

'मूकमाटी' में माटी की वेदना में सांस्कृतिक पक्ष, आत्म-संघर्ष और करुणा का भाव मानवीयता के प्रति सच्ची निष्ठा का परिणाम है। सूर्य की प्रथम किरण की ज्योतिर्मय आभा यहाँ आत्मसाधना के पथ को प्रशस्त कर तथा सत्य के साक्षात्कार की संकल्प-शक्ति को तीव्र से तीव्रतर रूप में साधक बनकर शिल्पी का कर्म-प्रवाह बन जाती है। यह संकल्प-शक्ति साधक को बोध और समाधि की साधना को रसहीन होने से बचाती है। इन मूल्यों से जुड़े अनुशासन के प्रति आग्रह साधक और शिल्पी की स्वाभाविक प्रकृति बन जाते हैं।

बोधि और समाधि के साधक की भाँति माटी को मंगल घट का आकार पाने के लिए परिशोधन की विभिन्न प्रक्रियाओं से गुज़रना पड़ता है। तभी न गलने वाले कंकरों से मुक्त, वर्णसंकर से विहीन शुद्ध सात्त्विक माटी को कूटकर शिल्पी उसे ज्ञान की गरिमा और साधना की शक्ति को स्निग्ध कर मंगल घट की संरचना का शाश्वत विधान करता है।

खण्ड-दो 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' एक प्रतीकवादी विमर्श है। यहाँ प्रतीक की अवधारणा इतनी व्यापक है कि सांस्कृतिक अस्मिता, मानवीय समग्रता और आत्मबोध आदि अलग-अलग तथ्य धूल, फूल और शूल के रूप में अभिव्यक्ति पाते हैं। सत्य, अहिंसा, करुणा आदि चिन्तन के महत्त्व को प्रकट करने वाले बिम्बों में इन्हीं की समस्याओं पर पुनर्विचार का प्रतीकीकरण है।

सामाजिक सरोकारों, सांस्कृतिक गौरव और सत्य के मंगल घट में प्राणप्रतिष्ठा हेतु कुम्हार माटी में विद्यमान समग्र तत्त्वों का परीक्षण कर उसे अवाँछनीय तत्त्वों से रिक्त कर देता है। इस प्रकार मानव जीवन का चरम अभीष्ट जटिलतर मूल्यों का बार-बार परीक्षण कर श्रेय और प्रेय से पुष्ट मंगल घट का रचनाकर्म कुम्हार की महत्ता को चिह्नित करता है।

आचार्यश्री का यह भावुकतापूर्ण चिन्तन ज्ञान और जिज्ञासा का ही नहीं, प्रेरणा का भी विषय है। इसीलिए जीवन के अनुकूल और प्रतिकूल साक्ष्यों को प्रस्तुत कर अन्तस्संघर्ष में व्यंजित होने वाली आकुलताओं का इस खण्ड में गहन विमर्श मिलता है। आकुलताओं के अनेक स्तर हैं– संस्कारों की हीनता की आकुलता, विषमता और विशृंखलता की आकुलता, सात्त्विकता की चिन्ता। जन-जन में व्याप्त इस छद्म को दूर कर उसे प्रकृति की शक्ति से प्राणवान् बनाना 'मूकमाटी' की कविता का सांस्कृतिक आधार है। आचार्यश्री का कथन है :

"वसन्त चला गया/उसका तन जलाया गया,/तथापि
वन-उपवनों पर, कणों-कणों पर/उसका प्रभाव पड़ा है
प्रति जीवन पर यहाँ;/रग-रग में रस वह/रम गया है रक्त बनकर।"(पृ. १८६)

आचार्यश्री ने संकीर्णताओं और विषमताओं को मिटाकर 'सम्यक् दर्शन' का अनुगमन प्रवृत्ति और निवृत्ति-मूलक दोनों विचारकों के लिए श्रेयस्कर माना है। जैन दर्शन में स्वीकृत मूल्य मानवीय सत्य का साक्षात्कार है। राग-विराग के समग्र विश्लेषण में यही वह जागृत शक्ति है जो ऋषि और मनीषी से साधक को जोड़ती है। प्रकृति तथा पुरुष के सम्बन्धों से संश्लिष्ट आख्यान और मिथक के द्वारा आचार्यश्री ने आत्मगत शक्तियों की पुष्टि को प्रमाणित किया है। यहाँ यथासम्भव और यथाप्रमाण उन मानवीय मूल्यों को चिह्नित करना है जो संवेदनशीलता और दार्शनिक अर्थों में व्यक्ति को अधिक समर्थ बनाते हैं।

शास्त्रीय मान्यताओं को प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत कर मानवीय मूल्यों की तलाश भारत-भूमि के सर्जनात्मक चिन्तन को उद्घाटित करना ही भारतीय जन-जीवन में अधिक से अधिकतर विशालता की भावना का अवतरण करना है। उदाहरणार्थ :

"लोक-ख्याति तो यही है/कि/कामदेव का आयुध फूल होता है

और/महादेव का आयुध शूल।/एक में पराग है/सघन राग है
जिस का फल संसार है।/एक में विराग है/अनघ त्याग है
जिसका फल भव-पार है।" (पृ. १०१-१०२)

फूल से शूल का महत्त्व अधिक है। दूसरे शब्दों में फूल की चाह को शूल की शैया में नित नवविश्रान्ति मिलती है। इसीलिए काव्य का नायक शिल्पी शूल के प्रति कम आस्थावान् नहीं है :

"शिल्पी की ऐसी मति-परिणति में/परिवर्तन - गति वांछित है
सही दिशा की ओर"!/और/क्षत-विक्षत काँटा वह/पुनः कहता है—
शिल्पी कम-से-कम/इस मूल के लिए
शूल से क्षमा-याचना तो करे, माँ !" (पृ. १०४-१०५)

प्रकृति और पुरुष का मेल अध्यात्म, दर्शन और मानव धर्म के समुच्चय के मूल में है। इन दोनों का उत्कर्ष मानवीय सम्भावनाओं और गहरी रचनात्मक दृष्टि के लिए आवश्यक है। आचार्यश्री के साहित्य में भावपूर्ण चिन्तन, सह-अस्तित्व आदि का निरूपण आत्मालोचन के सन्दर्भ में भी कविता को प्राणवान् बनाता है। प्रेम और आस्था से समन्वित हृदय की स्वाभाविक परिणति शील है। शीलवान् व्यक्ति पद-पद पर प्रभु से यही प्रार्थना करता है :

"पदाभिलाषी बन कर/पर पर पद-पात न करूँ,/उत्पात न करूँ
कभी भी/किसी जीवन को/पद-दलित नहीं करूँ, हे प्रभो !" (पृ. ११५)

माटी और शिल्पी की लीला का रहस्य यह भी है कि शिल्पी मुक्त भाव से नदी की गति की भाँति धरा की उज्ज्वल छवि को निखारता है। बोधिभाव के विस्तार और नानाविध अम्लान मंगल घट को शिल्पी पुण्यनिधि बनाने की चेष्टा करता है। 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' की पूरी उत्तरकथा आचार-विचार, साहित्य और संस्कृति आदि के सन्दर्भ को विशेष अर्थ में प्रकट करती है। कवि ने प्रेम की गम्भीरता में माटी की सर्जनात्मक विश्वसनीयता का मार्मिक निरूपण किया है।

इसीलिए संवेदन की तीव्रता धार्मिक अर्थ से पुष्ट दार्शनिक गहनता का आभास देती है। सृजनात्मक अर्थ में आचार्यश्री की प्रातिभ निर्मलता, साधना-शक्ति सृजन के स्तर पर भी अधिक व्यापक, गहन और सूक्ष्म छाप छोड़ती है। साहित्य, समाज और संस्कृति आदि के प्रसंगों पर किसी भी सिरे से विचार करने पर आचार्यश्री के सृजन की सूक्ष्मता पाठक के लिए चुनौती के रूप में खड़ी होती है।

माटी का प्रस्थान बिन्दु सघन सांस्कृतिक चेतना से अनुप्राणित अनुभूति का सहज प्रवाह बन जाता है। उससे स्निग्ध पुरुष और प्रकृति प्रतिपल सानन्द, सुखमय श्वास की अनुभूति करती है। सम्पूर्ण रचना में आत्मसंयम का उन्मेष और मन एवं बुद्धि का सात्त्विकीकरण शिल्पी की मनीषा का प्राणपन्थ बनकर, उसकी कृति को अनुराग की आभा से दीप्त कर देता है। इसी का पर्याय है मंगल घट :

"चक्र अनेक-विध हुआ करते हैं/संसार का चक्र वह है जो
राग-रोष आदि वैभाविक/अध्यवसान का कारण है;/चक्री का चक्र वह है जो
भौतिक-जीवन के/अवसान का कारण है,
परन्तु कुलाल-चक्र यह, वह सान है/जिस पर जीवन चढ़ कर

अनुपम पहलुओं से निखर आता है,
पावन जीवन की अब शान का कारण है।" (पृ. १६१-१६२)

खण्ड तीन 'पुण्य का पालन : पाप- प्रक्षालन' है। इस खण्ड की शुरूआत में ही आचार्यश्री ने जल की विप्लवी कहानी प्रस्तुत कर धरती की सम्पन्नता और हिमशीतल एवं निष्पन्द आकुलता का वर्णन किया है।

यहाँ जीवनबोध और सौन्दर्यबोध के द्वारा चारित्र्य गति की समीक्षा है। उसके मानदण्ड मानवीय उत्कर्ष की सम्भावनाओं पर अवलम्बित हैं। कवि ने प्रकृति के सौन्दर्य और उसकी क्रियाशक्ति का निरूपण भी मानवीयता के मूलभूल सौन्दर्य सिद्धान्तों को आधार मान कर किया है। यहाँ सौन्दर्यतत्त्व एक मानवीय स्तर है, जिसे समाधि एवं चित्त का सामान्य बोध ही कहा जाएगा।

आचार्यश्री की सिसृक्षा का आधार धर्मानुमोदित मानवीय बोध है। इस खण्ड में इच्छाशक्ति उस गति का पर्याय है जिसके प्रवाह-प्रयत्नों का अर्थ पर-सम्पदा का हरण, संग्रह और मोह तथा मूर्च्छा-अतिरेक है। यह इच्छाशक्ति मानवचित्त की रसात्मक क्रीड़ा है। जल, जलधि और चन्द्रमा, जो इसके प्रतिमान हैं, अपनी शीतलता और आभा से जगत् को प्रपंचित ही करते हैं। धरा की भाँति इनमें प्रेम, उदारता, दया और कर्तव्यबोध आदि मांगल्य-भाव नहीं होता। मानवीय सौन्दर्य संस्कार की धारणा ही सौन्दर्यतात्त्विक सन्दर्भों में ढलकर 'वन्दे तद्गुणलब्धये' की महत्ता पाती है। यह अध्यात्मवादी उल्लास प्राकृतिक सौन्दर्य से भिन्न किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला संवेदन तत्त्व है जिसकी मूल अवधारणा लोककल्याणकारी है।

आचार्यश्री को शुद्ध चैतन्य के विराट् स्वरूप, प्रकृति सौन्दर्य, मिथक और इतिहास की गहराई एवं समाज की सम्भावना तथा चुनौती से इनकार नहीं है। उनका अध्यात्मदर्शन मानवधर्म और उसके समुच्चय से संश्लिष्ट प्रेम की सम्भावनाओं को परखता है, यथा :

- *"फूल ने पवन को/प्रेम में नहला दिया,/और/बदले में*
  पवन ने फूल को/प्रेम से हिला दिया!" (पृ. २५८)
- *"कुछ पल खिसक गये, कि/फूल का मुख तमतमाने लगा/क्रोध के कारण;*
  पाँखुरी-रूप अधर-पल्लव/फड़फड़ाने लगे, क्षोभ से;
  रक्त-चन्दन आँखों से वह/ऊपर बादलों की ओर देखता है—/जो कृतघ्न
  कलह-कर्म-मग्न बने हैं;/हैं विघ्न के साक्षात् अवतार,
  संवेगमय जीवन के प्रति/उद्वेग-आवेग प्रदर्शित करते,/और
  जिनका भविष्य भयंकर,/शुभ भावों का भग्नावशेष मात्र!" (पृ. २६०)

धर्म तथा मानवीय मूल्यों के प्रति निरन्तर सजग आचार्यश्री की रचनाओं में निर्धारित और निश्चित अवधारणाएँ हैं, पर, बिम्बों, प्रतीकों और शैली के वर्णन में अनुभूत सत्य जिस अर्थ की प्रतीति कराते हैं, उन्हें देखकर कहा जा सकता है कि कलात्मक सिद्धान्तों से अनुप्राणित मानवीय परिप्रेक्ष्य को रेखांकित करते हुए जैन धर्म के बुनियादी तत्त्वों का इतना विस्तृत चिन्तन पहली बार हुआ है।

बिम्बों की अर्थच्छटाएँ, अर्थ ध्वनियाँ सचमुच जीवन के नाना रूपों, सृष्टि के विविध प्रश्नों और संस्कृति के रूपाकारों को विस्तार देती हैं। संवेदना का घनत्व मार्मिक बिम्बों के माध्यम से रेखांकित होता है।

धरती से कवि का गहरा लगाव विश्वास, आशा, प्रेम, उदारता, सहिष्णुता, करुणा आदि मूल्यों की एक

शाश्वत प्रतिकृति के रूप में प्रस्तुत है। बिम्बों में निहित प्रकृति का सौन्दर्य प्रतीयमान अर्थ के रूप में मानवीय व्यथा एवं राग को व्यक्त करता है।

'मूकमाटी' में प्रकृति और मानव व्यवहार का आद्यन्त वर्णन मिलता है। प्रकृति की मानवीय नियति और उन्मुक्त सौन्दर्य एवं प्रेम की प्रगाढ़ता ही माटी में घुल कर अक्षय मंगल घट का शृंगार करते हैं। इन विभूतियों से समृद्ध मंगल घट पूर्णता का प्रतीक है और जन-जीवन की साधना एवं समर्पण का साक्ष्य है। कवि का कथन है :

"जल और ज्वलनशील अनल में/अन्तर शेष रहता ही नहीं
साधक की अन्तर-दृष्टि में।/निरन्तर साधना की यात्रा
भेद से अभेद की ओर/वेद से अवेद की ओर/बढ़नी ही चाहिए
अन्यथा,/वह यात्रा नाम की है/यात्रा की शुरूआत अभी नहीं हुई है।" (पृ. २६७)

आत्म-अवसाद के क्षरण और आत्मा की शुद्ध, स्वभाव दशा की प्राप्ति इस यात्रा की तलाश है। इन प्रवृत्तियों की उपलब्धियों की पड़ताल अन्तिम चतुर्थ खण्ड में मिलती है।

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में जैन दर्शन का तात्त्विक विवेचन संयम और तपश्चर्या के अर्थ में मिलता है। कवि जहाँ एक ओर प्रकृति से गहरा लगाव प्रकट करता है वहीं दूसरी ओर साधना की शक्ति का उन्मेष उसके विराग को पुष्ट करता है। अर्थवान् संकेत संयम, यम-नियम आदि का दिशाबोध कराते हैं। साधना का रहस्य धीरे-धीरे खुलता है और तप, ध्यान, सामायिक, समाधि तथा ज्ञान के अन्तःचक्षु खोलते हुए शिल्पी की अविचल शान्ति के पथ को प्रशस्त करता है। जीवात्मा चौदह गुणस्थानों पर शनैः-शनैः चढ़कर अपने शुद्धरूप को प्राप्त कर लेती है। इस खण्ड में साधना के विविध अंगों और उपांगों का साम्य धरती की उदारता, सहृदयता आदि से कर आचार्यश्री ने निरन्तर मानवीय धरातल को स्पर्श किया है।

अवाँ में लगने वाली लकड़ी साधक की नियति का पर्याय बन कर कुम्भ की परिपक्वता के लिए मिटना चाहती है। मंगल घट की समृद्धि और विविधता में अपना ताप पाना चाहती है। शक्ति और ताप की प्रखरता लकड़ी के जीवन की सार्थकता है। इसके ताप के बिना कुम्भ और कुम्हार का श्रम अधूरा है। संकल्प लचीला है। लकड़ी कुम्हार से कहती है :

"और सुनो,/यहाँ बाधक-कारण और ही है,/वह है स्वयं अग्नि।
मैं तो स्वयं जलना चाहती हूँ/परन्तु/अग्नि मुझे जलाना नहीं चाहती है
इसका कारण वही जाने।" (पृ. २७५)

अग्नि प्रज्वलन के पश्चात् अवाँ में उठा धुआँ वीतरागी का ही जीवन-चरित है, जो मनोविकारों से मुक्त होकर तप, ध्यान, सामायिक और समाधि तक की आध्यात्मिक यात्रा कर आत्म-करुणा के भाव से लोगों में कल्याण की वर्षा करता है।

इस खण्ड में साधना के ज्ञात-अज्ञात पक्षों का मूल्यांकन मिलता है। साधना के प्रकाश-पुंज में यम, नियम, प्राणायाम, निरोग, योग आदि सब कारण द्रवणशील पदार्थ की भाँति पच कर उसी प्रकाश-पुंज में मिल जाते हैं। कारक तत्त्वों का संविलयन साधना के आलोक को संवर्धित कर साधक में ज्यादा जटिल एवं विस्तृत राग-अनुराग की सूक्ष्मताओं को गोचर करता है। आत्म-भाव का यह चरम परिष्कार है और साधक के समर्पण का अनन्त विस्तार।

"भाँति-भाँति की लकड़ियाँ सब/पूर्व की भाँति कहाँ रहीं अब!

सब ने आत्मसात् कर/अग्नि पी डाली बस !/या, इसे यूँ कहें–
अग्नि को जन्म देकर अग्नि में लीन में लीन हुईं वे।
प्रति वस्तु जिन भावों को जन्म देती है/उन्हीं भावों से मिटती भी वह,
वहीं समाहित होती है।/यह भावों का मिलन-मिटन
सहज स्वाश्रित है/और/अनादि-अनिधन···!'' (पृ. २८२-२८३)

शिल्पी का यह आत्म-रहस्य सेवा, समर्पण, करुणा, साधना आदि के माध्यम से उदात्तीकृत होकर जिस अन्तर्मुखी दृढ़भाव को उन्मीलित करता है, वह मानवीय चिति एवं अध्यात्म की साधना का चरम रहस्य है। आचार्यश्री के अनुसार स्वस्थ ज्ञान ही अध्यात्म है जो मौन होकर भी वर्जनाओं से रहित, मिथ्याभाषों से बाहर आनन्द का अविरल स्रोत होता है। इसके विपरीत दर्शन संकल्प-विकल्प से परिभाषित विचाराभास है, जिसके गर्जन-तर्जन में अस्ति-नास्ति के स्वर मुखरित होते हैं।

धर्म की देहरी पर आत्मविकास से पल्लवित, पुष्पित राग-अनुराग की अक्षय आभा में अग्नि का ताप रस-सिक्त होकर घट का सुभग शृंगार बन जाता है। घट अक्षय और अखण्ड सौन्दर्य से सज्जित हो शुभ-संकल्प का प्रतीक बन कर शिल्पी की साधना को मूर्त करता है। उसके अंग-प्रत्यंग से प्रेम का, सत् का, साधना का सरस राग मुखरित होता है। इसीलिए तो मंगल घट का दर्शन करते ही नर-नारी खुशी से झूम कर नाचने लगते हैं।

- *''बहिरंग हो या अन्तरंग/कुम्भ के अंग-अंग से*
  संगीत की तरंग निकल रही है,/और
  भूमण्डल और नभमण्डल ये/उस गीत में तैर रहे हैं।'' (पृ. २९९)
- *''यह सब शिल्पी का शिल्प है,/अनल्प श्रम, दृढ़ संकल्प*
  सत्-साधना-संस्कार का फल।'' (पृ. ३०५)

'मूकमाटी' में साधु के आहार-दान की प्रक्रिया से विन्यस्त धार्मिक अनुष्ठान एवं सेठ की आस्था तथा समर्पण का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। इसी अध्याय में मंगल घट के विविध मनोरम रूपों का उल्लेख है जो मन्त्रों से अभिमन्त्रित और तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों से पोषित हैं।

चतुर्थ खण्ड जैन धर्म में मान्य भक्ति, तप, ध्यान, सामायिक, समाधि तथा ज्ञान का विश्लेषण है। जैन भक्ति के बारह रूपों – सिद्ध भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, पंच गुरु भक्ति, तीर्थंकर भक्ति, शान्ति भक्ति, समाधि भक्ति, निर्वाण भक्ति, नन्दीश्वर भक्ति और चैत्य भक्ति का भी संक्षेप में निरूपण है।

आचार्यश्री ने मनुष्य के जीवन को एक द्रष्टा की तरह देखा है। द्रष्टा के लिए सम्यक् दृष्टि अनिवार्य होती है। उसका अन्तर और बाह्य परम पवित्र होता है। राग-द्वेष से मुक्त। अभय। साधना में लीन कविवर ने 'मूकमाटी' के माध्यम से प्रेम और करुणा से संश्लिष्ट जिस रागात्मक चित्र का विस्तार दिखाया है, उसमें मानवीय पीड़ा और उसकी समग्र चेतना का भावबोध है। जिसका मूल स्वर 'जन-गण-मन मंगलदायक हो' के रूप में पूरे काव्य में गूँजता है।

''कुम्भ के मुख से निकल रही हैं/मंगल-कामना की पंक्तियाँ :
''यहाँ···सब का सदा/जीवन बने मंगलमय/छा जावे सुख-छाँव,
सब के सब टलें–/अमंगल-भाव,/सब की जीवन लता
हरित-भरित विहँसित हो/गुण के फूल विलसित हों

नाशा की आशा मिटे/आमूल महक उठें/···बस।" (पृ. ४७८)

नए युग की चुनौतियों का सामना करने हेतु आचार्यश्री का कवित्व अपनी पूरी दिव्यता के साथ पाठक में गहरे बोध का संचार करता है। 'मूकमाटी' की कविता में लोकजीवन से जुड़े विविध प्रसंग और लोकभाषा के शब्दों एवं बिम्बों के बीच से उभरती, कौंधती प्रेम और सौन्दर्य की अनुपम छवि गहरे आकर्षण से मन को निहाल कर देती है।

रचना संसार का द्वार खुलते ही धरती को आत्मीय गन्ध का संचार और प्रकृति का बहुआयामी रूप वैभव प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में मनुष्य की बारीक से बारीक सात्त्विक संवेदना की अभिव्यक्ति को जीवन्त बनाता है।

कविता में वर्णित सौन्दर्य और प्रेम की सूक्ष्मता और उसकी अवधारणा मध्यकालीन सन्तों से आचार्यश्री की भाव-भाषा को जोड़ती है।

आचार्यश्री की रचनाओं में कहीं गलदश्रु भावुकता नहीं है। उनकी कविता में भाव और बुद्धि दोनों की गहनता है। इसीलिए 'मूकमाटी' की कविता की परिष्कृति इस सीमा तक पहुँची है कि पूरी रचना अध्यात्म और दर्शन का एक नया अध्याय बन जाती है। प्रेम की बहुआयामी प्रस्तुति में अनेकान्त, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व और धर्म का युगपत् सहावस्थान आदि साधना की पूरी व्याप्ति के साथ प्रकट होकर पाठक पर गहरा असर डालते हैं।

'मूकमाटी' मानवीय भाव-बोध की अप्रतिम काव्य-कृति है। इसकी भाषा की व्यंजनाओं में पुराण और किंवदन्तियों का समावेश है। अभिव्यक्ति कौशल में संस्कृत के तत्सम, तद्भव और आंचलिक बोलियों के शब्द भी पाए जाते हैं। अलंकारों का स्वाभाविक सौन्दर्य लेखन को समृद्ध बनाता है।

आचार्य श्री विद्यासागर महाराज की काव्य-कृति 'मूकमाटी' में प्रबन्धकार की प्रतिभा का व्यापक स्वरूप दृष्टिगत होता है।

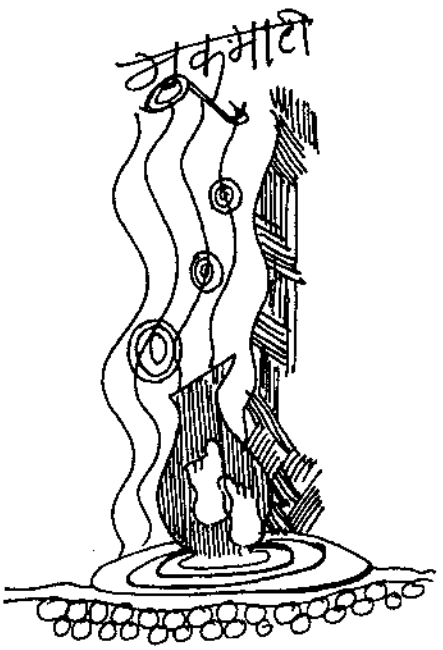

'मूकमाटी' महाकाव्य : आधुनिक भारतीय साहित्य की अपूर्व उपलब्धि

डॉ. पवन कुमार जैन

यह कृति चार खण्डों एवं लगभग पाँच सौ पृष्ठों में वर्णित है जो परिभाषा की दृष्टि से महाकाव्य की सीमाओं के अन्तर्गत है। 'मूकमाटी' में धर्म, दर्शन तथा अध्यात्म का सार मुक्त छन्द के माध्यम से काव्य शैली में निबद्ध हुआ है। आचार्य विद्यासागर ने माटी जैसी निरीह, पददलित, आक्रान्त और व्यथित वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाकर उसकी मूक वेदना तथा मुक्ति की आकांक्षा को वाणी दी है।

'मूकमाटी' के प्रारम्भ में ही महाकाव्यात्मक प्राकृतिक परिदृश्य देखने को मिलता है :

''सीमातीत शून्य में/नीलिमा बिछाई,
और···इधर···नीचे/निरी नीरवता छाई।'' (पृ. १)

इसी प्रसंग में कुमुदिनी, कमलिनी, चाँद-तारे, सुवासित वायु, सरिता तट आदि प्राकृतिक परिदृश्य महाकाव्य जैसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।

महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुरूप प्राकृतिक परिवेश के अतिरिक्त इस कृति में सृजन के अन्य पक्ष भी मौजूद हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय प्रश्न उठता है कि 'मूकमाटी' का नायक कौन है और नायिका कौन है ? इस कृति की नायिका माटी ही है, यह कृति के नामकरण से ही द्योतित होता है। कृति का सम्यक् वस्तु विधान माटी के ही आस-पास घूमता है। माटी जैसी तुच्छ वस्तु को मंगल मूर्ति घट का स्वरूप प्रदान करने वाले शिल्पी कुम्भकार को इस कृति का नायक माना जा सकता है। यहाँ नायिका और नायक के बीच में आध्यात्मिक प्रकार का रोमांस रहा है।

माटी जैसी पद दलित, तुच्छ, निरीह, व्यथित वस्तु को कितनी प्रतीक्षा रही है उस कुम्भकार की, जो उसका उद्धार करेगा।

'मूकमाटी' में काव्य की दृष्टि से शब्दालंकार और अर्थालंकारों की छटा नवीन सन्दर्भों में आकर्षक एवं मनोहारिणी है। आचार्यश्री की शब्द योजना अनूठी है, जिसका प्रचलित अर्थ में उपयोग करके वे उसकी संगठना को नई-नई धार देने के लिए व्याकरण की कसौटी पर निरन्तर परखते हैं और उनमें से नए-नए आवरणों का परदाफ़ाश करते हैं। प्रयुक्त शब्दावली में आन्तरिक रमणीयता है। उनमें अर्थ के अनूठे और अछूते आयाम भी प्रतिबिम्बित होते हैं। आचार्यजी का शब्द योजना में अर्थान्वेषिणी दृष्टि का चमत्कार विधान अद्‌भुत है जो महाकाव्य की दृष्टि से सार्थक है। उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'मूकमाटी' में महाकाव्योचित अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। इसकी कथा-वस्तु समाज की सम्पूर्ण ज्वलन्त समस्याओं और चेतना को लेकर आगे बढ़ती है। इसमें महाकाव्योचित जीवन दर्शन, उद्देश्य एवं उपदेश समाविष्ट हैं। अर्थालंकारों की छटा, कथा की रोचकता, निर्जीव पात्रों के सजीव चुटीले संवाद, शब्दों के अन्दर समाहित आध्यात्मिक अर्थ योजना बरबस ही साहित्यकारों को आकर्षित करती है, जो महाकाव्य के लिए आवश्यक एवं अपेक्षित भी है। इस काव्य में जहाँ स्वयं को और मानव के भविष्य को समझने की नई दृष्टि प्राप्त होती है, वहीं चिन्तन-मनन की नई सूझ भी। इस प्रकार इन विशेषताओं के आधार पर इसे महाकाव्य कहा जा सकता है।

'मूकमाटी' महाकाव्य आचार्य विद्यासागर की आधुनिक भारतीय साहित्य के लिए एक अपूर्व उपलब्धि है। यह रचनाकार के काव्य विकास का एक चरम बिन्दु है। वस्तु और शिल्प दोनों दृष्टियों से इस कृति की रचना एक विशेष

बिन्दु पर आधारित है। समाज, देश, राष्ट्र तथा अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में व्याप्त आतंकवाद की आधुनिक समस्या तथा उसका समाधान भी इस कृति में है। आतंकवाद जैसी भयंकर समस्या का समाधान क्षमा भाव ही है, यह कवि का मत है। 'मूकमाटी' में महाकाव्योचित विशेषताएँ स्पष्ट प्रतिबिम्बित होती हैं। यह चार खण्डों में वर्णित है। प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' का मूल अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति जाति, कुल के आधार पर ऊँच या नीच नहीं है बल्कि उसका बहुमूल्य सार्थक जीवन उसके गुणधर्मों पर निर्भर रहता है। अगर व्यक्ति को अच्छी संगति, अच्छा प्रदर्शक एवं सच्चा गुरु मिले, जो उसके व्यक्तित्व में से कमज़ोरियों का निवारण कर सके, तो वह पददलित व्यक्ति उच्च पद, समाज, देश और अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में सम्मान का अधिकारी बन सकता है। दूसरे खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' से यह भाव अभिव्यक्त होता है कि बिना शब्द अध्ययन व साहित्य अध्ययन के बोध की प्राप्ति असम्भव है और बिना बोध (ज्ञान) के शोध-कार्य असम्भव है। आचार्यश्री ने साहित्य के नव रसों के स्वरूपों की व्याख्या की है। शृंगार रस की अत्यन्त मौलिक व्याख्या दृष्टिगोचर होती है। इस कथानक में तत्त्व दर्शन की झलक स्थान-स्थान पर अनायास ही उभर कर आई है। इस खण्ड के वर्णनों में व्यावहारिक भाषा का अनोखा चमत्कार है।

तृतीय खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' के अन्तर्गत पुण्य और पाप के प्रक्षालन से उत्पन्न होने वाली श्रेयस्कर और उपादेय उपलब्धियों की ओर संकेत किया गया है। कार्य के अनुसार पुण्य का उपार्जन मन, वचन एवं काय की निर्मलता से, शुभ कार्यों के सम्पादन से एवं लोक कल्याण की कामना से होता है। इस खण्ड में कुम्भकार एवं माटी की विकास कथा के माध्यम से पुण्य कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का चित्रण किया गया है।

चौथे खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' के विचार निम्न छन्द से स्पष्ट हो जाते हैं :

> *"सन्त-समागम की यही तो सार्थकता है/संसार का अन्त दिखने लगता है,*
> *समागम करनेवाला भले ही/तुरन्त सन्त-संयत/बने या न बने*
> *इसमें कोई नियम नहीं है,/किन्तु वह/सन्तोषी अवश्य बनता है।*
> *सही दिशा का प्रसाद ही/सही दशा का प्रासाद है।" (पृ. ३५२)*

महाकाव्य में दो प्रकार के पात्र होते हैं– एक, जो चरित्र की अच्छाइयों के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों, समस्याओं एवं अनेकता को दूर कर समाज को कल्याण के मार्ग पर ले जाते हैं और देश एवं समाज में सौहार्द, भाईचारा, एकता-समता की प्रतिष्ठा करते हैं। दूसरे, वे पात्र हैं जो समाज के विकास में बाधक हैं। वे अपनी समस्त क्षमता का प्रयोग समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए समाज का शोषण करते हैं, समाज के संगठन को विघटित करते हैं और गरीबों, दलितों व शोषितों पर जघन्य अपराध करते हैं।

पात्र योजना की दृष्टि से इसमें दोनों ही कोटि के पात्र हैं। इस रचना के अधिकांश पात्र निर्जीव हैं जिन्हें कृतिकार ने अपनी कलात्मक प्रतिभा के द्वारा जीवन्तता प्रदान की है। इस रचना के दो पात्र अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी कथा रचना में आदि से अन्त तक प्रवहमान रही है। प्रथम पात्र है माटी और दूसरा है कुम्भकार। कुम्भकार ने माटी जैसी तुच्छ, पद दलित, निरीह वस्तु को एक सार्थक मंगल घट के रूप में परिणत किया है। उसे कृति का नायक तथा उस मिट्टी को कृति की नायिका कहा जा सकता है। इसके अलावा अन्य अनेक पात्र हैं, जैसे– काँटा, स्वर्ण कलश, आतंकवादी, राजा, राजा के आदमी, साधु, सेठ, सेठ का सेवक आदि। ये सभी गौण पात्र नायक-नायिका के चरित्र के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रकार महाकाव्य के अनुरूप चरित्र चित्रण आचार्य विद्यासागर ने चित्रित किया है, जो उनके चरित्र-योजना-कौशल को दर्शाता है।

संवादों की सजीवता, रोचकता तथा हास्य-व्यंग्य पाठक को आकर्षित करते हैं। इस महाकाव्य में चुटीले संवादों की योजना देखते ही बनती है। यह महाकाव्य ज्वलन्त समस्याओं को लेकर लिखा गया है। इसमें समस्याओं के कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनके समाधान का भी प्रयत्न किया गया है। इसमें सबसे बड़ी समस्या निरीह, पद दलित, पीड़ित मानवता की है। समाज के घातक पूँजीवादी व्यक्ति पद दलित वर्गों के सामाजिक उत्थान में व्यवधान उपस्थित करते हैं जिससे व्यक्ति आर्थिक, सामाजिक आदि दृष्टियों से पिछड़ जाते हैं। कवि की मान्यता है कि अगर इन शोषित, पीड़ित व्यक्तियों को अच्छा सामाजिक परिवेश मिले तो वे भी अच्छे इनसान बन सकते हैं। दूसरी प्रमुख समस्या आतंकवाद की है। यह समस्या किसी एक देश की नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व की है। आचार्य श्री विद्यासागर का कहना है कि इस समस्या का हल क्षमा भाव से सम्भव हो सकता है।

इस महाकाव्य में शिल्प सम्बन्धी अनेक विशेषताएँ हैं, जिनका काव्य को मनोहारी एवं मर्मस्पर्शी बनाने में बहुत योगदान है :

१. लक्षणा और व्यंजना शब्द शक्तियों की योजना।
२. लयात्मक मुक्त छन्दों का प्रयोग।
३. गुण और रीति का भावानुकूल उत्कृष्ट प्रयोग।
४. वृत्ति का आकर्षक विवेचन।
५. कवि ने भावों का वर्णन करते समय औचित्य तत्त्व पर भी विचार किया है।
६. वक्र उक्तियों की आलोच्य कृति में भरमार है।
७. लोकोक्तियों, मुहावरों एवं सूक्तियों का प्रसंगानुकूल प्रयोग हुआ है।

'मूकमाटी' महाकाव्य में प्रतीकों की सुन्दर योजना, अलंकारों की छटा, कथा की रोचकता, निर्जीव पात्रों के सजीव एवं चुटीले वार्तालापों की नाटकीयता तथा शब्दों की परतों को वेधकर आध्यात्मिक अर्थों की प्रतिष्ठा, यह सब कुछ सहज ही समा गया है। इस महाकाव्य में जहाँ स्वयं को और मानव के भविष्य को समझने के नए-नए आयाम सामने आते हैं, वहीं मानव समाज को चिन्तन की अद्‌भुत प्रेरणाएँ भी मिलती हैं।

❑

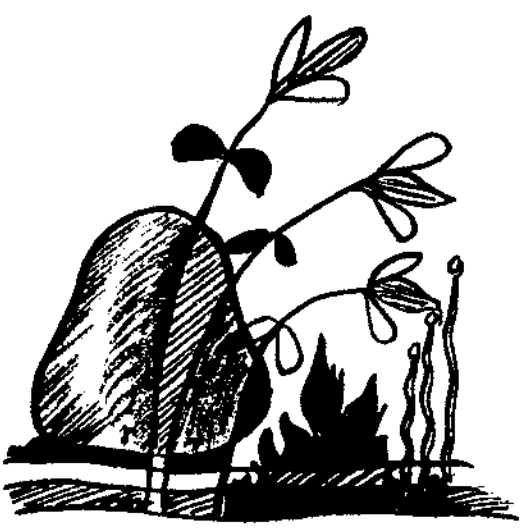

पृष्ठ ५३
बीज का वपन किया है...
---उस पकी फसल को.

भारतीय साहित्य की अनूठी उपलब्धि : 'मूकमाटी'

डॉ. (श्रीमती) किरण बाला अरोड़ा

साहित्य एवं समाज में जिस गाम्भीर्य का लोप होता जा रहा है, उसके दर्शन पुन: कराने वाला ये काव्य वास्तव में साहित्य की एक अनूठी उपलब्धि है। प्राचीन काल से परोपकार, उदारता एवं उदात्तता भारतीय साहित्य के मेरुदण्ड रहे हैं। उसी का अंकुरण काव्य में बड़े सुन्दर रूप से हुआ है। आधुनिक मानव कुण्ठा, द्वन्द्व, अकेलेपन आदि परिस्थितियों से जूझता हुआ टूटता चला जाता है, वो इसलिए कि उसकी दृष्टि वस्तुत: समष्टि की ओर नहीं, केवल अपनी ओर केन्द्रित रहती है। 'मूकमाटी' के पात्र इसी संकीर्ण दायरे को निरन्तर तोड़ते नज़र आते हैं।

जीवन तो जूझना है, जूझते हुए सफल होना है। टूटना तो मृत्यु है। ऐसा जीवन यहाँ किसका है ? यहाँ किसने कभी कोई कष्ट नहीं झेले ? सोना जितना तपाया जाता है, उतना खरा बनता जाता है। इस सफर का रास्ता समतल कभी नहीं होता है। कष्टों से छुटकारा कुछ हद तक अगर मिल भी जाए पर चरित्र की उदात्तता फिर कहाँ से आ पाएगी। इसी जूझने का प्रतीक है 'मूकमाटी' का। माटी से कुम्भ बनना तथा सेवायुक्त होकर सफल होना, यही शिक्षा माटी अपनी ममतामयी माँ से पाती है। कितनी उत्कण्ठा है माटी में कुम्भकार के हाथों से कुम्भ बन तपने की, सफल होने की, पूर्ण होने की। यही जीवात्मा की भी तो सतत पुकार है।

"मैं निर्दोष नहीं हूँ/दोषों का कोष बना हुआ हूँ/मुझ में वे दोष भरे हुए हैं।
जब तक उनका जलना नहीं होगा/मैं निर्दोष नहीं हो सकता।" (पृ. २७७)

सामान्य मानव की ये कमजोरी है कि मानव आनन्द की प्राप्ति तो चाहता है किन्तु आनन्द प्राप्ति के लिए किए जाने वाले त्याग से मुख मोड़ता है। माटी ऐसा नहीं करती। माटी अपनी मूक वाणी से हमें ये शिक्षा दे जाती है :

- *"बिना तप के जलत्व का, अज्ञान का,/विलय हो नहीं सकता।" (पृ. १७६)*
- *"मर, हम 'मरहम' बनें !" (पृ. १७५)*

यहाँ 'हम' का मरना ही अहंकार का मरना है, स्वार्थ का मरना है। अहंकार जो 'अहं' का 'प्रखर स्वर' है, उसका विकार ही अहंकार है, जो पतन का मूल है। धरती धरणी है, माटी है, जो सब कुछ धैर्य से धारण करती है। उसी प्रकार साधक भी जीवन के उतार-चढ़ावों को धैर्य से धारण करता है और लक्ष्य की प्राप्ति कर पाता है। 'गुरु' एकाग्रता से शिष्य की प्रगति में दत्तचित होता है :

"किसी कारणवश/विवश होकर जाना पड़ा बाहर/कुम्भकार को।
पर, प्रवास पर/तन ही गया है उसका,/मन यहीं पर
बार-बार लौट आता आवास पर !" (पृ. १९८)

कुम्भ सतत साधना का प्रतीक है। जीवन में सफल होने के लिए साधना आवश्यक है। जो ये तथ्य पहचान लेता है वह जीवन को सफलतापूर्वक जीने का मन्त्र पा जाता है।

"परीषह-उपसर्ग के बिना कभी/स्वर्ग और अपवर्ग की उपलब्धि
न हुई, न होगी/त्रैकालिक सत्य है यह !" (पृ. २६६)

जीवन केवल अपने ही स्वार्थमय भोग के लिए नहीं हैं- "परोपकार: पुण्याय, पापाय परपीडनम्"- वेद

व्यासजी ने समस्त उपनिषदों के सारांश को इसी एक वाक्य में दे दिया था। कुम्भ भी स्वयं तपता है, धैर्य से पूर्णता प्राप्त करता है, केवल एक ही लक्ष्य के लिए - जो है परोपकार। परोपकार में ही स्वयं का उपकार है, स्वयं की सार्थकता है। इसी प्राचीन वाणी को मुखरित करने के लिए मानों ये काव्य लिखा गया है।

कबीर व रहीम की ही तरह कवि कहीं-कहीं समाज का सूक्ष्म अध्येता हो जाता है और सामाजिक प्रवृत्तियों का सहज चित्रण कर जाता है। यथा, लकड़ियाँ अपने निरर्थक एवं गलत प्रयोग कर बिलखती हुई कहती हैं :

- *"प्रायः अपराधी-जन बच जाते/निरपराध ही पिट जाते/और उन्हें*
  पीटते-पीटते टूटतीं हम।/इसे हम गणतन्त्र कैसे कहें ?
  यह तो शुद्ध 'धनतन्त्र' है/या/मनमाना 'तन्त्र' है।" (पृ. २७१)
- *"आशातीत विलम्ब के कारण/अन्याय न्याय-सा नहीं*
  न्याय अन्याय-सा लगता ही है।" (पृ. २७२)
- *"परन्तु खेद है कि/लोभी पापी मानव/पाणिग्रहण को भी*
  प्राण-ग्रहण का रूप देते हैं।" (पृ. ३८६)

यहाँ दहेज प्रथा से जुड़ी समस्या जिसे 'ब्राइड-बर्निंग (Bride-burning) कहा जाता है, पर यह सूक्ष्म व्यंग्य है।

"यह कटु-सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

समाज के धन-लोलुप रूप को सहजता से प्रत्यक्ष कर दिया है कवि की अनुभवी लेखनी ने।

केवल समस्याओं को उभारा ही नहीं, कहीं-कहीं उनका समाधान भी कवि देता गया है। यथा, शकार-त्रय के सूक्ष्मार्थ बताते हुए कवि कहता है :

"शाश्वत शान्ति की शाला···!/'स' यानी/समग्र का साथी
जिसमें समष्टि समाती।" (पृ. ३९८)

इन पंक्तियों में गाँधीजी के सर्वोदय के विचारों की झंकार-सी उभर आती है।

कही-कहीं प्रकृति चित्रण भी कितना सुन्दर रूप ले उभरा है, यथा :

"मखमल मादर्व का मान/मरमिटा-सा लगा।
आम्र-मंजुल-मंजरी/कोमलतम कोंपलों की मसृणता
भूल चुकी अपनी अस्मिता यहाँ पर,/अपने उपहास को सहन नहीं करती
लज्जा के घूँघट में छुपी जा रही है,/और/कुछ-कुछ कोपवती हो आई है,
अन्यथा/उसकी बाहरी-पतली त्वचा/हलकी रक्तरंजिता लाल क्यों है?" (पृ.१२७)

प्राकृतिक उपचार तथा अंकों के महत्त्व पर भी कवि ने संकेत किया है, जो उनके बहुमुखी ज्ञान का परिचायक है। काव्य की भूमिका विशेष महत्त्व की है। जिस प्रकार नाविक को कंपास दिशा दर्शन कराता है, उसी प्रकार काव्य में पाठक को क्या मिलेगा तथा पाठक की दृष्टि किधर केन्द्रित होनी चाहिए, यह दिशा-संकेत भूमिका में स्पष्ट मिल जाता है।

काव्य का कथानक प्रतीकात्मक है और ये सहज भी है। गहन आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन सरलता से नहीं हो पाता किन्तु प्रतीक रूप में उनका प्रतिपादन सहज हो जाता है। इसीलिए अनेक सन्तों की वाणियाँ प्रतीक का आधार लेती हैं। कुम्भकार गुरु के निमित्त लक्ष्य-प्राप्ति का आधार या मार्गदर्शक बनता है जो निर्विकार, निर्लिप्त है। कुम्भ का तपना एवं अनेक कठिनाइयों का सामना करना साधक की परीक्षाएँ हैं, जो लक्ष्य साधन के विभिन्न सोपान हैं। इनको पार करना कठिन है किन्तु लक्ष्य प्राप्ति के लिए अनिवार्य भी। 'मछली' विचक्षण ज्ञान या दृष्टि है जो साधक के लिए अत्यावश्यक है। सही राह की पहचान यहीं से होती है। 'सेठ परिवार' आन्तरिक कोण से साधक के सद्गुण हैं तथा बाह्य रूप से वे साधु पुरुष एवं सज्जन हैं जो साधक की प्रगति में सहायक बनते हैं। 'आतंकवादी' एवं क्रान्तिकारी-जन वे आतंकवादी मानसिक प्रवृत्तियाँ हैं जो साधक की बाधक बनती हैं। इनका होना निर्विवाद एवं आवश्यक भी है, अन्यथा सोना खरा कैसे बन पाएगा ? 'नदी' साधक के विचक्षण ज्ञान की परीक्षा है जो धीरे-धीरे साधक के परिपक्व ज्ञान के सम्मुख कमज़ोर होती जाती है।

कथानक संक्षिप्त है- समर्पित जिज्ञासु का गुरुकृपा एवं श्रद्धा के फलस्वरूप अध्यात्म का पथ अपनाना, अपनाने के पश्चात् विभिन्न कठिनाइयों एवं परीक्षाओं का सामना करना। आध्यात्मिक मार्ग अत्यन्त कठिन प्रतीत होता है, जो सहज है क्योंकि माया की शक्ति अत्यन्त प्रबल है। षड्विकारों की, शारीरिक एवं मानसिक यन्त्रणाओं की बौछार अवश्यंभावी है, अन्यथा परिपक्वता पाना असम्भव है। गुरु का सतत सहारा साधक को प्राप्त होता रहता है जो उसका मार्गदर्शन करता है। अन्ततः ज्ञान की प्राप्ति गुरु-कृपा से ही होती है।

भाव-पक्ष की उदात्तता चरम बिन्दु पर काव्य में उपस्थित हुई है। विचार गहरे एवं गूढ़ हैं जो स्वाभाविक ही हैं। दार्शनिक विचारों के अनुरूप प्रतीकात्मक शैली का सफल प्रयोग हुआ है। काव्य का प्रथम भाग बहुत ही मर्मस्पर्शी बन गया है, जहाँ माटी को अपनी माँ से स्नेहिल मार्गदर्शन प्राप्त होता है। कहीं-कहीं भावों की सुकुमारता कितनी सुन्दर है :

"तृण-बिन्दुओं के मिष/उल्लासवती सरिता-सी
धरती के कोमल केन्द्र में/करुणा की उमड़न है,
और उसके/अंग - अंग/एक अपूर्व पुलकन ले
डूब रहे हैं/स्वाभाविक नर्तन में !" (पृ. २०)

जहाँ तक कला-पक्ष देखने की बात है, जो वस्तुतः ऐसे आध्यात्मिक ग्रन्थ में गौण स्थान रखता है, लेकिन यहाँ काव्य की भाषा-शैली बहुत ही सरल एवं प्रभावशाली है। अलंकारों की छटा जहाँ-तहाँ स्वाभाविक रूप से बिखरी हुई है। सूरज का मानवीकरण कितना नवीन है :

"दूरज होकर भी/स्वयं रजविहीन सूरज ही/सहस्रों करों को फैलाकर
सुकोमल किरणांगुलियों से/नीरज की बन्द पाँखुरियों-सी
शिल्पी की पलकों को सहलाता है।" (पृ. २६५)

कुछ रसों की तो संक्षिप्त व्याख्या-सी ही कवि ने कर दी है :

"शान्त-रस किसी बहाव में/बहता नहीं कभी
...करुणा में वात्सल्य का/मिश्रण सम्भव नहीं है।" (पृ. १५७)

यह काव्य प्रमुख रूप से श्रद्धा से पढ़ा जाने वाला एक आध्यात्मिक काव्य है, उपन्यास सम्राट् प्रेमचन्द के अनुसार कवि या लेखक समाज का पथ प्रदर्शक होता है, यह कर्तव्य 'मूक माटी' के रचयिता ने पूर्ण रूप से निभाया है। वस्तुतः कवि का ध्यान विचारों के प्रतिपादन पर अधिक था, इसीलिए कदाचित् कुछ प्रसंग आग्रह-पूर्वक जोड़े हुए-से लगते हैं तथा कहीं-कहीं भावों की पुनरावृत्ति हो गई है। इसी कारण शायद काव्य का आकार भी विशद हो गया है।

काव्य का शीर्षक बड़ा ही संक्षिप्त, सटीक एवं सुन्दर है। काव्य कमल-पत्र पर पड़े एक छोटे से हिमकण के समान ही पवित्र, ज्योतिष्मान् एवं पारदर्शी है, जो काव्य के कथानक को स्पष्ट इंगित कर देता है। अन्त में कहना चाहूँगी कि सुन्दर शीर्षकयुक्त, विभिन्न सर्गों में विभक्त 'मूकमाटी' बहुत ही सुन्दर एवं प्रभावशाली बन पड़ा है और साहित्याकाश में एक देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति सदा चमकता रहेगा।

❑

'मूकमाटी' : प्रयोगवादी काव्य परम्परा की नयी कड़ी

डॉ. महेन्द्र कुमार साहू

आचार्य श्री विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' (महाकाव्य) को हम आधुनिक युग के प्रयोगवादी काव्य की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि यह महाकाव्य सम्बन्धित शास्त्रीय सिद्धान्तों से पूर्णरूपेण अलग है। हम इसे बाबू जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित छायावादी युग के प्रतिनिधि महाकाव्य 'कामायनी' के समतुल्य नहीं मान सकते हैं।

हिन्दी साहित्य में छायावाद के पश्चात्—प्रयोगवादी, नयी कविता का दौर आया जिसमें परम्परा एवं काव्य-शास्त्रीय नियमों से हटकर अनेक प्रयोग किए गए, लेकिन वे 'कामायनी' की तरह अपनी पहचान नहीं बना पाए। आचार्य श्री विद्यासागर द्वारा रचित 'मूकमाटी' (महाकाव्य) इसी प्रयोगवादी काव्य परम्परा की एक नयी कड़ी है।

'मूकमाटी' कथावस्तु, नायक तत्त्व, काव्य शिल्प एवं औदात्य की दृष्टि से पूर्णरूपेण महाकाव्य की शास्त्रीय परम्परा से भिन्न है। इस महाकाव्य में धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म, काव्य औदात्त्य के रूप में अधिक गहन रूप से उभर कर हमारे सामने आए हैं, जो कि रचयिता के सहज मानवीय गुणधर्मों के परिचायक हैं।

प्रस्तुत महाकाव्य 'मूकमाटी' में महाकाव्य के अनुरूप औदात्य कथावस्तु के अन्तर्गत 'माटी' जैसी निरीह, पद-दलित, व्यथित वस्तु को महाकाव्य की गरिमा प्रदान कर रचनाकार ने अपने गहन धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म का परिचय दिया है। 'माटी' का प्रतीकात्मक मानवीय दर्शन इस महाकाव्य का आधार स्तम्भ है।

इस महाकाव्य में धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म पर जितना बल दिया गया है, उतना महाकाव्य के अनुरूप उसके काव्य शिल्प और सौष्ठव पर नहीं। वस्तुतः यह कृति अधिक परिमाण में अध्यात्म है अर्थात् 'मूकमाटी' को हम 'मानवीय जीवन दर्शन' का प्रतीकात्मक महाकाव्य कह सकते हैं।

❑

'मूकमाटी' : आत्मिक ऊर्ध्वारोहण की महागाथा

डॉ. गणेश खरे

'मूकमाटी' पर मेरे द्वारा कुछ कहा जाना सागर-मन्थन का असम्भव प्रयास करना है। सागर तो उपलब्ध है पर वह देव सामर्थ्य और अलौकिक साधन कहाँ से लाऊँ! अत: उसमें एक डुबकी लगाकर ही उसे प्रणाम कर रहा हूँ। माटी तो निर्गुण है, निराकार है, मूक होने के कारण यह निर्वाक् भी है। अत: उसका स्पर्श भी कठिन है। वह केवल अनुभूति का विषय है, आचरण की मर्यादा है। वह देव मन्दिर की देहली है जो सांसारिक सीमाएँ लाँघकर आध्यात्मिक संसार में प्रवेश की अनुमति देती है। मैं तो मात्र इतना कहूँगा कि 'मूकमाटी' की यह अध्ययन यात्रा मेरे लिए अपने आप में बाँधे रही और आचार्यश्री के ही शब्दों में सचमुच मैंने मंज़िल पर पहुँचने के बाद विश्राम किया है। यह मानवीय शरीर या जीव ही माटी है। यह स्वत: कुछ भी कहने में असमर्थ है, अत: मूक है पर इसकी चिन्तन-मनन, श्रोत और क्रियात्मक शक्तियाँ तो सक्रिय-संवेदनमय हैं, अत: वे शिल्पी के हर शब्द और संकेत को ग्रहण कर उन्हें आचरण में रूपान्तरण कर देती हैं।

कुम्भकार के हाथों में पड़कर यह मूकमाटी पहले साफ़ की गई है, फिर पानी का संस्पर्श पाकर वह कुम्भ के रूप में परिवर्तित हुई है, फिर उसे तपस्या की पावन अग्नि में पकाया गया है और अन्त में वह मंगल कलश का रूप धारण कर नवागत संस्कृति का स्वागत करती है। यह वस्तुत: जीव की एक आत्मिक ऊर्ध्वारोहण की महागाथा है। मैं तो मात्र इस महायात्रा का एक छोटा-सा प्रेक्षक रहा हूँ, प्रतीति और संवेदना से शून्य, निर्वाक् और विस्मय-विमुग्ध।

यह जड़-चेतनमय सारी सृष्टि मृण्मय है। जो कुछ मिट्टी नहीं है, वह वायवीय है, शून्य है, निरंक है पर उसका आधार भी यही मिट्टी है। यह मिट्टी सृष्टि-रचयिता शिल्पी की लीला का भी सबसे बड़ा साधन है। वह नाना रूपों में इसको ढालता रहता है और यह मिट्टी नव-नव रूप धारण कर सृष्टि के विकास की प्रक्रिया को न केवल सक्रिय रखती है वरन् उसे शाश्वत और चिर नवीन भी बनाए रखती है। यह मिट्टी कभी मिटती नहीं। विभिन्न तत्त्वों के योग से यह रचनाशीला जीवन्त और जागृत होकर ऋषियों-महर्षियों की संचेतना बनकर मानवता की श्रीवृद्धि करती है। जनता के दु:ख-दारिद्रय को मिटाकर उन्हें एक हरा-भरा संसार प्रदान करती है। यह सबको आश्रय देने वाली जग जननी है, माँ है। अपने बच्चों के लिए इसका अपार स्नेह प्रकृति के फूलों, मन्द-मन्थर हवाओं, सूर्य की किरणों, जल-तरंगों और अग्नि की ऊष्मा के माध्यम से सतत प्रवाहित होता रहता है। इसकी प्रकृति ही दानशीला है। यह देती है मात्र, लेने की कल्पना ही इसके मानस में नहीं उठती। इस दृष्टि से यह पूर्णत: निर्विकार है, प्रांजल और पावन है। कोई भौतिक विकार इसे स्पर्श नहीं कर पाता। यह विकारातीत है। यह निर्जन में भी अपनी मस्ती में लीन रहती है और जन-संकुलता में भी; हिमालय की तुंग ऊँचाइयों पर भी यह चिर प्रसन्न और प्रशान्त है और सागर की अतल गहराइयों में भी सन्तृप्त और निराकुल है। इसकी महिमा, अणिमा और गरिमा को आज तक कोई समझ नहीं सका। वस्तुत: इसे ही वेदविदों ने नेति-नेति कहा है। यह ही अप्रत्यक्ष शिल्पी का अभिव्यक्त रूप है। इसी के कण-कण के स्पन्दन में वह गुरुतर प्रकट होता है। कुछ लोगों ने इसे माया कहा है अर्थात् जिसका अस्तित्व नहीं। जो है ही नहीं, वही माया है। माया सांसारिक विकारों की जननी है पर प्रकृति तो संसार की जननी है। प्रकृति और माया में द्वैताद्वैत सम्बन्ध है। जल और लहरें पृथक् होते हुए भी एक हैं। जल स्थिर है, लहरें चंचल। लहरों का उद्वेलन ही अशान्ति का कारक है और लहरों का सम रूप ही जल की वास्तविक प्रकृति है। निर्मल, शीतल, शान्त सरोवर में ही ऋषियों का हंसा केलि करता है। जल है, इसलिए लहरे हैं। यह है मिट्टी का अनेकान्तिक दृष्टिकोण। एक के अस्तित्व पर दूसरे का अस्तित्व निर्भर तो है पर ये अन्योन्याश्रित नहीं हैं। मिट्टी है, इसलिए सुख-दुख, हर्ष-शोक, रोग-भोग सब का अस्तित्व है पर मिट्टी इन सब की कारक नहीं है, जननी नहीं है। उसकी गोद में तो गुलाब और बबूल, कमल और करील दोनों को आश्रय मिलता है।

उपयोगिता सब की है। दुख के बिना भी काम नहीं चलता और सुख के बिना भी। एक की उपस्थिति में दूसरे की अनुपस्थिति दुख का कारण बन जाती है। इसलिए **मिट्टी का सन्देश** है– सम्यक् ज्ञान रखो, सम्यक् बनो, सब का उपयोग करो, सब का भोग करो। भोजन के षट् रसों में मीठा के साथ-साथ चटनी का भी एक रस होता है। हाँ, सीमा का उल्लंघन ही दुख का हेतु है। अत: संयम ही जीवन का इष्ट है। जीवन कला के सम्यक् ज्ञाता बनने का सम्बोध ही मिट्टी का सन्देश है। शिल्पी को किसी ने नहीं देखा, उसकी प्रतीति होती है पर मिट्टी तो माँ है न ? उसका स्नेहिल संस्पर्श इस सारे जगत् और जीव संसार को प्रत्यक्षत: रोमांचित करता रहता है।

आश्चर्य का विषय तो यह है कि यह माटी कभी कुछ कहती नहीं, कभी कुछ माँगती नहीं, किसी के समक्ष हाथ नहीं पसारती। वह आत्म सन्तृप्त है और विनाश-निर्माण, उद्भव-विकास, हर्ष-विषाद सबसे परे यह आत्म-स्वरूप है। वह समस्त विद्याओं का सागर है फिर भी वह निरी माटी है, सबके चरणों में निर्लिप्त भाव से पड़ी रहने वाली एक सामान्य जीवात्मा जैसी। अपने इसी रूप में वह सब आत्माओं में प्रशान्ति का प्रकाश भरती रहती है। अगर कोई उससे खेल-खिलौने और घरौंदे बनाता है तब भी वह मौन है, अगर कोई उसका उपयोग नहीं करता तब भी वह मूक है। वह मूलत: अव्ययी भाव है। वह यह भी नहीं कहती है कि मैं वह माटी हूँ जिसमें अन्तत: तुम्हें बार-बार मिलते रहना है। कबीर की माटी तो बड़बोली थी। वह, कुम्भकार से कहती थी कि तुम मुझे अपने पैरों से क्या रौंदते हो, एक दिन ऐसा भी होगा कि मैं तुम्हें रौंद डालूँगी। पर आचार्य विद्यासागर की 'मूकमाटी' की महागाथा तो शब्दातीत है, अनुभूति अगम्य है। वह एक जैन ऋषि के निर्मल मानस की सत्कृति है। वह मूक होकर भी मुखरा है, पर वह आत्म स्तवन नहीं करती। वह कान्ता-सम्मत उपदेश देती है। वह माँ की मर्यादा में बँधी है। ऋषि की तरह वह भी परम जैनी है अर्थात् उसने भी अपनी विविध इन्द्रियों के साथ-साथ मन का निग्रह कर लिया है। वह अवशा है। वह भौतिक इन्द्रियों से अतीत है। उस चिदम्बरा को देखने और उसके स्पन्दन सुनने के लिए दिव्य चक्षुओं के साथ-साथ दिव्य श्रोतेन्द्रियों की भी आवश्यकता है। शब्द उसका बोध कराने में असमर्थ हैं और यदि उसका बोध होता है तो वह उसका शोध नहीं है। वह आत्म शोध ही है। वह स्वयं को भी जानने का एक उपक्रम है। वह आत्म साक्षात्कार की ही एक प्रक्रिया है। जिस प्रकार कुंकुम-सम मृदु माटी में बीज एवं मात्रानुकूल निर्मल जल मिलकर नए प्राण पा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी के पदों में जा अज्ञानी नव ज्ञान की प्राप्ति करता है। अस्थिरता को स्थिरता मिलती है एवं अचिर को चिरता। नित्य नूतन परिवर्तन का यही रहस्य है। यही 'मूकमाटी' का स्वानुभूत सत्य है। इस सन्दर्भ में कवि का कथन है :

> *"तन में चेतन का/चिरन्तन नर्तन है यह*
> *वह कौन सी आँखें हैं/किस की, कहाँ हैं*
> *जिन्हें सम्भव है/इस नर्तन का दर्शन यह ?" (पृ. ९०)*

यह मानवीय काया तो जड़ की छाया है, माया है, जाया-सी लगती है यह। जो प्रकृति को छोड़, माँ को भूल, इस काया-जाया की ज्यादा चिन्ता करते हैं, प्रकृति से दूर हटते हैं, उनका जीवन विकारों और विकृतियों से भर जाता है। वस्तुत: पुरुष का प्रकृति में रमना ही मोक्ष है, जीवन का रहस्य और सार है। इस सन्दर्भ में आचार्यश्री ने लिखा है:

- *"काया तो काया है/जड़ की छाया-माया है/लगती है जाया-सी···।" (पृ.९२)*
- *"पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा*
  पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।
  और/अन्यत्र रमना ही/भ्रमना है/मोह है, संसार है।" (पृ. ९३)

आचार्यश्री का यह भी कहना है कि वस्तुत: कामवृत्ति, काया में रत होने वाली तामसिकता है। यह सही

मायने में पुरुष की भीतरी कायरता है। इसीलिए उसे अकाय में रत होना होगा, तभी काय और कायरता– ये दोनों अन्त काल की गोद में अनन्त काल के लिए विलीन हो जाएँगी :

> *"सुनो, सही सुनो/मनोयोग से!/अकाय में रत हो जा।*
> *काय और कायरता/ये दोनों/अन्त-काल की गोद में विलीन हों*
> *आगामी अनन्त काल के लिए!" (पृ. ९४)*

तन का बल, मन का बल, मन की छाँव में मान का पनपना और नम-न के माध्यम से उसे विजित करना, बदले की भावना, परपीड़न, कामदेव का आयुध, पश्चिमी सभ्यता, धन घमण्ड, क्षमा, पाप, बोध, हित, शाश्वत साहित्य, विविध रसों की प्रकृतियाँ, मोह, मोक्ष, कवि, कर माँगता है कर, मौन, आस्था, निष्ठा, प्रतिष्ठा, पराकाष्ठा, तन-मन-वचन, पुरुष, पुरुषार्थ, अस्तित्व, करुणा, संसार, ९९ और ६३ का रहस्य, श्वान-सिंह-सभ्यता, ही-भी, एकान्त-अनेकान्त-दर्शन आदि जैसे शताधिक प्रासंगिक और गहन विषयों के रहस्य को प्रगीतात्मक उन्मेष में कवि की वाणी कभी शिल्पी के तप में तो कभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में स्पष्ट करती है । यह एक ऐसा कठिन प्रयास है जो एक महाकवि की सहज साधना द्वारा ही लब्ध हो सकता है । यहाँ हम आचार्य श्री विद्यासागर के कुछ अतिशय महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार प्रस्तुत कर 'मूकमाटी' की अतुलित मुखर प्रतिभा का उद्घाटन कर रहे हैं। समाजवाद के सन्दर्भ में उन्होंने लिखा है :

> *"समाज का अर्थ होता है समूह/और/समूह यानी*
> *सम–समीचीन ऊह–विचार है/जो सदाचार की नींव है।*
> *कुल मिलाकर अर्थ यह हुआ कि/प्रचार-प्रसार से दूर*
> *प्रशस्त आचार-विचार वालों का/जीवन ही समाजवाद है।*
> *समाजवाद समाजवाद चिल्लाने मात्र से/समाजवादी नहीं बनोगे।"(पृ. ४६१)*

धन संग्रह, अपरिग्रह आदि के सन्दर्भ में कवि का कथन है : *"अब धन-संग्रह नहीं,/जन-संग्रह करो!/और/लोभ के वशीभूत हो/अन्धाधुन्ध संकलित का/समुचित वितरण करो/अन्यथा,/धनहीनों में/चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।/चोरी मत करो, चोरी मत करो/यह कहना केवल/धर्म का नाटक है/उपरिल सभ्यता" उपचार!/चोर इतने पापी नहीं होते जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।/तुम स्वयं चोर हो/चोरों को पालते हो/और/चोरों के जनक भी "(पृ.४६७-४६८)*– उद्धरण चिह्नों में अंकित उपर्युक्त पंक्तियाँ उनके काव्य का मूल अंश हैं। इनमें विचारों की धारावाहिकता ने गद्य-पद्य के भेद को भी समाप्त कर दिया है। पद्यात्मकता की औपचारिकता मात्र मुक्त छन्द के प्रवाह में निहित है। सत्यासत्य की विवेचना में भी उनकी इसी गद्य और पद्य से परे भावात्मक और विशेष कर हार्दिक दुखद संवेगों को ध्वनित करने वाली शैली के दर्शन होते हैं। यहाँ हम उनके द्वारा प्रयुक्त छन्द का मूल रूप प्रस्तुत कर रहे हैं :

> *"सत्य का आत्म-समर्पण/और वह भी/असत्य के सामने?/हे भगवन्!*
> *यह कैसा काल आ गया,/क्या असत्य शासक बनेगा अब?/क्या सत्य शासित होगा?*
> *हाय रे जौहरी के हाट में/आज हीरक-हार की हार!/हाय रे!, काँच की चकाचौंध में*
> *मरी जा रही–/हीरे की झगझगाहट!" (पृ. ४६९-४७०)*

भावाभिव्यक्ति की सहजता के साथ-साथ भाषाधिकार की असाधरणता ने आपकी काव्य-कला को अन्यतम बना दिया है। शब्द-क्रीड़ा तो आपके इस ग्रन्थ में जगह-जगह पर मिल जाती है। शब्दों में किंचित् परिवर्तन करके

आपने नए-नए अर्थ भरने का सार्थक प्रयत्न किया है, यथा :

''अपराधी नहीं बनो/अपरा 'धी' बनो,/'पराधी' नहीं
पराधीन नहीं/परन्तु/अपराधीन बनो !'' (पृ. ४७७)

यहाँ 'अपराधी' शब्द के विविध विग्रहों से अनेक और सार्थक अर्थों की व्यंजना हुई है, जिससे आपका यह कर्तृत्व गौरव मण्डित हो उठा है।

प्रकृति के रम्य चित्रों की कमी भी इस कृति में नहीं है। एक स्थल पर बाल भानु की भास्वर आभा का चित्रण करते हुए आप उत्प्रेक्षा करते हैं कि वह आभा निरन्तर उठती चंचल लहरों में उलझती हुई ऐसी लगती है जैसे वह गुलाबी साड़ी पहने मदवती अबला-सी स्नान करती-करती लज्जावश सकुचा रही है। इसी के आगे वे लिखते हैं कि तट के झाग में अरुण की आभा का मिश्रण ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे तट स्वयं अपने करों में गुलाब का हार लेकर स्वागत में खड़ा हुआ है।

इस प्रकार आधुनिक युग के हिन्दी महाकाव्यों में 'कामायनी' और 'लोकायतन' की श्रेणी में 'मूकमाटी' लोक मंगल चेतना का एक अग्रिम सोपान है। 'कामायनी' में मानवता के विकास की कथा है तो 'लोकायतन' में चेतना के आरोहण-अवरोहण का स्वर्गिक दृश्य और 'मूकमाटी' इन दोनों को सुदृढ़ आश्रय प्रदान करती है। वह लोक चेतना के समाजीकरण का महाकाव्य है। महावीर स्वामी की वाणी और जैन धर्म-दर्शन का जो मूल तत्त्व है, वह सब 'मूकमाटी' में मुखरित होकर हमारे समक्ष आता है। इस तरह यह महाकाव्य गत ढाई हजार वर्षों की भारतीय धर्म-दर्शन- संस्कृति के श्रेष्ठ मनीषियों का माखन तुल्य है। वह एक ऐसी मूक पीठिका है जिस पर भावी संस्कृति की नींव रखी जानी है। यह एक ऐसी कृति है जिसे आधार बनाकर अब हिन्दी के आचार्यों को महाकाव्य के परम्परागत तत्त्वों से ऊपर उठकर उसके नए आयामों को गढ़ना होगा। इस तरह 'मूकमाटी' का अन्वेषण और मूल्यांकन नए साहित्यिक निकषों की माँग करता है। इसमें कवि का कथाहीन सांस्कृतिक रहस्यात्मक परिवेश उसे महाकवि की ऊँचाइयों तक ले गया है। यह सहज, अनुभूत, आत्मिक उद्‌गारों की एक अनवरत और अविराम अभिव्यक्ति है जिसमें गद्य-पद्य की विभाजक रेखाएँ भी समरस होकर एक प्रवाहित सहज छन्द की संरचना करती हैं। यह महाकाव्य एक साधक-चिन्तक कवि का समग्र जीवन मूल्य होते हुए भी युगीन मानव जीवन का भाष्य है, उसका पथ, पाथेय और प्राप्तव्य भी है। वह कवि की सृजनशील प्रतिभा का आदिम सर्ग, उपसर्ग, विसर्ग और वर्गातीत अपवर्ग है।

कवि ने अपने इस ग्रन्थ का समापन करते हुए जो अन्तिम बात अपने सम्बन्ध में कही है, वही बात इसके मूल्यांकन के सन्दर्भ में भी सच है :

''क्षेत्र की नहीं,/आचरण की दृष्टि से/मैं जहाँ पर हूँ
वहाँ आकर देखो मुझे,/तुम्हें होगी मेरी/सही-सही पहचान
क्योंकि/ऊपर से नीचे देखने से/चक्कर आता है
और/नीचे से ऊपर का अनुमान/लगभग गलत निकलता है।'' (पृ. ४८७-४८८)

अत: 'मूकमाटी' का सम्यक् मूल्यांकन कोई मुखर शिल्पी ही कर सकता है और वह भी मंज़िल पर पहुँचने के बाद, मार्ग में नहीं।

❑

'मूकमाटी' : मनुष्य की यथा-कथा

बशीर अहमद मयूख

उपनिषद् ने सृष्टि के सर्जक को ब्रह्म कहकर पुकारा, और इसका स्थान मानव मन की गहन गुफा में बताया। कविता का उद्भव स्थल भी यही मन है। इसी गहन गुफा में भाव जगत् का आविर्भाव होता है, जहाँ दृश्य भी रहता है, द्रष्टा भी और देखने की प्रक्रिया भी चलती रहती है। लेकिन चेतना की चरम तल्लीनता में ऐसे क्षण भी आते हैं जब इस भाव जगत् में दृश्य, द्रष्टा एवं देखने की प्रक्रिया सब समाप्त हो जाती है। शेष रह जाता है केवल एक साक्षी भाव, गवाह की स्थिति। लगता है सृष्टि का रचनाकार भी इस सारी प्रक्रिया से गुज़रकर एक साक्षी-भाव में व्याप्त हो गया और इसी स्थिति में हुई इस समस्त जड़-चेतन, दृश्य-अदृश्य जगत् की सर्जना।

मन के इसी साक्षी भाव से सृष्टि की रचना हुई और रचनाकार का नाम कहा गया 'ब्रह्मा'। इस ब्रह्म का एक और नाम है 'कवि'। यह सही नाम है, क्योंकि कवि भी सर्जक है जो शब्द ब्रह्म की सृष्टि करता है। शब्द, जो ब्रह्म की ही भाँति अजर, अमर, अविनश्वर है।

'मूकमाटी' महाकाव्य के रचनाकार कवि आचार्य विद्यासागर उपरोक्त सभी स्थितियों से गुज़रते हुए जब साक्षी भाव को उपलब्ध हुए तो मूकमाटी मुखर हो उठी। टूट गया धरित्री का मौन। धरित्री जो धारण किए हुए है अखिल भुवन को, जल भूतल को, समस्त जड़-चेतन एवं गतिमय-स्थिर को। कवि ब्रह्मा ने अपना यह सारा सृजन कवि को भेंट कर दिया और मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'ऋग्वेद' में संघोष करने लगा :

"तुभ्येमा भुवना कवे महिम्ने सोम तस्थिरे
तुभ्यमर्षन्ति सिन्धवः ॥" (९-६२-२७)

आचार्य विद्यासागरजी ने इसी अगम-अगोचर का ज्ञानी-द्रष्टा बनकर 'मूकमाटी' में मनुष्य की यथा-कथा कही है। इस उद्देश्य को स्वीकारते हुए रचनाकार ने कहा है :

"मैं यथाकार बनना चाहता हूँ/व्यथाकार नहीं।
और/मैं तथाकार बनना चाहता हूँ/कथाकार नहीं।
इस लेखनी की भी यही भावना है—/कृति रहे, संस्कृति रहे
आगामी असीम काल तक/जागृत···जीवित···अजित···!
सहज प्रकृति का वह/शृंगार-श्रीकार/मनहर आकार ले
जिसमें आकृत होता है।/कर्त्ता न रहे, वह/विश्व के सम्मुख कभी भी
विषम - विकृति का वह/क्षार-दार संसार/अहंकार का हुँकार ले
जिसमें जागृत होता है।/और/हित स्व-पर का यह
निश्चित निराकृत होता है!" (पृ. २४५-२४६)

धरित्री का यह उपहार मिला था मनुष्य को फूल खिलाने के लिए, इसमें बाग़ लगाने के लिए। लेकिन वह तो इसमें आग लगा रहा है, युद्ध रचाकर अपनी ही सन्तानों का भक्षण कर पशु बन गया है, और पशुओं में भी सिंह नहीं-श्वान। 'मूकमाटी' में सिंह और श्वान के माध्यम से कवि सम्बोधन करता है :

"श्वान-जाति का एक और/अति निन्द्य कर्म है, कि

जब कभी क्षुधा से पीड़ित हो/खाद्य नहीं मिलने से
मल पर भी मुँह मारता है वह,/और/जब मल भी नहीं मिलता···तो
अपनी सन्तान को ही खा जाता है,/किन्तु, सुनो !/भूख, मिटाने हेतु
सिंह विष्ठा का सेवन नहीं करता/न ही अपने
सद्यःजात शिशु का भक्षण···!" (पृ. १७१-१७२)

आज परमाणु आयुध बनाने वाली शक्तियाँ अपनी ही सन्तानों का भक्षण करने का 'श्वान चरित्र' ही मुखर कर रही हैं। मनुष्य के मन में स्नेह और शील गुण तो आज रहा ही नहीं। इसी सन्त्रास को अभिव्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने 'शील पाहुड़' में कहा :

"सीलगुणवज्जिदाणं णिरत्थयं माणुसं जम्म" ॥१५॥

महाकाव्य का खण्ड दो 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' में जहाँ शब्द लालित्य, अभिनव शब्द विन्यास तथा भावार्थ-पर्याय का सुन्दरतम, मनोरम कथ्य है, वहीं प्रकृति और प्रेम का सहज सम्बन्ध स्थापित करते हुए उसे वह मोक्ष तक पहुँचा देता है। कवि घोषणा करता है :

"स्वभाव से ही/प्रेम है हमारा/और/स्वभाव में ही/क्षेम है हमारा !
पुरुष प्रकृति से/यदि दूर होगा/निश्चित ही वह/विकृति का पूर होगा
पुरुष का प्रकृति में रमना ही/मोक्ष है, सार है।/और/अन्यत्र रमना ही
भ्रमना है/मोह है, संसार है···!" (पृ. ९३)

आत्मा का स्वभाव तो प्रेम है किन्तु इसका शुभ-अशुभ भाव में परिणमन भी हो जाता है, जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा 'प्रवचनसार' में कहा गया है :

"जीवो परिणमदि जदा, सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो" ॥ ९ ॥

ग्रन्थ का चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' में कवि तुच्छ लकड़ी के माध्यम से बहुत बड़ी बात कह जाता है :

"लड़खड़ाती लकड़ी की रसना/रुकती-रुकती फिर कहती है—
निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ. २७२)

लेकिन डूबते को बचाना तभी सम्भव है जब बचाने वाले के साथ डूबने वाला भी बचने का प्रयास करे। अतः आगे कहा गया :

"नीचे से निर्बल को ऊपर उठाते समय/उसके हाथ में पीड़ा हो सकती है,
उसमें उठानेवाले का दोष नहीं,/उठने की शक्ति नहीं होना ही दोष है।"
(पृ. २७२-२७३)

पथ-प्रदर्शक कुम्भ के माध्यम से कवि साक्षात् काव्य बन कर बोल उठता है :

"युगों से वंश-परम्परा से/वंशीधर के अधरों का/प्यार-पीयूष मिला जिसे
वह बाँस-पंक्ति/मांसल बाँह-वाली/मंगल-कारक, अमंगल-वारक
तोरण-द्वार का अनुकरण करती/कुम्भ के पदों में प्रणिपात करती है
स्वयं को धन्य-तमा मानती है।/और/दृग-बिन्दुओं के मिष
हंस-परमहंसों-सी भूरि-शुभ्रा/वंश-मुक्ता की वर्षा करती है।" (पृ. ४२४)

दु:ख और आत्मा के सम्बन्ध में कवि अपना आध्यात्मिक चिन्तन अभिव्यक्त करते हुए कह उठता है :

"दु:ख आत्मा का स्वभाव - धर्म नहीं हो सकता,
मोह-कर्म से प्रभावित आत्मा का/विभाव-परिणमन मात्र है वह।
नैमित्तिक परिणाम कथंचित् पराये हैं।" (पृ. ३०५)

'मूकमाटी' के माध्यम से हमारे आध्यात्मिक देश का 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सन्देश भी ध्वनित होता है। हमारी मान्यता है कि मनुष्य का धर्म एक है, मनुष्य की संस्कृति एक है और मनुष्य का ईश्वर एक है।

हमारी धर्म धारणा विश्व बन्धुत्व, प्रेम, करुणा और विश्व शान्ति पर आधारित है, जिसे समग्र दृष्टि से देखने पर 'मूकमाटी' में स्पष्ट देखा जा सकता है। हमारी धारणा है कि जब मनुष्य की प्रार्थना में महावीर का 'णमो लोए सव्व साहूणं', बुद्ध का 'धम्मं सरणं' समाहित हो जाए, तब धर्म का उदय होता है; जब शंकराचार्य की अद्वैत-चेतना, वात्स्यायन की उन्मुक्तता मन के तार झंकृत करे, तब धर्म का उदय होता है; जब क्षमा और करुणा के मसीहा ईसा, शान्ति और विश्व भाईचारे एवं समानता के स्वप्नद्रष्टा मुहम्मद मनुष्य के मन पर दस्तक दें, तब धर्म का उदय होता है; जब लाओत्से, जरथुस्थ और ताओ मानव मन में आनन्द की सुगन्ध भर दें, तब धर्म का उदय होता है। अविभाज्य हैं ये सारे युग पुरुष और इनका सन्देश।

महाकाव्य के मानदण्ड और प्रचलित मान्य परिभाषा के बारे में कुछ कहने का स्वयं को अधिकारी नहीं पाता। काव्य सृजन में भी आचार्यश्री का प्रवचनकार कवि से कहीं अधिक मुखर हो उठा है। मुझे आचार्यश्री का प्रवचन सुनने का सौभाग्य नहीं मिला, लेकिन मेरी धारणा है कि उनके प्रवचन भी काव्य का-सा आनन्द देते होंगे। शब्दों के पर्याय, शब्दों के सन्धि-विच्छेद रूप आदि काव्यात्मक अर्थ देकर उनका कवि रूप तो प्रकट करते ही हैं, मनुष्य के मन पर सीधे दस्तक भी देते हैं, धर्म का उदय करते हैं।

आप स्वयं को भक्त मानें, कुम्भकार मानें अथवा घट - इस धर्म जल को कितना भर पाते हैं, यह आपकी क्षमता, पात्रता पर निर्भर है। कहीं आप छोटी-सी लुटिया में तो इसे नहीं भरना चाहते ? धर्म का यह उदय-जल घट-घाटों को भुलाकर नीर की एकता पर ध्यान केन्द्रित करने पर ही उपलब्ध होगा।

'मूकमाटी' में आचार्य श्री विद्यासागर ने अध्यात्म के दर्शन को पसारा दिया है। विविध रूपकों, शब्दार्थों के माध्यम से अपने क्रान्तद्रष्टा कवि-धर्म का निर्वहन किया है। प्रणम्य है उनका यह काव्य चिन्तन।

❑

'मूकमाटी' : अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाला महान् ग्रन्थ

मानव मुनि

पूज्य आध्यात्मिक योगिराज आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज द्वारा रचित महाकाव्य 'मूकमाटी' को सन्त-कवि ने चार खण्डों में विभक्त किया है--खण्ड प्रथम-'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; खण्ड द्वितीय-'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; खण्ड तृतीय-'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा खण्ड चतुर्थ-'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

४८८ पृष्ठीय यह ग्रन्थ मानव समाज के लिए, जो विचारक व चिन्तनशील हैं, आत्म तत्त्व को गहराई से समझने की जिन्हें जिज्ञासा है, उनके लिए 'मूकमाटी' महाकाव्य के एक-एक खण्ड के एक-एक शब्द आत्मबोध देने वाले हैं। संक्षिप्त में लिखा जाए तो 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' अर्थात् अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले इस महान् ग्रन्थ को ग्रन्थ कहूँ या आत्मसार का तत्त्व-दर्शन कहूँ !

चारों खण्डों का यदि मानव – जो ज्ञानी है, ध्यानी है, आत्म चिन्तक है– गहराई से, शान्त चित्त से, एकाग्रता के साथ अध्ययन करते हुए शब्दों पर चिन्तन करे तो पुरुषार्थ के द्वारा स्वयं जीवन का कुम्भकार, भाग्य विधाता बन सकता है।

कुम्भकार ने तो मिट्टी को खोदकर बड़ी मेहनत के साथ कच्चे घट बनाकर उन्हें तपाया, तब जाकर वो वास्तविकता का रूप बना। उसी प्रकार जीवन को भी तपाना होगा त्याग, संयम, साधना द्वारा, तब ही तो वीतरागी अपने पुरुषार्थ से अर्हन्तदेव बन सकता है।

'मूकमाटी' (महाकाव्य) के चारों खण्डों पर आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचन किया जाए, लिखा जाए तो एक नया ग्रन्थ समीक्षा का हो सकता है। सार तत्त्व का अध्ययन सूक्ष्म से सूक्ष्म दृष्टि से किया जाए तो ऐसा महसूस होता है कि सागर को 'गागर' में समा लिया। इसे धर्म दर्शन कहें या जैन तत्त्व दर्शन कहा जाए, पर वास्तविकता में यह महाकाव्यात्मक रचना, आत्मदर्शन की ओर ले जाने की प्रेरणा देती है।

महाकाव्य के चारों खण्डों में विभिन्न पहलुओं के माध्यम से बोध दिया है। प्रथम खण्ड का सार तत्त्व है-'दया-विसुद्धो धम्मो'- यानी दया ही विशुद्ध धर्म है। दूसरे खण्ड का सार तत्त्व यह है कि यदि जीवन के समय का अपव्यय करते हैं तो क्या भविष्य उससे उज्ज्वल दिखाई देगा ? अन्त में मृत्यु हमें विकराल गाल में बिना चबाए साबुत ही निगलना चाहती है अर्थात् मृत्यु हमें अन्त में निगल जाएगी।

तीसरे खण्ड का महत्त्वपूर्ण सार तत्त्व यह है कि साधक की अन्तर्दृष्टि में जब यह भाव जागृत हो जाएगा कि किसी प्रकार से किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहे, तब यात्रा को लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकेगा। यदि साधक के मन में किसी भी प्रकार से भेद रह जाता है तो यात्रा पूर्ण नहीं होगी। यात्रा बाह्य नहीं, अन्तर्दृष्टि से सफल होगी।

चौथे खण्ड का सार - जिसे कहा जाए - दूध से दही एवं दही से मक्खन निकाला जाना है, उसे तपाने पर घी प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार से ही कर्मों के बन्धनों से मुक्त होकर कर्मों की निर्जरा/क्षय करके निर्मल हो जाना है – यही है 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'। उसी प्रकार बन्धन रूप तन-मन और वचन का आमूल मिट जाना ही मोक्ष है। जिसका मन मन्दिर निर्मल, पवित्र हो जाता है, राग-द्वेष से रहित हो जाता है, उसे ही वीतरागी कहिए या मोक्ष पद के योग्य कहिए।

❑

'मूकमाटी' : जीवन का विज्ञान

डॉ. रामचन्द्र मालवीय

समीक्ष्य महाकाव्य 'मूकमाटी' आचार्य विद्यासागर द्वारा रचा गया है। हमारा देश अपनी आदर्शवादी परम्परा के कारण एक ओर त्याग के मामले में जाना जाता है वहीं दूसरी ओर तपस्या और ज्ञान के मामले में भी आगे है। 'मूकमाटी' महाकाव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागर जहाँ 'मूकमाटी' में अनेक तरह के आदर्श प्रस्तुत करते हैं, वहीं त्यागी और ज्ञानी के रूप में भी जाने जाते हैं।

भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित यह महाकाव्य चार खण्डों में है। और चार सौ अठासी पृष्ठों में यह प्रकाशित हुआ है। धर्म और ईश्वरीय भावना से ओतप्रोत 'मूकमाटी' महाकाव्य एक दर्शन विशेष का महत्त्वपूर्ण अंग है। महाकाव्य की परम्परागत परिभाषाओं से हटकर यदि विचार करें तो यह 'मूकमाटी' महाकाव्य, वस्तुतः ऐसा महाकाव्य है जो परिभाषाओं के अनेक पहलुओं को छूता है और अनेक नए पक्षों को जन्म देता है। 'मूकमाटी' महाकाव्य के मुख्य विषय हैं– 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालनः पाप-प्रक्षालन' एवं 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

जैसा कि महाकाव्य का नाम है 'मूकमाटी', अतः इस के प्रथम खण्ड में माटी की उस प्राथमिक दशा के रचने की प्रक्रिया को व्यक्त किया गया है जहाँ वह छोटे रूप में कंकर एवं छोटे कणों से मिली-जुली अवस्था में है।

> *''भानु की निद्रा टूट तो गई है/परन्तु अभी वह/लेटा है*
> *माँ की मार्दव-गोद में,/मुख पर अंचल ले कर/करवटें ले रहा है।*
> *प्राची के अधरों पर/मन्द मधुरिम मुस्कान है/सर पर पल्ला नहीं है/और*
> *सिंदूरी धूल उड़ती-सी/रंगीन-राग की आभा–/भाई है, भाई···!'' (पृ. १)*

तात्पर्य यह कि कुम्भकार की कल्पना में माटी के मंगल घट को जो सार्थक रूप देना चाहा है, उसके लिए पहले सन्त कवि आचार्य विद्यासागर ने अपने तन और मन को मिट्टी की सुगन्ध से सुगन्धित किया है और फिर रचना की है महाकाव्य 'मूकमाटी' की। महाकाव्य में नवीनता, भाषिक सृजनशीलता तथा माटी का मुख्य प्रक्रिया सम्बन्धी काव्य-चिन्तन रोचक और हृदयंगम भाषा में है।

एक प्रकार से माटी सम्बन्धी पूरा व्यवस्थित विवेचन हुआ है। महाकाव्य में आए माटी विषयक सूत्र और सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं। महाकाव्य में मुख्यतः चारों खण्डों में आधुनिकता और उसके सन्दर्भ में सृजनशीलता, भाषा, संवेदना, व्यक्तित्व की स्वाधीनता आदि काव्यतत्त्व भी महत्त्वपूर्ण हैं। एक प्रकार से 'मूकमाटी' महाकाव्य सतत सृजन कर्म में प्रवृत्त प्रक्रिया है। पिछली अनेक महाकाव्यगत दृष्टियों से हटकर 'मूकमाटी' की काव्य दृष्टि में विशेषता है कि यह अमान्य मूल्यों पर रुकती नहीं है वरन् यह निरन्तर वैज्ञानिक मूल्यबोध की स्वीकारिता है :

> *''यह बात निराली है, कि/मौलिक मुक्ताओं का निधान सागर भी है/कारण कि*
> *मुक्ता का उपादान जल है,/यानी–जल ही मुक्ता का रूप धारण करता है*
> *...स्वयं धरती ने सीप को प्रशिक्षित कर/सागर में प्रेषित किया है।''*
> *(पृ. १९२-१९३)*

महाकाव्य की अपेक्षा के अनुसार महाकाव्य 'मूकमाटी' में प्राकृतिक परिवेश के अतिरिक्त काव्य सृजन के

अन्य पक्ष भी समाहित हुए हैं। महाकाव्य में माटी विषयक नायक-नायिका को खोजना और उनका पक्ष जानना भी अत्यन्त रोचक है। मान सकते हैं कि माटी नायिका और कुम्भकार नायक हो सकता है, फिर दोनों का प्रेम प्रसंग और भी महत्त्वपूर्ण है। 'मूकमाटी' महाकाव्य की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि महाकाव्य की रचना पद्धति से मानवीय जीवन दर्शन परिभाषित होता है और इसका दर्शन आरोपित नहीं वरन् अपने प्रसंग और परिवेश में से उद्घाटित होता हुआ आगे बढ़ता है :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य--/यहाँ पर जो
भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ.२८)

महाकाव्य में काव्य की दृष्टि से शब्दालंकार और अर्थालंकार की छटा अनेक नए सन्दर्भों में प्रस्तुत हुई है। इसमें शब्द की व्युत्पत्ति, काव्य के अन्तरंग अर्थ की झाँकी के अतिरिक्त अर्थ के अनूठे और अछूते आयामों का भी दर्शन होता है। शब्दों और अर्थों के मेल से सन्त कवि आचार्य विद्यासागर ने माटी और कुम्भकार के माध्यम से युगों-युगों की उस मानवीय भावना को व्यक्त किया है जिसे आज तक इस प्रकार के प्रतीक से कोई कवि पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर सका है। महाकाव्य में मंगल घट की सार्थकता गुरु के पाद-प्रक्षालन में है, जो काव्य के पात्रों का आधार है।

अत: कहा जा सकता है कि सन्त कवि आचार्य विद्यासागर ने महाकाव्य के माध्यम से शुद्ध सात्त्विक भावों द्वारा मानवीय जीवन के धर्म को पुष्ट रूप में अपना कर 'मूकमाटी' की रचना की है। इस महाकाव्य का प्रयोजन राजनैतिक, शैक्षणिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में प्रविष्ट हुई कुरीतियों को निर्मूल कर युग को शुभ संस्कारों से संस्कारित करना है और भारतीय संस्कृति को जीवित रखना है, तभी इस महाकाव्य का नामकरण हुआ है 'मूकमाटी'।

[दैनिक भास्कर, जबलपुर, मध्यप्रदेश, ९ जनवरी, १९९४]

❑

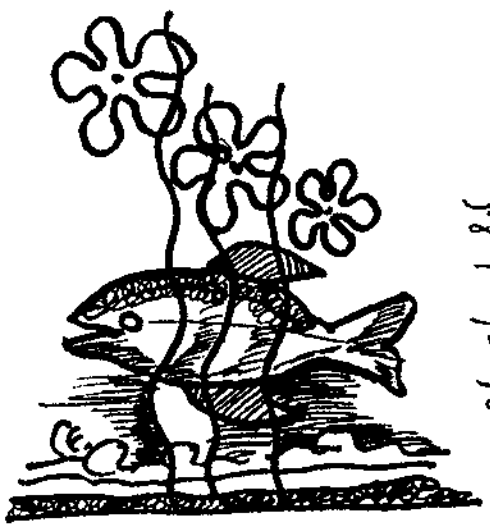

पृ. ६६
उधर-क्या हुआ?
------ उसकी
मानस-स्थिति भी
ऊर्ध्वमुखी होगई,

'मूकमाटी' : अन्तश्चेतना का महाकाव्य

नवभारत (दैनिक), नागपुर (महाराष्ट्र)

धर्म, दर्शन, न्याय को अपने गर्भ में समाहित किए हुए 'मूकमाटी' अध्यात्म का एक महाकाव्य है। अध्यात्म के रहस्यमयसार का आज की बोलचाल की भाषा में सरलीकरण करके मुक्त छन्द में इसकी रचना की गई है। हिन्दी साहित्य के लिए यह महाकाव्य सर्वकल्याणोन्मुखी, चिरस्थाई प्रकाश स्तम्भ होगा।

इसके सृजक स्वयं कविरूपी कुम्भकार हैं जिन्होंने चिन्तन व मनन को शब्दों का रूप देकर काव्य की रचना की है। इसमें शब्द का अर्थ, अलंकारों की अलौकिक छटा, शब्दों, मुहावरों, सूक्तियों, उपमाओं, रसों व शब्दों की तोड़फोड़ का अनुपमेय प्रयोग कर रसराज के रूप में 'शान्त रस' की स्थापना की है।

आचार्यश्री अध्यात्म जीवन के ऐसे शिल्पकार हैं जिन्होंने अपनी यात्रा पूर्ण करने के लिए जिनागम के विशाल वैभव को अपनी प्रज्ञारूपी पैनी छैनी से, आगम की अगम गहराइयों में छिपी रहस्यपूर्ण घटनाओं को उद्घाटित कर माटी के माध्यम से मूल से चूल तक अर्थात् अधोलोक, ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक एवं सिद्धलोक तक की स्थिति का सांगोपांग वर्णन किया है। मैं तो कह सकता हूँ कि आज का भौतिकवादी मानव– जिसे यन्त्रों का सम्राट् कह दें - वह वाहन यात्री एवं थाली पात्री होकर के चारों धाम ही क्या, सारे भूमण्डल से गगन मण्डल तक की यात्रा बहुत ही सुखद, सरगम संगीत, आनन्द के साथ कर सकता है, किन्तु महामना विद्यासागरजी की कृति पर लेखनी चलाना उससे भी कई गुना दूभर, असाध्य कार्य है। कृतिकार ने अपने भावों को यन्त्र-सम-संयत, नाप-तौल कर भावों के माध्यम से अन्तर के उद्गार व्यक्त कर कहा है कि हिंसक की हिंसा करना ही अहिंसा का साम्राज्य दशों दिशाओं में फैलाना है। अहिंसक की हिंसा करना हिंसा का ताण्डव नृत्य कर, हिंसा की क्रान्ति कर शान्ति को तिलांजलि देना बतलाया है।

कृति में नैतिकता का प्रबल भाव, सत्य का प्रतिशोध, स्वार्थ रहित हार्दिक भावना व उज्ज्वल उद्देश्य अत्यधिक प्रवहमान है। यदि कोई अपना अभीष्ट उद्देश्य सिद्ध करना चाहे तो 'मूकमाटी' को पढ़कर सिद्ध कर सकता है। काव्य में केवल जैन सिद्धान्तों का ही समावेश नहीं किन्तु सर्वदर्शन के साथ भारतीय सिद्धान्तों, विचारों का दोहन भी विद्यमान है। रचयिता नि:सन्देह बहुश्रुतविज्ञ, ऐतिहासिक, राजनैतिक तथा वैज्ञानिक तथ्यों से पूर्णतया सुपरिचित है। कृति 'अहिंसा परमो धर्म:,' 'सत्यमेव जयते', 'यतो धर्म: ततो जय:' से परिपूर्ण है।

मैं तो कह सकता हूँ कि कृति का प्रत्येक शब्द मौन, गूँगा, प्रशान्त एवं स्तब्ध है। तुम यदि समझना चाहते हो युग बोध, अध्यात्म, विज्ञान, सिद्धान्तों व अलंकारों की अलौकिक ही नहीं - पारलौकिक छटा को तो दृश्यांकित कर पढ़ो, समझो, मनन कर मार्मिक, मंगलदायी, गहनतम गहराई में डूबो नहीं, अपितु डुबकी लगाकर महामना की अन्त:चेतना को स्पर्श करने का प्रयत्न करो। ये गूँगे की मिठाई है।

शान्त भाव से दार्शनिक वाङ्मय का परिशीलन करने पर विदित होता है कि जैन दर्शन ने ईश्वर को माना तो है किन्तु ईश्वर कर्तृत्ववाद को स्वीकार नहीं किया है। किसी विद्वान् ने कहा है कि यदि एक ईश्वर मानने के कारण किसी दर्शन को आस्तिक संज्ञा दी जा सकती है तो अनन्त आत्माओं के लिए मुक्ति का द्वार उन्मुक्त करने वाले जैन दर्शन में अनन्तगुणित आस्तिकता स्वीकार करना न्याय संगत होगा।

कृति का विषय इतना निर्मल और प्रकाशपूर्ण है कि इसके आलोक में हम अपना जीवन उज्ज्वल, दिव्य और अलौकिक बना सकते हैं। कहावत प्रसिद्ध है कि "जो कम्मे सूरा, सो धम्मे सूरा" अर्थात् जो कर्म पुरुषार्थ में शूर, पराक्रमी होता है वह धर्म पुरुषार्थ में भी शूर ही नहीं, पराक्रमी एवं मशहूर भी होता है। सन्त स्वयं ही आदर्शों की प्रतिमूर्ति होते हुए भी कुम्भकार रूपी गुरु के चरणों में समर्पित हो जाता है। ये सन्त पद दलित, पाप पंक से लिप्त, निरीह, शुष्क, अजीव–निर्जीव वस्तु के लिए भी अजीब प्रकार से सजीव-सम सम्मानित कर, काव्य का विषय बनाकर, मूक वेदनाएँ, संवेदनाएँ, मौन प्रलाप समझ, चेतना-सम मन्द-मधुर मुस्कान देकर, षट्रस व्यंजन-सम प्रफुल्लित कर, नियामक मार्गदर्शकों के लिए मनोभावनाओं से ओतप्रोत कर जीवन यात्रा को सार्थकता के सोपान तक ले जाने हेतु

प्रयत्नशील, चेष्टारत हैं। आपकी विचार वृत्ति के सभी पहलुओं के मूलाधार विचारणीय, मननशील, मानवीय शुद्ध संवेदना से युक्त लहराते सागर-सम, अचिन्त्य सौन्दर्य के साथ गहरी अनुभूतियों से समाहित हैं।

कृतिकार व कृति का वर्णन करना सूर्य के लिए दीपक दिखाने के समान है। परन्तु क्या करें, हम सूर्य के लिए दीपक नहीं दिखा रहे, अपितु भक्तिवश दीपक के माध्यम से उस सहस्र रश्मिपुंज ज्ञानसूर्य की अर्चना कर वन्दना कर रहे हैं। आपके काव्य-कला-कौशल को देखने वा इसका पान करने के लिए हृदय व आँखें युगपत् मचल उठीं । क्या करें, अगर शक्ति होती तो सहस्र नेत्र बनाकर देखते ही नहीं अपितु आनन्दामृत का रसास्वादन भी कर लेते। किसी ने कहा है :

"तुझे देखूँ भी, बातें भी करूँ कैसे
आँख अपना मज़ा चाहे, दिल अपना मज़ा चाहे।"

महाकाव्य की तुलना में जैसे ही मैं आगे बढ़ा तो देखता हूँ कि जैसे 'रघुवंश', 'मेघदूत' (कालीदास), 'सावित्री' (अरविन्द), 'वीरायन' (रघुवीरशरण) एवं 'ओ अहल्या' (डॉ. वर्मा) आदि की शृंखला में उदित नक्षत्र-सम 'मूकमाटी' भी अपनी एक कड़ी जोड़ती है। इसमें बालक से पालक, कंकर से शंकर, बीज से वृक्ष, बचपन से पचपन व पतित से पावन बनने की अवर्णनीय यात्रा को प्रवहमान किया गया है। वैसे तो 'ओ अहल्या' या 'रघुवंश' (कालीदास) के काव्य का अध्ययन करने के पश्चात् व्यक्ति उनकी अतल गहराइयों में पहुँचकर, उनकी आधारभूत विषय वस्तु को प्राप्त कर ही लेता है, परन्तु 'मूकमाटी' में ठोस आधार खोजना सिन्धु में फेंके गए मणि के समान अर्थात् लहरों में लहराते रहकर अतुलनीय तक न पहुँचने के समान है। इन लहरों में महाकवि की तुलना में सभी उपमाएँ अपने आपको बौनी या कान्तिहीन सूर्य-सम अनुभव करती हैं।

यहाँ पर आचार्यश्री कवि हैं, अन्तर्मुखी कवि हैं। स्वानुभवी होकर अनुभव के आधार पर अन्तर्मुख से लोक-मंगल की कामना को परिपूर्ण प्रवाहित कर आतंक को समाप्त करने, राष्ट्र व समाज में शान्ति का साम्राज्य लाकर मानवता के सुधार की भावना की गई है। जैन दर्शन अन्य सभी नास्तिक दर्शनों को सही दशा का दर्शन कराकर, दिशाबोध देकर अपनी आस्तिकता सिद्ध किए बिना नहीं रह सकता है।

आचार्य श्री विद्यासागरजी भाषा एवं भावों के धनी हैं। आपका अनेक भाषाओं पर असाधारण अधिकार है। कविताओं का विश्लेषण करने में आप कुशल एवं सिद्धहस्त हैं। 'मूकमाटी' में भाव व भाषा का इतना सुन्दर विनियोग हुआ है कि प्रकृति का सौन्दर्य आँखों के सामने प्रवाहित होने लगता है। भाषा की प्रांजलता, शब्द चयन की समृद्ध, सुबोध शैली देखकर पाठक के मन का सहज ही व्यायाम हो जाता है। यहाँ पर शृंगार को भी शृंगारित कर, नवोदित विचारों से समाज को लाभान्वित व परिमार्जित कर, उनके उत्थान में दिव्य आलोक-सम एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आपने शब्दों व भावों के माध्यम से कृति में जो उच्चादर्श मूर्तिमान् किया है, उसकी मिसाल सम्भव नहीं है। साहित्य, सभ्यता और संस्कृति की त्रिवेणी के संगम से युक्त नैतिकता, व्यावहारिकता, राजनैतिक अराजकता, धार्मिक वातावरण, धन की मदान्धता, आर्थिक असमानता व सामाजिक विसंगतियों को अपने अंचल में लेकर तथा उनका स्वरूप प्रकट कर, विज्ञान व दर्शन को अपने अंचल में समेटकर, वर्तमान इतिहास के लिए एक अद्वितीय भण्डार प्रदान किया है। सरल और समन्वयता का प्रवहमान्, लयबद्ध मेल बिठा कर, सत्य तथ्य के साथ विश्व के विराट् वैभव को आपने विविध दृष्टि भंगिमाओं के माध्यम से दृश्यांकित किया है।

कहाँ तक कहें, ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं बचा जो कवि की कलम से अछूता रहा हो। इसमें शब्दों की तोड़-फोड़ के साथ मानसिक आयाम कर, उनमें नवीन भाव जगाकर, नए नूतन भिन्न-भिन्न अर्थ तथा भाव प्रदान किए हैं।

[नवभारत (दैनिक), नागपुर, महाराष्ट्र, २६ अप्रैल, १९९२]

❑

चिन्तन-प्रधान विशिष्ट काव्यकृति : 'मूकमाटी'

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

आचार्य विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' लगभग पाँच सौ पृष्ठों में निबद्ध चिन्तन-प्रधान काव्यकृति है। 'प्रस्तवन' में लक्ष्मीचन्द्र जैन का आग्रह है कि इसे 'महाकाव्य' माना जाए। उदात्त कथा, उदात्त चरित्र, उदात्त उद्देश्य आदि महाकाव्य की अनेक कसौटियों पर यह कृति न्यूनाधिक खरी उतरेगी। इसे एक नए क़िस्म का महाकाव्य माना जा सकता है। चूँकि इसमें जो कुछ घटित हुआ है, वह संवादों के माध्यम से व्यक्त हुआ है, अत: इसे 'संवाद काव्य' भी कहा जा सकता है। कवि ने इस कृति को चार खण्डों में विभक्त किया है-- 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ'; 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं'; 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन' तथा 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख'।

पहले खण्ड का कथानक बहुत क्षीण है। कुम्भकार 'मंगल घट' का निर्माण करने के लिए थोड़ी सी माटी ले आता है और वर्ण-संकर माटी से प्रतिकूल तत्त्वों को अलग कर उसका परिशोधन करता है। इस प्रसंग को कवि ने क्रमश: धरा-माटी संवाद, शिल्पी-माटी संवाद, शिल्पी-कंकर संवाद, माटी-कंकर संवाद, रसना-रस्सी संवाद, मछली-मछली संवाद और मछली-माटी संवाद के माध्यम से कहा है। संवादों का शिल्प अपनाने से किंचित् नाटकीयता की सृष्टि हुई है और इससे चिन्तन का बोझ थोड़ा-बहुत हल्का हुआ है। प्रत्येक संवाद कोई न कोई सन्देश या विचार-सूत्र पाठक के हाथों में थमा जाता है। 'धरा-माटी संवाद' में संगति का प्रभाव, आस्था का महत्त्व और साधना में स्खलन की सम्भावना आदि पर गम्भीर विचार-विमर्श हुआ है। इसे कवि की सफलता कहा जाना चाहिए कि वह गम्भीर बातों को भी परिचित दृष्टान्तों के माध्यम से सरलतापूर्वक व्यक्त कर सका है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ :

"निरन्तर अभ्यास के बाद भी/स्खलन सम्भव है;
प्रतिदिन—बरसों से/रोटी बनाता-खाता आया हो वह
तथापि/पाक-शास्त्री की पहली रोटी/करड़ी क्यों बनती, बेटा !" (पृ. ११)

पहले खण्ड के अन्त में माटी के कहने पर शिल्पी मछली को कुएँ में डाल आता है और 'दयाविसुद्धो धम्मो' की ध्वनि-प्रतिध्वनि के साथ खण्ड समाप्त हो जाता है। दूसरे खण्ड में 'कंटक-माटी संवाद' से कथा आगे बढ़ी है। शिल्पी फूली माटी को रौंद-रौंद कर स्निग्ध बनाता है। माटी के बाहुओं से वीर रस फूटता है और वीर रस के व्याज से कवि को रस चर्चा का सुयोग मिल जाता है। रस संवाद पर्याप्त नयापन लिए हुए है। कवि को वीर रस इसलिए वरेण्य नहीं है कि उससे शान्त माहौल खौलने लगता है। हास्य रस कषाय है, उसमें गम्भीरता-धीरता का अभाव है। रुद्रता विकृति है, अत: रौद्र रस काम्य नहीं है। काम के स्थान पर राम की चाहना शृंगार से विरत करती है। करुणा को सही सुख नहीं कह सकते हैं। अत: कवि की दृष्टि में 'शान्त रस' रसराज है : *"सब रसों का अन्त होना ही—/शान्त-रस है" (पृ. १६०)*।

तीसरे खण्ड में अपक्व कुम्भों पर मेघ मुक्ता की वर्षा होती है। राजा और उसकी मण्डली मुक्ता राशि को बटोरना चाहती है लेकिन आकाश से वर्जना का स्वर सुनाई देता है। कुम्भकार मुक्ता राशि को एकत्र करके राजा को समर्पित करता है। इस बीच प्राकृतिक प्रकोप शुरू होता है लेकिन बादलों से गिरे ओले और विद्युत्कण कुम्भ को क्षति पहुँचाने में समर्थ सिद्ध नहीं होते। चतुर्थ खण्ड आकार में सबसे बड़ा है। इसमें अवा में कुम्भ के पकाए जाने की प्रक्रिया का विस्तृत विवरण है। स्वर्णकलश ईर्ष्यालु हो उठता है कि मिट्टी का घट इतना पावन और आदरणीय कैसे हो गया है।

कुम्भ में भरा पायस उसे बताता है कि माटी में सृजन शक्ति है :

"माटी में बोया गया बीज/समुचित अनिल-सलिल पा
पोषक तत्त्वों से पुष्ट-पूरित/सहस्र गुणित हो फलता है।" (पृ. ३६५)

स्फटिक की झारी भी कुम्भ के समतुल्य नहीं है। आतंकवाद के प्रहारों से बचते हुए अन्ततः पाषाण फलक पर बैठे साधु के चरणों में कुम्भ की यात्रा सम्पन्न होती है। अनेक संवादों और अनेक प्रतीक-चरित्रों के माध्यम से निष्कर्ष रूप में कहा गया है कि साधना से ही आत्मोपलब्धि सम्भव है।

संवाद, दृष्टान्त और निष्कर्ष—सूत्र रूप में यही इस काव्य की कथन पद्धति है। बीच-बीच में शब्द-क्रीड़ा चलती रहती है। 'कला' में 'क' यानी आत्मा—सुख और 'ला' यानी लाना अर्थात् कला का अर्थ है—सुख देनेवाली। जिसका कोई अरि नहीं, वह 'नारी' और जो महोत्सव जीवन में लाती है, वह 'महिला' है। 'कुम्भकार' का अर्थ है—धरती का भाग्य-विधाता— 'कुं' माने धरती और 'भ' माने भाग्य। इस तरह की व्याख्याएँ सामान्य पाठकों और गम्भीर पाठकों को समान रूप से बाँधती हैं। लेकिन 'गदहा' आदि शब्दों की व्याख्या में केवल सामान्य पाठकों का मन रम सकता है। सूक्तियों का वैभव पूरे काव्य में बिखरा हुआ है और ये सभी जैन दर्शन की उपपत्तियों से प्रेरित और प्रमाणित हैं। *"ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं" (पृ. २), "इति के बिना/अथ का दर्शन असम्भव!" (पृ.३३), "गम से यदि भीति हो/तो···सुनो/श्रम से प्रीति करो" (पृ. ३५५)* आदि पंक्तियाँ इस सन्दर्भ में पठनीय हैं। कवि ने यथास्थान लोकोक्तियों का समावेश कर अभिव्यंजना को ग्राह्य बनाया है, हालाँकि वह उन्हें सूक्तियों की संज्ञा (पृ.१४, पृ.१३५) देता है। बिम्ब ग्रहण कराने के लिए कवि विद्यासागर ने अप्रस्तुतों-प्रतीकों का बहुत सार्थक और सटीक उपयोग किया है। अधिकतर अप्रस्तुत सुपरिचित हैं अतः अर्थबोध में सुगमता होती है। *"भाई को बहन-सी" (पृ.१९), "ज्वालामुखी-सम" (पृ. १३१), "राजा की रानी यात्रा के समय/रनवास की ओर निहारती-सी!" (पृ.४२), "मराली-सी बनी" (पृ. २०८)* आदि पद प्रसंग के अनुरूप और भावानुकूल हैं। लेकिन नौ के गणित की विशद चर्चा (पृ.१६६-१६७) चमत्कारपूर्ण होते हुए भी अधिक उपयुक्त नहीं लगती। इसी तरह कुछ तुकबंदियाँ हल्की हैं। जैसे *'फुर्र-गुर्र' (पृ.१२), मथन-वतन (पृ.१६)* आदि। लेकिन ये छुटपुट असंगतियाँ काव्यकृति के महत्त्व को प्रभावित करने में समर्थ नहीं हैं।

'मूकमाटी' मात्र आध्यात्मिक संकेतों और उपदेशों का काव्य नहीं है। अपने समय और परिवेश के सन्दर्भ और समस्याएँ भी इसमें स्थान-स्थान पर झाँकती हैं और सिद्ध करती हैं कि जैन मुनि की रचना होते हुए भी समाज के स्तर पर घटित हो रहे संक्रमण से यह अलग-थलग नहीं है। *"वेतन वाले वतन की ओर/कम ध्यान दे पाते हैं" (पृ. १२३), "अर्थ को तुला बनाना/अर्थशास्त्र का अर्थ ही नहीं जानना है" (पृ. १४२)* और *"जब तक जीवित है आतंकवाद/शान्ति का श्वास ले नहीं सकती/धरती यह" (पृ. ४४१)* आदि पंक्तियों में न केवल युग सत्य बोलता है, अपितु कवि का सकारात्मक सोच भी व्यक्त हुआ है। हालाँकि 'मूकमाटी' आज की हिन्दी कविता की मुख्यधारा के मेल में नहीं है, लेकिन अपनी वर्ण्य वस्तु से लेकर अभिव्यंजना तक में यह अपनी विशिष्टता का प्रमाण देती है।

□

'मूकमाटी' : प्रज्ञा का महाकाव्य

प्रो. (डॉ.) रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल'

मैंने 'मूकमाटी' को विहंगम दृष्टि से देखा है, लेकिन मेरी दृष्टि सामान्य मनुष्य की दृष्टि तो है ही, एक अध्यापक की दृष्टि, जो सबसे खतरनाक दृष्टि होती है, तथा कवि की दृष्टि से भी देखा, परखा है।

मैं जब विद्यार्थी था, तभी विद्यार्थी जीवन में माटी के ऊपर एक पुस्तक लिखी थी–'धूल का परिचय', जो उत्तरप्रदेश शासन से पुरस्कृत है। एक संयोग की ही बात है कि आचार्य श्री विद्यासागरजी के इस ग्रन्थ का नाम है 'मूकमाटी'। इसके बाद एक अन्य पुस्तक 'नई राह' भी लिखी । इसमें सबसे लम्बी कविता 'धूल' है। मुझे आरम्भ से ही धूल से बड़ा प्रेम रहा है, बड़ा लगाव रहा है किन्तु मैं आचार्य नहीं हूँ, न ही दार्शनिक अपितु शुद्ध हृदयवादी कवि मात्र हूँ।

धूल और माटी को जैसा देखता आया, उसे मैंने विद्यार्थी जीवन में यूँ लिखा था :

"माटी से निर्मित हम सब हैं, माटी से निर्मित धरती है।
बल अथवा निर्बलता समझो, माटी, माटी पर मरती है॥"

मिट्टी से बने हुए शरीरों की ताकत भी मिट्टी है और उसकी दुर्बलता भी मिट्टी है। कब दुर्बलता ताकत बन जाती है और कब ताकत दुर्बलता बन जाती है, ये हम दुनिया के इतिहास को उठाकर, पलटकर देखें, परिस्थितियों के उत्थान-पतन को देखें तथा राष्ट्रों के उत्थान-पतन को देखें तो वह सारा नक़्शा/नज़रिया स्पष्ट हो जाता है - युग के आदि से आज तक का। आज भी कई नक़्शे डगमगाते दिख रहे हैं संसार के इस मानचित्र में।

पुस्तक की भूमिका में लक्ष्मीचन्द्रजी ने स्वयं कहा है कि इसे महाकाव्य के प्राचीन चौखटों, लक्षणों में बाँधना उपयुक्त नहीं है। हम लोगों के साथ एक खराबी है कि हम महाकाव्य की पुरानी मान्यताओं, परिपाटियों को ही अंगीकृत किए हुए हैं। महाकाव्य मानने, जानने के लिए क्रमशः काव्य के कथानक, पात्र, उनके चरित्र, नायक, नगर भ्रमण का वर्णन, नायिका इत्यादि रूप से सारी कसौटियाँ यदि लगाएँगे तो कहना पड़ता है कि निस्सन्देह 'मूकमाटी', जो प्रज्ञा का महाकाव्य है, शायद ही उस कसौटी या चौखटे में कहीं भी समाएगा। यदि इसे खण्डकाव्य कहने का प्रयास किया जाए तो खण्डकाव्य में जीवन का आंशिक चित्रण हुआ करता है, सम्पूर्ण चित्रण नहीं। वह समग्रता रूप जीवन को नहीं देखता अपितु जीवन की किसी एक कथा अथवा किसी एक पक्ष को लेता है। 'मूकमाटी' में माटी की प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की यात्रा है, अतः इसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता। 'माटी' का कौन-सा खण्ड हो सकता है ? जिसका कण ही ब्रह्म है, उसका खण्ड के रूप में कौन दर्शन कर सकता है ? वह तो अखण्ड है। यह तो हमारी ही विश्लेषणकारी मति है जो उसको भी विखण्डित करके देखती है, अन्यथा धरती तो अखण्डित ही है। पुराने कवियों ने भी कहा है :

"सबै भूमि गोपाल की यामें अटक कहाँ।
जाकै मन में अटक है सो ही अटक रहा॥"

वर्तमान समय में कोई कहता है मेरी इतनी बीघा ज़मीन या ज़मींदारी अथवा राजाओं के राज्य चले गए, ज़मींदारियाँ नष्ट हो गईं अथवा ज़मींदार ही चले गए। दस-बीस एकड़ वाले भूमिपति बनते हैं। भूमिपति तो वे ही हैं जिसने सबको भूमि दी है। मेरी दृष्टि में 'मूकमाटी' भूमि का दर्शन है। आचार्यश्री ने माटी को नदी और समुद्र तट पर जाकर देखा है। तल का निर्माण माटी ही करती है। बड़े से बड़े गहरे समुद्र के तट का निर्माण धरती पर ही होता है। अतः ऐसे विस्तृत, विशाल समुद्र के तट पर खड़े होकर आचार्यश्री ने धरती का अवलोकन किया है। चूँकि आचार्यश्री साधुत्व रूप में हैं, अतः एक सिद्ध तथा श्रेष्ठ साधक होने के कारण मेरे ख़्याल से सम्भव है उन्होंने माटी को आकाश से

भी देखा हो, ऊँचाई से भी देखकर परखा हो।

हमारे पूर्वजों ने इस माटी को अश्वक्रान्त, रथाक्रान्त, विष्णुक्रान्त कहा है और वे प्रातः शय्या से उठकर धरती का हाथों से स्पर्श करके क्षमा याचना करते हुए कहते हैं–'हे विशालहृदया ! मुझे क्षमा करो। तुम तो सिर से छूने लायक हो और मैं तुम्हें पैर से छू रहा हूँ, अतः मुझे क्षमा कर दो।' अतः इस मृत्तिका, मिट्टी का महत्त्व निश्चयतः अधिक श्रेष्ठ है। इस मिट्टी के कारण ही संसार मृत्युलोक कहलाता है। जायसी ने भी कहा है कि जो यहाँ उदित होता है, इस मृत्युलोक में उसका अस्त भी सुनिश्चित है। जो उठता है उसका पतित होना भी सुनिश्चित है।

माटी में एक गुण और है कि हवा इसे उड़ा कर ले जाती है लेकिन धरती पर ही वापिस लौटती है। मेरे ख्याल से सन्तों, आचार्यों की चेतना और भी अधिक गहन, सूक्ष्म होती होगी। किन्तु मुझे ऐसा लगता है कि भूलोकवासियों को आचार्य श्री विद्यासागरजी ने 'मूकमाटी' के माध्यम से यह बतलाया है कि चन्द्रमा पर उतरने वाले वैज्ञानिको !, मंगल-बुध-सूर्य-बृहस्पति की दिशा में खोजी राकेट भेजने वाले वैज्ञानिको !, बौद्धिक प्राणियो !, विज्ञानवादियो ! अथवा भौतिकवादियो ! तुम अभी दूसरे ग्रह-नक्षत्र का ही अनुसन्धान कर रहे हो। कभी अपनी माटी, अपनी निज धरती के धरातल पर भी उतरो और उसको पहचानो। इसकी समस्याओं को पहचानो, देखो और उसके निराकरण के लिए भी प्रयासरत हो। यह माटी जिसे तुम खराब समझते हो, वह तुम्हारी 'माँ' है। धरती पर जितना भी सृजन हुआ है वह सब इसी धरातल पर ही हुआ है, अतः सबकी जननी यही धरती 'माँ' है। इसे ही आचार्यश्री ने विशेषण का रूप दिया है-'मूकमाटी'।

मेरे ख्याल से धरती पर जितनी भी अभिव्यक्तियाँ हैं, जितनी वाणी और ध्वनियाँ हैं, जितने भी शब्द हैं वे सभी इसी मूकता से ही जन्मे हैं। 'गीता' जैसे वाङ्मय में भगवान् कृष्ण ने धनंजय अर्जुन से कहा–'सत्य बोलो'। तभी लोकाचार को देखते हुए कहा-'प्रिय बोलो। अप्रियवचन/शब्द मत बोलो'। ये तो मिट्टी/धरती पर रहने का व्यवहार है। धरती पर आदमियों के जितने रिश्ते हैं वो भी वाणी के जरिए से ही होते हैं। शब्दों का लिखित रूप तो बाद में हुआ पहले तो उच्चरित वाणी ही है, अतएव इस देश में वाणी का महत्त्व है। शब्द को बड़ा माना जाता है। अविवेकपूर्ण वार्तालाप करने से वाणी का महत्त्व चला जाता है। इसीलिए सन्तजनों ने कहा है- 'वाणी का संयम करो, फिर बोलो।' सज्जन पुरुष के मिलने पर, विचारशीलजन मिलने पर उनसे बोलने का उपदेश आचार्यों, सन्तों का सदैव रहा है-'सन्तजन मिलें सो कछु तो कहिए। मिलहिं असन्त तो मौन ही रहिए।' असन्त/असाधुजन के सामने वाणी का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

'मूकमाटी' के मौन के अन्दर जो धैर्य, सहिष्णुता, गहनता है और उसमें जो गम्भीरता, उत्पादकता एवं सृजनशीलता गुण है वह ढिंढोरा नहीं पीटता, अपितु चुप ही रहता है। हमारे घरों में हमारी जन्म देने वाली वृद्ध माताएँ ८०-८५ वर्ष की होते हुए भी बैठी रहती हैं अथवा सबकी बातें मौनपूर्वक सुनती रहती हैं। किन्तु जब बोलती हैं तो कल्याणकारी बातें ही बतलाती हैं, अकल्याणकारी/अहितकारी बातें नहीं। ठीक इसके विपरीत क्रम में आजकल के लड़के दिनभर ही बहुत कुछ बोलते ही रहते हैं। 'मूकमाटी' के माध्यम से आचार्यश्री ने सम्भवतः यही कहने के कोशिश की है कि माटी का जो मौन है और इस मौन के पीछे जो दर्शन है, वह विशिष्ट प्रेरणा है, दिव्य संगीत है। उसे ग्रहण करना ही हम सभी के लिए श्रेयस्कर दशा है।

'मूकमाटी' खण्डकाव्य है या महाकाव्य, इस बहस के चक्कर में 'प्रस्तवनकार' की तरह मुझे नहीं घूमना, क्योंकि उन मानदण्डों में यह कृति आती ही नहीं है। आध्यात्मिक परिवेश की यह मौलिक कृति है, अपने ढंग की एक तेजस्वी कृति है। कविता में क्या होता है ? बिहारी ने ७०० दोहे लिखे और सर्वश्रेष्ठ कवियों की प्रथम पंक्ति में उनके ७०० दोहे ही अपनी श्रेष्ठता दर्शाते हैं। बिहारी ने 'सतसई' में यह भी लिखा है कि साहित्य को गाड़ी या तराजुओं से नहीं नापा जाता। कबीर ने कहा–"हीरा पायो गाँठ गठियाओ, बार-बार वह क्यों खोले, मन में चूहा क्यों बोले ?" अरे !,

जिसके पास हीरा है उसे अंटी में लगा लो, उसका प्रचार-प्रसार अथवा उसे बार-बार खोलकर देखने से चोर-डकैतों को क्यों चोरी हेतु आमन्त्रण देते हो ? किन्तु ज्ञान ऐसा नहीं रहता। इस रत्न को पहचानने के लिए जौहरी की आँख चाहिए। 'बिहारी' कहते हैं :

''गंधी गंध गुलाब को गवई गावत कौन ?
कर फुलेल को आचमन गौठ रहे सब मौन ।।''

अर्थात् गाँव में किसान या ग्रामीण के हाथ में इत्र है, जो गन्धयुक्त होकर भी स्वाद की अपेक्षा कड़वा होता है। ऐसे इत्र को हाथ में लेकर वह घी या तेल के समान उसे भी चाट गया। फिर भी कहता क्या है ? 'मीठो कहत तराय।' उसका क्या कहना, वह तो इत्र को मीठा कहता है जो चखने में कड़वा होता है और उसका विशिष्ट/खास गुण जो गन्ध होती है उसके बारे में कुछ भी नहीं कहता, जानता, बतलाता। 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने मिट्टी की पहिचान, मिट्टी की छुवन के रूप में रूपकात्मक अभिव्यक्ति की है। उसमें जहाँ कंकर प्रतीक हैं तो वहीं मिट्टी भी प्रतीक है एवं कुम्भकार भी प्रतीक है। इसीलिए 'मूकमाटी' प्रतीकात्मक महाकाव्य है।

मिट्टी के साथ रहते हुए भी मिट्टी में नहीं घुलने/मिलने वाले कंकर, जिसे वर्णहीन कहकर हटा दिया गया है, उसे उससे पृथक् कर दिया है। मिट्टी को कूटा, छाना गया और कंकर को हटा दिया गया, क्योंकि घट निर्माण एक वर्ण की, एक जैसी मिट्टी द्वारा ही सम्भव है। निर्माण एक वर्ण या एक तत्त्व के द्वारा होता है, क्योंकि मृदु में यदि कर्कशपना आ जाय तो कार्य बड़ा मुश्किल हो जाएगा। अतएव घट निर्माण कार्य में लगे कुम्भकार के हाथ को निर्माण प्रक्रिया में सरलता, सहजता प्राप्त हो गई। कुम्भकार जो पहले नायक के रूप में था उसे अब मैं नायक नहीं मानता अपितु कुम्भकार है निर्माता, रूप देनेवाला जो हमारे यहाँ 'गुरु' जैसे उच्च दर्जे से जाना, पहचाना जाता है।

प्रायः ज़्यादातर लोग परम्परावादी होते हैं, पुराणपन्थी होते हैं तथा लोक वेद की जो मर्यादा हमारे घरों में आ रही है, उसी के पिछलग्गू बन उसी के पीछे दौड़ते चले जा रहे हैं। कबीर कहते हैं :

''पाछे भागा जात था लोक वेद के साथ।
आगे तो सद्गुरु मिला दीपक दीया हाथ ।।''

यह गतानुगतिकता की भीड़ चली जा रही है और हम गति परम्परा से उसमें चले जा रहे हैं। कबीर ने यह नहीं कहा कि सद्गुरु पीछे से दौड़ते हुए आकर शिष्य के हाथों में अलादीन का चिराग़ रख देते हैं अपितु वह बतलाते हुए कहते हैं-'आगे तो सद्गुरु मिला।' अर्थात् उस प्रवाह की दशा में भी गुरु चिन्तन क्रान्तिकारी रूप से विपरीत दिशा से आकर पथ के भटकाव से बचने के लिए हमारे हाथ में दीपक रखता है। उस दीपक से जो प्रकाश मिलता है उससे शिष्य की ज़िन्दगी जगमगा उठती है।

मिट्टी सनातन है और उसमें गुण-दोष भी सनातन हैं। लेकिन वही मिट्टी जब किसी कुशल गुरुरूपी कुम्भकार के हाथ लग जाती है तो उसके हाथ से बने हुए घड़े के नाम के आगे एक विशेषण और लगाया जाता है– 'मंगल घट'। यह मात्र खाली घट नहीं है इसीलिए 'मूकमाटी' की कथा का एक पात्र जो स्वर्ण घट है वह इसकी पवित्रता/उच्चता से ईर्ष्या करता है। स्वर्ण कलश को मिट्टी के इस मंगल घट से इसलिए ईर्ष्या होती है, क्योंकि सोने के घट का जो चिन्तन है वह अकल्याणकारी है जबकि मिट्टी के मंगल घट का चिन्तन कल्याणकारी है। तभी तो वह गुरु के चरण पखारने के काम आता है। न्यायशील पवित्र उद्देश्य के लिए ही उसका जीवन है। उससे उसका उद्देश्य सार्थक हो जाता है। यही माटी की सार्थकता का प्रतीक है। माटी, जिसे सबसे हीन समझकर सभी कुचलते हैं, पद दलित मानी जाती है किन्तु जहाँ मातृभूमि की गरिमा, गौरव की बात आती है, वहाँ हम कहते ही हैं-'इस मिट्टी का तिलक करो यह माटी है बलिदान

की'- यानी वह निरीह माटी भी चन्दन-सम मूल्यवान् हो जाती है।

आचार्यश्री ने 'मूकमाटी' में श्रम एवं धर्म की सार्थकता तथा उसके फल की भी अभिव्यक्ति की है, कुम्भकार के घर पर मोतियों की वर्षा के माध्यम से। राजा उसके लालच में पड़कर उसे बोरों में भरवाकर ले जाना चाहता है। तभी आकाशवाणी होती है कि यह पाप कार्य होगा। अन्य के धन का संग्रह करना पाप है, चोरी है। दूसरे के द्वारा अर्जित धन का हरण करना पाप है। यह मोतियों की वर्षा तो कुम्भकार के द्वारा किए गए श्रम की फलश्रुति है, अतः इसे क्यों लेते हो ? किन्तु कुम्भकार तो अपरिग्रहवृत्ति का धारक था, अतएव सम्पूर्ण मुक्ता राशि राजा को समर्पित कर देता है।

'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने आस्था और विश्वास के प्रति हमें विश्वास दिलाया है कि अनुभूति मिलेगी, विश्वास को धैर्यतापूर्वक धारण करने पर। किन्तु विश्वास को अनुभूति मिलेगी, मार्ग में नहीं, मंज़िल पर। इसी भाँति इस महाकाव्य के लक्ष्य के अनुरूप ही हमें मिट्टी के समान ही अपने अन्दर भी आस्था एवं मिट्टी के जैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्ति हेतु धैर्यता धारण करनी होगी। मैं 'मूकमाटी' को महाकाव्य इसलिए कह रहा हूँ, क्योंकि जो कविता महान् होती है वही महाकाव्य है, ऐसी ही वर्तमान में महाकाव्य की नई परिभाषा मानी जाती है। जो कविता महान् होती है वह अवश्य ही मनुष्य को कल्याणकारी मार्ग पर ले जाती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है– "कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" ऐसे हित-कल्याणकारी भावों से मण्डित कविता ही लोकहित सम्पादन करनेवाली होती है। माटी को धरातल से उठाकर जीवन के उच्चशिखर तक ले जाने वाली कविता को महाकाव्य ही कहा जाएगा।

इसे गेयरूप में छन्द का रूप देना हो तो 'स्वच्छन्द छन्द' से ही अभिमण्डित किया जा सकता है। शैली की दृष्टि से 'मूकमाटी' में 'याद' को 'दया' आदि वर्ण-विलोम की पद्धति अपनाई गई है। इसे मैं कविक्रीड़ा के अन्तर्गत मानता हूँ। यह शब्द या वाणी विलास है, जैसा कि अनुप्रास या श्लेष आदि अलंकारों में भी हुआ करता है। इतना अवश्य है कि 'मूकमाटी' में आचार्यश्री ने जो प्रयोग किए हैं वे एक यौगिक क्रिया के समान हैं जिसमें शब्द जिस अर्थ को तलाश रहा है वह जब सीधा खड़ा होकर शीर्षासन करने लगता है तो उस अर्थ को पा जाता है। इस योग-क्रिया में आचार्यश्री सिद्धहस्त हैं जिससे फलित है कि उनका शब्दों पर इतना अधिकार है कि वे शब्द, पद अथवा चरण उनके आज्ञाकारी के समान हो गए हैं जो सीधे अथवा शीर्षासन करके भी शब्द एवं अर्थ को सामने उपस्थित कर देते हैं।

एक ही शब्द के अन्दर कई अर्थ गुम्फित होते हैं। उन्हें ही कवि अपनी कुशलता से कंजूसीपूर्वक प्रयोगकर अनेक अर्थों में प्रयोग कर लेते हैं। 'सेनापति' कवि ने एक ही प्रयोग में कंजूस और दाता के दो अर्थ भर दिए है। देखिए- 'थोड़े माँगे बहु देन कहें, माँगन को देख पट बार-बार खोलत हैं।' इसमें भिखारी को माँगते देख कंजूसी अर्थ में जहाँ देने को इनकार करते हुए घर के कपाट बन्द कर लेने का संकेत है तो वहीं दाता अर्थ में थोड़े माँगने पर बहुत देने एवं बार-बार दरवाजे खोलकर देने के लिए उद्यत होने का भी अर्थ भरा हुआ है। अतः ऐसे प्रयोग कवियों की शब्दशक्ति, वाक्शक्ति के प्रयोग हैं जो कि वाणी विलास हैं। 'मूकमाटी' को विहंगम दृष्टि से ही देखने पर इसमें जहाँ वाणी विलास प्राप्त है वहीं शब्द एवं वाक्शक्ति, जो कवियों के लिए हथियार के समान है, ऐसी अभिधा का चमत्कार तो कहीं लक्षणा की छटा, व्यंजना की मोहकता और अलंकारों एवं अनुप्रासों का चमत्कार तो पदे-पदे देखने को मिल जाता है। अन्त में 'सियाराम शरण' की इन पंक्तियों से समाप्त करता हूँ :

"तेरे पुण्य सलिल से प्रभु है, मेरी गागर भरी-भरी।
कम क्या, कम क्या, कम क्या इतनी क्षुधा-पिपासा हरी-हरी॥"

❑

तत्त्व दर्शन से भरी-पूरी कविता को समेटे 'मूकमाटी'

कैलाश चन्द्र पन्त

'मूकमाटी' एक जैन मुनि की काव्य कृति है। एक मुनि और कविता ? - प्रश्न आन्दोलित करता है। लेकिन सहज ही किसी बात को स्थापना बना लेना या ख़ारिज कर देना उचित नहीं होगा। काव्य है तो उसे कविता की कसौटी से गुज़रना पड़ेगा। यह कह कर हम बच नहीं सकते कि आध्यात्मिक सूत्रों का उल्लेख एक मुनि के लिए स्वाभाविक है। 'मूकमाटी' काव्य है या अध्यात्म, यह तो तय करना ही होगा।

"लो!···इधर···!/अध-खुली कमलिनी/डूबते चाँद की
चाँदनी को भी नहीं देखती/आँखें खोल कर।
ईर्ष्या पर विजय प्राप्त करना/सब के वश की बात नहीं,/और···वह भी···
स्त्री-पर्याय में—/अनहोनी-सी···घटना !" (पृ. २)

प्रथम पाँच पंक्तियों में काव्य का माधुर्य है, पर अन्तिम पंक्तियों की सपाट बयानी एक उपदेशक की सपाट बयानी है। अभिव्यक्ति की यह शैली 'मूकमाटी' की काव्यात्मकता पर प्रश्नचिह्न लगाती है। इसी प्रकार का एक अन्य उद्धरण भी प्रस्तुत करना समीचीन होगा :

"दूसरे दुःखित न हों/सुख पर घूँघट लाती हूँ/घुटन छुपाती-छुपाती/···घूँट
पीती ही जा रही हूँ,/केवल कहने को/जीती ही आ रही हूँ।" (पृ. ५)

कवि की यह अनुभूति कितनी मर्मस्पर्शी है। लेकिन विद्यासागरजी का मुनि शायद सचेत हो उठता है और आगे ही वह कह देते हैं :

"इस पर्याय की/इति कब होगी ?/इस काया की/च्युति कब होगी ?" (पृ.५)

ऐसा लगता है कि कवि और मुनि, जो विद्यासागरजी में एकाकार हुए हैं, उनमें परस्पर द्वन्द्व है। वे शायद यह मान कर ही रचना कर रहे हैं कि उनका उद्देश्य जैन दर्शन के तत्त्वों को जन भाषा में सामान्य जन तक पहुँचाना है। मुनिश्री स्वयं स्वीकार करते हैं :

"जिस के अवलोकन से/सुख का समुद्भव - सम्पादन हो
सही साहित्य वही है/अन्यथा,/सुरभि से विरहित पुष्प-सम
सुख का राहित्य है वह/सार-शून्य शब्द-झुण्ड···!" (पृ. १११)

यह स्थापना साहित्य के उद्देश्य पर एक पुरानी बहस को नए सिरे से उठाती है। सत्य, शिव और सुन्दर की अवधारणा पर वर्षों बहस चली है जो अभी समाप्त नहीं हुई है। हमारे काव्य शास्त्र में भी रसों की श्रेष्ठता पर व्याख्याएँ हुई हैं और करुण रस के पक्ष में निष्कर्ष निकाले गए हैं। आज की शब्दावली में संवेदना जिसे कहा जाता है, वह करुणा का ही निखार है। लेकिन इन सब परम्पराओं से विद्रोह कर जो कविता रची गई, उसे शब्दों का झुण्ड मानकर नकारा तो नहीं जा सकता। जिसे सार-शून्यता कहा जा रहा है, उसमें भी कुछ सार तो होता ही है, क्योंकि शून्य अपने आप में कुछ नहीं होता। फिर यह भी सही है कि जीवन का सार क्या है, इसे मानने और समझने की स्वतन्त्रता प्रत्येक रचनाकार

को है।

एक रचनाकार के रूप में श्री विद्यासागरजी स्वयं कवि होने का दावा नहीं करते। वे बहुत साफ़ शब्दों में ग्रन्थ के अन्त में कहते हैं :

"इस पर भी यदि/तुम्हें/श्रमण-साधना के विषय में/और
अक्षय सुख-सम्बन्ध में/विश्वास नहीं हो रहा हो/तो···फिर अब
अन्तिम कुछ कहता हूँ/कि,/...शब्दों पर विश्वास लाओ !" (पृ. ४८७-४८८)

यह आग्रह कवि का नहीं हो सकता है, सन्त या मुनि का या किसी पैग़म्बर का ज़रूर हो सकता है।

यह मानकर चलना चाहिए कि कोई काव्य ग्रन्थ किसी तत्त्व दर्शन का विवेचन ही न करे अथवा कविता के लिए अध्यात्म सर्वथा अस्पृश्य है, एक गलत आधार भूमि पर खड़े रहना होगा। लेकिन आध्यात्मिक ग्रन्थ को काव्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कवि को कवि ही रहना होता है, उपदेशक या मुनि की भूमिका से बचना होता है।

इतना सब कह लेने के बाद यह स्वीकार करने में मुझे कोई झिझक नहीं है कि मुनि श्री विद्यासागरजी ने जैन दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को सरल भाषा में समझाने की चेष्टा की है और 'मूकमाटी' में उनका भावुक पक्ष सम्पूर्ण काव्यात्मक रागात्मकता के साथ अभिव्यक्त हुआ है।

पाठकों को बाँधने वाले इस ग्रन्थ के लिए उनका अभिनन्दन ही किया जाएगा।

□

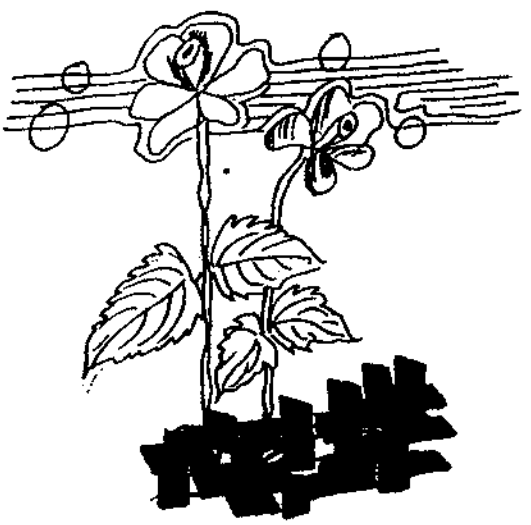

पृष्ठ २५८-२५९
फूल ने पवन को----
---और कोई प्रयोजना
नहीं--- हाँ !

'मूकमाटी' : सम्पूर्ण जीवन दर्शन का सार

सम्पादक - दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका

सच्चे तपस्वी व सन्त का ध्येय हर वस्तु में ऐसे अध्यात्म तत्त्व की खोज करना रहता है जो उसके आत्म-कल्याण के मार्ग में और सहायक हो सके। परमपूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी ने माटी जैसी अकिंचन वस्तु में जिस अध्यात्म व चरम भव्यता के दर्शन किए हैं, वह वस्तुतः अलौकिक है। माटी को आधार बनाकर समस्त जीवन दर्शन को खोलकर रख देना आचार्य श्री विद्यासागरजी जैसे तपे हुए सन्त के बूते की ही बात थी। जिस महासन्त ने अपना सम्पूर्ण यौवन गहन तपस्या और अटूट साधना की भेंट चढ़ा दिया हो वही माटी जैसी तुच्छ वस्तु की अन्तर्वेदना को साकार रूप देने में सक्षम है।

'मूकमाटी' ऐसा महाकाव्य है जिसमें रचनाकार की साधना के साथ-साथ उनकी काव्य प्रतिभा भी अपने सम्पूर्ण रूप में परिलक्षित हुई है। पर कोई भी पाठक इस महाकाव्य का सही मायने में तभी रसास्वादन कर सकता है जब वह इसके भावों में डूब जाय। ऊपरी मन से इसके पठन से केवल इसका साहित्यिक आनन्द ही उठाया जा सकता है।

आचार्यश्री ने माटी की वेदना-व्यथा को कितने मार्मिक रूप में व्यक्त किया है :

"स्वयं पतिता हूँ/और पातिता हूँ औरों से,/···अधम पापियों से
पद-दलिता हूँ माँ !/सुख-मुक्ता हूँ/दुःख-युक्ता हूँ
तिरस्कृत त्यक्ता हूँ माँ !/इसकी पीड़ा अव्यक्ता है
व्यक्त किसके सम्मुख करूँ !/...इस पर्याय की/इति कब होगी ?
इस काया की/च्युति कब होगी ?/बता दो, माँ···इसे !" (पृ. ४-५)

काव्य की दृष्टि से भी 'मूकमाटी' पूर्ण है। इसमें कोई कोर-कसर नहीं है। नए शब्दों की व्युत्पत्ति और उनका उपयोग देखने लायक है। एक बानगी :

"युग के आदि में/इसका नामकरण हुआ है/कुम्भकार !
'कुं' यानी धरती/और/'भ' यानी भाग्य—
यहाँ पर जो/भाग्यवान् भाग्य-विधाता हो/कुम्भकार कहलाता है।" (पृ. २८)

आचार्यश्री का 'राख' में आत्म-दर्शन तो अद्‌भुत ही है :

"तन और मन को/तप की आग में/तपा-तपा कर/जला-जला कर
राख करना होगा/यतना घोर करना होगा/तभी कहीं चेतन - आत्मा
खरा उतरेगा।/खरा शब्द भी स्वयं/विलोमरूप से कह रहा है—
राख बने बिना/खरा-दर्शन कहाँ ?/रा···ख···ख···रा···।" (पृ.५७)

चार खण्डों –(१) संकर नहीं : वर्ण-लाभ (२) शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं (३) पुण्य का पालन: पाप-प्रक्षालन और (४) अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख– में विभक्त सन्त कवि आचार्य विद्यासागरजी के इस महाकाव्य में माटी की सम्पूर्ण दशाओं का अत्यन्त हृदयग्राही वर्णन है। इसमें कथानक का भी अभाव नहीं है पर वह तभी हृदयंगम होगा, जब पाठक उन्हीं भावों से उन्हें पढ़ें। अध्यात्म और काव्य रस से सराबोर आचार्यश्री की यह कृति वस्तुतः अभिनन्दनीय है।

[सम्पादक : दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका (पक्षिक), जयपुर (राज.), १५ जनवरी, १९८९]

□

'मूकमाटी' : आधुनिक भारतीय साहित्य की बड़ी उपलब्धि

डॉ. वीरेन्द्र कुमार दुबे

आचार्य विद्यासागर, जिन्हें आचार्य पद से सम्मानित किया गया है, आपने हिन्दी, संस्कृत तथा अँग्रेजी आदि में विभिन्न प्रकार की रचनाओं का सृजन किया है और राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित कर रहे हैं। वे निरन्तर ग्राम, नगर तथा तीर्थक्षेत्रों में अपने वचनामृत के द्वारा जनकल्याण के साथ ही आत्मसाधना भी कर रहे हैं। धर्म,दर्शन एवं आध्यात्मिक सार को आज की भाषा एवं मुक्त छन्द की काव्यशैली में निबद्ध कर कविता/रचना को शब्द चमत्कार के द्वारा बाँधकर कर्मबद्ध आत्मा की विशुद्धि की ओर बढ़ती हुई मंज़िल रूप मुक्ति यात्रा को अपने विचारों के द्वारा महाकाव्य 'मूकमाटी' में संकलित किया है।

'मूकमाटी' महाकाव्य का सृजन आधुनिक भारतीय साहित्य की एक बड़ी उपलब्धि है। इसमें 'माटी' जैसी मूक, आकिंचन्य, पद-दलित और तुच्छ वस्तु को महाकाव्य का विषय बनाया गया है। 'मूकमाटी' में प्रस्तुत कविताएँ पाठक को अध्यात्म के साथ अ-भेद की स्थिति तक पहुँचाती हैं। आचार्य विद्यासागर की यह कृति 'मूकमाटी' मात्र कवि कर्म ही नहीं है बल्कि वह सन्त की आत्मा भी है। सन्त की आत्मा कठोर साधना का जीवन्त प्रतिरूप है, जो साधना से प्राप्त आत्म विशुद्धि की मंज़िलों को सावधानी से सबके हृदय में गुंजित, प्रस्फुरित कर रहा है। ये सन्त तपस्या से अर्जित जीवन दर्शन को अनुभूति में रचा-पचा कर सबके/प्राणीमात्र के हृदयों में गुंजरित कर देना चाहते हैं।

'मूकमाटी' महाकाव्य ४८८ पृष्ठ में समाहित है। इसमें कुमुदिनी, कमलिनी, चाँद, तारे, सुगन्ध पवन, सरिता तट आदि के द्वारा प्राकृतिक वर्णन/सौन्दर्य दार्शनिक रूप से व्यक्त है तथा महाकाव्य की अपेक्षाओं के अनुरूप ही प्राकृतिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। महाकाव्य की दृष्टि से 'मूकमाटी' में शब्दों और अर्थों को मोहक रूप से प्रस्तुत किया गया है। 'मूकमाटी' महाकाव्य में शब्द साधना के द्वारा नारी, सुता, दुहिता, कुमारी, स्त्री, अबला आदि के बारे में आस्था और आदर भाव प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम खण्ड 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' (पृष्ठ १ से ८८) में हम देखते हैं कि विस्तृत वाणी के आशय में प्राथमिक दशा में मिट्टी की उस प्रक्रिया को व्यक्त किया गया है जहाँ वह विभिन्न प्रकार की मिली-जुली अवस्था में है। प्रगति पथ पर बढ़ने हेतु 'मूकमाटी' के द्वारा शुद्ध दशा को प्राप्त करने का प्रवचन दिया गया है।

द्वितीय खण्ड 'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं' (पृष्ठ ८९ से १८७) में कुंकुम-सम मृदु माटी को खोदने की प्रक्रिया में कुम्भकार की कुदाली एक काँटे के माथे पर जा लगती है - उस क्षण/दशा का अत्यन्त मार्मिक ढंग से वर्णन किया गया है। कुम्भकार की कुदाली से क्या हो सकता है, उसका वर्णन है तथा काँटे के द्वारा बदला लेने की भावना/प्रतिक्रिया स्वरूप विचार भी रखे हैं और इसी माध्यम से अपने चिन्तन को सामने प्रस्तुत किया है। इसी में संगीत की अन्तरंग प्रकृति शृंगार रस को और कविता के माध्यम से तत्त्वदर्शन के चमत्कार को अनुभूति के आचरण में उतारने पर ज़ोर दिया है।

तीसरे खण्ड 'पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन'(पृष्ठ १८९ से २६७) में बतलाया गया है कि मन-वचन की निर्मलता से, शुभ कार्य एवं लोक कल्याण से ही पुण्य मिलता है जबकि क्रोधादिक से यह देखा जाता है कि मान, माया, लोभादिक विकार और पाप उत्पन्न होते हैं। पुण्य-पाप और कर्म के स्वरूप का सही चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ खण्ड 'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख' (पृष्ठ २६९ से ४८८) में कुम्भकार के द्वारा घट को रूप और आकार प्रस्तुत किया है। उसकी प्रक्रिया में बबूल की लकड़ी की अपनी व्यथा-कथा को महाकाव्य में वर्णित किया गया है। लकड़ियाँ जलतीं-झुलसतीं हैं। उसी की प्रतिक्रिया को स्पष्ट किया गया है तथा पुनः कुम्भकार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की जाती है। इसमें माटी की विकास कथा के माध्यम से तथा पुण्य कर्म के सम्पादन से उपजी श्रेयस्कर उपलब्धि का

सही चित्रण किया है। अग्नि की परीक्षा को अनेक प्रकार की प्रतिक्रियाओं से वर्णित किया है। इस महाकाव्य में श्रद्धालु नगर सेठ के सेवक के हाथों मंगल कलश मँगवा कर तथा उसमें जल भरकर, पधारे गुरु के पाद-प्रक्षालन के उपरान्त आहार-दान कर तृषा-तृप्ति कराने वे भावना से कवि ने मन:स्थिति को स्पष्ट करते हुए सन्त-साधुजनों के प्रति आहार-दान की प्रक्रिया को मार्मिक रूप से अभिव्यक्त किया है। आहार देने एवं न दे सकने पर भक्तों में हर्ष-विषाद की भावना, साधु के द्वारा धर्मोपदेश-सार आदि विस्तृत भावनाओं को भी उजागर/स्पष्ट किया है।

महाकाव्य में, मिट्टी के घड़े को आदर क्यों दिया गया, इस अपमान का बदला लेने के लिए एक आतंकवादी दल को आहूत किया जाता है जो सेठ परिवार में त्राहि-त्राहि मचा देता है। क्षमा-भावना से आतंकवादी दल का हृदय परिवर्तन किया जाता है। यह महाकाव्य वर्तमान परिवेश में सामाजिक दायित्व का बोध कराता है। आत्मा का उद्धार व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से कर सकता है, यही दिशाबोध इसमें प्राप्त होता है। महाकाव्य 'मूकमाटी' की गरिमा काव्य में प्रयुक्त आध्यात्मिक आयामों, दर्शन और चिन्तन के प्रेरणादायक प्रसंगों से है। इसमें इन्होंने व्यक्ति के जीवन पर सटीक मुहावरे, चमत्कार, मन्त्रविद्या की आधारभित्ति, आयुर्वेद के प्रयोग, अंकों के चमत्कार आदि के प्रयोग से आधुनिक जीवन में उपजी नई विचारधाराएँ स्पष्ट की हैं। इसके अध्ययन-मनन का अद्‌भुत सुख और सन्तोष इसके गम्भीर अध्ययन और चिन्तन-मनन के द्वारा प्राप्त होता है। महाकाव्य में आचार्य विद्यासागर द्वारा चिन्तन के विभिन्न आयाम प्रस्तुत किए हैं। यह किसी धर्म विशेष से सम्बन्धित नहीं होने से सर्वसाधारण व्यक्तियों के लिए उपयोगी काव्य है। इसके अध्ययन से मानव/व्यक्ति को शिक्षा मिलती है और इसके चिन्तन से भावना और आचरण में निश्चित रूप से परिवर्तन होगा। इस महाकाव्य का सृजन हिन्दी साहित्य जगत् में अनुपम उपलब्धि है।

मैं 'मूकमाटी' महाकाव्य के अध्ययन तथा समीक्षा करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि आचार्य विद्यासागर के प्रवचन सुनने और उस पर चिन्तन कर सत्य और अहिंसा रूप आचरण करने के लिए भी लोग उनके उपदेश सुनने आते हैं। लेकिन शहरी क्षेत्रों में निवास करने वाले युवा वर्ग में, जिन्हें बतौर फैशन कहा जाए तो कथन असत्य न होगा - वे अण्डे, माँस और मदिरा का सेवन घरों से बाहर रहकर करते हैं। अत: उनके आचरण को सुधारने के लिए आचार्य श्री विद्यासागरजी अपने प्रवचन तथा लेखनी में अवश्य ही ऐसे प्रसंग उपस्थित करें जिससे उन्हें सही-सही दिशाबोध प्राप्त हो सके। यह मेरा कथन आलोचना का नहीं अपितु जीवन में जो घटनाएँ हो रही हैं, वह न हों तथा आतंकवादी के रूप में जो व्यक्ति अण्डे, माँस, मदिरा आदि का सेवन कर अपने घर-परिवार में त्राहि मचा देता है और परिणामत: दूषित प्रभाव से परिवार का विखण्डन भी हो जाता है। अतएव सन्त वाणी में इन बातों/चीज़ों को अवश्य ही स्पष्ट किया जाए, तभी भावी पीढ़ी से हम अपेक्षा कर सकते हैं कि वे समाज को सुधारें। लोगों को पाप से दूर रखने के लिए, उनकी भावनाओं को परिवर्तित करने के लिए गम्भीरता के साथ चिन्तन करना होगा। 'मूकमाटी' काव्य रचना को पढ़ा और इससे मैं प्रभावित भी हुआ हूँ। मैंने वर्तमान में जो देखा या जो स्थिति चल रही है, उसमें परिवर्तन लाने की दृष्टि से सुझाव रखे हैं। इन सुझाव पर विचार करें और मेरे विचारों का समावेश करते हुए मेरी भावनाओं को सभी लोगों तक पहुँचाएँ।

❑

'मूकमाटी' : एक अमूल्य धरोहर

श्रीमती आराधना जैन

वर्तमान युग के महान् सन्तशिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज ज्ञान, ध्यान एवं तप में लवलीन रहते हुए भी साहित्य साधना करते हैं। आचार्यश्री ने बाल ब्रह्मचारी अवस्था से सीधे मुनि दीक्षा ले ली। उस समय आपकी उम्र मात्र बाईस वर्ष की थी। आपने गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज से मात्र चार-पाँच वर्षों में ही संस्कृत, व्याकरण, साहित्य, जैन न्याय और जैन सिद्धान्त के चारों अनुयोगों का ज्ञान अर्जित कर लिया था।

'इच्छा शक्ति तीव्र हो तो सब कुछ सम्भव है' – यह कर दिखाया है आपने। तब मात्र दो घण्टे ही निद्रा को आश्रय देकर आपने बाईस घण्टों तक विद्या का अभ्यास कर ज्ञान प्राप्त किया। आपका व्यक्तित्व जितना आकर्षक, कर्तृत्व भी उतना ही मनोहारी है। इस प्रकार आप मुनि पहले हैं या सन्त कवि – यह कहना उसी प्रकार कठिन है जैसे पहले बीज या फल ? 'हाथ कंगन को आरसी क्या' – आपकी कविता स्वयं ही प्रमाण देती है सशक्त होने का और समर्थ होने का :

''चोरी मत करो, चोरी मत करो/यह कहना केवल/धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता''उपचार !/चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि/चोरों को पैदा करने वाले।'' (पृ. ४६८)

इस प्रकार 'मूकमाटी' एक सन्देश मात्र ही नहीं है वरन् एक प्रायोगिक एवं व्यावहारिक कृति भी है।

''ऋषि - सन्तों का/सदुपदेश - सदादेश/हमें यही मिला कि
पापी से नहीं/पाप से/पंकज से नहीं,/पंक से घृणा करो।
अयि आर्य !/नर से/नारायण बनो/समयोचित कर कार्य।'' (पृ. ५०)

इस प्रकार पूजा गुणों की होती है और पाप से घृणा होती है। पापी की भूलकर भी निन्दा नहीं करने का उपदेश धर्म देता है, क्योंकि आज का पापी कल परमात्मा बन सकता है। अत: आचार्यश्री की लेखनी जाति-पाँति और रूढ़िवाद की परम्पराओं को तोड़कर मानव जाति के उद्धार हेतु अवसर प्रदान करती है।

नव रसों का सरस वर्णन कर अन्त में करुण, वात्सल्य एवं शान्त रस के बारे में मौलिकता व्यक्त की है। कृतिकार का कहना है कि सभी रसों का अन्त होना ही शान्त रस है :

''करुणा-रस उसे माना है, जो/कठिनतम पाषाण को भी/मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है/जघनतम नादान को भी/सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक/चमत्कार की बात हुई,/शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही/'ओम्' बना देता है।'' (पृ. १५९-१६०)

वीतरागता एवं अध्यात्म इन तीनों रसों के अन्तर दर्शन में सहज ही नि:सृत हुआ है।

आचार्यश्री जहाँ शब्द खोजी हैं, प्रयोगधर्मी हैं, वहीं शब्द में गुम्फित अर्थ निकालने में उनका कोई सानी नहीं है :

"राही बनना ही तो/हीरा बनना है,/स्वयं राही शब्द ही
विलोम-रूप से कह रहा है—/रा···ही···ही···रा।" (पृ. ५७)

'मूकमाटी' की एक-एक पंक्ति पर, एक-एक पृष्ठ पर काव्य लिखे जा सकते हैं, और स्वयं आचार्यश्री के जीवन पर महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। उनका कविता का संसार सागर के समान गहरा, हिमालय के समान ऊँचा है। उसमें सम्पूर्ण जैन दर्शन को आगम सम्मत दृष्टिकोण से, नीरस विषय को भी सरस बनाकर काव्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनकी काव्य प्रतिभा का परिचय शब्दों में बाँधा जाना नितान्त मुश्किल है।

जात-पाँत और रूढ़िवाद की शृंखलाओं से मुक्त विश्व बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत यह काव्य साम्प्रदायिकता से परे है। इसमें राजनीति, धर्म शास्त्र, समाज शास्त्र और अर्थ शास्त्र आदि का विश्लेषण अच्छे ढंग से किया है। इसी प्रकार नारी उत्थान का भरसक प्रयास किया गया है और मन्त्र, विज्ञान, ज्योतिष आदि पर भी प्रकाश डाला है। गुरुवर के कण्ठ में साक्षात् सरस्वती का वास है। आपकी प्रवचन सभा में व्यक्ति बिना डोर के खिंचे चले आते हैं।

अत: स्पष्ट है कि 'मूकमाटी' महाकाव्य एक ऐसी अमूल्य धरोहर है, जिसे समझने के लिए हमें एड़ी-चोटी एक करना होगी। भारतीय संस्कृति को गौरवान्वित करने से हमें इस कृति पर नाज़ है।

❑

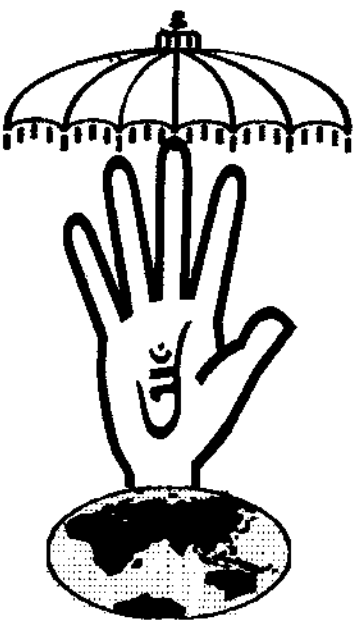

Acharya Vidyasagar's : MOOKMATI (Mute-Mud)

Jaikishandas Sadani

Mookmati or the 'Mute-Mud' is indeed an epic poem of great dignity and grace, scaling the spiritual heights, reached not by apprehension or abstraction of the reasoning mind, rather it is realisation of profound experience of a saint, that brings one face to face with the ultimate truth or *Arhant*. The poem is an epic, in as much as it gifts the universal truth and wisdom of the ancient, to the modern world. It is a chain of unbroken tradition which passes on to us, the highest spiritual heritage, making life of man purposive and meaningful. It is indeed a classic of universal appeal, which highlights spiritual discipline and self-restraint, as guiding principles for the liberation of mankind, fettered in the tangles of tottering moral values. The book gives a clarion call for breaking asunder the bondage wrought by karma or the deluding actions which wean us away from the divinity enshrined is us. The process is one of *Sadhana*–penance, and a will to uplift oneself from the narrow cog-mire or ego-mire of egotism and selfishness. It is unfolding of a spiritual life which enables us to participate in a 'universal life' of love, tolerance and non-violence. It is appreciation of the mutual differences and thereby understanding the multifacetted-dimensions of truth which refuses to be bogged down to narrow parochial thoughts. The book is a living fire, the sparks of which ignite the spiritual awareness already present in man, which is alas, veiled today by worldliness and hedonistic attractions lurking all around. The seer and saint Acharya Vidyasagar makes us aware of this, not by speculative discourses, but by using analogies and examples culled from daily life in a language that is direct, simple, yet pregnent with inspiring spiritual thoughts which we are to imbibe. Acharya Vidyasagar follows the tradition of ancient Indian seers who gave their sermons through dialogues and parables rather than intellection. Hence the use of allegories, symbols and images play a very important role in conveying the spiritual content envisaged in this classic. The inanimate are animated and discuss the vital aspects of life, so sanguine for human redemption. The soil of the river discussing with mud of mother earth, the potter discussing the prospects with earth, the earthern-pot discussing important, temporal and spiritual issues with the golden pot or *swarna kalash,* and finally the spiritual aspirant, *sadhaka*, disciple and devotee Seth or businessman who puts into practice the spiritual disciplines for attaining the goal in which self-restraint *संयम,* and self-discipline *अनुशासन*, go hand in hand.

> ***Faith will obtain experience,/It will decidedly get it;***
> ***But/Not in the path, but on the goal.***
>
> *"विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी*
> *मगर/मार्ग में नहीं, मंज़िल पर !" (पृ.४८८)*

The book opens before us a vast panorama, touching almost every aspect of life.

Literature, psychology, yoga, art and philosophy are all interwoven by a thought-pattern, which is explained in very simple language, touching the sublime. It elevates us from simple to profound experiences. From the household examples culled from daily experiences of life, it touches the exalted experiences alluded to by psychology, philosophy and science. Even the star-wars and the terror they bring in the trail are pointed out with a grim warning of suicidal annihilation, if man's sanity is lost in the midst of rage and violence. Right at the outset in the preface, poetically termed as a 'Wavelet of Mind', Acharya Vidyasagar enunciates the basic tenets of Jain philosophy, which while accepting the divine essence or godliness of every individual *jiva*, it denies God as a creator, assuming human body. It is the bondage wrought by *karma* that makes the *jiva* revolve in cycles of birth and death. Once the binding fetters of *karma* which tie down the *jiva* to the world *sansara* are cleft by *sadhana* or penance, by contenance and conquest of the turbulent mind, the cravings of heaving desires and passions swelling in the heart, the *jiva* becomes free or *mukta*. The divinity shines in him with all the refulgent-splendour. *Jiva* contaminated by *karma*, can wash away the blemishes and bondage of *karmas* by spiritual *sadhana*, and the cycle of birth and death ceases. *Jiva* lives in the eternal glory of his own divine being, godliness. When did *karma* start its function cannot be answered, as it is without beginning. But it has an end when its shackles are cleft asunder by spiritual *sadhana*. Jainism does not believe in descent of God or Avatar. Once the *Jiva* is *mukta* or liberated, he does not descend, as descent means to be caught again in the mesh of *karma* from which he is already freed. Rather it believes in the Ascent of *Jiva*, or *Mukti* of Jiva, ascending into the divine, its own real absolute essence, gaining this there is no descent or lapse into the deluding bondage of *karma*.

Acharya Vidyasagar explains this in very simple language in the course of this rich poetic creation, *Mookmati*. He thus alludes to the fundamental philosophy of Jainism in his foreword.

A philosophy to be effective must have its fundamental bearings on the bed-rock of human experience, in consonance with life on this earth. It must be pragmatic and give solutions to the day to day problems man faces in his journey on this planet, the earth, which is symbolically *mati* or mud. Hence the Acharya touches on all the important facets of life. He believes in all-round integral growth and not the lopsided one which restricts it in the narrow bonds. This pragmatic element is well brought out in this important creative poem *Mookmati*. He makes it clear that *Dharma* is the way of living a pure and meaningful life. He, therefore, discusses in the poems, the social needs and the necessity of equality and social justice for social balance and good-will amongst mankind. The need of non-violence, friendship, fraternity are all emphasised with ethical rigor. He discusses about the political, educational and religious aspects, which when put to right and righteous use, make human life sublime. It then becomes a fore-runner for peace and well being, for all mankind and helps to knit them as one, 'world-family'. While showing the sublime path of progress, he cautions man to avoid the pitfalls of evil tendencies that creep even in the good institutions and mar their virtuous functions. These evils have to be eradicated by inculcating the exalted

ethics, which improve the quality of life, by shunning the temptations of indulgence *bhoga* with the practice of *yoga*, which is communion with the divinity already in man. This is best done by leading a selfless pure life of self-discipline, freed from the hankerings of worldly desires. This is the ultimate message of *Mookmati*. The creative intellect of Acharya has given us a magnificient creative poem. A brief review of the poems will enlighten us with the noble thoughts and emotions embodied in the epic. The four cantos of the book serve as path-finders for the ultimate release or liberation.

In the first Canto, the dominent note is Integration and not dissipation, as revealed in the dialogue between the river and the earth, between mud and the potter. In the course of the discussion Acharya gives us etymological meanings of many words through the split *vyutpatti*– derivation of the *samas*–compounds and points out to the subtle nuances in simple words, say the meaning of *Kumbhakar* (Pottor). *Ku*–means earth, *Bha*–stands for *bhagya* or fate, hence *Kumbhakar* is one who is not only fortunate, but also the creator of Fortune or Destiny is the Potter, *Kumbhakar*. Similarly *गद (gada)* means diseases and *हा (ha)* means the remover, therefore *गदहा* which commonly means donkey, etymologically it means the remover of diseases. Besides, these word-nuances, we have rich thoughts permeating this canto.

(1) ***Compassion indeed/Is the spontaneous expression***
Of true Knowledge, the Science of life.

"दया का होना ही/जीव-विज्ञान का/सम्यक् परिचय है।" (पृ.३७)

(2) ***Play of passions/Is delusion,/Progress of compassion/Is liberation.***

"वासना का विलास/मोह है,/दया का विकास/मोक्ष है।" (पृ.३८)

(3) ***Attachments give rise to violence./And***
In attachment-free-state alone,
Non-violence grows,/Gathers strength.

"ग्रन्थि हिंसा की सम्पादिका है/और/निर्ग्रन्थ-दशा में ही
अहिंसा पलती है,/पल-पल पनपती,/···बल पाती है।" (पृ.६४)

Similarly, in an interesting dialogue between soil and the fish, Vidyasagarji gives a crisp and aphoristic definition of *Satyuga* and *Kaliyuga* .

The relentless search for truth alone
Is satyuga, my son./And
...To look upon truth as falsehood
Is kaliyuga, my son.

"सत् की खोज में लगी दृष्टि ही/सत्-युग है, बेटा !/और
...सत् को असत् माननेवाली दृष्टि/स्वयं कलियुग है, बेटा !" (पृ.८३)

The second Canto starts with the dialogue between the Artist *Shilpi* and the mud *Mati*. It points out the common stresses and strains of life, and then rises to high philosophical cresendo. This is a unique device by which Acharya Vidyasagar passes on his message in poetry, without making it didactic. Epigrammatic lines and quotable quotes are rampant in this canto :

Vindictiveness is that fire/Which
Burns the body and the self/From generation to generation.
"बदले का भाव वह अनल है/जो/जलाता है/तन को भी,
चेतन को भी/भव-भव तक !" (पृ. ९८)

In this Canto, the entire theory of Rasa, figurative and rhetorical use in Indian Aesthetics is stated in the natural flow of poetry. The examples taken from day to day life are expressed in colloquial language. The *Rasas* elaborated are *Vir* (bravery), *Hasya* (Wit & humour), *Karuna* (Pathos), *Bibhatsa* (Hideousness), *Vatsalya* (love for the child) and in the end *Shanta* (Peace). *It is the use of these rasas or emotions which give depth and feeling to poetry. Indian aesthetician has described poetry as 'sentences drenched in Rasa'. Kavyam Rasatmakam Vakyani.* Acharya Vidyasagar has depicted the various moods, emotions and reflections in this canto with great agility. The spontaneous and powerful emotions are conveyed in lyrical captivating verses :

The culmination of all rasas/Is shanta rasa
It murmurs, hums/In the hearts of saints.

"सब रसों का अन्त होना ही–/शान्त-रस है।
यूँ गुनगुनाता रहता/सन्तों का भी अन्तःप्रान्त वह।" (पृ.१६०)

Acharya makes some very original comments on music. In the seven notes of music he envisons the delight and bliss of seven-modes of knowing the truth, as enumerated in the Jaina theory of *Syadvad* or *Saptabhangi*, which says that truth is multidimensional; to use Whitman's words 'it contains the multitudes'. The seven different attitudes reveal variety of meaningfulness. Hence no single attitude reveals its absolute meaning :

The same object/Is expressed in various ways,
Dyed in different hues, heaves in waves.
My companion is music
'Tis seven-fold : Saptabhangi.

"एक ही वस्तु/अनेक भंगों में भंगायित है/अनेक रंगों में रंगायित है,
तरंगायित !/मेरा संगी संगीत है/सप्त-भंगी रीत है।" (पृ.१४६)

As the artist rotates the potter's wheel, Mute-mud, reveals to him some reflections on time:

Time itself is not the wheel./It is the rotator of the wordly wheel.

"काल स्वयं चक्र नहीं है/संसार-चक्र का चालक होता है वह।" (पृ. १६१)

Thus we see there is all movement *bhramana* in the circumference, while the centre delights rotating in itself; though there may be delusion on the circumference, there is illumination at the centre.

Acharya Vidyasagar takes up the riddle of mathematical digit '9'. To an artist, Mathematics is also music of numbers. He tells us that 9 is the source of all life while 99 is worldly cycle of delusions. It is '9' that inspires, revolves towards-self realisation– *'Atmatatva-Udbodhini'*.

In this context he also discusses subtle importance of seminal letters 'ही' (*Hi*)–denies all others and 'भी' (*Bhi*)–accepts all others as elaborated in Jain Tantra.

'Hi' represents one-sidedness Ekantavad,
'Bhi' is multidimentional Anekantavad.
'Hi' represents Western civilisation
'Bhi' is Indian culture, controling our destiny.

" 'ही' एकान्तवाद का समर्थक है/'भी' अनेकान्त, स्याद्वाद का प्रतीक।
...'ही' पश्चिमी-सभ्यता है/'भी' है भारतीय संस्कृति, भाग्य-विधाता।"
(पृ.१७२-१७३)

Anekantvad and *Syadavad* are the Interesting attitude of Jainism which in its practical application makes man shun the false pride; "My opinion alone is true". "My Opinion also is true,"it indicates a spirit of tolerance which tells us that from a different stand point others may be equally true or perhaps better. This is beautifully expressed in the canons of Jain philosophy.

Acharya further ascends on the path of self-realisation *Kevaljnana*–Omniscience and analyses the mind where in the sport of good and evil, is ever enacting its relentness drama. He says :

Passions reside/Neither in body nor in dress,
But/In the mind deluded by Maya (Illusion).

"वासना का वास वह/न तन में है, न वसन में
वरन्/माया से प्रभावित मन में है।" (पृ. १८०)

The third Canto has been named as one that emphasises 'Acquiring of virtues and ablution of sins'– **(पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।).** Right at the outset Acharya tells us :

(1) ***For petty selfish gains,/For worthless paltry praise,***
Evil abounds everywhere.

"तुच्छ स्वार्थसिद्धि के लिए/कुछ व्यर्थ की प्रसिद्धि के लिए
सब कुछ अनर्थ घट सकता है !" (पृ.१९७)

(2) ***Where is the prayer to the Lord ?***
Where is the worship of the Lord ?
For glorious spiritual attainment ?

"वह प्रार्थना कहाँ है प्रभु से,/वह अर्चना कहाँ है प्रभु की
परमार्थ समृद्धि के लिए !" (पृ.१९७)

He denounces the *Buddhi* or intelligence which revels in sin and selfishness and calls it 'world-betrayer', 'misery-inflictor' and cause of terrorism. These tendencies are barbaric and must be nipped in the bud.

Acharya casts a glance at the history of cultures and insists on the great ideals which women of yore have placed before man. All cultures and civilizations are nourished by the kind, compassionate, loving milk of the mother. They are nurtured under the tender care of her affection and *vatsalya*. Acharya gives subtle nuances of the synonyms of the sanskrit words for woman by splitting of *samas* according to sanskrit grammar rules.

Nari– *(1)*→ *Na* = no, *ari* = enemy
One who is not the enemy of anybody is *Nari* or woman .
(2)→ *Na* = no, *aari* = spiky saw.
One who is not the ragged saw of destruction is *Nari* or woman.

Mahila– (1)→ One who creates auspiciousness in the atmosphere, making life a festival of joy.
(2)→ One who guides man to the right goal is also *mahila* or woman.

Abala - (1)→ *'Avagama'* means, the light of knowledge. One who dispels darkness and gives light to life is *Abala*.
(2)→ *Bala* also means problems. One who solves all problems *balas* is *Abala* or woman.

In the similar vein *kumari* is explained as one who grants prosperity. Similarly a good number of words like *stri, suta, duhita*, have been explained as those who grant auspiciousness *mangalya*. Many wholesome topics are taken up with *Prabhakar* the 'Sun' giving his sermon, which dwells upon psychological traits, freedom from sin, awakening of righteousness and final preparation for release or liberation. Acharya says, "one untouched by egoism is free". (Pg. 22) Friendship, compassion, devotion, sympathy, tolerance, meditation and Yoga, are all hinted at to bring new order or renaissance in life. The canto ends with the sermon of *Kumbha*, Earthern pot, in which an aspirant starts with his sadhana that journeys from diversity to unity, *Bhed* to *Abheda* from known to unknown Reality.

The four4th Canto starts with a dialogue between the earthern-pot *kumbha* with fuel sticks in the oven. The *Kumbha* observes "In *Ganatantra* democracy, stick is often used for punishing the innocent while the culprits go scot free". The faltering stick says :

Not by oppressing the weak,
But in protecting them by giving support,
The strength of the strong becomes worth-while.

"निर्बल-जनों को सताने से नहीं,/बल-संबल दे बचाने से ही
बलवानों का बल सार्थक होता है।" (पृ.२७२)

Later the artist 'kumbhakar' potter kindles the oven by repeating the *Navkar Mantra* – sacred Mantra, in nine times for sanctifying the whole process of pot making. The blazing fire gives its sermon by saying :

I firmly believe/No one has obtained liberation,
Without giving the crucial fire-test so far,
Nor will it be had in future either.

"मैं इस बात को मानती हूँ कि/अग्नि-परीक्षा के बिना आज तक
किसी को भी मुक्ति मिली नहीं,/न ही भविष्य में मिलेगी।" (पृ.२७५)

The Acharya then alludes to the real and relentless test of life, on the touch-stone *Kasauti* of noble character. He also refers to *dharma* and *adharma*, to virtues and vices, meditation and *pranayam*, that is breath control or *yoga*, equipoise, soft or hard, philosophy and spiritual life, cause and effect, rhythm or *tal* in music and so on, and concludes by saying :

Behold, but without touch,/Touch, but without elation
Then emotions will remain hungry...

"दर्शन हो, पर स्पर्शन नहीं,/स्पर्शन हो, पर हर्षन नहीं,
भावना भूखी रहेगी···!" (पृ.३१८)

Once the life receives glowing touch from guru it beams on the countenance of the aspirant, thereafter the whole process – the swastik, saffron, sriphal (coconut), the suppliant devotee at the feet of guru - is narrated :

Oh, Compassionate guru,/I take refuge at thy feet,
Ferry me across in thy boat/To the shore of the ocean of world.

"शरण, चरण हैं आपके,/तारण-तरण जहाज,
भव-दधि तट तक ले चलो/करुणाकर गुरुराज !" (पृ.३२५)

Then alone can one be free from the dualities and other temptations of life that balk the path. If you can merge yourself in the devotion of *Arihaant*(Omniscience Supreme God) by concentrating on the tip of the nose, you become free from distractions that fritter away the spiritual propensities.

Acharya describes the life of an ascetic-saint who has renounced everything and lives on the alms of devotees. He uses no untensils, but only his palms, for accepting food. He is clad only by the four directions of the firmament. His devotee, a Seth follows him with devout zeal and dedication.

Acharya discusses in this canto about *Purusha* and *Prakriti*, individual conciousness and creation, *Atman* and creation, man and woman. He tells that *Purusha* is a *Yogi* and *Prakriti* is his *sahayogi* or co-operating one or companion and stands by him in spiritual practice or *sadhana* till the highest state is attained. Dynamic actions and reactions are of *prakriti* or kinetic principle of life.

There is another topic of discussion which touches Ayurveda, the ancient Indian science of medicine. He dwells upon the need of proper diet, and control of breath, and Yogic exercises, etc. Here we find a very interesting song in praise of *Bhu* or 'earth'. He also elucidates the 'mud'- therapy as a cure for many diseases. Herein he also dwells upon the four stages of speech. *Para* transcendental, *Pashyanti* illuminated stage of insight, the *Madhyama* the middle path of speech and the *Vaikhari* the common speech. He also discusses how speech and Yoga are inter connected and lead to spiritual realisation when harnessed to that purpose.

The greatest hurdle in the path of spiritual progress is the unruly ego of man uncontrolled. It is detrimental. When the inflated ego is hurt, it becomes a source of all terrorist activity in society.

> ***It is only when the ego is wounded/Terrorism verily starts.***
> *"मान को टीस पहुँचने से ही,/आतंकवाद का अवतार होता है !" (पृ.४१८)*

Finally Acharya tells us :

> ***Now you must descend from/The boat of Ego Maan***
> ***Vardhaman is beyond ego./Bow at his feet in supplication***
> ***You'll cross the endless ocean of sin.***
>
> *"मान-यान से अब/नीचे उतर आओ तुम !/जो वर्धमान होकर मानातीत हैं*
> *उनके पदों में प्रणिपात करो/अपार पाप-सागर से तर जाओ तुम !" (पृ.४२१)*

Acharya takes up another important topic, the virtue of vegetarianism as it is founded on the compassion for all living beings. He can understand the need of punishment for correcting the criminal activity in society. But he does not approve of Capital punishment at all. He asserts emphatically that "cruelly punishing a criminal is itself a form of criminality. This itself is a crime, a drift from true justice".

The Acharya concludes the epic by the benedictory sermon given to the Golden pot for a very auspicious living. Subtle nuances of words are brought out by giving new descriptions and etymological meanings of so many words commonly used. The splitting of *samas vyutpatti* becomes so conducive of so many charming meanings. Finally Acharya Vidyasagar gives the eternal message of spiritual salvation, culminating in silence. Mute-Mud admires him by looking at him steadfastly. Auspiciousness and spiritual halo pervades all around. In such a blessed and sanctified atmosphere the great epic draws to a close.

Acharya Vidyasagar adopts three tier language to give expresssion to his thoughts and emotions, so that they may be conveyed to all people. He uses down to earth language which is understood even by the common reader. He also uses the language which is understood by the lay reader and finally for the erudite conveying the subtle truths in philosophical language. Thus he moves in all stages of language with great agility. It is just like the eminent musician who sings in all the octaves, the bass, the baritone and the tenor, with great ease, Moreover Acharya ably gives expression to the dual aspects of poetry, emotional with all its warmth, affecting with charm and the philosophical with logical rigor and reflection. This makes his poetry complete and integrated.

Mookmati or Mute-Mud is a soul stirring poetry of multicoloured splendour with vast range of thoughts and emotions, inset in a spiritual life. The readers will find it very illuminating, as almost every aspect of life is dealt in all completeness. Jnanpith has made a remarkable contribution in publishing this great classic for our modern age, the need of which is so very imperative to-day.

❑

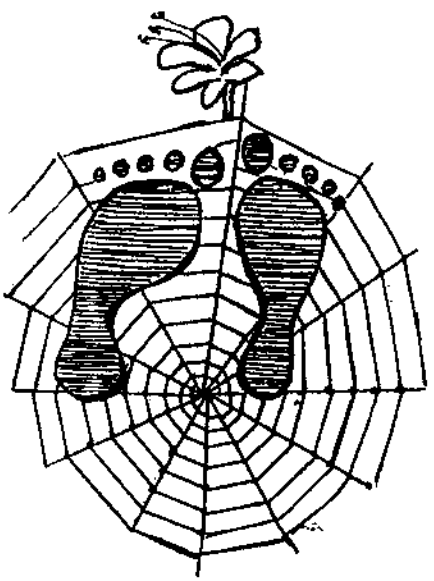

पृष्ठ 93
कभी-कभी ----
हरदम उथमी है।

'मूकमाटी' - सप्तक

डॉ. छोटे लाल शर्मा 'नागेन्द्र'

सुन्दर सलोनी 'मूकमाटी' महाकाव्य कृति,
ऐसा लगता है पाया रात में दिवस है।
मिला है प्रकाश-पुंज सत्य-अनुगूँज-युत,
पता नहीं ज्ञान है कि ज्ञान का ही रस है॥
नीरस रसा के रस सरस बनाए गए,
पा के मन तथ्य जिन्हें हो गया अवश है।
मृषा-तृषा जड़ता की बिखरा रही है राशि,
निखर रही है वृत्ति, मन भी विवश है॥१॥

'मूकमाटी' ज्ञान कुंज, भव्य भावना से पूर्ण,
पृष्ठ-पृष्ठ मानों दल रम्य उज्ज्वला के हैं।
भाव, अनुभाव या विभाव रस-सिक्त सब,
जड़ता से रिक्त-पाणि पृष्ठ अबला के हैं॥
भाषा का प्रयोग ऐसा जग को मिलेगा कहाँ,
अद्वितीय रूप लिए काव्य की कला के हैं।
चला चंचला-सा अचला को हाथ साधे हुए,
'गौरव-विभूति मुनिवर' अचला के हैं॥२॥

कहीं शब्द, अर्थ जैसे जीवन औ' प्राण-देह,
के समान उड़ रहा प्रतिभा का केतु है।
अनुभव जीवन के भव को सुधार रहे,
दर्शनों का योग हुआ साधना का हेतु है॥
आद्योपान्त शिव शिवता से है प्रवहमान,
कहीं भी विराजमान राहु है, न केतु है।
बार-बार कर अवगाहन कषाय मेंट,
भव-सरिता में 'मूकमाटी' बनी सेतु है॥३॥

जगती में 'मूकमाटी' जीवन की प्रतिलिपि,
ज्ञान की विभा में यह हिम और पानी है।
माया का प्रपंच अन्धकार सब ओर जमा,
रामा में रमा के मन खो रहा जवानी है॥

जड़ता को, अज्ञता को, मोहमयी अन्धता को,
पाल कर, जगती को बन रहा दानी है।
कैसे जीव जगती में मोक्ष उपलब्ध करे,
ज्ञान की रवानी महाकाव्य की कहानी है ॥४॥

ज्ञान कुम्भकार जब लगन कुदाली थाम,
लक्ष्य और चलता है सुन्दर स्वभाव से।
तर्क जैसी वंकिमा भी नहीं कमनीय जहाँ,
बल मिलता है सदा सरलता के भाव से॥
योग उपजाता, भोग सुन्दरता जगाता, रोग-
क्षण में सुलाता, चलता न काम दाँव से।
भव-भय-त्राता भूमि पाता है सुहानी जब,
साधना को बढ़ाता है मृदुता प्रभाव से ॥५॥

तापस है कुम्भकार करता विचार शुभ,
कल्पना के कुसुम खिलाता मूकमाटी से।
ज्ञान परिपाटी 'मूकमाटी' में समाती और,
साधना की पाटी लिखवाती मूकमाटी से॥
अघ-ओघ, तम-तोम, सुधा सोम आदि सम,
जैसे चाहे पात्र बना डालो 'मूकमाटी' से।
सिद्धि-शोध, सिद्धि-द्वारा, सिद्ध की प्रसिद्धि और,
सिद्धि शिला-पथ मिलता है 'मूकमाटी' से ॥६॥

मन्द-मन्द मृदुता से ललित कथा के अंश,
छन्द-बद्ध जैसे बोल पढ़ो 'मूकमाटी' के।
शब्द-अर्थ खुलते ही बोलते प्रसंग-रंग,
सौम्य बोल अनमोल पढ़ो 'मूकमाटी' के॥
गाथा-लोक गाथा खोल, अमृत दिया है घोल,
अंग-अंग तलातोल पढ़ो 'मूकमाटी' के।
जीवन के रूप-रंग सभी यहाँ विद्यमान,
रुचिकर पृष्ठ खोल पढ़ो 'मूकमाटी' के ॥७॥

□

'मूकमाटी' महाकाव्य : विश्व साहित्य की अनुपम कड़ी

एन. शान्तादेवी

आचार्य विद्यासागर से लिखित 'मूकमाटी', जन साधारण से पठित यह 'मूकमाटी',
काव्य प्रतिभा का एक चमत्कार है, साधारण व्यक्ति का एक उद्धारक है,
धर्म-दर्शन एवं अध्यात्म रस को पिलाने, मुक्त छन्द की मनोरम शैली में निबद्ध कर,
काव्य साहित्य की एक अनुपम उपलब्धि, आचार्य विद्यासागर से लिखित 'मूकमाटी'।

हिन्दी, संस्कृत, अँग्रेजी आदि में प्रकाशित रचनाएँ आपकी,
'डूबो मत, लगाओ डुबकी', 'तोता क्यों रोता ?', 'मूकमाटी' आदि
अपने हित-मित-वचनामृत से जन-कल्याण में निरत आप,
साधना की उच्चतर सीढ़ियों पर सतत आरोहण !

माटी जैसी निरीह, पद दलित, व्यथित वस्तु को,
महाकाव्य में महान् बनाकर, मुक्ति की वाणी दी है,
कुम्भकार शिल्पी ने माटी की रचना को पहचाना,
कूट-छानकर, वर्ण संकर हटाकर, मृदुता लाया,
चाक पर चढ़ाकर, आवे में तपाकर, मंज़िल तक पहुँचाया,
मुक्ति यात्रा का रूपक है यह महाकाव्य 'मूकमाटी' !

उनका उद्देश्य रहा :

'यथाकार बनना, व्यथाकार न बनने', 'तथाकार बनना, कथाकार न बनने',
आतंकवाद का अन्त और अनन्तवाद का श्रीगणेश !

चार खण्डों में विभक्त यह 'मूकमाटी', 'संकर नहीं : वर्ण-लाभ' प्रथम खण्ड में,
माटी व शिल्पी के मध्य मनोरम संवाद, अव्यक्त भाव, शब्दों में व्यंजित हो इतिहास बनाती है !

बोझ ढोए गदहे की पीड़ा से माटी करुणार्द्र हो, पश्चाताप की आग में जलकर याद करती है।
'याद' से 'दया' का विलोम रूप में अर्थ निकलता है,
गद–रोग, हा–हारक बन, जीवन का निर्वाह नहीं, निर्माण में सहायक बनता है।

शिल्पी, माटी का चालन कर संशोधन करता है, माँ माटी से पृथक् हो, कंकर प्रश्न करता है,
सोदाहरण समझाते हैं–गाय क्षीर तथा आक क्षीर से
माँ माटी देशना देती कंकर को– 'राही' बने 'हीरा'!

रस्सी बालटी लेकर, कूप से जल लाने निकला, पानी मछली सहित बाहर आते देखा।
माँ माटी से ज्ञान माँगती मछली, मासूम बनने उत्तर मिला,
वापस कुएँ में पहुँचकर 'दया-विसुद्धो धम्मो' प्रस्फुटित हुआ।

खण्ड-दो रहा–'शब्द सो बोध नहीं : बोध सो शोध नहीं।'
माटी के अन्दर रहकर काँटा शिल्पी से बदला लेने निकला,
माटी समझाती है, बदले का भाव दल-दल है,
जिसमें बलशाली भी गज दल तक फँस जाते हैं - अनल है,
यह भावना जो तन, चेतन, भव तक को जलाती है।

शिल्पी घट पर ६३ की संख्या ६ और ३ सम्मुख अंकित कर,
सिंह, श्वान, कछुआ, खरगोश अंकित करता,
तो 'कर पर कर दो'– अंकित पंक्ति भविष्य की ओर संकेत करती
'मर हम, मरहम बनें' और 'मैं दो गला'–अनेक संकेत करती हैं।

जनन–उत्पाद, मरण–व्यय और स्थिर–ध्रौव्य है,
कुम्भ की नमी को सुखाने हेतु धूप में रख शिल्पी,
आगामी जीवन का बीजारोपण की अभिव्यंजना करता है,
जनन पाया तो मरण पाना ही है–अकाट्य नियम यही है।

तृतीय खण्ड रहा–' पुण्य का पालन : पाप-प्रक्षालन।'
अनेकानेक बाधाओं के पश्चात् नीलाकाश स्वच्छ नज़र आता है,
सम्पूर्ण सृष्टि में नवीनता आती है, शिल्पी को कुम्भ ने सुनाया त्रैकालिक सत्य,
उपसर्ग बिना स्वर्ग की उपलब्धि न हुई, न होगी।
साधक अपनी साधना में लीन, अडिग–अविकल, मौन व समभाव से लक्ष्यप्राप्ति हेतु,
प्रतिकूलताओं को सहयोगी मानता है, विषम परिस्थितियाँ ही तो उसकी कसौटी है!

चतुर्थ खण्ड रहा–'अग्नि की परीक्षा : चाँदी-सी राख।'
धरती की माटी पहले गोद में थी, आज धरती की छाती पर है,
घट लेने सेवक को नगर सेठ ने शिल्पी के घर भेजा, उसने कुम्भ की परीक्षा कंकर से की।

आतंक से भयभीत कुम्भ सहित सेठ परिवार ग्राम-नगरों को पार कर,
पर्वत श्रेणियों से युक्त सघन वन में प्रविष्ट हुआ,
कठिन परिस्थितियाँ पार कर, नदी के किनारे पहुँचा,
त्याग, तपस्या के सुफल से भँवरदार धारा को पार किया।

आतंकवाद पराजय का मुख ताकने लगा, नाव जलमग्न हो जाती है,
आतंकवाद का अन्त हुआ! शिल्पी, कुम्भ, कुम्भकार ने शिला पर विराजमान,
वीतरागी साधु के दर्शन किए–जो अभय का आशीर्वाद देते हैं।
बन्धन रूप तन-मन और वचन का मिटना मोक्ष है! जिस प्रकार दूध से घी निकलता है,
किन्तु घी को पुनः दूध रूप में बदलना सम्भव नहीं है, मूकमाटी यही निहारती है!

पात्र परिचय : १. महाकाव्य की नायिका मूक माटी है। माटी कुम्भ के रूप में साकार होकर, भक्त सेठ की सहकारी बनकर, 'भू-सत्तायाम्' की प्रतिष्ठापना की विशेषताओं में प्रदर्शित होती है।

२. वीतराग श्रमण के प्रतीक 'कुम्भकार' महाकाव्य के नायक हैं। क्षमा के साक्षात् मूर्ति कुम्भकार माटी को मंगल कलश का रूप देते हैं। अन्त में निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु से सम्बोधन प्राप्त करते ही हैं।

३. श्रमण सन्त विषय-कषायादिजन्य विकारों के विजेता हैं।

४. जैन श्रावक का प्रतीक जिनेन्द्र भक्त सेठ है। वह कुम्भ के सहारे आगे बढ़कर, गुरु तारण-तरण-जहाज़ से मुक्ति की कामना करते हैं। उनके साथ उनका परिवार भी है।

५. आचार्यजी ने आतंकवाद का मानवीकरण किया है। उसे विकराल रूप में चित्रित किया गया है।

रस परिचय : रस काव्य की आत्मा है– 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्'। इसमें प्रधान रस 'शान्त रस' है, अन्य रस गौण हैं। किसी महापुरुष के दर्शन, तत्त्वज्ञान और वैराग्य आदि से शान्त रस की उत्पत्ति होती है।

प्रकृति चित्रण : मानव सौन्दर्य प्रेमी है। प्रकृति का सौन्दर्य शाश्वत होता है। काव्य में प्रकृति चित्रण– आलम्बन, उद्दीपन, आलंकारिक, मानवीकरण, उपदेशात्मक आदि रूपों में चित्रित है।

भाषा व शैली : महाकाव्य में शैली की सम्प्रेषणीयता, प्रसंग गर्भता और व्यंजना शक्ति आदि विशेषताएँ उपलब्ध हैं। भाषा ओज, प्रसाद, माधुर्यगुण पूर्ण खड़ी बोली हिन्दी है। आचार्यजी की भाषा प्रांजल, सरस एवं भावानुकूल प्रवाहमयी है। यह मुहावरों, कहावतों, लोकोक्तियों व सूक्तियों का कोश बन गया है।

नामकरण : 'मूकमाटी' काव्यशास्त्रीय मान्यतानुसार सफल एवं सार्थक नामकरण है। 'मूकमाटी' नामकरण कर माटी की महान् महिमा को उद्घाटित किया है।

छन्द-अलंकार : इसकी रचना मुक्तक छन्द में हुई है। यत्र-तत्र तुकान्त व अतुकान्त आदि छन्द योजना भी दिखाई देती है। इसमें दोहा, वसंततिलका आदि छन्द भी हैं। संगीतात्मकता और उसके अनुरूप प्रवाहमयी कोमल-कान्तपदावली, भावों की एकता, लयात्मकता भी इसमें भरपूर है। आचार्यजी ने उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक, रूपक, अन्योक्ति, अनुप्रास, प्रश्नालंकार, श्लेष आदि अलंकारों का प्रयोग उचित स्थान पर करके कृति को अलंकृत किया है।

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता:'– कथितानुसार आचार्यजी ने 'मूकमाटी' में नारी महिमा का विशद वर्णन किया है।

इसमें भारतीय संस्कृति के मूलमन्त्र 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामया:' की अभिव्यक्ति की है। तत्कालीन समाज, राजनीति और धर्म का दर्पण बन गया है 'मूकमाटी' महाकाव्य। 'जो श्रम करे सो श्रमण'– जिसने इन्द्रियों को जीत लिया, वह 'जित' या 'जिन' है, ऐसा श्रमण किसी जाति, वर्ग, समाज या धर्म तक ही सीमित नहीं रह सकता, अपितु वह सम्पूर्ण जीवन, मानव जाति में हो सकता है।

सन्त कवि आचार्य श्री विद्यासागरजी की यह प्रौढ़तम काव्यकृति विश्व साहित्य की एक अनुपम कड़ी है।

❑

'मूकमाटी' : ग्रंथ परिचय

प्रदीप शहा

'मूकमाटी' हा ग्रंथ ४८८ पानांचा असून तो आचार्य विद्यासागर महाराजांनी लिहिलेला आहे आणि त्याचे प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली तर्फे झाले असून त्याची किंमत रू. ५० आहे.

हा ग्रंथ मी स्वत: तीन वर्षांपूर्वी वाचला तो मला अत्यंत आवडला, आणि सर्वांनी तो वाचावा असे वाटत राहीले. या वर्षीच्या (१९९० ई.)चातुर्मासामध्ये प.पू. जयकीर्ती महाराजांच्या प्रेरणेने मी या ग्रंथावर सतत एक महिना प्रवचन केले तेवढ्यात श्री. हेरवाडे यांचे पत्र आले की जैन साहित्य संमेलनामध्ये 'मूकमाटी' ग्रंथाचा परिचय द्यावयाचा आहे. म्हणून हा थोडासा प्रयत्न.

या ग्रंथाचे लेखक आचार्य विद्यासागर महाराज यांचा जन्म 'सदलगा' या ग्रामी, कर्नाटकांत १० आक्टोबर १९४६ मध्ये झाला. २० व्या वर्षी ब्रम्हचर्य व्रत त्यांनी घेतले व वयाच्या २२ व्या वर्षी दिगंबर मुनी दिक्षा घेतली. विद्यासागर महाराजांना हिंदी अजिबात येत नव्हति. स्वत: हिंदीचा अभ्यास करून 'मूकमाटी' हे महाकाव्य त्यानी हिंदी भाषेत लिहिले.

जैन साहित्यामध्ये शतकानुशतके जैन आचार्यांनी साहित्य निर्मिती केली आहे या विसाव्या शतकामध्ये नग्नता पाळून मग्नतेने साहित्य निर्मिती करणारा हा संत पाहिला म्हणजे माझ्या सारख्या साहित्यकालाही आत्मानंद होतो. मी स्वत: विद्यासागरजींना पाहिलेले नाही. पण त्यांच्या काव्यातूत त्यांच्या प्रतिभेची, प्रगल्भतेची उंची काय असेल याचे अनुमान सहज काढता येते. 'मूकमाटी' या काव्याचा इतका प्रभाव आणि आंतरिक आनंद मला लाभला आणि असे वाटते की या काव्यासंबंधी मूकताच पाळावी आणि बोलूच नये.

'मूकमाटी' हे महाकाव्य, खंडकाव्य की फक्त काव्य आहे. याच्या वादात शिरू नये असे वाटते. पण या कृतीचे साहित्यिक मूल्यमापन करताना हे महाकाव्यच आहे असेच म्हणावेसे वाटते. कारण या काव्यामध्ये निसर्गाचे वर्णन, सामाजिक समस्यांचे विश्लेषण, मानवजातीचे मनोविश्लेषण, असंख्य उपमांची पेरणी, जैन व इतर भारतीय दर्शनांची तुलनात्मक मांडणी, अध्यात्म या सर्व विषयांचा ऊहापोह दिसून येतो. या काव्यामध्ये रोमांस सुद्धा आलेला आहे पण त्याचे स्वरूप मात्र तात्त्विक आणि बैठक अध्यात्मिक आहे.

या महाकाव्याच्या विषयात मातीसारख्या तूच्छ वस्तूला घेवून लिहिण्याची कल्पनाच विचित्र वाटते. मातीच्या तुच्छतेमधून भव्यतेचे दर्शन घडविणारी ही एक मंगल यात्रा आहे. तुच्छ जीवनाला भव्यता प्राप्त करून देण्याची प्रक्रिया आणि त्या भव्यतेतून मुक्तीची मंगल यात्रा घडविणारे हे महाकाव्य आहे.

'मूकमाटी' ही अशी एक अनुपम साहित्य कलाकृती आहे,जी अध्यात्माचा खजिना घेवून सरळ सोप्या भाषेमध्ये वाचकाला आपल्या बरोबर बांधून घेते. हे महाकाव्य असे आहे जे बेहद्द सरळ व व्यावहारिक वाटते. पण साहित्यिक प्रांगणामध्ये या महाकाव्याने कितीतरी कवींच्या प्रतिभेला आपल्या लेखणीने फिके पाडले आहे ह्या काव्यामध्ये अत्यंत स्पष्टता, सक्षमता व सहजता आहे. अर्थ, छंद, अलंकार, बंध विविधता, व्यंग, सौष्ठव आणि भरपूर प्रसंग त्यात प्रस्तुत केलेले आहेत.

"मन्त्र न ही अच्छा होता है/ना ही बुरा/अच्छा, बुरा तो
अपना मन होता है/स्थिर मन ही वह/महामन्त्र होता है/और
अस्थिर मन ही/पापतन्त्र स्वच्छन्द होता है।" (पृ. १०८-१०९)

आणखी एक उदाहरण :

"...जो जीव/अपनी जीभ जीतता है/दु:ख रीतता है उसी का
सुख-मय जीवन बीतता है/चिरंजीव बनता वही।" (पृ. ११६)

हया काव्यातून उद्‌बोधनाने जनमाणसाला आत्मचिंतनाची वाट दिसते. विडंबनाच्या माध्यमातून हे काव्य वाट चुकलेल्यांना सतर्क करविते. मानव जातीच्या त्रुटी दाखवून त्यांचे जीवन उंचावण्याचा प्रयत्न हे काव्य करते. कवीने सामाजिक जीवनातील दंभस्फोट ही आपल्या काव्यातून घडविला आहे. आपल्या अवती भोवतीच्या समाजातील भांडणे या अनंत दुर्गुणांवर कवीने निर्भीडपणे तोंडसुख घेतले आहे.

सामाजिक शोषणाबद्दल कवी म्हणतो—पंचमचतुर्थया वादाबद्दल निर्देश असावा.

"क्या पता नहीं तुझको !/छोटी को बड़ी मछली/साबुत निगलती हैं यहाँ
और/सहधर्मी सजाति में ही/वैर वैमनस्क भाव/परस्पर देखे जाते हैं !
श्वान श्वान को देख कर ही/नाखूनों से धरती को खोदता हुआ
गुर्राता है बुरी तरह।/...विजाति का क्या विश्वास ?
आज श्वास-श्वास पर/विश्वास का श्वास घुटता-सा
देखा जा रहा है···प्रत्यक्ष !/...यहाँ···तो···/'मुँह में राम/बगल में छुरी'
बगुलाई छलती है।" (पृ. ७१-७२)

बाह्य क्रियाकांडामध्ये गुंतणाऱ्याबद्दल लेखक सांगतो :

"बाहरी क्रिया से/भीतरी जिया से/सही-सही साक्षात्कार
किया नहीं जा सकता।" (पृ. ३०)

भारतीय कवितेला नवे अध्यात्मिक वळण देणारे हे महाकाव्य आहे. जैन साहित्यकांना एक विशिष्ट अशी अध्यात्मिक चिंतानांची, मूलगामी विचारांची, निर्भिड प्रतिपादनाची, मनोविश्लेषणात्मक निरूपणाची बैठक असते. ही सर्व वैशिष्ट्ये 'मूकमाटी' मध्ये आहेत. एखाद्या दार्शनिकाने सत्य निरूपणाची उकल करून ठेवावी असे रूप धारण करणारी ही कविता आहे. मनोरंजनापेक्षा प्रबोधनाचे, प्रचितीचे, अनुभवाचे भाष्य करणारी ही 'गीता' आहे पावलो-पावली स्वत:चेच अंतरंग वेचून, जगापुढे ते अंतरंग उलगडून पसरण्याचा प्रयत्न करणारी ही एक कविता आहे.

'दिगंबर मुद्रा'- धारण करणाऱ्यांच्या वैशिष्ट्यांबद्दल लिहिताना कवि म्हणतो :

"कम से कम एक कम्बल तो···/काया पर ले लो ना !
...कम बलवाले ही/कम्बल वाले होते हैं/और/काम के दास होते हैं।
हम बलवाले हैं/राम के दास होते हैं/और/राम के पास सोते हैं।" (पृ. ९२)

जगातील सर्व रस— वीर रस, शृंगार रस, हास्य रस, रौद्र रस- या सर्वांची निरूपयोगिता काव्यातून दाखवून शेवटी कवी एका शाश्वत रसाची चर्चा करतो आणि तो आहे 'शान्त रस'। कवि म्हणतो :

- *"जो अरस का रसिक रहा है/उसे रस में से रस आये कहाँ ?" (पृ. १३९)*
- *"जिसे रूप की प्यास नहीं है,/अरूप की आस लगी हो*

□ *"यह कटु सत्य है कि/अर्थ की आँखें/परमार्थ को देख नहीं सकतीं,*
अर्थ की लिप्सा ने बड़ों-बड़ों को/निर्लज्ज बनाया है।" (पृ. १९२)

'मूकमाटी' में भावपक्ष के साथ कलापक्ष भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। शब्दालंकारों के साथ अर्थालंकारों की छटा भी बड़ी मनमोहक है। दोनों प्रकार के अलंकार प्रयत्न साध्य न होकर स्वाभाविक रूप से ही काव्य में प्रवाहित हुए हैं। रचनाकार के लिए अतिशय आकर्षण है शब्द का, जिसका प्रचलित अर्थ में उपयोग करके वह उसकी संगठना को व्याकरण की सान पर चढ़ाकर नई-नई धार देते हैं, नई-नई परतें उघाड़ते हैं। शब्द की संगठना को लेकर उसकी व्युत्पत्ति को अनेक रूप दिए गए हैं। शब्दों के प्रचलित रूप के अतिरिक्त, उनकी कई-कई नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई हैं।

नारी शब्द की व्याख्याएँ देखिए :

"इनकी आँखें हैं करुणा की कारिका/शत्रुता छू नहीं सकती इन्हें
मिलन-सारी मित्रता/मुफ्त मिलती रहती इनसे।
यही कारण है कि/इनका सार्थक नाम है 'नारी'/यानी—
'न अरि' नारी···/अथवा/ये आरी नहीं हैं/सो···नारी···।" (पृ. २०२)

नारी के ही पर्यायवाची 'महिला' शब्द की व्याख्या देखिए :

"जो/मह यानी मंगलमय माहौल,/महोत्सव जीवन में लाती है
'महिला' कहलाती वह।/जो निराधार हुआ, निरालम्ब,/आधार का भूखा
जीवन के प्रति उदासीन - हतोत्साही हुआ/उस पुरुष में···
मही यानी धरती/धृति-धारिणी जननी के प्रति/अपूर्व आस्था जगाती है।
और पुरुष को रास्ता बताती है/सही-सही गन्तव्य का—
महिला कहलाती वह !" (पृ. २०२)

इसी प्रकार अबला, कुमारी, स्त्री, सुता, दुहिता आदि शब्दों की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

यह रचना काव्य होते हुए भी कथा-कहानी-सी रोचकता लिए हुए है। इसमें निर्जीव माने जाने वाले पात्रों के सजीव एवं चुटीले वार्तालापों में सजीवता है।

इस प्रकार 'मूकमाटी' आधुनिक हिन्दी काव्य जगत् की एक अनूठी कृति है। आधुनिक जैन हिन्दी काव्य साहित्य में तो इसके समकक्ष की शायद ही कोई रचना होगी। काव्य की दृष्टि से यह रचना हिन्दी काव्य के महारथियों- जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि की रचनाओं के समकक्ष है। साहित्य जगत् के बन्धुओं से यह अपेक्षा है कि हम स्वयं इसका अनुशीलन कर अपने जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाएँ तथा इसका प्रचार व प्रसार कर भारतीय काव्य साहित्य में इसको उचित स्थान दिलाएँ।

□

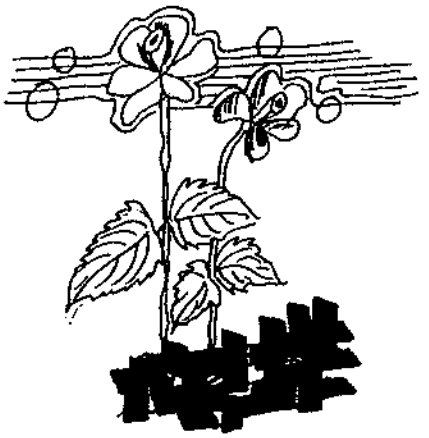

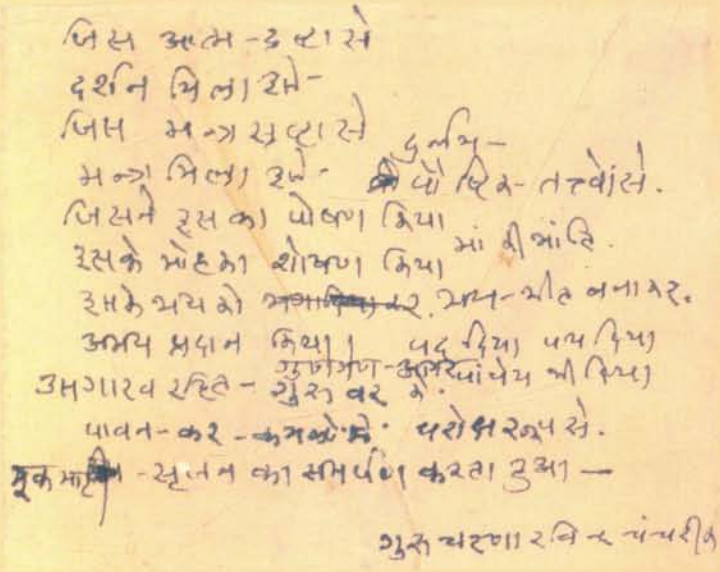

जिस आत्म-द्रष्टा से
दर्शन मिला इसे-
जिस मन्त्र सृष्टा से
मन्त्र मिला इसे- चौबीस-तत्त्वों से.
जिसने इस का पोषण किया
इसके मोह का शोषण किया
इसके भय को [illegible] कर. आत्म-शील बना कर.
अभय प्रदान किया। पद दिया पथ दिया
उपगारव रहित- गुरुजनों-आचार्यों से भी दिया
पावन-कर-कमलों से. परोक्ष रूप से.
मूकमाटी -सृजन का समर्पण करता हुआ —

गुरु चरणों में नत चंचरीक

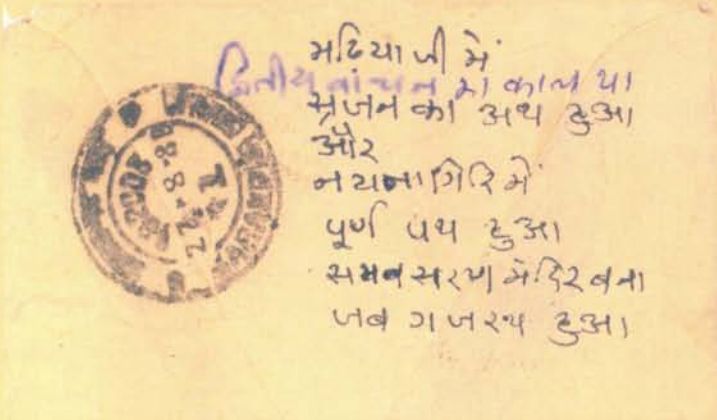

मढ़िया जी में
द्वितीय चातुर्मास काल था
सृजन का अथ हुआ
और
नयनागिरि में
पूर्ण पथ हुआ
समवसरण मंदिर बना
जब गजरथ हुआ।

'मूकमाटी' रचयिता की हस्तलिपि

सौजन्य से : श्री अभिनन्दन सांधेलीय, पाटन (जबलपुर)

परिशिष्ट : प्रथम

आचार्य श्री विद्यासागर : व्यक्तित्व, जीवन-दर्शन और रचना-संसार

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

खण्ड एक : व्यक्तित्व का विकास और उसका परिचय

व्यक्तित्व व्यक्ति का सर्वस्व है, जिस पर आत्मवादी चिन्तन के आलोक में तो विचार किया ही जाता है– विज्ञान के शाखा विशेष मनोविज्ञान के आलोक में भी विचार किया गया है। विज्ञान व्यावहारिक सत्ता पर ही विचार करता है, कारण वह अपने परिनिष्ठित ज्ञान का ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से सत्यापन करता है। पारमार्थिक सत्ता या सत्ता के पारमार्थिक पक्ष का परीक्षण या जानकारी उसकी प्रक्रिया में है ही नहीं। मनोविज्ञान व्यक्ति के व्यक्तित्व को परिवेश और अनुवंश के गुणन का प्रतिफल मानता है, आत्मवादी उसकी सम्भावनाओं को अपरिमेय बताता है - वे ईश्वरत्व पर्यवसायिनी हैं। इसीलिए माना गया है : ''नरत्वं दुर्लभं लोके''। मनोविज्ञान मानता है कि ''व्यक्तित्व व्यक्ति के व्यवहार की वह व्यापक विशेषता है जो उसके विचारों और उनको प्रगट करने के ढंग, उसकी अभिवृत्ति और रुचि, कार्य करने के उसके ढंग और जीवन के प्रति उसके व्यक्तिगत दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रकट होती है'' (राबर्ट एस. वुडवर्थ)। व्यक्तित्व शारीरिक मनोविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान का संगमस्थल है। इनका मिलन कभी-कभी वैचारिक द्वन्द्व खड़ा कर देता है। एक पक्ष कहता है कि व्यक्तित्व के निर्माण में केवल जैविक तत्त्व काम करते हैं, जबकि दूसरा सामाजिक तत्त्वों की बलपूर्वक दुहाई देता है। सामाजिक तत्त्वों के मूल में वंशानुक्रम और परिवेश का प्रभाव सम्मिलित है और शारीरिक कारण वंशानुक्रम और परिवेश–दोनों का परिणाम हो सकता है। अभिप्राय यह कि किसी के व्यक्तित्व पर विचार करते समय वंशानुक्रम और परिवेश का ध्यान रखना आवश्यक है। दोनों की परस्पर अन्त:क्रिया भी इस सन्दर्भ में उल्लेख्य हैं। वंशानुक्रम से जो संस्कार मिलते हैं, परिवेश में उनका विकास होता है।

आत्मवादी जैन मानते हैं कि जीव चिन्मय है। ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है। वह निसर्गत: अनन्तज्ञान विशिष्ट है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य जैसे अनन्त चतुष्टय स्वभावत: विद्यमान हैं, पर कषायजन्य पौद्गलिक कर्मों से आवृत हैं। तप और ध्यान से कर्मों का संवर और निर्जरा हो जाती है। इस प्रकार मनोविज्ञान केवल व्यावहारिक व्यक्तित्व का और आत्मवाद पारमार्थिक स्वरूप का विचार करता है।

मनोविज्ञान मानव व्यक्तित्व को अनुवंश और परिवेश का गुणनफल मानकर सीमा बनाता है, आत्मवाद इन सबको आत्मसात् कर और ऊपर जाता है और उसे अपरिमेय निरूपित करता हुआ जोड़-गुणा की सीमा से एकदम परे उठा ले जाता है। आचार्य श्री विद्यासागरजी के व्यक्तित्व या उनके स्वभाव के उभयविध रूपों पर हम विचार करेंगे।

आचार्य श्री विद्यासागरजी का आनुवांशिक परिचय

लोक में मानव-जन्म की उपलब्धि दुर्लभ है क्योंकि मानवेतर योनियों में उन अपरिमेय ऊर्ध्वगामिनी सम्भावनाओं का द्वार अनावृत नहीं होता जो इस योनि में होता है। पर यह सम्भावना उपलब्धि तभी बनती है जब विद्या धार्यमाण होती है। पता नहीं किन अज्ञात कारणों से माता-पिता ने वन्द्यपाद शिशु का नामकरण 'विद्याधर' किया, पर नाम तप, ध्यान और शास्त्रनिष्ठापूर्वक अर्जित विद्या से अन्वर्थ बन गया। विद्वान् हो मानव और उसमें सर्जनात्मक कवित्व का उदय हो तो सोने में सुगन्ध की स्थिति आ जाती है, पर कविता भी कविता तब होती है जब प्रतिभानुरूप शक्ति विद्यमान हो। आचार्यश्री में ये सारे पक्ष अपनी गरिमा में उच्चतम शिखर तक पहुँचे हुए हैं। ठीक ही कहा है :

"नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं लोके शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥"

ऐसे भविष्णु आचार्य का धराधाम पर अवतरण कर्नाटक प्रान्त के बेलगाम जिला के अन्तर्गत सदलगा ग्राम के निकटवर्ती नगर 'चिक्कोड़ी' में विक्रम संवत् २००३ की शरद पूर्णिमा, १० अक्टूबर, १९४६, बृहस्पतिवार को लगभग अर्धरात्रि को हुआ था। दिशाएँ अनेक हैं, पर वास्तविक और महनीय दिशा तो वही प्राची है जिसके गर्भ से सूर्योदय होता है। श्रीमती श्रीमतीजी अष्टगे ऐसी ही प्राची दिशा थीं जिसके गर्भ में विद्याधर प्रभाकर आया। श्रीमती श्रीमतीजी सदलगा निवासी सुश्रावक श्री मल्लप्पा पारसप्पाजी अष्टगे की धर्मपत्नी थीं। श्री मल्लप्पाजी का उदय भी किसी और काशीबाई नामक प्राची से सम्भव हुआ था—जो पुण्यश्लोक श्री पारसप्पा मल्लप्पाजी अष्टगे की धर्मपत्नी थीं। इस प्रभाकर विद्याधर में एक ओर उस दहकने की सम्भावना भी थी, जो अमांगलिक तत्त्वों को ध्वस्त कर डालती है और दूसरी ओर वह शीतल प्रकाश भी है जो अभ्युदय और नि:श्रेयस्कारी है। ये ऐसी विशेषताएँ हैं जो लोकप्रसिद्ध प्रभाकर से इस प्रभाकर का व्यतिरेक बनाती हैं।

"उदयति दिशि यस्यां भानुरेषैव प्राची।"

निश्चय ही यह वंश आध्यात्मिक संस्कारों से मण्डित रहा है। फलत: वे संस्कार और प्रगुणित होकर विद्याधरश्री की चेतना में संक्रान्त हो गए थे। इनके माता-पिता थे तो अपने गाँव में साहूकार के रूप में परिगणित, पर उनमें वणिग्वृत्ति उदग्र नहीं थी। कृषि जीविका थी। लेन-देन चलता था, पर वे समाज में एक ऐसे न्यासी (ट्रस्टी) के रूप में भी जाने जाते थे जो निर्व्याज ज्ञात पात्रों की सहायता करते थे। प्रतिदिन देवदर्शन, शास्त्र स्वाध्याय, समाज सभाओं में धर्म-चर्चा उनकी दिनचर्या थी। यह उनकी विद्या-विनय-सम्पन्नता ही थी कि लोग उन्हें मल्लिनाथ भगवान् के नाम से मल्लिनाथ ही पुकारने लगे थे। माता-पिता यदा-कदा मुनि दर्शन और तीर्थाटन के लिए भी बाहर जाया करते थे। यह परिवार अपने आचरण में नैतिकता, व्रतनिष्ठा का पूरी चेतना से पालन करता था। भोजन में शाकाहार और शुद्धि की बात तो सामान्य थी। माता में यह भावना कि संसार विनश्वर है, शरीर तो अपनी शीर्यमाणता के लिए प्रसिद्ध है ही, अत: उसकी चिन्ता तपस्या के सम्बन्ध में आड़े नहीं आना चाहिए, जम गई थी। फलत: वे अस्वस्थता को नज़रंदाज़ करती हुई व्रत-उपवास तो निरन्तर रखती थीं। किसी रचनाकार ने कहा है :

"सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥"

यह सही है कि संसार में दाम्पत्य सुख अभिलषणीय है, पुरुष के लिए रमणी और रमणी के लिए पुरुष विलोकनीय है। संसार में बहुत कुछ ऐसा है जो चेतना को अपनी ओर खींचता है, पर कुछ लोग इन सबके बीच भी ऐसे हैं जो जानते हैं कि जिस जीवन के लिए यह सब कुछ है उसकी सत्ता का क्या ठिकाना ? एक दूब की नोक पर पड़ी ओस की बूँद की-सी स्थिति उसकी है, जो एक हलकी हवा की झोंक से कभी भी गिरकर विनष्ट हो सकती है। इसलिए निरन्तर ऐसी स्थिति की ओर लक्ष्य रखती थीं जो निरतिशय और अविनश्वर हो। इस लक्ष्य की दिव्यचेतना संसार के क्षणिक आकर्षणों में कैसे फँस सकती थी ? माता-पिता दोनों ही धर्मपरायण, अल्पपरिग्रही, परार्थसेवाभावी तथा परमार्थी स्वभाव के व्यक्ति थे। घर के प्रमुख की इस सद्वृत्ति की सुगन्ध पूरे पारिवारिक परिवेश में व्याप्त थी। सुना जाता है कि ये दोनों प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी अपने ग्राम से अठारह किलोमीटर दूर एक ऐसे समाधिस्थल पर जाया करते थे जो अक्किवाट के नाम से प्रसिद्ध था और जिसमें भट्टारक मुनि श्री विद्यासागरजी की स्मृति संचित थी। ऐसे ही पारिवारिक परिवेश में इस महापुरुष का अवतरण हुआ। नाम भी कदाचित् इस शिशु का इन्हीं मुनिश्री के नाम पर विद्याधर रखा गया।

इस दम्पती से दस सन्तानें पैदा हुईं—जिनमें से चार तो अकाल में ही काल कवलित हो गईं। शेष छः में चार पुत्र और दो पुत्रियाँ रह गए। सबसे बड़े पुत्र श्री महावीर प्रसाद हैं। इनका जन्म १९४३ में हुआ था। सदलगा के निकट शमनेवाड़ी ग्राम में पारिवारिक विरासत की रक्षा करते हुए सपरिवार ससम्मान अपना कुलोचित जीवनयापन कर रहे हैं। विद्याधर इन्हीं के अनुजन्मा हैं। इनकी दो अनुजाएँ हैं—शान्ता और स्वर्णा। इन अनुजाओं के अनन्तर दो भाई और आए—अनन्तनाथ और शान्तिनाथ। बड़े भाई महावीर को छोड़कर माता-पिता और अनुज-अनुजाएँ विधिवत् जैन-साधना की परमार्थ धारा में उतरते गए।

क — पारिवारिक परिवेश

पारिवारिक, सारस्वत तथा जैन धार्मिक परिवेश अनुवंशतः प्राप्त संस्कार परिवेश की अनुकूलता से विकसित होते हैं—विज्ञानान्तर्गत मनोविज्ञान की शाखा यह मानती है। वैसे, जैसा कि आत्मवाद मानता है ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सारी सम्भावनाएँ मानव निसर्गतः लेकर आता है, पर परिवेश उसके विकास में सहायक होता है। यह मानने में किसी को कोई कठिनाई नहीं है।

महापुरुषों के गर्भस्थ होने पर माता-पिता को मंगलसूचक स्वप्नावस्था में कुछ घटनाएँ घटित होती हैं। इनके साथ भी कुछ ऐसा ही घटित हुआ। गर्भस्थ शिशु की माता और पिता के साथ भी यह घटित हुआ। माता के स्वप्न में चक्र का आकर रुकना और दो ऋद्धिधारी मुनियों को आहार देना भावी शुभ घटना के सूचक थे। उसी रात पिता को भी स्वप्न आया कि वे एक खेत में खड़े हैं—जहाँ दहाड़ता हुआ एक सिंह आया और उन्हें निगल गया।

माता-पिता चूँकि तीर्थाटन के निमित्त प्रायः आते-जाते थे। एक बार शिशु विद्याधर (जिसे प्यार से पीलू, गिनी, मरी, तोता भी कहा जाता था) जो केवल डेढ़ वर्ष का था, साथ गया था। माता-पिता ने इनसे भी श्रवणबेलगोला (हासन, कर्नाटक) में विराजमान विश्वविश्रुत गोम्मटेश्वर भगवान् बाहुबली की पूजा-अर्चा कराई। भक्तिभाव से तो वे यों ही आपूरित थे, वहाँ एक घटित घटना से उसमें और वृद्धि हो गई। हुआ यह कि पूजा काल में अनवधानतावश पीलू सीढ़ियों से लुढ़कता हुआ नीचे चला गया, पर ग्यारहवीं सीढ़ी पर सकुशल पड़ा रहा। माता-पिता सकुशल स्थिति में पाकर सन्तुष्ट हो गए। वे वहाँ से कारकल, मूडबिद्री, हैलिविड और मैसूर आदि स्थानों पर देव-दर्शन और मुनि-दर्शन करते हुए घर वापिस लौटे। निश्चय ही इस यात्रा से शिशु का स्वच्छ मानस संस्कारित और रंजित हुआ। बालक की चेतना भी आदर्श दिनचर्या देखकर प्रभावित हुई। बालक में बचपन से ही तितिक्षा और वेदना के सह सकने की क्षमता विभिन्न सन्दर्भों में बढ़ने लगी। कभी बिच्छू का डंक बर्दाश्त करना पड़ा तो कभी अन्यविध प्रतिकूल स्थितियों का दबाव।

ख — सारस्वत परिवेश

पाँच वर्ष की अवस्था होने पर पारिवारिक परिवेश के अतिरिक्त सारस्वत संस्थानों का परिवेश मिला। वहाँ पूर्व संस्कारवश ज्ञानसङ्क्रान्ति तेजी से होती गई। सहपाठियों से सौहार्द और सौमनस्य तथा गुरुजनों के प्रति श्रद्धा बराबर एकरस बनी रही। इसी क्रम में सारस्वत संस्थानों से हटकर आचार्यों के उपदेश और उनका सान्निध्य मिलता रहा। शेडवाल में आचार्य श्री शान्तिसागरजी के प्रवचन-श्रवण ने विद्याधर को और धर्मोन्मुख कर दिया। उन्हें भक्तामरस्तोत्र, मोक्षशास्त्र—सभी कण्ठस्थ थे। मुनि श्री महाबलजी महाराज का भी आदेश और आशीर्वचन मिला। एक तीसरे आचार्य-प्रवर श्री देशभूषणजी थे जो सदलगा ग्राम में पधारकर उन दिनों शास्त्र प्रवचन रूप धर्मोपदेश देते थे। विद्याधर इस समय कन्नड़ भाषा के माध्यम से सातवीं कक्षा के छात्र थे। उसी समय मूँजीबन्धन संस्कार का आयोजन हुआ। बारह वर्ष की

अवस्था तथा तदर्थ माता-पिता की अनुमति न मिलने पर भी बालक विद्याधर इस संस्कार के लिए सन्नद्ध होकर प्रथम पंक्ति में बैठ गया और प्रथम मूँजीबन्धन उसी का सम्पन्न हुआ। विद्याधर की रुचि और प्रतिभा विविधायामी थी– खेलकूद, शतरंज, चित्रनिर्माण आदि में भी अवस्थानुरूप अच्छी गति थी। हिंसा और आतंकवाद का कट्टर विरोधी बालक गाँधी और नेहरू से भी प्रभावित था। इन सबके साथ उनकी धार्मिक और आध्यात्मिक वृत्ति उत्कर्ष की ओर इस प्रकार बढ़ रही थी कि माता-पिता को यह चिन्ता सताने लगी थी कि लड़का कहीं हाथ से निकल न जाय। सोलह वर्ष की अवस्था में तो मन्दिर जाने के साथ शास्त्र स्वाध्याय और प्रवचन का क्रम भी गति पकड़ने लगा। सभा में प्रश्नोत्तर भी होते और निर्विकल्प ज्ञान प्राप्ति के लिए शंका समाधान भी होते। साता वेदनीय के आस्रव के हेतुओं में 'भूतव्रत्यनुकम्पा' भी एक है–जिसका उद्रेक उनके आचरण में स्पष्ट लक्षित होता था। प्रसिद्ध है कि नौकर द्वारा बैल को पिटते देख स्वयम् को उसके स्थान पर आपने अपने को लगा लिया।

ग – जैन प्रस्थान का धार्मिक परिवेश

जहाँ कहीं भी वे मुनियों का आगमन सुनते, वहाँ पहुँच जाते थे। एक बार सुना कि बोरगाँव में मुनि श्री नेमिसागरजी ने समाधिमरण का व्रत ले रखा है, सो वहाँ पहुँच गए और उनकी सेवा-शुश्रूषा में रम गए। इस प्रकार पारिवारिक, सारस्वत संस्थानों के परिवेश तथा अनेक मुनि महाराजों के प्रति गहरा लगाव उनमें वैराग्यभाव को तीव्र कर रहा था। अब उनकी चेतना में किसी ऐसे संघ की खोज की अभीप्सा जगी, जो सर्वथा दुर्निवार थी। इस अभीप्सा से माता-पिता की अनुमति के बिना ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के अडिग संकल्पवश वे जयपुरस्थ आचार्य श्री देशभूषणजी के पास बीस वर्ष की अवस्था में ही पहुँच गए। उनकी वैराग्यवृत्ति को हवा मिली श्री गोपालदास बरैया द्वारा प्रणीत 'जैन सिद्धान्त प्रवेशिका' के कण्ठस्थीकरण से। श्री विद्याधर में गुरुभक्ति भी अद्भुत थी। मुनिवरों की सेवा प्रत्येक स्थिति में बड़े मनोयोग से करते थे। इन सब सोपानों पर चढ़ते-चढ़ते अन्ततः उन्हें ब्रह्मचर्य व्रत मिल ही गया। परिवार से निकल जाने का क्लेश परिवार जन को था ही, पर वह इनके अडिग संकल्प के आड़े नहीं आ सका। इक्कीसवें वर्ष में विद्याधर अब प्रविष्ट हो चुके थे। आचार्यप्रवर श्री देशभूषणजी के संघ में शरीक होकर चूलगिरि, जयपुर, राजस्थान से उनके साथ श्रवणबेलगोला, हासन, कर्नाटक पहुँचकर भगवान् गोमटेश्वर के महामस्तकाभिषेक के पवित्र परिवेश में वे भीतर से भींग गए। उपसर्ग और परीषहों पर वो निरन्तर विजय लाभ करते ही गए। स्तवनिधि क्षेत्र से श्री विद्याधर बम्बई होते हुए अजमेर, राजस्थान पहुँचे। श्री कजौड़ीमल के घर आए और उनके आग्रह पर आहार ग्रहण किया। फिर उन्होंने समीपस्थ मदनगंज-किशनगढ़ में विराजमान मुनिवर्य श्री ज्ञानसागरजी के चरणों में उपस्थित होने का अपना संकल्प सुनाया। कजौड़ीमलजी उन्हें वहाँ ले गए और विद्याधरजी उनका दर्शन कर धन्य-धन्य हो गए। गुरुवर ने परीक्षा लेने के निमित्त पूछा कि वह यहाँ-वहाँ घूमते रहने की प्रवृत्तिवश पुनः वहाँ से लौट तो नहीं जायगा ? इस पर श्री विद्याधरजी ने सवारी के उपयोग करने का त्यागकर 'ईर्या चर्या' ग्रहण करने की बात की। गुरुदेव विस्मयान्वित हो उठे। अब वे शास्त्राभ्यास और गुरुसेवा में डूबते गए। मूलतः कन्नड़ भाषाभाषी एवं नवमी कक्षा तक विद्याध्ययन करने वाले विद्याधर के संस्कृत और हिन्दी भाषा के ज्ञान की कमी को दूर किया पं. महेन्द्रकुमारजी ने। ब्रह्मचारी विद्याधर अभी २२ वर्ष का भी नहीं हुआ था–पर उसकी अगाध गुरुनिष्ठा, शास्त्राभ्यास और दृढ़व्रत का भाव देखकर गुरुदेव इतने प्रभावित हुए कि अजमेर, राजस्थान में विद्याधर को सीधे (क्षुल्लक, ऐलक दीक्षा की सीढ़ियों को पारकर) मुनि दीक्षा दे दी। केशलुंच हो चुका था। दीक्षा संस्कारों के उपरान्त आषाढ़ शुक्ल पंचमी, वि. सं. २०२५, ३० जून, १९६८ को वे विद्याधर से मुनि विद्यासागर हो गए।

घ – वासन्तिक परिणति

दीक्षा के अनन्तर शास्त्रज्ञान की तीव्र पिपासा ने मनीषियों के सौजन्य से तृप्ति पाई। सन् १९६९ में श्री ज्ञानसागरजी ने आचार्यपद ग्रहण किया। फिर आचार्य ज्ञानसागरजी ने नसीराबाद, अजमेर, राजस्थान में मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया, वि. सं. २०२९, २२ नवम्बर, १९७२ को गुरुदक्षिणा के रूप में विवश कर मुनि विद्यासागरजी को आचार्यपद पर अभिषिक्त कर अपनी सल्लेखना उन्हीं की देखरेख में प्रारम्भ की और १ जून, १९७३ को समाधिस्थ हो गए। इनकी तपश्चर्या से परिवार इतना प्रभावित हुआ कि दोनों भाइयों और बहिनों ने भी गृहत्याग कर जैन प्रस्थान में दीक्षा ग्रहण की। बाद में तो माता-पिता भी मोक्षमार्ग में शरणागत हो गए। "योऽनूचान: स नो महान्"– होता है। कहा गया है–"न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिर:" – ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध सर्वोच्च होता है। आचार्य श्री विद्यासागर इस शिखर पर आरूढ़ हो चुके थे।

आचार्यपद पर विभूषित होकर संघ संचालन का दायित्व अवधानपूर्वक सँभाल रहे थे। चातुर्मास आदि की कालावधि में उनके द्वारा रचना प्रणयन का जो शुभारम्भ हुआ, अनेक स्तोत्र तथा काव्यों के निर्माण की परम्परा चली उसकी वासन्तिक परिणति 'मूकमाटी' में हुई। साथ-साथ संघ में दीक्षादान का क्रम भी निरन्तर चलता रहा। इसी के साथ ही महिला वर्ग में ज्ञान और चारित्र के उन्नयन हेतु सागर तथा जबलपुर, मध्यप्रदेश में दो आश्रमों की भी स्थापना की। वे 'ब्राह्मी विद्याश्रम' के नाम से जाने जाते हैं। '८४ जबलपुर में आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान की स्थापना हुई। इनके निर्देशन में अनेक मन्दिर और महनीय आश्रम भी बनते जा रहे हैं। सागर, मध्यप्रदेश में जनसेवा के निमित्त 'भाग्योदय तीर्थ' सज्ञक चिकित्सालय तो जबलपुर में 'भारतवर्षीय दिगम्बर जैन प्रशासकीय प्रशिक्षण संस्थान' और देश भर में गौ सेवा के निमित्त शताधिक गौशालाएँ भी स्थापित हुई हैं। अभी तक आपसे ८९ मुनि, १७२ आर्यिका, २० ऐलक, १४ क्षुल्लक एवं ३ क्षुल्लिकाएँ दीक्षा पाकर मोक्षमार्ग पर अग्रसर हुए हैं तथा सैकड़ों बाल ब्रह्मचारी युवक-युवतियाँ भी साधनारत हैं।

इस प्रकार अनुवंश, परिवेश तथा महामनीषियों के सान्निध्य से इनका विकसित और विलोकनीय व्यक्तित्व अपने आचरणों में निरन्तर प्रतिफलित होता आ रहा है।

खण्ड दो : जीवन दर्शन

'दर्शन' शब्द का जैन प्रस्थान में अर्थ है – श्रद्धान। 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' में कहा गया है :

"श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम्" ॥ ४ ॥

परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु का त्रिविध मूढ़ताओं से रहित, आठ अंगों से सहित तथा आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना ही 'सम्यक् दर्शन' कहा जाता है। श्रमण प्रस्थान के अतिरिक्त ब्राह्मण प्रस्थान में 'दर्शन' का मुख्य अर्थ ज्ञान है। जैन प्रस्थान में ज्ञान 'दर्शन' से भिन्न है। 'दर्शन' साक्षात्कार है। साक्षात्कारात्मक ज्ञान है – जो दो प्रकार (ब्राह्मण दर्शन) का है–परम्परया साक्षात्कारात्मक तथा साक्षात् साक्षात्कारात्मक। पहला इन्द्रिय तथा मन सापेक्ष होता है और दूसरा दोनों से निरपेक्ष स्वयम् (आत्म) से स्वयम् का साक्षात्कार होता है। इसे साक्षात् अपरोक्षानुभूति कहते हैं। जैन प्रस्थान में प्रत्यक्ष ज्ञान इसी दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-मन:-निरपेक्ष आत्मबल से होने वाला ज्ञान है। वहाँ परोक्ष और प्रत्यक्ष जैसे ज्ञान के दो भेद हैं। इनमें परोक्षभूत मति-श्रुतज्ञान से भिन्न तथा इन्द्रिय व मन की सहायता बिना आत्मबल से होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी अवधि, मन:पर्यय तथा केवलज्ञान रूप त्रिविध है। साक्षात् अपरोक्षानुभूति या

केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष का पारमार्थिक रूप है। जीवन दर्शन के सन्दर्भ में इसी साक्षात् अपरोक्षानुभूति या केवलज्ञान को लेना अवसरोचित लगता है। इस दर्शन को दृष्टि का पर्याय माना जाता है। यह दर्शन या दृष्टि त्रिविध है। दृष्टि या दर्शन विश्वदृष्टि, जीवनदृष्टि, काव्यदृष्टि और आलोचनदृष्टि के भेद से विविध प्रकार की है। हमें यहाँ जीवनदृष्टि या दर्शन पर विचार करना है। विश्वदृष्टि से अभिप्राय विश्व के मूलभूत उपादान से है जबकि 'जीवनदर्शन' त्रिकोण है--शीर्ष पर गन्तव्य है, तदर्थ निर्धारित मार्ग द्वितीय आधार बिन्दु है और तृतीय बिन्दु है – मार्ग के प्रति आस्था के दृढ़ीकरण के लिए मनन या चिन्तन। इस मनन में अपने मार्ग के प्रति आस्था को विकम्पित करने वाले जो विकार हों, उनका खण्डन करे। यहाँ खण्डन अपने मार्ग के प्रति आस्था के दृढ़ीकरण के लिए है, न कि परकीय मत के खण्डन के लिए। मंज़िलबद्ध साधक सभी मार्गों के प्रति सहिष्णु होता है पर आस्था अपने प्रस्थान के मार्ग के प्रति रखना है। अनेकान्तवाद इसी का परिणाम है।

आचार्यश्री के जीवन-दर्शन का जहाँ तक सम्बन्ध है, उनकी रचनाओं से उसे प्राप्त किया जा सकता है। रचना यानी काव्य में साधना-लब्ध संवेदना मुखर रहती है। उसकी पुष्टि में, तह में सिद्धान्त और मान्यताएँ संलग्न रहती हैं। किसी सन्त का जीवन-दर्शन उसकी साधना-प्रसूत संवेदना की अभिव्यक्ति से निर्झरित होता है। अतः उनकी रचनाओं के माध्यम से उनका जीवन-दर्शन पाया जा सकता है। आचार्यश्री 'दर्शन' का अर्थ केवल 'मनन' तक ही सीमित रखते हैं। वे कहते हैं :

> *''दर्शन का स्रोत मस्तक है,/स्वस्तिक से अंकित हृदय से*
> *अध्यात्म का झरना झरता है।/दर्शन के बिना अध्यात्म-जीवन*
> *चल सकता है, चलता ही है/...अध्यात्म स्वाधीन नयन है*
> *दर्शन पराधीन उपनयन/दर्शन में दर्श नहीं शुद्धतत्त्व का...*
> *अध्यात्म सदा सत्य चिद्रूप ही/भास्वत होता है।''* (*'मूकमाटी', पृ. २८८*)

इस प्रकार वे मानते हैं कि दर्शन मस्तिष्क की उपज है जबकि अध्यात्म का स्रोत हृदय है। जो भी हो, जीवन-दर्शन में गन्तव्य, मार्ग और आस्था के दृढ़ीकरण में उपयोगी मनन–तीनों का समावेश है। आखिर मस्तिष्क प्रसूत चिन्तन साधन ही है–साध्य या गन्तव्य तो है नहीं। उपर्युक्त तीनों बिन्दु परस्पर संलग्न और सम्बद्ध हैं। उनका विचार है– *''दर्शन का आयुध शब्द है – विचार, अध्यात्म निरायुध होता है/सर्वथा स्तब्ध - निर्विचार!/एक ज्ञान है, ज्ञेय भी/एक ध्यान है, ध्येय भी''* (*'मूकमाटी', पृ. २८९*)। उनकी दृष्टि में :

> *'' 'स्व' को स्व के रूप में/'पर' को पर के रूप में/जानना ही सही ज्ञान है,*
> *और/'स्व' में रमण करना/सही ज्ञान का 'फल'।''* (*'मूकमाटी', पृ. ३७५*)

आचार्यश्री की दृष्टि में यही गन्तव्य है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में आचार्यश्री उमास्वामी का कहना है : ''कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।'' सम्पूर्ण कर्म का क्षय होते ही जीव अपने नैसर्गिक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है और उसमें इन अनन्त चतुष्टयों की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है – अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य। आचार्यश्री ने अपने ढंग से गन्तव्य का स्वरूप उक्त पंक्तियों में स्पष्ट कर दिया है। उसे यानी मोक्षरूप मंज़िल को और स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है :

> *''बन्धन-रूप तन,/मन और वचन का/आमूल मिट जाना ही*

मोक्ष है।/इसी की शुद्ध-दशा में/अविनश्वर सुख होता है/जिसे
प्राप्त होने के बाद,/यहाँ/संसार में आना कैसे सम्भव है
तुम ही बताओ।'' ('मूकमाटी', पृ. ४८६-४८७)

दुग्ध से निकलने पर नवनीत पुनः दूध में नहीं जाता। तथा यह अनुभूति :

''विश्वास को अनुभूति मिलेगी/अवश्य मिलेगी
मगर/मार्ग में नहीं,/मंजिल पर!'' ('मूकमाटी', पृ. ४८८)

आचार्यश्री भी मार्ग-मंज़िल की बात स्पष्ट तौर पर कर रहे हैं। ऊपर जीवन-दर्शन के फ्रेम यानी ढाँचे में इनकी चर्चा आई है। इस प्रकार जीवन-दर्शन के बिन्दु तो स्पष्ट हैं। मंज़िल अर्थात् गन्तव्य का स्वरूप स्पष्ट है। सम्प्रति मार्ग की बात प्रक्रान्त है।

आचार्यश्री की रचनाओं में जैन प्रस्थान की मान्यताएँ और सिद्धान्तों की रोचक प्रस्तुति हुई है। 'मूकमाटी' के 'मानस तरंग' में लेखक ने स्पष्ट कहा है : ''ऐसे ही कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों के उद्घाटन हेतु इस कृति का सृजन हुआ है।'' प्रायः समस्त कृति में साधक घट को प्रतीक बनाकर जैन प्रस्थान का तपःसाध्य मार्ग ही निरूपित हुआ है। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' का ज्वलन्त निदर्शन है तपोरत घट का प्रतीक। आचार्य श्री उमास्वामी ने कहा है : ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।'' मोक्ष, जो गन्तव्य या मंज़िल है, तक ले जानेवाला मार्ग इन्हीं रत्नत्रय का एकान्वित रूप है। सम्यग्दर्शन साधक जीव का श्रद्धान है, उसके कारण ही ज्ञान में समीचीनता का आधान होता है और तभी आत्मस्वभाव और विभाव, स्व-पर का भेद समझ कर, जैसा कि आचार्यश्री ने कहा है, आत्मा अपने गुणों में रमण करती है। सम्यक् चारित्र यही है। सारा काव्य बताता है कि साधक किस तरह आत्मगत सांकर्य नष्ट करता है, पाप-प्रक्षालन करता है, उपसर्ग और परीषहों का मरणान्तक सामना करता है, आग जैसी परिस्थितियों में तपकर परिपक्व होता है, सत्पात्रता अर्जित करता है, श्रद्धाजल से आपूरित होकर श्री सद्गुरु के नेतृत्व में आत्मसमर्पण करता है—स्वयं और अपने अवलम्ब को विपत्ति सागर से पार उतारता है और स्वयं सन्तरण कर जाता है। मंज़िल तक पहुँचने में चौदह गुणस्थानों के सोपान पार करने पड़ते हैं। ग्रन्थ में उनमें से भी कुछ का उपलक्षण रूप में संकेत विद्यमान है। अन्ततः श्री सद्गुरु स्थानीय शिल्पी कुम्भकार भी उस अरिहन्त की ओर संकेत करता है जो उपदेश के अमृत की धारासार वृष्टि कर रहा है।

जीवन-दर्शन का तीसरा बिन्दु है—मनन। इसके द्वारा स्वकीय मार्ग के प्रति आस्था के दृढ़ीकरण के लिए चिन्तन किया जाता है और परकीय विरोधी पक्षों का निरसन किया जाता है। उदाहरण के लिए 'मूकमाटी' में कार्य मात्र के प्रति केवल उपादान और निमित्त कारणों की चर्चा की गई है। जैन प्रस्थान मानता है कि सृष्टि अनादि है—उसके कर्त्तारूप में ईश्वर की कल्पना निरर्थक है। मानव मात्र में स्वयम् ईश्वरत्व पर्यवसायिनी सम्भावना है, प्रत्येक आत्मा में परमात्मा होने की सम्भावना है, परमात्मा जैसी अलग से कोई विशिष्ट सत्ता नहीं है। आचार्यश्री ने स्वाति के जल से मुक्ता के बनने में किसी कर्त्ता का अस्तित्व नहीं देखा है। जल स्वयम् उपादान है और विशिष्ट कक्ष में उसका आ जाना निमित्त है। कार्य और कर्त्ता का अविनाभाव सम्बन्ध होता, जो यहाँ भी लक्षित होता है।

आचार्यश्री ने प्रसंगात् अनेक मान्यताओं की बात की है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का उत्तम निरूपण भी 'मूकमाटी' (पृ. ४०१-४०४) ग्रन्थ में हुआ है। 'नियति' और 'पुरुषार्थ' के द्वन्द्व पर भी उनकी अपनी मान्यता इसी ग्रन्थ में (पृ. ३४९) व्यक्त हुई है। उनकी दृष्टि में 'अपने में लीन होना ही नियति है' तथा 'आत्मा को छोड़कर सब पदार्थों को विस्मृत करना ही पुरुषार्थ है'। जीव का स्वरूप इस प्रस्थान में न तो अणुरूप है और न ही विभु,

वह स्वदेह परिमाण है। ऐसी तमाम अपने प्रस्थान की मान्यताएँ प्रसंगत: व्यक्त हुई हैं। ये मान्यताएँ मननप्रसूत हैं जो यहाँ परिपुष्ट हुई हैं।

अन्तत: निष्कर्ष रूप में आचार्यश्री के अपने जीवन-दर्शन के अंग रूप विभिन्न सोपानों का अत्यन्त रोचक पक्ष प्रस्तुत करने के लोभ का संवरण नहीं कर सकता। उनका कितना संगत अनुभव है जो अध्यात्ममार्ग में सर्वसम्मत प्रतीत है। उन्होंने कहा है :

'' 'पूत का लक्षण पालने में'/कहा था न बेटा, हमने/उस समय, जिस समय''
तुमने मेरी आज्ञा का पालन किया/जो/कुम्भकार का संसर्ग किया/सो
सृजनशील जीवन का/आदिम सर्ग हुआ।/जिसका संसर्ग किया जाता है
उसके प्रति समर्पण भाव हो,/उसके चरणों में तुमने/जो
अहं का उत्सर्ग किया/सो/सृजनशील जीवन का/द्वितीय सर्ग हुआ।
समर्पण के बाद समर्पित की/बड़ी-बड़ी परीक्षायें होती हैं
और''सुनो !/खरी-खरी समीक्षायें होती हैं,
तुमने अग्नि-परीक्षा दी/उत्साह साहस के साथ/जो/उपसर्ग सहन किया,
सो/सृजनशील जीवन का/तृतीय सर्ग हुआ।
परीक्षा के बाद/परिणाम निकलता ही है/पराश्रित-अनुस्वार, यानी
बिन्दु-मात्र वर्ण-जीवन को/तुमने ऊर्ध्वगामी—ऊर्ध्वमुखी/जो
स्वाश्रित विसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का/अन्तिम सर्ग हुआ।
निसर्ग से ही/सृज्-धातु की भाँति/भिन्न-भिन्न उपसर्ग पा
तुमने स्वयं को/जो/निसर्ग किया,/सो/सृजनशील जीवन का
वर्गातीत अपवर्ग हुआ।'' ('मूकमाटी', पृ. ४८२-४८३)

धरती (महासत्ता) के द्वारा कुम्भ को सम्बोधित इन वचनों ने सबको कुम्भकार की ओर उन्मुख कर दिया और कुम्भकार ने नम्रता की मुद्रा में आकर इस सबको ऋषि-सन्तों की कृपा बताते हुए कुछ ही दूरी पर पादप के नीचे पाषाणफलक पर आसीन नीराग साधु की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया। उनकी प्रदक्षिणा हुई, पादोदक सर पर लगाया गया, फिर भी चातक की भाँति गुरुकृपा की प्रतीक्षा में सब। गुरुदेव हाथ उठकार कहते हैं : ''शाश्वत सुख का लाभ हो''। इस प्रकार मनन से पुष्टीकृत मार्ग द्वारा उपलब्ध मंज़िल (मोक्ष) का स्वरूप स्पष्ट करता हुआ सन्त सद्गुरु मौन हो जाता है। शिष्यों की ग्रन्थियाँ छिन्न-भिन्न हो जाती हैं।

इस प्रकार आचार्यश्री ने शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली की लौह शृंखला से मुक्त कर जिस सर्वमान्य पद्धति से अपना जीवन दर्शन प्रस्तुत किया है, वह हृदय को तृप्त कर देता है। इस निर्वहणात्मक प्रस्तुति में मंज़िल, मार्ग और तदर्थ मनन—सभी कुछ आ गया है।

आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज : प्रथम दर्शन और अनुभूति

महाकवि श्रीहर्ष ने कहा है :

''गुणादद्भुते वस्तुनि मौनिना चेत्।
वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यम् ॥'' नैषधीय-चरितम्

कोई वस्तु या व्यक्ति अपने गुणों से अद्भुत, अलोक सामान्य और विस्मयावह लगे और दर्शक को इसका गहराई से अहसास हो, चुप न रहा जाय—फिर भी चुप रह जाय, तो दर्शक की वाणी का जन्म विफल हो जाता है और यह विफलता कलेजे में गड़े काँटे की तरह निरन्तर कष्ट देती रहती है - वो अपने आप में असह्य है। आचार्यश्री विद्यासागरजी की विस्मयावह शारीरिक दीप्ति और मानसिक वृत्ति को प्रथम दर्शन पर देखकर ऐसा ही लगा। उनकी देह से कान्ति फूटती है—जो अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होती। उनके सान्निध्य में एक अभूतपूर्व शान्ति का अनुभव होता है— उतनी देर के लिए जैसे चेतना पर छाई हुई तमाम विकृतियाँ तिरोहित हो जाती हैं और अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

जिह्वा और उपस्थ को जन्मजन्मान्तरगर्जित वासना का अम्बार बराबर दुर्निवार धक्का देता रहता है। ऊर्जा, दुर्निवार ऊर्जा, स्वभावतः जल की तरह अधःक्षरण के लिए बेचैन रहती है। सारा संसार इस उद्वेल और वेगवान् प्रवाह में डूबता-उतराता शव की तरह बहता चला जाता है, पर यह आचार्यश्री और इनके प्रभाव में रहने वाला श्रमण संघ है, जो अपनी विस्मयावह संयमवृत्ति का परिचय देता है, जो दोनों इन्द्रियों के उत्तेजक और उद्दीपक परिवेश का उन पर वैसे ही कोई प्रभाव नहीं है, जैसे कमल-पत्र पर जल का। इस क्रम में उनका शिशुभाव दर्शनीय है। जैसे शिशु उस ओर से अनजान बना रहता है। वह सब कुछ उसके बोध ही में नहीं होता, ठीक वही दशा इनकी भी है। संसार के सांसारिक हवा-पानी का उन पर कोई दुष्प्रभाव नहीं है। त्याग की तो वहाँ पराकाष्ठा है। दिगम्बर, निर्वस्त्र महात्मा के शरीर पर न कोई स्पन्दन है, न कोई कभी विकार। दबाव से यह स्थिति नहीं आ सकती। यह स्वभाव बन जाने पर ही सम्भव है। दमन या दबाव चेतन दशा में ही काम कर सकता है स्वप्न और सुषुप्ति की अचेतन दशा में नहीं। वहाँ तो स्वभाव ही काम करेगा। आचार्यश्री की चेतना में यह स्वभाव सिद्ध है।

इतना सब तो केवल उनके दर्शन मात्र से प्रतीतिगोचर होता है। सन्निधान में रहकर बातचीत के दौरान एक ओर निर्व्याज प्रसाद, ऋजुता और सहजता से मण्डित अभिव्यक्ति का प्रवाह उमड़ता लक्षित होता है तो दूसरी ओर गहन और गम्भीर दार्शनिक चिन्तन धारा का उमड़ाव। वस्तुतः गाम्भीर्य वहीं होता है जहाँ प्रसाद होता है। जो जलाशय निर्मल होता है वहाँ गहराई होती ही है।

उनकी वाचिक और लैंगिक अभिव्यक्ति की गहराई उनके साथ शास्त्रीय चर्चा में निरन्तर झलकती रहती है। यह चर्चा चाहे दर्शन के क्षेत्र की हो या काव्य के—उभयत्र उनकी प्रातिभक्षमता का अतलस्पर्शी रूप लक्षित होता है। 'मूकमाटी' पर चर्चा के दौरान दोनों क्षेत्रों के प्रसंग डॉ. प्रभाकर माचवे और मेरे—दोनों के सामने आए हैं। डॉ. माचवे की भूमिका इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। शास्त्र तो उनके जीवन में बोलता ही रहता है।

काव्य-चर्चा के दौरान भी वे ऐसे-ऐसे पक्ष सामने रखते हैं कि नया से नया चिन्तक भी स्तब्ध रह जाता है। वे मानते हैं कि काव्यप्रातिभ अखण्ड व्यापार है, अतः न तो काव्य को पारम्परिक साँचों में ही बाँधा जा सकता है और न ही रचना को शीर्षकों में। महाकवि की पहचान ही यही है :

"सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी च शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः॥"

महाकवि के बल हैं—आखर और अरथ। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं : "कविहिं आखर अरथ बल साँचा।" कालिदास भी 'वागर्थप्रतिपत्ति' के लिए जगत्-माता-पिता की आराधना करते हैं। प्रतिभाप्रसूत ये शब्द और अर्थ कुछ और ही होते हैं। न वहाँ अर्थ की परतों की कोई इयत्ता है और न उसके प्रकाशन में समर्थ शब्द की असीम क्षमता की। ऐसे में कवि से निर्मुक्त रचना को शीर्षकों में कैसे बाँधा जा सकता है ? इस तरह उनके सन्निधान में आने पर अनेक स्मरणीय पक्ष सामने आते रहते हैं।

खण्ड तीन : आचार्य विद्यासागर का रचना-संसार

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' (एक)

कवयिता आचार्यश्री विद्यासागर श्रमण धारा के शिखर पुरुष हैं। 'खेद' और 'तप' के अर्थ वाली 'श्रमु' धातु से निष्पन्न 'श्रमण' शब्द इनके सन्दर्भ में नितान्त अन्वर्थ है। इस तपोमूर्ति ने जिस भी सात्त्विक क्षेत्र में कदम रखा—उसी में अपना उल्लेख्य स्थान बना लिया। इनके तप का एक पक्ष सारस्वत तप भी है। उस प्रशस्त और पुष्कल तप का साक्षी है – 'समग्र : आचार्य विद्यासागर'। इसके चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में इनकी संस्कृत भाषाबद्ध मौलिक रचनाएँ उन्हीं के भावानुवाद सहित संग्रहीत हैं। इस खण्ड में कुल पाँच शतक हैं—श्रमण-शतकम्, भावना-शतकम्, निरञ्जन-शतकम्, परीषहजय-शतकम् (अपरनाम ज्ञानोदय) तथा सुनीति-शतकम्।

१. 'श्रमण-शतकम्' (संस्कृत, ६ मई, १९७४) एवं 'श्रमण-शतक' (हिन्दी, १८ सितम्बर, १९७४)

'श्रमण' यह एक योगरूढ़ संज्ञा है। 'श्रमु' धातु से ल्युट् प्रत्यय होने पर यह शब्द निष्पन्न होता है। 'तप' और तज्जन्य 'खेद' इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है, पर प्रवृत्तिनिमित्त की दृष्टि से प्रचलनवश एक विशिष्ट धारा के तपस्वियों के लिए यह रूढ़ हो गया है। भारत में सनातनी विद्या की अभिव्यक्ति द्विविध है—शाब्द और प्रातिभ। प्रातिभ अभिव्यक्ति वाली धारा के तपस्वियों के लिए यह संज्ञाशब्द रूढ़ हो गया है। यों तप और तज्जन्य खेद सभी आध्यात्मिक धाराओं में है, पर रूढ़ि जैन और बौद्ध धारा के तपस्वियों के लिए ही है। इसमें भी ध्यान-साधना तो उभयत्र समान है- पर तप में जैन मुनियों की बराबरी कोई नहीं कर सकता। जैन धारा में भी दिगम्बरी तप अप्रतिम है। आचार्यश्री ने ठीक ही कहा है :

"यो धत्ते सुदृशा समं मुनिवर्ाङ्मनोभ्यां च वपुषा समम्।
विपश्यति सहसा स मं ह्यनन्तविषयं न तृषा समम्" ॥ ८४ ॥

इस पद्य का आपने स्वयं ही काव्यानुवाद 'श्रमण-शतक' (हिन्दी) में किया है :

"वाणी, शरीर, मन को जिसने सुधारा,
सानन्द सेवन करे समता-सुधारा।
धर्माभिभूत मुनि है वह भव्य जीव;
शुद्धात्म में निरत है रहता सदैव" ॥ ८४ ॥

ये तपस्वी मदमत्त करणकुंजरों को स्वभाव में प्रतिष्ठित होने के लिए वशीभूत कर लेते हैं। विस्मयावह है इनकी तपस्या।

२. 'निरञ्जन-शतकम्' (संस्कृत, २३ मई, १९७७) एवं 'निरञ्जन-शतक' (हिन्दी, १६ जून, १९७७)

इस शतक में निरञ्जन जिनेश्वर अथवा सिद्ध परमेष्ठी का स्तवन किया गया है ताकि भवभ्रमण ध्वस्त हो सके। उन्होंने ठीक ही कहा है :

"निजरुचा स्फुरते भवतेऽयते, गुणगणं गणनातिगकं यते !

विदितविश्व ! विदा विजितायते ! ननु नमस्तत एष जिनायते'' ॥ २ ॥

राष्ट्रभाषा में अनूदित 'निरञ्जन-शतक' में इस पद्य का भाव अवलोकनीय है :

''स्वामी, अनन्त-गुण-धाम बने हुए हो,
शोभायमान निज की द्युति से हुए हो ।
मृत्युंजयी सकल-विज्ञ विभावनाशी;
वन्दूँ तुम्हें, जिन बनूँ सकलावभाशी(षी)'' ॥ २ ॥

हे अज, (परमे तिष्ठति - इति परमेष्ठी) शान्ति विधायक, सुखस्वरूप ! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह की प्रभापुंज सूर्य की किरणें सच्छिद्र घर में प्रवेश करती रही हैं। इस स्तवन से सभी स्तोताओं का हृदय प्रकाशमय हो सकता है।

३. *'भावना-शतकम्' (संस्कृत, ११ मई, १९७५) एवं 'भावना-शतक' (हिन्दी, १० अगस्त, १९७५, अपरनाम 'तीर्थंकर ऐसे बने')*

श्री गुरु और शारदा के स्तवन के अनन्तर अपने प्रति श्रुतविषय पर आते हुए मुनिश्री की केवल यही भावना है कि 'विभाव' भाव पर विजय पाई जाय—आत्मा में संक्रान्त आगन्तुक दोषों का नाश किया जाय। गन्तव्यानुरूप भावना में चेतना निरन्तर एकतान रहे तो सिद्धि मिल सकती है। वस्तुतः यह सारा खेल भावना का ही है। यही प्रबल साधना है। उसके अवलम्ब से साधक अभीष्ट तक पहुँच सकता है। भावना से दर्शनमोह नष्ट हो जाता है—अनन्त कषाय निःशेष हो जाता है—सद्भारती की यह ऊर्ध्वबाहु घोषणा है। मुनिश्री का दृढ़ विश्वास है :

- *''तं जयताज्जिनागमः श्रय श्रेयसो न येन विना गमः ।*
  न हि कलयति मनागमस्त्वां मदो यद् भवेऽनागमः'' ॥ ७७ ॥

- *''भवता निजानुभवतः प्रभोः प्रभावना क्रियतां हि भवतः ।*
  मनोऽवन् मनोभवतः क्षणविनाशविभावविभवतः'' ॥ ८९ ॥

इन दोनों पदों का मनोहारी चित्रण आपने 'भावना-शतक' में किया है। जहाँ कामदेव से बचने का सन्देश देते हैं, वहीं प्रभावना को भी बताते हैं :

- *''था, हे जिनागम, रहे जयवन्त आगे,*
  पूजो इसे तुम सभी, उर बोध जागे ।
  पाते कदापि फिर ना भवदुःख नाना;
  हो मोक्षलाभ, भव में फिर हो न आना'' ॥ ७७ ॥

- *''भाई सुनो, मदन से मन को बचाओ,*
  संसार के विषय में रुचि भी न लाओ ।
  पाओ निजानुभव को, निज को जगाओ;

सद् धर्म की फिर अपूर्व प्रभावना हो'' ॥ ८९ ॥

जो साधु, समाधि से रहित हो अहंकार आदि अपकार को नहीं रोकता है वह मन्तु—परमेष्ठी को प्राप्त करने में समर्थ नहीं है। स्वकीय आत्मा को नमन करता हुआ मैं उस चौर मानव--परपदार्थों को अपना मानने वाले मानव की कभी इच्छा नहीं करता। मुनिश्री जिनवर को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यथार्थतः निज स्वभाव में लीन अपद-दिगम्बर-निर्ग्रन्थ साधु से ही यह वैयावृत्य सुशोभित होता है, इस प्रकार, जिस प्रकार षट्पद भ्रमर से कमल और पद व्यवसाय उद्योग से जनपद, देश सुशोभित होता है। मुनिश्री का अनुरोध या आदेश है कि उन साधुजनों की भक्ति करो, उन्हें पूजो जो निज स्वरूप में लीन होते हुए वन से भय नहीं करते और भवन में कोई इच्छा नहीं रखते। आचार्यश्री का सन्देश है कि जिस प्रकार अग्नि के संयोग से कलंक का नाश होता है उसी प्रकार वात्सल्य भाव से आत्मा का कलंक-दोष नाश को प्राप्त होता है।

४. **'परीषहजय-शतकम्' (संस्कृत, ९ मार्च, १९८२) एवं 'परीषहजय-शतक' (हिन्दी, ९ मार्च, १९८२, अपरनाम 'ज्ञानोदय')*

देव, मानव, पशु या प्रकृति द्वारा अनायास आने वाली शारीरिक तथा मानसिक बाधा उपसर्ग है और सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि बाधाएँ परीषह कही जाती हैं। साधु को इन पर विजय प्राप्त करनी चाहिए ताकि आत्म-चिन्तन में अवरोध पैदा न हो। कर्म-निर्जरा के लिए इन्हें शान्तभाव से सहना चाहिए। इसी आशय से मुनिश्री का कथन है :

''परिषहं कलयन् सह भावतः, स हतदेहरुचिर्निजभावतः।
परमतत्त्वविदा कलितो यतिः, जयतु मे तु मनः फलतोऽयति'' ॥ २३ ॥

परीषह विजय करने वाले मुनीश्वरों का स्मरण करते हुए आपने इन पंक्तियों का भावानुवाद किया है :

''तन से, मन से और वचन से उष्ण-परीषह सहते हैं,
निरीह तन से हो निज ध्याते, बहाव में ना बहते हैं।
परम तत्त्व का बोध नियम से पाते यति जयशील रहे;
उनकी यशगाथा गाने में निशिदिन यह मन लीन रहे'' ॥ २३ ॥

उनका दृढ़संकल्प है कि यदि कण्टकादि तृण पैरों में निरन्तर पीड़ा करता है और गति में अन्तर, व्यवधान लाता है तो मुनि उससे उत्पन्न कष्ट को वास्तव में सहन करते हैं। मुनिश्री भी भेदज्ञान के प्रताप से उस विद्यमान कष्ट को सहन करते हैं। उनका विश्वास है कि यदि साधक संयम से रहित रहा तो मात्र शारीरिक दुष्कर तप निरर्थक है। यह ठीक है कि व्रतनिरत रहे साधक, परन्तु परीषह जय बिना उसे भी सफलता नहीं मिलती। यदि समदर्शन नहीं होता तो यम-दम-शम सभी व्यर्थ हैं। उस जीवन से क्या लाभ, जो पाप-कलंक में लिप्त रहता है। ऐसा जीवन खोखला है।

---

* नोट - इस शतक के पद्य क्र. ४ में एवं ग्रन्थ के अन्त में भी चतुर्थ खण्ड को 'परीषहजय-शतक' कहा गया है, पर मध्य में शतक के प्रारम्भ होने से पहले भूल से 'सुनीति-शतक' मुद्रित हो गया है। इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में 'स्तुति खण्ड' का उल्लेख नहीं है, पर ग्रन्थ में यह शीर्षक विद्यमान है। वस्तुतः यह शतक 'सुनीति-शतक' है।

५. 'सुनीति-शतकम्' (संस्कृत, २५ अप्रैल, १९८३) एवं 'सुनीति-शतक' (हिन्दी, २५ अप्रैल, १९८३)

इस खण्ड का अन्तिम शतक है 'सुनीति -शतकम्'। इस शतक में यह बताया गया है कि साधक को निरन्तर नीति मार्ग पर आरूढ़ रहना चाहिए। और सन्तों ने भी कहा है :

"...नीति पथ चलिय राग-रिल जीति।"

पर नीति पथ है क्या--यह जानकर चलना अपने आप में प्रगुणित हो जाता है। सत् क्रिया तो अच्छी है ही, ज्ञानपूर्वक सम्पादित होने से वह और गुणवती हो जाती है।

अत: साधकों के कल्याण के लिए आचार्यश्री ने इस शतक को नीति-निर्भर कर रखा है। आचार्यश्री ने उचित ही कहा है कि शास्त्र व्यवसाय के लिए नहीं बना है, जीवन को गन्तव्यानुरूप साधना-पथ पर चलने के, दिशादान के लिए बना है। मुनिश्री का उपदेश है कि इन्द्रिय विषयों में आसक्त रहने वाले जो मनुष्य संयम से सन्धि नहीं करते हैं, वे केवल अवस्था से वृद्ध हो सकते हैं, 'ज्ञान' और 'संयम' से नहीं।

चारित्र में शिथिलता रखने वाले मनुष्य तिर्यक् योनि में पैदा होते हैं। उनका विचार है कि चारित्र और सौशील्य का संयोग पाकर साधारण ज्ञान भी पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, ठीक वैसे ही जैसे उत्तम शाणोपल का संयोग पाकर *स्वर्ण का मूल्य इतना बढ़ जाता है कि वह सज्जनों के कण्ठ का अलंकार बन जाता है।*

इस प्रकार प्रथम खण्ड आचार्यश्री की संस्कृत एवं हिन्दी रूप उभयभाषाओं में लिखित मौलिक रचनाओं से मण्डित होकर साधकों के लिए ज्ञानालोक की वर्षा करता है और अज्ञान-अन्धकार को क्षीण करता हुआ नि:शेष कर सकता है।

इस खण्ड के अन्त में मुद्रित शारदा--जिनवाणी के स्तवन हेतु बारह पद्य आपने 'शारदास्तुतिरियम्' (संस्कृत, १९७१) नाम से लिखे। बाद में इनका भावानुवाद हिन्दी में जनवरी, १९९१ में आचार्यश्री ने कर दिया है।

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' (दो)

खण्ड-दो में आचार्यश्री द्वारा अनूदित रचनाएँ संकलित हैं। इन रचनाओं में कुछ तो मूलत: संस्कृत में हैं और कुछ अपभ्रंश एवं प्राकृत में। सामान्य जिज्ञासुजनों के लिए ये भाषाएँ दुर्बोध हैं। एक तो गम्भीर विचार और दूसरे संस्कृत, अपभ्रंश एवं प्राकृत भाषा--इन दोहरे अवरोधों को पाकर ज्ञानामृत का पान करना कितना कठिन है, इस भावना से भरित होकर दयाशील और करुणार्द्र आचार्यश्री ने इन ग्रन्थों का हिन्दी रूपान्तरण कर दिया है। एतदर्थ हम सब उनके ऋणी हैं।

जैन गीता (२८ अगस्त, १९७६)

प्राकृत भाषा में निबद्ध ७५६ गाथाओं वाला 'समणसुत्तं' संज्ञक ग्रन्थ का यह अनूदित रूप है। इसमें चार खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्ड 'ज्योतिर्मुख' में १५ सूत्रों (प्रकरणों) के अन्तर्गत गाथाएँ समाहित हैं--मंगल सूत्र, जिनशासन सूत्र, संघ सूत्र, निरूपण सूत्र, संसारचक्र सूत्र, कर्म सूत्र, मिथ्यात्व सूत्र, रागपरिहार सूत्र, धर्म सूत्र, संयम सूत्र, अपरिग्रह सूत्र, अहिंसा सूत्र, अप्रमाद सूत्र, शिक्षा सूत्र, आत्म सूत्र। द्वितीय खण्ड 'मोक्षमार्ग' में मोक्षमार्ग सूत्र, रत्नत्रय सूत्र (व्यवहार रत्नत्रय एवं निश्चय रत्नत्रय सूत्र), सम्यक्त्व सूत्र (व्यवहार और निश्चय सम्यक्त्व एवं सम्यग्दर्शन अंग), सम्यग्ज्ञान सूत्र, सम्यक् चारित्र सूत्र (व्यवहार एवं निश्चय चारित्र सूत्र एवं समन्वय सूत्र), साधना सूत्र, द्विविध धर्म सूत्र, श्रावक धर्म

सूत्र, श्रमण धर्म सूत्र, व्रत सूत्र, समिति-गुप्ति सूत्र, आवश्यक सूत्र, तप सूत्र (बाह्य तप और आभ्यन्तर तप), ध्यान सूत्र, अनुप्रेक्षा सूत्र, लेश्या सूत्र, आत्मविकास सूत्र, सल्लेखना सूत्र—इस प्रकार कुल १८ सूत्रों के अन्तर्गत गाथाएँ इस खण्ड में संकलित हैं। 'तत्त्व दर्शन' नामक तृतीय खण्ड तत्त्व दर्शन से सम्बद्ध है। इसमें तत्त्व दर्शन सूत्र, द्रव्य सूत्र, सृष्टि सूत्र जैसे तीन सूत्रों के अन्तर्गत गाथाओं का संकलन है। चतुर्थ खण्ड 'स्याद्वाद' में अनेकान्त सूत्र, प्रमाण सूत्र (प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रमाण), नय सूत्र, स्याद्वाद—सप्तभंगी सूत्र, समन्वय सूत्र, निक्षेप सूत्र के साथ समापन एवं वीर-स्तवन के अन्तर्गत भी गाथाओं का समावेश है। इस खण्ड में कुल ८ सूत्र हैं।

कुन्दकुन्द का कुन्दन (२६ अक्टूबर, १९७७)

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में प्रणीत 'समयसार' का यह अनूदित रूप है। यह ग्रन्थ भुक्ति-मुक्ति का बीज है। इस ग्रन्थ में जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार एवं सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार का समावेश है।

इस ग्रन्थ का अनुवाद करने में आचार्यश्री के समक्ष कुछ कठिनाइयाँ भी आई हैं, जिनका उल्लेख उन्होंने इस ग्रन्थ में किया है। ग्रन्थ पर्याप्त गम्भीर है, अतः कई टीका-प्रटीकाओं का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने माना है कि कहीं-कहीं शब्दानुवाद भी है, पर अधिसंख्य भावानुवाद जैसा उत्तम और प्रशस्त रूपान्तरण हुआ है। इस ग्रन्थराज 'समयसार' पर एक वृत्ति 'तात्पर्य' संज्ञक है, जो जयसेनाचार्य द्वारा प्रणीत है। तदुपरि पूज्य अमृतचन्द्र की 'आत्मख्याति' का भी मन्थन करना पड़ा। चेतना की लीलानुभूति से आप्यायित अन्तस् समुच्छल हो उठा और लयाधृत छन्द में निर्बाध बह चला। यही है सारस्वत समावेश दशा, जिसमें अनुभूति 'समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रित' होकर बह निकलती है। काव्य की रचना-प्रक्रिया का विवेचन करते हुए अभिनवगुप्तपाद ने यही कहा है। 'समयसार' का ही नहीं, नाट्यकाव्यात्मक आत्मख्यातिगत कलशारूप २७८ कारिकाओं का भी रूपान्तर बन पड़ा है। आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनाएँ बड़ी प्रौढ़ मानी जाती हैं — प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय तथा समयसार। अमृतचन्द्रसूरि ने इन तीनों पर टीकाएँ लिखी हैं। इन उभय टीकाओं में गाथाओं की संख्या समान नहीं मिलती। समस्या यह भी आई—आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में कम और आचार्य जयसेन की टीकाओं में अधिक गाथाएँ क्यों हैं ?

'प्रवचनसार' की चूलिका का अवलोकन करते हुए 'स्त्रीमुक्ति निषेध' वाले प्रसंग पर ध्यान गया। वहीं १०-१२ गाथाएँ छूटी हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने इन पर टीकाएँ नहीं लिखीं। इससे अनुमान किया गया कि आचार्य अमृतचन्द्र को स्त्रीमुक्ति निषेध का प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं था। इन टीकाओं की प्रशस्तिओं से पता लगता है आचार्य जयसेन मूलसंघ के और अमृतचन्द्र सूरि काष्ठासंघ के सिद्ध हैं। आचार्यश्री को इससे एक नवीन विषय मिला।

गम्भीर ग्रन्थान्तर का अधिगम, भाषान्तरण, लयबद्ध पद्यबद्धीकरण — यह सब एक से एक कठिन कार्य हैं, पर लगन और अभ्यास से सब कुछ सम्भव है। आत्मख्यातिगत २७८ कारिकाओं का संकलन-'कलशा' नाम से ख्यात है। इसके १८८ वें काव्य के विषय में छन्द को लेकर के कठिनाई आई। वह न गद्य जान पड़ा और न पद्य। काफी जद्दोजहद के बाद लगा कि यह तो निराला और अज्ञेय की रचनाओं में प्राप्त अतुकान्त छन्द का प्राचीन रूप है। इसमें एक खोज यह भी हुई कि आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृत लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता हैं।

आचार्यश्री ने उन लोगों से असहमति व्यक्त की है जो लोग शब्दज्ञान, अर्थज्ञान और ज्ञानानुभूति को परिग्रहवान् गृहस्थ और प्रमत्त में भी मानते हैं। उनका कहना है कि ज्ञानानुभूति तो आत्मानुभव है—शुद्धोपयोग है। वह परिग्रह और प्रमादवाले गृहस्थ को तो क्या होगा—प्रमत्त दिगम्बर मुनि को भी नहीं हो सकता। भोग और निर्जरा एक साथ नहीं चल सकते। आगम इस मान्यता से असहमत है।

निजामृतपान/'कलशागीत' (२१ अप्रैल, १९७८)

'समयसार' का पद्यानुवाद 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' और अध्यात्म रस से भरपूर 'समयसार-कलश' का पद्यानुवाद 'निजामृतपान' ('कलशागीत' नाम से भी) है। यह ग्रन्थ संस्कृत में मूलरूप में है। इसमें देव-शास्त्र-गुरु स्तवन के बाद, 'ज्ञानोदय छन्द' में कलशों का पद्यबद्ध रूपान्तर प्रस्तुत हुआ है। इसका लक्ष्य है जैन चिन्तन में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली की गाँठें खुल जायँ ताकि पाठक उसका भरपूर आस्वाद ले सकें। इसमें कई अधिकार हैं-- जीवाजीवाधिकार, कर्तृकर्माधिकार, पुण्यपापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार, सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, स्याद्वादाधिकार तथा साध्यसाधकाधिकार। अन्ततः मंगलकामना के साथ यह भाषान्तर सम्पन्न हुआ है।

द्रव्यसंग्रह (११ जून, १९७८ एवं १६ मई, १९९१)

मूलतः यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। इसके रचयिता हैं नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव। मंगलाचरण, श्रीगुरु नमन तथा ग्रन्थ के निर्माण काल और स्थान निर्देश के साथ यह भाषान्तर अलग-अलग छन्दों में किए जाने से दो भागों में मुद्रित हुआ है। 'वसन्ततिलका' छन्द में अनूदित प्रथम भाग में जैन दर्शन के विवेच्य विषय चर्चित हुए हैं। जैसे, जीव स्वदेह परिमाण है। वह स्वभाववश ऊर्ध्वगामी होता है। दर्शन के चार भेद, ज्ञान के मति, श्रुत, अवधि जैसे भेद, प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का निरूपण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त सत् द्रव्य, चतुर्विध गुणयुक्त पुद्गल, पाँच अस्तिकाय, कर्म, बन्ध, संवर तथा निर्जरा आदि तत्त्वों की चर्चा की गई है। सबका पर्यवसान मोक्ष में है। 'द्रव्य संग्रह' भाग दो--में 'ज्ञानोदय' छन्द में इस ग्रन्थ को पुनः अनूदित किया गया है। पूर्वोक्त विषय रूप ही जीव-अजीव, अष्ट कर्म, अष्ट गुण, शुद्ध आत्मा का कर्मातीत और वैभाविक गुणों से रहित होना, कर्मों के विविध भेदों, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र का निरूपण, पूर्ण ज्ञानरूप केवलज्ञान की प्राप्ति आदि भी वर्णित है।

अष्टपाहुड़ (३१ अक्टूबर, १९७८)

आचार्य कुन्दकुन्द देव प्रणीत प्राकृत भाषाबद्ध ग्रन्थ का यह पद्यबद्ध रूपान्तर नितान्त उपादेय और कल्याणकर है। इसके आरम्भ में मंगलाचरण और आचार्यों को नमन है। तदनन्तर जिनागम का रहस्य अनावृत किया गया है। इसमें दर्शन पाहुड़, सूत्र पाहुड़, चारित्र पाहुड़, बोध पाहुड़, भाव पाहुड़, मोक्ष पाहुड़, लिंग पाहुड़ तथा शील पाहुड़ का विवरण प्रस्तुत कर अन्य ग्रन्थों की तरह इसका भी समापन निर्माण के स्थान एवं समय परिचय के साथ हुआ है।

नियमसार (२५ अगस्त, १९७९)

आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत प्राकृत भाषाबद्ध 'नियमसार' का यह भाषान्तरण पद्यबद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ है। मोह और प्रमाद के निवारणार्थ यह पद्यमय अनुवाद किया गया है। केवली या श्रुतकेवली आचार्यों ने जिस नियमसार को कहा है, वही यहाँ विद्यमान है। प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तो प्राणिमात्र के लक्षण हैं, पर मोक्षाधिकारी मानव को स्वैराचार वर्जित है। उसे यदि स्वभाव से प्रतिष्ठित होना है तो नियम-संयम पूर्वक जिजीविषा की चरितार्थता के लिए चर्या बनानी पड़ेगी :

- *"जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से,*
  तो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से।

सागार अन्न दिन में यदि दान देता,
ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥ ६३ ॥
...पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती" ॥ ६४ ॥

इस तरह तमाम विधि-निषेधमय नियम यहाँ बताए गए हैं। स्थान, समय, परिचय तथा मंगलकामना के साथ ग्रन्थ पूर्ण हुआ है।

द्वादशानुप्रेक्षा (१९७९)

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में लिखे गए ग्रन्थ का यह पद्यानुवादात्मक भाषान्तरण है। द्वादश भावनाएँ ही द्वादश अनुप्रेक्षाएँ हैं :

"संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव, संवरा है।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये;
भावे सुधी सतत द्वादश भावनायें"॥ १२ ॥

इसमें अनित्य, अशरण, एकत्व, अन्यत्व, संसार, लोक, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ तथा धर्म—इन अनुप्रेक्षाओं का मार्मिक विवरण दिया गया है।

समन्तभद्र की भद्रता (२९ मार्च, १९८०)

आचार्य समन्तभद्र स्वामी की संस्कृत भाषा में एक रचना है - 'स्वयम्भू-स्तोत्रम्'। प्रस्तुत ग्रन्थ उसी का—पद्यबद्ध भाषान्तरण है। इसमें स्तोतव्य चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन किया गया है। जिनका स्तवन किया गया है, वे हैं श्री वृषभनाथ, अजितनाथ, शम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरहनाथ, मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और अन्ततः वीर स्तवन के साथ यथापूर्व इस ग्रन्थ का भी समापन हुआ है।

गुणोदय (२६ अक्टूबर, १९८०)

आचार्य गुणभद्र प्रणीत संस्कृत भाषाबद्ध 'आत्मानुशासन' ग्रन्थ की आचार्यश्री द्वारा पद्यबद्ध हुई इस कृति में जिन दर्शन के दशविध सम्यग्दर्शनों का उल्लेख किया है—आज्ञा, मार्ग, सदुपदेश, सूत्र, बीज, समास (संक्षेप), विस्तृत (विस्तार) तथा अर्थ समुद्भव, अवगाढ़ और परमावगाढ़ सम्यक्त्व। इसमें इन सबका रहस्योद्घाटन किया गया है। कहा गया है :

"सद्गति सुख के साधक गुणगण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं,
दुर्गति दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं।
फलतः साधक को भजते हैं अधिक विधायक को तजते;
सुबुध जनों में श्रेष्ठ रहें वे जन-जन हैं उनको भजते" ॥ १४५ ॥

अत: ''गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा,
विलय गुणों का होना ही बस, हुआ गुणी का विलय रहा।
अत: 'मोक्ष' गुण गुणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत है;
रागादिक की किन्तु हानि ही मोक्ष रहा यह 'जिनमत' है'' ॥ २६५ ॥

रयणमंजूषा (४ अप्रैल, १९८१)

आचार्य समन्तभद्र प्रणीत संस्कृत में निबद्ध 'रत्नकरण्डक श्रावकाचार' की यह भाषान्तरित पद्यबद्ध कृति है। यह एक ऐसी मंजूषा है जिसमें श्रावकवर्ग के लिए उपदेश के रत्न भरे हुए हैं। जो इन्हें अपने जीवन में उतारता है, वह जीवन को चरितार्थ कर लेता है। कहा गया है :

''मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या दर्शन व्रत रत्नकरण्डक कर पाया।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी का वरण करे;
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे'' ॥ १४९ ॥

आप्तमीमांसा (१६ सितम्बर, १९८३)

आचार्य समन्तभद्र स्वामी द्वारा संस्कृत भाषाबद्ध 'आप्तमीमांसा' (देवागमस्तोत्रम्) का आचार्यश्री द्वारा पद्यबद्ध यह भाषान्तरण है। इसमें आप्तजन कहते हैं :

''विधेय है प्रतिषेध्य वस्तु का अविरोधी सुन आर्य महा,
कारण, है वह इष्ट कार्य का अंग रहा अनिवार्य रहा।
आपस में आदेयपना औ हेयपना का पूरक है;
स्याद्वादवश यही रहा सब वादों का उन्मूलक है'' ॥ ११३ ॥

एकान्त नहीं, अनेकान्त दृष्टि ही संगत है।

इष्टोपदेश (१९७१ एवं २० दिसम्बर, १९९०)

आचार्य पूज्यपाद कृत संस्कृत भाषाबद्ध 'इष्टोपदेश' का आचार्यश्री द्वारा इसका भाषान्तरण ('वसन्ततिलका' एवं 'ज्ञानोदय' छन्द में पृथक्-पृथक् पद्यबद्ध) दो बार किया गया है। इनमें मोहग्रस्त जीव की दुर्दशा और तपोरत की स्वस्थता का तरह-तरह से वर्णन मिलता है। एक पद देखें :

''ना जानना परिषहादिक को विरागी,
होता न आस्रव जिसे वह मोक्षमार्गी।
अध्यात्म योगबल से फलत: उसी की;
होती सही ! नियम से नित निर्जरा ही'' ॥ २४ ॥

सत्-शास्त्र के मनन, श्रीगुरु के भाषण, विज्ञानात्मा स्फुट नेत्रों की सहायता से जो साधक यहाँ स्व-पर के अन्तर को जान लेता है वही मानों सभी प्रकार से परमात्मा रूप शिव को जान लेता है। सुधी वही होता है जो इष्टोपदेश का ज्ञान प्राप्त करे और अवधानपूर्वक उसे जीवन में उतारे। मान-अपमान में समान रहे। वन हो या भवन - सर्वत्र साधक को निराग्रही होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह निरुपम मुक्ति-सम्पदा पाले और भवों का नाश कर भव्यता प्राप्त करे। इस प्रकार इसमें अनिष्टकर स्थितियों से निवृत्ति और इष्टकर स्थितियों में प्रवृत्ति की बात है।

गोम्मटेश अष्टक (१९७९)

आचार्य नेमीचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती प्रणीत प्राकृत भाषाबद्ध 'गोम्मटेस-थुदि' कृति का आचार्यश्री द्वारा पद्यानुवाद प्रस्तुत हुआ है। इस कृति में गोम्मटेश बाहुबली भगवान् का स्तवन हुआ है :

"काम धाम से धन-कंचन से सकल संग से दूर हुए,
शूर हुए मद-मोह-मार कर समता से भरपूर हुए।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये;
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन में अब वास किए" ॥ ८ ॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र (१९७१)

आचार्यश्री कुमुदचन्द्र प्रणीत प्रस्तुत कृति मूलत: संस्कृत भाषा में निबद्ध है। आचार्यश्री ने उसका पद्यानुवाद प्रस्तुत किया है। इस कृति में उन कल्याणनिधि, उदार, अघनाशक तथा विश्वसार जिन-पद-नीरज को नमन किया गया है जो संसारवारिधि से स्व-पर का सन्तरण करने के लिए स्वयम् पोत स्वरूप हैं। जिस मद को ब्रह्मा और महेश भी नहीं जीत सके, उसे इन जिनेन्द्रों ने क्षण भर में जलाकर खाक कर दिया। यहाँ ऐसा जल है जो आग को पी जाता है। क्या वाड़वाग्नि से जल नहीं पिया गया है ?

"स्वामी ! महान गरिमायुत आपको वे,
संसारि जीव गह, धार स्व-वक्ष में औ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते;
आश्चर्य ! साधु जन की महिमा अचिन्त्य"। ॥ १२ ॥

नन्दीश्वर भक्ति (१६ जून, १९९१)

आचार्य पूज्यपाद प्रणीत संस्कृत भाषाबद्ध 'नन्दीश्वर भक्ति' का पद्यबद्ध भावानुवाद आचार्यश्री द्वारा सम्पन्न किया गया है इस कृति में :

"द्वीप रहा जो अष्टम जिसने 'नन्दीश्वर' वर नाम धरा,
नन्दीश्वर सागर से पूरण, आप घिरा अभिराम खरा।
शशि-सम शीतल जिसके अतिशय-यश से बस ! दश दिशा खिली;
भूमण्डल ही हुआ प्रभावित, इस ऋषि को भी दिशा मिली" ॥ ११ ॥

इस प्रकार पूरी कृति नन्दीश्वर भक्ति से आपूरित है।

समाधिसुधा-शतकम् (१९७१)

आचार्य पूज्यपाद प्रणीत संस्कृत भाषाबद्ध 'समाधितन्त्र' का आचार्यश्री द्वारा पद्यानुवाद प्रस्तुत किया गया है। इस कृति में उन अधोगामी जीवों की भर्त्सना की गई है जिन्होंने मिथ्यात्व के उदय से जड़ देह को ही आत्मा समझ रखा है। ऐसा मोहग्रस्त रागी अपने 'स्वभाव' को कभी नहीं समझ सकता। अतः रचयिता कहता है :

- *"जो ग्रन्थ त्याग, उर में शिव की अपेक्षा,*
  मोक्षार्थ मात्र रखता, सबकी उपेक्षा।
  होता विवाह उसका शिवनारि-संग;
  तो मोक्ष चाह यदि है बन तू निसंग" ॥ ७१ ॥

- *"जो आत्म ध्यान करता दिनरैन त्यागी,*
  होता वही परम आतम वीतरागी।
  संघर्ष में विपिन में स्वयमेव वृक्ष;
  होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष !" ॥ ९८ ॥

योगसार (१९७१)

आचार्य योगीन्द्र देव द्वारा रचित अपभ्रंश भाषाबद्ध 'योगसार' का पद्यानुवाद राष्ट्रभाषा में आचार्यश्री द्वारा लोकहितार्थ किया गया है। इस कृति में रचयिता की प्रतिश्रुति है :

- *"जो घातिकर्म रिपु को क्षण में भगाये,*
  अर्हन्त होकर अनन्त चतुष्क पाये।
  तो लाख बार नम श्री जिन के पदों में;
  पश्चात् कहूँ सरस श्राव्य सुकाव्य को मैं" ॥ २ ॥

- *"जो है जिनेन्द्र सुन ! आतम है वही रे !*
  'सिद्धान्तसार' यह जान सदा सही रे !
  यों ठीक जानकर तू अयि भव्ययोगी !
  सद्यः अतः कुटिलता तज मोह को भी" ॥ २१ ॥

एकीभाव (१९७१)

आचार्य वादिराज प्रणीत संस्कृत भाषाबद्ध इस कृति का 'मन्दाक्रान्ता छन्द' में पद्यबद्ध भाषान्तरण आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इस कृति में यह कहा जा रहा है कि जब आराधक के हृदय में आराध्य से एकीभाव हो गया है, तब यह भव-जलन कैसे हो रही है ?

"कैसे है औ ! फिर अब मुझे दुःख दावा जलाता ?" ॥ ६ ॥

रचयिता का हृदय पुकार उठता है :

"जो कोई भी मनुज मन में आपको धार ध्याता,
भव्यात्मा यों अविरल प्रभो ! आप में लौ लगाता।
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता;
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो ! पंचकल्याण पाता" ॥ २४ ॥

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' (तीन)

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' का खण्ड - तीन, आचार्यश्री के दुग्ध-धवल हृदय का स्वत: स्फूर्त समुच्छल प्रवाह भाषा में फूट पड़ा है। इसमें उनका कवि मुखर है, अन्यत्र उनका दार्शनिक और आराधक सन्त उद्ग्रीव है। कुन्तक विचित्रभणिति को काव्य कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी का पक्ष है :

"भणिति विचित्र सुकवि कृत जोई, रामनाम बिनु सोह न सोई।"

काव्य का केन्द्रीय तत्त्व 'सौन्दर्य' सुकविकृत चाहे जितनी विचित्र भणिति हो, पर उनकी दृष्टि में बिना भागवत् चेतना के संस्पर्श के वह व्यक्त नहीं होता। इसी प्रकार सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी की मान्यता है कि उनकी और उन जैसे सन्तों की प्रकृति और रुचि तब तक सौन्दर्य का उन्मेष नहीं मानती, जब तक काव्योचित सारा प्रवाह शान्तरस पर्यवसायी न हो। व्यास का महाभारत काव्य भी भवविरसावसायी और शान्तपर्यवसायी ही है। अभिप्राय यह कि यह भारतीय परम्परा सम्मत है।

१. नर्मदा का नरम कंकर (१९८०)

छत्तीस कविताओं के संग्रह स्वरूप इस काव्य संग्रहगत कविताओं में निम्न भाव व्यंजित होता है :

१. **वचन सुमन :** इसमें रचयिता शक्ति-स्रोत के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ अपने वचन सुमन अर्पित करता है।

२. **हे आत्मन् ! :** यह संसार विकल, अशान्त और विश्रान्त केवल इसलिए है कि उसने अपने हृदय में वीतराग की प्रतिष्ठापना कहाँ की ?

३. **मानस हंस :** इसमें रचयिता अनुत्तर से उत्तर चाहता है कि उसका मानस हंस क्यों तुम्हारे श्रीपाद से निर्गत अमेय आनन्द सागर में नखपंक्तियों के मिस बिखरी मणियों को चुगने के लिए इतना व्यग्र है ?

४. **अपने में... एक बार :** रचयिता इसमें उस पावापुरी की धरती का स्मरण कर रहा है जहाँ से जिनेन्द्र महावीर ने ध्यान-यान पर आरूढ़ हो निज धाम को प्रयाण किया था। वहाँ की लता, फूल, पवन, भ्रमर व धरती तृण बिन्दुओं के व्याज से अपने दृग-बिन्दुओं द्वारा मानों महावीर का पाद-प्रक्षालन कर रही हों।

५. **भगवद् भक्त :** इसमें की गई यह विस्मयावह अनुभूति कि वह पौद्गलिक लबादे रूप शरीर से मुक्त होकर सहज ऊर्ध्वगमन करता जा रहा है, पर अकस्मात् गुरु-चरणों का गुरुत्वाकर्षण प्रतिपात के लिए सिर झुका देता है और उनकी चरण-रज मस्तक पर ज्ञाननेत्र की शोभा पाता है। इस यात्रा में समस्त बाधक काल-काम ध्वस्त हो रहे हैं।

६. **एकाकी यात्री :** एकाकी यात्री ऊर्ध्वगमन तो कर रहा है पर अवरोध और बाधाओं से जूझ भी रहा है, अपार पारगामी भगवान् से दिशानिर्देश और सहारा चाहता है।

७. **एक और भूल :** इसमें साधक स्वभाव में प्रतिष्ठित होने के लिए एक अथक प्रयास तो कर रहा है, पर वह माया

के उस कालुष्य और कौटिल्य को लक्षित नहीं कर पा रहा है जो उत्तमांग पर काले बालों के व्याज से छाए हुए हैं।

८. **मनमाना मन :** इसमें रचयिता जानता है कि मन ही बन्ध और मोक्ष—दोनों में उपयोगी है। बन्ध में उपयोगी होने की तो उसकी पुरानी आदत है पर उसमें प्रयासपूर्वक विवेक जाग्रत किया जा सकता है और अनुकूल बनाकर साधा जा सकता है, तभी विभाव से स्वभाव की ओर बढ़ा जा सकता है।

९. **शेष रहा चर्चन :** इसमें रचयिता कहता है कि मलयाचल के नागिन व्याप्त चन्दन के स्पर्श से मण्डित गन्धवह स्वयं भगवत् चरणों का स्पर्श कर अपने ऊपर मँडराते अलिदल को भी चरणस्पर्श की प्रेरणा देता है। चरणस्पर्श करते ही नखदर्पण में काले आत्मप्रतिबिम्ब को देखकर उन्हें ग्लानि होती है और उनका कायाकल्प हो जाता है। वे गुनगुनाते हुए मानों कहते जाते हैं—भ्रामरी वृत्ति अपनाओ। पर खेद है विषयानुरागीजन उन्हीं चरणों में नत रहकर भी आत्मगत कालुष्य का क्षालन नहीं कर पाते। प्रभो! उन्हें सद्बुद्धि दो ताकि वे मोह-मान का वमन कर सकें।

१०. **मानसदर्पण में :** कवयिता अपनी चिन्ता उन तथाकथित श्रद्धालुओं के सम्बन्ध में व्यक्त करता है जो पुत्र-कलत्र सहित प्रभु के चरणों में नत तो होते हैं पर अपना मानसदर्पण स्वच्छ नहीं कर पाते।

११. **बिन्दु में क्या...? :** निष्ठावान् उपासक की अदम्य अभीप्सा है कि वह अपने व्यक्तित्व के बिन्दु को महासत्ता के सिन्धु में विलीन कर दे। पर बिन्दु में यह भाव जगे तो सही—स्थिर बना तो रहे।

१२. **नर्मदा का नरम कंकर :** रचयिता की व्यग्रता-गर्भ प्रार्थना है तीर्थंकरों से कि वह या तो इस नर्मदा के कंकर को फोड़-फोडकर आसमान में उछाल दे या फिर इसमें अन्तर्हित शंकर के स्वरूप को गढ़-गढ़कर उभार दे।

१३. **पूर्ण होती पाँखुड़ी :** अकस्मात् वन्दनीय चरणों में समर्पित होने की भावना तो अप्रमाण परिमाण में जगी, पर न तो हाथ जुड़े, न वन्दन के स्वर निकले। विपरीत इसके विषय दाहदग्ध चिर तृषित चेतना अपरूप पर जाकर टिक गई, ठीक उस तरह जैसे ग्रीष्मताप तप्त धरती वर्षा का जल बिना श्वास लिए पीती है।

१४. **प्रभु मेरे में-मैं मौन :** शिष्य ने प्रभु के दर्शन किए, लगा प्रकाशपुंज प्रभुलोचन प्रतिच्छवि में तैर रहे हैं। तन्मयता ने गौण-प्रधान-भाव को ध्वस्त कर दिया, तभी यह भावना उठी कि यह चिर बुझा दीप उस प्रकाश-पुंज आलोकमय का आलोक ग्रहण कर आलोकमय हो जाय। पर पता नहीं वह कौन दुर्धर्ष व्यवधान था जो वह सब न होने दिया। शरण की याचना उमड़ उठी।

१५. **समर्पण द्वार पर :** दिगम्बरी दीक्षा के अनन्तर प्रकाशपुंज गुरुवर्य से कन्नड़भाषी शिष्य पारदर्शी स्वच्छ भाषा में 'समयसार' के ज्ञान जल से ऐसा आप्यायित हुआ कि लगा जैसे वह सब भेदों को पार कर प्रकाशपुंज बन गया है।

१६. **जीवित समयसार :** 'समयसार' के उच्च शृंग से ज्ञानगंगा का निर्जरा पर्यवसायी झर-झर प्रवाह उपासक की ओर चला आ रहा है। उसकी चेतना उसमें निष्णात है, पर मंज़िल से हटकर जिसकी दृष्टि पद्धति (कर्मकाण्ड) पर ही टिक गई है—उसे क्या कहा जाय ?

१७. **शरणचरण :** उपासक की चेतना कुमुदिनी को सदल प्रफुल्लित करने वाले उपास्य के मुखमण्डल से शरच्चन्द्र का पूर्ण चन्द्र लज्जित होकर उसके चरणों पर नखमण्डल के रूप में शरण ग्रहण कर रहा है।

१८. **दर्पण में एक और दर्पण :** उपास्य निमित्त बनकर उपासक रूप उपादान में अन्तर्हित सम्पूर्ण सम्भावना को उपलब्धि में परिणत कर देता/सकता है। पर उपादान में भी पात्रता होनी चाहिए। गुलाब का रंग स्फटिक में ही प्रतिबिम्बित होता है, निरा पाषाण में नहीं।

१९. **वंशीधर को :** विवश होकर मन ने श्रुत का सहारा लेकर गन्तव्य तक पहुँचने का प्रयास किया है। फलतः वह

श्वास नाभिमण्डल से प्रतिक्रमा के रूप में हृदय-कमल-चक्र पार करता ब्रह्मरन्ध्र तक उसे पहुँचाता हुआ ऊर्ध्वगम्यमान है और आपका श्रुतिमधुर संगीत श्रवण कर रहा है। क्या अवंशजा माधवीलता वंशाश्रित होकर भी वंशमुक्त हो लहलहाती हुई नहीं जीती ?

२०. **विभाव-अभाव :** हे प्रभो ! आपने स्वभावनिष्ठ होकर विभाव-प्रभव क्रोध को समूल उच्छिन्न कर दिया है। तभी करुणा-निर्भर आपके नेत्रों में अरुण वर्ण की लालिमा नहीं है।

२१. **हे निरभिमान :** अहर्निश स्वभाव-निरत होने के कारण मान-अभिमान का भाव भी आपसे प्रयाण कर चुका है, तभी नासिका चम्पक फूल को जीत रही है।

२२. **आकार में निराकार :** इस रचना में गम्भीर किन्तु अमूर्त अध्यात्म क्षेत्र की रहस्यानुभूति व्यक्त हुई है।

२३. **स्थितप्रज्ञा :** मोक्षमार्ग की तीनों रेखाएँ चेतना के भीतरी भाग में प्रतिष्ठित होकर सबको प्रभावित करती हुई कम्बुवत् ग्रीवा में भी उभर आई हैं--जिसकी छटा से लज्जित होकर शंख ने समुद्र में डूब कर रहना बेहतर समझा।

२४. **अधरों पर :** हे प्रभो ! यह अनुमान से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है कि आपके विशाल पृथुल अगाध उदर के अन्दर आनन्द का अपरम्पार सागर लहरा रहा है, अन्यथा अधर से ऐसी ज्ञानमयी तरंगें कैसे उछलतीं ?

२५. **अर्पण :** हे प्रभो ! क्या बात है कि अमा और प्रतिपदा को सुधा का आकर भी आकाश में दृष्टिगोचर नहीं होता ? लगता है वह भी किसी आतप से क्लान्त होकर आपके पादप्रान्त की छाँव में पड़ा रहता है।

२६. **लाघव भाव :** महान् की महत्ता अनुभवगोचर होने पर ही अपना लाघव भाव अनुभव में उतरने लगता है।

२७. **प्रतीक्षा में :** शुक्ति समुद्र के अगाध जल से ऊपर आकर हर जलद खण्ड से नहीं, केवल स्वाति के जल की अपेक्षा में प्रतीक्षारत रहती है कि मुक्ता रूप ढलने वाली बूँद उस पर गिरे ताकि उसकी कोख चरितार्थता का अनुभव करे। यही मनोदशा जिज्ञासु उपासक के मन की होती है।

२८. **अमन :** मनोज के बाण से दूर रहने पर ही अमन का अनुभव होता है।

२९. **वहीं-वहीं कितनी बार :** स्वभाव से कटा हुआ मानव तेली के बैल की तरह वहीं का वहीं भव-भ्रमण करता रहता है। स्वभावगामी पुरुषार्थ ही विभाव से मुक्ति दिला सकता है। प्रभु का सहारा भर चाहिए।

३०. **डूबा मन रसना में :** स्वपरबोधविहीना रसना की क्षुधा कभी यों ही मिटी है ? पर जब यह ज्ञात हुआ कि रसना पराश्रित रस चख नहीं सकती, तब आत्मरस के निमित्त समाहित हुआ और रसमग्न हो गया।

३१. **दीन नयन ना :** हे करुणाकर ! ऐसी शक्ति दो कि विषयों-कषायों में सल्लीन मानव के मुख से अश्राव्य निन्द्य वचन सुनकर विकलता अनुभव नयनों से न टपके।

३२. **राजसी स्पर्शा :** राजसी स्पर्श की तृषा कौन-कौन से कोने नहीं झाँकाए, पर जब यह ज्ञात हुआ कि मेरी चेतना तत्त्वत: स्पर्शातीता है जबकि यह तो वैभाविकी राजसी स्पर्शा है।

३३. **श्राव्य से परे :** जिस प्रकार अश्राव्य से, उसी प्रकार श्राव्य स्तवन या प्रशंसा से भी हे मन ! तू प्रभावित न हो।

३४. **ओ नासा :** स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, श्रोतेन्द्रिय की भाँति घ्राणेन्द्रिय भी स्व-अनपेक्ष परगन्ध घ्राणन की वासना से क्लान्त रहती है। पर मेरी स्वभाव चेतना अनासा है। उसे न दुर्गन्धि से कुछ लेना न सुगन्ध से। वह उभयातीत आत्मगन्धा है। बस, प्रभु के चरणों का सहारा पर्याप्त है।

३५. **सब में वही मैं :** हे अमूर्त शिल्प के शिल्पी ! ऐसी गुणावभासिका आसिका दो कि वह मेरी नासिका ध्रुवगुण की उपासिका बन जाय।

३६. हुआ है जागरण : हे निरावरण ! इस चेतना ने अनादि भूल से सावरण का वरण कर लिया है। फलतः अनन्त काल से जनन-जरा-मरण सहती आयी है, किन्तु अब सुकृतवश जागरण हो चुका है। अतः आपके नामोच्चारण का सहारा लेकर तुम-सा निरामय होने को प्रस्तुत है।

२. डूबो मत, लगाओ डुबकी (१९८१)

इस संग्रह में कुल ४२ रचनाएँ हैं। आचार्यश्री का मन्तव्य है कि जब गहराई का आनन्द लेने के लिए डुबकी लगाना चाहो, तो पहले तैरना सीखना होगा और तैरने के अभ्यास के लिए तुम्बी का सहारा अनिवार्य है। इस कला में निष्णात हो जाने पर ही डुबकी लगाना सम्भव है। तब सहारे को भी छोड़ना पड़ता है, अन्यथा वह बाधक ही बनेगी। तब हाथ-पाँव मारना भी बाधक बनेगा। तैरने की कला में निष्णात चेतना ही आश्वस्त और स्वायत्त होगी। ज्ञान गुण के स्फुरण के लिए आगमालोक-आलोड़न, गुरुवचन-श्रमण-चिन्तन आवश्यक है। यही तैराकी की कला में निष्णात होने के लिए तुम्बी है।

इस मुख्य रचना के अतिरिक्त अन्य प्रकार की भी भाव और विचार की तरंगें समुच्छलित हैं। कहीं गन्तव्य की ओर धैर्य और आस्था के साथ भोर की प्रत्याशा में यात्रा है, कहीं चरणों में दृष्टि झुकी है। कहीं पीयूष भरी आँखें हैं तो कहीं मन्मथ का मन्थन। कभी लगता है कि काफी विलम्ब हो गया - पर अब विलम्ब मत करो। सुधावर्षण से शान्त शुद्ध परमहंस बना दो इसे।

३. तोता क्यों रोता (१९८४)

इस संकलन में कुल ५५ रचनाएँ हैं। इसकी प्रमुख कविता 'तोता क्यों रोता' में दाता और पात्र—आदाता के बीच पहला प्रशस्ति की अपेक्षा रखता है और पात्र—आदाता मान-सम्मान की। दोनों को दोनों से अपेक्षित नहीं मिलता देखकर वृक्ष की डाल पर बैठा तोता पथिक पात्र—आदाता की ओर निहारता है। सोचता है यह क्षण उसके लिए पुण्यकर है। वह रसमय परिपक्व फल चुन कर ससम्मान पथिक पात्र—आदाता को देना ही चाहता है कि अतिथि की ओर से मौनभाषा की शुरूआत होती है। दान अपने श्रम से अर्जित का होता है, दूसरे की चीज चुराकर दान देना चोरी है। ऐसा उपकार दान का नाटक है। अपने श्रम से अर्जित आत्मीय का दान ही दान है। दान की यह कथा सुनकर उसका मन व्यथित होता है और अपनी अकर्मण्यता पर वह रोता है। प्रभु से प्रार्थना की जाती है कि इसका अगला जीवन श्रमशील बने। पके फल को चिन्ता होती है कि कहीं अभ्यागत खाली लौट न जाय, अतः पवन को इशारा करता है कि वह सहायक बने। पवन की सहायता से फल बन्धनमुक्त होता है, मान-सम्मान और प्रशस्ति का सन्दर्भ ही समाप्त। फल अपने पिता वृक्ष की ओर देखता है जिसका पित्त प्रकुपित है—आँगन में अतिथि खड़ा है और ये हैं कि निष्क्रिय। स्वयं दान देते नहीं और देने भी नहीं देते। ये मोह-द्रोहग्रस्त हैं। पवन के झोंके से आत्मदान के लिए लालायित फल पात्र के हाथ में आ जाता है। फल पवन से कहता है कि वह इसे इधर-उधर नहीं, पात्र के हाथ पर ही गिराए। फल का स्वप्न साकार होता है, पवन भी बड़भागी बनता है। अतिथि तो प्रस्थित हो जाता है, पर डाल के गाल पर लटकता अधपका दल बोल पड़ा—"कल और आना जी ! इसका भी भविष्य उज्ज्वल हो, करुणा इस ओर भी लाना जी"। अतिथि हलकी-सी मुसकान से अपनी गीता सुनाता चला जाता है और फलदत्त की आँख उसकी पीठ की ओर लगी रह जाती है।

इस प्रकार इस संग्रह की भिन्न-भिन्न रचनाओं में और-और भी दिशानिर्देशक उपदेशप्रद भावनाएँ भरी हुई हैं।

४. निजानुभव-शतक (७ सितम्बर, १९७३)

इस शतक के आरम्भ में जिनेश स्मरण, श्रीगुरु ज्ञानसागर वन्दन, जिनेन्द्र वाणी का स्तवन कर आचार्यश्री ने

निज के सम्बोधनार्थ कुछ लिखने की इसलिए प्रतिभुति की है ताकि शीघ्र शुद्धोपयोग की प्राप्ति सम्भव हो सके, वीतराग भाव आ सके।

उपयोग में तीन पक्ष होते हैं—कभी शुभ का, कभी अशुभ का और कभी शुद्ध का भी। यदि शुभ उपयोग रहा तो क्रमवार स्वर्ग-मोक्ष सभी मिलेंगे और अशुभ उपयोग ही बना रहा तो दु:ख की प्राप्ति होती रहेगी। अशुभोपयोग मिथ्यास्वरूप है और शुभोपयोग में सम्यक्त्व विद्यमान है। इस प्रकार शुभ और अशुभ पक्षों के लाभ-हानि का निरूपण करते हुए परिग्रही वृत्ति की निन्दा की है। शुद्धोपयोग रूप सहज स्वभाव की कोई सीमा नहीं है। वह ज्ञानगम्य, अतिरम्य, अप्रतिम तथा वचन-अगोचर है। उसे छोड़कर कहीं सुख नहीं। जड़ देह से आत्मा को एकात्म समझना आत्मघात है। जो मोह, मान, राग-द्वेष छोड़कर तपोलीन होते हैं, वे ही प्राप्य को पाते हैं। केवल कचलुंचन अथवा वसन-मोचन से साधुता नहीं आती। जब निज सहज आत्मा की प्रतीति होती है तभी रति, ईति, भीति नि:शेष होती हैं। निर्ग्रन्थ मुनिगण सभी परीषहों और उपसर्गों को झेलते हुए नदी किनारे ध्यानमग्न रहते हैं। जो मानापमान में समान रहते हैं, आत्मध्यान करते हैं, वे कभी भी भवबीच में नहीं आते। जब यश-कीर्ति, भोग आदि सभी निस्सार हैं तो सुबुद्ध लोग इस पर व्यथा गर्व नहीं करते। वे तो निश्चिन्त हो निज में विहार करते हैं।

५. *मुक्तक-शतक (१९७१ में आलेखन प्रारम्भ)*

मुक्तक वे रचनाएँ हैं जो पर से अनालिंगित रहकर अपने आप में पूर्ण और आस्वादकर होती हैं। इस संग्रह में ऐसे ही मुक्तक संकलित हैं। श्रीगुरु के द्वारा दिए गए उपदेश से आत्मजागरण, भवसम्पृक्ति से खेद, तन-मन से ज्ञानगुणनिकेतन आत्मा का भेद आदि की चर्चा मुक्तकों में की गई है। तदनन्तर अब उन्हें सर्वत्र उजाला, निराला शिवपथ, मोहनिशा का अपगम, बोधरवि किरण का प्रस्फुटन, समता-अरुणिमा की वृद्धि, उन्नत शिखर पर आरोहण, विषमता कण्टक का अपसरण अनुभवगोचर हो रहा है। उन्हें लग रहा है अब किसी की चाह नहीं है, दु:ख टल गया है, निज सुख मिल गया है। अविद्या का त्याग, कषायकुम्भ का विघटन हो चुका है। उनका विचार है कि मुनि वही है जो वशी है, अभिमान शून्य है। जिसे निज का ज्ञान नहीं है, वह व्यर्थ ही मान करता है। सुधी जानता है कि तत्त्वत: वह बाल, युवा और वृद्ध नहीं है, वस्तुत: ये सब जड़ के बवाल हैं। सुधीजन ऐसा समझता हुआ सहज निज सुख की साधना करता रहता है। आत्मा न कभी घटता है, न कभी बढ़ता है और न कभी मिटता है, पर खेद है कि मूढ़ को यह बात ज्ञात नहीं। झर-झर बहता हुआ झरना लोगों को यह सन्देश देता है कि निरन्तर गतिशील रहना है, मूल सत्ता से एकात्म होना है ताकि बार-बार चलना न पड़े। सरोजिनी सचेतना का जब से उदय हुआ, जब से प्रमोद का निरन्तर लहलहाना चल रहा है। जो प्रकृति से सुमेल रखता है, वह मिथ्या खेल खेल रहा है। वह विभाव से पूर्ण और स्वभाव से दूर है। अब तो चिरकाल से अकेली पुरुष के साथ केलिरत हूँ। वहाँ से अमृतधार पीने को निरन्तर मिलता है, सस्मित प्यार प्राप्त होता है। अब तो उन्हें सदैव चेतना प्रसन्न और अनुकूल रखेगी और निरन्तर उनका सहवास बना रहेगा, चिरवांछित सुख-समुद्र में गोता लगता रहेगा।

६. *दोहा-स्तुति-शतक (४ अप्रैल, १९९३)*

त्रिविध प्रतिबन्धकों के निराकरणार्थ, लोकसंग्रहार्थ आरम्भ मंगलाचरण से कर विभिन्न तीर्थंकरों जैसे वन्दनीय चरणों का इस संग्रह में स्तवन किया गया है। सर्वप्रथम श्री गुरुचरणों का स्मरण इसलिए है कि उन्हीं ने गोविन्द बनाया है। तदनन्तर तीर्थंकर श्री आदिनाथ भगवान्, श्री अजितनाथ भगवान्, श्री शम्भवनाथ भगवान्, श्री अभिनन्दननाथ भगवान्, श्री सुमतिनाथ भगवान्, श्री पद्मप्रभ भगवान्, श्री सुपार्श्वनाथ भगवान्, श्री चन्द्रप्रभु भगवान्, श्री पुष्पदन्त

भगवान्, श्री शीतलनाथ भगवान्, श्री श्रेयांसनाथ भगवान्, श्री वासुपूज्य भगवान्, श्री विमलनाथ भगवान्, श्री अनन्तनाथ भगवान्, श्री धर्मनाथ भगवान्, श्री शान्तिनाथ भगवान्, श्री कुन्थुनाथ भगवान्, श्री अरहनाथ भगवान्, श्री मल्लिनाथ भगवान्, श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान्, श्री नमिनाथ भगवान्, श्री नेमिनाथ भगवान्, श्री पार्श्वनाथ भगवान् एवं श्री महावीर भगवान् का सर्वविध स्तवन, वन्दन, चरणाभिनन्दन किया गया है। भगवान् महावीर यदि क्षीर हैं तो आचार्यश्री अपने को नीर मान रहे हैं और उनकी विनती है कि वे इस प्रार्थयिता को अपने से एकात्म कर लें।

७. पूर्णोदय-शतक (१९ सितम्बर, १९९४)

इस संकलन में आचार्यश्री द्वारा श्रावकों और मुमुक्षुओं के लिए तत्त्व की बात बताई गई है, तरह-तरह के उपदेश दिए गए हैं, करणीय-अकरणीय का सन्देश दिया गया है, पाप-पुण्य और दोनों से ऊपर उठने का सन्देश-निरूपण हुआ है ताकि साधकों में पूर्णता का उदय हो सके। प्रस्तुत संकलन का भी शुभारम्भ गुण-गण-घन के प्रति प्रणिपात से हुआ है। वन्दन, नमन, समर्पणभाव की अजस्र भावधारा के प्रवाहण के बाद आचार्यश्री ने उपदेशामृत की धारासार वृष्टि की है। उन्होंने बताया है कि स्वार्थ और परमार्थ का ही यह परिणाम था कि कौरव रौरव में गए और पाण्डव शिवधाम गए। पारसमणि के तो स्पर्श से लोहा सोना बनता है परन्तु भगवान् पारसनाथ के दर्शन मात्र से मोह का विनाश और पारमार्थिक कल्याण हो जाता है, उपासक स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। नाग स्थल पर ही मेंढक को निगलता है, जल में नहीं। इसी प्रकार जो भी निज-स्वभाव से बाहर गया उसे कर्म दबा देता है। उनका उपदेश है कि यदि आत्म-कल्याण चाहते हो तो देह-गेह का नेह छोड़ दो। यह स्नेह (तैल) ही है जिसके जलने से उजाला होता है। यदि दूसरों के आँसुओं को देखकर द्रष्टा की आँखें न भर जायँ तो उसका मात्र पूछना और पोंछना किस काम का ? साधक आत्म-कल्याणार्थी को चाहिए कि वह बड़े-बड़े पाप न करे और बड़ी-बड़ी भूल भी न करे ताकि उसकी पगड़ी की लाज बनी रहे। उनका उपदेश है कि साधु-सन्तों द्वारा प्रणीत शास्त्रों का स्वाध्याय किया जाय ताकि मोह नष्ट हो और प्रतिष्ठा प्राप्त हो। देश वही मज़बूत है जिसमें धर्म की सम्पत्ति हो, भवन वही टिक सकता है जिसकी नींव मज़बूत हो। गलती देखकर यदि हम सही पाने को विकल हो जायँ तो वह गलती भी किसी दृष्टि से उपादेय है। गिरना भी सर्वथा व्यर्थ नहीं है यदि किसी गिरे को देखकर हम उठ जायँ तो वह गिरना भी उठाने में योगदान करता है। हृदय तो मिला, पर यदि उसमें दया नहीं है और चिरकाल तक अदय ही बना रहा, तो इससे बड़ी चिन्ता की और कोई बात नहीं। प्रार्थना की गई है प्रभु से कि वह अ-दया का विलय करे। दयावान् की चिर अभीप्सा है कि भले लौकिकता से दूर पारलौकिकता मिले या न मिले, पर लोकहित की कामना और तदनुसार आचरण निरन्तर बना रहे। यही श्रेय और प्रेय है। चेतना के शोधन का यही मार्ग है।

८. सर्वोदय-शतक (१३ मई, १९९४)

पूर्वोक्त अन्य संकलनों की तरह इसका भी शुभारम्भ श्री गुरुपाद वन्दन तथा माँ भारती के स्तवन-वन्दन के साथ किया गया है। आचार्यश्री की प्रतिश्रुति है :

"सर्वोदय इस शतक का, मात्र रहा उपदेश।
देश तथा परदेश भी, बने समुन्नत देश ॥ ५ ॥"

'बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय'—की जगह ' सबजन सुखाय - सबजन हिताय' का संकल्प कहीं अधिक सात्त्विक और सुखकर है। उनकी विचारणा है कि वे सबमें गुण ही गुण सदा खोजते रहें और अपने भीतर देखते रहें कि दाग कहाँ

शेष रह गया है। जब तक दाग नहीं मिटता, तब तक गुणों के सद्भाव की सम्भावना ही कहाँ होगी ? जिस प्रकार मक्खी अपने पैरों को साफ करके उड़ती है, साधक को भी चाहिए कि वह हर तरह के संग को त्यागकर निर्बाध डुबकी लगाए। साधु को चाहिए कि वह स्वाश्रित भाव से समृद्ध होकर रहे, न कि गृही की भाँति रहे। वस्तुत: साधक जब तक सिद्ध नहीं बनता तब तक शुद्ध का अनुभव उसे किस प्रकार सम्भव है ? क्या दुग्धपान से कभी घृतपान सम्भव है ? साधना वही अन्वर्थ है जिसमें अनर्थ न मिला हो। मोक्ष भले न मिले, पर पाप के गड्ढे से सदा दूर रहे। छोटा कंकड़ भी डूब जाता है और स्थूल काष्ठ भी नहीं डूबता--इसमें तर्क व्यर्थ है। यह तो स्वभाव-स्वभाव की बात है। यदि पुरुष सन्त है तो पाप भी राग का ध्वंस उसी तरह कर देता है जिस तरह गर्म पानी भी आग को शान्त कर देता है। भारत का साहित्य कुछ और ही है, शेष देशों के साहित्य की बात क्या कहूँ, हो सकता है--उनमें लालित्य? जिसकी चेतना में भगवान् का वास हो--वहाँ जड़ताधायक राग का त्याग क्यों न हो ? चकवा को चन्द्र मिल जाय क्या तब वह चकवी का त्याग नहीं कर देता ?

प्रारम्भिक रचनाएँ

१. आचार्य श्री १०८ शान्तिसागर जी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि (१९७१)

इस संकलन में आचार्यश्री की प्रारम्भिक रचनाएँ संकलित हैं। इसमें आपने शान्तिसागरजी का मूल वासस्थान मैसूर, बेलगाँव, भोज तथा उस क्षेत्र में प्रवाहित होने वाली दूधगंगा तथा वेदगंगा जैसी नदियों के वर्णन के बाद भोज में स्थित कृषिकलाविज्ञ दयावान् मनुजोत्तम भीमगौड़ा का स्मरण किया गया है। वे पुण्यात्मा तथा वीरनाथ के धर्म के परमभक्त थे। उनकी तरह उनकी पत्नी भी सीता के समान सुन्दर और सुनीतिमान थीं। उनके दोनों बच्चे भी सूर्य-चन्द्र के समान सुशान्त प्रकृति के थे। ज्येष्ठ पुत्र था -- देवगौड़ा और कनिष्ठ था सातगौड़ा। शैशवकाल में ही सातगौड़ा की पत्नी के अवसान हो जाने पर पुन: विवाह का जब प्रसंग आया तब उसने माँ से कहा -- 'माँ, जग में सार और पुनीत है-- जैन धर्म, अत: मेरी इच्छा है कि मैं मुनि बनूँ'। यह प्रस्ताव सुनकर माँ खिन्न हो उठी, पर पुत्र का हठ बना रहा। वह अपने संकल्प पर अड़ा रहा और श्री देवेन्द्रकीर्तिजी से दीक्षा ग्रहण कर ली और मोक्षमार्ग पर आरूढ़ हो ही गया। उनके शील-सौजन्य और तप का क्या कहना ? फिर एक बार शेडवाल गुरुजी पधारे। और आपके धर्मोपदेश का ही यूँ प्रभाव है :

"भारी प्रभाव मुझ पै तब भारती का,
देखो पड़ा इसलिए मुनि हूँ अभी का।"

जन्म होगा, तो मरण होगा ही। इस नियम के अनुसार आचार्यवर्य गुरुवर्य ने अन्तत: सल्लेखनापूर्वक मरण हेतु समाधि ले ही ली। इसे देख मही में सारी जनता दु:खी हो उठी। अस्तु, आचार्यवर्य जहाँ भी गए हों, वहीं स्तुतिसरोज भेजता हूँ। इस प्रकार आचार्यश्री ने उनके पाद-द्वय में अपना भाल नवा दिया।

२. आचार्य श्री १०८ वीरसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि (१९७१)

हैदराबाद राज्य एक सुललित राज्य है। उसी के अन्तर्गत है -- औरंगाबाद जिला। बड़ा ही शान्त स्थान है। यहीं एक जगह है -- ईर, जिसके समान अमरावती में भी वैभव नहीं है। वहाँ एक जिनालय है। उसी ईर ग्राम में एक वृषनिष्ठ सेठ थे श्री रामचन्द्र। वे नामानुरूप गुणैकधाम थे। उनकी पत्नी भी मनमोहिनी सीतासमा परमभाग्यवती थी। इनकी कोख से दो शिशु जन्मे जो परम सुन्दर और सबके लाड़ले थे। उनका नाम था--श्री गुलाबचन्द्र तथा हीरालाल। माँ ने अपनी इच्छा सास बनने की व्यक्त की और लाड़ले के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। पर बेटे ने विवाह की अनिच्छा ही व्यक्त की। माता इस निश्चय को सुनकर दु:खी हुई, पर बेटा अपने संकल्प पर दृढ़ बना रहा। हीरालाल यह कहकर

गुरुवर्य शान्तिसागर के पास चला गया और उनसे दीक्षा ग्रहण 'वीरसागर' अन्वर्थ नाम ग्रहण किया। मुनि सुलभ चर्या ग्रहण की, अत: लोगों के बीच बड़े परमपूज्य हुए। श्रीगुरु से सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त हो गया था। वे स्वाध्याय लीन रहकर निरन्तर दोषप्रक्षालन करते रहते थे। आपके प्रथम शिष्य थे योगी शिवसागरजी और दूसरे शिष्य थे सिद्धमूर्ति जयसागरजी। वैसे तो श्रुतसागर प्रभृति भी शिष्यगण थे। अन्तत: आपने सल्लेखनामरण की भावना से समाधि ली। वे जहाँ भी गए हों, आचार्यश्री ज्ञानसागरजी का प्रथम शिष्य विद्यासागर अपने स्तुति-सरोज वहाँ भेज रहा है।

३. आचार्यश्री १०८ शिवसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि (१९७१)

औरंगाबाद के पास एक छोटी सी जगह है--अड़पुर। वहाँ न्यायमार्गाधिरूढ़ धर्मात्मा लोग हैं। उनमें श्री नेमीचन्द जी राँवका की पत्नी श्रीमती दगड़ाबाईजी मृगाक्षी थीं। उनका बच्चा हीरा से भी अधिक रुचिवाला हीरालाल था। इनकी जवानी का सौन्दर्य देखकर सारी कुमारियाँ कामपीड़ित हो उठती थीं। माँ ने युवावस्था देख विवाह का प्रस्ताव रखा, पर उन्होंने कहा कि विवाह करना ही चाहती हो तो मेरा विवाह मोक्षरूपी रमा से कर दो। माता का नेत्र अश्रुप्लावित हो उठा। पर उन्होंने समझाया कि इस भवविपिन में मेरा-तेरा कौन ? मुझे तो दीक्षा लेकर श्रमण बनना है, धर्म का स्वाद लेना है। मैं शम-दम का पालन करूँगा और आत्मा को पहचानूँगा। फिर तो विरक्त हो, स्वभाव में प्रतिष्ठित हो गए। आचार्यश्री अपनी श्रद्धांजलि उन्हें भी दे रहे हैं।

४. आचार्यश्री १०८ ज्ञानसागरजी महाराज के पावन चरणारविन्द में हार्दिक श्रद्धांजलि (१९७३)

"जय हो ज्ञानसागर ऋषिराज,
तुमने मुझे सफल बनाया आज।
और इक बार करो उपकार,
मम प्रणाम तुम करो स्वीकार" ॥ २० ॥

इस खण्ड के अन्त में कुछ अन्य भक्ति गीत (१९७१) भी संकलित कर दिए गए हैं, जिनके शीर्षक हैं– 'अब मैं मम मन्दिर में रहूँगा,' 'परभाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर,' 'मोक्षललना को जिया ! कब बरेगा ?,' 'भटकन तब तक भव में जारी,' 'बनना चाहता यदि शिवांगना पति,' 'चेतन निज को जान जरा' तथा 'समाकित लाभ'। इन सबके साथ एक रचना है, 'My self' जिसमें उन्होंने बताया है कि उनकी प्रकृति नि:संगता की है। मैं अपना शिक्षक स्वयं हूँ। इन गीतों में भी मुनिसुलभ भाव और विचार की तरंगें लहरा रही हैं, इन्हें पढ़ते ही बनता है, मन भींग-भींग उठता है।

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' (चार)

यह खण्ड गद्य शैली में निबद्ध है। इस खण्ड में कुल नौ उपखण्ड हैं - प्रवचनामृत, गुरुवाणी, प्रवचन पारिजात, प्रवचन पंचामृत, प्रवचन प्रदीप, प्रवचन पर्व, पावन प्रवचन, प्रवचन प्रमेय तथा प्रवचनिका।

प्रवचनामृत (१९७५)

इस उपखण्ड में फिरोजाबाद, उत्तरप्रदेश में प्रदत्त कुल सत्रह प्रवचन निम्नलिखित शीर्षकों से संग्रहीत हैं -- समीचीन धर्म, निर्मल दृष्टि, विनयावनति, सुशीलता, निरन्तर ज्ञानोपयोग, संवेग, त्यागवृत्ति, सत्-तप, साधु-समाधि-सुधा-साधन, वैयावृत्य, अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, शिक्षा-गुरु स्तुति, भगवद्भारती भक्ति, विमल आवश्यक, धर्म-प्रभावना तथा वात्सल्य। जैन शास्त्र को हृदयंगम करने में ये प्रवचन नितान्त मनोरम और उपादेय हैं।

आचार्य समन्तभद्र मानते हैं कि ***समीचीन धर्म*** कर्मों का निर्मूलन करता है। और प्राणिमात्र को दु:खों से

उबारकर सुख प्रदान करता है। परमेष्ठियों ने बताया है कि समीचीन दृष्टि, ज्ञान और सदाचरण की समष्टि ही धर्म है। ***निर्मल दृष्टि*** से उनका अभिप्राय है तत्त्व-चिन्तन से दृष्टि में आने वाली निर्मलता। दर्शन विशुद्धि का वास्तविक अभिप्राय यही है। तत्त्व-मन्थन से ***विनय*** गुण भी उपलब्ध होता है जो विनयशील के प्रत्येक व्यापार से झरता रहता है। यह सिद्धत्व-प्राप्ति का मूल है। ***'सुशीलता'*** में शील का अर्थ स्वभाव है जिसकी प्राप्ति के लिए निरतिचार व्रत का पालन करना पड़ता है। जीवन को शान्त और सबल रखना ही निरतिचार है—यह आत्मानुशासन से ही सम्भव है। ***संवेग*** सराग सम्यग्दर्शन के चार लक्षणों में से एक है। इसका अर्थ है संसार से भयभीत होना। आत्मा के अनन्त गुणों में भी यह एक गुण है। ***संवेग*** से दृष्टि लक्ष्य पर एकाग्र हो जाती है। ***त्याग*** से मतलब है विषयों का त्याग। उनमें अनासक्ति। यह तभी सम्भव है जब निजी सम्पत्ति की पहचान हो जाय। जागरूक ही त्याग कर सकता है। ***सत् तप :*** दोषनिवृत्ति के लिए समीचीन तप परम रसायन है और एतदर्थ निवृत्ति के मार्ग पर जाना श्रेयस्कर है। ***साधु-समाधि सुधा-साधन :*** इसमें साधु-समाधि का अर्थ है—आदर्श मृत्यु अथवा सज्जन का मरण। तत्त्वत: हर्ष-विषाद से परे आत्मसत्ता की सतत अनुभूति साधु-समाधि है। आदर्श मौत वही है जिसे मौत के रूप में न देखा जाय। यह तभी सम्भव है जब हमें अपनी शाश्वतता का भान हो जाय। ***वैयावृत्य :*** इसका अर्थ है—सेवा। तत्त्वत: देखा जाय तो पर-सेवा से अपने मन की वेदना मिटाकर सेवक अपनी ही सेवा करता है। दूसरे तो मात्र निमित्त हैं। ***अर्हत् सेवा*** है पूज्य की उपासना। वास्तविक भक्ति यही है। अर्हत् होने की योग्यता प्रत्येक उपासक में विद्यमान है। अत: उसकी अभिव्यक्ति के लिए उसे अपने में ही डूबना होगा, समर्पित होना होगा। बाहर का पूज्य तो मात्र निमित्त है। इसी प्रकार ***आचार्य-स्तुति*** का भी मर्म समझें। अरिहन्त परमेष्ठी के बाद आचार्य परमेष्ठी स्तुत्य हैं, क्योंकि वही शिष्य को तत्त्व-बोध कराकर तत्त्वात्मा बना देता है। वस्तुत: मोक्षमार्ग में आचार्य से ऊँचा पद साधु का है। आचार्यत्व तो उसकी एक उपाधि है जिसका विमोचन मुक्ति-प्राप्ति से पूर्व होना अनिवार्य है। आचार्य उपदेश और आदेश तो देता है पर साधना पूरी करने के लिए साधु पद को अंगीकार करता है। ***शिक्षा गुरु*** को उपाध्याय माना जाता है। वह स्तुत्य इसलिए है कि वह स्वयं संसार की प्रक्रिया से दूर रहकर साधक को भी वह प्रक्रिया बताता है। ***भगवद् भारती भक्ति*** में वचन की अपेक्षा प्रवचन की महत्ता का गान है। साधारण रूप से बोले गए शब्द वचन हैं, पर अज्ञान का ज्ञान और अनुभव प्राप्त करके जो विशिष्ट शब्द बोले जाते हैं, वे प्रवचन हैं। वचन का द्रव्यश्रुत से और प्रवचन का भावश्रुत से सम्बन्ध है। भावश्रुत अन्दर की पुकार है। ***विमल आवश्यक*** में बताया गया है कि समल अनावश्यक कर्म करता है और विमल या अवशी (इन्द्रिय और मन के वश में न रहने वाला) ही आवश्यक कार्य सम्पन्न करता है। स्वभाव में प्रतिष्ठित होने के अनुरूप किया जाने वाला कार्य ही आवश्यक है न कि विषयवासनातर्पक। ***धर्म प्रभावना*** में उस भावना को प्रकृष्ट माना गया है जो आत्मतत्त्व प्राप्ति विषयक हो। गन्तव्य की ओर ले जाने वाला मार्ग ही धर्म है, अत: उसकी प्रभावना ही धर्म प्रभावना है। ***वात्सल्य*** है समानधर्मियों के प्रति करुणभाव—सजातियों के प्रति करुणभाव। साधुजनों के प्रवचन में यही भाव झरता रहता है। प्रवचन ही क्यों, सभी व्यवहार में। मनुष्य में प्रेम की एक ऐसी डोरी है जो सजातियों को बाँध लेती है।

गुरुवाणी (१९७९)

इस उपखण्ड में जयपुर, राजस्थान में हुए प्रवचनों की साररूप कुल आठ गुरुवाणियाँ संकलित हैं। और वे इस प्रकार हैं – आनन्द का स्रोत—आत्मानुशासन, ब्रह्मचर्य—चेतन का भोग, निजात्मरमण ही अहिंसा है, आत्मलीनता ही ध्यान, मूर्त से अमूर्त, आत्मानुभूति ही समयसार, परिग्रह तथा अचौर्य।

आत्मानुशासन : सभी समस्याओं का एक समाधान है—अनुशासन, और सभी समस्याओं का एक कारण है - अनुशासनहीनता। कर्तृत्वगत स्वातन्त्र्य को बुद्धिगत विवेक से ही आचरण में उतारा जा सकता है। स्व=आत्मा, तन्त्र

=अधीनता, स्वातन्त्र्य=आत्माधीनता—आत्मानुशासन । सत्-असत् के बीच विवेक का जागरूक रहना ही आत्मानुशासन है। ***ब्रह्मचर्य*** का एक तो प्रचलित पुराना अर्थ सर्वविदित है, पर उसके अर्थ में एक नयापन भी है और वह है परोन्मुखीवृत्ति या चित्तप्रवाह को स्व की ओर मोड़ना। भोग के रोग से निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है। ***निजात्मरमण ही अहिंसा है***—दूसरों को पीड़ा न देना भी अहिंसा है पर यह अधूरी अहिंसा है। वास्तविक अहिंसा तब आती है जब आत्मा से राग-द्वेष का परिणाम समाप्त हो जाय। द्रव्य अहिंसा से बड़ी है—भाव अहिंसा। इसी से स्व-पर का कल्याण सम्भव है। ***आत्मलीनता ही ध्यान है***— ध्यान एक ऐसी चित्त की एकाग्रवृत्ति है जो सभी में सम्भव है, पर अधिकांश में वह संसार की ओर रहती है, उसी पर मन टिका रहता है। उसे परावृत्त करना है, आत्मा की ओर मोड़ देना है तभी धर्मध्यान और शुक्लध्यान होगा और यही ध्यान मोक्ष का हेतु है। आर्तध्यान-रौद्रध्यान संसार के हेतु हैं। ***मूर्त से अमूर्त :*** आत्मा की दो दशाएँ हैं— स्वभावस्थ और विभावस्थ या वैभाविक। प्रथम अवस्था में वह स्वभावतः अमूर्त है, पर दूसरी अवस्था में वह मूर्त है। यदि वैभाविक आत्मा को वीतराग मिल जाय तो वह अपने अमूर्त स्वभाव में आ जायगा। मूर्त दशा से अमूर्त दशा में आ जायगा। ***आत्मानुभूति ही समयसार :*** समयसार में समय का अर्थ है-'सम्यक् अयन'—गमन करने वाला। गति का अर्थ जानना भी होता है। इस प्रकार समय अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण-पर्यायों की अनुभूति करता है। उसका सार है—समयसार अर्थात् शुद्धात्मा। इस प्रकार समयसार आत्मानुभूति का ही तत्त्वतः दूसरा नाम है। मात्र जानना समयसार नहीं है। ***परिग्रह :*** मात्र बाह्य वस्तुओं का ग्रहण परिग्रह नहीं है। वस्तुतः मूर्च्छा ही परिग्रह है, उन वस्तुओं के प्रति लगाव ही परिग्रह है, आसक्ति ही परिग्रह है। आसक्ति ही आत्मा को बाँधती है। ***अचौर्य :*** चौर्य-भाव के त्याग का संकल्प लेने से 'पर' के ग्रहण का भाव चला जायगा। जब दृष्टि में वीतरागता आ जायगी, तब राग में भी वीतरागता दृष्टिगोचर होने लगेगी। जब चेतना से चौर्य भाव गया, तब सर्वत्र अचौर्य दृष्टिगोचर होने लगेगा। इसीलिए कहा जाता है कि घृणा चोर से नहीं, चौर्य भाव से करना चाहिए।

प्रवचन पारिजात (१९७८)

इस उपखण्ड में नैनागिरि, छतरपुर, मध्यप्रदेश में हुए सात वक्तव्य संकलित हैं। वे हैं — जीव-अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बन्ध तत्त्व, संवर तत्त्व, निर्जरा तत्त्व, मोक्ष तत्त्व, अनेकान्त। जैन धारा में कुल सात तत्त्व हैं :

जीव-अजीव : जीव तत्त्व को प्राथमिकता इसलिए प्राप्त है कि उसमें संवेदन क्षमता है। भुक्ति और मुक्ति दोनों संवेदनगोचर हैं। जीव ही प्रत्येक तत्त्व का भोक्ता है। अजीव में संवेदनक्षमता नहीं है। वैभाविक स्थिति से स्वाभाविक स्थिति में आने पर उसे ही मुक्तता का संवेदन होने लगता है। अनादिकाल से कर्म, नोकर्म और भावकर्म रूप अजीव का जीव के साथ सम्बन्ध चला आ रहा है। इस सम्बन्ध के आत्यन्तिक निरास से ही मुक्तता संवेदनगोचर हो सकती है। अनादिकाल से प्राप्त काषाय से पुद्गल (कार्मण वर्गणारूप) में कर्मात्मक परिणति, कर्म से शरीर, शरीर से इन्द्रियादि की रचना और फिर उनसे विषयों के ग्रहण की परम्परा चलती रहती है, जिससे बन्ध होता है। आत्मा के स्वभाव का अन्यथा भवन या विभावन होने लगता है। मोक्षमार्ग में आरूढ़ होने पर जीव विभाव से स्वभाव में आकर मुक्तता का अनुभव करता है।

आस्रव : स्रव का अर्थ है—बहना, आस्रव का इसका विपरीतार्थ है—सब ओर से आना। कर्मों का आस्रव आत्मा की ही 'योग' नामक वैभाविक स्थिति से होता है। आचार्यों ने पारिणामिक भावों में प्रख्यात तीन (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व) के अतिरिक्त इसे भी माना है। इसके न मानने से आत्मा का स्वातन्त्र्य प्रतिहत होता है। इस आस्रव के पाँच द्वार हैं — मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन पाँच में मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी को भी रख रखा है। अशुभ लेश्या को शुभ्रतम बनाने से अनन्तानुबन्धी भी चली जाती है। फलतः सारे आस्रव रुक जायँगे।

बन्ध तत्त्व : कर्म प्रदेशों का आत्मप्रदेशों से एक क्षेत्रावगाह हो जाना ही बन्ध है। राग-द्वेष रूप कषाय की आर्द्रता से

पौद्गलिक कर्म आत्मा से चिपक जाते हैं, फिर उसका ऊर्ध्वगमनात्मक स्वभाव अवरुद्ध हो जाता है। कर्म और आत्मा की एकमेकता ही बन्ध है। इस कर्मबन्ध की परम्परा को समाप्त करने के लिए अविपाक निर्जरा की सहायता ली जानी चाहिए।

संवर तत्त्व : संसार के निर्माता आस्रव और बन्ध हैं और मोक्ष के निर्माता संवर और निर्जरा हैं। आस्रव का निरोध ही संवर है। कर्मों के आस्रव रूप प्रवाह को हम अपने पुरुषार्थ के बल पर उपयोग रूप बाँध के द्वारा बाँध देते हैं। तब कर्मों के आने का द्वार रुक जाता है, संवरण हो जाता है। उपयोग आत्मा का अनन्य गुण है। यही आत्मशक्ति उस प्रवाह का संवरण कर सकती है।

निर्जरा : कर्मों का आना तो संवृत हो गया, पर जो कर्म आत्मा पर कषाय की आर्द्रता से चिपक गए हैं, उनकी निर्जरा करनी है, उन्हें हटाना है। अष्टविध कर्मों का साँप छाती पर चढ़ा बैठा है और हम मोह की नींद में खरटि भर रहे हैं। निर्जरा का आशय है कि अन्दर के सारे के सारे विकारों को निकाल कर बाहर फेंक देना। मोक्ष निर्जरा का ही फल है।

मोक्ष तत्त्व : संसारी आक्रमण यानी बाहर की ओर यात्रा कर रहा है और मुक्तिकामी को प्रतिक्रमण यानि भीतर की ओर यात्रा करना है। यही अपने आप की उपलब्धि है। कृतदोष-निराकरण ही प्रतिक्रमण है। दोषों से, कषाय की आर्द्रता से आत्मा को मुक्त करना, तप से उसे सुखा देना ही मुक्ति का मार्ग है। दोषमुक्त होते ही ऊर्ध्वगमनात्मक स्वभाव सक्रिय हो जाता है, मुक्ति हो जाती है। मुक्ति विमोचनार्थक 'मुंच' धातु से निष्पन्न है यानी छोडना है पाप को, वह छोड़ा जाता है। मुक्ति पाने का उपक्रम यही है कि सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र को अपना कर निर्ग्रन्थ हो जायँ।

अनेकान्त : प्रथमानुयोग में पौराणिक कथा, करणानुयोग में भौगोलिक कथा, चरणानुयोग में आचार कथा तथा द्रव्यानुयोग में आगम और अध्यात्म की बात आती है। अध्यात्म में तो सबका साम्य हो जाता है, पर आगम सबके अलग-अलग हैं। आगम के भी दो भेद हैं -- कर्म सिद्धान्त और दर्शन। कर्म सिद्धान्त को भी सबने स्वीकार किया है, पर दर्शन के क्षेत्र में तत्त्वचिन्तक अपने-अपने गन्तव्य के अनुरूप विचार करते हैं। ऐसी स्थिति में अल्पज्ञता वैचारिक संघर्ष का कारण बन जाती है। हमें संघर्ष से बचना है। षट्दर्शन के अन्तर्गत वस्तुत: जैन दर्शन कोई अलग दर्शन नहीं है। वह इन छहों को सम्मिलित करने वाला दर्शन है। सब को एकत्र करके समझने - समझाने वाला दर्शन है - जैन दर्शन। समता में प्रतिष्ठित ही इसे ठीक समझ सकता है। समता अनेकान्त का हार्द है। हम दूसरे की बात समतापूर्वक सुनें और समझें और उसमें अन्तर्निहित 'दृष्टि' को पकड़ें। निश्चय भी एक सापेक्ष दृष्टि है। विषमता में स्थित ग्राहक संघर्षशील होगा तो समता में स्थित निर्णय लेने वाला निष्पक्ष होगा। पक्ष हमेशा एकांगी होता है। स्याद्वादी के समक्ष कोई समस्या नहीं होती, क्योंकि वह समझता है कि जिस सापेक्ष दृष्टि से बात या पक्ष रखा गया है वह उस दृष्टि से ठीक है, पर वही ठीक है, ऐसा नहीं। स्यात् वह ठीक है। न्याय एकांगी होकर नहीं होता। न्याय तो अनेकान्त से ही होता है। स्याद्वादी ही सही निर्णय लेने में सक्षम है। विचार वैषम्य का कारण है—संकीर्णता। दृष्टि को व्यापक बनाइए। वस्तु अनन्त धर्मात्मक होती है और ज्ञान वस्तु तन्त्र को जानने रूप होता है। इन अनन्त धर्मों में कुछ विधेयात्मक हैं और अनल्प निषेधात्मक। वक्ता पता नहीं किस धर्म को पकड़कर क्या कह रहा है, अत: ग्राहक को चाहिए कि वह समता में स्थिर रहकर व्यापक दृष्टि से वक्तव्य को ग्रहण करे। अनेकान्तात्मक होता है ज्ञान, जिसके निरूपण में सहायक है— नयवाद। भगवान् ने अपने ज्ञान की प्ररूपणा नयवाद से ही की है। अनेकान्त का अर्थ है—अनेक धर्म जिसमें हों, वह वस्तु अनेकान्तात्मक या अनन्त धर्मात्मक वस्तु है। अनेकान्त कोई वाद नहीं है। वाद है—स्याद्वाद, जिसका अर्थ ही है- कथंचिद्वाद, अर्थात् नयवाद। अनेकान्त का सहारा लेकर स्याद्वाद के माध्यम से प्ररूपणा होती है और ऐसी प्ररूपणा करने वाला व्यक्ति अत्यन्त धीर होता है। नय अनेकान्तक वस्तु की ओर ले जाने के कारण 'नय' कहा जाता है। इस नय से समग्र वस्तु का ग्रहण नहीं होता, इसीलिए मुख्य रूप से दो नयों की व्यवस्था है—व्यवहार नय और निश्चय नय।

व्यवहार नय का अर्थ है विश्वकल्याण और निश्चय नय का अर्थ है—आत्मकल्याण। आत्मकल्याण के लिए दोनों नयों का सहारा लेना होगा। आत्मसुरक्षा के लिए निश्चय नय और दूसरों को समझाने के लिए व्यवहार नय का प्रयोग होना चाहिए। नय शब्दभंगी है।

प्रवचन पंचामृत (१९७९)

इस उपखण्ड में मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर, राजस्थान में प्रदत्त पाँच प्रवचन संकलित हैं – जन्म : आत्म - कल्याण का अवसर, तप : आत्म-शोधन का विज्ञान, ज्ञान : आत्म-उपलब्धि का सोपान, ज्ञान कल्याणक (आत्म-दर्शन का सोपान) मोक्ष : संसार के पार।

जन्म : आत्म-कल्याण का अवसर : जन्म-कल्याणक के समय क्षायिक सम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और करोड़ों की संख्या में देव लोग आते हैं। पाण्डुक शिला पर बालक तीर्थंकर को ले जाकर जन्म कल्याणक मनाते हैं। अभिषेक, पूजन और नृत्यगान आदि करते हैं। रत्नों की वृष्टि करते हैं। जिसने आज जन्म लिया, यह जन्म लेने वाली आत्मा भी सम्यग्दृष्टि है। उसके पास मति, श्रुत और अवधिज्ञान भी है। जिनशासन में पूज्यता वीतरागता से आती है, इसलिए जन्म से कोई भगवान् या तीर्थंकर नहीं होता। अत: इस समारोह में मुनि लोग नहीं आते। जन्म शरीर का होता है, आत्मा का नहीं। वह एक पौद्गलिक रचना है। पूरण और गलन इसका स्वभाव है।

तप : आत्म-शोधन का विज्ञान : यह वह शुभ घड़ी है जब मुनि आत्मसाधना प्रारम्भ करके परमात्मा के रूप में ढल रहे हैं। वे भेद-विज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। यही भेद-विज्ञान उन्हें केवलज्ञान कराएगा। यह आत्म-साधना ही है जो केवलज्ञान तक पहुँचती है। भेदज्ञान जब जाग्रत हो जाता है तभी हेय का विमोचन और उपादेय का ग्रहण होता है। हेय का विमोचन होने पर ही उपादेय की प्राप्ति सम्भव है। अभी गन्तव्य दूर है, पर ट्रेन में बैठ गए हैं। अभी दो स्टेशनों तक और रुकना पड़ेगा। अभी तो यह केवलज्ञान से पूर्व तपश्चरण की भूमिका है। अभी तो तन, वचन और मन तपेगा, तब आत्मा शुद्ध होगी। अभी तो प्रव्रज्या ग्रहण कर परिव्राज हुए हैं, दीक्षित हुए हैं। आज सर्व परिग्रह का त्याग कर भव सन्तरण के लिए इस जीव का मोक्षमार्ग पर आरोहण हुआ है।

ज्ञान : आत्म-उपलब्धि का सोपान : यह वह समय है जब मुनिराज भगवान् बनने का पुरुषार्थ कर रहे हैं। एक भक्त की तरह भगवान् भक्ति में लीन होकर आत्मा का अनुभव कर रहे हैं। अब उन्हें संसार की नहीं, प्रत्युत स्व-समय की प्राप्ति की लगन लगी हुई है। समय की व्याख्या पहले की जा चुकी है।

ज्ञान कल्याणक (आत्म-दर्शन का सोपान) : पूर्व कल्याणक में मुनिराज हेय को छोड़ चुके हैं और जो साधना के माध्यम से छूटने वाले हैं उनको हटाने के लिए साधना में रत हुए हैं। जो ग्रन्थियाँ शेष रह गई हैं, जो अन्दर की निधि बाहर प्रकट होने में अवरोध पैदा कर रही हैं, उन ग्रन्थियों को तप के द्वारा हटाने में लगे हैं। आज मुनिराज को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है, पर केवलज्ञान मुक्ति नहीं है। संसारवर्धक भावों को हटाने के लिए आवश्यक है कि मोह और योग हटे। योग आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्दन है और मोह अर्थात् विकृत उपयोग। योग से परिस्पन्दन और मोह से कर्म-वर्गणाएँ आकर चिपक जाती हैं। मोह के अभाव में वे आकर भी चली जाती हैं।

मोक्ष : संसार के पार : मुक्ति परम पुरुषार्थ से प्राप्त हुई है। इसके पहले परम पुरुषार्थ सम्पन्न नहीं हुआ था। यह परम पुरुषार्थ ही है जिससे अव्यक्त शक्ति व्यक्त हुई और मोक्ष की प्राप्ति हो गई। आत्मा विभाव का त्याग करता हुआ स्वभाव में प्रतिष्ठित हो गया और स्वभाव से ऊर्ध्वगमनशील आत्मा यथास्थान पहुँच कर प्रतिष्ठित हो गया।

प्रवचन प्रदीप (१९८४)

इस उपखण्ड में जो वक्तव्य संकलित हैं, वे हैं –समाधिदिवस, रक्षाबन्धन, दर्शन-प्रदर्शन, व्यामोह की पराकाष्ठा, आदर्श सम्बन्ध, आत्मानुशासन, अन्तिम समाधान, ज्ञान और अनुभूति, समीचीन साधना, मानवता।

समाधिदिवस : आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज के प्रति इस प्रवचन में आचार्यश्री ने हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए श्रीगुरु की महिमा का वर्णन किया है। उन्होंने अज्ञानतिमिरान्ध शिष्य के ज्ञानचक्षु को ज्ञानाञ्जनशलाका से उद्घाटित करने वाले श्रीगुरु की तहेदिल से वन्दना की है। श्रीगुरु वह कुम्हार है जो तल से सहारा भी देता है और ऊपर से चोट देकर उसका निर्माण भी करता है। ऐसा श्रीगुरु क्यों न वन्दनीय हो जो शिष्य को गोविन्द ही बना देता है।

रक्षाबन्धन : यह एक ऐसे पर्व का दिन है जो बन्धन का होने पर भी पर्व माना जा रहा है और इसका कारण है उसकी तह में प्रेम की संस्थिति। यह बन्धन रक्षा का प्रतीक है, जो नाम से बन्धन होकर भी मुक्ति में सहायक है। इस बन्धन से वात्सल्य झरता है।

दर्शन-प्रदर्शन : भगवान् महावीर की जयन्ती पर दिए गए इस प्रवचन में आचार्यश्री ने बताया है कि उनकी उपासना से उपासक में महावीर बनने की ललक पैदा होती है। उसका गुणगान इसी ललक की अभिव्यक्ति है। उनका दर्शन-प्रदर्शन नहीं है। दर्शन स्व का होता है, प्रदर्शन दूसरों के लिए दिखावा होता है। उन्होंने स्वयं दिखावा नहीं किया, स्वरूप की अपरोक्षानुभूति की। उनका दर्शन निराकुलता का दर्शन है।

व्यामोह की पराकाष्ठा :

"मोह महामद पियो अनादि, भूल आपको भरमत वादि।"

समस्त दुःख का मूल है–मोह, मैं और मेरेपन का भाव। मोह के वशीभूत होकर संसारी प्राणी शरीर और पर-पदार्थों को भी अपना ही समझने लगता है, ममता की डाँट में वह अपने को कस लेता है। शरीर आदि के द्वारा सम्पादित क्रियाओं के मूल में अपने (मैं) को ही समझता है। जिस अहंता-ममता के बन्धन में वह अपने को बाँधता है, मरणोपरान्त वह सब यहीं धरा रह जाता है। दोनों एक-दूसरे को छोड़ देते हैं, पर यह मोह है जो आजीवन जीव को दबोचे रहता है और स्वभाव से च्युत कर देता है, आत्मा पर भारीपन लाद देता है। मोक्षमार्ग पर चलने के लिए हलका होना अपेक्षित है। एतदर्थ जागरूक रहकर अहंता-ममता का त्याग ही श्रेयो विधायक है।

आदर्श सम्बन्ध : यह आत्म तत्त्व पानी की तरह चारों गतियों में बह रहा है। उसे नियन्त्रित करना और ऊर्ध्वगामी बनाना बड़ा कठिन कार्य है। उपयोग के प्रवाह को कैसे बाँधा जाय ? इतने सूक्ष्म परिणमन वाले परिवर्तनशील उपयोग को बाँधना साधना के बिना असम्भव है। कार्य वह कठिन होता है जो पराश्रित होता है। स्वाश्रित कार्य आसानी से सध जाता है, पर एतदर्थ अपनी शक्ति को जाग्रत करना पड़ता है –**"नायमात्माबलहीनेन लभ्यः।"** प्रत्येक सम्बन्ध का उद्देश्य ऐसी शक्ति का निर्माण करना है जो विश्व को प्रकाश दे और आदर्श प्रस्तुत कर सके। भारत 'भा' में 'रत' है। वह जो बन्धन या सम्बन्ध चुनता है, उसमें एक अनुशासन होता है। सब कुछ भूल जाना, पर अपने आप को नहीं भूलना, इसी को कहते हैं दाम्पत्य बन्धन। अब दम्पती हो गए। अपनी अनन्त इच्छाओं का दमन कर लिया, उनको सीमित कर लिया। वासना परिचालित निर्नियन्त्रित व्यभिचारी सम्बन्ध अनादर्श सम्बन्ध है जो उत्थान नहीं, पतन की ओर ले जाता है। गृहस्थ को चाहिए कि वह गृहस्थाश्रम को भी आदर्श बनाए, तदनन्तर वानप्रस्थ और फिर संन्यास धारण करे।

आत्मानुशासन : कबीर ने अपना अनुभव सुनाया कि चक्की के दो पाटों की तरह संसार की चक्की चलती रहती है,

जो इसमें पड़ा कि पिसा। पर उनके लड़के कमाल ने कमाल की बात कही। उसने बताया कि केन्द्र को पकड़े रहने वाले का चक्की कुछ भी नहीं बिगाड़ सकती। कहने का आशय यह कि रहो संसार में, पर धर्म जैसे केन्द्र से जुड़े रहो, तब तुम्हारा कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं। कर्तृत्व में स्वातन्त्र्य है और बुद्धि में विवेक, तो यात्रा गन्तव्य को ले जायगी। आत्मानुशासन विवेक का ही नामान्तर है। त्याज्य-ग्राह्य, हेय-उपादेय का विवेक या भेद समझ कर चलना ही आत्मानुशासन है। सम्यग्दृष्टि साधक की जो बाह्य तप से निर्जरा होती है, वह उसके आत्मानुशासन का ही परिणाम है।

ज्ञान और अनुभूति : श्रुतज्ञान आवरण में से झाँकता हुआ प्रकाश है। यद्यपि वह आत्मा का स्वभाव नहीं है, पर आत्म-स्वभाव पाने का माध्यम अवश्य है। उसे मात्र श्रोत्रेन्द्रिय का नहीं, मन का विषय बनाना चाहिए, मन लगाकर हृदयंगम करना चाहिए। शब्द भीतरी ज्ञान तक ले जाने का माध्यम है। इस ज्ञान का प्रयोजन ध्यान है और ध्यान का प्रयोजन ज्ञान है, अनन्त सुख और शान्ति है, आत्मानुभूति है।

समीचीन साधना : प्राणिमात्र सुख चाहता है पर ऐसा सुख जो निरतिशय और अविनश्वर हो। यह अपने को ही पाने की अभीप्सा है, पर एतदर्थ साधना भी समीचीन होना चाहिए। सभी बाह्य साधन मिल जाने पर भी अन्तरंग साधना अनिवार्य है। भगवान् महावीर ने कहा था :

"यह सुख की परिभाषा, ना रहे मन में आशा।
ईदृश हो प्रति भाषा, परितः पूर्ण प्रकाशा॥"

ऐसी ही समीचीन साधना करके महावीर 'महावीर' हो गए।

"व्यक्तित्व की सत्ता मिटा दें, उसे महासत्ता में मिला दें।
आर-पार तदाकार, सत्ता मात्र निराकार॥"

मानवता :

"दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँड़िए, जब लौं घट में प्रान॥"

मानवता परदुःख-कातरता का दूसरा नाम है। 'स्व' और 'स्वीय' के दुःख से तो मानवेतर भी दुःखी हो लेता है, पर इनसे भिन्न के दुःख से भी दुःखी होने की विशेषता मनुष्य में ही होती है। यही विशेषता मानवेतर से मानव को पृथक् और विशिष्ट बनाती है। इसी विशेषता के कारण वह दूसरों के दुःख को दूर कर मानवता को चरितार्थ करता है और मानव होने को प्रमाणित करता है।

प्रवचन पर्व (१९८५)

इस संग्रह में जैन तीर्थक्षेत्र अहारजी, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश में हुए प्रवचन संकलित हैं – पर्व : पूर्व भूमिका, क्षमा धर्म, मार्दव धर्म, आर्जव धर्म, शौच धर्म, सत्य धर्म, संयम धर्म, तप धर्म, त्याग धर्म, आकिञ्चन्य धर्म, ब्रह्मचर्य धर्म, पारिभाषिक शब्दकोश।

ये प्रवचन पर्युषण पर्व पर सम्पन्न हुए हैं जो मानवीय भावनाओं के परिष्कार या उदात्तीकरण का पर्व है। अधर्माचरण से उत्पन्न होने वाले तनाव से मुक्ति दिलाना ही इसका उद्देश्य है। प्रतिवर्ष पर्युषण पर्व पर दस धर्मों का चिन्तन-मनन चलता है, जो आत्मा की खुराक है। इस खण्ड में इन्हीं दस धर्मों का निरूपण है, जिनके चिन्तन से आत्महित में प्रवृत्ति होती है।

पर्व : पूर्व भूमिका : दशलक्षण पर्व बड़ा महत्त्वपूर्ण पर्व है। कारण, दस दिन तक विभिन्न प्रकार से धर्म का आचरण करके हमें अपनी आत्मा के विकास का अवसर मिलता है। स्मरणीय यह है कि विषयों का विमोचन किए बिना धर्म- सेवन अनास्वादित ही रह जायगा।

उत्तम क्षमा : क्रोधोत्पत्ति के निमित्त प्रकाम कारण होने पर भी क्रोध का न होना क्षमा है। वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दस धर्म तो हैं ही, रत्नत्रय भी धर्म है और जीवों की रक्षा भी धर्म है। सभी तत्त्व वस्तु हैं, अतः सब का स्वभाव धर्म है। क्षमा हमारा स्वाभाविक धर्म है। क्रोध तो विभाव है। उस विभाव-भाव से बचने के लिए स्वभाव-भाव की ओर रुचि जाग्रत करना चाहिए।

उत्तम मार्दव : जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि, तप, शास्त्र और शील आदि के विषय में थोड़ा सा भी घमण्ड नहीं करता, उसमें मार्दव धर्म होता है। क्षमा की तरह मार्दव भी हमारा स्वभाव है। इसमें जो उत्तम विशेषण दिया गया है उसके पीछे यह भाव है कि उस धर्म के पालन के पीछे कोई दिखावा नहीं है। मार्दव का विरोधी कठोरता है। और यह मनोगत भाव है जो आचरण से टपकता है। अतः मन को साधना आवश्यक है। मनोगत कषाय का निवारण आवश्यक है।

उत्तम आर्जव : जो मनस्वी पुरुष कुटिल भाव या मायाचारी परिणामों को छोड़कर शुद्ध हृदय से चारित्र का पालन करता है, उसके नियम से तीसरा आर्जव नाम का धर्म होता है। योगों की वक्रता का न होना ही आर्जव है। मन, वचन और काय– इन तीनों की क्रियाओं में वक्रता नहीं होने का नाम आर्जव है। ऋजु का भाव है - ऋजुता, और ऋजुता है -सीधापन। मृदुता के अभाव में ऋजुता नहीं आती।

उत्तम शौच : जो परम मुनि इच्छाओं को रोककर और वैराग्य रूप विचारों से युक्त होकर आचरण करता है, उसको ही शौच धर्म होता है। शरीर तो स्वभाव से ही अपवित्र है। उसमें यदि पवित्रता आती है, तो रत्नत्रय से। रत्नत्रय ही पवित्र है। वस्तुतः पवित्रता शरीराश्रित नहीं है, लेकिन यदि आत्मा शरीर के साथ रहकर भी धर्म को अंगीकार कर लेती है तो शरीर भी पवित्र माना जाने लगता है।

उत्तम सत्य : जो मुनि दूसरों को क्लेश पहुँचाने वाले वचनों को छोड़कर अपने और दूसरे के हित के लिए हित करने वाले वचन कहता है, उसको चौथा सत्य धर्म होता है। क्या सत्य है और क्या असत्य है - यह जानने की कला तभी आ सकती है जब मोह का उपशम हो और माध्यस्थ भाव आ जाय। जब तक हमें अपने में सत्य को परखने की क्षमता नहीं आती तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। यह क्षमता दृष्टि में सम्यक्त्व के आने से आती है। जो सत्य को जान लेता है वह स्वयम् भी लाभान्वित होता है और दूसरों को भी उसके माध्यम से सत्य का दर्शन होने लगता है।

उत्तम संयम : व्रत एवं समितियों का पालन, मन-वचन-शरीर की प्रवृत्ति का त्याग, इन्द्रियजय–यह सब जिसको होते हैं, उसी को नियम से संयम धर्म होता है। जैसे लता की ऊर्ध्वगति और समृद्धि के लिए किसी सहारे की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार दर्शन और ज्ञान को अपनी चरमसीमा अर्थात् मोक्ष तक पहुँचाने वाला संयम ही आलम्बन और बन्धन है। जैसे लता को अपनी समृद्धि के लिए सहारा के साथ खाद-पानी की ज़रूरत होती है उसी प्रकार मुमुक्षु को संयम के साथ शुद्धभाव रखना भी अनिवार्य है। संयम से ही आत्मानुभूति होती है।

उत्तम तप : पाँचों इन्द्रियों के विषयों को तथा चारों कषायों को रोककर शुभ ध्यान की प्राप्ति के लिए जो अपनी आत्मा का विचार करता है, उसको नियम से तप धर्म होता है। तपश्चरण के बिना भवनवासी, वनवासी या संन्यासी में परिपक्वता नहीं आती। रत्नत्रय से युक्त होकर तप के द्वारा ही साक्षात् मुक्ति होती है। तप द्विविध हैं– अन्तरंग और बाह्य। बाह्य तप साधन है और अन्तरंग तप की प्राप्ति में सहकारी है। तप भी तभी तक तप है जब शरीर

स्वस्थ हो और इन्द्रियाँ भी सम्पन्न हों। वृद्धावस्था में तप नहीं होता। रत्नत्रय के साथ बाह्य और अन्तरंग– दोनों प्रकार के तपों का आलम्बन लेकर साधना करने वाला ही मुक्ति पा सकता है।

उत्तम त्याग : जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि जो जीव सारे परद्रव्यों के मोह को छोड़कर संसार, देह और भोगों से उदासीन परिणाम रखता है, उसको त्याग धर्म होता है। दान और त्याग भिन्न हैं। राग-द्वेष से अपने को छुड़ाने का नाम त्याग है। वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष के अभाव को त्याग कहा गया है। दान पर के निमित्त को लेकर किया जाता है किन्तु त्याग में पर की कोई अपेक्षा नहीं होती। त्याग स्व को निमित्त बनाकर किया जाता है।

उत्तम आकिञ्चन्य : जो मुनि सब प्रकार के परिग्रहों से रहित होकर और सुख-दुःख को देने वाले कर्मजनित निज भावों को रोककर निर्द्वन्द्वता से अर्थात् निश्चिन्तता से आचरण करता है, उसको ही आकिञ्चन्य धर्म होता है। सभी के प्रति रागभाव से मुक्त होकर अपने वीतराग स्वरूप का चिन्तन करना ही आकिञ्चन्य धर्म की उपलब्धि है।

उत्तम ब्रह्मचर्य : जो पुण्यात्मा स्त्रियों के सुन्दर अंगों के दिख जाने पर भी उनके प्रति राग रूप कुत्सित परिणाम करना छोड़ देता है, वही दुर्धर ब्रह्मचर्य को धारण करता है। उपयोग को विकारों से बचाकर, राग से बचाकर वीतरागता में लगाना चाहिए। यही ब्रह्मचर्य धर्म है। वीतराग के पास वह शक्ति है जिसके समक्ष वासना घुटने टेक देती है।

इस खण्ड में एक अत्यन्त उपादेय भाग है–पारिभाषिक शब्दकोश। आचार्यश्री के प्रवचनों में प्रयुक्त इन पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग से प्रवचनानुशीलन में आने वाला अवरोध समाप्त हो जाता है। पाठकों के लिए यह एक अत्यन्त सुविधा और सहकार है। इसका लाभ मुझे भी मिलता रहा है। यह शब्दकोश अकारादि क्रम से अत्यन्त व्यवस्थित और सुबोध रूप से रखा गया है।

पावन प्रवचन

इस उपखण्ड में तीन प्रवचन संकलित हैं– धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान, अन्तिम तीर्थंकर- भगवान् महावीर तथा परम पुरुष–भगवान् हनुमान।

धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान (१३ फरवरी, १९८३, मधुवन-सम्मेदशिखर, गिरिडीह, झारखण्ड)

पवित्र संस्कारों के द्वारा ही पतित से पावन बना जा सकता है। जो व्यक्ति पापों से अपनी आत्मा को छुड़ाकर केवल विशुद्ध भावों के द्वारा अपनी आत्मा को संस्कारित करता है, वही संसार से ऊपर उठकर मोक्ष सुख पा सकता है। धर्म इसी आत्मोत्थान का विज्ञान है। जैन धर्म प्राणिमात्र के लिए पतित से पावन बनने का मार्ग बताता है। धर्म के माध्यम से कर्मरूपी बीज को जला दिया जाय तो संसारवृक्ष की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। यह कार्य रत्नत्रय के माध्यम से सम्भव है।

अन्तिम तीर्थंकर-भगवान् महावीर (३ अप्रैल, १९८५, खुरई, सागर, मध्यप्रदेश)

भगवान् महावीर अपने नामानुरूप महावीर भी थे और वर्द्धमान भी थे। वे अपनी अन्तरात्मा में निरन्तर प्रगतिशील थे, वर्द्धमान चारित्र के धारी थे। पीछे मुड़कर देखना या नीचे गिरना उनका स्वभाव नहीं था। वे प्रतिक्षण वर्द्धमान और उनका प्रतिक्षण वर्तमान था। अपने विकारों पर विजय पाने वाले, अपने आत्मस्वरूप को प्राप्त करने वाले वे सही माने में महावीर थे।

परम पुरुष-भगवान् हनुमान (७ अप्रैल, १९८५, खुरई, सागर, मध्यप्रदेश)

हनुमानजी अंजना और पवनंजय के पुत्र थे, इसलिए पवनपुत्र कहलाते थे। उनका शरीर वज्र के समान सुदृढ़

और शक्तिसम्पन्न था। इसीलिए उन्हें कहीं-कहीं बजरंगबली भी कहा जाता है। प्रचलित वानर रूप उनका वास्तविक रूप नहीं है। वे तो सर्वगुण सम्पन्न और सुन्दर शरीर को धारण करने वाले मोक्षगामी परम पुरुष थे।

प्रवचन प्रमेय (१९८६, केसली, सागर, मध्यप्रदेश)

इस उपखण्ड में दस प्रवचन हैं। प्रसंग पंच कल्याणक का है। इस प्रसंग पर पहले भी प्रवचन हो चुके हैं पर आचार्यश्री के पास कहने को बहुत कुछ है। वे जंगम शास्त्र और मूर्तिमान् आचार हैं। ***प्रथम प्रवचन :*** उन्होंने बताया कि प्रथम दिन का यह आयोजन जिन-पथ पर चलने के लिए है, राग के समर्थन के लिए नहीं, वीतरागता के समर्थन के लिए है। जिनवाणी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार भागों में बाँटी गई है। प्रथमानुयोग बोधि और समाधि को देने वाला है। चरणानुयोग हमें चलना-फिरना सिखाता है। करणानुयोग में भौगोलिक स्थितियों का वर्णन है। द्रव्यानुयोग में हेय एवं उपादेय क्या है, इस पर गम्भीर चिन्तन है। इसमें पूरा जैन दर्शन विवेचित है। सभी तत्त्वों का निर्वचन है। इस सन्दर्भ में आगम और परमागम दो नाम आते हैं। आगम में भी दो भेद हैं– दर्शन और सिद्धान्त। दर्शन में जैन तत्त्व का और सिद्धान्त में जीव सिद्धान्त तथा कर्म सिद्धान्त का विवेचन है। इस प्रकार इसमें जैन दर्शन और सिद्धान्त का गूढ़ मर्म समझाया गया है।

द्वितीय प्रवचन : इसमें मोक्षमार्ग पर पुष्कल प्रकाश विकीर्ण किया गया है। मोक्षमार्ग ध्यान के अलावा और कुछ नहीं। वह भी उपभोग की एकाग्र दशा का नाम है। रत्नत्रय तो है ही।

तृतीय प्रवचन : इसमें आयुकर्म पर मननीय सामग्री है। अष्टविध कर्मों में आयुकर्म को छोड़कर शेष सात की निर्जरा की जाती है। कर्म के सम्बन्ध में इस प्रवचन में पर्याप्त मन्थन किया गया है। आयुकर्म की निर्जरा पर शीघ्रता नहीं होनी चाहिए। वह हमारा प्राण है। ***चतुर्थ प्रवचन :*** इसमें जन्म कल्याणक पर विचार करते हुए आचार्यश्री ने बताया है कि भगवान् का जन्म नहीं हुआ करता, वे तो जन्म पर विजय करने से बनते हैं। जन्म उनका होता है जो भगवान् बनने वाले होते हैं। इसी अपेक्षा से जन्म-कल्याणक मनाया जाता है। जानना चाहिए कि जन्म है क्या ? अठारह दोषों में एक जन्म और मरण भी गिना जाता है, पर जिस मरण के बाद जन्म नहीं होता वह मरण पूज्य हो जाता है। वैसे जन्म एक महादोष है पर भगवान् की जन्म जयन्ती इसलिए मनाई जाती है कि वे तीर्थंकर होने वाले हैं। ***पंचम प्रवचन :*** इसमें जन्म कल्याणक के बाद होने वाले दीक्षा कल्याणक का सन्दर्भ विचारार्थ आता है। इसमें हम देखते हैं कि किस प्रकार सांसारिक समस्त सुख का त्याग कर भवन से वन की ओर प्रस्थान होता है। इस त्याग से दर्शक श्रद्धालुओं में भी त्याग की भावना जन्म ले सकती है। मार्ग दो हैं– एक संसारमार्ग और दूसरा मोक्षमार्ग। इस दृश्य से संसार मार्ग से हटकर मोक्षमार्ग की ओर जाने की प्रेरणा मिलती है। जो भी मुक्ति चाहता हो उसे श्रामण्य स्वीकार करना होगा। श्रमण बनने से पूर्व किस-किस से पूछना है– 'प्रवचनसार' में इसका उत्तम वर्णन है। सबसे पहले माँ के पास जाता है और कहता है : "तू मेरी माँ नहीं है, मेरी माँ तो शुद्ध चैतन्य आत्मा है। आप तो इस जड़मय शरीर की माँ हो। इसी प्रकार पिता, पत्नी आदि से भी व्यवहार की दृष्टि से पूछता है और अन्ततः श्रामण्य स्वीकार कर लेता है। राग से वैराग्य और वैराग्य से अन्तर्मुखता। यह यात्रा परीषह और उपसर्गों से गुज़रती है। जो इस रास्ते आत्मविश्वास के साथ चलता है उसे संवर और निर्जरा भी होती है। ऐसे श्रामण्य को पुनः पुनः नमन। ***चौथे दिन के प्रवचन*** में आचार्यश्री ने कहा कि जन्मकल्याणक और दीक्षाकल्याणक के बाद आता है तपकल्याणक। तपोलीन को ज्ञानोपलब्धि होती है। मुनिराज के पास किसी प्रकार की ग्रन्थी/परिग्रह नहीं रहता। कारण, शुद्धोपयोग ही उनकी चर्या है। दिगम्बर चर्या बड़ी कठिन है। यही प्रव्रज्या है, यही श्रामण्य है, यही जिनत्व है, यही चैत्य और चैत्यालय है। मतलब यही सर्वस्व है। ***अष्टम प्रवचन*** में धर्म-पुरुषार्थ

के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मुनिराज के केवलज्ञानोपलब्धि की चर्चा है। केवली तत्त्वत: तो अपने को जानता है, पर व्यवहारत: स्व और पर दोनों को जानता है। ऐसे अर्हन्त की भक्ति की जानी चाहिए। एक समय था जब सम्यग्दर्शन के साथ दोनों धर्म हुआ करते थे—मुनि धर्म और श्रावक धर्म। पहला मुक्ति में साक्षात् कारण होता था और दूसरा परम्परया। परन्तु आज दोनों ही धर्म-परम्परा से ही मुक्ति के लिए कारण हैं। कारण, आज साक्षात् केवलज्ञान नहीं होता। इसलिए आचार्यश्री का कहना है कि इस तथ्य को सही-सही समझकर अपने मार्ग को आगे तक प्रशस्त करने का ध्यान रखना है। *नवम प्रवचन* में आचार्यश्री का कहना है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म—इन तीनों कर्मों से अतीत होकर के सच्चे अर्थों में उस आत्मा का जन्म तो अब हुआ है। सिद्ध परमेष्ठी की सही जन्म जयन्ती अब हुई है। निर्वाण कल्याणक में कुछ और ही आनन्द है। कल तक समवसरण की रचना थी। तब वे अर्हन्त परमेष्ठी माने जाते थे। उस समय तक केवलज्ञान था, पर मुक्ति नहीं थी। सत्ता मिलने का आश्वासन और बात है तथा सत्ता का हस्तान्तरण और बात है। परमेष्ठियों के भी कई सोपान हैं— साधु परमेष्ठी, उपाध्याय परमेष्ठी, आचार्य परमेष्ठी, अरहन्त परमेष्ठी, सिद्ध परमेष्ठी। अरहन्त रूप तीर्थंकर भी सिद्ध परमेष्ठी को नमन करते हैं। सिद्ध सबके आराध्य हैं - शेष सभी आराधक हैं। अरहन्त परमेष्ठी भी भगवान् नहीं हैं—उन्हें उपचारत: भगवान् कहा जाता है। साधु की साधना छठे गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक होती है। सिद्ध परमेष्ठी चौदहवें गुणस्थान को भी पार कर जाते हैं। इन्हें शाश्वत सिद्धि प्राप्त हो जाती है। फिर भी अरहन्त को पहले इसलिए प्रणाम करते हैं कि वे हमें दिखते हैं और उपदेश देते हैं। ***दसवें प्रवचन*** में गजरथ महोत्सव की बात की गई है और प्रसंगत: दान और ध्यान के विभिन्न रूपों की भी बात की गई है। दान में धनदान, शास्त्रदान, भूदान आदि के बीच शास्त्रदान तत्त्वत: उपकरणदान है। जहाँ तक ध्यान का सम्बन्ध है—एक है अपायविचय धर्मध्यान। आज्ञाविचय धर्मध्यान से इसकी महत्ता इसलिए अधिक है कि इसमें सबके कल्याण की भावना है। इस प्रकार की बहुत-सी बातें करते हुए अन्तत: उन्होंने जैन-अजैन सबसे कहा है कि वे लोग धर्म की भावना दिन दूनी-रात चौगुनी करते रहें।

प्रवचनिका (१९९३, सागर, मध्यप्रदेश)

इस उपखण्ड में कुल छह प्रवचन हैं— प्रारम्भ, श्रेष्ठ संस्कार, जन्म-मरण से परे, समत्व की साधना, धर्मदेशना तथा निष्ठा से प्रतिष्ठा। ***प्रारम्भ :*** इस प्रवचन में आचार्यश्री ने कहा है कि अभी ध्वजारोहण हुआ है, अब पंचकल्याणक होंगे। अतीत में यह घटना किस प्रकार घटित हुई होगी, इस पर विचार की प्रतिश्रुति भी दी गई है और इस विवरण के मूल में जाने का उद्देश्य यह है कि हम भी मोह का त्याग करें। पर यह सब साधन हैं और साध्य हम स्वयं हैं। भरत चक्रवर्ती को काम-पुरुषार्थ तथा अर्थ-पुरुषार्थ ने आकृष्ट नहीं किया, परन्तु जब सेवक से यह सुना कि आदिनाथ भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया है तो इस सूचना पर प्रसन्न होकर तत्काल सपरिवार भगवान् आदिनाथ के समवसरण में सम्मिलित होने चले गए। हमें भी इस घटना से प्रेरणा लेनी चाहिए और संसार के तमाम प्रलोभनों से हटकर मोक्ष-पुरुषार्थ की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। इन या ऐसे आयोजनों से हमारी दृष्टि में परिवर्तन होना चाहिए। दृष्टि के ऊपर ही हमारे भाव निर्भर हैं। जैसे-जैसे दृष्टि अन्तर्मुख होती जाती है, भाव भी अपने आप शान्त होते जाते हैं। अन्तत: उनका यही अनुरोध रहा कि चक्रवर्ती की भाँति भावना हमारे, आप सबके भीतर आए। ***श्रेष्ठ संस्कार :*** इसमें बताया गया है कि उपादान में उत्तम सम्भावना है, पर निमित्त या नैसर्गिक संस्कार से ही उत्तम सम्भावना उपलब्धि बनती है। जल की बूँद में मोती बनने की सम्भावना है, पर एक तो वह स्वाति नक्षत्र की हो, दूसरे वह समुद्र की खुले मुँह वाली सीपी में ही पड़े और फिर वह मुख बन्द कर सागर में नीचे चली जाय, तभी मोती रूप में

परिणत होती है। इस तरह हर गर्भ में तीर्थंकर मोती बनकर नहीं आते। उसके लिए आवश्यक है कि माता-पिता की निर्मल भावना हो। वे उत्तम संस्कार डालें। ऐसे पुत्ररत्न का शरीर शान्ति के परमाणुओं से निर्मित होता है। प्रत्येक क्रिया संस्कार के साथ चलती है। भारतीय संस्कृति में संस्कार का बड़ा महत्त्व है। संस्कार से ही अन्तर्हित दिव्यत्व का उन्मेष होता है। पता नहीं कौन से गर्भस्थ शिशु में, किस तरह की ऊर्ध्वमुखी सम्भावना अन्तर्हित हो, अतः उसे अन्यथा करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। ***जन्म-मरण से परे :*** इस प्रवचन में कहा गया है कि सन्तों के वचन को गाँठ में बाँध लेना चाहिए। वे बड़े काम के होते हैं। मोक्षमार्ग में भी उनके वचन काम में आते हैं। आचार्यों ने कहा है कि मोक्षमार्ग में चार बातों का ध्यान रखना चाहिए– एक, जन्मतः यथाजात निर्वस्त्र रूप रखना; दूसरे, आचार्य के वचनों का पालन; तीसरे, विनय, नम्रता और अभिमान का अभाव तथा चौथे, शास्त्रानुशीलन। पुत्र-मृत्यु के कारण विक्षिप्त वृद्धा के दृष्टान्त से सन्त ने प्रतिपादित किया कि जन्म-मरण अविच्छेद्य हैं। उसे कोई टाल नहीं सकता। व्यवहार में भी कहा जाता है कि सूर्योदय होता है और सूर्यास्त होता है। सूर्य जन्म लेता है, यह कोई नहीं कहता। पुद्गलों के बिखर जाने को लोग आत्मा का मरण कह देते हैं। केवलज्ञान के अभाव में संसारी जन्म-मरण की गलत धारणा लेकर भटकता रहता है। यही अज्ञान है। आत्मा जन्म-मरण से परे है। यही समझ इस जन्मकल्याणक की उपलब्धि है। ***समत्व की साधना :*** इसमें यह बताया गया है कि इस दीक्षाकल्याणक समारोह का ऐसा प्रभाव पड़ रहा है कि मुकुट उतर रहा है, सिंहासन त्यागा जा रहा है – कैसा विनय और वैराग्य का आचरण है। श्रमण की शोभा राग से नहीं, विराग से है। दैगम्बरी दीक्षा ही निष्कलंक पथ है। भगवान् वृषभनाथ स्वयम् भी अनुशासित थे, समता सम्पन्न थे और अपनी प्रजा को भी उन्होंने अनुशासित रखा था। भरत चक्रवर्ती भी उनकी आज्ञा का पालन करते हुए मुक्त हुए। ***धर्मदेशना :*** इसमें आचार्यश्री ने कहा कि कुमार नेमिनाथ किसी अन्य संकल्प से रथारूढ़ होकर जा रहे थे, पर बद्ध पशुओं का करुणक्रन्दन निमित्त बन गया। वे रथ छोड़कर उतर पड़े। अब संकल्प में परिवर्तन आ गया और रास्ता बदल गया। अब संसार का बन्धन नहीं, जीवन का लक्ष्य बन्धनमुक्त होना हो गया, पर हम हैं कि सब देखते-सुनते हैं किन्तु पथ नहीं बदलते। दया ने ही पथ परिवर्तन कराया। यदि दया है तो जीवन धर्ममय है। दया धर्म – अहिंसा धर्म एक वृक्ष की तरह है। शेष सत्य, अचौर्य आदि चार उसी की शाखाएँ हैं। परिग्रह तत्त्वतः मूर्च्छा का नाम है। भगवान् ऋषभदेव ने हमें यही उपदेश दिया है कि प्रत्येक आत्मा आत्मकल्याण के लिए स्वतन्त्र है। हमें दयावान् होकर परस्पर उपकार की भावना से अन्तस् को रंजित करना चाहिए। ***निष्ठा से प्रतिष्ठा :*** इसमें आचार्यश्री ने सागर, मध्यप्रदेश में सानन्द सम्पन्न पंच कल्याणक एवं त्रय गजरथ महोत्सव के अवसर पर कहा कि ऐसे कार्य सभी के सहयोग से सम्पन्न होते हैं। धर्म के प्रति आस्था जब धीरे-धीरे निष्ठा की ओर बढ़ती है, प्रगाढ़ होती है, तभी प्रतिष्ठा हो पाती है और जब प्रतिष्ठा की ओर दृष्टिपात नहीं करते हुए आगे बढ़ते हैं तो संस्था बन जाती है। तभी सारी व्यवस्था ठीक हो पाती है। फिर तो प्रकृति भी सहयोग देने लगती है। सामूहिक पुण्य के माध्यम से आज भी धर्म के ऐसे महान् आयोजन सानन्द सम्पन्न हो रहे हैं। ऐसे अवसर पर महान् आत्माओं का स्मरण करना चाहिए और उन्हें अपना आदर्श मानकर अपने जीवन का कल्याण करना चाहिए।

भक्ति-पाठ

'समग्र : आचार्य विद्यासागर' के चार खण्डों में प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त आचार्यश्री विद्यासागरजी ने साधु-साध्वियों, श्रावक-श्राविकाओं पर कृपा कर उत्थान शमनान्त पठनीय, मननीय एवं प्रेरणास्पद होने से स्मरणीय, फलतः नितान्त उपादेय नौ भक्तियों का अनुवाद हिन्दी भाषा में कर दिया है। इससे संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ उपासक जन भी अर्थावबोधपूर्वक अपनी चेतना को सुस्नात और सिक्त कर सकेंगे। उपासक इन्हीं के पाठारम्भ से अपनी दिनचर्या

आरम्भ करते हैं और इसी से सम्पन्न भी। इससे इनकी महत्ता स्पष्ट है। ये नौ भक्तियाँ हैं– सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति, निर्वाणभक्ति, नन्दीश्वरभक्ति, चैत्यभक्ति, शान्तिभक्ति तथा पञ्चमहागुरुभक्ति। श्रुतभक्ति अभी प्रतीक्षा सूची में है। समाधिभक्ति जिज्ञासा का विषय बनी हुई है।

पहली भक्ति है–'*सिद्धभक्ति*'। पंच परमेष्ठियों (परमे तिष्ठति इति परमेष्ठी) में चार कक्षाओं के अधिकारी मनुष्य हैं और एक कक्षा के अधिकारी हैं मुक्त आत्माएँ। ये ही मुक्त आत्माएँ 'सिद्ध' कही जाती हैं। आठों प्रकार के कर्मों के क्षय से जब शरीर भी नहीं रहता तो उसे (विदेह, मुक्त) सिद्ध कहते हैं। ये ऊर्ध्वलोक में लोकाग्र में पुरुषाकार छायारूप में स्थित रहते हैं। इनका पुनः संसार में आगमन नहीं होता। ये सच्चे परम देव हैं। संसारी भव्यजीव वीतराग भाव की साधना से इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। वे ज्ञान शरीरी हैं। सिद्धभक्ति में इन्हीं के गुण-गण का वर्णन किया गया है। इसमें पूर्व में की गई उनकी साधना और उससे उपलब्ध ऊँचाइयों का विवरण है।

दूसरी है–*चारित्रभक्ति*। इसमें रत्नत्रय में परिगणित चारित्र रूप रत्न की महिमा गाई गई है और उसकी सुगन्ध आचार में प्रस्फुटित हो, यह कामना व्यक्त की गई है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र की सम्मिलित कारणता है - मोक्ष के प्रति। जैन शास्त्रों में इसके अन्तर्गत अत्यन्त सूक्ष्म और वर्गीकृत विवेचन मिलता है। आचार्यश्री ने भी तमाम पारिभाषिक शब्दों का सांकेतिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए कायोत्सर्ग, गुप्तियाँ, महाव्रत, ईर्या आदि समितियाँ, तेरहविध चारित्र, कर्म-निर्जरा आदि।

तीसरी भक्ति है–*योगिभक्ति*। सनातनी विद्या की अभिव्यक्ति की दो धाराएँ हैं–शब्द और प्रातिभ। अभिव्यक्ति की दूसरी धारा श्रमणमार्ग की धारा है। तप एवं खेद के अर्थवाली दिवादि गण में पठित 'श्रमु' धातु में 'ल्युट्' प्रत्यय होने पर 'श्रमण' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है - तपन या तप करना। पर धारा विशेष में यह 'योगरूढ़' है–यों यौगिक तो है ही। तप ही इस धारा की पहचान है। यह तत्त्व न तो उस मात्रा में ब्राह्मण धारा में है और न ही बौद्ध धारा में। योगिभक्ति में आचार्यश्री ने प्रबल तपोविधि का विवरण दिया है। कहा गया है :

''बाह्याभ्यन्तर द्वादशविध तप तपते हैं मद-मर्दक हैं।''

चौथी भक्ति है–*आचार्यभक्ति*। पंच परमेष्ठी में तृतीय स्थान आचार्य का है। अध्यात्ममार्ग के पथिक को आचार्य की अँगुली, उनका हस्तावलम्ब अनिवार्य है और यह उनकी भक्ति से ही सम्भव है। कहा गया है :

''उपास्या गुरवो नित्यमप्रमत्तैः शिवार्थिभिः।
तत्पक्षतार्क्ष्य-पक्षान्तश्चराविघ्नोरगोत्तराः॥'' सागार-धर्मामृत, २/४५

आचार्य रूप श्री सद्गुरु स्वयं दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य– इन पाँच प्रकार के आचारों का पालन करता है और अन्य साधुओं से भी उसका पालन कराता है, दीक्षा देता है, व्रतभंग या सदोष होने पर प्रायश्चित कराता है। आस्रव के लिए कारणीभूत सभी सम्भावनाओं से अपने को बचाता है। इसमें आचार्य के छत्तीस गुण बताए गए हैं।

पाँचवी भक्ति है - *निर्वाणभक्ति*। आचार्यश्री का संकल्प है :

''निर्वाणों की भक्ति का करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ ले प्रभु तव संसर्ग॥''

'महावीर' पदवी से विभूषित तीर्थंकर वर्धमान का निर्वाणान्त पंचकल्याणक अत्यन्त शोभन शब्दों से वर्णित है। इन तीर्थंकर के साथ कतिपय अन्य पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की निर्वाणभूमियाँ उनके चिह्नों के साथ वर्णित हैं।

छठी भक्ति है - ***नन्दीश्वरभक्ति***। यह १६ जून, १९९१ को सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरिजी, बैतूल, मध्यप्रदेश में अनूदित हुई थी जबकि शेष भक्तियाँ गुजरात प्रान्तवर्ती श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महुआ, सूरत, गुजरात में २२ सितम्बर, १९९६ को अनूदित हुई थीं। नन्दीश्वर—यह अष्टम द्वीप है, जो नन्दीश्वर सागर से घिरा हुआ है। यह स्थान इतना रमणीय और प्रभावी है कि उसका वर्णन पढ़कर स्वयं आचार्यश्री तो प्रभावित हुए ही हैं और भी कितने मुनियों तथा साधकों को भी यहाँ से दिशा मिली है। ऐसे ही परम पुनीत स्थानों में सम्मेदाचल, पावापुर का भी उल्लेखनीय स्थान है। ऐसे अनेक जिन भवन हैं जो मोक्षसाध्य के हेतुभूत हैं। चतुर्विध देव तक सपरिवार यहाँ इन जिनालयों में आते हैं। आचार्यश्री इन और ऐसे अन्य जिनालयों के प्रति सश्रद्ध नतशिर हैं।

सातवीं भक्ति है—***चैत्यभक्ति***। आचार्यश्री ने बताया है कि जिनवर के चैत्य प्रणम्य हैं। ये किसी द्वारा निर्मित नहीं हैं अपितु स्वयम् बने हैं। इनकी संख्या अनगिन है। औरों के साथ आचार्यश्री की भी कामना है कि वे भी उन सब चैत्यों का भरतखण्ड में रहकर भी अर्चन-वन्दन-पूजन करते रहें, ताकि वीर-मरण हो, जिनपद की प्राप्ति हो और सामने सन्मतिलाभ हो।

आठवीं भक्ति है—***शान्तिभक्ति***। इस भक्ति में दु:ख-दग्ध धरती पर जहाँ कषाय का भानु निरन्तर आग उगल रहा हो, किसे शान्ति अभीष्ट न होगी ? तीर्थंकर शान्तिनाथ शीतल-छायायुक्त वह वट वृक्ष हैं जहाँ अविश्रान्त संसारी को विश्रान्ति मिलती है। इसीलिए आचार्यश्री कहते हैं सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ को दृष्टिगत कर :

> ***"शान्तिनाथ हो विश्वशान्ति हो भाँति-भाँति की भ्रान्ति हरो।***
> ***प्रणाम ये स्वीकार करो लो किसी भाँति मुझ कान्ति भरो॥"***

इस संकलन की अन्तिम भक्ति है— ***पंच महागुरुभक्ति***। इसमें अन्तत: पंच परमेष्ठियों के प्रति उनके गुणगणों और अप्रतिम वैभव का स्मरण करते हुए आचार्यश्री कामना करते हैं :

> ***"कष्ट दूर हो, कर्मचूर हो, बोधिलाभ हो, सद्गति हो।***
> ***वीरमरण हो, जिनपद मुझको मिले सामने सन्मति ओ॥"***

इन विविधविध भक्तियों के अतिरिक्त आपके द्वारा आचार्य अकलंकदेव कृत ***'स्वरूप-सम्बोधन'*** (१९९६) ग्रन्थ का भी सरस अनुवाद किया गया है, जो अद्यावधि अप्रकाशित है। इसमें जिनदर्शन सम्मत सर्वविध चिन्तन का सार आ गया है—विशेषकर आत्मचिन्तन का।

हाइकू (१९९६) : आचार्यश्री ने कुछ क्षणिकाएँ भी लिखी हैं जो जापानी 'हाइकू' की छाया लिए हुए हैं। यह विधा लघुकाय होकर गहरी व्यंजना करती है। इसकी महत्ता इसकी व्यंजनक्षमता के अतिरेक में है। यथा :

> ***"घनी निशा में/माया भयभीत हो/आस्था आस्था है।"***

आस्था, आस्था है, वह डिगना नहीं जानती। अभी तक आचार्यश्री के द्वारा ढाई सौ से अधिक हाइकू लिखे जा चुके हैं। इस प्रकार आचार्यश्री की निर्झरिणी लोकहितार्थ निरन्तर सक्रिय है। मुनिराज श्री विद्यासागरजी के प्रति नमनांजलि।

❑

परिशिष्ट : द्वितीय

आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज : व्यक्तित्व, सृजन एवं शोध-सन्दर्भ

(क) व्यक्तित्व परिचायक कृतियाँ

१. ***जैन सन्देश*** (साप्ताहिक, २० फरवरी, १९७५), सम्पादक-पं. कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी, उत्तरप्रदेश का प्रधान सम्पादकीय आलेख-**'एक नए नक्षत्र का उदय'**, प्रकाशक-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ, संघ भवन, चौरासी, मथुरा-२८१ ००४, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५६५)२४२०७११ ।

२. ***समाचार पत्रक*** (मासिक, ***आचार्य विद्यासागर विशेषांक,*** ३०-९-१९७८), सम्पादक- प्यारेलाल जैन, श्रवण कुमार जैन आदि, सौजन्य सम्पादक -कल्याणमल झाँझरी, श्री दिगम्बर जैन युवक समिति-कोलकाता, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७, पश्चिम बंगाल, पृष्ठ-३०+६०+४० ।

३. ***तीर्थंकर*** (मासिक, नवम्बर-दिसम्बर, १९७८-**आचार्य विद्यासागर विशेषांक**), सम्पादक-डॉ. नेमीचन्द जैन, ६५-पत्रकार कॉलोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर-४५२ ०१८, मध्यप्रदेश, मो.- ९३००६-०१८४६ ।

४. ***विद्यासागर (मासिक-'पूज्य आचार्य विद्यासागर दीक्षा विशेषांक', जून-८०, एवं 'विद्यासागर कृतित्व विशेषांक', जून-जुलाई, १९९२)***- प्रधानसम्पादक-निर्मल आज़ाद, द्वारा-आशीष जैन, व्ही. एन. इण्टर- प्राइजेज, ४८५-हनुमानताल, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६१)२६५०९४८, ५०१३९४८, मो. ९४२५१-५२३१८

५. ***मुक्ति पथ का राही*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी के जीवन वृत्तान्त पर आधारित नाटक), लेखिका-डॉ. विमला जैन चौधरी, विजय हार्डवियर, लार्डगंज, जबलपुर, मध्यप्रदेश, प्रकाशक-जैन पुस्तक सदन,१६१/१, महात्मा गाँधी मार्ग, कोलकाता-७०० ००७, पश्चिम बंगाल, प्रथम आवृत्ति-१९८१, पृष्ठ-८+३६।

६. ***सागर में विद्यासागर*** (सागर में प्रथम षट्खण्डागम वाचना शिविर १९८० के प्रसंग पर) सम्पादक-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक-प्रबन्धकारिणी कमेटी, गणेश दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, मोराजी, सागर, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९८१, पृष्ठ-१२+१४६ ।

७. ***विद्यासागराष्टकम्,*** (ईसरी, झारखण्ड-३ अप्रैल, १९८३), रचयिता-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, पूर्व निदेशक-श्री वर्णी दिगम्बर जैन गुरुकुल, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, फोन -(०७६१)२३७०९९१ ।

८. ***विद्यांजलि*** - मुनि श्री गुप्तिसागरजी महाराज, प्रकाशक -श्री दिगम्बर जैन क्षेत्र कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९८८, पृष्ठ-४० ।

९. ***श्री १०८ ज्ञानसागराचार्यस्य समाधिसाधकः श्री १०८ आचार्यः विद्यासागरः,*** रचयिता-पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री, कटनी, मध्यप्रदेश, 'कुन्दकुन्द वाणी', मासिक-मई-१९९०, सम्पादक - ६८३, भालदारपुरा, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश ।

१०. ***विद्या-स्तुति*** (विद्यासागर चालीसा, आचार्यश्री द्वारा दीक्षित शिष्यों के नाम से आचार्य श्री विद्यासागर जी का गुणानुवाद), रचयिता-मुनि श्री उत्तमसागरजी महाराज, प्रकाशक-सकल दिगम्बर जैन समाज, बरेला, प्राप्तिस्थान-मुनीश जैन, अध्यक्ष-सन्मति युवा मण्डल, बाजार मोहल्ला, बरेला, जबलपुर, मध्यप्रदेश, प्रथम-आवृत्ति-१९९०, पृष्ठ-२४।

११. ***दिव्यध्वनि*** (त्रिभाषिक मासिक--***आचार्य विद्यासागर विशेषांक***, जुलाई-अगस्त, १९९१), प्रकाशक-श्रीमद् राजचन्द्र आध्यात्मिक साधना केन्द्र, श्री सत्श्रुत सेवा साधना केन्द्र, कोबा-३८२ ००९, गाँधीनगर, गुजरात, फोन-(०७९)२३२७६२१९, २४८३१४८४, पृष्ठ-१२०।

१२. ***विद्या-शतक*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी का काव्यमय जीवन परिचय), रचयिता-प्रो. शीलचन्द जैन, छिन्दवाड़ा, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन गोलापूर्व समाज, छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९२, पृष्ठ- ४+१४।

१३. ***गुरु गरिमा शतक*** (आचार्य श्री विद्यासागर शतक), रचयिता-मुनि श्री समतासागरजी महाराज, प्रकाशक-राजेन्द्रकुमार जैन, मेसर्स-दशरथलाल राजेन्द्रकुमार जैन, सतना, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९२, पृष्ठ-३२।

१४. ***विनय-पंचकम्*** (आचार्य विद्यासागर स्तवन, ३ जनवरी, १९९३) रचयिता-डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य।

१५. ***विद्या-वन्दना*** (आचार्य श्री ज्ञानसागरजी एवं आचार्य श्री विद्यासागरजी पर लिखित अनेक पूजन, आरती, भजनरूप भक्तिप्रसून संकलन), प्रकाशक-विद्या साहित्य प्रकाशन समिति, विदिशा, मध्यप्रदेश, प्राप्तिस्थान-डॉ. वीरेन्द्र जैन, १०-सुभाष पथ, विदिशा, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९३, पृष्ठ-८+१७६, मूल्य- २० रुपए।

१६. ***शब्द सुमन माला*** (आचार्य विद्यासागर शतक), रचयिता-श्रीधर शर्मा, लखनादौन, सिवनी, मध्यप्रदेश, प्रकाशक-प्रो. सुरेश चन्द जैन, वाणिज्य विभाग, शासकीय महाविद्यालय,देवरी, सागर, मध्यप्रदेश, प्रथम-आवृत्ति-१९९३, पृष्ठ - ४८।

१७. ***विद्याष्टक (गुरु वन्दना)***- ('चतुष्टय अष्टक मंजरी' के अन्तर्गत संग्रहीत), मुनि श्री स्वभावसागरजी महाराज,), प्रकाशक-त्रिलोकचन्द्र महेन्द्रकुमार गदिया, नया बाजार, अजमेर, राजस्थान, प्रथमावृत्ति-१९९३, पृष्ठ- ८ ।

१८. ***अमूर्त शिल्पी : आचार्य श्री विद्यासागर (व्यक्तित्व और विचार)*** - मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज, प्रकाशक- गुना, मध्यप्रदेश के जैन युवाओं की विनम्र प्रस्तुति, प्रथम संस्करण-१९९४, पृष्ठ-१६।

१९. ***विद्याष्टकम्*** (स्वोपज्ञ संस्कृत व हिन्दी टीका एवं चित्र बन्ध, शब्दकोश आदि सहित), रचयिता-मुनि श्री नियमसागरजी महाराज, सम्पादक - डॉ. प्रभाकर नारायण कवठेकर, पूर्व कुलपति - विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन, प्रकाशक-प्रदीप जैन, प्रदीप कटपीस, अशोकनगर, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९४, पृष्ठ-३७+२००, मूल्य-१०० रुप ए ।

२०. ***कुन्दकुन्द वाणी (मासिक, आचार्य विद्यासागर दीक्षा स्मृति दिवस विशेषांक, जून-जुलाई, १९९४)***-सम्पादक-कमलकुमार जैन बाकलीवाल, श्री कुन्दकुन्द प्रकाशन, जैन बाड़ा, दौलतगंज, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५१)२३२५०२६।

२१. ***ज्योतिर्मय निर्ग्रन्थ*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी के व्यक्तित्व पर उपन्यासात्मक प्रस्तुति), लेखक एवं प्रकाशक-मिश्रीलाल जैन एडव्होकेट, विद्यानिधि प्रकाशन, पुराना पोस्ट ऑफिस मार्ग, बताशा गली, गुना-४७३ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५४२)२५५९०६, प्रथम आवृत्ति-१९९४, पृष्ठ-१११, मूल्य-३० रुपए।

२२. ***युगपुरुष आचार्य श्री विद्यासागर*** (व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व परिचय), लेखक-प्रो. शीलचन्द जैन, हिन्दी विभाग, डेनियलसन कॉलेज, छिन्दवाड़ा, प्रकाशक-श्रीमती कुसुम जैन, झण्डा चबूतरा के सामने, मु.पो.-घुवारा-४७१ ३१३, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९४, पृष्ठ-१२।

२३. ***श्रमण परम्परा के आदर्श सन्त : जैनाचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज*** (हिन्दी एवं गुजराती), लेखक-

डॉ. बारेलाल जैन, ***हिन्दी संस्करण***-प्रकाशक-विमलकुमार जैन अजमेरा, रूप ट्रेडर्स, ७०२-शास्त्री नगर, दादाबाड़ी, कोटा, राजस्थान, प्रथमावृत्ति-१९९५, पृष्ठ-१२, ***गुजराती अनुवाद***- प्रकाशक-वीर विद्या संघ, गुजरात, बी-२, सम्भवनाथ अपार्टमेन्ट्स, बखारिया कॉलोनी, उस्मानपुरा, अहमदाबाद-३८० ०१३, गुजरात, फोन-(०७९)२७५५०१८०, १९९६।

२४. ***विद्यासागर गीतगंगा*** (आचार्य विद्यासागर के व्यक्तित्व पर आधारित गीत एवं कविताएँ), लेखक-कवि सुन्दर जैन, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन अतिशय सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर प्रबन्धकारिणी समिति, कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९५, पृष्ठ-३२।

२५. ***विद्या भक्ति रस*** (१०० भक्ति-गीत, भजनों का सृजन-संकलन), संकलक-ब्र. किरण जैन निर्मोही, पनागर, जबलपुर, मध्यप्रदेश, सहयोग- ब्र. सुनीता जैन, अशोकनगर, मध्यप्रदेश, ब्राह्मी विद्या आश्रम, सागर एवं जबलपुर, मध्यप्रदेश, प्रकाशक-श्री सूरत सत्तर जिला दिगम्बर जैन मित्र मण्डल, सूरत, गुजरात, प्राप्तिस्थान-दिलीप भाई गाँधी, २००-आहुरा नगर, भुलका भुवन स्कूल के सामने, अड़ाजन रोड, सूरत, गुजरात, पृष्ठ-८०, १९९६।

२६. ***विद्याधर से विद्यासागर*** (जीवन वृत्त), लेखक-सुरेश सरल, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सेठजी की नसिया, ब्यावर-३०५ ९०१, अजमेर, राजस्थान एवं श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१)२७३०३९०,२७३०५५२, ५१७७३००, प्रथम संस्करण- १९९६, पृष्ठ-१०२+१७०, मूल्य-५० रुपए।

27. ***Jain Acharya Shri Vidyasagarji Maharaj [An Ideal Saints in Sraman (Ascetic) Tradition]*** Author - Dr. Barelal Jain, Hindi Dept.- Awadhesh Pratap Singh University, Rewa, M.P., Translator - Niranjan Jetalpuriya, 22-Chanchalbagh Society, Ranna park, Ghatlodiya, Ahmedabad, Gujrat, Publisher- K. S. Garments, 25-Khajuri Bazar, Indore- 452 002, Madhya-Pradesh, First Edition- 1997, Page-16.

२८. ***विद्यासागर की लहरें*** (आचार्य विद्यासागरजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर विस्तृत परिचयात्मक विश्लेषण), प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन युवक संघ, विद्यासागर नगर, सत्यम गैस के सामने, विजय नगर, इन्दौर-४५२ ०१०, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९७, पृष्ठ-१९६, मूल्य-२५ रुपए।

२९. ***विद्या वैभव शतक, विद्या स्तुति शतक, विद्या मंजरी*** - ऐलक श्री निर्भयसागरजी महाराज। प्राप्तिस्थान - महावीर मित्र मण्डल, श्री शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, ७८-धनलक्ष्मी सोसायटी, ओढव, अहमदाबाद, गुजरात, फोन-(०७९)२२८७२२८१, प्रथमावृत्ति-१९९८।

३०. ***'कीर्ति स्तम्भ'*** एवं ***'काव्यमंजरी'*** (दोनों काव्य संग्रहों में अनेक कविताएँ आचार्य विद्यासागरजी के प्रति समर्पित)- ऐलक श्री निश्चयसागरजी महाराज, प्रथमावृत्ति - १९९९।

३१. ***'तेरी जीत-पराजय मेरी'***, (आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के ५१ वें जन्म दिवस के प्रसंग पर ५१ काव्यात्मक भावनानुभूतियाँ), रचयिता-आचार्य श्री पुष्पदन्तसागरजी महाराज, प्रकाशक-प्रज्ञश्री संघ, भिण्ड, मध्यप्रदेश, प्राप्तिस्थान-प्रमोद कुमार जैन, प्रधान सम्पादक-पुष्पवार्ता, साबूजी का बाड़ा, दाल बाजार, ग्वालियर-४७४ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५१)२३३६७६३, २२३२३६८, द्वितीय संस्करण-२०००, पृष्ठ-८८।

३२. ***सन्तों के सन्त*** - [गुरु गुणगान, विद्या उपमा छत्तीसी, गुरुगौरव गीता (आचार्य विद्यासागर पच्चीसी), विद्यासिन्धु भजन संग्रह, गुरु के गुण अपार, विद्या वन्दना शतक, गुरु के १०८ नाम आदि संकलन], रचयिता-

मुनि श्री उत्तमसागरजी महाराज, प्रकाशक-श्रीमती प्रमिला सन्तोष बैसाखिया, लाड़पुरा, इतवारी, नागपुर-४४० ००, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२) २७६८६२३ (नि.), २७४६१३९ (का.), प्रथम आवृत्ति-२००१, पृष्ठ-१४+१९२।

३३. ***आत्मशिल्पी आचार्य श्री विद्यासागर : जीवन-दर्शन*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी का अप्रतिम व्यक्तित्व, साहित्य, प्रवचनांश, आराधना एवं आत्मशिल्पी के जीवन्त शिल्प--दीक्षित साधुओं का जीवन परिचय), लेखक-मिश्रीलाल जैन एडव्होकेट, गुना, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५४२)२५५९०६, सम्पादन एवं प्रकाशन-ब्र. अमृतश्री, अहिंसा आर्मी मानव कल्याण जीवदया चेरिटेबल ट्रस्ट, ५-ए, जलतरंग सोसायटी, शाहपुर पुल के पास, अहमदाबाद-३८० ००४, गुजरात, प्रथम संस्करण-२००१, पृष्ठ-१९+५४०, मूल्य-१०० रुपए।

३४. ***अक्षयनिधि का अन्वेषक*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी के जीवन पर आधारित चित्रकथा), लेखक-डॉ. मूलचन्द जैन, सम्पादक-सनमत कुमार जैन, प्रकाशक-शान्ति ज्ञानोदय शोध संस्थान, बड़ा बाजार, पन्ना, मध्यप्रदेश, फोन - (०७७३२) २५२६५५, २००१, पृष्ठ-३२।

३५. ***निर्मल रचो उमंग*** (छोटे बाबा आचार्य विद्यासागरजी से कुण्डलपुर के बड़े बाबा तक अनहदनाद-१२ काव्यों का संकलन), रचयिता-निर्मल जैन इटौरिया, प्राप्तिस्थान-भागचन्द गिरीशकुमार इटौरिया, स्टेशन रोड, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७८१२)२२२४२०, प्रथम आवृत्ति-२००१, पृष्ठ-३२।

३६. ***यादें विद्याधर की*** ('विद्याधर से विद्यासागर' पुस्तक के आधार पर चित्रात्मक प्रस्तुति), चित्रकार-सुश्री आशा जैन, छिन्दवाड़ा, प्रकाशक-राजेश जैन देवड़िया, लॉरेल शर्ट्स, २३-शिव विलास पैलेस, राजवाड़ा, इन्दौर-४५२ ००४, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-२००१, पृष्ठ-६८, मूल्य-१५ रुपए।

३७. ***विद्या गुरु वन्दनाष्टक*** ('नेक जीवन' पुस्तक के चतुर्थ सोपान 'स्तुति' के अन्तर्गत संग्रहीत), मुनि श्री आर्जवसागरजी महाराज, प्राप्तिस्थान-- अजित जैन, एम. आई. जी., ८/४, गीतांजलि काम्पलेक्स, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२७७२९४५, प्रथम संस्करण-२००४, पृष्ठ-५०, मूल्य-१६ रुपए।

३८. ***आत्मान्वेषी*** (आचार्य विद्यासागरजी के जीवन वृत्त की सचित्र प्रस्तुति एवं संस्मरण), लेखक-मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज, प्रकाशक-विद्या प्रकाशन मन्दिर, १६८१-दरियागंज, नई दिल्ली-११० ००२, प्राप्तिस्थान- राज प्रमोद शाह, २६००-नागोरियों का चौक, घीवालों का रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर-३०२ ००३, राजस्थान,फोन-(०१४१)२५६६०९८, ५०६९५४९, ग्यारहवाँ संस्करण-२००४, मूल्य-४० रुपए।

३९. ***युगावतार आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज*** (काव्यमय जीवन परिचय), रचयिता-पं. प्रभुदयाल मोतीलालजी पटैरिया 'दयाल', प्रकाशक-पं. संजीव कुमार पटैरिया, महरौनी, ललितपुर, उत्तरप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-२००४, पृ.-३२, मूल्य-२० रुपए।

४०. ***अथक पथिक*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी पर केन्द्रित ३० कविताओं का संग्रह), रचयिता-डॉ. अनिल सिंघई 'नीर', प्राप्तिस्थान-डॉ. अनिल सिंघई, ७२-गाँधी चौक वार्ड, पठा जैन मन्दिर के पास, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश,मो. ९८२६०-७१०५५ प्रथम आवृत्ति-२००४, पृष्ठ-४८, मूल्य-२० रुपए।

४१. ***महामुनि गाथा*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी के जीवन वृत्त पर आधारित काव्य ग्रन्थ), रचनाकार-डॉ. अनिल सिंघई 'नीर', प्राप्तिस्थान-डॉ. अनिल सिंघई, केसरवानी पॉली क्लीनिक, भगवान गंज, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश,फोन - (०७५८२)२४७१०१, प्रथम आवृत्ति-२००४, पृष्ठ-१२+२५२, मूल्य-१०१ रुपए।

४२. ***महाश्रमण*** (आचार्य विद्यासागरजी के व्यक्तित्व एवं जीवनदर्शन पर केन्द्रित १०६ ज्ञानोदय छन्द तथा १६ दोहे)-- मुनिश्री अजितसागरजी महाराज, प्रकाशक -- प्रकाश शोध संस्थान, प्रकाश हाउस,४-दरियागंज,

नई दिल्ली-११० ००२, प्रथमावृत्ति-२००५ ई., पृष्ठ- ५८+५३ चित्र।

४३. ***परमपूज्य आचार्य श्री ज्ञानसागरजी एवं आचार्य श्री विद्यासागरजी के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व विषयक शोध सन्दर्शिका***, संकलन-डॉ. शीतलचन्द जैन, प्राचार्य-श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, सांगानेर, जयपुर, राजस्थान, प्रकाशक-मैत्री समूह, प्राप्तिस्थान -- १/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी,हरि-पर्वत, आगरा, उत्तरप्रदेश, फोन- (०५६२) २१५११२७, मो. ०९८३७०-२५०८७, प्रथमावृत्ति- २००५, पृष्ठ- ५४, मूल्य-२० रुपये।

४४. ***संस्मरण*** (आचार्य विद्यासागर महाराज के ५३ प्रेरक प्रसंगों का संकलन एवं कुछ अन्य रचनाएँ), संकलन एवं सम्पादन - मुनि श्री कुन्थुसागरजी महाराज, प्राप्ति स्थान - श्री दिगम्बर जैन मन्दिर ट्रस्ट कमेटी, लक्ष्मीनारायण वार्ड, करेली, नरसिंहपुर, मध्यप्रदेश, पृष्ठ-७२, प्रथमावृत्ति-२००६ ।

45. ***In Quest of the self*** (The life story of Aacharya Shri Vidyasagar) By-- Muni Kshamasagar, Translated by-- Kamalkant Jaswal (Retired Secretary, Department of Information Technology, Govt. of India), Publishedby--BhartiyaJnanpith,18-Institutional Area, Lodi Road, New Delhi-110 003, First Edition- 2006, Page -154, Price - Rs.100/-.

४६. ***आल्हा- आचार्य श्री विद्यासागरजी के त्याग पर,*** रचयिता-फूलचन्द सिंघई, प्रकाशक-सिंघई फूलचन्द रतनचन्द जैन सराफ, राजेन्द्र फ्लोर एण्ड ऑयल मिल्स, मु.पो. बड़गाँव, कटनी, मध्यप्रदेश, पृष्ठ-१४।

४७. ***विद्यासागर पंचविंशतिका***, रचयिता-नवरतन पाटनी कालूवाला, पाटनी सदन, हाथी भाटा, अजमेर, राजस्थान।

४८. ***'आत्मान्वेषी'*** (मुनि श्री क्षमासागरजी द्वारा आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के जीवन - वृत्त पर आधारित 'आत्मान्वेषी' कृति का मराठी अनुवाद), अनुवादक - श्री व्ही.ए. मनोरकर जैन, 'ज्ञान-विद्या', प्लाट नं. ५९, नई गजानन कॉलोनी, गारखेड़ा, औरंगाबाद-४३१ ००५,महाराष्ट्र, फोन -(०२४०) २४४२७९५, मो. ९९६०४ - ३८११५, सम्पर्क सूत्र - दिगम्बर जैन सेवा समिति, द्वारा-गोमटेश इलेक्ट्रॉनिक्स, सराफा रोड, खादी भण्डार के सामने, औरंगाबाद-४३१ ००१, महाराष्ट्र, अप्रकाशित।

४९. ***(क) अर्चन के सुमन, (ख) प्रणाम, (ग) विद्या पंचक***- रचयिता-ऐलक श्री उदारसागरजी महाराज।

५०. ***विद्यासागर आल्हा*** - हरगोविन्द विश्व, सागर, मध्यप्रदेश।

५१. ***विद्यासागर आल्हा*** - शैलेन्द्र जड़िया, सागर, मध्यप्रदेश।

५२. ***विद्याष्टकम्*** (संस्कृत)- रचयिता-डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', २८-सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७८१२)२३११३५, मो. ९४२५४-५५३३८, प्रकाशक- श्री भागचन्द्र इटोरिया सार्वजनिक न्यास, स्टेशन रोड, दमोह, मध्यप्रदेश।

५३. ***गुरु भक्ति*** (गुरु वन्दना-आचार्य भक्ति, आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज एवं आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज की पूजन, आरती), प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन युवक संघ, सत्यम गैस के सामने, ए. बी. रोड, इन्दौर-४५२ ०१०, मध्यप्रदेश, पृष्ठ-४०, मूल्य-५ रुपए।

५४. ***विद्या थुदि*** (मुनि श्री नियमसागरजी महाराज द्वारा केवल आठ अक्षरों के आधार पर आठ श्लोकों सहित चित्रालंकार युक्त 'विद्याष्टकम्' संस्कृत स्तवन एवं ऐलक श्री सम्यक्त्वसागरजी महाराज द्वारा उसके पद्यानुवाद का लघु प्रकाशन), प्रकाशक-जैन समाज, गुना, मध्यप्रदेश, पृष्ठ-३२।

५५. ***ज्ञानदूत विद्याधर*** ('विद्याधर' से 'आचार्य विद्यासागर' बनने की ३८ चित्रमय प्रस्तुति), सम्पादिका-

ब्र.पिंकी दीदी, चित्रसज्जा-नवीन शर्मा, प्रकाशक-विरेन्द्रकुमार एवं सुनन्दा अजमेरा, मो. ०९८२९१-९०२३१, पृष्ठ- ७६।

(ख) सन्दर्भ ग्रन्थ

१. ***चारित्रचक्रवर्ती आचार्य श्री शान्तिसागर स्मृति ग्रन्थ,*** सम्पादक-बालचन्द देवचन्द शहा, मन्त्री-श्री चारित्र-चक्रवर्ती १०८ आचार्य श्री शान्तिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण, महाराष्ट्र, प्रथमावृत्ति-१९७३, पृष्ठ-१७६+३६०।

२. ***आचार्य श्री विद्यासागर चातुर्मास स्मारिका,*** सम्पादक-धर्मचन्द मोदी, प्रकाशक-अध्यक्ष-दिगम्बर जैन मुनिसंघ व्यवस्था समिति, ब्यावर-३०५ ९०१, अजमेर, राजस्थान, प्रथमावृत्ति-१९७३, पृष्ठ-१०२।

३. ***पंचकल्याणक-गजरथ महोत्सव स्मारिकाएँ,*** जबलपुर-१९९३, नन्दीश्वर जिनालय निर्माण कमेटी, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश एवं खजुराहो-१९८१, शहपुरा भिटौनी-जबलपुर-१९८५, गोटेगाँव-१९८९, सागर-१९९३ भी।

४. ***मुक्ति पथ के बीज*** (आचार्य विद्यासागरजी के सान्निध्य में समाधिमरण करने वाले साधकों का परिचय), प्रकाशक-कल्याणमल झाँझरी, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७, पश्चिम बंगाल, प्रथम आवृत्ति-१९८३, पृष्ठ-२०।

५. ***दिगम्बर जैन साधु परिचय,*** सम्पादक-ब्रह्मचारी धर्मचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-आचार्य धर्मश्रुत ग्रन्थमाला, गोधा सदन, अलसीसर हाउस, संसारचन्द्र रोड, जयपुर, राजस्थान, प्रथमावृत्ति-२० अक्टूबर, १९८५, पृष्ठ-३८+६१२, मूल्य-३१ रुपए।

६. ***बालार्जुन*** (ऐतिहासिक उपन्यास), लेखक-डॉ. गणेश खरे, प्रकाशक-शब्द भारती, ८४- पुराना बैरहना, इलाहाबाद, उत्तरप्रदेश, प्रथम संस्करण-१९८७, पृष्ठ-२१२, मूल्य-३५ रुपए।

७. ***हिन्दी साहित्य का वस्तुपरक आलोचनात्मक इतिहास*** (दो खण्ड), लेखक-डॉ. रामप्रसाद मिश्र, १४-सहयोग अपार्टमेण्ट्स, पो. बा. नं. ९११७, मयूर विहार-I, दिल्ली-११० ०९१, फोन-(०११) २२७५१९७०, प्रकाशक- लक्ष्मी नारायण शर्मा, सत् साहित्य भण्डार, ५७-बी, पाकेट-ए, अशोक विहार, फेज-२, दिल्ली-११० ०५२, प्रथम संस्करण-१९८८, मूल्य-११०० रुपए प्रति खण्ड ।

८. ***संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक*** (डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश से १९८४ में पीएच.डी. हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध), लेखिका-डॉ. आशालता मलैया, सागर, प्रकाशक-जयश्री ऑयल मिल्स, गवली पारा, दुर्ग, छत्तीसगढ़, फोन (०७८८) २२११७०४(नि.), २२१०१०४, २२१०३०४ (का.), मो. ९४२५२ -४३४१२, प्रथम आवृत्ति-१९८९, पृष्ठ-३० + ४७२, मूल्य-१२० रुपए।

९. ***हिन्दी सेवी नेता-दार्शनिक-योगी,*** लेखक-डॉ. रामप्रसाद मिश्र, प्रकाशक-भारतीय ग्रन्थ निकेतन, २७१३-कूँचा चेलान, दरियागंज, नई दिल्ली-११० ००२, प्रथम आवृत्ति-१९९२, पृष्ठ - १५८, मूल्य-५० रुपए।

१०. ***परछाइयाँ मौन साधक की...***(आचार्य श्री विद्यासागरजी के रजत मुनि दीक्षा वर्ष - 'संयम वर्ष' के प्रसंग पर आचार्यश्री के सम्बन्ध में विद्वत् अभिमत एवं २५ चित्रों की प्रस्तुति), प्रकाशक-सुभाष क. जैन, विद्यासागर विचार मंच, दि श्री ब्रदर्स (साक्षी प्रोडक्ट्स), जवाहर रोड, अमरावती-४४४ ६०१, महाराष्ट्र, फोन-(०७२१)२५७८७४०, प्रथमावृत्ति-१९९२, पृष्ठ-२४।

११. ***'देशबन्धु'***, दैनिक जबलपुर, ४ जुलाई १९९२, ***'स्वदेश'***, दैनिक ग्वालियर, २२ नवम्बर १९९६, ***'नवभारत'***

दैनिक नागपुर-२४ जून १९९३, *'सन्देश'* गुजराती दैनिक-सूरत-२९ जुलाई १९९६, *'लोकमत समाचार'*, दैनिक नागपुर-२६ जून १९९३, *देशबन्धु'*-रायपुर-१४ जनवरी १९८४, *नवीन दुनिया* -दैनिक जबलपुर-नवम्बर १९८८ को प्रकाशित विशिष्ट परिशिष्ट।

१२. ***महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर : जीवन एवं साहित्यिक अवदान*** (डी.लिट्. के लिए लिखित शोध प्रबन्ध), लेखक-डॉ. विमलकुमार जैन, दिल्ली, प्रकाशक-निर्मल कुमार जैन एवं राजेन्द्र कुमार जैन, ज्ञानोदय संस्थान, ८/११२७, जैन बाग, वीर नगर, सहारनपुर-२४७ ००१, उत्तरप्रदेश, फोन - (०१३२) २७४२१८६, २७४६८१५, २६५८८४८, २७२४४२३, प्रथम आवृत्ति-१९९६, पृष्ठ-२०+६७६, मूल्य-१०० रुपए।

१३. ***संस्कृत काव्य के विकास में बीसवीं शताब्दी के जैन मनीषियों का योगदान*** (डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, म.प्र. से पीएच. डी. हेतु १९९२ में स्वीकृत शोध प्रबन्ध), लेखक-डॉ. नरेन्द्र सिंह राजपूत, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, अजमेर, राजस्थान एवं भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१)२७३१९५२, प्रथम संस्करण-१९९६, पृष्ठ-१६+३०४, मूल्य-५० रुपए।

१४. ***आचार्य विद्यासागर : व्यक्तित्व एवं काव्य कला*** (मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान से १९९६ में पीएच. डी. हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध), लेखिका- डॉ. (श्रीमती) माया जैन, सम्पादक-डॉ. रमेशचन्द्र जैन, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, अजमेर, राजस्थान तथा श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन - (०१४१)२७३०३९०, प्रथम संस्करण-१९९७, पृष्ठ-५२+३३२, मूल्य-५० रुपए।

१५. ***परछाइयाँ-पथ प्रदर्शक की*** (आचार्य विद्यासागर जी के प्रति विशिष्टजनों की भावाभिव्यक्ति एवं आचार्यश्री के चित्रों की प्रस्तुति), संकलक-ऐलक श्री सम्यक्त्वसागरजी महाराज, प्रकाशक-दिगम्बर जैन युवक संघ, इन्दौर, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९७।

१६. ***महाकवि आचार्य विद्यासागरजी की साहित्याराधना एवं शोध सन्दर्शिका*** (महाकवि आचार्य विद्यासागर वाङ्मय शोध योजना), लेखक - मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, प्रकाशक - आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सरस्वती भवन, सेठजी के नसियाँ, ब्यावर - ३०५ ९०१, अजमेर, राजस्थान, तृतीयावृत्ति - १९९७, पृष्ठ - ४+५०, मूल्य - १५ रुपए।

१७. ***हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्व का अनुशीलन*** (अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा से १९९३ में पीएच. डी. हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध), लेखक-डॉ. बारेलाल जैन, प्रकाशक-कल्याणमल झाँझरी, श्री निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता- ७०० ००७, पश्चिम बंगाल, फोन-(०३३)२२७४८८७९, २२७४६०४९, प्रथम आवृत्ति-१९९८, पृष्ठ-२२+२५४, मूल्य-४५ रुपए।

१८. ***सदलगा के सन्त*** (आचार्य विद्यासागरजी की दिव्य जीवन-यात्रा का ७६७ पद्यों में १९९७ तक का काव्यमय वर्णन), रचयिता-कवि लालचन्द्र जैन 'राकेश', प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन मुनिसंघ चातुर्मास सेवा समिति, भगवान् महावीर विहार, गंजबासौदा-४६४ २२१, विदिशा, मध्यप्रदेश, प्रथम संस्करण- १९९८, पृष्ठ-३२+२०४+पारिभाषिक शब्दावली - ३४, मूल्य-५० रुपए।

१९. ***विद्यासागर की चेतन कृति*** (आचार्य विद्यासागरजी द्वारा दीक्षित शिष्यों का सचित्र परिचय), प्रकाशक - सिंघई जयकुमार जैन, सिंघई प्रिन्टर्स, सदर बाजार, मण्डला, मध्यप्रदेश, प्राप्तिस्थान-श्री पद्मावती ऑफसेट

एवं पैकेजिंग इण्डस्ट्रीज, अण्डरब्रिज रोड, मदनमहल थाने के पास, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९८, पृष्ठ-२१२, मूल्य-३११ रुपए।

२०. ***भक्ति प्रसून*** (कविता संग्रह), रचयिता-अरुण कुमार जैन, वरिष्ठ इंजीनियर-रेल्वे, सी-१२/एफ, चन्द्रशेखर-पुर रेल्वे कॉलोनी, भुवनेश्वर-७५१ ०२३, उड़ीसा, प्रकाशक-दिवाकीर्ति शिक्षा एवं कल्याण समिति, ललितपुर-२८४ ४०३, उत्तरप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९८ , मूल्य-२१ रुपए ।

२१. ***परमपूज्य सन्तशिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागरजी महाराज ससंघ परिचय एवं आहारदान विधि***, संकलन-रमेश टोंग्या आदि, प्रकाशक-सुगन ग्राफिक्स, सिटी प्लाजा, महात्मा गाँधी मार्ग, इन्दौर-४५२००१, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९९, पृष्ठ-६४, मूल्य-१५ रुपए।

२२. ***महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली परिशीलन*** (मुनि श्री सुधासागरजी महाराज के ससंघ सान्निध्य में सीकर, राजस्थान में १९९८ में सम्पन्न अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी - षष्ठ, २७ से ३० सितम्बर, १९९८ तक आयोजित संगोष्ठी में पठित आलेखों में से ६९ आलेखों का संकलन), सम्पादक-डॉ. रमेशचन्द्र जैन एवं साथीगण, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर, अजमेर, राजस्थान एवं भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१) २७३०३९०, प्रथम आवृत्ति-१९९९, पृष्ठ-६९४, मूल्य-१५० रुपए।

२३. ***प्राणिमात्र के लिए काव्यपत्र*** (आचार्य विद्यासागरजी के व्यक्तित्व, कर्तृत्व एवं उनके 'मांस निर्यात निरोध अभियान' को केन्द्रित कर काव्यमय पत्र आलेखन), लेखक - डॉ. शरद कुमार मिश्र, सहायक प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, पं. शम्भूनाथ शुक्ल शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, शहडोल - ४८४ ००१, मध्यप्रदेश, प्रकाशक- ज्ञानोदय विद्यापीठ, विद्यासागर इन्स्टीटयूट ऑफ मैनेजमेण्ट, बल्लभनगर, बी. एच. ई. एल., भोपाल - ४६२ ०२१, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९९, पृष्ठ-६८, मूल्य-१५ रुपए।

२४. ***वीर निकलंक*** (मासिक, स्मारिका-इन्दौर चातुर्मास-१९९९ की) सम्पादक-रमेश जैन कासलीवाल, २४/५, पारसी मोहल्ला, इन्दौर-४५४२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३१)२३०९६९५, २०००, पृष्ठ-२२५, मूल्य-१०० रुपए।

२५. ***जैन दर्शन और मुनि विद्यासागर*** (डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश से पीएच.डी. हेतु १९९३ में स्वीकृत एवं नाम परिवर्तन कर प्रकाशित शोध प्रबन्ध), लेखिका-डॉ. (श्रीमती) किरण जैन, प्रकाशक-आदित्य पब्लिशर्स, जोगेश्वरी माता काम्प्लेक्स, पाठक वार्ड,बीना-४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८०)२२०६४४ (नि.), २२१३७२ (का.) , प्रथमावृत्ति-२००१, पृष्ठ-१४+३७८, मूल्य- ४५० रुपए।

२६. ***सल्लेखना : समत्व की साधना*** (पं. दरबारी लाल जैन कोठिया के सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण के प्रसंग पर आचार्य श्री विद्यासागरजी के द्वारा प्रदत्त उद्बोधनों का संकलन एवं अन्य सामग्री), संकलन-मुनि श्री अजितसागरजी महाराज, सम्पादक-सुरेश जैन (आई. ए. एस.), प्रकाशक-स्वर्गीया श्रीमती लक्ष्मीबाई पारमार्थिक फण्ड, बीना इटावा- ४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश, प्राप्तिस्थान-विभव कुमार जैन कोठिया, बीना इटावा-४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-२००२, पृष्ठ-१०४।

२७. ***जिनभाषित*** (मासिक, जुलाई-२००२ एवं जुलाई-२००३), सम्पादक-प्रोफेसर डॉ. रतनचन्द्र जैन, ए-२, 'मानसरोवर', शाहपुरा, भोपाल-४६२ ०३९, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२४२४६६६।

२८. ***नवभारत*** (दैनिक, १७-११-२००२ एवं २२-११-२००२), सम्पादक-३, इन्दिरा प्रेस काम्प्लेक्स, रामगोपाल

माहेश्वरी मार्ग, एम. पी. नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश।

२९. ***इन्डिया टुडे*** (साप्ताहिक, हिन्दी-२७ नवम्बर, २००२, अँग्रेजी-२५-११-२००२), सम्पादक-लिविंग मीडिया इण्डिया लिमिटेड, एफ-१४/१५, कनॉट प्लेस, नई दिल्ली-११० ००१, फोन-(०११)२३३१५८०१ से ८०४

३०. ***मानतुंग पुष्प*** (साप्ताहिक, २५ से ३१ अक्टूबर, २००४), सम्पादक-सुभाषचन्द्र गंगवाल, १७४-एम. टी. क्लाथ मार्केट, दूसरा माला, इन्दौर-४५२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३१)२४५९१३० (दु.), २४६९७३५(नि.)।

३१. ***जैन मित्र*** (साप्ताहिक-१४ अक्टूबर, २००४), सम्पादक-शैलेष डाह्याभाई कापडिया, जैन विजय प्रिंटिंग प्रेस, खपाटिया चकला, गाँधी चौक, सूरत-३९५ ००३, गुजरात, फोन-(०२६१)२४२७६२१, मो. ९३७४७-२४७२७।

३२. ***नवभारत*** (दैनिक, २८ अक्टूबर, २००४), सम्पादक-पुराने बस स्टेण्ड के पास, नेपियर टाऊन, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६१)५००५१११।

३३. ***श्री जिनेन्द्र वर्णी स्मरणांजलि,*** सम्पादक-डॉ. सागरमल जैन एवं अन्य, प्रकाशक-ब्र. अरहन्त कुमार जैन, श्री जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला, ५८/४, जैन स्ट्रीट, पानीपत-१३२ १०३, हरियाणा, फोन-(०१८०) २६३८६५५, मो. ९४१६२-२१२३७, द्वितीय संस्करण-२००४, पृष्ठ-१२+१९०, मूल्य-८० रुपए।

३४. ***अमृत वाणी*** (सन्तों की वाणियों का संकलन) - संकलन एवं सम्पादन-परागपुष्प, प्रकाशक-डायनेमिक पब्लिकेशन्स (इ.) लि., द्वारा-आर. के. रस्तोगी, कृष्ण प्रकाशन मीडिया (प्रा.) लि., ११-शिवाजी रोड, मेरठ- २५० ००१, उत्तरप्रदेश, मूल्य-५० रुपए।

३५. ***वन्दना के स्वरों में,*** रचयिता-ऐलक श्री सम्यक्त्वसागरजी महाराज, प्रकाशक-श्रीपाल जैन 'दिवा', शाकाहार सदन, एल-७५, केसर कुंज, हर्षवर्धन नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश।

(ग) आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा सृजित प्रमुख रचनाएँ

१. मुनि विद्यासागरजी ने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने से पहले ही ब्रह्मचारी विद्याधर की अवस्था में आचार्य श्री माणिक्यनन्दी कृत सूत्रग्रन्थ ***'परीक्षामुख'*** पर आचार्य श्री अनन्तवीर्य लघु द्वारा संस्कृत भाषा में रचित न्यायविषयक टीकाग्रन्थ ***'प्रमेयरत्नमाला'*** की पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री द्वारा सम्पादित-अनुवादित 'चिन्तामणि' नामक हिन्दी व्याख्या/कारिकाओं को २४ अप्रैल १९६८ से लिखना प्रारम्भ कर दिया था। नसीराबाद, अजमेर, राजस्थान से प्रारम्भ हुआ यह लेखन कार्य क्रमशः मोर, मण्डा, दादिया आदि ग्रामों में २ सितम्बर १९६८ को द्वितीय समुद्देश्य के ग्यारहवें सूत्र तक उपलब्ध हुआ।

२. ***आप्तपरीक्षा*** का कन्नड़ अनुवाद - आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामी कृत न्यायविषयक ग्रन्थ ***'आप्त-परीक्षा'*** का उन्हीं की स्वोपज्ञ संस्कृत वृत्ति सहित का कन्नड़ अनुवाद मुनिराज श्री विद्यासागरजी ने अजमेर से किशनगढ़-रैनवाल, जयपुर, राजस्थान की ओर विहार काल के दौरान ग्राम फुलेरा में २८ अप्रैल १९७० से पूर्व ही प्रारम्भ किया। यह अद्यावधि अप्रकाशित है।

३. ***पंचास्तिकाय*** (संस्कृत), आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव विरचित 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थगत १८१ प्राकृत गाथाओं का मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर, राजस्थान में १९७१ में संस्कृत भाषा में अनुवाद 'वसन्ततिलका' छन्द में। अपूर्ण उपलब्ध एवं अप्रकाशित।

४. ***जम्बू स्वामी चरित्र***-आचार्य श्री ज्ञानसागरजी महाराज के समाधिमरणोपरान्त हिन्दी में अन्तिम अनुबद्ध केवली श्री जम्बूस्वामी का जीवन चरित्र आलेखन प्रारम्भ। किन्तु आधे लिखे जाने के उपरान्त प्रति गुम जाने से अपूर्ण एवं अप्राप्य।

५. ***अँग्रेजी रचनाएँ*** - अजमेर, राजस्थान में लिखित अँग्रेजी कविताएँ--My Self (मुद्रित), My Saint, My Ego-(अनुपलब्ध)

६. ***पंचास्तिकाय*** (हिन्दी पद्यानुवाद) - प्राकृत 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थ का हिन्दी 'वसन्ततिलका' छन्द में पद्यानुवाद कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश से मदनगंज-किशनगढ़, अजमेर, राजस्थान के लिए २८-०४-१९७८ को विहार काल के दौरान अनुवाद प्रारम्भ। अद्यावधि अनुपलब्ध एवं अप्रकाशित।

७. ***विज्जाणुवेक्खा*** (प्राकृत), १९७९ के थूबौन, गुना, मध्यप्रदेश के वर्षायोग काल में सृजित प्राकृत भाषा में निबद्ध 'विद्यानुप्रेक्षा' की ८ गाथाएँ ही उपलब्ध हो पाई हैं।

८. ***भावनाशतकम्*** (तीर्थंकर ऐसे बने), [डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश के एम. ए.-संस्कृत के पाठ्यक्रम में स्वीकृत रचना] रचयिता-आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज, संस्कृत टीकाकार-पं. डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक-मन्त्री, निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, प्राप्तिस्थान-जैन सूचना केन्द्र, १०-ए, चितपुर स्पर, कोलकाता-७०० ००७, पश्चिम बंगाल, प्रथमावृत्ति-१९७९, पृष्ठ-१२+६८, मूल्य-३ रुपए।

९. ***गोमटेस-थुदि*** ('गोमटेश अष्टक' का आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत पद्यानुवाद एवं डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु' द्वारा 'गोमटेस थुदि' की संस्कृत छाया, हिन्दी अर्थ एवं प्रस्तावना आदि, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश के एम. ए.- संस्कृत पाठ्यक्रम में स्वीकृत कृति) प्रकाशक - श्री भागचन्द्र इटोरिया सार्वजनिक न्यास, स्टेशन रोड, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, द्वितीय संस्करण-१९८२, पृष्ठ-१२, मूल्य-१.५० रुपए।

१०. ***जिनेन्द्र स्तुति***-आचार्य पात्रकेसरी के ***'पात्रकेसरी-स्तोत्रम्'*** संस्कृत ग्रन्थ का पद्यानुवाद ५० हिन्दी 'ज्ञानोदय' छन्दों में दो दोहों सहित सिद्धक्षेत्र नैनागिरिजी, छतरपुर, मध्यप्रदेश में २४ जुलाई १९८२ को पूर्ण। अप्रकाशित।

११. ***ज्ञान का विद्या-सागर*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा सृजित १२ ग्रन्थों के पद्यानुवादों का संकलन), प्रकाशक-श्रीमती रमा जैन, धर्मपत्नी लाला नेमचन्द जैन, पुरानागंज, सिकन्दराबाद, बुलन्दशहर, उत्तरप्रदेश, प्रथम संस्करण-१९८३, पृष्ठ -३८४।

१२. ***बंगला कविताएँ*** - ईसरी, गिरिडीह, झारखण्ड के प्रवासकाल में सन् १९८३ में लिखित ३ बंगला कविताएँ।

१३. ***दोहा दोहन*** - विभिन्न ग्रन्थों के पद्यानुवादों के साथ अतिरिक्त लिखित १३७ दोहों का १९८४ में प्रकाशित संग्रह का रजकण प्रकाशन, आनन्द लॉज, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश से १९८६ में प्रकाशित द्वितीय संस्करण, पृष्ठ-२६, मूल्य-२ रुपए।

१४. ***विद्या वाणी*** (खुरई में १९८५ में प्रदत्त प्रवचन एवं अन्य प्रवचन संग्रह), संकलक- विनोदकुमार जैन, पत्रकार साहित्य सचिव एवं कोषाध्यक्ष-श्री वीर सेवा दल, मंगल धाम, खुरई, सागर, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९८६, पृष्ठ-४२, मूल्य-५ रुपए।

१५. ***चरण आचरण की ओर*** (ईसरी, झारखण्ड में प्रदत्त उद्बोधन), प्रकाशक- श्रमण भारती, मैनपुरी, प्राप्तिस्थान - डॉ. सुशील कुमार जैन, जैन क्लीनिक, सिटी पोस्ट आफिस के सामने, मैनपुरी-२०५ ००१, उत्तरप्रदेश,

फोन-(०५६७२) २३४३०२, मो. ९८३७१-१०२२०, प्रथमावृत्ति-१९८६, पृष्ठ-१८।

१६. ***तेरा सो एक*** (१३ प्रवचन संग्रह), रजकण प्रकाशन, आनन्द लॉज, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९८६, पृष्ठ-४ +७२।

१७. ***अकिंचित्कर*** (आस्रव-बन्ध के क्षेत्र में मिथ्यात्व के अकिंचित्कर विषयक १६ व २६ जून एव ६ अगस्त, '८६ को प्रदत्त सैद्धान्तिक प्रवचन), प्रकाशक- ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति- २२ नवम्बर, १९८७, पृष्ठ-१६+७४, मूल्य-४ रुपए।

१८. ***कुन्दकुन्द का कुन्दन*** (आचार्य विद्यासागरजी के पद्यानुवादों में से चयनित पद संग्रह), संकलन-डॉ. जिनेन्द्रकुमार जैन, प्रकाशक- आचार्य श्री विद्यासागर शोध संस्थान, पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९८८, पृष्ठ-६८, मूल्य-३ रुपए।

१९. ***चेतना के गहराव में*** (सचित्र प्रतिनिधि काव्य संग्रह), ['डूबो मत, लगाओ डुबकी' काव्य संग्रह से २०, 'तोता क्यों रोता ?' काव्य संग्रह से ३६ एवं नूतन/अन्य २१ कविताओं सहित ५ खण्डों में प्रकाशित] प्रकाशक-ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश से प्रकाशित राज संस्करण-१९८८, पृष्ठ-६+९२, मूल्य-६० रुपए।

२०. ***कन्नड़ कविताएँ*** - पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर, मध्यप्रदेश में द्वितीय चातुर्मास १९८८ के दौरान कन्नड़ में लिखित ४ कविताएँ।

२१. ***सत्य की छाँव में*** - ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९८८, पृष्ठ - ३२, मूल्य-२ रुपए।

२२. दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र अन्तरिक्ष पार्श्वनाथजी, शिरपुर, वाशिम, महाराष्ट्र के सम्बन्ध में आचार्य श्री मदनकीर्ति कृत ***'शासन-चतुस्त्रिंशिका'*** के पद्य का अनुवाद, १९९०।

२३. ***समागम*** (प्रवचन संग्रह), सम्पादक-मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, प्रकाशक-भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१) २७३०३९०, प्रथमावृत्ति-१९९१, पृष्ठ-१०१, मूल्य-१५ रुपए।

२४. ***विद्या काव्य भारती*** (६ हिन्दी शतक एवं शारदा स्तुति का संकलन), प्रकाशक-श्री विद्यासागर शिक्षा समिति, कटंगी, जबलपुर, मध्यप्रदेश, द्वितीय आवृत्ति-१९९१, पृष्ठ-११२, मूल्य-१० रुपए।

२५. ***प्रवचनामृत*** (फिरोजाबाद, उत्तरप्रदेश, १९७५ के प्रवचन संग्रह, भाग-३), प्रकाशक-ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, संस्करण-१९९१, पृष्ठ-१२+२५।

२६. ***पञ्चशती*** (संस्कृत में रचित ५ शतक, इन्हीं में से ३ शतकों का अन्वयार्थ, इन्हीं पाँचों शतकों का पद्यानुवाद आचार्य श्री विद्यासागरजी द्वारा एवं डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा इन शतकों पर लिखित संस्कृत टीका एवं हिन्दी अर्थ), प्रकाशक-अजित प्रसाद जैन, ४१४१-आर्यपुरा, पुरानी सब्जीमण्डी, दिल्ली-११० ००६, फोन-(०११)२३८२९१२३, प्रथमावृत्ति-१९९१, पृष्ठ-१६+३५२।

२७. ***धीवर की धी*** (प्रवचन), प्रकाशक - दुलीचन्द देवराज कुम्भारे परिवार, खापरखेड़ा , नागपुर, महाराष्ट्र, प्राप्तिस्थान-ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९२, पृष्ठ-३२।

२८. ***सीप के मोती*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी की सूक्तियों का संचयन), प्रकाशक-ज्ञानोदय नवयुवक सभा, लार्डगंज जैन मन्दिर, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, प्रथम संस्करण-१९९३, पृष्ठ-३२, मूल्य-२ रुपए।

२९. ***प्रवचन सुरभि*** (अजमेर में १९७४ की चातुर्मासावधि में प्रदत्त प्रवचनों का सार), संकलक-कमलकुमार जैन, अजमेर, प्रकाशक-विमलचन्द्र जैन, २५९- श्रीमन्तम्, आदर्श नगर, न्यू बैंक कॉलोनी, अजमेर रोड, ब्यावर, अजमेर, राजस्थान, प्रथम-संस्करण-१९९३, पृष्ठ-२४+३६२, मूल्य-२५ रुपए।

३०. ***प्रवचन पर्व*** (सिद्धक्षेत्र अहारजी में १९८५ में दशलक्षण पर्व पर प्रदत्त प्रवचन संकलन), प्रकाशक-श्री मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, सन्तोषकुमार जयकुमार जैन बैटरीवाले, कटरा बाजार, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९३, पृष्ठ-१३०, मूल्य-१० रुपए।

३१. ***प्रवचन पीयूष*** (फिरोजाबाद, उत्तरप्रदेश में १९७५ के प्रवास पर प्रदत्त प्रवचन संग्रह, प्रवचनामृत-दो भागों का संकलन), प्रकाशन सम्प्रेरक-आर्यिका श्री दृढ़मतीजी ससंघ, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन मुनिसंघ चातुर्मास समिति, भगवान् महावीर विहार, गंजबासौदा, विदिशा, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९३, पृष्ठ-८+९२, मूल्य-१५ रुपए।

३२. ***कर विवेक से काम*** (रामटेक, महाराष्ट्र में २९-८-१९९३ को भगवान् शान्तिनाथ के महामस्तकाभिषेक के प्रसंग पर प्रदत्त एक प्रवचन), सम्पादन-मुनि श्री समतासागरजी महाराज, प्रकाशक-सी. एम. टेक्सटाइल्स, २-असेम्बली लेन, दादी सेठ अग्यारी रोड, मुम्बई-४०० ००२, महाराष्ट्र, प्रथमावृत्ति-१९९३, पृष्ठ-१६।

३३. ***सर्वोदय अष्टक*** - सर्वोदय तीर्थ अमरकण्टक, अनूपपुर, मध्यप्रदेश में प्रथम प्रवासकाल के दौरान १९९४ में 'सर्वोदय शतक' के साथ सृजित।

३४. ***सर्वोदय सार*** (सर्वोदय तीर्थ, अमरकण्टक में १९९४ में प्रदत्त २४ प्रवचनों का सार-संक्षेप), संकलक-वेदचन्द्र जैन, पत्रकार, पेण्ड्रारोड, छत्तीसगढ़, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन सर्वोदय तीर्थ अमरकण्टक कमेटी, अमरकण्टक, अनूपपुर, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९४, पृष्ठ-७+५७।

३५. ***स्तुति सौरभ***, (आचार्य विद्यासागरजी द्वारा रचित पाँच शतक आदि अनेक रचनाओं का संकलन), प्रकाशन प्रेरक-आर्यिका श्री दृढ़मतीजी ससंघ, प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान-दिगम्बर जैन समाज रेवाड़ी, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर कुआँवाला, जैनपुरी, रेवाड़ी- १२३ ४०१, हरियाणा, प्रथम संस्करण-१९९४, पृष्ठ-२२ +३४४, मूल्य-३५ रुपए।

३६. ***सागर बूँद समाय*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी के १२४५ विचार सूत्रों एवं १५६ दोहों का संग्रह), संकलन-संयोजन-मुनि श्री समतासागरजी महाराज, प्राप्तिस्थल-सिंघई महेशकुमार अजितकुमार जैन, सिंघई ब्रदर्स, रघुनाथ गंज, कटनी-४८३ ००१, मध्यप्रदेश, द्वितीय आवृत्ति-१९९५, पृष्ठ-१४+१६८।

३७. ***एक परिचय : मौन साधक का*** (आचार्य विद्यासागरजी का परिचय एवं उनकी कुछ रचनाओं का संकलन) संकलन-मुनि श्री सुखसागरजी महाराज, सम्पादक-मनीष जैन मोदी, प्रकाशक-हिन्द युवा मंच, ९२७-गंजीपुरा चौक, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९५, पृष्ठ-५+४७।

३८. ***सागर मन्थन*** (आचार्य विद्यासागरजी के ६६ प्रवचन एवं ८७ दोहों का संकलन), प्रकाशन-सम्प्रेरक- आर्यिका श्री दृढ़मतीजी ससंघ, प्रकाशक-श्रीमती पुष्पादेवी सुभाषचन्द्र सर्राफ, जैन गली, हिसार, हरियाणा, प्रथमावृत्ति-१९९५, पृष्ठ-२०+३६०।

३९. ***समग्र : आचार्य विद्यासागर (चार खण्ड)*** - [आचार्य श्री विद्यासागरजी के वाङ्मय का संग्रह]

प्रथम खण्ड : [मौलिक संस्कृत रचनाएँ, अन्वय, उन्हीं ग्रन्थों के पद्यानुवाद एवं डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य कृत हिन्दी अर्थ] १. श्रमणशतकम् (संस्कृत), २. श्रमणशतक (हिन्दी), ३. भावनाशतकम् (संस्कृत), ४. भावनाशतक (हिन्दी), ५. निरञ्जन-शतकम् (संस्कृत), ६. निरंजनशतक (हिन्दी), ७. परीषहजयशतकम्

(संस्कृत), ८. परीषहजयशतक (हिन्दी), ९. सुनीतिशतकम् (संस्कृत), १०. सुनीतिशतक (हिन्दी), ११. शारदास्तुतिरियम् (संस्कृत), १२. शारदास्तुति (हिन्दी)। कुल १२ रचनाएँ, पृष्ठ ८+५२०।

द्वितीय खण्ड : [जैन आचार्यों द्वारा सृजित प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थों का हिन्दी भावानुवाद] १. ***जैन गीता*** - ('समणसुत्तं' का पद्यानुवाद), २. ***कुन्दकुन्द का कुन्दन*** ('समयसार' का पद्यानुवाद), ३. ***निजामृत पान [कलशागीत]***('समयसार-कलश' का पद्यानुवाद), ४. ***द्रव्य-संग्रह*** ('वसन्ततिलका' छन्द एवं 'ज्ञानोदय' छन्द में पृथक्-पृथक् पद्यानुवाद), ५. ***अष्टपाहुड़***, ६. ***नियमसार***, ७. ***द्वादशानुप्रेक्षा***, ८. ***समन्तभद्र की भद्रता*** ('स्वयम्भू-स्तोत्र' का पद्यानुवाद), ९. ***गुणोदय*** ('आत्मानुशासन' का पद्यानुवाद), १०. ***रयणमंजूषा*** ('रत्नकरण्डक-श्रावकाचार' का पद्यानुवाद), ११. ***आप्तमीमांसा*** ('देवागम-स्तोत्र' का पद्यानुवाद), १२. ***इष्टोपदेश*** ('वसन्ततिलका' छन्द एवं 'ज्ञानोदय' छन्द में पृथक्-पृथक् पद्यानुवाद), १३. ***गोम्मटेस-थुदि*** ('गोम्मटेश अष्टक' का पद्यानुवाद), १४. ***कल्याणमन्दिर-स्तोत्र***, १५. ***नन्दीश्वर-भक्ति***, १६. ***समाधि-सुधा-शतकम्*** ('समाधितन्त्र' का पद्यानुवाद), १७. ***योगसार***, १८. ***एकीभाव-स्तोत्र***। कुल २० रचनाएँ, पृष्ठ १०+६३८।

तृतीय खण्ड : [मौलिक काव्य संग्रह, शतक, आचार्य परम्परा स्तवन एवं भक्ति-गीत] १. नर्मदा का नरम कंकर, २. डूबो मत,लगाओ डुबकी, ३. तोता क्यों रोता ?, ४. निजानुभव-शतक, ५. मुक्तक-शतक, ६. स्तुति-शतक, ८. सर्वोदय-शतक, ९. आचार्य श्री शान्तिसागरजी स्तुति, १०. आचार्य श्री वीरसागरजी स्तुति, ११. आचार्य श्री शिवसागरजी स्तुति, १२. आचार्य श्री ज्ञानसागरजी स्तुति, १३. भक्ति गीत --(क) अब मैं मम मन्दिर में रहूँगा, (ख) परभाव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर, (ग) मोक्ष-ललना को जिया ! कब बरेगा ? (घ) भटकन तब तक भव में जारी, (ङ) बनना चाहता यदि शिवांगना पति, (च) चेतन निज को जान जरा, (छ) समकित लाभ, (ज) My Self। कुल १३ रचनाएँ, पृष्ठ ६+४६६।

चतुर्थ खण्ड : [समय-समय पर प्रकाशित प्रवचन-संग्रहों के संकलन रूप प्रवचनावली]-

क. प्रवचनामृत - समीचीन धर्म, निर्मल दृष्टि, विनयावनति, सुशीलता, निरन्तर ज्ञानोपयोग, संवेग, त्यागवृत्ति, सत्-तप, साधु-समाधि सुधा-साधन, वैयावृत्य, अर्हत् भक्ति, आचार्य स्तुति, शिक्षागुरु स्तुति, भगवद् भारती भक्ति, विमल आवश्यक, धर्म प्रभावना, वात्सल्य। (कुल १७ प्रवचन)।

ख. गुरु वाणी - आनन्द का स्रोत - आत्मानुशासन, ब्रह्मचर्य - चेतन का भोग, निजात्मरमण ही अहिंसा है, आत्मलीनता ही ध्यान, मूर्त से अमूर्त, आत्मानुभूति ही समयसार, परिग्रह, अचौर्य। (कुल ८ प्रवचन)।

ग. प्रवचन पारिजात - जीव-अजीव तत्त्व, आस्रव तत्त्व, बन्ध तत्त्व, संवर तत्त्व, निर्जरा, मोक्ष तत्त्व, अनेकान्त। (कुल सात प्रवचन)।

घ. प्रवचन पंचामृत - जन्म : आत्मकल्याण का अवसर, तप : आत्म-शोधन का विज्ञान, ज्ञान : आत्म-उपलब्धि का सोपान, ज्ञान कल्याणक, मोक्ष : संसार के पार। (कुल पाँच प्रवचन)।

ङ. प्रवचन प्रदीप - समाधिदिवस : आचार्य श्री ज्ञानसागरजी, रक्षाबन्धन, दर्शन-प्रदर्शन, व्यामोह की पराकाष्ठा, आदर्श सम्बन्ध, आत्मानुशासन, अन्तिम समाधान, ज्ञान और अनुभूति, समीचीन साधना, मानवता। (कुल दस प्रवचन)।

च. प्रवचन पर्व - पर्व : पूर्व भूमिका, उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य एवं पारिभाषिक शब्दकोष। (कुल ११ प्रवचन एवं पारिभाषिक शब्दकोश)।

छ. पावन प्रवचन - धर्म : आत्म-उत्थान का विज्ञान, अन्तिम तीर्थंकर-भगवान महावीर, परम पुरुष-भगवान हनुमान (कुल ३ प्रवचन)।

ज. प्रवचन प्रमेय -(कुल १० प्रवचन)।

झ. प्रवचनिका - प्रारम्भ, श्रेष्ठ संस्कार, जन्म-मरण से परे, समत्व की साधना, धर्म देशना, निष्ठा से प्रतिष्ठा। (कुल ६ प्रवचन)। पृष्ठ ६+६१८।

समग्र : आचार्य विद्यासागर (४ खण्ड) : प्रकाशन सम्प्रेरक-मुनि श्री क्षमासागरजी महाराज ससंघ, प्रकाशक-समग्र प्रकाशन, सन्तोषकुमार जयकुमार जैन बैटरी वाले, कटरा बाजार, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२४४४७५, २४३७५५,मो. ९४२५८-९०९२१, प्रथम संस्करण-१९९६, मूल्य-३०० रुपए।

४०. ***महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली (४ खण्ड) :*** (चारों खण्डों का परिचयात्मक विवरण उपर्युक्तवत्) प्रकाशन सम्प्रेरक-मुनि श्री सुधासागरजी महाराज ससंघ, प्रकाशक-आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सेठजी की नसिया, ब्यावर-३०५ ९०१, अजमेर, राजस्थान एवं श्री दिगम्बर जैन मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१)२७३०३९०, २७३०५५२, ५१७७३००, प्रथम संस्करण-१९९६, प्रथम खण्ड-पृष्ठ-३२+५२८, मूल्य-८५ रुपए, द्वितीय खण्ड-३२+६८२, मूल्य-१०० रुपए, तृतीय खण्ड-३२+४८८, मूल्य-८५ रुपए, चतुर्थ खण्ड-३२+६१८, मूल्य-१०० रुपए।

४१. ***विश्वोदय*** ('सागर बूँद समाय' का लघुरूप-सूक्ति संकलन), सम्पादिका - सुश्री प्रीति जैन, प्राप्तिस्थान-प्रकाशचन्द्र दीपचन्द्र जैन लुहाड़िया, राधाकिशनपुरा वाले, १-क-२३, हाउसिंग बोर्ड, शास्त्री नगर, जयपुर, राजस्थान, प्रथमावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-६+३४।

४२. ***कौन कहाँ तक साथ देगा*** (प्रवचन संग्रहों में से चयनित १०१ दृष्टान्त संग्रह), संकलक-जयकुमार जैन, हिसार, प्रकाशक-वीर विद्या संघ-गुजरात, शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, साबरमती, अहमदाबाद, गुजरात, प्रथमावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-८+१२०, मूल्य-१२ रुपए।

४३. ***पावन शिल्पी*** (आचार्य विद्यासागरजी का व्यक्तित्व एवं कृतियों का संकलन), प्रकाशन सम्प्रेरक-आर्यिका श्री दृढ़मतीजी ससंघ, प्रकाशक-त्रिलोकचन्द पवनकुमार जैन, बड़तला यादगार, सहारनपुर-२४७ ००१, उत्तरप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-९२।

४४. ***प्रवचनिका*** (सागर, मध्यप्रदेश में १९९३ में सम्पन्न पंचकल्याणक एवं गजरथ महोत्सव के प्रसंग पर प्रदत्त प्रवचन संग्रह), प्रकाशक-श्री मुनिसंघ स्वागत समिति, सन्तोषकुमार जयकुमार जैन बैटरीवाले, कटरा बाजार, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-२६।

४५. ***स्वरूप सम्बोधन*** - आचार्य अकलंकदेव कृत ***'स्वरूप-सम्बोधनम्'*** (संस्कृत) का २५ हिन्दी पद्यों में भावानुवाद। १९९६, अप्रकाशित।

४६. ***शब्द-शब्द विद्या का सागर*** ('नर्मदा का नरम कंकर', 'डूबो मत-लगाओ डुबकी','तोता क्यों रोता?' काव्य संग्रहों का समन्वित प्रकाशन), प्रकाशन सम्प्रेरक-आर्यिका श्री दृढ़मतीजी ससंघ, प्रकाशक-विजयकुमार जैन, लक्ष्मी प्रिसिजन स्क्रूज लिमिटेड, हिसार रोड, रोहतक-१२४००१, हरियाणा, फोन-(०१२६२)२४२५२४, २४२५२० (नि.), २४८०९८, २४८७९०, मो. ९८१०१-७२०७९, द्वितीयावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-४+२९०।

४७. ***हाइकू कविताएँ*** - श्री विघ्नहर पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र महुआ, सूरत, गुजरात में १९९६ से जापानी कविता शैली में हाइकू लेखन प्रारम्भ होकर अभी तक तीन सौ से भी अधिक हाइकू आलेखित।

४८. ***दोहा शतक संग्रह*** (अनेक शतकों एवं रचनाओं का संकलन), प्रकाशक-के. एस. गारमेण्ट्स, २५-खजूरी बाजार, इन्दौर-४५२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३१) २५३५९५३, प्रथमावृत्ति-१९९७, पृष्ठ-११६।

४९. ***स्तुति मंजूषा*** (आचार्य विद्यासागर द्वारा लिखित पांच शतकों आदि का संकलन), संकलन एवं सम्पादन-आर्यिका श्री विशालमतीजी, प्राप्तिस्थान-श्री दिगम्बर जैन पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र कमेटी, बिजौलिया-३११ ६०२, भीलवाड़ा, राजस्थान, प्रथम आवृत्ति-१९९७, पृष्ठ-२०८।

५०. ***सिद्धोदय सार*** (सिद्धोदय तीर्थ, नेमावर, देवास, मध्यप्रदेश के प्रवास पर १९९७ में प्रदत्त ३८ प्रवचनों का सार-संग्रह), संकलन-ऐलक श्री नम्रसागरजी महाराज, प्रकाशक-अनिल कुमार जैन, बाम्बे-सागर रोडवेज, क्वेटा कॉलोनी, नागपुर-४४० ००२, महाराष्ट्र , फोन-(०७१२)२७७१४९१, २७७००८५, प्रथमावृत्ति-१९९८, पृष्ठ-१०+१३४, मूल्य-१० व्यक्तियों को शाकाहारी बनाना।

५१. ***आदर्शों के आदर्श*** (१० प्रवचनों का संग्रह), सम्पादक-मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, प्रकाशक-भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान, फोन-(०१४१)२७३०३९०, प्रथमावृत्ति-१९९९, पृष्ठ-४+११६, मूल्य-२० रुपए।

५२. ***अहिंसा का सूत्र*** (प्रवचनांश), संकलन-मुनि श्री अजितसागरजी महाराज, प्रकाशक-श्रीमती मीना अनिल कुमार जैन, बाम्बे सागर रोडवेज, क्वेटा कॉलोनी, नागपुर, महाराष्ट्र द्वितीयावृत्ति-१९९९, पृष्ठ-३६।

५३. ***विद्या-कथा-कुंज*** (महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली, भाग-चार पर आधारित ६३ नैतिक शिक्षाप्रद कहानियाँ), प्रकाशन सम्प्रेरक -मुनि श्री सुधासागरजी महाराज, संकलक-डॉ. कस्तूरचन्द्र जैन 'सुमन', प्रकाशक- श्री दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति, डी-३०२, विवेक विहार, दिल्ली - ११० ०९५, प्रथमावृत्ति- २०००, पृष्ठ-१२+७०, मूल्य-१५ रुपए।

५४. ***तपोवन देशना*** (गुजरात प्रवास-१९९६ पर प्रदत्त २४ प्रवचनों का संग्रह), संकलक-ऐलक श्री निर्भयसागरजी महाराज, सहयोगी-ऐलक श्री प्रज्ञासागरजी महाराज, प्रकाशक-श्री सकल दिगम्बर जैन समाज खाँदू कॉलोनी, बाँसवाड़ा, राजस्थान, प्राप्तिस्थान-चेतक सेल्स कार्पोरेशन, १०७-कामर्शियल एरिया, बाँसवाड़ा, राजस्थान, फोन-(०२९६२)२४१६६१, प्रथमावृत्ति-२०००, पृष्ठ-६+८६।

५५. ***कुण्डलपुर देशना*** (कुण्डलपुर-१९९५ एवं नेमावर-१९९७ में प्रदत्त प्रवचन-सार संग्रह), सम्पादन-ऐलक श्री निश्चयसागरजी महाराज, प्राप्तिस्थान-श्री दिगम्बर जैन अतिशय-सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर, दमोह, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-२००१, पृष्ठ-१६+१२०, मूल्य-१५ रुपए।

५६. ***प्रवचनसार*** ('प्रवचनसार' ग्रन्थ का भावानुवाद), पद्यानुवादक-आचार्य विद्यासागर, प्रकाशक-चक्रेश जैन, चक्रेश किराना स्टोर्स, इतवारी बाजार, छिन्दवाड़ा-४८० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७१६२)२२४२०६, प्रथमावृत्ति-२००१, पृष्ठ-५+१०५।

५७. ***धर्मदेशना*** (श्री दिगम्बर जैन सिद्धोदय सिद्ध क्षेत्र, नेमावर, देवास, मध्यप्रदेश में दशलक्षण पर्व, १९९७ पर प्रदत्त प्रवचन संग्रह), प्रकाशक-ज्ञानोदय प्रकाशन, पिसनहारी की मढ़िया, जबलपुर-४८२ ००३, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-२००१, पृष्ठ-१३६, मूल्य-२० रुपए।

58. ***Samana Suttam*** (Compiler-Jinendra Varni, Hindi Padyanuvad-Acharya Vidya Sagar) English Translator and Comantrator - Dasharathlal Jain, Pub.-Shri Digambar Jain Yuvak Sangh, Vidyasagar Nagar, Opp. Satyam Gas, Vijay Nagar, M.G. Road, Indore-452 010, Madhya Pradesh, Phone - (0731) 2570687, 2571851, 2570689, Mob. 98272-42453, First Edition-

2002, Page-78+374, Price-120/-.

५९. ***महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली से सर्वोदय आदि पंच शतकावली एवं आचार्य स्तुति-सरोज संग्रह*** (आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत सर्वोदय शतक, पूर्णोदय शतक, सूर्योदय शतक, मुक्तक शतक, दोहादोहन शतक एवं स्तुति-सरोज का संचयन), प्रकाशन सम्प्रेरक-आर्यिका श्री मृदुमतीजी ससंघ, संकलन-सम्पादन-अनिल जैन, विद्योदय प्रकाशन, विजय प्रेस, ललितपुर-२८४ ००३, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५१७६) २७३९४५, प्रथमावृत्ति-२००३, पृष्ठ-२०+९२, मूल्य-२० रुपए।

६०. ***भक्ति पाठावली*** (आचार्य पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित भक्तियों का महाकवि आचार्य विद्यासागर कृत हिन्दी पद्यानुवाद)- प्रकाशन सम्प्रेरक- आर्यिका श्री मृदुमतीजी ससंघ, संकलन-सम्पादन-अनिल जैन, विद्योदय प्रकाशन, विजय प्रेस, ललितपुर-२८४००३, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५१७६) २७३९४५, प्रथमावृत्ति-२००३, पृष्ठ-२०+४४, मूल्य-१५रुपए।

६१. ***महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली से जिन स्तुति आदि सप्त शतकावली*** (जिनस्तुतिशतक, निरंजनशतक, भावनाशतक, श्रमणशतक, परीषहजयशतक, निजानुभवशतक एवं सुनीतिशतक), प्रकाशन सम्प्रेरक-आर्यिका श्री मृदुमतीजी ससंघ, संकलन-सम्पादन-अनिल जैन, विद्योदय प्रकाशन, विजय प्रेस, ललितपुर-२८४ ००३, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५१७६) २७३९४५, प्रथमावृत्ति-२००३, पृष्ठ-२०+१५६, मूल्य-२५ रुपए।

६२. ***भक्ति पाठ*** (आचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी कृत ९ संस्कृत भक्तियों का आचार्य श्री विद्यासागरजी कृत पद्यानुवाद), प्रकाशक-श्रीमती पुष्पादेवी ओमप्रकाश जैन, सालू ग्रुप, अश्वमेघ अपार्टमेन्ट्स, पारले प्वाइन्ट, अठवा लाइन्स, सूरत, गुजरात, फोन-(०२६१) २२२६०९८, २२२६८५७, मो. ९८७९२-२१०००, पंचम संस्करण-आचार्य कुन्दकुन्द दीक्षा द्विसहस्राब्दि वर्ष सन्दर्भ, २००४, पृष्ठ-७४।

६३. ***गुरु भक्ति*** (आचार्य विद्यासागरजी द्वारा सृजित रचनाओं में से चयनित पद्यों का संकलन), प्रकाशन सम्प्रेरक-मुनि श्री प्रशान्तसागरजी महाराज ससंघ, प्रकाशक-सकल दिगम्बर जैन समाज, गुना, मध्यप्रदेश, प्राप्तिस्थान-पवन कुमार कठरया-अध्यक्ष-जैन समाज गुना, विद्यासागर नगर, चौधरी कॉलोनी, गुना-४७३००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५४२)२२४९३६(नि.), ५०११९(दु.), प्रथम आवृत्ति-२००४, पृष्ठ४+८४।

64. ***Pravachan-Parv*** (Preaching Paradise - English translation of Pravachan Parv- Preachings on Ten Dharmas) - Aacharya Vidyaasaagar, English Translation by - S. L. Jain, Flat-7/3, Nupur Kunj, E-3/185, Arera Colony, Bhopal - 462 016 (M.P.),Ph. (0755) 4293654, Mob. 94250-06804, Published by - Maitree Samooh, First Edition - April 2006, Page - 10+144, Price- 40/-.

65. ***Preaching Salvation*** (English translation of Pravachan Paarijaata - Preaching of Seven Tattavas)- Aacharya Vidyaasaagar, English Translation by - S. L. Jain, Flat - 7/3, Nupur Kunj, E-3/185, Arera Colony, Bhopal - 462 016 (M.P.), Ph. (0755) 4293654, Mob. 94250-06804, Published by- Maitree Samooh, First Edition- March 2007, Page- 16+108, Price-50/-.

६६. ***प्रवचनामृत*** (फिरोजाबाद, उत्तरप्रदेश, १९७५ के प्रवचन संग्रह, भाग-२), प्रकाशक-मुनिसंघ साहित्य प्रकाशन समिति, प्राप्तिस्थान-सन्तोषकुमार जयकुमार जैन बैटरी वाले, कटरा बाजार, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, पृष्ठ-८+४४, मूल्य-४ रुपए।

६७. ***चेतन चन्द्रोदय*** - संस्कृत में लिखित मौलिक शताधिक पद्य। अद्यावधि अप्रकाशित।

६८. ***धीवरोदय*** (संस्कृत चम्पूकाव्य) - अद्यावधि अप्रकाशित।

(घ) 'मूकमाटी' पर आधारित ग्रन्थ

१. ***'मूकमाटी' (महाकाव्य)***, रचयिता - आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८- इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-११० ००३, फोन (०११)२४६२६४६७, २४६५४१९६, २४६५६२०१, प्रथम संस्करण-१९८८, मूल्य-५० रुपए, सातवाँ संस्करण-२००४, पृष्ठ-२४+४८८, मूल्य-१४० रुपए।

२. ***'मूकमाटी'*** महाकाव्य के चयनित काव्यांशों पर श्री अशोक भंडारी, सुपुत्र-श्री रामगोपाल भंडारी, जबलपुर द्वारा ११० बहुरंगी चित्र/पेंटिंग १९८८ ई. में तैयार किए गए, अद्यावधि अप्रकाशित।

३. ***'मूकमाटी' महाकाव्य का मराठी में परिशीलन,*** प्रा. सौ. श्रीमती लीलावती जैन, सम्पादिका-'धर्म मंगल' (मराठी-हिन्दी मासिक), १-सलील अपार्टमेन्ट्स, प्लॉट नं ५७, सानेवाड़ी, औंध, पूना-४११ ००७, महाराष्ट्र, फोन-(०२०) २५८८७७९३ द्वारा 'धर्म मंगल' पत्रिका के १६-१-८९ से १६-२-९१ के अंकों में अनुवादात्मक रसग्रहण रूप धारावाहिक परिशीलन।

४. ***'मूकमाटी' का मराठी रूपान्तरण,*** अनुवादक-मनोहर ग. मारवडकर, १७-बी., 'स्वधर्म', महावीर नगर, ग्रेट नाग रोड, नागपुर-४४० ००९, महाराष्ट्र, १९९० ई., अप्रकाशित।

५. ***'मूकमाटी' महाकाव्य : काव्यशास्त्रीय निकष,*** लेखक-प्रो. शीलचन्द जैन, हिन्दी विभाग-डेनियलसन कॉलेज, छिन्दवाड़ा-४८०००१, मध्यप्रदेश, प्रकाशक-श्री दिगम्बर जैन समाज, छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश, प्रथम संस्करण-१९९१, पृष्ठ-४+१४४, मूल्य-१० रुपए।

६. ***प्रतीक और प्रतीक विज्ञान*** ('प्रतीक वैज्ञानिक विश्लेषण' अध्याय के अन्तर्गत पृ. १३८-१३९ पर 'मूकमाटी' के प्रतीकों का विश्लेषण), लेखक-प्रोफेसर (डॉ.) वृषभप्रसाद जैन, निदेशक-भाषा केन्द्र, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय विश्वविद्यालय, बी-१/२३, सेक्टर-जी, जानकीपुरम्, लखनऊ-२२६ ०२४, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५२२)२७३२७०३ (नि.), २७६१५४३ (का.), प्रकाशक-राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., १-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-११० ००२, फोन-(०११) २३२७४४६३, २३२६६४९८, २३२७६३७९, प्रथम संस्करण-१९९१, पृष्ठ-१५८, मूल्य-६० रुपए।

७. ***Mookmati*** ('मूकमाटी' का अँग्रेजी अनुवाद), अनुवादक-सिंघई सुगमचन्द जैन, स्वतन्त्रता संग्राम सैनानी, पिण्डरई-४८१ ६६८, मण्डला, मध्यप्रदेश, द्वारा-जयन्त कुमार जैन, वरिष्ठ व्याख्याता-शासकीय इंजीनियरिंग महाविद्यालय-जबलपुर, विहान निवास, यादव कॉलोनी, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, १९९२ ई., अद्यावधि अप्रकाशित।

८. ***'मूकमाटी' : एक दार्शनिक महाकृति*** ('रामपुरिया पुरस्कार' एवं 'जेजानी ट्रस्ट' पुरस्कार से पुरस्कृत रचना), डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', प्रकाशक-ऋषभ कुमार जेजानी, बनवारीलाल वंशीधर जेजानी चेरिटेबल ट्रस्ट, इतवारी, नागपुर- ४४० ००२, महाराष्ट्र, प्रथम आवृत्ति-१९९२, पृष्ठ-१९०, मूल्य-१५ रुपए।

९. ***'मूकमाटी' महाकाव्य के प्रतीकों का वैज्ञानिक विश्लेषण*** (बरकतुल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश से १९९० में एम.फिल. हेतु स्वीकृत लघु शोध प्रबन्ध), लेखक-रमेशचन्द्र मिश्र, प्राध्यापक-हिन्दी, साधु

वासवानी डिग्री कॉलेज, बैरागढ़, भोपाल, मध्यप्रदेश, प्रकाशक-शक्ति प्रकाशन, ५८- सुल्तानिया रोड, भोपाल, मध्यप्रदेश, प्रथम आवृत्ति-१९९२, पृष्ठ-६४, मूल्य-५० रुपए।

10. ***Acharya Vidyasagar's : Mookmati (Mute-Mud)***, Jaikishandas Sadani, Published by - Nirgrantha Sahitya Prakashan Samiti, P-4, Kalakar Street, Kolkata-700 007, West Bengal, First Edition -1994, Page- 20.

११. ***'मूकमाटी' : मुक्ति की मंगल यात्रा***- मुनि श्री समतासागरजी महाराज, प्रकाशक-डॉ. चन्द्रमोहन पाटनी, पाटनी सदन, अस्पताल रोड, विदिशा- ४६४ ००१, मध्यप्रदेश, प्रथम संस्करण-मार्च-१९९५, पृष्ठ-३२।

१२. ***'मूकमाटी' : चेतना के स्वर*** (नागपुर विश्वविद्यालय,नागपुर, महाराष्ट्र से डी. लिट्. के लिए १९८८ में स्वीकृत शोध-प्रबन्ध), लेखक-डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', पूर्व विभागाध्यक्ष-पाली एवं प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर, महाराष्ट्र, प्रकाशक-ऋषभकुमार जेजानी, जेजानी चेरिटेबल ट्रस्ट, पुरोहित डालडा कम्पनी के सामने, घाट रोड, नागपुर, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२)२७३००१५, २७६२१७७ (दु.), २७७९०४५ (नि.), मो. ९८२३१-१६२०९, प्रथम आवृत्ति-१९९५, पृष्ठ-८+३४६, मूल्य-५० रुपए।

१३. ***आचार्य कवि विद्यासागर का काव्य-वैभव*** ('मूकमाटी', 'नर्मदा का नरम कंकर', 'तोता क्यों रोता', 'चेतना के गहराव में,' 'डूबो मत, लगाओ डुबकी'--पाँच कृतियों पर समीक्षात्मक अध्ययन), लेखक- डॉ. शेखरचन्द्र जैन, पूर्व प्राचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष- श्रीमती सदगुणा सी. यू. आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद, प्रकाशक - दयाचन्द काशीप्रसाद जैन, सुकुमाल नगर, धनजी भाई के कुआँ के पास, चाँदलोड़िया, अहमदाबाद-३८२ ४८१, गुजरात, प्राप्तिस्थान-श्री कुन्थुसागर ग्राफिक्स सेन्टर,२५-शिरोमणी बंगलोज, बड़ोदरा एक्सप्रेस हाइवे के सामने, सी. टी. एम. चार रास्ता के पास, हाइवे, अहमदाबाद-३८० ०२६, गुजरात, फोन-(०७९) २५८५०७४४, २५८९१७७, प्रथम संस्करण-१९९७, पृष्ठ-१०+१०८, मूल्य२० रुपए।

१४. ***'मूकमाटी' (संक्षिप्त)***, सम्पादक-डॉ. अशोक के. शाह, राजपीपला, गुजरात, प्रकाशक-पंकज आर. गाँधी, पाप्युलर प्रकाशन, टावर रोड, सूरत, गुजरात, प्रथम आवृत्ति-१९९७, पृष्ठ-४+६४, मूल्य-१० रुपए।

१५. ***'मूकमाटी' का कन्नड़ रूपान्तरण***, अनुवादक-एच. व्ही. चौधरी, द्वारा-- ए. वाय. इंचाल, एम.आई.जी. फर्स्ट, हाऊस नं ५८, हुडको कॉलोनी, गदग-५८२ १०१, धारवाड़, कर्नाटक, १९९८ ई., अप्रकाशित।

१६. ***'मूकमाटी' का सौरभ*** ('मूकमाटी' महाकाव्य में प्रतिपादित मानव मूल्य), संकलन-डॉ. नीलम जैन, प्रधान सम्पादिका-'जैन महिलादर्श,' लखनऊ, प्रकाशक-श्री दिगम्बर साहित्य प्रकाशन समिति, जैन ट्रेडर्स, जैन मन्दिर के सामने, बरेला, जबलपुर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६१)२८९४८७, २८९४८३, प्रथम संस्करण-१९९८, पृष्ठ-९२, मूल्य-१२ रुपए।

१७. ***हिन्दी साहित्य में पर्यावरणीय चेतना*** (यू.जी.सी. के राष्ट्रीय सेमिनार में पठित आलेख-संकलन में ***पर्यावरण अनुचिन्तन और 'मूकमाटी'*** आलेख, पृष्ठ ९५ से १२० तक), सम्पादक-डॉ. वीरेन्द्र स्वर्णकार एवं डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती', प्रकाशक-सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर-४५० ३३१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३२५) २५४९२६, प्रथम आवृत्ति- १९९९, मूल्य-२०० रुपए।

१८. ***संवादों के सिलसिले*** -(डॉ. सन्तोष तिवारी द्वारा लिखित आलेखों के अन्तर्गत 'मूकमाटी' पर ***'विकास यात्रा की निरन्तरता : पद, पथ और पाथेय'*** समीक्षात्मक आलेख), लेखक-डॉ. सन्तोष कुमार तिवारी, प्रकाशक-अमर प्रकाशन, पण्डित केदारनाथ पचौरी भवन, सदर बाजार, मथुरा-२८१ ००१, उत्तरप्रदेश, प्रथम संस्करण-२०००, मूल्य-१५० रुपए।

१९. ***'मूकमाटी' महाकाव्य का मराठी भाषा में व्याख्यात्मक अनुशीलन***, श्रीमती विजया अविनाश संगई, अंजनगाँवसुर्जी - ४४४ ७०५, अमरावती, महाराष्ट्र, फोन-(०७२२४)२४२०७९ द्वारा 'सन्मति' (मराठी-मासिक), बाहुबली विद्यापीठ, कुम्भोज बाहुबली-४१३ ११०, कोल्हापुर, महाराष्ट्र, फोन-(०६१८६) २४८४४२२ के जुलाई से दिसम्बर, २००१ के अंकों में 'मूकमाटी' के प्रथम खण्ड का धारावाहिक रूप में प्रकाशन।

२०. ***आलोक कथाएँ*** (जीवन के उत्कर्ष की ९८ कथाओं के अन्तर्गत 'मूकमाटी' महाकाव्य की विषय-वस्तु पर केन्द्रित ***'दम्भी का सिर नीचा'*** शीर्षकगत ६० वीं कथा), लेखक-पद्मश्री यशपाल जैन, प्रकाशक-मन्त्री-सस्ता साहित्य मण्डल, एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११० ००१, फोन-(०११) २३३१०५०५, ५१५२३५६५, द्वितीय आवृत्ति-२००१, पृष्ठ-११६, मूल्य-२५ रुपए।

२१. ***The Silent Earth*** ('मूकमाटी' का अँग्रेजी रूपान्तरण), अनुवादक-लालचन्द जैन, पूर्व अध्यापक-वर्णी जैन इन्टर कॉलेज, 'आलोक भवन', ३९- छत्रसालपुरा, ललितपुर-२८४४०३, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५१७६) २७२६४०, २७३७४७, २००२ ई., भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८-इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई-दिल्ली-११० ००३ से प्रकाशनाधीन।

२२. ***'मूकमाती'*** ('मूकमाटी' का मराठी रूपान्तर), अनुवादक-मुनि श्री समाधिसागरजी महाराज, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, १८-इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली-११० ००३, प्रथम आवृत्ति-२००२, पृष्ठ-३२+४८८, मूल्य-१५० रुपए।

२३. ***'मूकमाटी' महाकाव्य के ६४ चयनित काव्यांशों पर रेखाचित्रांकन***-चित्रकार-प्रकाश माणिकसा राऊळ, शिक्षक-सीताबाई संगई कन्या शाला, संगई स्कूल के सामने, अंजनगाँव सुर्जी-४४४ ७०५, जिला-अमरावती, महाराष्ट्र, फोन-(०७२२४) २४२९६२, २४२०७९, २००४ ई., में तैयार किए गए चित्र, 'मूकमाटी-मीमांसा' (तीन खण्ड) में प्रकाशित।

२४. ***'मूकमाटी' का बंगला रूपान्तरण***, अनुवादक-ब्र. शान्तिकुमार जैन, तेरापन्थी कोठी, मधुवन-सम्मेद शिखरजी, गिरिडीह, झारखण्ड, फोन-(०६५२८) २३२२२८, २३२२२२, २००५ ई., अप्रकाशित।

25. ***Silent Soil (Mukamati)*** Author- Aacharya Vidyasagar, Translated by- Gyan Chand Biltiwala, Biltiwala House, Behind Rajasthan School of Arts, Kishanpole Bazar, Jaipur-302 003, Rajsthan, Phone (0141) 2313970, 2372640, Published by- Bhagwan Rishabhdev Granthmala, Shri Digamber Jain Atishaya Kshetra, Mandir Sanghiji, Sanganer, Jaipur, Rajsthan, Ph.- (0141) 2730390, Fax- 2731952, First Edition-- 2005, Page -- 42+512, Price-- 150/-.

२६. ***'मूकमाटी' महाकाव्य का कन्नड़ काव्यानुवाद***- अनुवादक-श्री बी.पी. न्यामगौड़ा, प्रोफे. कन्नड़ विभाग, कुसुमावती मिरजी कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, बेड़कीहाळ- ५९१ २१४, तालुका चिक्कोड़ी, बेलगाम, कर्नाटक, फोन-(०८३३८) २६२५९८, २००५ ई., प्रकाशनाधीन।

❑

(ङ) दिगम्बर जैनाचार्य सन्त शिरोमणि १०८ श्री विद्यासागरजी महाराज के विपुल वाङ्मय सम्बन्धी शोधकार्य

डी. लिट्.

(१) 'मूकमाटी' : चेतना के स्वर (डी. लिट्., १९९७, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर-४४० ००१, महाराष्ट्र
शोधार्थी - डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', पूर्व पाली एवं प्राकृत विभागाध्यक्ष, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर-४४० ००१, महाराष्ट्र
निवास - ११३-तुकाराम चाल, न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर-४४० ००१, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२) २५४१७२६
प्रकाशक - बनवारीलाल बंशीधर जेजानी चेरिटेबल ट्रस्ट, भाजी मण्डी, इतवारी, नागपुर-४४० ००२ एवं आलोक प्रकाशन, सन्मति रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, ११३-न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर-४४० ००१, महाराष्ट्रप्रथमावृत्ति-१९९५, पृष्ठ-८+३४६, मूल्य-५० रुपए
सम्पर्क सूत्र - ऋषभ कुमार जेजानी, पुरोहित डालडा कम्पनी के सामने, घाट रोड, नागपुर, महाराष्ट्र
मो. ९८२३१-१६२०९, फोन-(०७१२)२७६२१७७ (का.), २७७९०४५ (नि.)

(२) स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी जैन साहित्य और आचार्य विद्यासागर के समग्र साहित्य का अनुशीलन (डी. लिट्., अपूर्ण, १९९२, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती', वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर-४५० ३३१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३२५) २५४९२६
निवास - एल-६५, न्यू इन्दिरा नगर-ए, अहिंसा मार्ग, बुरहानपुर-४५० ३३१, मध्यप्रदेशफोन- (०७३२५) २५७६६२
निदेशक - डॉ. बलभद्र तिवारी, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष-डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
निवास - दुबे ट्रस्ट बिल्डिंग, पॉवर हाऊस के सामने, सागर-४७० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२) २२४४७७

(३) महामनीषी आचार्य श्री विद्यासागर : जीवन एवं साहित्यिक अवदान (डी. लिट्., अपूर्ण, १९९३, हिन्दी विभाग)

शोधार्थी - (स्व.) डॉ. विमल कुमार जैन, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष-डॉ. जाकिर हुसैन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
निवास - २९/२३, शक्ति नगर, दिल्ली-११० ००७, फोन-(०११)२७४५१५६०, २७४३६१४०
प्रकाशक - ज्ञानोदय संस्थान, जैन बाग, वीर नगर, सहारनपुर-२४७ ००१, उत्तरप्रदेश
प्रथमावृत्ति-१९९६, पृष्ठ-२०+६७६, मूल्य-१०० रुपए
सम्पर्क सूत्र - राजेन्द्र कुमार जैन, ८/११२७, जैन बाग, वीर नगर, सहारनपुर, फोन-(०१३२) २६५८८४८ (नि.), २७२४४२३ (दु.)।
निर्मल कुमार जैन, जैन बाग, वीर नगर, सहारनपुर-२४७ ००१, फोन-(०१३२) २७४२१८६, २७४६८१५

(४) आचार्य ज्ञानसागर एवं आचार्य विद्यासागर प्रणीत संस्कृत साहित्य में धर्म, दर्शन एवं समाज का तुलनात्मक अध्ययन (डी. लिट्., शोधरत, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा-२८२ ००४, उत्तरप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. अजित कुमार जैन, रीडर-संस्कृत विभाग, एफ. बी. कॉलेज, अलीगढ़-२०२ ००२, उत्तरप्रदेश
निवास - जैन गली, धूलियागंज, आगरा-२८२ ००३, उत्तरप्रदेश, मो. ९४१२६-५२५६८, फोन-(०५६२) २६२०३०२

पीएच. डी.

(५) संस्कृत शतक परम्परा एवं आचार्य विद्यासागर के शतक (पीएच. डी., १९८४, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. श्रीमती आशालता मलैया, प्राध्यापिका एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय, सागर
निवास - सीनियर एच. आई. जी.-४१, द्वारिका विहार, एम्प्लॉयमेण्ट एक्सचेंज के पीछे, तिली ग्राम सागर- ४७० ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२) २३७१३५
प्रकाशक - श्री बाबूलाल जैन, जयश्री आइल मिल्स, गवलीपारा, दुर्ग, छत्तीसगढ़, प्रथमावृत्ति-मई, १९८९, पृष्ठ-३०+४७२
सम्पर्क सूत्र - सुरेश जैन, दुर्ग, फोन-(०७८८) २२११७०४ (नि.), २२१०१०४, २२१०३०४ (दु.), मो.-९४२५२-४३४१२

(६) संस्कृत काव्य के विकास में बीसवीं शताब्दी के जैन मनीषियों का योगदान (पीएच. डी., १९९२, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. नरेन्द्र सिंह राजपूत, अध्यापक-शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पटेरा, दमोह, मध्यप्रदेश फोन- (०७६०५)२७२३०१, २७२३०५
निवास - मड़िया देवीसींग, तहसील- पटेरा- ४७० ७७२, जिला- दमोह, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', पूर्व प्राध्यापक-संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय, दमोह, मध्यप्रदेश
निवास - २८, सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७८१२) २३११३५
प्रकाशक - आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, सेठजी की नसिया, ब्यावर-३०५ ९०१, अजमेर, राजस्थान एवंभगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान से संयुक्त रूप में प्रकाशित, फोन-(०१४१)२७३०३९०, प्रथम संस्करण-१९९६,पृष्ठ-१६+३०४, मूल्य-५०रुपए

(७) हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर के कृतित्व का अनुशीलन (पीएच. डी., १९९३, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. बारेलाल जैन, संविदा प्राध्यापक-महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२)२३१३७२
निवास - श्री दिगम्बर जैन मन्दिर परिसर, कटरा, रीवा-४८६ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२)४०६७८६, मो.९४२४३-३७८४६
निदेशक - डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य-शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश एवं पूर्व सलाहकार सदस्य- रक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
निवास - नूतन विहार कॉलोनी, ढौंगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश फोन-(०७६८३)२४०९०७(नि.), २४२३३५ (का.), मो. ९४२५८-८२३२०
प्रकाशक - निर्ग्रन्थ साहित्य प्रकाशन समिति, पी-४, कलाकार स्ट्रीट, कोलकाता-७०० ००७, पश्चिम बंगाल, फोन-(०३३) २२७४८८७९, २२७४६०४९ (नि.), २२७४८७३४, २२७४८२४१ (का.), फेक्स-२२५९७७८६, मो. ९८३१०-१०७१७
प्रथम संस्करण-१९९८, पृष्ठ-२२+२५४, मूल्य-४५ रुपए

(८) जैन दर्शन के सन्दर्भ में मुनि श्री विद्यासागर जी के साहित्य का अनुशीलन (पीएच. डी., १९९३, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) किरण जैन, धर्मपत्नी-डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन, वरिष्ठ प्रवक्ता-वाणिज्य विभाग डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
निवास - ११७, जे. के. हाउस, लेवर कोर्ट के पीछे, मनोरमा कॉलोनी, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश फोन-(०७५८२) २३७३५३, २२१२४६
निदेशक - प्रोफेसर डॉ. सुरेश आचार्य, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश
मुद्रित ग्रन्थ नाम - **'जैन दर्शन और मुनि विद्यासागर'**
प्रकाशक - आदित्य पब्लिशर्स, जोगेश्वरी माता काम्प्लेक्स, पाठक वार्ड, बीना-४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश फोन-(०७५८०)२२०६४४ (नि.), २२१३७२ (का.), प्रथमावृत्ति-२००१, पृष्ठ-१४+३७८, मूल्य-४५० रुपए

(९) आचार्य विद्यासागर : व्यक्तित्व एवं काव्य कला (पीएच. डी., १९९६, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) माया जैन, धर्मपत्नी डॉ. उदय चन्द्र जैन, एसो. प्रोफे. एवं अध्यक्ष-जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान
निवास - पिउ कुञ्ज, ३-अरविन्द नगर, जैन स्थानक के पास, उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान, फोन-(०२९४) २४९१९७४
निदेशक - डॉ. पी. आर. मालीवाल, एसोशिएट प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान
प्रकाशक - भगवान् ऋषभदेव ग्रन्थमाला, श्री दिगम्बर जैन मन्दिर संघीजी, सांगानेर-३०३ ९०२, जयपुर, राजस्थान फोन-(०१४१) २७३०३९०, प्रथमावृत्ति-१९९७, पृष्ठ-५२+३३२, मूल्य -५० रुपए

(१०) आचार्य श्री विद्यासागर कृत 'मूकमाटी' का सांस्कृतिक अनुशीलन (पीएच. डी., १९९८, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर-४९२ ०१०, छत्तीसगढ़
शोधार्थी - डॉ. चन्द्र कुमार जैन, सहायक प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, शासकीय दिग्विजय महाविद्यालय, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़
निवास - दुर्गा चौक, दिग्विजय पथ, राजनांदगाँव-४९१ ४४१, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७४४) २२५६४७
निदेशक - डॉ. गणेश खरे, पूर्व प्राचार्य-शासकीय महाविद्यालय, घुमका, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़
निवास - 'सिद्धि सदन', गायत्री कॉलोनी, कमला कॉलेज रोड, राजनांदगाँव-४९१ ४४१, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७४४) २२५९९०

(११) जैन विषय वस्तु से सम्बद्ध आधुनिक हिन्दी महाकाव्यों में सामाजिक चेतना (पीएच. डी., १९९९, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) सुशीला सालगिया, पूर्व प्राचार्या-कलाथ मार्केट कन्या विद्यालय, गणेशगंज, इन्दौर-४५२ ००२, मध्यप्रदेश
निवास - फ्लेट नं. ४, मेग्नम अपार्टमेण्ट्स, समवसरण मन्दिर के पीछे, साउथ तुकोगंज, इन्दौर, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. दिलीप चौहान, प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, बी. एस. शासकीय महाविद्यालय, देपालपुर, इन्दौर, मध्यप्रदेश
पूर्व निदेशक - (स्व.) डॉ. परमेश्वरदत्त शर्मा, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर, मध्यप्रदेश

(१२) 'कामायनी' और 'मूकमाटी' महाकाव्य का काव्यशास्त्रीय अध्ययन (पीएच. डी., २००१, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. संजय कुमार मिश्र
निवास - (१) कृष्णचन्द्र मिश्र, बल्ले बसगड़ी, ग्राम-अतरैला नं. १२, व्हाया चाकघाट-४८६ २२६, रीवा, मध्यप्रदेश
(२) द्वारा-एस. एस. तिवारी, सुभाष मार्ग, उर्रहट, रीवा-४८६ ००१, मध्यप्रदेश
निदेशक - प्रोफेसर (स्व.) डॉ. कौशल प्रसाद मिश्र, हिन्दी विभागाध्यक्ष, महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
निवास - गायत्री नगर, रीवा, मध्य प्रदेश, फोन-(०७६६२) २३०५१५

(१३) आचार्य विद्यासागर की लोक दृष्टि और उनके काव्य का कलागत अनुशीलन (पीएच. डी., २००२, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) सुनीता दुबे, सहायक प्राध्यापिका-हिन्दी विभाग, एस. एस. एल. जैन महाविद्यालय, विदिशा-४६४००१, मध्यप्रदेश
निवास - द्वारा-रमेश दुबे, मकान नं. ११०, गाँधी नगर कॉलोनी, टीलाखेड़ी रोड, विदिशा-४६४००१, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. शीलचन्द्र जैन पाली वाले, हिन्दी विभागाध्यक्ष-एस. एस. एल. जैन महाविद्यालय, विदिशा-४६४ ००१, मध्यप्रदेश
निवास - १९, वाचनालय मार्ग, विदिशा-४६४००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५९२)२३१०८९

(१४) हिन्दी साहित्य की सन्त काव्य परम्परा के परिप्रेक्ष्य में आचार्य विद्यासागर जी के साहित्य का मूल्यांकन (पीएच. डी., २००३, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा-२८२ ००४, उत्तरप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. रामनरेश सिंह यादव
निवास - आटो पार्ट्स विक्रेता, ज्योति टॉकीज का चौराहा, मैनपुरी-२०५ ००१, उत्तरप्रदेश
निवास - १४६, कटरा, मैनपुरी-२०५ ००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५६७२) २४०१८९

(१५) 'मूकमाटी' का शैलीपरक अनुशीलन (पीएच. डी., २००४, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) मीना जैन, धर्मपत्नी-सुनील जैन
निवास - सुनील किराना स्टोर्स, मेन रोड, ओबेदुल्लागंज-४६४९९३, रायसेन, मध्यप्रदेश, फोन-(०७४८०) २२४५१०
निदेशक - डॉ. (श्रीमती) मधुबाला गुप्ता, सहायक प्राध्यापिका-हिन्दी विभाग, सरोजिनी नायडू शासकीय स्नातकोत्तर कन्या स्वशासी महाविद्यालय, शिवाजी नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश
मार्गदर्शन - डॉ. रतनचन्द्र जैन, ए-२, मानसरोवर, शाहपुरा, भोपाल-४६२ ०३९, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२४२४६६६

(१६) हिन्दी महाकाव्य परम्परा में 'मूकमाटी' का अनुशीलन (पीएच. डी., २००४ , हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - डॉ. (श्रीमती) अमिता जैन, धर्मपत्नी-मनीष कुमार मोदी, च्वाइस सेल्यूशन मल्टी इण्टरनेशनल लिमिटेड, ४९/१५,

कालकाजी, नई दिल्ली-११० ०१९

निवास - जे-१/१३०, डी. डी. ए. फ्लेट्स, कालकाजी, नई दिल्ली-११० ०१९, मो. ९८७३०-०१५५३

निदेशक - डॉ. (श्रीमती) सरोज गुप्ता, सहायक प्राध्यापिका-शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश

निवास - द्वारा-डॉ. हरिमोहन गुप्ता, जी-४/१, जी. ए. डी. कॉलोनी, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२२६७१८

(१७) आचार्य श्री विद्यासागर जी के साहित्य में उदात्त मूल्यों का अनुशीलन (पीएच. डी., २००४, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश

शोधार्थी - डॉ. रश्मि जैन, सहायक प्राध्यापिका-हिन्दी विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय, बीना-४७० ११३, मध्यप्रदेश

निवास - दिनेश ट्रेडर्स, सर्वोदय चौक, बीना-४७०११३, सागर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८०)२२३६२८, मो. ९४२५४-५३२५१

निदेशक - डॉ. (श्रीमती) सन्ध्या टिकेकर, सहायक प्राध्यापिका-हिन्दी, शासकीय कन्या महाविद्यालय, बीना-४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश

निवास - 'समाधान', कानूनगो वार्ड, बीना-४७० ११३, सागर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८०)२२३८७३,मो.९३२९७-८३८३३

(१८) आचार्य विद्यासागर के साहित्य में जीवन-मूल्य (पीएच. डी., २००६, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश

शोधार्थी - श्रीमती निधि गुप्ता, धर्मपत्नी-सुभाष चन्द्र गुप्ता

निवास - द्वारा- आर. पी. व्यास, बी-३, विद्या विहार, जैन मन्दिर के पास, पद्मनाभपुर, दुर्ग, छत्तीसगढ़, मो.-०७८८३१-२९९९२

निदेशक - प्रो. डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य-शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश

निवास - नूतन विहार कॉलोनी, ढींगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३)२४०९०७, मो. ९४२५८-८२३२०

(१९) आचार्य विद्यासागर के 'मूकमाटी' महाकाव्य का अनुशीलन (पीएच. डी., २००७, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश

शोधार्थी - श्रीमती निधि ए. जैन 'देवा'

निवास - (१) एच. ७९, एम.आई.जी. कॉलोनी, इन्दौर, मध्यप्रदेश, मोबा. ९८२६७-९८२५०, ९८२६०-३२९५९
(२) सुमति चन्द्र जैन, अस्टोन कुटीर, नगर भवन के सामने, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश फोन- (०७६८३)२४२०६०

निदेशक - प्रो. डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य-शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश

निवास - नूतन विहार कॉलोनी, ढींगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३)२४०९०७, मो. ९४२५८-८२३२०

(२०) सन्त कवि आचार्य श्री विद्यासागर की साहित्य साधना (पीएच. डी. शोधरत, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, कानपुर रोड, झाँसी-२८४ १२८, उत्तरप्रदेश

शोधार्थी - श्रीमती राजश्री जैन, धर्मपत्नी-संजीव कुमार जैन

निवास - जी. एच. १४/८४३, पश्चिम विहार, नई दिल्ली, मोबा. ०९३१००-७६७६३, ०९३१३६-८६६२७

निदेशिका - डॉ. कुसुम गुप्ता, रीडर-हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड स्नातकोत्तर महाविद्यालय, झाँसी-२८४ ००२, उत्तरप्रदेश

निवास - ३९९/६, सी.पी. मिशन कम्पाउण्ड, झांसी, उत्तरप्रदेश, फोन (०५१०) २४४४२२५, मो. ०९४१४०-३१५५०

(२१) भक्ति काव्य के मूल्य और आचार्य विद्यासागर का काव्य (पीएच. डी., शोधरत, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश

शोधार्थी - कु. शालिनी गुप्ता

निवास - सुपुत्री-सुन्दरलाल गुप्ता, विद्यासागर मार्ग, गहरवार प्रेस रोड, पुरानी सिन्धी मिल के पास, कोतमा-४८४ ३३४, अनूपपुर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६५८)२३४००६ (कोमलचन्द जैन)

निदेशक - डॉ. श्रीमती उर्मिला द्विवेदी, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, शासकीय ठाकुर रणमतसिंह महाविद्यालय, रीवा-४८६ ००२, मध्यप्रदेश

निवास - म. न. २८३, मारुती स्कूल के पास, नेहरू नगर, रीवा, मध्यप्रदेश, फोन (०७६६२) २३१५२०, मो. ९४२५८-७४४४५

(२२) जैन दर्शन और शैव दर्शन में साम्य तथा वैषम्य -'मूकमाटी' व 'कामायनी' के विशेष सन्दर्भ में (पीएच. डी., शोधरत, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर-४९५ ००९, छत्तीसगढ़

शोधार्थी - श्रीमती अर्पणा जैन 'सोनू', सुपुत्री-श्री सन्तोष कुमार जैन
निवास - (१) श्रीमती अर्पणा जैन, द्वारा-प्राची ड्रेसेस, दुबे काम्प्लेक्स, सदर बाजार, बिलासपुर, छत्तीसगढ़ मो.९८२६५-८९४३०, ९४२४१-६३०७७
(२) दिनेश एण्ड कम्पनी, वस्त्र विक्रेता, जैन मन्दिर के सामने, मनेन्द्रगढ़-४९७ ४४२, कोरिया, छत्तीसगढ़ फोन-(०७७७१)२४१३२३
निदेशक - प्रोफे. (डॉ.) शिव प्रसाद मिश्र, अधिष्ठाता-कला संकाय, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर, छत्तीसगढ़ अध्यक्ष- हिन्दी विभाग, सी. एम. डी. (पी. जी.) कॉलेज, बिलासपुर-४९५ ००२, छत्तीसगढ़ फोन- (०७७५२) २२५१७७
निवास - बस स्टेण्ड, बिलासपुर-४९५ ००२, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७५२) २२२२९८

(२३) आधुनिक हिन्दी काव्य के विकास में आचार्य श्री विद्यासागरजी का योगदान (पीएच. डी., शोधरत, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर-४७४ ०११, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - प्रशान्त कुमार जैन
निवास - किराना मर्चेण्ट, दिगम्बर जैन बड़ा मंदिर के पास, राघौगढ़ - ४७३ २२६, गुना, मध्यप्रदेश फोन- (०७५४४) २६२३५२, २२२३५४, मो. ९९२६६-१७३२६
निदेशक - डॉ. दिनकर वी. पेंढारकर, पूर्व प्राचार्य-शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना, मध्यप्रदेश
निवास - मटकरी कॉलोनी, गुना, मध्यप्रदेश, फोन - (०७५४२) २५५०५७
सह-निदेशक - डॉ. सतीशचन्द्र चतुर्वेदी, सहायक प्राध्यापक - शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गुना, मध्यप्रदेश
निवास - सिसोदिया कॉलोनी, गुना, मध्यप्रदेश, फोन - (०७५४२) २५६९२४, मो. ९८९३३-८४८३१

(२४) आचार्य विद्यासागरजी का बहुआयामी व्यक्तित्व एवं कृतित्व (पीएच. डी., शोधरत, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - सुश्री संगीता जैन, द्वारा- श्री डी.सी. जैन, आर.आर.बी., वसुन्धरा कॉलोनी, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', पूर्व सचिव-म.प्र. संस्कृत अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश, पूर्वप्राध्यापक एवं अध्यक्ष- संस्कृत विभाग, शासकीय महाविद्यालय, दमोह, मध्यप्रदेश, निदेशक- संस्कृत-प्राकृत-जैनविद्या शोध केन्द्र, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, मो. ९४२५४-५५३३८
निवास - २८, सरोज सदन, प्रोफेसर कॉलोनी, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन - (०७८१२) २२११३५

(२५) आचार्य विद्यासागर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व (पीएच. डी., अपूर्ण, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
शोधार्थिनी - श्रीमती मंजुलता जैन, धर्मपत्नी-रवि कुमार जैन
निवास - (१) रवि कुमार जैन, आकाशवाणी केन्द्र, सागर-४७० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२२२०३९
(२)सुभाष आटा चक्की के पास, विपतपुरा कॉलोनी, पो. मगरधा, नरसिंहपुर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७७९२)२३६२८२
निदेशक - डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु', पूर्व सचिव-मध्यप्रदेश संस्कृत अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश एवं पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष-शासकीय महाविद्यालय, दमोह, मध्यप्रदेश
निवास - २८, सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७८१२)२३११३५

(२६) आचार्य विद्यासागर की हिन्दी साहित्य को देन (पीएच. डी., अपूर्ण, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती प्रभा सिंघई, धर्मपत्नी-प्रकाश सिंघई डूँड़ा वाले
निवास - सिंघई मशीनरी स्टोर्स, बड़ागाँव घसान-४७२ ०१०, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३)२५७२४७
निदेशक - प्रो. डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य-शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश
निवास - नूतन विहार कॉलोनी, ढौंगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३)२४०९०७, मो. ९४२५८-८२३२०

एम. फिल.

(२७) 'मूकमाटी' महाकाव्य के प्रतीकों का वैज्ञानिक विश्लेषण (एम.फिल., लघु शोध प्रबन्ध, १९९०, तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश

शोधार्थी - रमेश चन्द्र मिश्र, प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, साधु वासवानी डिग्री कॉलेज, बैरागढ़, भोपाल, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. वृषभ प्रसाद जैन, रीडर-तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश
सम्प्रति - प्रोफेसर एवं निदेशक-भाषा केन्द्र, महात्मा गाँधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, १/१२, सेक्टर-एच, अलीगंज, लखनऊ, उत्तरप्रदेश फोन-(०५२२)२७६१५४३, मो. २०००२६८, फेक्स-२७६१५४३, मो. ९४१५५-०१९७६
निवास - बी-१/३२, सेक्टर-जी, अलीगंज, लखनऊ-२२६ ०२४, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५२२)२७३२७०३
प्रकाशक - शक्ति प्रकाशन, ५८-सुल्तानिया रोड, भोपाल, मध्यप्रदेश, प्रथमावृत्ति-१९९२, पृष्ठ-६४, मूल्य-५० रुपए

(२८) 'मूकमाटी' महाकाव्य में रसों एवं बिम्बों का अनुशीलन (एम. फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २०००, हिन्दी विभाग)
विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - संजय मिश्र
निवास - द्वारा- कृष्ण चन्द्र मिश्र, बल्ले बसगड़ी, ग्राम व पो. अतरैला नं. १२, व्हाया-चाकघाट, तहसील-त्यौंथर, जिला- रीवा, मध्यप्रदेश
निदेशक - डॉ. दिनेश कुशवाह, रीडर एवं अध्यक्ष -महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन (०७६६२) २३१३७२
निवास - एफ-१, विश्वविद्यालय परिसर, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२) २३१९२९, मो. ९४२५८-४७०२२

(२९) आचार्य विद्यासागर और उनका काव्य : एक अनुशीलन (एम.फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २००१, हिन्दी विभाग)
विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती कृष्णा पटैल, द्वारा-अम्बिका प्रसाद पटैल, प्रक्षेत्र सतत विस्तार अधिकारी-कृषि महाविद्यालय, रीवा, मध्यप्रदेश
निवास - जी-१०, प्रोफेसर कॉलोनी, पड़रा, रीवा, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२) २२०२८४, मो. ९४२५८-७४६५९
निदेशक - (स्व.) डॉ. कौशल प्रसाद मिश्र, आचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष, महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, हिन्दी विभाग, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
निवास - गायत्री नगर, रीवा (मध्यप्रदेश), फोन-(०७६६२) २३०५१५

(३०) आचार्य विद्यासागर विरचित 'पञ्चशतों' का साहित्यिक मूल्यांकन (एम. फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २००१, संस्कृत-पाली एवं प्राकृत विभाग)
विश्वविद्यालय - कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र-१३६ ११९, हरियाणा
शोधार्थी - सुशीला यादव
निदेशक - डॉ. श्रीचन्द्र जैन, प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, किशनलाल कॉलेज, रेवाड़ी-१२३ ४०१, हरियाणा
निवास - २००, एम. कृष्णा नगर, रेवाड़ी-१२३ ४०१, हरियाणा, फोन-(०१२७४) २५४३१५, मो. ०९४१६६-०६१९८

(३१) आचार्य विद्यासागर के दोहा-दोहन : एक अनुशीलन (एम. फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २००४, हिन्दी विभाग)
विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - सुश्री सुनीता देवी मिश्रा, सुपुत्री-देवराज मिश्रा
निवास - (१) मु.पो. दमेहड़ी, तहसील-राजेन्द्रग्राम (पुष्पराजगढ़), अनूपपुर, मध्यप्रदेश
(२) द्वारा - नारायण प्रसाद दीक्षित, गौतम कॉलोनी, राजेन्द्रग्राम (पुष्पराजगढ़), अनूपपुर, मध्यप्रदेश फोन-(०७६२९)२६८५११
निदेशक - डॉ. दिनेश कुशवाह, रीडर एवं अध्यक्ष, महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२) २३१३७२
निवास - एफ-१, विश्वविद्यालय परिसर, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६६२) २३१९२९, मो. ९४२५८-४७०२२

(३२) 'चेतना के गहराव में': आचार्य विद्यासागर जी का काव्य - चिन्तन (एम. फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २००६, हिन्दी विभाग)
विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - विभा तिवारी, सुपुत्री-श्री रमेशप्रसाद तिवारी, ग्राम-रोरा, पोस्ट-डिहिया (गोविन्दगढ़), रीवा, मध्यप्रदेश फोन-(०७६६२) ६८२५७४, मो. ९८२६५-२७७६७
निदेशक - डॉ. दिनेश कुशवाहा, रीडर एवं अध्यक्ष - महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसंधान केन्द्र हिन्दी विभाग, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन - (०७६६२) २३१३७२

निवास - एफ-१, विश्वविद्यालय परिसर, अवधेशप्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
फोन - (०७६६२) २३१९२९, मो. ९४२५८-४७०२२

(३३) आचार्य विद्यासागर के काव्य में राष्ट्रीय चेतना (एम.फिल., लघु शोध प्रबन्ध, २००७, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३ (मध्यप्रदेश)
शोधार्थी - श्रीमती प्रियंका बौद्ध, धर्मपत्नी- श्री सी.एल. बौद्ध
निवास - ग्राम-शाहपुर, पो. ककलपुर, तह. अमरपाटन, जिला-सतना, मध्यप्रदेश, मो. ९३२९२-९०८९९, ९८२७५-१६४५८
निदेशक - डॉ. दिनेश कुशवाहा, रीडर एवं अध्यक्ष- महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसंधान केन्द्र, हिन्दी विभाग
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश, फोन - (०७६६२) २३१३७२
निवास - एफ-१, विश्वविद्यालय परिसर, अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
फोन - (०७६६२) २३१९२९, मो. ९४२५८-४७०२२

एम. एड.

(३४) आचार्य श्री विद्यासागर के व्यक्तित्व एवं शैक्षिक विचारों का अध्ययन (एम. एड., लघु शोध प्रबन्ध, १९९२, शिक्षा विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थिनी - श्रीमती प्रतिभा जैन, शिक्षिका-लिटिल स्टार पब्लिक स्कूल, मकरोनिया-४७० ००४, सागर, मध्यप्रदेश
निवास - शान्ति विहार कॉलोनी, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२) मो. ३११५५८
निदेशक - डॉ. बी. पी. श्रीवास्तव, पूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष-विश्वविद्यालयीन शिक्षा महाविद्यालय, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश; सम्प्रति-कोर्स को-आर्डिनेटर-डिस्टेंस एजूकेशन, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश; प्राचार्य-विद्यासागर कॉलेज, सागर
निवास - एल. आई. जी. - २२, पद्माकर कॉलोनी, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२३१८७५

(३५) आचार्य श्री विद्यासागर जी की कृति 'मूकमाटी' का शैक्षिक अनुशीलन (एम. एड., लघु शोध प्रबन्ध, १९९३, शिक्षा विभाग)

विश्वविद्यालय - डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती प्रतिभा जैन, शिक्षिका-लिटिल स्टार पब्लिक स्कूल, मकरोनिया-४७० ००४, सागर, मध्यप्रदेश
निवास - शान्ति विहार कॉलोनी, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२) मो. ३११५५८
निदेशक - डॉ. बी. पी. श्रीवास्तव, पूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष-विश्वविद्यालयीन शिक्षा महाविद्यालय, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश; सम्प्रति-कोर्स को-आर्डिनेटर-डिस्टेंस एजूकेशन, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश; प्राचार्य-विद्यासागर कॉलेज, सागर
निवास - एल. आई. जी. - २२, पद्माकर कॉलोनी, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन- (०७५८२) २३१८७५

एम. ए.

(३६) 'मूकमाटी' महाकाव्य : एक अनुशीलन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, १९९०, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा-४८६ ००३, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती कल्पना जैन, धर्मपत्नी-अरविन्द कुमार जैन
निवास - एन. सी. पी. एच. कॉलरी, पोस्ट-हल्दीवाड़ी, चिरमिरी-४९७ ४५१, कोरिया, छत्तीसगढ़,
फोन-(०७७७१) २६१५४४,
निदेशक - प्रो. डॉ. के. एल. जैन, प्राचार्य-शासकीय कन्या महाविद्यालय, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश
निवास - नूतन विहार कॉलोनी, ढौंगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३) २४०९०७, मो. ९४२५८-८२३२०

(३७) आचार्य विद्यासागर जी कृत 'मूकमाटी': एक अध्ययन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, १९९१, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-३०२ ००४, राजस्थान
शोधार्थी - नरेश चन्द्र गोयल
निदेशक - (स्व.) प्रो. डॉ. नरेन्द्र भानावत, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान
निवास - द्वारा-डॉ. संजीव भानावत, सी-२३५-ए, दयानन्द मार्ग, तिलक नगर, जयपुर-३०२ ००३, राजस्थान
फोन-(०१४१)२६२०९४४, २६२२८६२(नि.), २७०३९०३(का.), मो. ९४१४०-७३४६६

(३८) आचार्य कवि विद्यासागर जी के प्रबन्ध 'मूकमाटी' का समीक्षात्मक अध्ययन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, १९९२, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद-३८० ००९, गुजरात
शोधार्थी - मेहेर प्रसाद यादव, एल. डी. आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद, गुजरात
निदेशक - डॉ. शेखर चन्द्र जैन, हिन्दी विभागाध्यक्ष एवं प्राचार्य-श्रीमती सदगुण सी. यू. आर्ट्स कॉलेज, अहमदाबाद, गुजरात
निवास - २५-शिरोमणी बंगलोज, बड़ोदरा एक्सप्रेस हाइवे के सामने, सी. टी. एम. चार रास्ता के पास अहमदाबाद-३८० ०२६, गुजरात, फोन-(०७९) २५८५०७४४, २५८५१७७१, फेक्स-२५८५०७४४

(३९) आचार्य श्री विद्यासागर जी कृत 'मूकमाटी' महाकाव्य : एक साहित्यिक मूल्यांकन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, १९९२, हिन्दी विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती सीमा जैन, धर्मपत्नी-संजीव कुमार जैन
निवास - श्री ज्ञानचन्द्र जैन, विनय जनरल स्टोर्स, बस स्टेण्ड के पास, ग्यारसपुर, विदिशा, मध्यप्रदेश फोन-(०७५९६)२६३०५५ (दु.), २६३१५५ (नि.)
निदेशक - डॉ. जे. पी. नेमा, हिन्दी विभागाध्यक्ष, शासकीय महाविद्यालय, बरेली-४६४ ६६९, रायसेन, मध्यप्रदेश

(४०) आचार्य श्री विद्यासागर जी की 'मूकमाटी' का समीक्षात्मक दार्शनिक अनुशीलन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, १९९७, दर्शनशास्त्र विभाग)

विश्वविद्यालय - बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - श्रीमती अनीता जैन, धर्मपत्नी-श्री शम्भू कुमार जैन
निवास - श्री शम्भू कुमार जैन, मैरी मेडीकल, रेल्वे स्टेशन जैन मन्दिर के पास, विदिशा-४६४ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५९२) २३५१२६ (दु.), २३३६७९ (नि.)
निदेशक - डॉ. प्रदीप खरे, सहायक प्राध्यापक-दर्शन विभाग, शासकीय हमीदिया कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, भोपाल, मध्यप्रदेश

(४१) आचार्य श्री विद्यासागर जी के संस्कृत शतकों का साहित्यिक अनुशीलन (एम. ए., लघु शोध प्रबन्ध, २००१, संस्कृत विभाग)

विश्वविद्यालय - देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश
शोधार्थी - आदित्य कुमार वर्मा
निवास - १०१, बालाजी अपार्टमेण्ट्स, २४-टेलीफोन नगर, कनाडिया मार्ग, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश
निदेशिका - डॉ. (श्रीमती) संगीता मेहता, सहायक प्राध्यापिका-संस्कृत विभाग, शासकीय कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, इन्दौर, मध्यप्रदेश
निवास - 'मयंक', ई. एच.-३७, स्कीम नं. ५४, इन्दौर-४५२ ०१०, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३१) २५५८२७२

❑

पृष्ठ ३२२
पात्र की गति को
देख कर...
आभागत का स्मरण
प्रारम्भ हुआ :

मूकमाटी-मीमांसा

प्रथम खण्ड

परिशिष्ट : तृतीय

लेखकों के पते

(कुछेक लेखकों के दिवंगत हो जाने के बावजूद, शोधार्थियों की सुविधा के लिए, उनके तत्कालीन पते दिये गये हैं।)

डॉ. प्रभाकर माचवे, पूर्व निदेशक-भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, पश्चिम बंगाल; पूर्व सचिव-साहित्य अकादमी, नई दिल्ली; पूर्व प्रधान सम्पादक-चौथा संसार, दैनिक, इन्दौर, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-श्रीमती नीलूजी, चेतना सुरेश कोहली, ई-१८०, ग्रेटर कैलाश-पार्ट-II, नई दिल्ली-११० ०४८, फोन-(०११)-२९२१४४८८
आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, पूर्व प्रोफेसर-नवीन चेयर; पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन-४५६ ०१०, मध्यप्रदेश
(नि.)-२-स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन-४५६ ०१०, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३४)२५१०७७२

१. **विष्णुकान्त शास्त्री**, पूर्व राज्यपाल-उत्तरप्रदेश, लखनऊ, उत्तरप्रदेश
(नि.)-२८०, चित्तरंजन एवेन्यू, कोलकाता-७०० ००६, पश्चिम बंगाल, फोन-(०३३)२२४११३४८

२. **डॉ. भगीरथ मिश्र**, पूर्व कुलपति एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष-डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर, मध्यप्रदेश; उपाध्यक्ष-तुलसी अकादमी, भोपाल, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-डॉ. हर्ष मिश्र, एच. आई. जी.-९, भगीरथ नर्सिंग होम, डॉ. एन. पी. शर्मा के पीछे, सामुदायिक भवन के सामने, पद्माकर नगर, मकरोनिया कैम्प, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२३१७७७, २२२६९९, २३१४५५, मो. ९८२६२-८१८९८

३. **प्रोफे. (डॉ.) राममूर्ति त्रिपाठी**, पूर्व प्रोफेसर-नवीन चेयर; पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन-४५६ ०१०, मध्यप्रदेश
(नि.)-२, स्टेट बैंक कॉलोनी, देवास रोड, उज्जैन-४५६ ०१०, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३४) २५१०७७२

४. **पद्मश्री यशपाल जैन**, पूर्व मन्त्री-सस्ता साहित्य मण्डल, एन-७७, कनॉट सर्कस, नई दिल्ली-११० ००१, फोन-(०११)२३३१०५०५, ५१५२३५६५
(नि.)-द्वारा-सुधीर जैन, 'वातायन', जी-५०, ग्रीन पार्क, मेन मार्केट, नई दिल्ली-११० ०१६, फोन-(०११) २६५२०२७०, २६५३१९६१

५. **डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय**, पूर्व कुलपति- कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर-२०८ ०२४, उत्तरप्रदेश; पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर-३०२ ००४, राजस्थान
(नि.)- 'गया प्रयाग', ७-डी-२५, जवाहर नगर, जयपुर-३०२ ००४, राजस्थान, फोन-(०१४१)२६५०३०८

६. **शिवकुमार श्रीवास्तव**, पूर्व विधायक एवं कुलपति-डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
(नि.)-४/१३, सदर बाजार, सागर-४७० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२२२३५२

७. **डॉ. नगेन्द्र**, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११० ००७
(नि.)-१३०, वैशाली, प्रीतमपुरा, दिल्ली-११० ०३४, फोन-(०११)२७३१२९३७

८. **प्रोफेसर डॉ. विजयेन्द्र स्नातक**, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-११० ००७
(नि.)-स्नातक सदन, ए-५/३, राणाप्रताप बाग, दिल्ली-११० ००७, फोन-(०११)२७४५६३५७

९. **डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव**, प्राक्तन प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, विश्व भारती, शान्तिनिकेतन-७३१ २३५, पश्चिम बंगाल
(नि.)-सी-१/५, पंजाब नेशनल बैंक आवासीय परिसर, अण्डर हिल रोड८, सिविल लाइन्स, देहली-११० ०५४, फोन-(०११)२३९३४५९६

१०. **मुकेश नायक**, पूर्व उच्च शिक्षा मन्त्री, मध्यप्रदेश शासन, भोपाल; कार्यकारिणी सदस्य-मध्यप्रदेश कांग्रेस कमेटी (आई), भोपाल
(नि.)-डी-१०२/५, स्टाप नं. ६ के पास, शिवाजी नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५) २५७२१५७; २५६०२२१,
मो. ९४२५१-७१८९९

११. **जवाहर लाल दर्डा**, पूर्व मन्त्री-अन्न व नागरी पुरवाटा, वस्त्रोद्योग और पर्यावरण, महाराष्ट्र शासन, मन्त्रालय, मुम्बई-४०० ०३२, महाराष्ट्र
द्वारा-विजय दर्डा, सांसद-राज्यसभा, प्रबन्ध सम्पादक-लोकमत समाचार, लोकमत न्यूज पेपर्स प्रा. लि., पो. बॉक्स नं. २३०, पं. जवाहरलाल नेहरू मार्ग, नागपुर-४४० ०१२, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२) २५२३५२७ से ३३, २५३५१४५, २५३५६६६, २५२४६४६, फैक्स-५६१८५५५
(नि.)-रहौद कॉलोनी, वर्धा रोड, नागपुर, महाराष्ट्र, मो. ९८२२२-२३५२७, ९८६८१-८१२२२

१२. **प्रो. (डॉ.) माजदा असद**, पूर्व हिन्दी विभागाध्यक्ष-जामिया मिलया इस्लामिया, जामिया नगर, नई दिल्ली-११० ०२५
(नि.)-सी-१०५, ईस्ट एण्ड अपार्टमेन्ट्स, न्यू अशोक नगर, दिल्ली-११० ०९६, फ़ोन-(०११) २२७१४५५६

१३. **डॉ. महेन्द्र सागर प्रचण्डिया**, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी भाषा एवं साहित्य विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़-२०२ ००२, उत्तरप्रदेश
(नि.)-मानद निदेशक-जैन शोध अकादमी-अलीगढ़, 'मंगल कलश', ३९४-सर्वोदय नगर, आगरा रोड, अलीगढ़-२०२ ००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५७१) २४१०४८६

१४. **प्रो. (डॉ.) सूर्य प्रसाद दीक्षित**, प्राक्तन आचार्य एवं अध्यक्ष-हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ-२२६ ००७, उत्तरप्रदेश
(नि.)- 'साहित्यिकी', डी-५४, निराला नगर, लखनऊ-२२६ ०२०, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५२२) २७८८४५२

१५. **प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन**, पूर्व सम्पादक-प्राकृत विद्या (त्रैमासिक), पूर्व अध्यक्ष-प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग; संकाय प्रमुख-मानविकी संकाय, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान
(नि.)- २९-सुन्दरवास (उत्तरी), उदयपुर-३१३ ००१, राजस्थान, फोन-(०२९४) २४९०२२७

१६. **प्रोफेसर (डॉ.) चक्रवर्ती**, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद-५०० ००७, आन्ध्रप्रदेश
(नि.)-श्रीमती भारती चक्रवर्ती, द्वारा-डॉ. बसन्त चक्रवर्ती-हिन्दी अकादमी, १७/९/१७९/ए, कुर्मागुडा, हैदराबाद-५०० ०५९, आन्ध्रप्रदेश

१७. **आचार्य (डॉ.) डॉ. हरिशंकर दुबे**, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, नवयुग कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय, सिविल लाइन्स, जबलपुर-४८२ ००१, मध्यप्रदेश
(नि.)-'ब्रह्मलोक', कर्मयोग पथ, जूही ब्यूटी पार्लर के सामने, जानकी नगर, जबलपुर-४८२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६१)२६४४८९२

१८. **प्रोफेसर (डॉ.) उमा मिश्र**, द्वारा - डॉ. संकटा प्रसाद मिश्र, एफ-११५/२७, ६½ बस स्टाप, महिला पालीटेक्निक के पास, शिवाजी नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन (०७५५)२७६१०४१

१९. **डॉ. सरोज गुप्ता**, सहायक प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर कन्या महाविद्यालय, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-डॉ. हरिमोहन गुप्ता, जी-४/१, जी. ए. डी. कॉलोनी, सागर-४७० ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२२६७१८

२०. **आनन्द बल्लभ शर्मा 'सरोज'**, पूर्व राजभाषा अधिकारी, महावनपाल (सी. सी. एफ.) का कार्यालय, चाथम, पोर्टब्लेयर-७४४ १०२, अण्डमान-निकोबार द्वीप समूह
(नि.)-द्वारा-हेमन्त कुमार शर्मा, सी-८, श्री बालाजीपुरम्, पो. रिफायनरी नगर (औरंगाबाद), मथुरा-२८१ ००१, उत्तरप्रदेश
फोन-(०५६५) २४३११८९

२१. **डॉ. (श्रीमती) कृष्णा रैना**, प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला-१७१ ००५, हिमाचल प्रदेश
(नि.)-१७, टीचर्स कॉलोनी, समर हिल, शिमला-१७१ ००५, हिमाचल प्रदेश, फोन-(०१९१) २२३०४३९

२२. **डॉ. रवीन्द्र भ्रमर**, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़-२०२ ००२, उत्तरप्रदेश
(नि.)- द्वारा-श्रीमती शकुन्तला देवी भ्रमर, 'शाकुन्तलम्', ३/३११, मैरिस रोड, अलीगढ़-२०२ ००१, उत्तरप्रदेश,
फोन-(०५७१) २४२६८४७

२३. **डॉ. प्रेमसागर जैन**, पूर्व निदेशक-दिगम्बर जैन मुनि विद्यानन्द शोधपीठ, गाँधी रोड, बड़ौत-२५० ६११, बागपत, उत्तरप्रदेश
(नि.)-द्वारा-सुधीर जैन/नीलिमा जैन, १/४१७, किसान मेडीकल स्टोर्स, मन्दिर मार्ग, नेहरू रोड, बड़ौत-२५० ६११, बागपत, उत्तरप्रदेश, फोन-(०१२३४) २६२९०६

२४. **डॉ. परमेश्वर दत्त शर्मा**, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, देवी अहिल्या विश्वविद्यालय, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश; पूर्व प्रधानमन्त्री-श्री मध्यभारत हिन्दी साहित्य समिति, इन्दौर, मध्यप्रदेश; पूर्व प्रधान सम्पादक-'वीणा' मासिक
(नि.)-द्वारा-डॉ. प्रभास शुक्ला, ८३-जानकी नगर (मुख्य), इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३१) २४०२८०१

२५. **डॉ. एन. चन्द्रशेखरन नायर 'देशरत्न'**, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, महात्मा गाँधी कॉलेज, तिरुवनन्तपुरम-६९५ ००४, केरल; चेयरमेन-केरल हिन्दी साहित्य अकादमी, त्रिवेन्द्रम; मुख्य सम्पादक-'शोध पत्रिका'; एमिरेटस प्रोफेसर-यू.जी.सी.
(नि.)-श्री निकेतन, लक्ष्मी नगर, पट्टम पालेस- पोस्ट दफ्तर, तिरुवनन्तपुरम-६९५ ००४, केरल, फोन-(०४७१)२५४१३५५, मो. ०४७१३२-४७३९२

२६. **डॉ. सूर्य नारायण द्विवेदी**, प्रवाचक-हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१ ००५, उत्तरप्रदेश
(नि.)-२९, ब्रह्मानन्द कॉलोनी, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी-२२१ ०१०, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५४२)२३१४१३९

२७. **प्रोफेसर (डॉ.) पद्मश्री लक्ष्मी नारायण दुबे**, अन्तरराष्ट्रीय अध्यक्ष-अन्तरराष्ट्रीय भारतीय भाषा संस्कृति फाउण्डेशन, सागर, मध्यप्रदेश एवं राष्ट्रीय फेलो व राष्ट्रीय रिसर्च एसोसिएट, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-डॉ. संजीव दुबे, लक्ष्मीकान्तम्, रोड नं. २, आनन्द नगर, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२३०४१४

२८. **डॉ. शेखर चन्द्र जैन,** पूर्व प्राचार्य-श्रीमती सदगुणा सी. यू. आर्ट्स गर्ल्स कॉलेज, अहमदाबाद, गुजरात; प्रधान सम्पादक-तीर्थंकर वाणी (मासिक); अध्यक्ष-तीर्थंकर ऋषभदेव जैन विद्वत् महासंघ
(नि.)- २५-शिरोमणी बंगलोज, बडोदरा एक्सप्रेस हाइवे के सामने, सी. टी. एम. चार रास्ता के पास, हाइवे, अमराईवाड़ी, अहमदाबाद-३८० ०२६, गुजरात, फोन-(०७९) २५८५०७४४, २५८५१७७१

२९. **डॉ. दया प्रकाश सिन्हा,** पूर्व निदेशक-उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ-२२६ ००३, उत्तरप्रदेश
(नि.)-'अयोध्या', बी-२५५, सेक्टर-२६, नोएडा-२०१ ३०१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०१२०)३९५४०१३, मो. ३९५४०३, मो. ९८९१५-१०२३०

३०. **प्रो. (डॉ.) सीताराम झा 'श्याम',** पूर्व यूनिवर्सिटी प्रोफेसर एवं शोध निदेशक-स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना-४७० ००५, बिहार; पूर्व सदस्य-हिन्दी सलाहकार समिति, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय, भारत सरकार; प्रधानमन्त्री-हिन्दी सलाहकार समिति (विदेशों में हिन्दी)
(नि.)-एम. ७/१२, राजेन्द्र नगर, पथ संख्या १२, पटना-८०० ००५, बिहार, फोन-(०६१२)मो. ३३१३१७७

३१. **प्रोफेसर प्रेमशंकर रघुवंशी,** पूर्व प्रोफेसर-शासकीय महाविद्यालय, हरदा-४६१ ३३१, मध्यप्रदेश
(नि.)-बाफना चाल के पीछे, प्रताप कॉलोनी, हरदा-४६१ ३३१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५७७) २२३४७२

३२. **डॉ. रमेश चन्द जैन,** पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर, उत्तरप्रदेश; पूर्व अध्यक्ष-भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद; पूर्व सम्पादक-पार्श्व ज्योति (पाक्षिक)
(नि.)-जैन मन्दिर के पास, बिजनौर-२४६ ७०१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०१३४२) २५०९३५

३३. **डॉ. उमा पाण्डेय,** पूर्व रीडर-तुलनात्मक भाषा एवं संस्कृति विभाग, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
(नि.)-४/५, नूपुर कुंज, ई-३, महावीर नगर, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-४६२ ०१६, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५) २५६४९८०

३४. **डॉ. भानुदेव शुक्ल,** पूर्व रीडर-हिन्दी विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
(नि.)-११, लवकुश अपार्टमेण्ट्स, ईदगाह हिल्स, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२५४७२१८

३५. **सुरेश जैन** (आई. ए. एस.), पूर्व सचिव-मध्यप्रदेश राज्य निर्वाचन आयोग, निर्वाचन भवन, ५८-अरेरा हिल्स, भोपाल-४६२ ०११, मध्यप्रदेश; मैनेजिंग डायरेक्टर-विद्यासागर इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट, बल्लभनगर, भोपाल-४६२ ०२१, मध्यप्रदेश
(नि.)-३०-निशात कॉलोनी, टी. टी. नगर, भोपाल-४६२ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५) २५५५५३३, २७६३०७७, मो. ९४२५०-१०१११

३६. **डॉ. फैयाज़ अली खाँ,** पूर्व प्राचार्य-दरबार इण्टर कॉलेज, किशनगढ़-३०५ ८०२, अजमेर, राजस्थान
(नि.)- द्वारा-डॉ. अयाज़ अली शेरानी, एडव्होकेट, फैज़ मैंशन, चाँदी की टकसाल, गुजरिया वास, कचहरी चौक के पास, किशनगढ़ सिटी-३०५ ८०२, अजमेर, राजस्थान, फोन-(०१४६३) २४२७९४

३७. **डॉ. श्रीचन्द्र जैन,** प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, किशनलाल कॉलेज, रेवाड़ी-१२३ ४०१, हरियाणा
(नि.)-२००, एम. कृष्णा नगर, रेवाड़ी-१२३ ४०१, हरियाणा, फोन-(०१२७४)२५४३१५

३८. **डॉ. जनार्दन उपाध्याय,** वरिष्ठ प्राध्यापक-अँग्रेजी-हिन्दी-संस्कृत विद्याधर्मविज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१ ००५, उत्तरप्रदेश
(नि.)-बी-१/१२६, अस्सी, वाराणसी-२२१ ००५, उत्तरप्रदेश

३९. **डॉ. ब्रज भूषण शर्मा,** पूर्व वरिष्ठ प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, हंसराज कॉलेज, दिल्ली-११० ००७
(नि.)-१६६०-सोहन गंज, कृष्णा गली, सब्जी मण्डी, दिल्ली-११० ००७, फोन-(०११) २३८५९३५३

४०. **डॉ. भानु कुमार जैन,** पूर्व रीडर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, डी. ए. वी. (पी.जी.) कॉलेज, बुलन्दशहर, उत्तरप्रदेश
(नि.)-अध्यक्ष-जैन मिलन, ३१८-टीचर्स कॉलोनी, बुलन्दशहर-२०३ ००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५७३२) २२६८१९

४१. **डॉ. योगेन्द्र नाथ शर्मा 'अरुण',** सदस्य (राज्यपाल द्वारा नामित) कार्य परिषद, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, श्रीनगर-२४६ १७४, गढ़वाल, उत्तरांचल; पूर्व प्राचार्य एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष-उपाधि स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पीलीभीत-२४६ १७४, उत्तरप्रदेश
(नि.)- ७४/३, न्यू नेहरू नगर, रुड़की-२४७ ६६७, उत्तरांचल, फोन-(०१३३२) २६५९७३, मो. ०९४१२०-७०३५१

४२. **डॉ. आदित्य प्रसाद तिवारी,** पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, एस. एन. जी. कॉलेज, मुंगेली-४९५ ३३४, बिलासपुर, छत्तीसगढ़
(नि.)-आदित्य आलय, दन्तेश्वरी मार्ग, न्यू कॉलोनी, कुशालपुर, रायपुर-४९२ ००१, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७१)२४४३३५८

४३. **प्रो. शील चन्द्र जैन,** प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, डेनियलसन कॉलेज, छिन्दवाड़ा-४८० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७१६२) २४४४९४
(नि.)-द्वारा-आर. चौकसे, शान्ति कॉलोनी, बरारीपुरा, मराठी स्कूल के पास, छिन्दवाड़ा-४८० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७१६२) २४२३३४१

४४. **डॉ. राजमणि शर्मा,** पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-२२१ ००५, उत्तरप्रदेश
(नि.)-पो. बा. नं. ५०२६, चाणक्यपुरी, सुसुवाही, वाराणसी-२२१ ००५, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५४२) २५७०६०४, ३१११६८४

४५. **डॉ. दामोदर पाण्डेय**, अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, दीनानाथ पाण्डेय राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, देवरिया-२७४००१, उत्तरप्रदेश **(नि.)**-विमल निलयनम, ८/४५४, देवरिया खास, देवरिया-२७४००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५५६८)२४०५९५

४६. **डॉ. राम प्रसाद मिश्र**, १४- सहयोग अपार्टमेन्ट्स, मयूर विहार-I, पोस्ट बॉक्स नं. ९११७, दिल्ली-११० ०९१, फोन-(०११) २२७५१९७०

४७. **डॉ. के. एल. जैन**, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, शासकीय स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश; पूर्व सलाहकार सदस्य-रक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, फोन-(०७६८३)२४२३३५, २४२३८६
(नि.)- नूतन विहार कॉलोनी, ढींगा, टीकमगढ़-४७२ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६८३)२४०९०७, मो. ९४२५१-४५६०७

४८. **डॉ. श्रीराम परिहार**, प्राध्यापक एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, श्री नीलकण्ठेश्वर शासकीय स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय, खण्डवा, मध्यप्रदेश; सम्पादक-अक्षत (षट्मासिक)
(नि.)-'राघव', १६-आजाद नगर, खण्डवा-४५० ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३३) २२४६६५५

४९. **प्रो. (डॉ.) लालचन्द अहिरवाल 'ज्योति'**, पूर्व प्रोफेसर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष, शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अम्बिकापुर-४९७ ००१, सरगुजा, छत्तीसगढ़
(नि.)-महाराजा गली, जोड़ा पीपल, डॉ. जैन के पास, अम्बिकापुर-४९७ ००१, सरगुजा, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७७४) २३०६६८, मो. ९४२५२-५६१९७

५०. **पं. अक्षय चन्द्र शर्मा** (पूर्व सांसद), पूर्व अध्यक्ष-भारतीय संस्कृति संसद, १०, जवाहरलाल नेहरू मार्ग, कोलकाता-७०० ००१, पश्चिम बंगाल, फोन-(०३३)२२२८२९४२
(नि.)-अरविन्द सिंघवी, द्वारा-ए. के. मार्बल्स, चौपड़ा कटला के पीछे, रानी बाजार, बीकानेर-३३४००२, राजस्थान

५१. **डॉ. डी. के. जैन**, अस्थि रोग विशेषज्ञ, ६-कल्पना नगर, ७ नम्बर चौराहा, मुरार-४७४००६, ग्वालियर, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५१) २३६८८२४(नि.), २३६८८४२(क्ली.), मो. ९८२७०-१२६३२

५२. **डॉ. हुकुमचन्द राजपाल**, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला-१४७ ००२, पंजाब
(नि.)- ४५१-अर्बन इस्टेट, फेज-I, पटियाला-१४७००२, पंजाब, फोन-(०१७५)२२८३०५०

५३. **डॉ. उमा शंकर शुक्ल**, रीडर-हिन्दी विभाग, श्री जयनारायण स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लखनऊ-२२६ ००१, उत्तरप्रदेश
(नि.)-वाणी निलय, ७८-ट्रान्स गोमती, त्रिवेणी नगर-I, डालीगंज, रेल्वे क्रासिंग, लखनऊ-२२६ ०२०, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५२२)२३६७२८०

५४. **डॉ. मालती जैन**, पूर्व अध्यक्ष एवं प्राचार्य-श्री चित्रगुप्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मैनपुरी, उत्तरप्रदेश
(नि.)- १४६-कटरा, मैनपुरी-२०५००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५६७२) २४०१८९, २३६५४४

५५. **प्रो. (डॉ.) छबिनाथ तिवारी**, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी एवं भाषाविज्ञान विभाग, शासकीय कमला नेहरू महिला महाविद्यालय, दमोह, मध्यप्रदेश; पूर्व प्राचार्य-शासकीय महाविद्यालय, जबेरा-४७० ८८१, दमोह, मध्यप्रदेश
(नि.)-१०-प्रोफेसर्स कॉलोनी, सिविल लाइन्स, दमोह-४७० ६६१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७८१२)२२११९३

५६. **डॉ. र. वा. बिवलकर**, पूर्व अध्यक्ष-स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग एवं शोध निदेशक-हिन्दी अनुसन्धान केन्द्र, आर. एन. सी. आर्ट्स, जे. डी. वी. कामर्स तथा एन. एस. सी. साइन्स कॉलेज, नाशिक रोड, महाराष्ट्र
(नि.)-'कौस्तुभ', ३४-सौभाग्य नगर, ६ नं. नाके के पास, लाम रोड, नाशिक रोड, नाशिक-४२२ १०१, महाराष्ट्र, फोन-(०२३५)२४६२०४४

५७. **प्राध्यापिका डॉ. (श्रीमती) मुक्ता सिंघेल**, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, श्रीमती बिझाणी महिला महाविद्यालय, महल, नागपुर, महाराष्ट्र
(नि.)-'कपिल', प्लॉट नं. ११९, शंकर नगर, नागपुर-४४० ०१०, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२) २२४७१६३, मो. ९४२२१-०५६०४

५८. **डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'**, वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक-हिन्दी विभाग, सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर, मध्यप्रदेश
(नि.)-सम्पादक-'पार्श्व ज्योति' (मासिक), एल-६५, न्यू इन्दिरा नगर-ए, बुरहानपुर-४५० ३३१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३२५)२५७६६२

५९. **डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल**, निदेशक-महावीर ग्रन्थ अकादमी; प्रधान सम्पादक-जैन इतिहास प्रकाशन संस्थान, जयपुर, राजस्थान
(नि.)-द्वारा-निर्मल कुमार कासलीवाल, ८६७-अमृत कलश, किसान मार्ग, बरकत नगर, टोंक फाटक, जयपुर-३०२ ०१५, राजस्थान, फोन-(०१४१)२५९४०४३

६०. समीक्षक का नाम व पता अनुपलब्ध

६१. **डॉ. बालेन्दु शेखर तिवारी**, प्रोफेसर -हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची-८३४००८, झारखण्ड
(नि.)- ६-'शिवम्', हरिहर सिंह रोड, मोराबादी, राँची-८३४००८, झारखण्ड, फोन-(०६५१)२५४२९८९

६२. **डॉ. राम किशोर शर्मा**, प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-२११ ००२, उत्तरप्रदेश
(नि.)-४०८, ए/१५-जी, बक्शी खुर्द, दारागंज, इलाहाबाद-२११ ००६, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५३२)२५०२३८९

६३. **डॉ. सुरेश चन्द्र त्यागी**, रीडर एवं हिन्दी विभागाध्यक्ष - एम. एस. कॉलेज, सहारनपुर-२४७००१, उत्तरप्रदेश
(नि.)-रामजीवन नगर, चिलकाना रोड, सहारनपुर-२४७००१, उत्तरप्रदेश, फोन-(०१३२)२६५३८७७

६४. **डॉ. बार. एल. एस. यादव** (आई. पी. एस.) पूर्व पुलिस महानिदेशक-छत्तीसगढ़, रायपुर, छत्तीसगढ़; पूर्व मुख्य सलाहकार-मुख्यमन्त्री, मुख्यमन्त्री निवास, सिविल लाइन्स, रायपुर, छत्तीसगढ़
(नि.)- २-वैशाली नगर, कोटरा सुल्तानाबाद, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)५२४५०००, मो. ९८९३१-९४४५४

६५. **डॉ. निज़ामुद्दीन**, पूर्व अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, इस्लामिया कॉलेज, मोहल्ला साजगारीपोरा, श्रीनगर-१९० ०११, कश्मीर, फोन-(०१९४)२४२५७२२

६६. **डॉ. सुरेश चन्द्र जैन**, पूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, शासकीय महाविद्यालय, मक्सी, उज्जैन, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-अवतंस जैन मोदी, २०-कालीदास मार्ग, मक्सी रोड, फ्री गंज, उज्जैन-४५६ ०१०, मध्यप्रदेश, फोन-(०७३४)२५१७६७६

६७. **डॉ. एस. पी. मिश्र**, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, छत्रसाल शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पन्ना; हमीदिया महाविद्यालय, पॉलीटेक्निक कॉलेज के सामने, श्यामला हिल के नीचे, भोपाल, मध्यप्रदेश
(नि.)- एफ-११५/२७, ६½ बस स्टॉप, महिला पॉलीटेक्निक के पास, शिवाजी नगर, भोपाल, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२७६१०४१

६८. **डॉ. राजकुमार पाण्डेय**, पूर्व प्राचार्य, रीडर एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर एवं **डॉ. गणेश शुक्ल**, वरिष्ठ प्राध्यापक-बुद्ध स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कुशीनगर-२७४४०३, देवरिया, उत्तरप्रदेश
(नि.)-द्वारा-पुष्कर पाण्डेय, मनीषा सदन, कुशीनगर-२७४४०३, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५५६४)२७११४६, मो. ९८३९३-८५९५८

६९. **डॉ. राजेन्द्र रंजन चतुर्वेदी**, रीडर-हिन्दी विभाग, एस. डी. कॉलेज, पानीपत-१३२ १०३, हरियाणा
(नि.)-१८२८, एम. आई. जी. आई., सेक्टर-१३-१७, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, पो. नूरवाला, पानीपत, हरियाणा, फोन-(०१८०)२५७७१८६

७०. **डॉ. नरेश भट्ट**, एच/३०, पाली हिल-३, तीथल रोड, वलसाड-३९६ ००१, गुजरात, फोन-(०२६३२)२५१५२२

७१. **केशव रावत**, अध्यापक-शासकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, खिमलासा, सागर, मध्यप्रदेश
(नि.)- ४/३, चाँदौरकर कम्पाउण्ड, खिमलासा-४७० ११८, सागर, मध्यप्रदेश

७२. **श्रीमती मिथिलेश कुमारी**, -द्वारा-डॉ. तिलक सिंह, ९७०-नई शिवपुरी, हापुड़-२४५ १०१, गाजियाबाद, उत्तरप्रदेश, फोन-(०१२२)२३१०८७१

७३. **डॉ. परमेश्वर सोलंकी**, पूर्व सम्पादक-तुलसी प्रज्ञा (अनुसन्धान त्रैमासिकी), जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूँ-३४१ ३०६, नागौर, राजस्थान

७४. **डॉ. ओम प्रकाश गुप्त**, सेवानिवृत्त आचार्य-जम्मू विश्वविद्यालय, बाबासाहेब अम्बेडकर रोड, न्यू कैम्पस, जम्मू तवी-१८० ००६, कश्मीर
(नि.)-१०/१२०, ग्रेटर कैलाश कॉलोनी, कुंजवानी बाई पास, डाकघर-सैनिक कॉलोनी, जम्मू तवी-१८० ०११, कश्मीर

७५. **प्रोफे. (डॉ.) आशा गुप्ता**, पूर्व प्रोफेसर-हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-२११ ००७, उत्तरप्रदेश
(नि.)-द्वारा-डॉ. सिद्धार्थ गुप्ता, सर्जन, दूरदर्शन केन्द्र के पास, मम फोर्डगंज, इलाहाबाद-२११ ००२, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५३२)२६४१०१७

७६. **डॉ. (श्रीमती) मंजु अवस्थी**, पूर्व प्राध्यापक एवं अध्यक्ष-हिन्दी विभाग; प्राचार्या-शासकीय कमला नेहरू कन्या महाविद्यालय, बालाघाट-४८१ ००१, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६३२)२४३५०८
(नि.)-एल-३०, हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी, राम श्याम बस सर्विस के मकान के पीछे, प्रेम नगर, बालाघाट-४८१ ००१, मध्यप्रदेश
फोन-(०७६३२)२४२१४५

७७. **डॉ. ब्रजेश कुमार द्विवेदी**, सर्वेक्षण अधिकारी-महाकवि केशव अध्यापन एवं अनुसन्धान केन्द्र, ओरछा-४७२ २४६, टीकमगढ़, मध्यप्रदेश
(नि.)-मु. पो. नादन, व्हाया मैहर, सतना, मध्यप्रदेश, फोन-(०७६७४)२७५२६३, २७५२३८

७८. **डॉ. पवन कुमार जैन**, पूर्व रीडर-भाषा विज्ञान विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर-४७० ००३, मध्यप्रदेश
(नि.)-अंकुर एन्क्लेव, अंकुर कॉलोनी, जैन मन्दिर के पास, मकरोनिया, सागर-४७० ००४, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५८२)२३००३७

७९. **डॉ. (श्रीमती) किरण बाला अरोड़ा**, सीनियर लेक्चरर-श्री सत्य सांई इन्स्टीट्यूट ऑफ हायर लर्निंग, अनन्तपुर-५१५ ००१, आन्ध्रप्रदेश

८०. **डॉ. महेन्द्र कुमार साहू**, सम्पादक-धरती, राष्ट्रीय मृदा सर्वेक्षण एवं भूमि उपयोग नियोजन ब्यूरो (भा.कृ.अनु.प.), अधीन डेयर, कृषि मन्त्रालय, भारत सरकार, अमरावती रोड, पोस्ट-शंकर नगर, नागपुर-४४० ०१०, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२)२५००२२६, २५००६६४
(नि.)-२८, प्रगति कॉलोनी, वर्धा रोड, पोस्ट-विवेकानन्द नगर, नागपुर-४४० ०१५, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२)२२३१४२७, २२२०९१८

८१. **डॉ. गणेश खरे**, पूर्व प्राचार्य-शासकीय महाविद्यालय, घुमका, राजनांदगाँव, छत्तीसगढ़
(नि.)-'सिद्धि सदन', गायत्री कॉलोनी, कमला कॉलेज रोड, राजनांदगाँव-४९१ ४४१, छत्तीसगढ़, फोन-(०७७४४)२२५९९०

८२. **नशीर अहमद मयूख**, पूर्व सदस्य-हिन्दी सलाहकार समिति, रेल मन्त्रालय (रेलवे बोर्ड), जल- भूतल परिवहन मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली
(नि.)-२-ल-१७, विज्ञान नगर, कोटा-३२४००५, राजस्थान, फोन-(०७४४)५१२२३०७

८३. **मानव मुनि**, संयोजक-सन्त सेवक समुद्यम परिषद्, विसर्जन आश्रम, विनोबा चौक, नवलखा, इन्दौर-४५२ ००१, मध्यप्रदेश,
फोन-(०७३१)२४०२३०९

८४. **डॉ. रामचन्द्र मालवीय,** अनुसन्धान अधिकारी-हिन्दी, बरकतउल्लाह विश्वविद्यालय, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश
(नि.)-एम. आई.जी, ५/८, अनुजा कॉलोनी, मिसरोद रोड, भोपाल-४६२ ०२६, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२४९९८०६, मो. ९८२७२-११९८७

८५. **नवभारत,** दैनिक-नागपुर, सम्पादक-विनोद माहेश्वरी, नवभारत प्रेस, काटन मार्केट, नागपुर, महाराष्ट्र
अथवा-नवभारत भवन, छत्रपति चौक, वर्धा रोड, नागपुर, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२)२२८४००५, २२८४००१/०२/०३

८६. **डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ,** अध्यक्ष-हिन्दी विभाग, धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश
(नि.)- डी-१३१, रमेश विहार, ज्ञान सरोवर, अलीगढ़ -२०२ ००२, उत्तरप्रदेश, फोन-(०५७१)२७४११४४

८७. **प्रो. (डॉ.) रामकुमार चतुर्वेदी 'चंचल',** पूर्व चेयरमेन-हिन्दी बोर्ड ऑफ स्टडीज, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर; पूर्व प्राचार्य-डिग्री कॉलेज, नई बस्ती, शिवपुरी-४७३ ५५१, मध्यप्रदेश
(नि.)-द्वारा-धर्मांशु चतुर्वेदी, फ्लेट नं. बी-२/५०१, ब्लाक-७, कैलाश धाम, ई-१, सेक्टर-५०, नोएडा-२०१ ३०७, उत्तरप्रदेश, मो. ९८१८७-३९४०४

८८. **कैलाश चन्द्र पन्त,** सम्पादक -जन धर्म (साप्ताहिक); मन्त्री संचालक-मध्यप्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, हिन्दी भवन, श्यामला हिल्स, भोपाल-४६२ ००२, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२६६१०८७
(नि.)-ई-७/४५ बंगले, उत्तरी ताल्या टोपे नगर, भोपाल-४६२ ००३, मध्यप्रदेश, फोन-(०७५५)२५५३६६८

८९. **फूलचन्द जैन,** सम्पादक-दिगम्बर जैन महासमिति पत्रिका (पक्षिक), जयपुर-३०२ ००२, राजस्थान; पूर्व विधायक; पूर्व महामन्त्री-राजस्थान कांग्रेस कमेटी, सुजानगढ़, राजस्थान
(नि.)-द्वारा-वसन्त कुमार जैन, ए-२७/४, कान्तिचन्द्र रोड, बनी पार्क, जयपुर-३०२ ०१६, राजस्थान, फोन-(०१४१)२२०६३१६ (नि.), २३३३६८३ (फे.), मो. ९८२९०-१६३१८

९०. **डॉ. वीरेन्द्र कुमार दुबे,** वरिष्ठ सहायक प्राध्यापक-कला-वाणिज्य एवं विज्ञान महाविद्यालय, डी.पी. मिश्रा स्कूल केम्पस, कमलनाथ स्टेडियम के पीछे, चौरई-४८० ११५, छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश, फोन-(०७१६६)२२२१८४
(नि.)-खान सर का मकान, पानी टंकी के पास, चाँद रोड, चौरई-४८० ११५, छिन्दवाड़ा, मध्यप्रदेश, फोन-(०७१६६)२२२११९

९१. **श्रीमती आराधना जैन,** द्वारा-श्री संजय जैन, सन्तोष किराना स्टोर्स, जेल रोड, लोकमत चौक, नागपुर-४४० ०१२, महाराष्ट्र
(नि.)-११२-लक्ष्मी नगर, पानी टंकी के पास, नागपुर, महाराष्ट्र, फोन-(०७१२)२२३२९७८

९२. **जयकिशनदास सादानी,** ११३-बी, मनोहरदास कटरा, तीसरा तल्ला, रूम नं. ३१८, कोलकाता-७०० ००६, पश्चिम बंगाल
(नि.)-१७-शेक्सपियर सरनी, कोलकाता-७०० ०७१, पश्चिम बंगाल, फोन-(०३३)२२८२४९०३, २२८२९१३१ (नि.), २२१८८३०३ (का.)

९३. **डॉ. छोटे लाल शर्मा 'नागेन्द्र',** प्रवक्ता-हिन्दी विभाग, जैन इन्टर कॉलेज, १२-इन्दिरा कॉलोनी, रामपुर-२४४ ९०१, उत्तरप्रदेश

९४. **एन. शान्तादेवी,** पूर्व लेक्चरर-जैनालॉजी विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, चेन्नई-६०० ००५, तमिलनाडु

९५. **प्रदीप नानचन्द शहा,** एडव्होकेट, 'मानस्तम्भ' मु.पो. आळंद-५८५ ३०२, गुलबर्गा, कर्नाटक, फोन-(०८४७७)२०२२४९

□□□

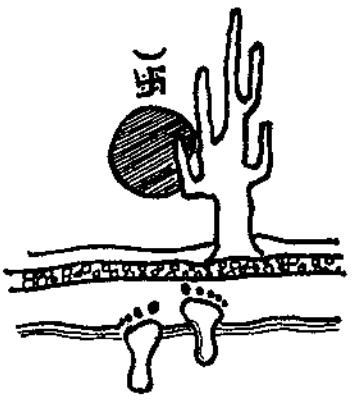

पृ. ३.
पथ पर चलता है...
------ मन से भी!

" 'मूकमाटी' बहुत अद्‌भुत काव्य है। इस तरह के अमूर्त विषय पर किसी ने कार्य किया हो, ऐसा ध्यान में नहीं आता। मेरे मत से यह बहुत आधुनिक है, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। इसलिए मैं इसको 'फ्यूचर पोयॅट्री' एवं अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी यह प्रेरणादायक ग्रन्थ है।" ***डॉ. प्रभाकर माचवे***

"कवि ने अत्यन्त कौशल के साथ अध्यात्म तत्त्व और कवित्व का सुन्दर समन्वय किया है। दर्शनशास्त्र तथा काव्यशास्त्र दोनों में निष्णात कवि की अभिव्यंजना शैली प्रौढ़ एवं अर्थगर्भित है। भाषा पुष्ट और अलंकृत है।" ***डॉ. नगेन्द्र***

" 'मूकमाटी' में कवि की वाणी का चमत्कार देखने को मिलता है। कहीं शब्द प्रयोग में कोमला और उपनागरिका वृत्तियों की छटा है तो कहीं अनुप्रास, यमक और श्लेष के चमत्कार। भाषा पर, शब्दों पर कवि का विलक्षण अधिकार है कि एक ताल और लय के समान ध्वनि शब्द जैसे उसके इशारे पर नाचते हैं।" ***डॉ. भगीरथ मिश्र***

"भवानीप्रसाद मिश्र की सपाट बयानी, अज्ञेय का शब्द विन्यास, निराला की छान्दसिक छटा, पन्त का प्रकृति व्यवहार, महादेवी की मसृण गीतात्मकता, नागार्जुन का लोकस्पन्दन, केदारनाथ अग्रवाल की बतकही वृत्ति, मुक्तिबोध की फैंटेसी संरचना और धूमिल की तुक संगति आधुनिक काव्य में एक साथ देखनी हो तो वह 'मूकमाटी' में देखी जा सकती है।"

प्रो. प्रेमशंकर रघुवंशी

"जैनाचार्य सन्त कवि श्री विद्यासागर जी महाराज द्वारा विरचित 'मूकमाटी' युगप्रवर्तक महाकाव्य है। यह महाकाव्य ही नहीं, अपितु धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा चेतना का अभिनव शास्त्र है। यह आधुनिक युग की 'मनुस्मृति' और 'गीता' भी है।" ***डॉ. परमेश्वर शर्मा***

" 'मूकमाटी' हिन्दी का, कदाचित्, पहला ऐसा महाकाव्य है जिसमें अध्यात्म, दर्शन, संस्कृति, राजनीति, समाजनीति, अर्थनीति आदि को अतिसूक्ष्म एवं रोचक कथा के रूप में उपस्थित किया गया है। गहन चिन्तन, प्रभावक वर्णन, अभिनव काव्य सौष्ठव, मुक्त छन्द एवं सरल भाषा-शैली में रचित यह विलक्षण काव्यकृति हिन्दी साहित्य की विशिष्ट निधि के रूप में समादृत होगी, इसमें सन्देह नहीं।"

प्रो. (डॉ.) सीताराम झा 'श्याम'

" 'मूकमाटी' केवल एक श्रेष्ठतम साहित्यिक कृति ही नहीं है अपितु उपनिषदों की शृंखला में यह एक और नया उपनिषद् है 'मृत्तिकोपनिषद्'।" ***आनन्द बल्लभ शर्मा 'सरोज'***

"खड़ी बोली और मुक्त छन्द में आध्यात्मिक आधार देकर लिखा गया 'मूकमाटी' पहला महाकाव्य है। काव्य की भाषा यद्यपि बहुत सरल है किन्तु अर्थ गूढ़ और मर्मस्पर्शी है।"

प्रो. (डॉ.) विजयेन्द्र स्नातक

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली - 110 003

संस्थापक : स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन, स्व. श्रीमती रमा जैन